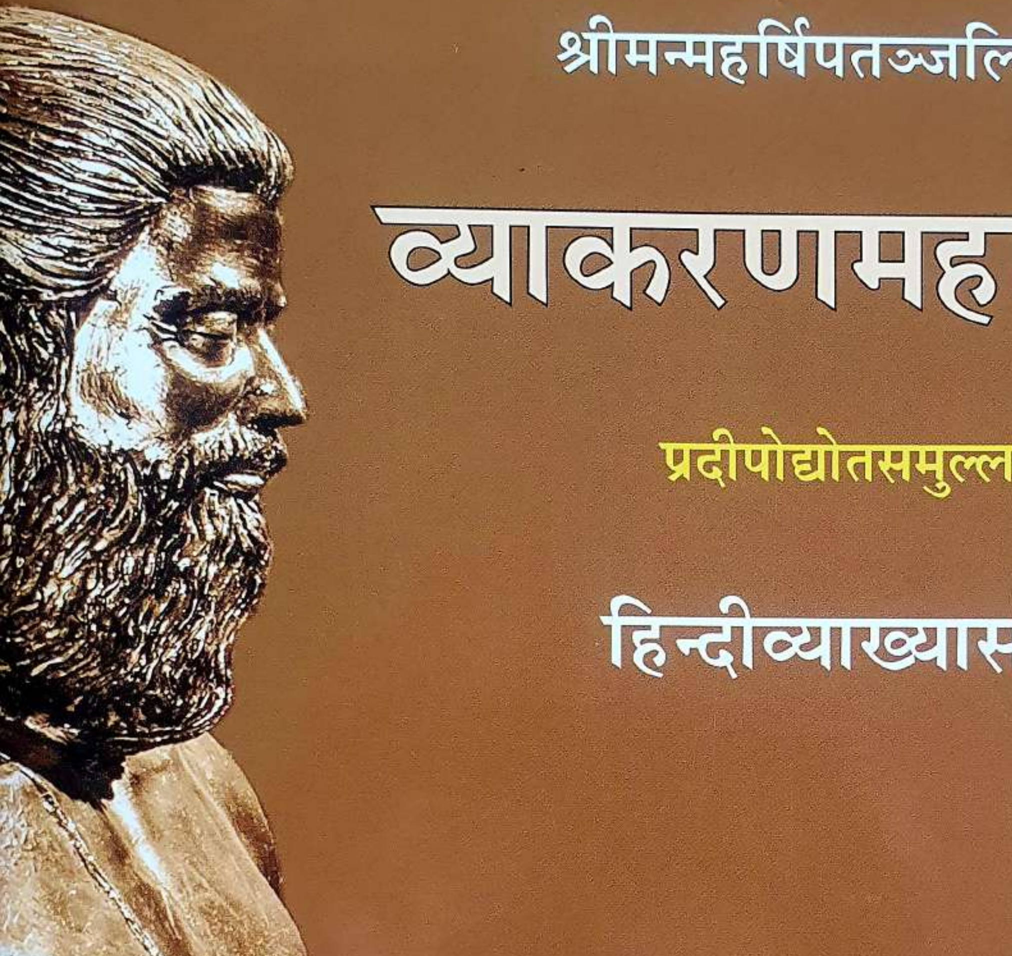
श्रीमन्महर्षिपतञ्जलिविरचितम्

व्याकरणमहाभाष्यम्

प्रदीपोद्योतसमुल्लसितम्

हिन्दीव्याख्यासहितम्



व्याख्याकारः

आचार्यः प्रद्युम्नः

वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्।।३.१.९४।।

भाष्यम्– कथमिदं विज्ञायते 'स्त्रियामभिधेयायां वाऽसरूपो न भवती'ति आहोस्वित्स्त्रीप्रत्ययेष्वि'ति? किं चाऽत:?

यहाँ सूत्र का अर्थ किस रूप में जाना जाता है; स्त्री अभिधेय होने पर असरूप प्रत्यय विकल्प से नहीं होता, अथवा स्त्री प्रत्ययों में असरूप प्रत्यय विकल्प से नहीं होता? इससे क्या कहना चाहते हो?

प्रश्नकर्त्ता का भाव यह है कि सूत्रपठित 'अस्त्रियाम्' पदनिष्ठ 'स्त्रियां', जो सप्तमी विभक्ति में है, वह अभिधेय सप्तमी है, अथवा, 'स्त्रियां' के द्वारा स्त्रीप्रत्ययों का ग्रहण है? अर्थात् 'स्त्रियां' ऐसा शब्दस्वरूप का उच्चारण करके जिन प्रत्ययों का विधान किया जाता है, उनमें असरूप अपवाद विकल्प से नहीं होता?

भा०– यदि विज्ञायते, 'स्त्रियामभिधेयाया'मिति– लव्या, लवितव्या अत्र वाऽसरूपो न प्राप्नोति। अथ विज्ञायते 'स्त्रीप्रत्ययेष्वि'ति व्यावक्रोशी, व्यावक्रुष्टिरिति न सिद्ध्यति।।

यदि 'स्त्रियां' यह अभिधेय सप्तमी जानी जाती है, तो लव्या, लवितव्या– यहाँ असरूप अपवाद प्राप्त नहीं होता। अर्थात् 'अचो यत्' (अ०– ३.१.९७) से विशेषविहित यत् प्रत्यय के द्वारा सामान्यविहित तव्यदादि की नित्य बाधा प्राप्त होने लगेगी। क्योंकि लव्या व लवितव्या– इन पदों का अभिधेय स्त्रीलिङ्ग है। तब 'लवितव्या' यह प्रयोग उपपन्न नहीं होगा।

और यदि यह जाना जाता है कि 'स्त्रियां'– ऐसा उच्चारण करके विहित प्रत्ययों में वासरूपविधि नहीं होती, तो व्यावक्रोशी, व्यावक्रुष्टि:– ये प्रयोग सिद्ध नहीं होंगे। अर्थात् 'कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम्' (अ०– ३.३.४३) स्त्रीविहित णच् के द्वारा, जो कि विशेष प्रत्यय है, 'स्त्रियां क्तिन्' (अ०– ३.३.९४) सामान्यविहित 'क्तिन्' की बाधा प्राप्त होने लगेगी। और फिर 'व्यावक्रुष्टि:' यह प्रयोग सिद्ध नहीं होगा, अनुपपन्न रहेगा।

भा०– एवं तर्हि नैवं विज्ञायते– 'स्त्रीयामभिधेयायां', नाऽपि 'स्त्रीप्रत्यये'ष्विति।। कथं तर्हि? स्त्रीग्रहणं स्वरयिष्यते। तत्र स्वरितेनाधिकारगतिर्भवतीति, स्त्रियामित्यधिकृत्य ये प्रत्यया विहितास्तेषां प्रतिषेधो विज्ञास्यते।।

अच्छा तो, ना तो यह जाना जाता है कि स्त्री अभिधेय होने पर, और ना ही 'स्त्रियां' ऐसा शब्दोच्चारण मात्र को देखकर, स्त्री प्रत्ययों में। तो कैसे जाना जाता है? प्रकृत सूत्रोपात्त 'स्त्रियाँ' पद को स्वरित चिह्न से युक्त समझा जायेगा। और उस स्थिति में स्वरित के द्वारा अधिकार बोध हुवा करता है, इस हेतु से 'स्त्रियां क्तिन्' (९४) इस स्त्री अधिकार में जो, उत्सर्ग अपवाद प्रत्यय कहे हैं, उनमें अपवाद, उत्सर्ग का बाधक ही होता है। अर्थात् उस अधिकार में जो विहित उत्सर्ग हैं, उनका वासरूप विधि के द्वारा प्रसक्त हुओं का प्रकृत 'अस्त्रियां' यह प्रतिषेध नित्य बाधक समझा जायेगा। अर्थात् उत्सर्ग-अपवाद दोनों का भी जब अधिकार निवेशित्व होगा, तब 'अस्त्रियां' यह प्रतिषेध चरितार्थ होगा। यदि अन्य किसी के साथ भी असमावेश इष्ट है, तो वह अनभिधान से सिद्ध कर लेना चाहिये।

भाष्यम्– किमर्थं पुनरिदमुच्यते?

यह सूत्र किसलिये बनाया जा रहा है?

वा०– ॐ असरूपस्य वावचनमुत्सर्गस्य बाधकविषयेऽनिवृत्त्यर्थम्।।१।। ॐ

भाष्यम्– असरूपस्य वावचनं क्रियत, उत्सर्गस्य बाधकविषयेऽनिवृत्तिर्यथा स्यात्। तव्यत्तव्यानीयर उत्सर्गास्तेषामजन्ताद्यदपवादः। चेयम्। चेतव्यमित्यपि यथा स्यात्।

वा०– असरूप (अपवाद विधि का) वावचन, उत्सर्ग का बाधक विषय में अनिवृत्ति के लिये किया जा रहा है।

भा०– असरूप (अपवादविधि) का वावचन किया जा रहा है। उत्सर्ग (सामान्यविधि) का बाधकविषय में (अपवादविषय में) निवृत्ति न होवे– अनिवृत्ति ही बनी रहे। जैसे तव्यत्-तव्य-अनीयर् (अ०– ३.१.६६) ये उत्सर्ग (प्रत्यय) हैं, उनका अजन्ताद्यत् (अ०– ३.१.९७) अजन्त से कहा हुवा यत् प्रत्यय, अपवाद है। सो 'चेयम्' के साथ-साथ चेतव्यम् यह प्रयोग भी हुआ करे। अर्थात् यत् के द्वारा 'तव्यत्' की बाधा न हुआ करे।।

भाष्यम्– नैतदस्ति प्रयोजनम्। अजन्ताद्यद्विधीयते, हलन्ताण्ण्यद्विधीयते, एतावन्तश्च धातवो यदुताऽजन्ता हलन्ताश्च। उच्यन्ते च तव्यदादयस्ते वचनाद्भविष्यन्ति।।

नहीं! यह तो कोई प्रयोजन नहीं है। अजन्त धातुओं से यत् का विधान किया जा रहा है, और हलन्तो से ण्यत् का। इतने ही तो धातुयें हैं; अजन्त और हलन्त। साथ में तव्यदादि का भी कथन किया जा रहा है। सो वे वचनसामर्थ्य से सभी धातुओं से हो जायेंगे।

भाष्यम्– एवं तर्हि ण्वुल्तृचावुत्सर्गौ, तयोः पचादिभ्योऽजपवादः। पचतीति पचः। पक्ता, पाचक इत्यपि यथा स्यात्।।

अच्छा तो, ण्वुल्-तृच् (अ०– ३.१.१३३) उत्सर्ग हैं, और पचादि धातुओं से अच् उनका (अ०– ३.१.१३४) अपवाद है। जैसे कि पचतीति पचः। 'पचः' इस प्रयोग के साथ-साथ पक्ता-पाचकः ये प्रयोग भी हुआ करें।

भा०– एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। वक्षत्येतत् 'अजपि सर्वधातुभ्यो वक्तव्य' इति।।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं। क्योंकि आचार्य वार्त्तिककार कहेंगे, कि (ण्वुल, तृच् की भाँति) अच् प्रत्यय भी सभी धातुओं से कहना चाहिये। जब वह (अच्) सब धातुओं से कह दिया गया तो वह विशेष नहीं रहा। वह भी सामान्य हो गया।

भा० – एवं तर्हि ण्वुल्तृजच उत्सर्गाः। तेषामिगुपधात्कोऽपवादः। विक्षिपः, विलिखः। विक्षेप्ता विक्षेपक इत्यपि यथा स्यात्।। अस्ति प्रयोजनमेतत्। किं तर्हीति।

अच्छा तो, ण्वुल्-तृच्-अच् ये उत्सर्ग हैं, इनका इगुपध धातुओं से कहा हुआ 'क' (अ० – ३.१.१३५) अपवाद है। जैसे कि; विक्षिपः, विलिखः। अब इन प्रयोगों के साथ-साथ ण्वुल्-तृच्-प्रत्यय में विक्षेप्ता, विक्षेपकः ये प्रयोग भी सिद्ध हो जायें।। तो क्या यही प्रयोजन है? और क्या?

वा० – ❀ तत्रोत्पत्तिवाप्रसङ्गो यथा तद्धिते[१] ।।२।। ❀

भाष्यम् – तत्रोत्पत्तिर्विभाषा प्राप्नोति, यथा तद्धिते।।

तो ऊपर दिये गये सूत्रयोजन में, ये समस्या आती है, जैसे तद्धित प्रत्ययों में उत्पत्तिविकल्प होता है, उसी भाँति, प्रकृत प्रसङ्ग में 'उत्पत्ति' विकल्प से प्राप्त होने लगेगी।

आक्षेप्ता का भाव यह है, कि यहाँ सूत्रार्थ करते समय 'स्यात्' अथवा 'भवति' शब्द मात्र का अध्याहार ही किया जाता है, ना कि, उसके साथ कुछ और भी। जैसे कि प्रकृत में 'स्यात्' शब्द के साथ बाधक शब्द का भी अध्याहार किया जा रहा है। वह तो उचित नहीं है। सूत्र पदों से मात्र हम इतना ही अर्थ प्राप्त कर सकेंगे कि ''असरूपस्य प्रत्ययस्य उत्पत्तिरेव विकल्पेन भवती''ति। और इस प्रकार पक्ष में कोई भी प्रत्यय उत्पन्न नहीं होगा।

भाष्यम् – अस्तु, यदा विक्षेपो विलिखः इत्येतन्न, तदा विक्षेप्ता विक्षेपक इत्येतद्भविष्यति।।

समाधाता कहता है– कोई बात नहीं, जब विक्षिपः विलिखः इत्यादि पद नहीं होंगे, अर्थात् 'क' प्रत्यय जब नहीं होगा, तब सामान्य 'तृच्-अक' के द्वारा विक्षेप्ता, विक्षेपकः इत्यादि बन जायेंगे।

भा० – यद्येतल्लभ्येत कृतं स्यात्, तत्तु न लभ्यम्।। किं कारणम्? यथा तद्धित इत्युच्यते, तद्धितेषु च सर्वमेवोत्सर्गापवादं[२] विभाषा उत्पद्यते वा न वा।।

आक्षेप्ता कहता है, हाँ यदि ऐसा संभव हो सके, तब तो हमारी इष्ट सिद्धि हो जायेगी, किन्तु वही तो संभव नहीं है। यदि यह पूछो कि 'क्या कारण है? क्यों संभव नहीं है?' कारण है 'यथा तद्धित इत्युच्यते'। अर्थात् जैसा कि तद्धित में होता है–

---

१. उत्पत्तेर्वार्थविकल्पप्रसङ्ग इत्यर्थ। (उद्योत०)।

उत्पत्तिसंबन्धी 'वा' का जो अर्थ विकल्प है उसका प्रसङ्ग।

२. 'उत्सर्गापवादम्'- यहाँ एकवद्भाव 'जातिरप्राणिनाम्' (अ० – २.४.६) से है।

ऐसी उपमा दी गयी है। तद्धित में जैसा होता है वैसा ही यहाँ होने लगेगा। तद्धित प्रत्ययों में सभी उत्सर्ग-अपवाद विकल्प से कहे गये हैं। 'अपवाद' उत्पन्न हो जाता है तो उत्सर्ग अनुपपन्न ही रहता है। अभियुक्तों के द्वारा कहा भी गया है– 'यत्रोत्सर्गापवादौ विभाषा तत्रापवादेन मुक्ते उत्सर्गोऽपि न प्रवर्त्तते।' जैसे कि 'दाक्षि:' यहाँ पर 'अत इञ्' (अ०– ४.१.९५) के द्वारा 'इञ्' का विकल्प करने पर 'इञ्' के अभाव में 'दक्षस्यापत्यम्'– ऐसा वाक्य मात्र ही रहता है। ना कि सामान्यविहित अण् प्रत्यय भी हुआ करता है।

उसी प्रकार यहाँ भी, अपवाद के अभाव पक्ष में प्रकृति ही कर्त्ता आदि अर्थों को कहने लगेगी। जैसे कि 'अग्निचित्' इत्यादि में क्विबादि लोप करने पर धातुमात्र के द्वारा ही कर्त्ता आदि अर्थ को कह दिया जाता है।

वा०– * सिद्धं त्वसरूपस्य बाधकस्य वावचनात्।।३।। *

भाष्यम्– सिद्धमेतत्।। कथम्? 'असरूपस्य[१] बाधकस्य वावचनात्'।

असरूपो बाधको वा भवतीति वक्तव्यम्।

भा०– उपर्युक्त समस्या का समाधान है। कैसे? असरूप बाधक का विकल्प कथन से। अर्थात् असरूप की बाधकता का विकल्प से कथन करने से। 'असरूप' जो बाधक वह विकल्प से बाधक होता है'– ऐसा कहना चाहिये। भाव यह है– सूत्र में 'बाधक' शब्द को ऊपर से पढ देना चाहिये। इस प्रकार 'बाधक' शब्द के पढ़ लिये जाने पर, असरूप बाधक के ही विकल्प होने पर, उत्सर्ग-विकल्प के अभाव होने से इष्ट सिद्ध हो जायेगा।

जब हम 'बाधक' शब्द नहीं पढ़ते तो अपवाद विषय अर्थात् बाधक विषय में ही विकल्प हो– इसमें प्रमाण का अभाव होने से अपवाद व उत्सर्ग उभय विषय में ही विकल्प होने लगता है। किन्तु बाधक शब्द पढ देने पर उत्सर्ग विषय में विकल्प न होकर बाधक विषय में ही विकल्प होगा। यह सब अर्थ अपवाद शास्त्र के साथ प्रकृत सूत्र की एकवाक्यता के द्वारा प्राप्त हुआ करेगा। क्योंकि, यह एक परिभाषा सूत्र है। और परिभाषा होती है विध्यङ्गभूत। यत: परिभाषा लिङ्गवती होती है, सो असरूप-अपवाद को देखकर ('स्त्रियां क्तिन्' अधिकार को छोड़कर) तत् तत् सूत्र में उपस्थित होता जायेगा।

भाष्यम्– सिद्ध्यति। सूत्रं तर्हि भिद्यते।।

हाँ! इस प्रकार से सिद्ध तो हो जाता है, पर ऐसा करने से पाणिनीय सूत्र तो भिन्न हो जायेगा।

भा०– यथान्यासमेवाऽस्तु।

अच्छा! पाणिनीय सूत्र में कोई भी हेर-फेर करना अभिष्ट नहीं है, तो जैसा सूत्र है, वैसा ही रहने दीजिये।

---

१. बाधकस्य– बाधकत्वस्येत्यर्थ:। (शिवरामेन्द्र:)

भा०– ननु चोक्तं 'तत्रोत्पत्तिवाप्रसङ्गो यथा तद्धित' इति।।

किन्तु पाणिनीय सूत्र में अभी-अभी जो समस्या दर्शाई गयी थी कि तद्धित की भाँति उत्पत्ति विकल्प से प्राप्त होने लगती है, उसका क्या होगा?

भा०– नैष दोषः। अस्ति कारणं येन तद्धितेषु विभाषोत्पत्तिर्भवति। किं कारणम्? प्रकृतिस्तत्र प्रकृत्यर्थे वर्त्तते, अन्येन च शब्देन प्रत्ययार्थोऽभिधीयते। इह पुनर्न केवला प्रकृतिः प्रकृत्यर्थे वर्त्तते, न चाऽन्यः शब्दोऽस्ति यस्त[1]मर्थमभिदधीतेति कृत्वाऽनुत्पत्तिर्न भविष्यति।।

अथवा समयः कृतो 'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न च केवलः प्रत्ययः' इति। एतस्मात्समयादनुत्पत्तिर्न भविष्यति।।

नहीं! यह कोई दोष नहीं है। तद्धितप्रत्ययों की तथा इन कृत् प्रत्ययों की समान स्थिति नहीं है। तद्धितप्रत्ययों में तो कुछ ऐसा कारण है, जिससे विभाषा उत्पत्ति होती है। पर यहाँ वह कारण नहीं है।। वहाँ ऐसा कौन सा कारण है? कारण यह है कि, वहाँ प्रकृति प्रकृति के अर्थ में वर्त्तमान है, और 'दक्षस्यापत्यम्' इत्यादि प्रसङ्गो में, एक अन्य शब्द जो कि अपत्यादि रूप में श्रूयमाण है, उस शब्द के द्वारा प्रत्ययार्थ का कथन किया जाता है। किन्तु यहाँ केवल धातुरूप प्रकृति, प्रकृत्यर्थ को भी नहीं कह पाती, कर्त्ता आदि अर्थों को तो क्या कह पायेगी? जैसा कि प्रकृति-प्रत्यय समुदाय के प्रयोग में, अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा, यह कहा जाता है कि प्रकृति प्रकृत्यर्थ में वर्त्तमान है, और प्रत्यय प्रत्ययार्थ में। अनुत्पन्न प्रत्ययवाली प्रकृति तो किसी भी अर्थ का बोध कराने में असमर्थ ही है। और ऐसे किसी अन्य शब्द का श्रवण भी नहीं हो रहा है, जो कि उस प्रकृति से सम्बद्ध कर्त्ता आदि अर्थ को कह सके, इस हेतु से अनुत्पत्ति नहीं होगी, अर्थात् प्रकृति के अर्थ को कहने के लिये (उत्सर्ग) प्रत्यय को उत्पन्न होना ही होगा। और वह उत्पन्न हुआ उत्सर्ग प्रत्यय अपने कर्त्ता आदि अर्थों को कहेगा, और उसके साथ मिलकर प्रकृति, अपने अर्थ को कहा करेगी।

इस प्रकार 'तत्रोत्पत्तिवाप्रसङ्गो यथा तद्धिते'– ऐसे कहते हुए आक्षेप्ता के द्वारा जो समस्या प्रस्तुत की गयी थी, वह समस्या सूत्र में बाधक शब्द का सन्निवेस किये विना ही समाहित हो जाती है।

अथवा एक और अन्य दिशा से भी उक्त समस्या का समाधान किया जा सकता है। आचार्य ने, एक नियम बनाया है कि ना तो प्रकृति मात्र का प्रयोग होता है, और न ही केवल प्रत्यय मात्र का। इस नियमरूप व्यवस्था के कारण पक्ष में, उत्सर्ग प्रत्यय की अनुत्पत्ति नहीं होगी। अर्थात् इस उपर्युक्त सिद्धान्त के कारण केवल धातुमात्र का प्रयोग नहीं होगा प्रत्युत प्रत्यय उत्पन्न होकर ही रहेगा।

---

१. प्रकृतिसम्बद्धं कर्त्रादिकमर्थम्।

भाष्यम्– ननु च, य एव तस्य समयस्य कर्त्ता स एवेदमप्याह। यद्यसौ तत्र प्रमाणमिहापि प्रमाणं भवितुमर्हति।।

क्यों जी! जो आचार्य उस नियम को[१] बनाने वाला है, उसी ने ही तो यह 'वासरूपोऽस्त्रियाम्' भी बनाया है। यदि वह, वहाँ (नियम के विषय में) प्रमाण है, तो यहाँ (वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् के विषय में) भी प्रमाण हो सकता है। आक्षेप्ता का भाव यह है; यदि वह आचार्य 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' के विषय में प्रमाण है, तो नियम का यह (वासरूपो०) बाधक हो जायेगा। अर्थात् 'वाऽसरूपो०' के सामर्थ्य से प्रत्यय की अनुत्पत्ति होकर, प्रकृति मात्र का प्रयोग होने लगेगा।

भाष्यम्– प्रमाणमसौ तत्र चेह च। सामर्थ्यं त्विह द्रष्टव्यं शब्दानां प्रयोगे, न चाऽनुत्पत्तौ सामर्थ्यमस्ति। तेनाऽनुत्पत्तिर्न भविष्यति।।

वह आचार्य तो प्रमाण है ही, वहाँ (नियम के विषय में) भी और यहाँ (वाऽसरूपो० के विषय में) भी। किन्तु यहाँ शब्दों के प्रयोग में सामर्थ्य तो देखा ही जाना चाहिये। प्रत्यय की अनुत्पत्ति में कोई सामर्थ्य दिखायी नहीं देता, इस कारण प्रत्यय-अनुत्पत्ति नहीं होगी। प्रत्यय उत्पन्न होकर ही रहेगा।

समाधाता का भाव यह है; अर्थ बोध कराने के लिये शब्दों का प्रयोग किया जाता है। और प्रत्यय की अनुत्पत्ति की अवस्था में अर्थ का प्रत्यायन असंभव ही है। क्योंकि प्रत्यय के अनुत्पन्न रहने पर 'न केवला प्रकृति: प्रयोक्तव्या:' इस निषेध के कारण, प्रकृतिमात्र का प्रयोग करने में सामर्थ्य ही नहीं बन पाता। और यदि कोई प्रकृतिमात्र का प्रयोग करने भी लगे, तो उस प्रयुक्त किये गये प्रकृतिमात्र शब्द से, अर्थबोध नहीं होगा। यहाँ केवल प्रकृतिमात्र का प्रयोग नहीं होगा– इस विषय में दो परिहार दिये गये हैं।

पूर्व परिहार में कहा गया है, केवल प्रकृति का तो (वाग्व्यवहार में) स्वार्थ मात्र (प्रकृति के अपने अर्थ मात्र) को कहने का भी सामर्थ्य नहीं है। और दूसरे परिहार में कहा गया है कि नियमवशात् केवल प्रकृति का प्रयोग ही नहीं होगा।

भाष्यम्– कथं तर्हि तद्धितेष्वनुत्पत्तौ सामर्थ्यं भवति?

तो, यह तद्धित प्रत्ययों में, उत्सर्ग प्रत्यय की अनुत्पत्ति (अनुत्पन्न दशा) में, शब्द प्रयोग का सामर्थ्य कैसे हो जाता है?

आक्षेप्ता यह कहना चाहता है– समय (नियम) के कारण, तद्धित प्रत्यय की अनुत्पन्न अवस्था में केवल प्रातिपदिक के प्रयोग का साधुत्व प्राप्त नहीं होगा।

---

१. न केवला प्रकृति: प्रयोक्तव्या, न च केवल: प्रत्यय:।

भा०– अन्येन प्रत्ययेन सामर्थ्यम्।। केन? षष्ठ्या।।

वहाँ (तद्धितप्रत्ययों की अनुत्पत्ति में) तो, अन्य प्रत्यय के द्वारा प्रयोग का सामर्थ्य हुआ करता है।। किस (अन्य प्रत्यय) के द्वारा? षष्ठी के द्वारा।

समाधाता का भाव यह है; 'दक्षस्यापत्यम्' इत्यादि में षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक का प्रयोग है, न कि केवल प्रातिपदिकमात्र का। यहाँ कृत्प्रत्यय की अनुत्पन्न अवस्था में तो, केवल धातु मात्र ही रह जाती है। और उसका नियमवशात् प्रयोग नहीं हो सकता। तद्धित और कृत् प्रत्ययों की अनुत्पत्ति विषय में, यह वैधर्म्य है।

भा०– अथवा रूपवत्तामाश्रित्य वाविधिरुच्यते। न चाऽनुत्पत्ती रूपवती। तेनाऽनुत्पत्तिर्न भविष्यति।।

अब केवल धातुमात्र के प्रयोगाभाव में एक और समाधान दिया जा रहा है। रूपवत्ता का आश्रय लेकर 'वाऽसरूपो०' सूत्र से वा विधि कही गयी है। अनुत्पत्ति तो रूपवती होती नहीं। इस कारण अनुत्पत्ति नहीं होगी।

अर्थात् यत: असरूप शब्द से भिन्नरूप कहा गया है, और उस अपवाद का भिन्नरूपत्व, रूपवाले उत्सर्ग की अपेक्षा से ही होगा, इस कारण, पक्ष में वह रूपवाला ही अभ्यनुज्ञात होगा। न कि अरूप अनुत्पत्ति। भाव यह है– असरूपो वा भिन्नरूपो वा, ऐसा कहने पर भाव और अभाव दोनों पक्षों में ही परस्पर भिन्नरूपवाले प्रत्यय की सत्ता की प्रतीति होती है, इस कारण, इसके द्वारा उत्सर्ग-अपवाद दोनों का विभाषा- बोधन नहीं होता। वैसा होने पर तो पक्ष में अनुत्पत्ति होने लगेगी और वह (अनुत्पत्ति) रूपवती है नहीं– इस प्रकार अभाव पक्ष में भिन्नरूपवाले की सत्ता बन नहीं पायेगी।

भाष्यम्–एवमपि कुत एतदपवादो विभाषा भविष्यति, न पुनरुत्सर्ग इति?

इस पर आक्षेप्ता कहता है– फिर भी यह निश्चय कैसे कर लिया कि अपवाद विकल्प से होता है, न कि उत्सर्ग?

आक्षेप्ता यह कहना चाहता है– ठीक है, हम यह मान लेते हैं कि उत्सर्ग-अपवाद दोनों का विकल्प न होकर किसी एक का ही विकल्प होता है। फिर भी सूत्र में 'बाधक' पद के अभाव में अपवाद का ही विकल्प कैसे प्राप्त हो सकेगा?

भा०– न चैवाऽस्ति विशेषो यदपवादो विभाषा स्यादुत्सर्गो वा। अपि च सापेक्षोऽयं निर्देश: क्रियते– 'वाऽसरूप' इति। न चोत्सर्गवेलायां किञ्चिदपेक्ष्यमस्ति, अपवादवेलायां पुनरुत्सर्गोऽपेक्ष्यते। तेन यो रूपवानन्यपूर्वको बाधक: प्राप्नोति स वा बाधको भविष्यति।। क: पुनरसौ? अपवाद:।।

इसमें तो कुछ भेद नहीं पड़ता, यदि अपवाद विकल्प से हो जाये अथवा उत्सर्ग विकल्प से। क्योंकि उत्सर्ग विकल्प होने पर, अप्राप्त विभाषा होगी तथा अपवाद विकल्प होने पर प्राप्त विभाषा। फिर भी जो

अपवाद-विकल्प पर बल दिया जा रहा है, उसका यह कारण है कि– 'वाऽसरूपो' यह निर्देश सापेक्ष (अवधि-सापेक्ष) किया गया है। उत्सर्गसूत्र की प्रवृत्तिवेला में तो कुछ भी अपेक्षणीय नहीं है, अर्थात् उत्सर्ग, अपवाद को न देखता हुआ ही प्रवृत्त होता रहता है। किन्तु अपवाद वेला में तो अपवाद को सदा ही उत्सर्ग अपेक्षा बनी रहती है। इस कारण जो रूपवान् अन्यपूर्वक (जिसकी कि यह रूपवान् अपेक्षा कर रहा है) नित्य बाधक प्राप्त होता है, वह बाधक विकल्प से होगा। यदि यह पूछो कि वह रूपवान् कौन है? तो यही कहा जायेगा कि वह अपवाद है, क्योंकि वही तो उत्सर्ग-सापेक्ष है।

भाव यह है, असरूपता का अर्थ है भिन्नरूपता। सो जब, यह अपेक्षा होगी कि किससे भिन्नरूप? तो, इस अपेक्षा में, जिसको कि 'भिन्नरूपवाला' इस रूप में स्वीकार किया गया है, उसके अपने विधानकाल में, जो उस भिन्नरूपवाले प्रत्यय के विषय में प्राप्त हुआ, वही बुद्धिस्थ होता हुआ जाना जाता है। अर्थात् अपवादविधिवेला में उत्सर्ग उपस्थित हुआ-हुआ उस अपवाद के विषय को भी ग्रहण करता हुआ उपारूढ होता है। इस कारण उस उत्सर्ग की अपेक्षा से भिन्नरूपवाला अपवाद ही गृहीत होता है। जैसे कि इगुपधादि धातुओं से 'क' विधान किया गया है, अब उस 'क' की विधानवेला में उपस्थित हुआ-हुआ 'ण्वुल्-तृच्' धातुमात्र से विहित होने के कारण इगुपधादि धातुओं से भी प्राप्त होने लगेगा। इस प्रकार उस ण्वुल्-तृच् की अपेक्षा से, भिन्नरूपवाला अपवाद जो 'क' है, वह गृहीत हो जायेगा। और जो यह कहा गया कि उत्सर्गवेला में कुछ भी अपेक्षणीय नहीं होता, वह वाक्यार्थबोधवेला की दृष्टि से कहा गया है, न कि लक्ष्यसंस्कारवेला की दृष्टि से। लक्ष्यसंस्कारवेला की दृष्टि से देखा जाये तो उत्सर्ग को भी अपवाद की अपेक्षा रहती है। किन्तु वाक्यार्थबोधवेला में उत्सर्ग को अपवाद की कोई आवश्यकता नहीं रहती है।

भाष्यम्– यदि 'यो रूपवानन्यपूर्वको बाधकः प्राप्नोति स वा बाधको भवती'त्युच्यते क्विबादिषु समावेशो न प्राप्नोति– 'ग्रामणीः ग्रामनाय' इति। न ह्येते रूपवन्तः।।

समाधाता के इस कथन पर, आक्षेप्ता अपनी आपत्ति व्यक्त करता हुआ कहता है– जो रूपवान् (अपवाद) अन्यपूर्व (उत्सर्ग पूर्व) वाला बाधक प्राप्त होता है, यदि वह बाधक विकल्प से होगा, तो क्विबादि प्रत्ययों में समावेश प्राप्त नहीं होता। इष्ट यह है कि 'ग्रामणीः' (क्विबन्त), ग्रामनायः (कर्मण्यण् से अणन्त) दोनों रूप बना करें।

यहाँ 'ग्रामनायः' पद, 'कर्मण्यण्' (अ०- ३.२.१) से अण् होकर सिद्ध होता है, जो कि उत्सर्ग है। तथा 'ग्रामणीः' यह प्रयोग 'सत्सूद्विष०' (अ०- ३.२.६१) से अपवाद रूप क्विप् के द्वारा सिद्ध किया जाता है। सो क्विप् तथा इसी जाति के क्विन् आदि, जहाँ कि प्रत्यय का सर्वापहारी लोप हो जाता है, इन सब क्विबादि के रूपवान् न होने से 'वाऽसरूपो०' अपना काम नहीं कर पायेगा। और फिर उत्सर्ग 'अण्' को अपवाद क्विप् नित्य ही बाधा करेगा।

भाष्यम्– एतेऽपि रूपवन्तः।। कस्यामवस्थायाम्? उपदेशावस्थायाम्।।

समाधाता कहता है कि ये क्विबादि भी तो रूपवान् हैं।। किस अवस्था में रूपवान् हैं? ये रूपवान् हैं– उपदेशावस्था में।।

भा०– यद्येवम्।

यदि ऐसी बात है कि उपदेशावस्था की रूपवत्ता को लेकर सारूप्य-असारूप्य को देखा जा रहा है, तब तो------

वा०– ✻ अनुबन्धभिन्नेषु विभाषाप्रसङ्गः।।४।। ✻

भा०– अनुबन्धभिन्नेषु विभाषा प्राप्नोति।। 'कर्मण्यण्' (अ०- ३.२.१) 'आतोऽनुपसर्गे कः' (अ०- ३.२.३) इति कविषयेऽणपि प्राप्नोति।।

अनुबन्धों को लेकर जहाँ रूप की भिन्नता है, उन सब स्थलों में विकल्प प्राप्त होने लगेगा। किन्तु वैसा तो अभीष्ट है नहीं! जैसे 'कर्मण्यण्' और 'आतोऽनुपसर्गे कः' यहाँ 'अण्' और 'क' के असरूप होने से 'क' के विषय में अण् भी प्राप्त होने लगेगा। और फिर 'गोदः' के साथ 'गोदायः' ऐसा अनिष्ट रूप भी बनने लगेगा।

वा०– ✻ सिद्धमनुबन्धस्याऽनेकान्तत्वात्।।५।। ✻

भाष्यम्– सिद्धमेतत्।। कथम्? अनुबन्धस्याऽनेकान्तत्वात्।।

अनेकान्ताः अनुबन्धाः।।

उक्त समस्या का समाधान सिद्ध है। कैसे? अनुबन्धों की अनेकान्तता के कारण। अनुबन्ध अनेकान्त हुआ करते हैं। वे जिसके साथ संयुक्त हुआ करते हैं, उसके अवयव नहीं होते। एकान्त = अवयव, अनेकान्त = अनवयव। सो प्रकृत में 'अण्' और 'क' प्रत्यय के साथ संयुक्त 'ण्' और 'क्' अनुबन्ध उनके अवयव ही नहीं तो उनको लेकर कैसा असारूप्य?

भा०– अथवा प्रयोगेऽसरूपाणां वाविधिर्न्याय्यः।।

जो, वह रूपवान् (अपवाद) अन्य (उत्सर्ग) पूर्ववाला बाधक प्राप्त होता है, यदि वह बाधक विकल्प से होगा तो क्विबादि प्रत्ययों में समावेश नहीं होगा– इस उपर्युक्त समस्या का समाधाता एक अन्य समाधान देता है– अथवा; प्रयोग में जो असरूप हैं, उनकी वाविधि न्याय्य है। अर्थात् प्रयोग में जो असरूप हैं, उन्हीं स्थलों में 'वाऽसरूपो०' की प्रवृत्ति होती है। क्विप् में रूप का अभाव होने से ही प्रयोग में वह अणादियों के साथ असरूप है। क्योंकि प्रयोग में उसका सर्वापहारी लोप हो जाता है। प्रकृत में 'असरूप' पद से 'समानरूपाभाववान्' ऐसा अर्थ लेना होगा। इस अर्थ के अनुसार क्विप् व अण् असरूप हैं।

वस्तुत: 'असरूप' पद का जो यह 'समानरूपाभाववान्' ऐसा अर्थ किया गया है, यह एकदेशी उक्ति है। जैसा कि आगे चलकर 'अथवा प्रयोगेऽसरूपाणां वाविधौ सर्वमिष्टं-----' इस कथन के द्वारा प्रकृत व्याख्या को निरस्त कर दिया जायेगा।

वा० – * प्रयोगे चेल्लादेशेषु प्रतिषेध:।।६।। *

भाष्यम्– प्रयोगे चेल्लादेशेषु प्रतिषेधो वक्तव्य:। 'ह्योऽपच'दित्यत्र लुङपि प्राप्नोति। 'श्व: पक्ते'त्यत्र लृडपि प्राप्नोति।।

यदि प्रयोग में असरूपों की वाविधि न्याय्य मानते हैं तो प्रयोगगत जो लादेश हैं, वहाँ 'वाऽसरूप' विधि का प्रतिषेध कहना चाहिये। 'ह्योऽपचत्' इस विवक्षा में 'ह्योऽपाक्षीत्' ऐसा लुङ् भी प्राप्त होने लगेगा। इसी प्रकार 'श्व: पक्ता' यहाँ 'श्व: पक्ष्यति' ऐसा लृट् भी प्राप्त होने लगेगा।

'ह्योऽपचत्' यहाँ लङ् लकार में अच् रहित 'त्'कारमात्र प्रत्यय है। और 'ह्योऽपाक्षीत्'– यहाँ लुङ् में 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' (अ०– ७.३.९६) से हुआ ईट् आगम 'त्कार' का भाग होने से 'ईत्' इस रूप में तकार से भिन्नरूपवाला होने से समावेश प्राप्त होने लगेगा।

भाष्यम्– नैष दोष:। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति– 'न लादेशेषु वासरूपो भवती'ति, यदयं 'हशश्वतोर्लङ् च' (अ०- ३.२.११६) इत्याह।।

नहीं, यह कोई दोष नहीं है। आचार्य का व्यवहार यह जतलाता है कि लादेशों में वाऽसरूपविधि नहीं होती। जो कि यह आचार्य 'परोक्षे लिट्' (अ०- ३.२.११५) से विहित लिट् के साथ 'लङ्' का समावेश असारूप्य से सिद्ध होने पर भी 'हशश्वतोर्लङ् च' सूत्र से लङ् का विधान करता है। इससे आचार्य का 'आदेशगत असारूप्य को लेकर लकार विषय में वाऽसरूपविधि नहीं होती'– यही तात्पर्य निकलता है।

भा०– अथवा प्रयोगेऽसरूपाणां वाविधौ न सर्वमिष्टं सङ्गृहीतमिति कृत्वा द्वितीय: प्रयोग उपास्यते।। कोऽसौ ? उपदेशो नाम। उपदेशे चैतेऽसरूपा:।।

अब असरूप पद के उसी पूर्वनिर्दिष्ट, प्रसिद्ध 'भिन्नरूप' इस अर्थ को आधार बनाकर समाधाता अपनी बात कहता है– अथवा प्रयोग में असरूपों की वाविधि को लेकर संपूर्ण इष्ट विषय संगृहीत नहीं हो पा रहा है, इस हेतु से द्वितीय प्रयोग की उपासना की जायेगी। क्या है वह (द्वितीय प्रयोग) ? वह (द्वितीय प्रयोग) है उपदेश। उपदेश में तो ये 'क्विप्', 'अण्' इत्यादि असरूप (भिन्नरूपवाले) हैं। 'प्रयोगेऽसरूपाणां वाविधौ----' यह इसीलिये कहा गया, कि, क्विबादियों के प्रयोग में रूप का सर्वथा अभाव होने से, वे क्विबादि संगृहीत नहीं हो पायेंगे।

भा०– ननु चोक्त'मनुबन्धभिन्नेषु विभाषाप्रसङ्ग' इति?

क्यों जी! उपदेश में यदि असारूप्य देखेंगे, तो अभी जो यह दोष दिया था कि अण्-क इत्यादि अनुबन्धभिन्नों में विभाषाप्रसङ्ग प्राप्त होने लगेगा, उसकी क्या गति होगी?

भा०– परिहृतमेतत्।। कथम्? 'सिद्धमनुबन्धस्यानेकान्तत्वा'दिति।।

उक्त दोष का तो परिहार दिया जा चुका है।। क्या परिहार दिया है? अनुबन्धों के अवयव न होने से वे असारूप्य को बनाने में हेतु नहीं होंगे।।

भा०– अथैकान्ते दोष एव।।

अच्छा तो, एकान्त पक्ष में तो दोष ही रहेगा। अर्थात् अण्-क इत्यादि स्थलों में तत्तत् प्रत्यय के साथ संयुक्त अनुबन्धों के अवयव होने से वे सब प्रत्यय असरूप होकर 'वाऽसरूपविधि' में निमित्त बनने लगेंगे।

भा०– एकान्ते च न दोषः। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति– 'नाऽनुबन्धकृतमसारूप्यं भवती'ति, यदयं 'ददातिदधात्योर्विभाषा' शं शास्ति।।

अनुबन्धों के एकान्तपक्ष में भी दोष नहीं है। आचार्य का व्यवहार जतलाता है कि अनुबन्धों के द्वारा किया गया असारूप्य इस शास्त्र में मान्य नहीं है। क्या व्यवहार है? जो यह आचार्य 'ददातिदधात्योर्विभाषा' (अ०- ३.१.१३६) सूत्र के द्वारा विकल्प से 'श' प्रत्यय का विधान करता है। यदि अनुबन्धकृत असारूप्य मान्य होता, तो 'दा-धा' इन धातुओं से 'श' प्रत्यय के विकल्पविधान की आवश्यकता नहीं थी। क्योंकि एक पक्ष में, 'स्याद्व्यधा०' (अ०– ३.१.१४१) सूत्रविहित 'ण' और दूसरे पक्ष में प्रकृतसूत्र से विहित 'श' प्रत्यय के अनुबन्धसहित अवस्था में, असरूप होने से 'वाऽसरूपविधि' न्याय की प्रवृत्ति होकर विशेषविहित 'श' प्रत्यय, सामान्यविहित 'ण' का स्वतः ही विकल्प से बाधक होता। फिर भी जो 'श' का विकल्प शासन किया जा रहा है, उससे यही समझा जायेगा कि आचार्य अनुबन्धों के द्वारा बनाये गये असारूप्य को स्वीकार नहीं करते।

भा०– अथवाऽसरूपो बाधको वा भवतीत्युच्यते। अपवादो नामाऽनुबन्धभिन्नो वा भवति रूपान्यत्वेन वा। तेना[१]ऽनेना[२]वश्यं किञ्चित्त्याज्यं किञ्चिच्च संग्रहीतव्यम्। तद्यदनुबन्धकृतमसारूप्यं तन्नाश्रयिष्यामो, यत्तु रूपान्यत्त्वेनाऽसारूप्यं तदाश्रयिष्यामः।।

---

१. तेन = कारणेन। २. अनेन = अध्येत्रा।

अथवा अनुबन्धों के एकान्तपक्ष में एक और भी परिहार हो सकता है। देखिये, प्रकृतसूत्र के द्वारा 'असरूप बाधक विकल्प से बाधक होता है'– ऐसा कहा जा रहा है। और अपवाद, या तो अनुबन्धों की भिन्नता को लेकर समझा जायेगा, या फिर रूपान्यत्त्व के द्वारा अर्थात् प्रयोग में भिन्नरूपता के द्वारा। अब (तेन = कारणेन) इस स्थिति में (अनेन) इस अध्येता को अवश्य ही कुछ छोड़ना पड़ेगा और कुछ ग्रहण करना होगा। तो जो अनुबन्धकृत असारूप्य है (व्याख्यान से) उसका आश्रयण नहीं करेंगे, और जो रूपान्यत्त्व, अर्थात् प्रयोग में भिन्नरूपता को लेकर असारूप्य है, उसका आश्रय कर लेंगे।

यहाँ समाधाता का भाव यह है कि, दोनों प्रकार का असारूप्य (अनुबन्धभिन्नता और रूपान्यत्त्व को लेकर) ग्रहण किया जाये तो 'असरूप' पद किसको व्यावृत्त करेगा? क्योंकि उस स्थिति में तो सभी असरूप होंगे। कोई अनुबन्धभिन्नता के आधार पर, तो कोई रूपान्यत्त्व को लेकर। अत: स्पष्टता की दृष्टि से आचार्य 'वाऽपवादोऽस्त्रियाम्' इतना ही कह देते। फिर भी जो 'वाऽसरूपो॰' ऐसा सूत्र बनाया, उसके सामर्थ्य से अनुबन्धकृत असारूप्य का आश्रयण नहीं करेंगे, केवलमात्र रूपान्यत्त्व का ही आश्रयण करेंगे। रूपान्यत्त्व के आधार पर तो, 'अण्' और 'क' असरूप होंगे नहीं। क्योंकि प्रयोग में दोनों का 'अ' मात्र रूप ही शेष रहता है।

भाष्यम्– अथवाऽसरूपो वा बाधको भवतीत्युच्यते। सर्वश्चाऽसरूप:, तत्र प्रकर्षगतिर्विज्ञास्यते– 'साधीयो योऽसरूप' इति।। कश्च साधीय:? य: प्रयोगे प्राक् च प्रयोगात्।।

समाधाता, एकान्तपक्ष में प्राप्त दोष का, एक और प्रकार से भी समाधान देता है। असरूप बाधक, विकल्प से बाधक होता है, ऐसा कहा जा रहा है, किन्तु जिस रूप में उत्सर्ग-अपवाद प्रत्यय पठित हैं, उनको उसी रूप में देखा जाये तो सभी असरूप हैं। तो इस स्थिति में प्रकर्ष-गति जानी जायेगी। जो असरूप, अच्छी प्रकार (साधीय:) से है। कौन है अच्छी प्रकार से असरूप? अच्छी प्रकार से असरूप वह होगा, जो प्रयोग में भी हो, और प्रयोग से पहिले उपदेश में भी हो। 'अण्' और 'क' इत्यादि उपदेश में तो असरूप हैं, पर प्रयोग में असरूप नहीं हैं। इसीलिये इनका असरूपत्व साधीय नहीं है।

भाष्यम्– अथवाऽसरूपो वा बाधको भवतीत्युच्यते, न चैवं सति कश्चिदपि सरूप:। त एवं विज्ञास्याम:– 'क्वचिद्येऽसरूपा:' इति। अनुबन्धभिन्नाश्च प्रयोगे सरूपा:।

अनुबन्धों के एकान्तपक्ष में प्राप्त दोष का, समाधाता एक और भी समाधान प्रस्तुत कर रहा है– असरूप, विकल्प से बाधक होता है, ऐसा कहा जा रहा है। किन्तु अनुबन्धों को साथ लेकर यदि देखते हैं, तो कोई भी प्रत्यय सरूप नहीं होगा। तो जब सभी (प्रत्यय) असरूप होंगे, तो 'असरूप' पद किसको व्यावृत्त करेगा? इसलिये अब हमें 'असरूप' पद की यह व्याख्या करनी होगी– 'क्वचित् जो असरूप हैं', अर्थात् प्रयोग में जो असरूप हैं। उपदेश में तो सभी का ही असारूप्य है, इसीलिये उस दृष्टि से देखने पर तो, असरूप

ग्रहण व्यर्थ ही हो जायेगा। अनुबन्धों के द्वारा जो भिन्न स्वरूप वाले अण्-क इत्यादि प्रत्यय हैं, वे तो प्रयोग में सरूप हो जायेंगे। इसलिये वहाँ 'वाऽसरूप' विधि प्रवृत्त नहीं होगी।

इस विविध समाधानों को सामने रखकर नागेश का कहना है कि, दूसरे समाधान में प्रयोग व उपदेश दोनों असारूप्य देखना होता है। और तृतीय समाधान में केवल प्रयोग में असारूप्य देखना है। सो इन दोनों समाधानों में क्विबादियों का भी संग्रह हो जायेगा। यदि यह पूछो, कैसे? तो रूप के अभाव होने से ही सारूप्य के अभाव की क्षति नहीं होगी। अर्थात् सारूप्य का अभाव बना रहेगा। और यहाँ 'असरूप' पद से 'भिन्नरूप' अर्थ न लेकर 'सारूप्य-अभाववान्'– इस अर्थ को ग्रहण करना होगा। 'क्विप्' और 'अण्' अनुबन्धों के एकान्त पक्ष में, उपदेश व्यवस्था में तो असरूप हैं ही। अनेकान्त पक्ष में भी उपदेश में वे असरूप हैं, क्योंकि, क्विप् का 'व्' शेष रहेगा और अण का 'अ'। और प्रयोग में भी वे असरूप ही हैं। क्योंकि 'अण्' का तो 'अ' प्रयोग होगा और क्विप् का लोप होकर प्रयोग होगा। तो इस प्रकार वे दोनों सारूप्य-अभाववाले होने के कारण असरूप हैं। अत: वहाँ वाऽसरूपविधि प्रवृत्त होकर, ग्रामणी:, ग्रामनाय: प्रयोग बनते रहेंगे।

भाष्यम्– अथ कथमिदं विज्ञायते– 'ऽस्त्रिया'मिति? किं 'स्त्रियां न भवती'ति, आहोस्वित्प्राक् स्त्रिया भवतीति? कश्चाऽत्र विशेष:?

अच्छा, अब यह निर्णय करना चाहिये कि– 'अस्त्रियाम्' इस पद से 'स्त्रियां क्तिन्' (अ०– ३.३.९४) इस अधिकार में वाऽसरूपविधि नहीं होती– यह अर्थ लेना चाहिये अथवा 'स्त्रियां क्तिन्' से पहिले-पहिले वाऽसरूपविधि होती है– यह अर्थ।। इन दोनों पक्षों में क्या भेद पड़ता है? आक्षेप्ता का भाव यह है कि, क्या केवल स्त्री-अधिकार विहित प्रत्ययों में ही वाऽसरूपविधि का प्रतिषेध है, स्त्री-अधिकार के पश्चात् तो वाऽसरूपविधि होती ही है? अथवा स्त्री-अधिकार से पहिले-पहिले वाऽसरूपविधि होती है, स्त्री-अधिकार प्रारम्भ होते ही वह विच्छिन्न हो जाती है? 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' को परिभाषा सूत्र मानने पर तो प्रथमपक्ष बनता है और अधिकार मानते हैं तो द्वितीय पक्ष। अधिकार पक्ष में 'स्त्रियां' को देखकर वाऽसरूपविधि निवृत्त हो जाती है।

वा०– स्त्रियां प्रतिषेधे क्तल्युट्तुमुन्खलर्थेषु विभाषाप्रसङ्ग:।।७।।

भाष्यम्– स्त्रियां प्रतिषेधे क्तल्युट्तुमुन्खलर्थेषु विभाषा प्राप्नोति।।

क्त-हसितं छात्रस्य शोभनम्। घञपि प्राप्नोति।।

ल्युट्-हसनं छात्रस्य शोभनम्। घञपि प्राप्नोति।

तुमुन्-इच्छति भोक्तुम्। लिङ्लोटावपि प्राप्नुत:।

खलर्थ:- ईषत्पान: सोमो भवता। खलपि प्राप्नोति।।

यदि मात्र 'स्त्रियां क्तिन्' अधिकार में वाऽसरूपविधि का प्रतिषेध करते हैं, और उससे पूर्व व पश्चात् सर्वत्र वाऽसरूपविधि को स्वीकार कर लेते हैं तो क्त, ल्युट्, तुमुन् और खलर्थ प्रत्ययों में वाऽसरूपविधि का अतिप्रसङ्ग होने लगेगा।

क्त– (नपुंसके भावे क्त:– अ०– ३.३.११४) 'हसितं छात्रस्य शोभनम्' इस उदाहरण में क्तान्त 'हसितं' इस प्रयोग के साथ-साथ हास: छात्रस्य शोभनम् ऐसा घञ्-प्रत्ययान्त अनिष्टरूप (भावे– अ०– ३.३.१८) भी प्राप्त होता है।

ल्युट्– (ल्युट् च– अ०– ३.३.११५) 'हसनं छात्रस्य शोभनम्' यहाँ 'हसनं' प्रयोग के साथ-साथ, वाऽसरूपविधि से घञ् भी प्राप्त होता है, जो कि अनिष्ट है।

तुमुन्– (समानकर्त्तृकेषु तुमुन्– अ०– ३.३.१५८) 'इच्छति भोक्तुम्' यहाँ 'भोक्तुम्' इस प्रयोग के साथ, 'इच्छार्थेषु लिङ्लोटौ' (अ०– ३.३.१५७) से वाऽसरूपविधिन्याय से लिङ् लोट् भी प्राप्त होते हैं। यद्यपि भाष्यकार ने 'लिङ्लोटावपि प्राप्नुत:'– ऐसा कहा है तो भी 'समानकर्त्तृकेषु तुमुन्' के विषय में (अ०– ३.३.१५८) 'लिङ् च' (अ०– ३.३.१५९) सूत्र से लिङ् का विधान इष्ट ही होने से, पर्याय से लोट् प्राप्ति को ही दोष रूप में समझना चाहिये। यहाँ तुमुन् विषय में लोट्-प्राप्ति रूप का ही दोष यह समाधान हो सकता है– 'अ०– ३.३.१५६' सूत्र से तुमुन् विषय में, लिङ् का पुनर्विधान किया गया है, वह नियमार्थ हो जायेगा– 'इच्छार्थक समानकर्त्तृक धातुओं के उपपद रहते लिङ् ही होता है। न कि लोट्। (इच्छार्थेषु समानकर्त्तृकेषु लिङेव भवति, न लोट्) यहाँ यह भी एक विचार है– 'इच्छति भोक्तुम्' इस उदाहरण में तुमुन् भाव में हुआ है। और लोट् होता है कर्त्ता-कर्म में। सो भिन्नार्थक होने से, किस प्रकार बाध्य-बाधक भाव बनेगा? इसके उत्तर में कहा जाता है कि, भाव में भी तो लोट् का विधान है। सो उनकी दृष्टि से बाध्य-बाधक भाव बन जायेगा। यदि यह कहो कि भुज् धातु सकर्मक है, सो भाव में लोट् कैसे होगा? उसके लिये यह कहा जा सकता है कि भाष्यकार ने यह उदाहरण उपलक्षण के रूप में दे दिया है। 'इच्छति आसितुम्' इत्यादि अकर्मक धातुओं के प्रसङ्ग में भाव में भी लोट् प्राप्त है। अर्थात् इच्छत्यास्येत इच्छत्यास्यताम् ऐसा अनिष्ट रूप पाने लगेगा। खलर्थ– (आतो युच्; अ०– ३.३.१२८) 'ईषत्पान: सोमो भवता' यहाँ 'ईषत्पान:' इस प्रयोग के साथ 'ईषद्दु:सुषु०' (अ०– ३.३.१२६) खल् भी प्राप्त होने लगेगा। अर्थात् 'ईषत्पा:' ऐसे अनिष्ट बनने लगेगा।

भाष्यम्– एवं तर्हि 'स्त्रिया: प्रा'गिति वक्ष्यामि।।

अच्छा तो, 'स्त्री-अधिकार' से पहले-पहले वाऽसरूपविधि होती है, ऐसा व्याख्यान करेंगे।

वा०– स्त्रियाः प्रागिति चेत्क्त्वायां वावचनम्।।८।।

भाष्यम्– स्त्रियाः प्रागिति चेत् क्त्वायां वावचनं कर्त्तव्यम्। आसित्वा भुङ्क्ते। 'आस्यते भोक्तु'मित्यपि यथा स्यात्।।

'स्त्रियाः प्राक्' ऐसा दूसरा पक्ष ग्रहण करते हैं तो, क्त्वा में 'वा' वचन करना होगा। क्योंकि यहाँ वाऽसरूपविधि से, 'आसित्वा भुङ्क्ते' (समानकर्त्तृकयोः पूर्वकाले– अ०– ३.४.२१) क्त्वा के साथ, 'आस्यते भोक्तुम्' यह प्रयोग भी चाहते हैं।

यहाँ आसनक्रिया के भोजनार्थ होने से पौर्वकाल्य मात्र गम्यमान होता है। इसलिये समानविषय होने से, बाध्य-बाधक भाव उपस्थित होता है। आसित्वा– यहाँ, क्त्वा भाव में है और 'आस्यते' यहाँ लकारोत्पत्ति भी भाव में है। इस प्रकार दोनों उदाहरणों का समानार्थत्व है। 'भोक्तुम्' यहाँ तुमुन्ण्वुलौ० अ०– ३.३.१० से तुमुन् हो रहा है।

भाष्य में दोनों ही पक्षों में दोषों का कथन कर दिया गया है। ऐसी स्थिति में कौन से पक्ष को स्वीकार किया जाये? सो 'स्त्री-अधिकार से परे भी वाऽसरूपविधि होती है'– यह परिभाषा पक्ष ही अधिक उचित प्रतीत होता है। उससे 'क्त्वाविधि' में वावचन करने की आवश्यकता नहीं होगी। किन्तु स्त्री-अधिकार से परे वाऽसरूपविधि, 'अर्हे कृत्यतृचश्च' (अ०– ३.३.१६९) यहाँ 'कृत्य' के साथ तृच् का समुच्चय करने से, अनित्य है– ऐसा ज्ञापित होता है। अनित्यत्व का ज्ञापन करने पर, पूर्वोक्त क्त-ल्युट्-तुमुन्-खलर्थ विषय में वाऽसरूपविधि की अप्रवृत्ति होने से नित्य ही बाधक हो जाते हैं।

वा०– कालादिषु तुमुन्विधाने वावचनम्।।९।।

भाष्यम्– कालादिषु तुमुन्विधाने वावचनं कर्त्तव्यम्। कालो भोक्तुम् 'कालो भोजनस्ये'त्यपि यथा स्यात्।।

'स्त्री-अधिकार' से पहिले-पहिले वाऽसरूपविधि मानने पर, एक यह भी दोष आता है– 'कालसमयवेलासु तुमुन्' (अ०– ३.३.१६७) सूत्र से कालादि के उपपद रहते धातु से तुमुन् विधान में वावचन करना चाहिये, जिससे 'कालो भोक्तुम्'– इस प्रयोग के साथ, 'कालो भोजनस्य' यह ल्युडन्तप्रयोग भी हो जाया करे। स्त्री-अधिकार के पश्चात् भी यदि वाऽसरूपविधि है, तो वावचन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वाऽसरूपविधि से स्वतः ही तुमुन् विकल्प से होता रहेगा।

वा०– अर्हे तृज्विधानम्।।१०।।

भाष्यम्– अर्हे तृज्विधेय:। इमेऽर्हे कृत्या विधीयन्ते। ते विशेषविहिता: सामान्यविहितं तृचं बाधेरन्।।

स्त्री-अधिकार से पहले-पहले यदि वाऽसरूपविधि है तो, 'अर्ह' अर्थ में तृच् का विधान करना चाहिये। 'अर्हे कृत्यतृचश्च' सूत्र के द्वारा ये कृत्य प्रत्यय 'अर्ह' अर्थ में विशेष रूप से विधान किये जा रहे हैं। वे कृत्य प्रत्यय 'अर्ह' अर्थ में विशेष रूप से विहित होने के कारण, सामान्यरूप से विहित तृच् को नित्य ही बाधने लगेंगे।

यदि वाऽसरूपविधि स्त्री-अधिकार से परे भी है तब तो कोई समस्या नहीं आती। अर्ह-अर्थ में तृच् किये विना ही वाऽसरूपविधि से अपने आप अर्ह अर्थ में तृच् होता रहेगा। इसलिये यह समस्या, वाऽसरूपविधि को स्त्री-अधिकार से पहिले-पहिले मानने पर ही प्रस्तुत की गयी है।

भा०– नैष दोष:। भावकर्मणो: कृत्या विधीयन्ते, कर्त्तरि तृच्। क: प्रसङ्गो यद्भावकर्मणो: कृत्या: कर्त्तरि तृचं बाधेरन्?

नहीं! यह तो कोई दोष नहीं है। कृत्य प्रत्ययों का विधान है, भाव व कर्म में। और तृच् का विधान है कर्त्ता में। सो भाव-कर्म में विहित कृत्य, कर्त्ता में विहित तृच् को कैसे बाध सकेंगे! उनका तो विषय ही पृथक्-पृथक् है। इसलिये उनके मध्य-परस्पर बाध्य-बाधक भाव का कोई प्रसङ्ग ही नहीं बनेगा।

भाष्यम्– एवं तर्हि-अर्हे[१] कृत्यतृज्विधानम्। अर्हे कृत्यतृचो विधेया:। अयमर्हे लिङ्विधीयते। स विशेषविहित: सामान्यविहितान् कृत्यतृचो बाधेत।।९४।।

अच्छा तो अर्ह-अर्थ में कृत्य और तृच् का विधान करना चाहिये। क्योंकि यह लिङ् प्रत्यय 'लिङ् यदि' (अ०– ३.३.१६८) से 'अर्हे कृत्यतृचश्च' (अ०– ३.१.१६९) सूत्रस्थ 'चकार' के द्वारा अनुकृष्ट होता हुआ अर्ह-अर्थ में विशेष रूप से विधान किया जा रहा है। सो वह विशेषविहित लिङ् सामान्यविहित कृत्यतृचों को, 'अर्ह' इस अपने विषय में बाधने लगेगा।

भाव यह है कि, यदि स्त्री-अधिकार से पहले ही वाऽसरूपविधि है तो अर्ह-अर्थ में लिङ् विधान के साथ कृत्य-तृचों का भी विधान करना पड़ेगा। अन्यथा लिङ् व कृत्य-तृच् के बीच, 'अर्ह' इस विशेष अर्थ में परस्पर बाध्य-बाधक भाव होने लगेगा। यदि स्त्री-अधिकार से परे भी वाऽसरूपविधि है तो, 'अर्ह' अर्थ में कृत्य-तृच् का विधान करने की आवश्यकता नहीं है। 'अर्हे च'– ऐसा ही सूत्र बनाकर, केवल मात्र लिङ् का विधान कर देना चाहिये। कृत्य-तृच् तो जैसे अन्यत्र होते हैं, वैसे 'अर्ह' अर्थ में भी 'वाऽसरूपविधि से अपने आप होते रहेंगे। इसी कारण 'स्त्र्यधिकार से परे भी वाऽसरूपविधि है'– इस पक्ष में 'अर्हे कृत्यतृचश्च' सूत्र में कृत्य-तृच् का ग्रहण स्त्र्यधिकार से परे वाऽसरूपविधि अनित्य है– इस अर्थ में ज्ञापक बन जाता है।।९४।।

---

१. 'भवान् विद्यां पठेत्' लिङ् के साथ 'भवान् विद्याया: पठिता' व 'भवता विद्या पठितव्या' कृत्य-तृच् का समावेश चाहते हैं।

कृत्याः ।।३.१.९५।।

वा०– कृत्यसंज्ञायां प्राङ्ण्वुल्वचनम्।।१ ।।

भाष्यम्– कृत्यसंज्ञायां प्राङ्ण्वुल इति वक्तव्यम्।। किं प्रयोजनम्? ण्वुलः कृत्यसंज्ञा मा भूत्।।

कृत्यसंज्ञा के प्रसङ्ग में 'प्राङ् ण्वुलः' ऐसा कहना चाहिये। क्या प्रयोजन है? प्रयोजन यह है; कि ण्वुल् से पहिले-पहिले कृत्संज्ञा हुआ करे, ण्वुल् व उससे अग्रिम तृजादि प्रत्ययों की कृत्संज्ञा न होवे।

वा०– अर्हे कृत्यतृज्वचनं तु ज्ञापकं प्राङ्ण्वुल्वचनानर्थक्यस्य।।२ ।।

भाष्यम्– यदय'मर्हे कृत्यतृचश्च' (अ०– ३.३.१६९) इति तृज्ग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः– 'प्राङ्ण्वुलः कृत्यसंज्ञा भवती'ति।।

'अर्हे कृत्यतृचश्च' सूत्र में कृत्य के साथ तृज्ग्रहण पढा हुआ, ज्ञापक है कि ण्वुल् से पहिले-पहिले ही कृत्यसंज्ञा हुआ करती है। इसीलिये 'प्राङ्ण्वुलः कृत्याः' ऐसा सूत्र बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

भाष्यम्– एवमपि ण्वुलः कृत्यसंज्ञा प्राप्नोति।।

फिर भी ण्वुल् की कृत्यसंज्ञा प्राप्त होने लगेगी।। आक्षेप्ता का भाव यह है कि 'अर्हे कृत्यतृचश्च' में तो कृत्य के साथ तृच् पढा है। सो भले ही 'तृच्' की तो कृत्संज्ञा न हो, पर फिर भी ण्वुल् की तो होने लगेगी।

भाष्यम्– योगापेक्षं ज्ञापकम्।।९५ ।।

नहीं! ऐसा नहीं होगा, व्याख्यान से, सूत्र की अपेक्षा से ज्ञापक समझा जायेगा, न कि केवल तृच्-प्रत्यय की अपेक्षा से। अर्थात् 'ण्वुल्तृचौ' इस योग (सूत्र) से पहिले-पहिले कृत्यसंज्ञा का अधिकार है, इस रूप में तृज्ग्रहण के द्वारा अनुमान किया जायेगा।

तव्यत्तव्यानीयरः ।।३.१.९६ ।।

वा०– केलिमर उपसंख्यानम्।।१ ।।

भाष्यम्– केलिमर उपसंख्यानं कर्त्तव्यम्। पचेलिमा भाषाः। पक्तव्याः। भिदेलिमाः सरलाः। भेत्तव्याः।।

धातु से तव्यत्-तव्य-अनीयर् इन प्रत्ययों के विधान में 'केलिमर्' का भी उपसंख्यान करना चाहिये। पचेलिमा भाषाः = पक्तव्याः = पकाने योग्य उडद। भिदेलिमाः सरलाः[1]– भेत्तव्याः = भेदन करने योग्य चीढ का वृक्ष।

---

१. सर्वानुभूतिः सरला त्रिपुटा त्रिवृता त्रिवृत् त्रिभण्डी रोचनी– इति अमरकोशे त्वौषधविशेषोऽपि।

काशिकाकार ने 'केलिमर्' प्रत्यय को कर्मकर्त्ता में चाहा है। जबकि भाष्यकर ने तो 'पक्तव्या:, भेत्तव्या:' ऐसा विवरण देते हुये, कर्म में स्वीकार किया है। क्योंकि 'तव्य' कर्मकर्त्ता में नहीं होता है। लकारवाच्य कर्त्ता ही कर्मवत् होता है– ऐसा 'कर्मवत्वर्मणा०' सूत्र पर वार्त्तिककार का निर्णय है।

वा०– वसेस्तव्यत्कर्त्तरि णिच्च।।२।।

भाष्यम्– वसेस्तव्यत्कर्त्तरि वक्तव्य:। णिच्चासौ भवतीति वक्तव्यम्। वसतीति वास्तव्य:।।

'वस-निवासे' धातु से तव्यत् प्रत्यय कर्त्ता में कहना चाहिये। वसतीति वास्तव्य: (बसनेवाला)। 'तव्यत्' भाव-कर्म में विहित होने से कर्त्ता में प्राप्त नहीं था।

वा०– तद्धितो वा।।३।।

भा०– तद्धितो वा पुनरेषो भविष्यति। वास्तुनि भवो वास्तव्य:।।९६।।

अथवा उक्त शब्द की सिद्धि, तद्धित (यत्) प्रत्यय से हो जायेगी। 'वास्तु = गृह, आवास, घर बनाने की जगह, भवनखण्ड, जगह।' 'वास्तु' में होनेवाला 'वास्तव्य'। 'तत्र भव:' (अ०– ४.३.५३) अर्थ में 'दिगादिभ्यो यत्' (५४) से यत् प्रत्यय हो गया है।

यदि यह कहो कि तद्धितान्त 'वास्तव्य' और कृत्प्रत्ययान्त 'वास्तव्य' इनसे सामानार्थ की प्रतीति नहीं होगी, तो इस पर यही कहना होगा कि नित्य शब्दों का अन्वाख्यान यथाकथञ्चित् कर लेना चाहिये। 'वास्तु' में होनेवाले के द्वारा भी, 'वासकर्त्ता' का ही रूढि से बोध होने के कारण कोई अर्थ भेद नहीं है। 'रूढि के द्वारा सब दोषों का परिहार हो जाता है'– यह प्रसिद्ध ही है। जैसा कि हरि ने भी कहा है–

उपादायापि ये हेयास्तानुपायान् प्रचक्षते।

उपायानां च नियमो नावश्यमवतिष्ठते।। (वाक्यपदीय– २.३८)

उपर्युक्त श्लोक के द्वारा 'उपाय' शब्द की व्युत्पत्ति दर्शायी गयी है। और उस व्युत्पत्ति को दर्शाते हुये कहा गया है कि– उपेय-सिद्धि के लिये किसी उपायविशेष को ग्रहण करके भी, अब उसके संपन्न हो जाने पर प्रयोजन के न रहने से, जिसे छोड़ दिया जाता है उसे 'उपाय' कहते हैं। क्योंकि उपायों का अवश्य ही कोई सुनिश्चित नियम नहीं है कि यही एक उपाय होगा। प्रकृत में 'उप' शब्द उपादान (ग्रहण) अर्थ को कह रहा है। और 'आय' शब्द हेय (त्याज्य) अर्थ को। इस प्रकार पृषोदरादि से यह शब्द सिद्ध कर लिया गया है। उपादाय हेया: = उपाया:।।९६।।

अचो यत्।।३.१.९७।।

भाष्यम्– अज्ग्रहणं किमर्थम्? अजन्ताद्यथा स्याद्धलन्तान्मा भूदिति।

'अचो यत्' सूत्र में अज्ग्रहण का क्या प्रयोजन है? अज्ग्रहण का प्रयोजन है– अजन्त धातुओं से यत् प्रत्यय हुआ करे, हलन्तों से न होवे।

भाष्यम्– नैतदस्ति प्रयोजनम्। हलन्ताण्ण्यद्विधीयते, स बाधको भविष्यति।।

यह तो कोई प्रयोजन नहीं है। हलन्त धातुओं से, 'ऋहलोर्ण्यत्' (अ०– ३.१.१२४) ये ण्यत् विधान किया गया है, वह बाधक हो जायेगा।

भा०– यथैव तर्हि ण्यद्यतं बाधते, एवं तव्यदादीनपि बाधेत। अज्ग्रहणे पुन: क्रियमाणेऽजन्ताद्यद्विधीयते हलन्ताण्ण्यत्। एतावन्तश्च धातवो यदुताऽजन्ता हलन्ताश्च। उच्यन्ते च तव्यदादय:। ते वचनाद्भविष्यन्ति।।

यदि इस प्रकार ण्यत् यत् को बाधेगा तो तव्यदादि को भी बाधने लगेगा। प्रकृतसूत्र में अज्ग्रहण कर देने पर तो, स्पष्ट ही अजन्तों से यत् का विधान होगा और हलन्तों से ण्यत् का। इतनी ही तो धातुएँ हैं– या तो अजन्त या फिर हलन्त। और फिर तव्यदादि भी कहे जा रहे हैं। वे वचनसामर्थ्य से हो जायेंगे।

भाष्यम्– नैतदस्ति प्रयोजनम्। वाऽसरूपेण तव्यदादयो भविष्यन्ति।।

नही! यह कोई प्रयोजन नहीं, वाऽसरूपविधि से तव्यदादि भी धातुमात्र से अपने आप होते रहेंगे।

भाष्यम्– इदं तर्हि प्रयोजनम्, अजन्तभूतपूर्वमात्रादपि यथा स्यात्। लव्यम्, पव्यम्। आर्द्धधातुसामान्ये गुणे कृते, यि प्रत्ययसामान्ये च वान्तादेशे कृते 'हलन्ता'दिति ण्यत्प्राप्नोति। तथा 'दित्स्यम्' 'धित्स्यम्'– 'आर्धधातुकसामान्येऽकारलोपे[१] कृते' 'हलन्ता'दिति ण्यत्प्राप्नोति। अज्ग्रहणसामर्थ्याद्यदेव भवति।।

अच्छा तो (अज् ग्रहण का) यह प्रयोजन है, अजन्तभूतपूर्वमात्र (भूतपूर्व जो अजन्त) से भी यत् हो जावे। जैसे कि लव्यम्, पव्यम्। यहाँ 'लू-पू' धातु को आर्धधातुकसामान्य में अर्थात् 'सार्वधातुकार्धधातुकयो:' (अ०– ७.३.४८) सूत्र में विषय सप्तमी मानकर गुण कर लेने पर 'वान्तो यि प्रत्यये' (अ०– ६.१.७६) से पूर्ववत् प्रत्ययसामान्य में वान्तादेश कर लेने पर 'लव्-पव्'– ऐसा हलन्त हो जाने पर, हलन्त से कहा हुआ, 'ण्यत्' (अ०– ३.१.१२४) प्राप्त होने लगता है।

---

१. 'आर्धधातुके' यहाँ जातिनिर्देश होने से विषय सप्तमी समझी जायेगी। व्यक्तिनिर्देश मानने पर तो परसप्तमी ही माननी होगी।

इसी प्रकार 'दित्स्यम्' 'धित्स्यम्' यहाँ दा-धा धातु के सनन्तरूप 'दित्स्-धित्स्' से आर्धधातुकसामान्य में (अर्थात् पूर्ववत् ही विषयसप्तमी मानकर) 'अतो लोप:' (अ०– ६.४.४८) से अकारलोप कर लेने पर 'दित्स्-धित्स्' धातुओं के हलन्त हो जाने से पूर्ववत् हलन्त से विहित ण्यत् प्राप्त होने लगता है। अज् ग्रहणसामर्थ्य से भूतपूर्व अजन्त मानकर 'यत्' ही होगा। यहाँ यत् व ण्यत् में स्वरभेद होगा। यत् होने पर 'यतोऽनाव:' (अ०– ६.१.२०७) आद्युदात्तस्वर होगा और ण्यत् होने पर 'तित्स्वरितम्' (अ०– ६.१.१७९) होगा।

वा०– यति जनेरुपसंख्यानम्।।१।।

भाष्यम्– यति जनेरुपसंख्यानं कर्त्तव्यम्। जन्यं वत्सेन।।

'अचो यत्' से यत् के विधान में 'जन्' धातु से भी उपसंख्यान करना चाहिये। 'जन्' धातु के हलन्त होने से ण्यत् ही पाता था। उपसंख्यान से यत् हुआ करेगा। जन्यं वत्सेन। यहाँ 'यत्' भाव में हुआ है, इसलिये वत्स-कर्त्ता में तृतीया हो गयी है। वत्स को जन्म लेना चाहिये या वत्स जन्म लेने में सक्षम है अथवा वत्स जन्म लेने के योग्य है। 'जन्यम्' यहाँ यत् का विधान 'यतोऽनाव:' (अ०– ६.१.२०७) आद्युदात्त स्वरार्थ है। रूप तो 'ण्यत्' में भी 'जनिवध्योश्च' (अ०– ७.३.३५) से वृद्धिनिषेध होकर 'जन्यम्' ही होता।

भाष्यम्– अत्यल्पमिदमुच्यते– 'जने:' इति। 'तकिशसिचतियतिजनीनामुपसंख्यानमिति वक्तव्यम्'। तकि-तक्यम्। शसि-शस्यम्। चति-चत्यम्। यति-यत्यम्। जनि-जन्यम्।

'जन' से यत् का विधान बहुत ही अल्प है। 'जन्' ही नहीं– बल्कि तक्-शस्-चत्-यत् और जन् इन सबसे यत् होता है– ऐसा कहना चाहिये। तक्यम्, शस्यम्, चत्यम्, सत्यम्, जन्यम् आदि उदाहरण होंगे।

वा०– हनो वा वध च।।२।।

भाष्यम्– हनो वा यद्वक्तव्य:। 'वध' इत्ययं चाऽदेशो वक्तव्य:। वध्य:। घात्य:।

'हन्' धातु से विकल्प से यत् कहना चाहिये और उस 'यत्' के सन्नियोग से हन् को 'वध' यह आदेश भी कहना चाहिये। वध्य:। जब 'यत्' नहीं होगा तो ण्यत् हो जायेगा। तब 'वध' आदेश नहीं होगा। हन् को 'ण्यत्' के परे रहते उपधावृद्धि तथा 'हो हन्ते:०' (अ०– ७.३.५४) से हकार को कवर्गादेश तथा 'हनस्तोचिण्णलो:' (अ०- ७.३.३२) से तकारान्तादेश होकर 'घात्य:' रूप सिद्ध होगा।

वा०– तद्धितो वा।।३।।

भाष्यम्– तद्धितो वा पुनरेष भविष्यति–वधमर्हति-वध्य:।।

अथवा 'वध्य:' यह प्रयोग तद्धित से निष्पन्न हो जोयगा। 'वध' शब्द से 'तदर्हति' अर्थ में 'दण्डादिभ्यो यत्' (अ०– ५.१.६५) से यत् प्रत्यय का विधान किया हुआ है।

भाष्यम्– यदि तद्धितः, समासो न प्राप्नोति– 'असिवध्यो मुसलवध्य' इति। यति पुनः सति 'साधनं कृतेति वा पादहारकाद्यर्थमिति' समासः सिद्धो भवति।।

'वध्यः' यहाँ यदि तद्धितप्रत्यय माना जाये तो, 'असिवध्यः' 'मुसलवध्यः' इत्यादि प्रयोगों में 'वध्यः' का असि या मुसल के साथ समासविधायकलक्षण के अभाव होने से समास प्राप्त नहीं होगा। 'सुप्सुपा' यह लक्षण तो सार्वत्रिक नहीं है। कृत्संज्ञक यत् प्रत्यय होने पर तो 'साधनं कृतेति वा पादहारकाद्यर्थम्' (भा०वा० २.१.३३) कर्त्ता, करण आदि साधन का कृदन्त के साथ समास कहना चाहिये– इस भाष्यवार्त्तिक से 'असिना वध्यः' असिवध्यः मुसलेन वध्यः– मुसलवध्यः इस रूप में समास सिद्ध हो जाता है।

भाष्यम्–यदि पुनरसिवधशब्दादेवोत्पत्तिः स्यादसिवधर्हतीति?

क्यों जी! 'असिवध' इत्यादि समस्तपदों को ही पढ दिया जाये, अथवा दण्डादिगण को आकृतिगण मानकर, 'असिवधमर्हति' इस रूप में 'असिवध्यः' इत्यादि सब सिद्ध कर लिये जायें तो कैसा रहे?

भाष्यम्– नैवं शक्यं वक्तुम्। स्वरे हि दोषः स्यात्– 'असिवध्यः' एवं स्वरः प्रसज्येत। 'असिवध्यः' इति चेष्यते।

नहीं! ऐसा नहीं किया जा सकता। स्वर में दोष आने लगेगा। 'असिवध' शब्द से यत् प्रत्यय होने पर 'तित्स्वरितम्' (अ०– ६.१.१७९) से यत् स्वरित होकर 'असिवध्यः' ऐसा स्वर पाने लगेगा। कृदन्त के साथ समास करने पर तो 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (अ०– ६.१.१३८) होकर 'वध्य' शब्द 'यतोऽनावः' (अ०– ६.१.२०७) से आद्युदात्त हो जाता है। इस प्रकार तद्धित से इष्टसिद्धि न होने से 'हनो वा वध च' वार्त्तिक बनाना ही होगा।।९७।।

गदमदचरयमश्चानुपसर्गे।। ३.१.१००।।

वा०– अनुपसर्गाच्चरेराङि चागुरौ।।१।।

भाष्यम्– अनुपसर्गाच्चरेरित्यत्राङि चागुराविति वक्तव्यम्।

आचर्यो देशः। अगुराविति किमर्थम्? आचार्य उपनयमानः।।१००।।

सूत्र के द्वारा अनुपसर्ग 'चर्' धातु से जो यत् का विधान किया गया है, इस पर वार्त्तिककार का कहना है– आङ् उपसर्गपूर्वक चर् धातु से तो यत् हो जाता है, यदि यत्प्रत्ययान्त शब्द का अभिधेय 'गुरु' न हो। जैसे 'आचर्यो देशः' (गन्तव्यो देशः)। वार्त्तिक में 'अगुरौ' कहने का यह प्रयोजन है कि प्रत्ययान्त शब्द का अभिधेय गुरु होने पर तो यथाप्राप्त 'ण्यत्' (अ०– ३.१.१२४) ही होगा। जैसे कि 'आचार्य उपनयमानः'– यहाँ 'आचार्य[१]' शब्द गुरु का वाचक है। 'आचार्य शिष्य को अपने समीप लेता हुआ-----' ऐसा कहा गया है।।१००।।

---

१. आचर्यते शिष्यगणेन प्राप्यत इति यावत्।

अर्य: स्वामिवैश्ययो:।।३.१.१०३।।

वा० – स्वामिन्यन्तोदात्तत्वं च।।१।।

भाष्यम्– स्वामिन्यन्तोदात्तत्वं च वक्तव्यम्। अर्य: स्वामीति।।१०३।।

'स्वामी' अर्थ में 'अर्य:' शब्द को अन्तोदात्त कहना चाहिये। 'अर्य' शब्द के यत् प्रत्ययान्त होने से 'यतोऽनाव:' (अ० – ६.१.२०७) आद्युदात्त प्राप्त था। 'स्वामी' अभिधेय होने पर अन्तोदात्त विधान कर दिया। 'वैश्य' अभिधेय होने पर तो आद्युदात्त ही रहेगा।।१०३।।

अजर्यं सङ्गतम्।।३.१.१०५।।

भाष्यम्– 'सङ्गत'मिति[1] किं प्रत्युदाह्रियते?

'तयोरेव कृत्य०' (अ० – ३.४.७०) इस वचन से 'अजर्य' यह शब्द भाव में प्राप्त होता है। अजर्यशब्द, यदि भाव में होगा, तो 'अजर्यं सङ्गतेन' ऐसा प्रयोग हुआ करेगा। जबकि 'अजर्य' शब्द कर्त्ता अर्थ में व 'सङ्गत' यह विशेष्य के रूप में प्रयुक्त हो ऐसा इष्ट है, अर्थात् 'सङ्गत' के साथ 'अजर्यम्' का समानाधिकरण इष्ट है। जैसे कि 'अजर्यमार्यसङ्गतम्'। यह सब विचार कर आक्षेप्ता 'सङ्गतम्' इसके प्रत्युदाहरण के विषय में पूछता है कि 'सङ्गतम्' इसका क्या प्रत्युदाहरण दिया जा रहा है?

भाष्यम्– अजर: कम्बल:, अजरिता कम्बल-इति।।

यत: 'अजर्य' शब्द कर्त्ता अर्थ में निपातित है और 'सङ्गत' यह उसका विशेष्यभूत अर्थ है, अत: प्रत्युदाहरण भी कर्त्ता अर्थवाला ही होगा, पर वहाँ 'सङ्गत' यह अर्थ विशेष्यरूप में नहीं होगा। जैसे– 'अजर: कबल:, अजरिता कम्बल:' 'अजर:' यहाँ पचाद्यच् (अ० – नन्दिग्रहि– ३.१.१३४) हुआ है। और 'अजरिता' में तृच्। इन दोनों ही उदाहरणों में सङ्गत विशेष्य न होकर, कम्बल विशेष्य है। अत: 'यत्' नहीं हुआ। 'जीर्ण न होने वाला कम्बल ऐसा अर्थ है। स्पष्ट ही इन उदाहरणों में 'सङ्गत' कर्त्ता नहीं है, बल्कि कम्बल कर्त्ता है।

भाष्यम्– किं पुन: कारणं कर्तृसाधन: प्रत्युदाह्रियते, न भावसाधन: प्रत्युदाहार्य: ?।

ऐसा क्या कारण है, जो कर्त्तृसाधन अच् व तृच् को प्रत्युदाहरण रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है, क्यों न भावसाधन ही किसी प्रत्यय को प्रत्युदाहरण रूप में उद्धृत कर लिया जाये। 'जॄ' धातु से भाव में 'ॠदोरप्' (अ० – ३.२.५७) से अप् करके 'कर्त्तृकर्मणो: कृति' (अ० – २.३.६५) से कर्त्ता में षष्ठी होकर 'कम्बलस्याजर:' (कम्बल कर्त्तृक अजरण) ऐसा प्रत्युदाहरण क्यों नहीं दिया जा रहा है?

---

१. अस्येति शेष:।

यहाँ ऐसा समझलेना चाहिये– 'जॄ' धातु के अकर्मक होने से, कर्म में 'यत्' के असंभव होने से आक्षेप्ता के द्वारा भावसाधन के स्थान में कर्मसाधन की माँग नहीं की गयी, अर्थात् 'न कर्मसाधन: प्रत्युदाहार्य:' ऐसा न कहकर आक्षेप्ता ने न 'भावसाधन: प्रत्युदाहार्य:' ऐसा ही कहा है। स्पष्ट ही है कि भावसाधन प्रत्युदाहरण देने पर तो सूत्रस्थ 'अजर्यम्' को भी भाव में ही समझना होगा। अत: आक्षेप्ता (सूत्रस्थ) 'अजर्यम्' को भाव में ही मानता हुआ प्रत्युदाहरण भी भावविषयक ही मांग रहा है।

भा०– एवं तर्हि– वा०– अजर्यं कर्त्तरि।।१।।

भा०– 'अजर्यं' कर्त्तरीति वक्तव्यम्।।

समाधाता 'यक्षानुरूपबलिन्याय[१]' से कहता है– अच्छा तो, 'अजर्यम्' यहाँ कर्त्ता में यत् प्रत्यय होता है– ऐसा स्पष्ट ही कह देना चाहिये।

भाष्यम्– तत्तर्हि वक्तव्यम्।।

अब उपर्युक्त दो व्यक्तियों में मध्य मे चल रही चर्चा में, श्रोता बना हुआ तीसरा व्यक्ति जिज्ञासा भाव से पूछता है, तो क्या 'अजर्यं कर्त्तरि' ऐसा कहना चाहिये?

भाष्यम्– न वक्तव्यम्। गत्यर्थानां क्त: कर्त्तरि विधीयते, तेन योगाद्[२] अजर्यं कर्त्तरि भविष्यति।।

समाधाता वार्त्तिकप्रत्याख्यानवादी के रूप में सामने आकर कहता है– नहीं! वार्त्तिक बनाने की आवश्यकता नहीं है। गत्यर्थधातुओं का क्त प्रत्यय 'गत्यर्थाकर्मकश्लिष०' (अ०– ३.४.७२) सूत्र से कर्त्ता में विधान किया गया है, उसके साहचर्य से 'अजर्यम्' यह भी कर्त्ता में हो जायेगा। प्रकृत में समाधाता का भाव यह है– यद्यपि 'सङ्गमनम् सङ्गतम्'– ऐसा मैत्रीपर्याय भावक्तान्त का ही सूत्र में ग्रहण है, तो भी गत्यर्थधातुओं का संबन्धी क्त कर्त्ता में देखा गया है– जैसा कि 'गतो ग्रामं देवदत्त:'। सो गत्यर्थधातु के साहचर्य से 'अजर्यम्' यह निपातन स्वत: ही कर्त्ता में हो जायेगा। वार्त्तिक बनाने की आवश्यकता नहीं है।

भाष्यम्– गत्यर्थानां वै क्त: कर्मण्यपि विधीयते, तेन योगादजर्यं कर्मण्यपि प्राप्नोति।।

वार्त्तिकारम्भवादी कहता है– 'गत्यर्थानां क्त:----' ऊपर जो यह हेतु दिया गया, और उस हेतु के बल पर 'अजर्यम्' शब्द को कर्त्ता में सिद्ध करना चाहा गया वह हेतु अनैकान्तिक है। फिर तो कोई यह भी कह सकता है कि, गत्यर्थधातुओं का 'क्त' कर्म में भी विधान किया गया है, जैसा कि 'गतो ग्रामो देवदत्तेन', सो'सङ्गतम्' को कर्म में मानकर 'अजर्यम्' को भी कर्म में मानना होगा। इसके लिये 'अजर्यं कर्त्तरि' वार्त्तिक बनाना ही होगा।

---

१. यादृशो यक्षस्तादृशो बलिरिति न्याय:। तुल्यरूपोपहारविवक्षायामस्य न्यायस्य प्रवृत्तिरिति।।

२. तेन साहचर्यादित्यर्थ:।।

भाष्यम्– जीर्यतिरकर्मकः।।

वार्त्तिकप्रत्याख्यानवादी उपस्थित हुयी इस उपर्युक्त समस्या का समाधान करता है कि, 'अजर्यम्' यह कर्म में है– ऐसा नहीं समझा जायेगा। क्योंकि 'जॄ' धातु अकर्मक है। यद्यपि अर्थान्तरवृत्ति से सोपसर्ग होकर धातु सकर्मक भी हो जाती है, तो भी यहाँ 'अजर्यम्' ऐसा अनुपसर्ग का निपातन करने से उसे अकर्मक ही समझना होगा। सो अकर्मक होने से कर्त्ता में ही यत् को समझ लिया जायेगा, वार्त्तिक बनाने की आवश्यकता नहीं।

भाष्यम्– भावे तर्हि प्राप्नोति।।

वार्त्तिकारम्भवादी कहता है, गत्यर्थकधातुओं से तो 'क्त' प्रत्यय का भाव में भी विधान है। सो उसके साहचर्य को लेकर यदि 'अजर्यम्' में यत्-प्रत्यय की व्यवस्था की जायेगी तो वह भाव में भी प्राप्त होने लगेगा। 'अजर्यम्' के भाव में होने पर 'अजर्यम् आर्यसंगतम्' यह इष्टसिद्ध नहीं होगा, फिर 'अजर्यमार्यसङ्गतेन' ऐसा अनिष्ट प्रयोग बनेगा।

भाष्यम्–सङ्गतग्रहणमिदानीं किमर्थं स्यात्?

अब (वार्त्तिक) प्रत्याख्यानवादी कहता है– ऐसी स्थिति में, अर्थात् भाव में यदि 'अजर्यम्' यहाँ यत् होगा तो सङ्गतग्रहण किस प्रयोजन के लिये समझा जायेगा? क्योंकि, गम् धातु के भाव का जॄ-धातु के भाव के साथ अर्थात् सङ्गमन व अजरण के अत्यन्त भिन्न होने से सङ्गमन का अजरण के साथ सामानाधिकरण्य बन ही नहीं सकेगा? इसलिये उसके सामर्थ्य से 'अजर्यम्' यहाँ कर्त्ता में ही यत् हो जायेगा, इस प्रकार वार्त्तिक बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

भाष्यम्– कर्त्तृविशेषणं सङ्गतग्रहणम्। सङ्गतं कर्त्तृ चेद् भवतीति।[१]

तद्यथा– 'हृषेर्लोमसु[२]' (अ० ७.२.२९) इति लोमानि चेत् कर्त्तॄणि[२] भवन्तीति।।१०५।।

वार्त्तिकारम्भवादी अपनी अन्तिम बात कहता है कि सङ्गतग्रहण का प्रयोजन यह होगा, व्याख्यान से कर्त्तृपद का अध्याहार करके 'सङ्गतम्' यह कर्त्ता का विशेषण समझा जाये। 'सङ्गत यदि कर्त्ता हो'। जैसे कि 'हृषेर्लोमसु' सूत्र में 'लोमसु' यह पद कर्त्ता के विशेषण के रूप में निर्दिष्ट है– 'लोम यदि कर्त्ता होवें'।

---

१. सङ्गतं चेत् कर्त्तृ भवतीति– पा०भे०।

२. हृषेर्निष्ठायामिड्वा स्यात् लोमसु कर्त्तृषु।।

तात्पर्य यह है– भाव में प्रत्यय स्वीकार करने पर 'अजर्यम्' और 'सङ्गतम्' इन दोनों पदों का वैयधिकरण्य[1] से संबन्ध होकर 'अजर्यं सङ्गतेन' बनने लगेगा। और इस प्रकार वैसा प्रयोग का सामर्थ्य न होने से भाव में प्रत्यय व्यावृत्ति के लिये 'कर्त्तरि' ऐसा कहना ही होगा अन्यथा सङ्गतग्रहण करने मात्र से अजर्यम्' यहाँ भाव में प्रत्यव्यावृत्ति नहीं हो पायेगी या फिर 'अजर्यम्' इस निपातन सामर्थ्य[2] से कर्त्ता में यत् है, ऐसा समझना होगा क्योंकि भाव में यत् मानने पर सामानाधिकरण्य का त्याग करके वैयधिकरण्य का आश्रय लेना पड़ता है जो अन्याय्य (अयुक्त) है। भाष्यकार ने 'हृषेर्लोमसु' सूत्र को कर्त्तृवाचकपद के अभाव में भी कर्त्तृविशेषणता में दृष्टान्त रूप में उद्धृत किया है। 'हृष्टानि लोमानि', 'हृषितानि लोमानि' यहाँ 'गत्यर्थाकर्मक०' (अ०– ३.४.७२) सूत्रबल से धातु को अकर्मक मानकर कर्त्ता में क्त है सो यहाँ तो 'लोमानि' के कर्त्तृत्व को समझने में कोई कष्ट या बाधा नहीं है, पर 'नपुंसके भावे क्त:' (अ०– ३.१.११४) से भाव में क्त करने पर भी 'हृष्टं लोमभि:' 'हृषितं लोमभि:' इत्यादि उदाहरणों में लोम का कर्त्तृत्व बने रहने से उक्त सूत्र से निष्ठा में इड् विकल्प हो रहा है। जैसे 'हृष्टं लोमभि:', 'हृषितं लोमभि:' उदाहरण हैं, वैसे ही 'अजर्यम्' शब्द को यदि कर्त्ता में नहीं बनाया जायेगा तो वह भाव में होकर और 'सङ्गतम्' यह कर्त्ता के रूप में रहता हुआ 'हृष्टं लोमभि:' की भाँति 'अजर्यम् सङ्गतेन' रूप बनने लगेगा जो कि इष्ट नहीं है– इसलिये 'अजर्यं कर्त्तरि'– ऐसा कहना ही चाहिये।। अथवा यह कह सकते हैं कि 'अजर्यम्' इस निपातनसामर्थ्य से कर्ता में ही यत् समझा जायेगा।।१०५।।

वद: सुपि क्यप् च।। ३.१.१०६।।

वा०– वद: सुप्यनुपसर्गग्रहणम्।।१।।

भाष्यम्– वद: सुप्यनुपसर्गग्रहणं कर्त्तव्यम्। इह मा भूत्– प्रवाद्यम्, अपवाद्यमिति।।

'वद' धातु से सुबन्त उपपद रहते क्यप् होता है, चकार से यत्। 'गदमद०' (अ०– ३.१.१००) सूत्र में यद्यपि अनुपसर्गग्रहण किया है, पर वह 'अवद्यपण्यवर्या०'(अ०– ३.१.१०१) इत्यादि पञ्चसूत्री के द्वारा व्यवहित हो गया है, इसलिये अब यहाँ इस सूत्र में संबन्धित नहीं हो पा रहा है– ऐसा मानते हुये वार्त्तिककार कहता है– 'वद: सुपि क्यच् च' सूत्र में अनुपसर्गग्रहण करना चाहिये। जिससे कि, उपसर्ग उपपद होने पर, प्रवाद्यम्-उपवाद्यम् इत्यादि में क्यप् व यत् न हो। इनमें 'ऋहलोर्ण्यत्' (अ०– ३.१.१२५) से ण्यत् हुआ है।

---

१. 'अजर्यम्' इत्येतद् भावे साधुर्भवति, यदि सङ्गतं कर्त्तृ भवतीत्येवमन्वय: स्यात्।

२. भावे प्राप्ते कर्त्तरि यथा स्यादित्येवमर्थं निपातनमित्यर्थ:।

भा० – तत्तर्हि वक्तव्यम्।

वार्त्तिककार की बात को सुनकर, एक व्यक्ति जिज्ञासु के रूप में पूछता है– तो क्या ऐसा करना चाहिये?

भा० – न वक्तव्यम्। अनुपसर्ग इति वर्त्तते।।

समाधाता उत्तर देता है– नहीं! प्रकृत सूत्र में अनुपसर्गग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं है। 'गदमद०' सूत्र से ही अनुवृत्ति आ रही है।

भा० – एवं तर्ह्यन्वाचष्टे– 'अनुपसर्ग इति वर्त्तत' इति।।

वार्त्तिक की सार्थकता सिद्ध करता हुआ अन्य एक व्यक्ति वार्त्तिककार का पक्षधर बनकर कहता है– अच्छा तो आचार्य वार्त्तिककार यह नहीं कह रहे कि 'अनुपसर्गे' ग्रहण करना चाहिये, बल्कि केवल अन्वाख्यान मात्र कर रहे हैं कि 'अनुपसर्गे' ऊपर से अनुवर्त्तमान है।।

भा० – नैतदन्वाख्येयम्– 'अधिकारा अनुवर्त्तन्त' इति। एष एव न्यायो यदुत 'अधिकारा अनुवर्त्तेर' न्निति।।१०६।।

पर यह बात अन्वाख्यान करने योग्य नहीं है कि अधिकार (अनुवृत्तियाँ) अनुवर्त्तमान हैं। यही न्यायसङ्गत तथ्य है कि अधिकार अनुवृत्त हो जायें।

भाव यह है कि, यहाँ अधिकार विच्छिन्न हो गया जैसे कि 'धान्यानां भवने०' (अ०– ५.२.१) सूत्रस्थ खञ् का, उससे अग्रिम सूत्रों द्वारा विहित ढक् और यत् के द्वारा विच्छेद हो गया, अथवा जहाँ अवधि का ठीक से ज्ञान नहीं हो पा रहा जैसे– 'अलुगधिकारः प्रागानङः' इत्यादि में अथवा यहाँ सिंहावलोकनन्याय का आश्रयण किया जा रहा है– जैसे 'प्राचां ष्फस्तद्धितः' (अ०– ४.१.१७) यहाँ ऊपर वाले सूत्रों में 'सर्वत्र लोहितादि०' (अ०– ४.१.१८) सूत्र से सर्वत्र पद का। ऐसे प्रसङ्गों में तो अवश्य ही कुछ विशेषरूप से कहना चाहिये, पर सामान्यस्थलों में अनुवृत्ति के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है।।१०६।।

भुवो भावे।।३.१.१०७।।

भाष्यम्– भावग्रहणं किमर्थम्?

'भू' धातु से भाव में क्यप् होता है– यहाँ भावग्रहण किसलिये किया है?

भा० – कर्मणि मा भूदिति।।

क्यप् प्रत्यय कर्म में न हो।

भा० – नैतदस्ति प्रयोजनम्। भवतिरकर्मकः।।

नहीं! यह तो कोई प्रयोजन नहीं है। भू धातु अकर्मक है, इसलिये कर्म में तो प्राप्त ही नहीं है। यद्यपि प्राप्त्यर्थक भू (चुरा०ग० २७१) सकर्मक है, तो भी धातुपाठ में प्रथमत: सत्तार्थक का ही पाठ होने से तथा प्रसिद्ध होने से भी उसी का यहाँ ग्रहण है। कालादि कर्म को लेकर तो अनभिधान से नहीं होगा।

भा०– अकर्मका अपि वै धातव: सोपसर्गा: सकर्मका भवन्ति, तेनऽनुभाव्यमामन्त्रणमित्यत्रापि प्राप्नोति।।

नहीं-नहीं, ऐसा नहीं है। अकर्मक धातुयें भी सोपसर्ग सकर्मक हो जाती हैं, इस हेतु से 'अनुभव्यम् आमन्त्रणम्' (आमन्त्रण, अनुभव करने योग्य है, अर्थात् टाला नहीं जा सकता, जाना ही चाहिये) यहाँ भी क्यप् प्राप्त होने लगेगा और फिर अनुभव्यम् प्रयोग के स्थान पर अनुभूयम् बनने लगेगा, जो अनिष्ट है।

भाष्यम्– एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। 'अनुपसर्गे' इति वर्त्तते।।

नहीं! यह भी प्रयोजन नहीं है। 'गदमदचर:' (अ०– ३.१.१००) सूत्र से 'अनुपसर्गे' इस पद की अनुवृत्ति आ रही है। उससे सोपसर्ग स्थलों में व्यावृत्ति हो जायेगी।।

भा०– उत्तरार्थं तर्हि भावग्रहणं कर्त्तव्यम्। 'हनस्त च' (अ०– ३.१.१०८) भावे यथा स्यात्– श्वहत्या वर्त्तते। इह मा भूत्– 'श्वघात्यो वृषल' इति।

अच्छा तो, प्रकृतसूत्र में भावग्रहण का कोई विशेष प्रयोजन न होने पर भी उत्तरार्थ[1] तो करना ही चाहिये। उत्तरार्थ भावग्रहण करने पर 'हनस्त च' यह अग्रिम सूत्र भाव में ही क्यप् विधान करेगा, जैसे कि 'श्वहत्या हो रही है'। 'श्वघात्यो[2] वृषल:'– यहाँ कर्म में क्यप् नहीं होगा।।

हनस्त च।।३.१.१०८।।

वा०– हनस्तश्चित् स्त्रियां छन्दसि।।१ ।।

भाष्यम्– 'हनस्त चे'त्यत्र चित् स्त्रियां छन्दसीति वक्तव्यम्।

''तां भ्रूणहत्यां निगृह्यानुचरणम्''। ''अस्यै त्वा भ्रूणहत्यायै चतुर्थं प्रतिगृहाण''।।

'हन्' धातु से क्यप् होता है और तकारान्तादेश। यहाँ वार्त्तिककार का कहना है– वेदविषय में स्त्रिलिङ्ग में क्यप् को चित् कहना चाहिये। क्यप् के पित् होने से अनुदात्त पाता था, चित् कहने से 'चित:' (अ०– ६.१.१५७) अन्तोदात्त होगा। जैसे 'तां भ्रूणहत्यां निगृह्यानुचरणम्' (उस भ्रूणहत्या को रोककर पूर्वजों का अनुसरण करो)। 'अस्यै त्वा भ्रूणहत्यायै चतुर्थं प्रतिगृहाण' (इस भ्रूणहत्या के लिये तुझ चतुर्थ को स्वीकार करो)। यहाँ भ्रूणहत्या शब्द अन्तोदात्त हैं।

---

१. वस्तुत: कालादिकर्म की व्यावृत्ति के लिये यहाँ भी भावग्रहण का उपयोग हो रहा है। अनभिधान का आश्रयण तो अगतिकगति है।

२. शुना घात्य:– श्वघात्य:– 'कर्त्तृकरणे कृता बहुलम्' इति समास:।

भा०– स्त्रियामिति किमर्थम्? आघ्नते दस्युहत्याय।।

वार्त्तिक में 'स्त्रियाम्'– ऐसे किसलिये कहा? 'आघ्नते दस्युहत्याय' (दस्युहत्या के लिये मारधाड कर रहे हैं)। दस्युहत्य' शब्द वेद में क्यबन्त नपुंसक है। यहाँ स्त्रीत्व के अभाव होने से चित् नहीं हुआ, अत: अनुदात्त ही हो गया। भाषा में तो शब्द-शक्ति स्वभाव से, इस सूत्र से विहित क्यबन्त का स्त्रीत्व ही होता है।

भा०– छन्दसीति किमर्थम्? दस्युहत्या, श्वहत्या वर्त्तते।।१०८।।

वार्त्तिक में 'छन्दसि'– ऐसा क्यों कहा? 'दस्युहत्या-श्वहत्या' हो रही है– इन लौकिक प्रयोगो में 'क्यप्' चित् नहीं होगा।।

एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्।।३.१.१०९।।

भाष्यम्– 'क्य'बिति वर्त्तमाने पुनः क्यब्ग्रहणं किमर्थम्?

इणादि धातुओं से क्यप् के विधान में (सूत्र में) क्यप् की अनुवृत्ति, (वदः सुपि क्यप् च– ३.१.१०६) सूत्र से होते हुये भी पुन: क्यप् ग्रहण क्यों किया?

भा०– क्यबेव यथा स्याद्यदन्यत्प्राप्नोति तन्मा भूदिति।। किं चान्यत् प्राप्नोति? ण्यत्।।

क्यप् ही हो। जो कोई अन्य प्रत्यय प्राप्त होता है, वह न हो। अन्य क्या प्राप्त होता है? अन्य प्राप्त होता है– 'ऋहलोर्ण्यत्' (अ०– ३.१.१२४) 'ओरावश्यके' (१२५) से ण्यत्।

भाष्यम्– 'ओरावश्यके ण्यतः स्तौतेः क्यप् पूर्वविप्रतिषिद्धम्' इति वक्ष्यति, स पूर्वविप्रतिषेधो न पठितव्यो भवति। अथवा 'हनस्तश्चित्स्त्रियां छन्दसि' चोदितः, स न वक्तव्यो भवति।।

आचार्य वार्त्तिककार 'ओरावश्यके' (अ०– ३.१.१२५) सूत्र पर एक पूर्वविप्रतिषेध पढेंगे कि उवर्णान्त धातु से आवश्यक अर्थ द्योतित होने पर 'ओरावश्यके' सूत्रविहित ण्यत् के साथ 'स्तु' धातु से 'एतिस्तु०' सूत्रविहित क्यप् की संप्रधारणा में पूर्वविप्रतिषेध से क्यप् होता है, वह पूर्वविप्रतिषेध नहीं पढना पड़ता। अथवा पूर्व क्यप् से, प्रकृतसूत्र विहित क्यप् का वैलक्षण्य प्रदर्शन के लिये पुन: क्यप् ग्रहण किया है, सो पूर्व क्यप् वेदविषय में स्त्रीलिङ्ग में चित् होता है, ऐसा समझा जायेगा। इससे जो 'हनस्त च' सूत्र पर क्यप् को चित् करने के लिये 'हनस्तश्चित् स्त्रियां छन्दसि' वार्त्तिक पढा है, वह नहीं कहना पडेगा।

वा०– क्यब्विधौ वृञ्ग्रणम्।।१।।

भाष्यम्– क्यब्विधौ वृञ्ग्रहणं कर्त्तव्यम्। इह मा भूत्– 'वार्या ऋत्विज' इति।

इस 'क्यप्' के विधान में सूत्रपठित 'वृ' के द्वारा वृञ्-वरणे (धा०पा०स्वा०- ८) का ग्रहण करना

चाहिये। जिससे कि 'वार्या ऋत्विजः' (अच्छी प्रकार सेवा करने योग्य ऋत्विक्) यहाँ वृङ्-संभक्तौ (धातु० पा० क्र्यादि– ४२) से क्रयप् न हो। ण्यत् ही हो।

कैयट का कहना है– 'ईडवन्दवृशंस०' (अ०– ६.१.२०८) सूत्र से ण्यत् प्रत्ययान्त 'वार्य' शब्द को आद्युदात्त विधान से यह जाना जाता है कि क्यप् तो वृञ्-वरणे से होता है और ण्यत् वृङ्-संभक्तौ से। क्योंकि 'ईडवन्द०' इस आद्युदात्त विधायक सूत्र में 'ईड' और 'वन्द' इन आत्मनेपदी धातुओं के साहचर्य से, आत्मनेपदी वृङ् धातु ही ली गयी है। नागेश ने अपना विचार प्रकट किया है– वस्तुतो व्याख्यानादत्र वृञो ग्रहणमित्येव तत्त्वम्।।

वा०– ✻ अञ्जेश्चोपसंख्यानं संज्ञायाम्।।२।। ✻

भाष्यम्– अञ्जेश्चोपसंख्यानं संज्ञायां कर्त्तव्यम्। आज्यम्।।

'अञ्जू-व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु' (धा०पा० रुधादि–२०) धातु से क्यप् का उपसंख्यान करना चाहिये, यदि प्रत्यययान्तशब्द संज्ञा को कह रहा हो।

'आज्यम्– यहाँ ण्यत् प्राप्त था। आज्यम् = घृतम्'

भा०– यदि क्यप्, वृद्धिर्न प्राप्नोति। तस्माण्ण्यदेषः।।

किन्तु यदि क्यप् है तो वृद्धि प्राप्त नहीं होगी। जबकि 'आज्यम्' बनाने के लिये हमें वृद्धि चाहिये। इसीलिये यह ण्यत् का ही रूप है– ऐसा माना जायेगा।

भा०– यदि ण्यत्, उपधालोपो न प्राप्नोति। तस्मात्क्यबेवैषः।।

पर यदि ण्यत् है तो 'अञ्ज्' के उपधाभूत नकार का लोप प्राप्त नहीं होगा, इसलिये 'आज्यम्' इस शब्द को क्यप् के द्वारा ही सिद्ध करना चाहिये।

भा०– ननु चोक्तम्– 'वृद्धिर्न प्राप्नोती'ति।। आङ्पूर्वस्य प्रयोगो भवष्यिति।।

किन्तु क्यप् में यह भी तो समस्या दर्शायी गयी है कि वृद्धि नहीं प्राप्त होती है।। वह समस्या, आङ् पूर्वक का प्रयोग है– ऐसा मानने से समाहित हो जायेगी।

भाष्यम्– यद्येवमवग्रहः प्राप्नोति।।

यदि ऐसा करेंगे तो 'आज्यम्' इस पद में ''आज्यमिति आऽ अज्यम्'' इस रूप में अवग्रह प्राप्त होने लगेगा।

भाष्यम्– न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः, पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्। यथालक्षणं पदं कर्त्तव्यम्।।१०९।।

अवग्रहवाली तो कोई समस्या नहीं है। लक्षण पदकारों के पीछे नहीं चलता। पदकार लक्षण के पीछे चलते हैं। सो लक्षण के अनुसार पद बना लेना चाहिये या मान लेना चाहिये। लक्षण (पाणिनीयादि व्याकरणलक्षण) ने यदि किसी पद को स्पष्ट रूप से सिद्ध करके दिखा दिया है और उस प्रक्रिया में कहीं अवग्रह पाता है तो पाने दो, उसमें पदकारों को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। हाँ! कोई रूढ़ शब्द है और वहाँ यह निश्चय नहीं हो पा रहा है कि इसमें एक पद है या दो पद तो उस स्थिति में अवग्रह नहीं किया जायेगा। और न ही अवग्रह करने के लिये तदनुकूल एक नया लक्षण बनाया जायेगा। इस बात का सदा ही ध्यान रखना होगा– वेद का संहिता-पाठ ही नित्य है, पदपाठ तो पौरुषेय (पुरुषप्रयत्न साध्य) है। किसी पद विशेष को पदकार के द्वारा एकपद भी माना जा सकता है और दो पदों का संयुक्त रूप भी। पदकार को किसी पद के स्वरूप के विषय में या तो लक्षण का समर्थन प्राप्त है या फिर अर्थ का पूर्वनिश्चय है, तो वह उस पद को अवगृह्य पद के रूप में ही रखेगा, और यदि उसे किसी लक्षण के अभाव में अर्थनिश्चय ही नहीं हो पा रहा है तो वह अवग्रह नहीं करेगा। जैसा कि कहा गया है ''हरिद्रूरनवगृह्यते इति''। 'हरिद्रू' यहाँ क्या 'हरि' यह इकारान्तशब्द है अथवा 'हरित्' यह तकारान्त– ऐसा संदेह होने से क्योंकि एकपक्षीय सूत्रसमर्थन भी प्राप्त नहीं और अर्थनिश्चय भी नहीं इसलिये अवग्रह नहीं किया जाता। प्रकृत में पदकार यदि आज्यशब्द को रूढ़ मान रहा है और उसे संदेह है कि यहाँ आङ् का अर्थ है व नहीं, तो वह अवग्रह नहीं करेगा। पर यदि उसे शिष्टलोकसमर्थन के साथ लक्षण के द्वारा निश्चय हो गया है कि यहाँ आङ् का अर्थ भी है तो वह अवग्रह कर लेगा। सो यदि लक्षण आङ् पूर्वक अञ्जू धातु से क्यप् करके आज्य शब्द बना रहा है, तो पदकार को आज्यशब्द को अवगृह्यपद मानने मे कोई आपत्ति नहीं होगी, पर यदि ऐसा स्पष्ट लक्षण नहीं है कि 'आङ् अञ्जेः क्यप्' तो वैसी स्थिति में पदकार को अवश्य ही विचार करना होगा कि अब क्या किया जाये? और इस प्रकार उस संशयपूर्ण स्थिति में अवग्रह नहीं करेगा। और न ही अवग्रह विशेष को ध्यान में रखकर उसके अनुकूल कोई नया लक्षण बनायेगा। यही 'न हि लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः' भाष्य वचन का भाव है।।१०९।।

ई च खनः।।३.१.१११।।

भाष्यम्– दीर्घोच्चारणं किमर्थं न 'इ च खनः' इत्यवोच्येत?

'खनु-अवदारणे' धातु से क्यप् होता है, और ईकारान्तादेश। आक्षेप्ता कहता है– 'ई' को दीर्घ किसलिये पढा है? क्यों न 'इ च खनः' ऐसा सूत्र बना दिया जाये।

भा०– का रूपसिद्धिः– खेयम्? आद्गुणेन सिद्धम्।।

'इ च खनः'– ऐसा सूत्र रखने पर 'खेयम्' यह रूप कैसे सिद्ध होगा? यहाँ 'का' इस शब्द का अर्थ

'क्या' न होकर 'कैसे' है। क्यप् के परे रहते 'खन्' धातु के नकार को इकारादेश करके 'आद् गुण:' (अं– ६.१.८४) से गुणैकादेश के द्वारा उक्त रूप निर्बाध सिद्ध हो जायेगा।।

भा०– न सिद्ध्यति। 'षत्वतुकोरसिद्ध:' (अ०– ६.१.८३) इत्येकादेशस्याऽसिद्धत्वात् तुक् प्रसज्येत।।

गुणैकादेश से तो 'खेयम्' रूप सिद्ध नहीं हो पायेगा। क्योंकि 'षत्वतुकोरसिद्ध:' = षत्व व तुक् करने में एकादेश असिद्ध हो जाता है; इस नियम से एकादेश के असिद्ध होने से 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (६.१.६९) से तुक् होने लगेगा।

भा०– नैतदस्ति। पदान्तपदाद्योरेकादेशोऽसिद्धो न चैष पदान्तपदाद्योरेकादेश:। तस्माद्– 'इ च खन:' इत्येव वक्तव्यम्।।१११।।

नहीं! ऐसा नहीं होगा। पूर्व जो पदान्त और पर जो पदादि इनके बीच जो एकादेश होता वही असिद्ध हो होता है। 'खेयम्' बनाने के लिये 'ख+इ+य' यहाँ जो एकादेश होता है, वह पदान्त-पदादि का एकादेश नहीं है। इसलिये ह्रस्व इकारादेश के द्वारा ही 'खेयम्' यह इष्टरूप सिद्ध हो जोने से 'इ च खन:'– ऐसा ही बना देना चाहिये।

भाव यह है– 'ख+इ' यहाँ 'ख' का अकार पदान्त अकार नहीं है। और 'इ', यह पदादि इकार नहीं है; इसलिये 'आद् गुण:' से हुआ-हुआ 'एकार'रूप एकादेश 'षत्वतुकोरसिद्धि:' से असिद्ध नहीं होगा। जब असिद्ध नहीं होगा तो 'तुक्' प्राप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता।।१११।।

भृञोऽसंज्ञायाम्।।३.१.११२।।

भाष्यम्– असंज्ञायामिति किमर्थम्? भार्या।।

'भृञ्' धातु से क्यप् प्रत्यय होता है, संज्ञा को छोड़कर। आक्षेप्ता, सूत्रस्थ 'असंज्ञायाम्' ग्रहण का प्रयोजन पूछता है– यह (असंज्ञायाम्) किस प्रयोजन से पढ़ा है? क्योंकि 'असंज्ञायाम्' इस प्रतिषेध के पढ़ देने पर भी इष्ट सिद्ध नहीं होता। क्योंकि संज्ञायां समज० (अ०– ३.३.९९) से संज्ञा विषय में क्यप् ही प्राप्त होता है।

समाधाता उत्तर देता है कि 'भार्या' जो कि गृहिणी की संज्ञा है, इसे कहने के लिये क्यप् न हो, 'ऋहलोर्ण्यत्' से ण्यत् ही हुआ करे, इस प्रयोजन से 'असंज्ञायाम्' यह प्रतिषेध है। अभ्रियमाणा होते हुए भी गृहिणी 'भार्या' कही जाती है, इस प्रकार की रूढि इस शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है।

वा०– भृञः संज्ञाप्रतिषेधे स्त्रियामप्रतिषेधोऽन्येन विहितत्वात्।।१।।

भाष्यम्– भृञः संज्ञाप्रतिषेधे स्त्रियामप्रतिषेधः। अनर्थकः प्रतिषेधोऽप्रतिषेधः।

किं कारणम्? 'अन्येन विहितत्वात्'। अन्येन लक्षणेन स्त्रियां क्यब् विधीयते– 'संज्ञायां समजनिषदनिपतमनविदषुञ्शीङ्भृञिणः' (अ०– ३.३.९९) इति।

'भृ' धातु से क्यप्-प्रत्ययविधि के संदर्भ में स्त्रीलिङ्ग भार्या शब्द के विषय में 'असंज्ञायाम्' यह प्रतिषेध अनर्थक है। क्या कारण है, क्यों अनर्थक है? अनर्थक इसलिये है कि 'असंज्ञायाम्' ऐसा कहकर भी, हम स्त्रीलिङ्ग में क्यप् को रोक नहीं सकते। 'संज्ञायां समज०' इस एक अन्य सूत्र के द्वारा संज्ञा विषय में स्त्रीलिङ्ग क्यप् का विधान किया हुआ है।

भाव यह है कि विधि या प्रतिषेध, अनन्तर को ही हुआ करते हैं– (पारि०– ५४)। इस हेतु से 'असंज्ञायाम्' यह प्रतिषेध 'भृञः' इस प्रकृत प्राप्ति का ही हो सकता है, न कि तृतीयपादस्थ लक्षणान्तरप्राप्ति का। अनेक सूत्रों बल्कि अनेक प्रकरणों के द्वारा व्यवच्छिन्न हो जाने से, उसे नहीं रोक सकेगा।

भा०– प्रतिषेध इदानीं किमर्थः स्यात्?

यदि प्रकरणान्तर क्यप् को यह 'असंज्ञायाम्' यह प्रतिषेध नहीं बाँध सकेगा तो 'असंज्ञायाम्' इस प्रतिषेध का कोई अन्य अर्थ ही नहीं रह जायेगा। अतः प्रतिषेध (विधान) सामर्थ्य से लक्षणान्तर से प्राप्त क्यप् का भी प्रतिषेध हो जायेगा।

वा०– प्रतिषेधः किमर्थ इति चेदस्त्रीसंज्ञाप्रतिषेधा[1]र्थः।।२।।

भाष्यम्– प्रतिषेधः किमर्थ इति चेदस्त्रीसंज्ञाऽस्ति तदर्थः प्रतिषेधः स्यात् भार्या नाम क्षत्रियाः।।

यदि यह पूछते हो– लक्षणान्तर से प्राप्त क्यप् का यदि प्रकृत 'असंज्ञायाम्' से वारण न हो सकेगा तो 'असंज्ञायाम्' इस प्रतिषेध की चरितार्थता कहाँ घटित होगी, तो उसका हमारे पास उत्तर है। वह चरितार्थ होगा जो स्त्रीभिन्न (पुल्ँलिङ्ग) संज्ञा है, उसका प्रतिषेध करने में। जैसे कि कुछ क्षत्रिय विशेषों को 'भार्य' इस नाम से पुकारा जाता है।

वार्त्तिक में पठति 'अस्त्रीसंज्ञाप्रतिषेधार्थः' यहाँ संज्ञाशब्द 'संज्ञायत इति संज्ञा'[2] इस रूप में कर्मसाधन मानकर समानाधिकरण समास कर लिया गया है– 'अस्त्री या संज्ञा सा अस्त्रीसंज्ञा'। अस्त्री रूढि के द्वारा बोध्या है जिस शब्द की। संज्ञा का अर्थ है–

---

१. अस्त्रीलिङ्गो यः संज्ञाशब्दः सः 'असंज्ञायाम्' इति प्रतिषेधेऽस्य प्रयोजनमित्यर्थः।

२. आतश्चोपसर्गे (अ०– ३.३.१०६) इत्यङ्।।

बोध्या। जैसे कि 'भार्या नाम क्षत्रिया:'– यहाँ 'भार्य' शब्दगत अस्त्री (पुंस्त्व) रूढि के द्वारा भार्य शब्द से बोध्या है। शिवरामेन्द्र ने संज्ञाशब्द को यहाँ इस संदर्भ में सर्वत्र करणसाधन मानकर 'अस्त्री संज्ञायतेऽनेन'– अस्त्री जानी जाती है जिस शब्द के द्वारा इस रूप में व्याख्या की है।

वा०– सिद्धं तु स्त्रियां संज्ञाप्रतिषेधात्।।३।।

भाष्यम्– सिद्धमेतत्।। कथम्? स्त्रियां संज्ञाप्रतिषेधो वक्तव्य:। 'संज्ञायां' 'समजनिषदनिपतमन-विदषुञ्शीङ्भृञिण:'। ततो 'न स्त्रियां भृञ:' इति।।

स्त्रीलिङ्ग संज्ञाभूत भार्याशब्द की असिद्धिरूप जो समस्या दर्शायी है, वह सिद्ध है। कैसे? स्त्रीलिङ्ग में संज्ञाविषय में (क्यप् का) प्रतिषेध करना चाहिये। ''संज्ञायां समजनिषद०'' (अ०– ३.३.९९) इस सूत्र के पश्चात् ''न स्त्रियां भृञ:'' ऐसा कहना चाहिये।

'न स्त्रियां भृञ:' यहाँ पठित स्त्रीशब्द के द्वारा ''स्तनकेशवती' इस लक्षण से लक्षित लौकिकी स्त्री ली गयी है। अन्यथा विधि और प्रतिषेध का विषयविभाग नहीं बन पायेगा। इस प्रकार 'भरणं भृत्या:' यह तो विधि का विषय होगा। और लौकिकी स्त्री 'न स्त्रियां भृञ:' इस प्रतिषेध का।

भा०– सिद्ध्यति। सूत्रं तर्हि भिद्यते।।

हाँ, इस प्रकार करने से सिद्ध तो हो जायेगा, पर पाणिनीय सूत्र भिन्न हो जायेगा।

भा०– यथान्यासमेवाऽस्तु।।

अच्छा तो, यथान्यास ही रहने देते हैं। 'संज्ञायां समज०' सूत्र में जो 'न स्त्रियां भृञ:'– ऐसा सूत्रांश बढाया है, उसका ग्रहण नहीं करते हैं।

भा०– ननु चोक्तम्– 'भृञ: संज्ञाप्रतिषेधे स्त्रियामप्रतिषेधोऽन्येन विहितत्वा'दिति।। नैष दोष:। 'भावे' इति तत्राऽनुवर्त्तते, कर्मसाधनश्चायम्।।

किन्तु यथान्यास में अभी-अभी ही तो दोष दिया था कि 'भृ' धातु से संज्ञा में क्यप् का प्रतिषेध करने पर भी स्त्रीलिङ्ग में वह प्रतिषेध कारगर नहीं हो पायेगा– अन्य (संज्ञायां समज०) सूत्र से क्यप् का विधान होने के कारण।

नहीं! यह कोई दोष नहीं है। 'संज्ञायां समजनिषद०' उस सूत्र में 'व्रजयजोर्भावे क्यप्' (अ०– ३.३.९८) सूत्र से 'भावे' अनुवर्त्तमान है। और यह 'भार्या' शब्द कर्मसाधन है– गृहिणीवाचक। अत: विषयभेद होने से भार्याशब्द सिद्ध करने में क्यप् बाधक नहीं होगा।

'भावे इति तत्राऽनुवर्त्तते'– का भाव यह है– यद्यपि उस सूत्र से समज्या-निषद्या-निपत्यादि शब्द अधिकरण में मन्या और विद्या करण में बनाये गये हैं, तो भी, भृ धातु के विषय में शब्दशक्तिस्वभाव से भावे ही संबन्धित हो रहा है।

भाष्यम्– अथवा य एते[१] संज्ञायां विधीयन्ते तेषु नैव विज्ञायते– 'संज्ञायामभिधेयाया'मिति।। किं तर्हि? 'प्रत्ययान्तेन चेत्संज्ञा[२] गम्यत' इति।।

अथवा जो ये (प्रत्यय) संज्ञा में विधान किये जाते हैं, उनके विषय में यह नहीं जाना जाता– संज्ञा के अभिधेय होने पर प्रत्यय होते हैं। तो क्या? यह जाना जाता है कि प्रत्ययान्त शब्द के द्वारा यदि लोक में संज्ञा गम्यमान हो रही है।

भाव यह है– सूत्र में संज्ञाशब्द कर्मसाधन न होकर, भावसाधन लिया गया है। भावसाधन संज्ञाशब्द के द्वारा धातुओं को अनेकार्थक मानकर 'रूढ्यर्थ' का कथन किया जायेगा। जबकि कर्मसाधन संज्ञाशब्द से 'संज्ञायमान' अर्थ का कथन होता है। यदि उसके (अर्थात् संज्ञायमान अर्थ के) अभिधेय होने पर प्रत्यय किया जायेगा तो भृत्या शब्द भी 'गृहिणी' अर्थ को कहने लगेगा। किन्तु जब रूढ्यर्थ (प्रसिद्ध अर्थ) के गम्यमान होने पर ही प्रत्यय होगा तो, यत: भृत्या शब्द के द्वारा गृहिणी का कथन नहीं होगा, अत: उस अर्थ में क्यप् भी नहीं होगा। जब क्यप् नहीं होगा तो 'ऋहलोर्ण्यत्' से कर्म में ण्यत् होकर भार्याशब्द सिद्ध हो जायेगा। शिवरामेन्द्र ने संज्ञाशब्द को करणसाधन ही मानकर प्रकृत भाष्य की व्याख्या की है कि जो ये प्रत्यय संज्ञाशब्द के अर्थ को कहने में विधान किये जाते हैं, वहाँ यह नहीं जाना जाता है कि संज्ञा के अभिधेय होने पर, बल्कि यह जाना जाता है, यदि उस प्रत्ययान्त शब्द से संज्ञात्व गम्यमान हो। सो अब इस स्थिति में भृत्या शब्द का जिस अर्थ में संज्ञात्व गम्यमान है वहीं साधुत्व है न कि जाया अर्थ में, इसलिये वहाँ 'भार्या' ऐसा ण्यत् निर्बाध ही रहेगा।।

भा०–अपर आह– संज्ञायां पुंसि दृष्टत्त्वान्न ते भार्या प्रसिद्ध्यति। संज्ञायां पुंसि दृष्टत्वात्तव भार्याशब्दो न सिध्यति।।

---

१. संज्ञायाम्– संज्ञाशब्दार्थ इति शेष:। (शिवराम)

२. संज्ञा गम्यते– संज्ञात्व चेत् गम्यत इत्यर्थ:। (शिवराम)

अन्य एक वैयाकरणसंप्रदाय उपर्युक्त बात को इस रूप में कहता है– पुँल्लिङ्गविषयक संज्ञा में 'भार्या[१] नाम क्षत्रिया:' इस प्रयोग के देखे जाने से और इसलिये उक्त प्रयोग में 'असज्ञायाम्' इस प्रतिषेध के चरितार्थ होने से अब सूत्रान्तर (संज्ञायां समज०) से स्त्रीविषयक संज्ञा (जो जाया या गृहिणी के लिये भार्याशब्द है) में क्यप् की प्राप्ति होने से 'भृञोऽसंज्ञायाम्' ऐसा सूत्र बनाने वाले तुम्हारे मत में भार्याशब्द सिद्ध नहीं होता। इस शङ्का का उत्तर, श्लोक के उत्तरार्ध के द्वारा दिया जा रहा है–

भा०– स्त्रियां भावाधिकारोऽस्ति तेन भार्या प्रसिद्ध्यति।।

'स्त्रियां क्तिन्' (अं– ३.३.९४) उस प्रकरण में पठित 'संज्ञाया समज०' सूत्र में ऊपर[२] से भाव का अधिकार होने से भार्याशब्द सिद्ध हो जायेगा। 'सिद्धं तु संज्ञाप्रतषेधात्०' इत्यादि के विना बनाये ही समाधान किये जाने से यह पक्षान्तर है।

भा०– भाव इति तत्र वर्त्तते। कर्मसाधनश्चाऽयम्।।

स्त्री-प्रकरण में भावग्रहण की अनुवृत्ति होने से, और शब्दशक्ति स्वभाव से भी, भृञ् धातु से कर्म में क्यप् का अभाव होने से ण्यत् ही होगा। अर्थात् 'भृत्या' शब्द भरण अर्थ को कहने से भाववाचक है, और 'भ्रियतेऽसौ भार्या' इस रूप में 'जिसका भरण-पोषण किया जाता है' उसे भार्या कहते हैं।

भा०– ★ अथवा बहुलं कृत्या: संज्ञायामिति तत्स्मृतम्।। ★

अथवा 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (अ०– ३.३.११३) इत्येवमत्रापि ण्यद् भविष्यति।

अथवा 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इस बहुवचन से यहाँ भार्या शब्द में ण्यत् हो जायेगा।

वा०– ★ यथा यत्यं यथा जन्यं यथाभित्तिस्तथैव सा।।२ ★

'कृत्यल्युटो बहुलम्' के ही उदाहरण दिखाने के लिये यह श्लोकवार्त्तिक है– जैसे कि अजन्त से विधीयमान यत् कभी कहीं हलन्त से भी बहुलवचन से हो जाता है। और जैसे 'भित्ति' यहाँ 'षिद्भिदादिभ्यो०' (अ०– ३.३.१०४) से प्राप्त अङ् को बाधकर क्तिन् हो गया है। इसी प्रकार 'भार्या' यहाँ 'क्यप्' के प्रसङ्ग में 'ण्यत्' हो जायेगा। 'जन्य:' यहाँ स्वरार्थ यत् ही चाहते हैं, वह भी बहुलवचन से ही होगा।

---

१. यह पुल्लिँङ्ग का बहुवचनान्त है।

२. व्रजयजोर्भावे क्यप् (अ०– ३.३.९४) इत्यत:।

वा०– समश्च बहुलम्।।४।।

भाष्यम्– समश्च बहुलग्रहणमुपसंख्यानम् कर्त्तव्यम्। संभृत्या एव संभारा:। संभार्या एव संभारा:।।११२।।

सम् पूर्वक 'भृ' धातु से बहुल करके क्यप् का उपसंख्यान करना चाहिये। पक्ष में, भाव में घञ् हो जायेगा। संभृत्या एव संभारा:, संभार्या एव संभारा:। ये तीनों ही संभरण अर्थ में पर्याय शब्द हैं। प्रकृत वार्त्तिक भी बहुल करके क्यप् का विधान असंज्ञा में ही कर रहा है।।

राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्याऽव्यथ्या:।।३.१.११५।।

वा०– सूर्यरुच्याव्यथ्या: कर्त्तरि।।१।।

भाष्यम्– सूर्य रुच्य अव्यथ्य इत्येते कर्त्तरि निपात्यन्ते।। किं निपात्यते?

सूर्य:– सूसर्त्तिभ्यां सरतेरुत्त्वं सुवतेर्वा रुडागम:। सूर्य।।

रुच्य:– रोचतेऽसौ रुच्य:।। न व्यथ्यत इति अव्यथ्य:।।

राजसूयादि शब्द निपातन किये गये हैं। निपातन का विषयनिर्देश करते हुये, आचार्य वार्त्तिककार कहते हैं– सूर्य, रुच्य और अव्यथ्य, ये शब्द कर्त्ता कारक में निपातन किये जाते हैं। कृत्यप्रत्यय 'तयोरेव०' (अ०–३.४.७०) के नियम से भाव या कर्म में पाते थे। क्या निपातन किया जाता है? सूर्य शब्द 'षू-प्रेरणे (धा०तु०– ११७) अथवा 'सृ-गतौ' (धा०भ्वा० ६६९) धातु से निपातन से कर्त्ता में क्यप् है। 'सृ' से क्यप् करने पर उत्व और 'षू' से करने पर रुट् आगम ही निपातन से ही किया जायेगा। 'सरणात् सूर्य:' अर्थात् 'सरतीति सूर्य:' अथवा 'सुवति कर्मणीति सूर्य: (लोकमिति शेष:)'– जो लोक को कर्म में प्रेरित करता है, वह सूर्य। रुच्य-रोचतेऽसौ रुच्य:। 'रुच-दीप्तावभि०' (धा०भ्वा० ४६९) से क्यप्। न व्यथ्यत इत्यव्यथ्य:। 'व्यथ-भयसंचलनयो:' (धा०भ्वा० ५१५) से क्यप्।

वा०– कुप्यं संज्ञायाम्।।२।।

भाष्यम्– 'कुप्यं[1] संज्ञाया'मिति वक्तव्यम्। गोप्यमन्यत्।।

'गुप-गोपने' (धा०भ्वा०– ६९७) से क्यप् प्रत्यय में गुप् के आदि को कत्त्व निपातन से है। सुवर्णरजतभिन्न धन की 'कुप्य' यह संज्ञा है। इससे अन्यत्र 'गोपनीय' अर्थ में 'गोप्यम्'– यहाँ ण्यत् होगा।

१. सुवर्णरजतभिन्नं धनं कुप्यम् (उद्योत०)।

वा०– कृष्टपच्यस्यान्तोदात्तत्वं च कर्मकर्त्तरि च।।३।।

भाष्यम्– कृष्टपच्यस्यान्तोदात्तत्वं च कर्मकर्त्तरि चेति वक्तव्यम्। कृष्टे पच्यन्ते स्वयमेव। 'कृष्टपच्याश्च मेऽकृष्टपच्याश्च में'। यो हि कृष्टे पक्तव्य: कृष्टपाक्य: स भवति।।११४।।

'कृष्टपच्य' शब्द को संज्ञा में अन्तोदात्त कहना चाहिये और यह भी कहना चाहिये कि कर्मकर्त्ता में ही क्यप् होता है। कृष्टे पच्यन्ते स्वयमेव। जोते गये खेत में जो (मूँग इत्यादि) (विना बिजाई किये ही) अपने आप हो जाते हैं, उन्हें 'कृष्टपच्या:' कहते हैं। 'कृष्टपच्याश्च मे०' (शु०यजु अ०– १८.१४)। यो हि कृष्टे पक्तव्य: स कृष्टपाक्यो भवति- जो तो जोते गये खेतों में पक्तव्य (पकाने योग्य) होता है, वह 'कृष्टपाक्य' कहलाता है। यहाँ 'क्यप्' न होकर यथाप्राप्त ण्यत् हो गया।

प्रत्यपिभ्यां ग्रहे:।। ३.१.११८।।

वा०– प्रत्यपिभ्यां ग्रहेश्छन्दसि।।१।।

भाष्यम्– प्रत्यपिभ्यां ग्रहेश्छन्दसीति वक्तव्यम्। 'मत्तस्य न प्रतिगृह्यमनृतं हि मत्तो वदति'। तस्मान्नापिगृह्यम्।' प्रतिग्राह्यम् अपिग्राह्यमित्येवान्यत्र।।११८।।

प्रति व अप पूर्वक् 'ग्रह' धातु से सामान्यरूप से लोक व वेद उभयत्र क्यप् कहा है, केवल छन्द में ही चाहते हैं, इसलिये वार्त्तिककार छन्द में नियमित कर रहे हैं। 'मत्तस्य न प्रतिगृह्यम्' (कठ० सं० १४-५) मत्त व्यक्ति की बात को ग्रहण नहीं करना चाहिये। 'तस्मान्नापिगृह्यम्' (कठ० सं– २७-३)। भाषा में तो ण्यत् होकर 'प्रतिग्राह्यम्' 'अपिग्राह्यम्' ही होगा।।

अमावस्यदन्यतरस्याम्।।३.१.१२२।।

भाष्यम्– कस्याऽयमनुबन्ध: ?

'अमावस्यत्' शब्द में श्रूयमाण तकार के विषय में पूछते हैं– यह तकार अनुबन्ध किसका है?

भाष्यम्– प्रधानस्य।।

प्रधान का है। प्रकृति-प्रत्यय में प्रत्यय विधीयमान होता है, अत: उसी की प्रधानता है। अर्थात् सूत्र में, उपपद-प्रकृति-प्रत्यय इस आनुपूर्वी के श्रवण होने के कारण 'अमावस्यत्' यहाँ यत् प्रत्यय का निपातन किया जा रहा है।

भाष्यम्– यदि प्रधानस्य,– 'अमावास्या' इत्येवं स्वर: प्रसज्येत। 'अमावास्या' इति चेष्यते। तथा– अमावास्याग्रहणेनऽमावस्याग्रहणं न प्राप्नोति।

यदि वह तकार प्रधानभूत प्रत्यय का है तो 'यतोऽनाव:' (अ०– ६.१.२०७) से उत्तरपद आद्युदात्त होने लगेगा। जबकि 'तित्स्वरितम्' (अ०– ६.१.१७९) से अन्तस्वरित चाहते हैं। तथा 'अमावास्याया वा' (अ०– ४.३.३०) सूत्र में 'अमावास्या' के द्वारा 'अमावस्या' का ग्रहण नहीं पाता।

'अमा' शब्द के लुप्तसप्तमीक होने से उपपद माना जायेगा अथवा निपातन से ही उपपद मानकर उपपदसमास[१] होकर कृदुत्तरपद प्रकृतिस्वर (अ०– ६.२.१३८) प्राप्त होगा। यत्प्रत्यय को निपातनरूप से स्वीकार करने पर स्वर दोष के साथ दूसरा दोष यह होगा कि चतुर्थ अध्याय में 'तत्र जात:' इस अर्थ में अमावास्या शब्द से कहा हुआ वुन् प्रत्यय 'अमावस्या' से नहीं हो सकेगा। क्योंकि यत् प्रत्ययान्त और ण्यत् प्रत्ययान्त ये दो भिन्न प्रकृतियाँ मानी जायेंगी।

भा०– एवं तर्हि निपातनस्य।।

अच्छा तो, 'अमावस्यत्' ऐसा यह एक निपातन शब्द है, उस निपातन भूत शब्द का तकारानुबन्ध है। अर्थात् यत् प्रत्ययान्ता निपातन से नहीं है– बल्कि इसी रूप में अखण्ड शब्द ही निपातित है।

भाष्यम्– यदि तर्हि निपातनान्यप्येवंजातीयकानि[२] भवन्ति 'श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते' (अ०– ५.२.८४) इति, व्यपवर्गाभावाञ्ञ्नितीत्याद्युदात्तत्वं न प्राप्नोति।

यदि निपातन भी इस प्रकार के होते हैं जहाँ प्रकृति-प्रत्यय रूप अवयवविभाग नहीं देखा जा रहा है तो 'श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते' यहाँ 'श्रोत्रियन्' इस निपातित शब्द को अवयवविभागरहित समुदायरूप का ही निपातन मानना होगा। और इस अवस्था में प्रकृति-प्रत्ययरूप भेद के न होने से नित् प्रत्यय के परे रहते 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (अ०– ६.१.१९१) से विहित आद्युदात्त स्वर प्राप्त नहीं होगा और प्रकृति में भी 'तित्स्वरितम्' सूत्र में वार्त्तिककार के द्वारा प्रत्ययग्रहण किये जाने के कारण स्वरितत्व सिद्ध नहीं होगा। अथवा उस सूत्र में वार्त्तिकोक्त प्रत्ययग्रहण के खण्डित कर दिये जाने से प्रकृत में तो समुदायनिपातन करने पर भी अन्तस्वरित हो जायेगा, फिर भी 'श्रोत्रियन्' यहाँ तो दोष बना ही रहेगा।

भाष्यम्– एवं तर्हि– अमावसोरहं[३] ण्यतोर्निपातयाम्यवृद्धिताम्।
तथैकवृत्तिता तयो: स्वरश्च मे प्रसिद्ध्यति।।१२२।।

---

१. 'उपपदमतिङ्' (अ०– २.२.१९) इत्युपपदसमास:।

२. निरस्तावयवविभागानीत्यर्थ:।

३. पञ्चम्यर्थे षष्ठीद्विवचनम्।

अच्छा तो ऐसा करेंगे– अमापूर्वक दो पृथक्-पृथक् 'वस' 'धातुओं से, दो ण्यत् प्रत्यय करने पर उन दोनों वस धातुओं में से एक को वृद्ध्यभाव[१] अर्थात् वृद्धि किये हुये आकार को ह्रस्व निपातन से कहूँगा। ऐसा करने से, एकदेशविकृत अनन्यवत् होता है इस न्याय (पारि०– ३८) से दोनों शब्दों की एक तद्धितवृत्ति सिद्ध हो जायेगी। क्योंकि उस अवस्था में ण्यदन्त अमावास्याशब्द के द्वारा तद्विकारभूत वृद्ध्यभाववाले अर्थात् निपातन से ह्रस्व किये हुए अमावस्या शब्द का भी ग्रहण हो जायेगा। और साथ में तित्प्रत्ययप्रयुक्त स्वरितस्वर की सिद्धि भी हो जायेगी। यहाँ यह ध्यातव्य है– अमा शब्द उपपद रहते ण्यत् भी निपातन से ही करना होगा। अन्यथा उपपदत्व के अभाव में समास और उत्तरपदप्रकृतिस्वरत्व[२] सिद्ध नहीं हो पायेगा।।

छन्दसि निष्टर्क्यदेवहूयप्रणीयोन्नीयोच्छिष्यमर्यस्तर्याध्वर्यखन्यखान्यदेवयज्यापृच्छ्यप्रतिषीव्यब्रह्मवाद्यभाव्यस्ताव्योपचाय्यपृडानि।।३.१.१२३।।

भाष्यम्– 'निष्टर्क्य' इति किं निपात्यते? निष्टर्क्ये कृतेराद्यन्तविपर्ययश्छन्दसि कृताद्यर्थः। यथा कृतेस्तर्कुः, कसेः सिकता, हिंसेः सिंहः।।

छन्द में 'निष्टर्क्य' इत्यादि १७ शब्दों को निपातन से सिद्ध किया गया है। सो अब यह पूछते हैं कि 'निष्टर्क्य' इस शब्द में क्या निपातन है? 'निष्टर्क्य' शब्द में निस् पूर्वक 'कृत्' धातु को आद्यन्तविपर्यय[३] किया गया है। 'आद्यन्तविपर्ययः कृताद्यर्थः' इस वचन का भाव यह है– कृतादि के लिये आद्यन्तविपर्यय करना आवश्यक है। 'कृतादि' यहाँ पठित आदि शब्द को प्रकारवाची मानकर उसी से यहाँ निष्टर्क्य शब्द में भी आद्यन्तविपर्यय सिद्ध करने के लिये आद्यन्तविपर्यय करने की कोई आश्यकता नहीं है। हाँ! ण्यत् और षत्व तो निपातन से ही करना होगा। अन्यथा ऋदुपध होने से क्यप् ही होने लगेगा। और षत्त्व, कवर्ग-पर्वग परे रहते विहित होने से प्राप्त नहीं होगा। 'कृतेस्तर्कुः, कसेः सिकता, हिंसेः सिंहः' इत्यादि के द्वारा भाष्यकार ने 'कृतद्यर्थः' यहाँ पठित आदिशब्द के अर्थ को दर्शाया है।

भाष्यम्– अपर आह– निष्टर्क्ये व्यत्ययं विद्यान्निसः षत्त्वं निपातनात्।
ण्यदायादेश इत्येतावुपचाय्ये निपातितौ।।१।।

निष्टर्क्यं[४] चिन्वीत पशुकामः। (ऐ० आ० ५.१.३)

---

१. वार्त्तिके अवृद्धिशब्देन ह्रस्वो लक्ष्यते।

२. गतिकारकोपपदात् कृत्। (अ०– ६.२.१३८)

३. आदिवर्ण के स्थान में अन्तवर्ण और अन्तवर्ण के स्थान में आदिवर्ण।

४. पशुकामनावाला निष्टर्क्य अग्नि का चयन करे। अजा, गो, अश्व, अवि और पुरुष ये पाँच वैदिक पशु हैं। अग्नि को अभीप्सा का प्रतीक माना जाये तो, निष्टर्क्य वह अग्नि होगी जो किसी भी तर्क से न हिले।

अन्य आचार्य का तो कहना है– निष्टर्क्य शब्द में व्यत्यय जानना चाहिये। अर्थात् 'व्यत्ययो बहुलम्' सूत्र से ही वर्णव्यत्यय (ककार को तकार तथा तकार को ककार) और प्रत्यय व्यत्यय (क्यप् की प्राप्ति में ण्यत्) होकर इष्टसिद्धि हो जायेगी। केवल निपातन से तो षत्त्व मात्र कर लेना चाहिये। तथा यह जो उपचाय्य शब्द है इसमें यत् की प्राप्ति में ण्यत् (और ण्यत् के परे वृद्धि होने के पश्चात्) आयादेश निपातित है।

भाष्यम्– ण्यदेकस्माच्चतुर्भ्यः क्यप्चतुर्भ्यश्च यतो विधिः।

ण्यदेकस्माद्यशब्दश्च द्वौ क्यपौ ण्यद्विधिश्चतुः[१]।।२।।

'ण्यदेकस्मात्'– निष्टर्क्यः। 'चतुर्भ्यः क्यप्'– देवहूयः, प्रणीयः, उन्नीयः, उच्छिष्यः। 'चतुर्भ्यश्च यतो विधिः'– मर्यः, स्तर्या; ध्वर्यः, खन्यः। 'ण्यदेकस्मात्' खान्यः। 'यशब्दश्च'- देवयज्या। 'द्वौ क्यपौ'– आपृच्छ्यः, प्रतिषीव्यः। 'ण्यद्विधिश्चतुः'– ब्रह्मवाद्यः, भाव्यः, स्ताव्यः, उपचाय्यपृडम्।। उपपूर्वाच्चिनोतेरायादेशो निपात्यते। न हि ण्यतैव सिद्ध्यति। हिरण्य इति च वक्तव्यम्। 'उपचेयपृड'मित्येवान्यत्र।।१२३।।

प्रकृत सूत्र के द्वारा किन-किन शब्दों में कौन-कौन सा प्रत्यय निपातन किया है, इसे विशदरूपेण दर्शाया जा रहा है।

सबसे पहले की प्रकृति से ण्यत् किया गया है– जैसे निष्टर्क्य। इस के पश्चात् चार से क्यप् किया है– देवहूय, प्रणीय, उन्नीय और उच्छिष्य। तत्पश्चात् चार धातुओं से यत् प्रत्यय की विधि है– मर्य, स्तर्या, ध्वर्यः, खन्यः। पुनः एक से ण्यत्– खान्य। फिर एक से य प्रत्ययदेवयज्या। दो से क्यप्-आपृच्छ्य तथा प्रतिषीव्यः। चार[२] वार ण्यत् का विधान-ब्रह्मवाद्य, भाव्य, स्ताव्य, उपचाय्यपृड[३]। उपपूर्वक चि-धातु से आयादेश भी निपातन है, केवल ण्यत् करने मात्र से सिद्ध नहीं होगा। पृड[१], उत्तरपद में यह निपातन है। और यह भी कहना चाहिये कि हिरण्य अर्थ को कहने में ही उक्त शब्द बनता है। अन्यत्र तो यथाप्राप्त यत् ही होगा– 'उपचेयपृड'।

अब 'देवहूय' इत्यादि शब्दों का संभावित अर्थ दिया जाता है– देवैर्ह्वातव्यः, देवेभ्यो होतव्यो वा देवैर्होतव्यो वा, प्रणेतव्यः, उन्नेतव्यः, उच्छेषणीयः, मर्त्तव्यः, स्तरणीयः (स्तॄञ्- आच्छादने), ध्वरणीयः (ध्वृ हूर्च्छने-हुर्छा कौटिल्ये), खनितव्यः-खान्यः का अर्थ भी वही है, देवैर्यजनीयः, आप्रष्टव्यः, प्रतिसेवितव्यः, ब्रह्मणा वा ब्रह्मणे वा वदनीयः, भवितव्यः, स्तोतव्यः इत्यादि। यहाँ जो शब्द स्त्रीलिङ्ग में पढ़े हैं वे स्त्रीलिङ्ग में ही निपातित हैं।

---

१. 'चतुः' यह प्रयोग सुच्प्रत्ययान्त है। 'चतुरो वारान्' ऐसा अर्थ है। चतुर्भ्यः यह फलितार्थ होगा।

२. उपचाय्यञ्च तत् पृडञ्चोपाय्यपृडम् (जो उपचेतव्य है, वह सुख देने वाला भी है)। सुख देने वाली वह वस्तु हिरण्य होनी चाहिये; उपचेतव्य होती हुयी सुख देनेवाली वस्तु यदि हिरण्य से अन्य है तो उपचेयपृडम् बनेगा।

३. 'पृड' यह शब्द पृड-सुखने (धा० तुदा०– ४०) धातु से इगुपधलक्षण 'क' (अ०– ३.१.१३५) से निष्पन्न है। पृडतीति पृडम् (सुख देने वाले को पृड कहते हैं)।

ऋहलोर्ण्यत्।।३.१.१२४।।

वा०– पाणौ सृजेर्ण्यद्विधि:।।१।।

भाष्यम्– पाणौ सृजेर्ण्यद् विधेय:। पाणिसर्ग्या रज्जु:।।

'पाणि' उपपद रहते सृज धातु से 'ण्यत्' का विधान करना चाहिये। ऋदुपध होने से क्यप् प्राप्त होता था। हाथों से बनाने योग्य रज्जु।

वा०– समवपूर्वाच्च।।२।।

भाष्यम्– समवपूर्वाच्चेति वक्तव्य्।।

'सम्' और 'अव' पूर्वक सृज से भी क्यप् अपवाद ण्यत् कहना चाहिये। समवसर्ग्य:।

वा०– लपिदभिभ्यां च।।३।।

भा०– लपिदभिभ्याञ्चेति वक्तव्यम्। अपलाप्यम्, अवदाभ्यम्।।१२४।।

'लप' व 'दभ' धातुओं से भी ण्यत् कहना चाहिये। 'पोरदुपधात्' (अ०– ३.१.९८) से यत् प्राप्त था। दभ क्षेपे (क्षीर तरंगिणी १२१) से अवदाभ्यम् (हटाने योग्य) सिद्ध किया गया है।।

ओरावश्यके।। ३.१.१२५।।

भाष्यम्– कथमिदं विज्ञायते– आवश्यक[१] उपपदे, आहोस्विद् द्योत्ये इति?। कश्चात्र विशेष:?

इस सूत्र का अर्थ किस रूप में जाना जाता है– क्या आवश्यक अर्थवाची शब्द उपपद रहते प्रत्यय होता है, अथवा प्रत्यय के द्वारा आवश्यक अर्थ द्योतित होने पर? इन दोनों पक्षों में क्या विशेष है, कहाँ भेद आता है?

वा०– आवश्यक उपपद इति चेद्द्योत्य उपसंख्यानम्।।१।।

भाष्यम्– आवश्यक उपपद इति चेद्द्योत्य उपसंख्यानं कर्त्तव्यम्। लाव्यम्, पाव्यम्।

आवश्यक अर्थवाची शब्द उपपद रहते प्रत्यय होता है, तो जहाँ आवश्यक अर्थवाची शब्द उपपद तो नहीं है, पर प्रत्यय द्वारा वह अर्थ द्योतित हो रहा है, वहाँ उपसंख्यान करना चाहिये। जैसे लाव्यम्, पाव्यम्। यहाँ इन उदाहरणों का अर्थ है– लाव्यम्; अवश्य लवनीय और पाव्यम्-अवश्य पवनीय। ण्यत् प्रत्यय के द्वारा अवश्य अर्थ प्रकाशित हो रहा है।।

१. अवश्यं भाव इत्यर्थे मनोज्ञादित्वाद् (अ०– ५.१.१३२) वुञ्। अव्ययानां भमात्रे टिलोप: (का० वा० ६.४.१४४-१४५)।

भा०– अस्तु तर्हि द्योत्ये।

अच्छा तो फिर द्योत्य पक्ष को मान लेते हैं।

वा०– द्योत्य इति चेत् स्वरसमासानुपपत्तिः।।२।।

भा०– द्योत्य इति चेत् स्वरसमासानुपपत्तिः प्राप्नोति। अवश्यलाव्यम्, अवश्यपाव्यम्।।

'प्रत्यय के द्वारा आवश्यक अर्थ द्योतित करने पर ण्यत् होता है'– इस पक्ष को लेकर चलते हैं तो, उपपदत्व के अभाव होने से अवश्यलाव्यम्[1] इत्यादि में स्वर व समास की उपपत्ति नहीं हो पायेगी।

इसका भाव यह है– लोक में लाघव के प्रति अनादर होने से कभी-कभी जैसे 'द्वावपूपौ' इत्यादि में अपूपौ के द्वारा द्वित्व संख्या के गतार्थ होने पर भी द्वौ का प्रयोग देखा जाता है। तद्वत् प्रत्यय के द्वारा ही आवश्यक अर्थ के द्योतित हो जाने पर भी जब अवश्य शब्द का प्रयोग किया जायेगा तो इष्टस्वर और समास की सिद्धि नहीं हो पायेगी।

भा०– नैष दोषः। मयूरव्यंसकादित्वात्समासो विस्पष्टादिवत्स्वरो भविष्यति।।

नहीं! यह तो कुछ दोष नहीं। जैसे 'विस्पष्टकटुकम्' यहाँ मयूरव्यंसकादि समास (अ०– २.१.७१) कर लेने पर पूर्वपद प्रकृति स्वर होता है तद्वत् 'अवश्यलाव्यम्' इत्यादि में भी मयूरव्यंसकादिगण में ही उत्तरपदप्रकृतिस्वर[2] के निपातन कर दिये जाने से स्वर सिद्ध हो जायेगा। मयूरव्यंसकादिगण में स्वरविषयक निपातन कर दिये जोने से, यह भी लाभ होगा कि 'विस्पष्टादीनि गुणवचनेषु' (अ०– ६.२.२४) यह सूत्र नहीं बनाना पडेगा। मयूरव्यंसकादिगण को आकृतिगण मानकर अपठित शब्दों का भी उस गण में पाठ मान लिया जायेगा।

वा०– ओरावश्यके ण्यतः स्तौतेः क्यप्पूर्वविप्रतिषिद्धम्।।३।।

भाष्यम्– ओरावश्यके ण्यतः स्तौतेः क्यब्भवति पूर्वप्रतिषेधेन। ओरावश्यके ण्यद्भवतीत्यस्यावकाशः–अवश्यलाव्यम् अवश्यपाव्यम्। क्यपोऽवकाशः- स्तुत्यः। इहोभयं प्राप्नोति-अवश्यस्तुत्यः। क्यब्भवति पूर्वविप्रतिषेधेन।

'ओरावश्यके' इस प्रकृतसूत्र विहित ण्यत् और 'स्तु' धातु से 'एतिस्तुशास्०' (अ०– ३.१.१०९) सूत्रविहित क्यप् की सम्प्रधारणा में पूर्वविप्रतिषेध से क्यप् हो जाता है। ओरावश्यके– ण्यत् का अवकाश है– अवश्यलाव्यम्। अवश्यपाव्यम्। और क्यप् का अवकाश है 'स्तुत्यः' यहाँ अवश्य अर्थ द्योतित नहीं हो रहा है। 'अवश्यस्तुत्यः' यहाँ दोनों प्राप्त होते हैं। पूर्वविप्रतिषेध से क्यप् हो जाता है।

---

१. अवश्यलाव्यमित्यादौ 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये' (का०वा० ६.१.१४४) इत्यन्तलोपः।

२. उत्तरपदप्रकृतिस्वरेण 'लाव्यम्' इत्यस्य 'तित्स्वरितम्' (अ०– ६.१.१७९) इत्यन्तस्वरितम्।

भा०– स तर्हि पूर्वविप्रतिषेधो वक्तव्यः?

तो क्या वह पूर्वविप्रतिषेध कहना चाहिये?

भा०– न वक्तव्यः। उक्तं तत्र, क्यबिति वर्त्तमाने पुनः क्यब्ग्रहणस्य प्रयोजनं 'क्यबेव यथा स्याद्यदन्यत्प्राप्नोति तन्मा भू'दिति।।१२५।।

नहीं! कहने की कोई आवश्यकता नहीं। वहाँ 'एतिस्तुशास्०' सूत्र में ऊपर 'वदःसुपि क्यप् च' (अ०-३.१.१०६) सूत्र से क्यप् की अनुवृत्ति होने पर भी जो पुनः क्यप् ग्रहण किया है, उसका यही प्रयोजन है कि क्यप् ही होवे, जो कोई अन्य प्रत्यय प्राप्त होता है वह न हो।१२५।।

आनाय्योऽनित्ये।।३.१.१२७।।

भाष्यम्– दक्षिणाग्नाविति वक्तव्यम्। आनेयोऽन्यः।।

सामान्यरूप से अनित्य अर्थ में 'आनाय्य' निपातन किया जा रहा है। घटादि अर्थ भी अनित्य देखा जाता है, सो वहाँ अतिव्याप्ति न हो, इसके लिये दक्षिणाग्नि को कहने में ही आनाय्य शब्द निपातित है– ऐसा कहना चाहिये। घटादि के लिये 'आनेय' शब्द का प्रयोग होगा।

भा०– आनाय्योऽनित्या इति चेद्दक्षिणाग्नौ कृतं[1] भवेत्।

एकयोनौ तु तं विद्यादानेयो ह्यन्यथा भवेत्।।१२७।।

'आनाय्य' शब्द अनित्य अर्थ में निपातित है– ऐसे कहते हो तो, निपातन से रूढि का आश्रयण होने से दक्षिणाग्नि में ही इसकी युक्तता संभावित है। और दक्षिणाग्नि में भी जो आहवनीय के साथ एकयोनि[2] है, उसी के लिये आनाय्य शब्द का प्रयोग होता है, न कि दक्षिणाग्नि मात्र में। दक्षिणाग्नि का योनि (उत्पत्तिस्थान) विकल्पित है; उसे गार्हपत्य, वैश्यकुल अथवा भ्राष्ट्र आदि के यहाँ से भी लाकर प्रज्वलित किया जा सकता है। जब आहवनीय की योनि निश्चित है– उसे गार्हपत्य से ही लाकर प्रज्वलित किया जाता है, सो गार्हपत्य से लाये हुये अग्नि में ही आनाय्यशब्द का प्रयोग होगा। अन्य कहीं से लाने पर तो 'आग्नेय' ही प्रयुक्त होगा। गार्हपत्य तथा आहवनीय अग्नि यज्ञकाल में सतत प्रज्वलित रहते हैं, जब कि दक्षिणाग्नि को हव्य द्रव्य पकाने के लिये मध्य में कुछ समय के लिये प्रज्वलित किया जाता है। यतः उसको अन्य दो अग्नियों के साथ तुलना की दृष्टि से अनित्य कह दिया है।

---

१. संभावने लिङ् इति कैयटः।

२. आहवनीयेन सह एका योनिर्गार्हपत्यरूपा यस्य तस्मिन् दक्षिणाग्नाविति।

पाय्यसान्नाय्यनिकाय्यधाय्या मानहविर्निवाससामिधेनीषु।।३.१.१२९।।

भाष्यम्– पाय्यनिकाय्ययोः किं निपात्यते?

पाय्यादि चार शब्दों को निपातनरूप में पढा है। सो पाय्य और निकाय्य में कुछ क्लिष्टता अनुभव करते हुये पूछते हैं कि यहाँ क्या निपातन है?

वा०– पाय्यनिकाय्ययोरादिपत्वकत्वनिपातनम्।।१।।

भाष्यम्– पाय्यनिकाय्ययोरादिपत्मादिकत्वं च निपात्यते। मेयम् निचेयमित्येवान्यत्र।।१२९।।

'पाय्य' शब्द में 'माङ्-माने' धातु से ण्यत् प्रत्यय और आदि अक्षर को पकार निपातन से किया गया है। युक् तो 'आतो युक्०' (अ०– ७.३.३३) से ही सिद्ध है। 'निकाय्य' यहाँ 'नि' पूर्वक 'चिञ्-चयने' धातु से ण्यत्, आदि चकार को ककार निपातन से हुआ है। इसके अतिरिक्त वृद्धि होकर 'ऐ' को आयादेश भी निपातित किया गया है। 'मान' और 'निवास' विषय से अन्यत्र तो 'अचो यत्' से 'यत्' होकर 'मेयम्', 'निचेयम्' ही बनेगा। 'मेयम्' में 'यत्' के परे रहते 'ईद्यति' (अ०– ६.४.६५) से 'ई' होकर गुण हो गया है।

क्रतौ कुण्डपाय्यसंचाय्यौ।।३.१.१३०।।

वा०– कुण्डपाय्ये यद्विधिः।।१।।

भाष्यम्– कुण्डपाय्ये यद्विधेयः। कुण्डपाय्यः क्रतुः।।१३०।।

'कुण्डपाय्य' शब्द में निपातन से 'पा' धातु से 'यत्' विधेय है। 'कुण्डपाय्य' एक क्रतु है। यत् होने से 'यतोऽनावः' (अ०– ६.१.१३८) से आद्युदात्त हो जायेगा। 'कृदुत्तरपदस्वर' से आद्युदात्तस्वर की सत्ता के साथ युक् भी निपातन से ही समझना होगा।१३०।।

अग्नौ परिचाय्योपचाय्यसमूह्याः।। ३.१.१३१।।

वा०– समूह्य इत्यनर्थकं वचनं सामान्येन कृतत्वात्।।१।।

भाष्यम्– समूह्य इति वचनमनर्थकम्।। किं कारणम्? 'सामान्येन कृतत्त्वात्'। सामान्येनैवाऽत्र ण्यद्भविष्यति– 'ऋहलोर्ण्यत्' (३.१.१२५) इति।।

निपातन के लिये समूह्य शब्द को सूत्र में पढना अनर्थक है। ऐसा क्या कारण है? क्यों अनर्थक है? 'ऊह' धातु से सामान्य सूत्र 'ऋहलोर्ण्यत्' से ही ण्यत् हो जायेगा।

भा०– वह्यर्थं तर्हि निपातनं कर्त्तव्यम्। वहेर्ण्यद् यथा स्यात्।

फिर तो 'वह' धातु से 'समूह्य' शब्दसिद्ध करने के लिये निपातन करना चाहिये– जिससे 'वह-प्रापणे' से समूह्य शब्द में ण्यत् सिद्ध हो जाये। पुन: ण्यत् होने पर संप्रसारण तथा संप्रसारण किये हुये उकार को दीर्घत्त्व दोनों कार्य भी निपातन से ही होंगे।

वा०– वह्यर्थमिति चेदूहेस्तदर्थत्वात्सिद्धम्।।२।।

भाष्यम्– ऊहिरपि वह्यर्थे वर्त्तते।। कथं पुनरन्यो नामान्यस्यार्थे वर्त्तते, कथमूहिर्वह्यर्थे वर्त्तते?

'वह' धातु के लिये निपातन कहते हो तो, यह 'ऊह' धातु को भी वह्यर्थक होने से सिद्ध है।

किन्तु यह कैसे हो सकता है कि अन्य धातु अन्य के अर्थ में वर्त्तमान हो जायें? 'ऊह' धातु 'वह' के अर्थ में कैसे वर्त्तमान होगी?

भा०– बह्वर्था अपि धातवो भवन्तीति।।

धातुयें बहुत सारे अर्थ वाली होती हैं– इसलिये ऐसा होने से कुछ क्लेश नहीं है।

भा०– अस्ति पुन: क्वचिदन्यत्रापि ऊहिर्वह्यर्थे वर्त्तते? अस्तीत्याह।।

क्या कहीं ऊह धातु अन्यत्र भी 'वह' के अर्थ में विद्यमान है?

हाँ! अन्यत्र भी है।

वा०– ऊहिविग्रहाच्च ब्राह्मणे सिद्धम्।।३।।

भाष्यम्– ऊहिविग्रहाच्च[१] ब्राह्मणे सिद्धमेतत्। 'समूह्यं चिन्वीत पशुकाम:' (तै०सं०- ५.४.११.२)। 'पशवो वै पुरीषं पशूनेवासौ तत्समूहति[२]'।।१३१।।

'वह' धातु के समानार्थक 'ऊह' धातु से ब्राह्मण में समूह्य शब्द का निर्वचन किया है, उससे 'ऊह' का वह्यर्थत्व सिद्ध है। जैसे– 'समूह्यं चिन्वीत पशुकाम:'– पशुकाम (वाले) को समूह्य अग्नि[३] का चयन करना चाहिये। पशु पुरीष है (पशवो वै पुरीषं-----)। इस प्रकार वह (पुरीष) इस यजमान के लिये पशुओं को प्राप्त कराता है।

---

१. ब्राह्मण ऊहिना विग्रहदर्शनादूहेर्वह्यर्थत्वं सिद्धमित्यर्थ:।

२. पशवो वै पुरुष: पशूनेवास्मै तत्समूहति। पा०भेद०।

३. अग्निशब्द ज्वलन का वाचक नहीं है, बल्कि तदर्थ जो इष्टकाचयन विशेष है उसके लिये रूढ है।

चित्याग्निचित्ये च।।३.१.१३२।।

वा०– अग्निचित्या भावेऽन्तोदात्त:।।१।।

भाष्यम्– अग्निचित्येति भावेऽन्तोदात्तो भवति। अग्निचयनमेवाग्निचित्या।। (शां० ब्रा० १९.७)

'अग्निचित्या' यहाँ भाव में निपातन से क्यप् होता है और वह अन्तोदात्त होता है। 'अग्निचयन' का जो अर्थ है वही अग्निचित्या का है। यहाँ स्त्रीलिङ्ग ही रहेगा।

ण्वुल्तृचौ।।३.१.१३३।।

भाष्यम्– किमर्थश्चकार:?

'तृच्' में चकारकरण का क्या प्रयोजन है?

भा०– स्वरार्थ:। चितोऽन्त उदात्तो भवतीत्यन्तोदात्तत्वं यथा स्यात्।।

'तृच्' का 'चकार' स्वर के लिये है। चित् का अन्त उदात्त होता है (चित:, अ०– ६.१.१५७) इसनियम से अन्तोदात्त हो जाये।

भा०– नैतदस्ति प्रयोजनम्। एकाजयं, तत्र नाऽर्थ: स्वरार्थेन चकारेणाऽनुबन्धेन। प्रत्ययस्वरेणैव सिद्धम्।।

नहीं! यह तो कोई प्रयोजन नहीं है। तृच् यह प्रत्यय एकाच् है। सो उसके लिये चकार अनुबन्ध लगाने की कोई आवश्यकता नहीं है, 'आद्युदात्तश्च' (अ०– ३.१.३) इस प्रत्ययस्वर से ही सिद्ध हो जायेगा।

भा०– विशेषणार्थस्तर्हि।। क्व विशेषणाऽर्थेनाऽर्थ:? 'अप्तृन्तृ'जिति।

'तृ' इत्युच्यमाने, मातरौ मातर: पितरौ पितर इत्यत्रापि प्रसज्येत।।

अच्छा तो विशेषणार्थ है। विशेषणार्थ चकार का प्रयोजन कहाँ है? 'अप्तृन्तृच्०' (अ०- ६.४.११) इस सूत्र में। यदि उस सूत्र में तृच् को पृथक् से न पढ़कर, तृन्-तृच् दोनों के लिये 'तृ' मात्र को पढ देते हैं तो, मातरौ मातर:, पितरौ पितर: यहाँ भी दीर्घ होने लगेगा। उणादि में ये मातृ-पितृ इत्यादि शब्द निरनुबन्ध तृप्रत्ययान्त निपातित हैं। सो केवल 'तृ' कहने से, इन सब उदाहरणों में दीर्घ अवश्य पायेगा।

भा०– स्वसृनप्तृग्रहणं नियमार्थं भविष्यति,– 'एतयोरेव योनिसंबन्धोर्नान्येषां योनिसंबन्धाना'मिति।।

'स्वसृनप्तृ' का ग्रहण नियमार्थ हो जायेगा। योनिसंबन्धवाले किन्हीं शब्दों को दीर्घ हो तो केवल स्वसृ-नप्तृ इन्हीं दो शब्दों को ही हो अन्यों को न हो। वस्तुत: 'नप्तृ' ग्रहण ही नियमार्थ होगा, स्वसृशब्द तो ऋन् प्रत्ययान्त होने से विध्यर्थ ही होगा।

भाष्यम्– सामान्यग्रहणाविघातार्थस्तर्हि।। क्व सामान्यग्रहणाविघातार्थेनाऽर्थः? अत्रैव। यदेतत्तृन्तृचोर्ग्रहणम्, एतत् 'तृ' इति वक्ष्यामि।।

अच्छा तो सामान्यग्रहण का विघात न हो– इस प्रयोजन के लिये है चकार। सामान्यग्रहणाविघातार्थ चकार मानने पर कहाँ लाभ मिलेगा? इसी 'अप्तृन्तृच्०' सूत्र में। सो कैसे? जो यह उस सूत्र में आचार्य ने 'तृन्-तृच्' का ग्रहण किया है, वह 'तृ' ऐसा कहूँगा। 'तृ' ऐसा निर्देश होने पर यदि ''ण्वुल्तृचौ'' इस सूत्र में भी चकाररहित 'तृ' निर्देश होगा तो 'अप्तृन्तृच्' सूत्रस्थ 'तृ' के द्वारा सामान्यग्रहण खण्डित होगा। इस प्रकार 'अप्तृन्तृच्०' सूत्र 'तृन्' का ग्रहण कराने के लिये 'तृच्' का चकार है।

भाष्यम्– यदि 'तृ' इत्युच्यते मातरौ मातरः पितरौ पितरः अत्रापि प्रसज्येत।।

किन्तु 'अप्तृन्तृच्०' सूत्र में तृन्-तृच् के बदले 'तृ' ऐसा कहा जाता है तो 'मातरौ मातरः पितरौ पितरः' यहाँ भी दीर्घ होने लगेगा क्योंकि ये भी 'तृ' प्रत्ययान्त हैं।

भा०– स्वसृनप्तृग्रहणं नियमार्थं भविष्यति– 'एतयोरेव योनिसंबन्धयोर्नान्येषां योनिसंबन्धाना'मिति।।

स्वसृनप्तृग्रहण नियमार्थ हो जायेगा– योनिसंबन्धवाले किन्हीं शब्दों को दीर्घ हो तो स्वसृनप्तृ इन दो शब्दों को ही हो। इस प्रकार इस नियम से मातरौ मातरः इत्यादि में दीर्घवारण हो जायेगा।

भाष्यम्– 'तुश्छन्दसि' (अ०– ५.३.५९) 'तुरिष्ठेमेयस्सु' (अ०– ६.४.१५४) इति चोभयोर्ग्रहणं यथा स्यात्।[१]

'अप्तृन्तृच्०' सूत्र में 'तृन्-तृच्' के स्थान में 'तृ' पढने पर 'तृच्' में चकार के सामान्यग्रहणाऽविघातार्थत्व प्रयोजन के साथ 'तुश्छन्दसि', 'तुरिष्ठेमेयःसु'- इन सूत्रों में भी तृ के द्वारा तृन्-तृच् दोनों का ग्रहण होवे– इसके लिये चकारग्रहण है। इस प्रकार चकार का सामान्यग्रहणाऽविघातार्थत्व स्थित रहा।

वा०– ण्वुलि सकर्मकग्रहणम्।।१।।

भाष्यम्– ण्वुलि सकर्मकग्रहणं कर्त्तव्यम्। इह मा भूत्-आसिता, शयितेति।।

ण्वुल् में सकर्मकग्रहण करना चाहिये जिससे आसिता, शयिता इत्यादि अकर्मक स्थलों में ण्वुल् न हो।।

वा०– न वा धातुमात्राद्दर्शनाण्ण्वुलः।।२।।

भाष्यम्– न वा वक्तव्यः।। किं कारणम्? धातुमात्राण्ण्वुल् दृश्यते। इमेऽस्य आसकाः, इमेऽस्य शायकाः। उत्थिता आसका वैश्रवणस्येति।।

१. अयं पाठः क्वाचित्कः।।

नहीं! ऐसा कहने की आवश्यकता नहीं है। क्या कारण है? कारण है, धातुमात्र से ही ण्वुल् का देखा जाना। जैसे– इमेऽस्य आसका: (ये इसके बैठने– उठने वाले हैं)। इमेऽस्य शायका: (ये इसके पास सोनेवाले हैं)। उत्थिता आसका वैश्रवणस्य (धनस्वामी कुबेर के आसक (समीप बैठने वाले) उठ गये)।

वा०–तृजादिषु वर्त्तमानकालोपादानमध्यायक[1]वेदाध्यायाद्यर्थम्।।३।।

भाष्यम्– तृजादिषु वर्त्तमानकालोपादानं कर्त्तव्यम्।। किं कारणम्? 'अध्यायकवेदाध्यायाद्यर्थम्[1]'। अध्यायक:[1], वेदाध्याय:। अधीतवत्येध्येष्यमाणे वा मा भूदिति।।

तृजादि प्रत्ययों में वर्त्तमानकाल का ग्रहण करना चाहिये क्या कारण है? कारण है– अध्यायक, वेदाध्याय इत्यादि प्रयोगों को वर्त्तमानकाल में ही सिद्ध करना चाहते हैं। जो अध्ययन कर चुका है, या आगे करेगा– उनको कहने में इन शब्दों का प्रयोग न हो।

वा०– न वा कालमात्रे दर्शनादन्येषाम्।।४।।

भाष्यम्– न वा वक्तव्यम्।। किं कारणम्? 'कालमात्रे दर्शनादन्येषाम्'। कालमात्रे ह्यन्येपि दृश्यन्ते। चर्चापार:, शमनीपार:।।१३३।।

नहीं! वर्त्तमानकाल का उपादान करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि ण्वुल्-तृच् से व्यतिरिक्त अन्यप्रत्यय कालमात्र में देखे जाते हैं। 'तृजादिषु वर्त्तमाने' ऐसा करने पर कालान्तर में कोई भी प्रत्यय नहीं हो पायेगा– इस प्रकार 'वर्त्तमाने' ऐसा कहने में लाभ नहीं है, बल्कि दोष ही है। चर्चापार:[2] शमनीपार:[3], यहाँ तीनों कालों के लिये ही प्रयुक्त होते हैं। यहाँ 'कर्मण्यण्' (अ०– ३.२.१) से अण् हुआ है। शमनी = रात। नागेश ने इस प्रकरण का उपसंहार करते हुये लिखा है– ण्वुल्तृचोस्तु अन्यत्र कालेऽनभिधानं स्वीकार्यम्। अर्थात्। ण्वुल् व तृच् तो शब्दशक्तिस्वभाव से अन्यकाल में नहीं होते– वर्त्तमान काल में ही होते हैं।।१३३।।

नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यच:।।३.१.१३४।।

वा०– अजपि सर्वधातुभ्य:।।१।।

भाष्यम्– अजपि सर्वधातुभ्यो वक्तव्य:। इहापि यथा स्यात्– भाव:, शर्व:[4]।।

'अच्' प्रत्यय सभी धातुओं से होता है– ऐसा कहना चाहिये। जिससे पचादिगण में अपठित भव:, शर्व: इत्यादि प्रयोग भी सिद्ध हो जायें। शर्व: = शिव या विष्णु।

---

१. 'अध्यापक:'– पा० भे०।   २. चर्चां पारयति।

३. शमनीं पारयति।।   ४. 'सव' इति नागेशाभिमत: पाठ:।

भा०– न तर्हीदानीमिदं पचाद्यनुक्रमणं कर्त्तव्यम्? कर्त्तव्यं च।। किं प्रयोजनम्?

तो क्या अब यह 'अजपि सर्वधातुभ्य:' कह देने पर पचाद्यनुक्रमण (पचादिगणस्थ शब्दों का पाठ) नहीं करना चाहिये? नहीं! वह तो करना ही चाहिये। किस प्रयोजन के लिये करना चाहिये?

वा०– पचाद्यनुक्रमणमनुबन्धासञ्जनार्थमपवादबाधनार्थं च।।२।।

भा०– अनुबन्धासञ्जनार्थं तावत्। नदट्-नदी। चोरट्-चोरी।

अपवादबाधनार्थम्। जारभरा श्वपचेति।।१३४।।

पचादिगणस्थ शब्दों को अनुक्रम में पढ़ने का प्रयोजन है– एक तो कुछ एक शब्दों को अनुबन्धविशिष्ठ पढना अभीष्ट है। जिससे उस अनुबन्ध के आश्रित वह कार्य सिद्ध हो जाये। जैसे नदट् चोरट् इत्यादि शब्दों को टित् (टकार अनुबन्ध से युक्त) पढा है। इसके कारण स्त्रीलिङ्ग में 'टिड्ढाणञ्०' (अ०– ४.१.१५) ङीप् हो जायेगा। अपवाद को बाधने के लिये भी पचाद्यनुक्रमण आवश्यक हैं। जैसे; जारं बिभर्त्ति या सा जारभरा, श्वानं पचति या सा श्वपचा– यहाँ 'कर्मण्यण्' से प्राप्त 'अण्' को बाधकर प्रकृतसूत्र से अच् ही हो जाता है। अच् होने से वृद्धि और ङीप् नहीं होंगे, 'अजाद्यतष्टाप्' से टाप् ही होगा। न्यङ्क्वादिगण (अ०– ७.३.५३) में ''श्वपाक'' शब्द के पढने से पक्ष में वह भी हो जाता है।।

इगुपधज्ञाप्रीकिर: क:।।३.१.१३५।।

वा०– इगुपधेभ्य उपसर्गे कविधिर्मेषाद्यर्थ:।।१।।

भाष्यम्– इगुपधेभ्य उपसर्गे को विधेय:।। किं प्रयोजनम्? 'मेषाद्यर्थ:'। मेष:, देव:, सेव:।।

मेषादि शब्दों की सिद्धि के लिये इगुपध धातुओं से विहित 'क' उपसर्ग होने पर ही होता है– ऐसा कहना चाहिये। जैसे विलिख:, विक्षिप: इत्यादि। 'मिष-सेचने' (भ्वादि०) या 'मिष-स्पर्धायाम्' (तुदा०) दिवु-क्रीडाविजि०, षिवु-तुन्तुसंताने' इत्यादि धातुयें जब उपसर्गरहित हों तो उनसे 'क' न होवे। यदि यहाँ भी 'क' हो जाये तो 'मेष:' के स्थान पर 'मिष:' बनने लगेगा।

वा०– न वा बुधादीनां दर्शनादनुपसर्गेऽपि।।२।।

भा०– न वा को विधेय:।। किं कारणम्? बुधादीनामनुपसर्गेऽपि को दृश्यते। बुध:, भिद:, युध:, सिव इति।।

नहीं! उपसर्ग होने पर ही 'क' होता है– ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्या कारण है? अनुपसर्ग में भी बुधादि धातुओं से 'क' देखा जाता है। जैसे– बुध:, युध, भिद:, सिव:। यदि उपसर्ग होने पर 'क' विधान किया जायेगा तो ये सब प्रयोग सिद्ध नहीं हो पायेंगे, जो कि इष्ट हैं।

भाष्यम्– कथं मेष:, देव:, सेव इति?

किन्तु, फिर 'मेष:' इत्यादि प्रयोग कैसे बनेंगे? यहाँ भी 'क' ही होना चाहिये। 'क' होने पर गुण निषेध होकर 'मिष:, दिव:, सिव:– ऐसे अनिष्ट रूप बनने लगेंगे।'

भा०– पचादिषु पाठ: करिष्यते।।१३५।।

पचादिगण को आकृतिगण माना गया है। अत: इस प्रकार के सभी शब्द, उस गण में पठित समझे जायेंगे। अच् होने पर गुण होकर मेष:, देव: इत्यादि रूप बन जायेंगे।।१३५।।

पाघ्राध्माधेट्दृश: श:।।३.१.१३७।।

भा०– जिघ्र: संज्ञायां प्रतिषेध:।।१।।

भाष्यम्– जिघ्र: संज्ञायां प्रतिषेधो वक्तव्य:।। व्याजिघ्रतीति व्याघ्र:।

जिघ्र (घ्रा) धातु से संज्ञा में प्रतिषेध कहना चाहिये। व्याजिघ्रतीति व्याघ्र:– यहाँ 'श' प्रत्यय नहीं हुआ। 'आतश्चोपसर्गे' (१३६) से 'क' ही हो गया।

भा०– इह केचिच्छस्यैव प्रतिषेधमाहु:, केचिज्जिघ्रभावस्य। किं पुनरत्र न्याय्यम्?

यहाँ कुछ लोग जो 'पाघ्राध्मा०' (अ०– ७.३.७८) सूत्र से 'घ्रा' के स्थान में हुवे 'जिघ्र' आदेश में अकार को उच्चारणार्थ मानते हुये 'जिघ्र: संज्ञायां प्रतिषेध:' इस वार्त्तिक में उसी हलन्त 'जिघ्र्' रूप का पञ्चम्यन्त निर्देश स्वीकार करते हैं। वे, ''जिघ्र धातु से 'श' प्रत्यय का प्रतिषेध होता है''– ऐसा उपर्युक्त वार्त्तिक का व्याख्यान करते हैं। किन्तु दूसरे विद्वान् वार्त्तिक में पठित 'जिघ्र:' इस रूप को षष्ठ्यन्त मानते हुवे, प्रकृतसूत्र से घ्राधातु 'श' प्रत्यय कर लेने पर, उसके परे रहते 'पाघ्राध्मा०' सूत्र से प्राप्त 'जिघ्र' भाव का प्रतिषेध होता है– ऐसा व्याख्यान करते हैं। अब हम यह जानना चाहते हैं कि न्याय्यपक्ष कौन सा है?

भाष्यम्– शस्यैव प्रतिषेधो न्याय्य:। जिघ्रभावे हि प्रतिषिद्धे केन श आकारलोप: स्यात्?।।१३७।।

'श' प्रत्यय का प्रतिषेध करना ही न्याय्य है। यदि 'श' प्रत्यय का प्रतिषेध न करके जिघ्र भाव का प्रतिषेध किया जायेगा तो अब यह समस्या उपस्थित होने लगेगी कि 'श' के परे रहते 'घ्रा' के आकार का लोप किस सूत्र से हो। क्योंकि शित् प्रत्यय में आर्द्धधातुकसंज्ञा न होने से 'आतो लोप इटि च' की प्राप्ति नहीं, और श्ना अथवा अभ्यस्त न होने से 'श्नाभ्यस्तयोरात:' की प्राप्ति भी नहीं है।।

अनुपसर्गाल्लिम्पविन्दधारिपारिवेद्युदेजिचेतिसातिसाहिभ्यश्च।। ३.१.१३८।।

वा०– अनुपसर्गान्नौ लिम्पेः।।१।।

भाष्यम्– अनुपसर्गान्नौ लिम्पेरिति वक्तव्यम्। निलिम्पा नाम देवाः।।

अनुपसर्ग लिम्पादि से कहा गया 'श' प्रत्यय, नि पूर्वक लिम्प से प्राप्त नहीं था– इस हेतु से आचार्य वार्त्तिककार ने कहा– 'नि' पूर्वक लिम्प् (लिप्-उपदेहे; तुदादि– १४२) से तो 'श' प्रत्यय हो जाता है– ऐसा कहना चाहिये। 'लिप' धातु से 'श' परे रहते 'शे मुचादीनाम्' (अ०– ७.१.५९) से 'नुम्' होकर, नकार को अनुस्वार-परसवर्ण होकर' 'निलिम्प' बन जाता है। 'निलिम्प' का अर्थ है– देवता।

वा०– गवि च विन्देः संज्ञायाम्।।२।।

भाष्यम्– गवि चोपपदे विन्देः संज्ञायामुपसंख्यानं कर्त्तव्यम्। गोविन्द इति।।

'गो' शब्द के उपपद रहते 'विद्लृ-लाभे' (तुदा०- १४१) धातु से संज्ञा में 'श' प्रत्यय का उपसंख्यान करना चाहिये। 'श' के परे पूर्ववत् 'नुम्' होकर 'गोविन्दः' बन गया।

भा०– अत्यल्पमिदमुच्यते– 'गवी'ति। गवादिष्विति वक्तव्यम्। गोविन्दः, अरविन्दः।।१३८।।

किन्तु जो यह केवलमात्र 'गो' उपपद रहते कहा गया है, यह तो बहुत ही थोड़ा कहा गया है। 'गवादि' उपपद रहते– ऐसा कहना चाहिये। जिससे 'गोविन्द' के साथ 'अरविन्द' इत्यादि शब्द भी सिद्ध हो जाये।

ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः।।३.१.१४०।।

वा०– तनोतेर्ण उपसंख्यानम्।।१।।

भाष्यम्– तनोतेर्ण उपसंख्यानं कर्त्तव्यम्। अवतनोतीत्यवतानः।।१४०।।

तनु-विस्तारे धातु से सूत्र से 'ण' प्राप्त नहीं हो पा रहा था, इसलिये 'ण' का उपसंख्यान करना चाहिये।

शिल्पिनि ष्वुन्।।३.१.१४५।।

वा०– नृतिखनिरञ्जिभ्यः।।१।।

भा०– नृतिखनिरञ्जिभ्यश्चेति वक्तव्यम्। इह मा भूत्– ह्वायकः[१]।।१४५।।

---

१. 'वायक' इति पाठः। तत्र वेञ्-तन्तुसन्ताने इत्यतः 'ण्वुल्' ज्ञेयः।

शिल्पी कर्त्ता मात्र में ष्वुन् प्राप्त है। इसके लिये आचार्य वार्त्तिककार परिसंख्या रूप वार्त्तिक पढ रहे हैं– नृती-नर्तने, खनु-अवदारणे और रञ्ज-रागे इन्हीं धातुओं से ष्वुन् होता है– ऐसा कहना चाहिये। जिससे 'ह्वायक:' इत्यादि में 'ह्वेञ्' 'स्पर्धायाम्' से ष्वुन् न हो। यदि यहाँ भी ष्वुन् हो जायेगा तो स्त्रीलिङ्ग में ङीष्[१] होने लगेगा, जब कि चाहते हैं– टाप्।।१४५।।

प्रुसृल्व: समभिहारे वुन्।।३.१.१४९।।

वा०– प्रुसृल्व: साधुकारिणि वुन्विधानम्।।१।।

भाष्यम्– प्रुसृल्व: साधुकारिणि वुन्विधेय:। सकृदपि य: सुष्ठु करोति तत्र यथा स्यात्। बहुशोऽपि य: दुष्ठु करोति तत्र मा भूदिति।।१४९।।

प्रु-गतौ, सृ-गतौ, लूञ्-छेदने इन धातुओं से साधुकारी कर्त्ता को कहने के लिये वुन् होता है– ऐसा कहना चाहिये। सूत्रपठित समभिहार के स्थान में साधुकारी पढना चाहिये। जिससे एक बार भी जो अच्छा करता है उसे प्रवक:, सरक:, लवक: इत्यादि शब्दों से कहा जा सके किन्तु जो अनेकबार करता है पर दुष्ठु करता है, उसके लिये इन शब्दों का प्रयोग न हो। समभिहार = पौन: पुन्यम्। किसी क्रिया का बार-बार करना ही समभिहार है।।१४९।।

द्वितीय: पाद:

कर्मण्यण्

वा०– कर्मणि निर्वर्त्यमानविक्रियमाणे।।१।।

भाष्यम्– कर्मणि निर्वर्त्यमानविक्रियमाण इति वक्तव्यम्। इह मा भूत्-आदित्यं पश्यति, हिमवन्तं श्रृणोति, ग्रामं गच्छतीति।।

कर्म उपपद रहते धातु से अण् प्रत्यय होता है। कर्म के स्वरूप को विशदरूपेण स्पष्ट करने की इच्छा से आचार्य वार्त्तिककार ने कहा– निर्वर्त्यमान और विक्रियमाण कर्म के उपपद रहते अण् प्रत्यय होता है– ऐसा कहना चाहिये। जिससे कि 'आदित्यं पश्यति, हिमवन्तं श्रृणोति, ग्रामं गच्छति' इत्यादि में निर्वर्त्यमान अथवा विक्रियमाण कर्म के न होने से अण् न होवे। भर्त्तृहरि ने निर्वर्त्यादि का अवान्तरभेद रूप विशेष दर्शाया है–

---

१. 'षिद्गौरादिभ्यश्च' (अ०- ४.१.४१)

सती[१] वाऽविद्यमाना वा प्रकृतिः परिणामिनी।

यस्य नाऽश्रीयते तस्य निर्वर्त्यत्त्वं प्रचक्षते।। (वा०प०सा०स० ४७)

जिसकी विद्यमान होती हुयी भी परिणामिनी[२] प्रकृति का कथन में आश्रय नहीं किया जाता। जैसे– घटं करोति, कुण्डलं करोति। यहाँ घट व कुण्डल की प्रकृति मिट्टी व स्वर्ण होती है, पर कथन में उसकी विवक्षा नहीं है। तथा दूसरा जिस किसी कार्य की प्रकृति (उपादानकारणरूप-प्रकृति) अविद्यमान होती है, वह भी निर्वर्त्य कर्म कहाता है। जैसे– संयोग करोति। यहाँ घट-पट दो द्रव्यों का संयोग करता है– इस कथन में 'संयोगम्' यहाँ निर्वर्त्य कर्म है, क्योंकि यहाँ संयोग की कोई प्रकृति (उपादान कारण) है ही नहीं। अर्थात् कर्म के साथ सामानाधिकरण्य से प्रतीयमान ऐसे कुछ भी चीज नहीं है, जैसे कि 'मृदं घटं करोति'– यहाँ 'घटम्' इस कर्म का 'मृदम्' के साथ सामानाधिकरण्य से प्रयोग हो रहा है।

शिवरामेन्द्र ने तो निर्वर्त्य व विकार्य शब्दों के अर्थ को समझाते हुये कैयट व हरि की भाँति दार्शनिक सरणि का आश्रय नहीं लिया। वे कहते हैं– 'कुम्भं करोति' इत्यादि में कुम्भादि निर्वर्त्य कर्म हैं, तथा 'स्वर्णं करोति', 'तण्डुलान् पचति' इत्यादि में स्वर्णादि विकार्य कर्म। निर्वर्त्यते निष्पाद्यते इति निर्वर्त्यम्, विक्रियते विकारात्मकतां प्राप्यते इति विकार्यमित्यवयवार्थानुगतिस्तत्र द्रष्टव्या। 'भेरीमाहन्ति, वीणां वादयति इत्यादि में भी भेरी,' वीणादि की ध्वनिविशेषयुक्ततया विकाररूपता की प्राप्ति जाननी चाहिये।

जब उपादानकारण ही परिणामित्वेन विवक्षित होता है तब तो विकार्य कर्म ही होगा। जैसे– मृदं घटं करोति। कर्म से उपादानकारण की भेद विवक्षा में तो निर्वर्त्य कर्म ही होगा। उस विवक्षा में जब उपादानकारण को करण रूप से कहा जायेगा तो उपादानवाची शब्द से तृतीया– मृदा घटं करोति और सम्बन्ध रूप से कहने में षष्ठी होगी– मृदो घटं करोति। विकार्य कर्म भी पूर्वरूप का सर्वात्मना परित्याग और तदभाव को लेकर दो प्रकार का है। जैसे कि कहा है–

प्रकृत्युच्छेदसंभूतं किञ्चित्काष्ठादि भस्मवत्।

किञ्चिद्गुणान्तरोत्पत्त्या सुवर्णादिविकारवदिति।। (वा०प०सा०स० ५०)

प्रकृत्युच्छेद से संभूत का उदाहरण है– काष्ठं भस्म करोति। गुणान्तरोत्पत्ति के आधार पर विकार्य कर्म का उदाहरण होगा– सुवर्णं कुण्डलं करोति, मृदं घटं करोति।

---

१. यस्य सती (विद्यमाना) परिणामिनी प्रकृतिर्नाश्रीयते, यस्य वा (कार्यस्य प्रकृतिः) अविद्यमाना (अस्तीति शेषः) तन्निर्वर्त्यमित्युच्यते।

२. पूर्वाकार परित्यागपूर्वक अकारान्तर का ग्रहण ही परिणाम है।

प्राप्यकर्म के विषय में कहा है– क्रियाकृतविशेषाणां सिद्धिर्यत्र न गम्यते।
दर्शनादनुमानाद्वा तत्प्राप्यमिति कथ्यते।। (वा०प०सा०स० ५१)

क्रियाकृत विशेष की सिद्धि जहाँ दर्शन से (अर्थात् प्रत्यक्ष) अथवा अनुमान से गम्यमान नहीं होती उसे प्राप्य कहते हैं। यद्यपि क्रिया के द्वारा प्राप्यमाण होने से कर्ममात्र ही प्राप्य कर्म है, तो भी अवान्तरभेदविवक्षा में, उसका त्रैविध्य कहा गया है। 'स्वर्णं कुण्डलं करोति' इत्यादि में दर्शन अर्थात् प्रत्यक्ष से क्रियाकृत विकाररूप विशेष जाना जाता है, तथा 'पुत्रः सुखं करोति' इत्यादि में अनुमान से सुख रूप लाभ मुखप्रसाद से जाना जाता है।

वा०– कर्मणि निर्वर्त्यमानविक्रियमाण इति चेद्वेदाध्यायादीनामुपसंख्यानम्।।२।।

भाष्यम्– कर्मणि निर्वर्त्यमानविक्रियमाण इति चेद् वेदाध्यायादीनामुपसंख्यानं कर्त्तव्यम्। वेदाध्यायः, चर्चापारः, शमनीपारः।।

यदि यह नियम बना देते हो कि निर्वर्त्यमान और विक्रियमाण कर्म के उपपद रहते हुवे ही अण् प्रत्यय होता है तो वेदाध्यायः इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि के लिये उपसंख्यान करना होगा। क्योंकि 'वेदमधीते वेदाध्यायः', चर्चां वा शमनीं वा पारयति चर्चापारः, शमनीपारः इत्यादि प्रयोगों में न तो कर्म निर्वर्त्यमान ही है और न विक्रियमाण।

वा०– यत्र च नियुक्तः।।३।।

भाष्यम्– यत्र च नियुक्तस्तत्र चोपसंख्यानं कर्त्तव्यम्। छत्रधारः, द्वारपालः।

और जहाँ किसी को नियुक्त किया हुआ है, उस कर्म के उपपद रहते भी अण् का उपसंख्यान करना चाहिये। जैसे; छत्रं धारयति छत्रधारः, द्वारं पालयति द्वारपालः। यहाँ छत्र और द्वार ऐसे कर्म हैं जहाँ किसी राजसेवक को नियुक्त किया जाता है। ये सब प्राप्य कर्म ही हैं क्योंकि छत्रधारण के पश्चात् छत्र में और द्वार के रक्षण द्वारा द्वार में कुछ भी क्रियाकृत विशेष पैदा नहीं किया जाता। यद्यपि पूर्ववार्त्तिक में पठित 'वेदाध्यायादीनाम्' यहाँ आदि शब्द से इन सबका ग्रहण हो सकता है, तथापि स्पष्टबोध के लिये प्रपञ्चार्थ इनका भी ग्रहण कर दिया है।

वा०– हृग्रहिनीवहिभ्यश्च।।४।।

भा०– हृग्रहिनीवहिभ्यश्चेति वक्तव्यम्। हृ-भारहारः। ग्रहि-कमण्डलुग्राहः। नी-उष्ट्रप्रणायः। वहि-भारवाहः।।

हृञ्-हरणे, ग्रह-उपादाने, णीञ्-प्रापणे और वह-प्रापणे इन धातुओं से भी कर्म उपपद रहते (उस कर्म के निर्वर्त्य न होते हुये भी) अण् हो जाता है– ऐसा कहना चाहिये। जैये– भारं हरति-भारहारः। कमण्डलुं गृह्णति-कमण्डलुग्राहः। उष्ट्रं प्रणयति-उष्ट्रप्रणायः (ऊँट को ले जानेवाला)। भारं वहति भारवाहः। इन सभी उदाहरणों में प्राप्य कर्म है।

वा०– अपरिगणनं वा।।५।।

भाष्यम्– न वाऽर्थः परिगणनेन।। कस्मान्न भवति-आदित्यं पश्यति, हिमवन्तं श्रृणोति, ग्रामं गच्छतीति?

अथवा 'कर्मणि निर्वत्यमानविक्रियमाणे' इस प्रथम वार्त्तिक के द्वारा जो परिगणन किया है उसकी कोई आवश्यकता नहीं है।

तो फिर, परिगणना के अभाव में 'आदित्यं पश्यति', 'हिमवन्तं श्रृणोति', 'ग्रामं गच्छति' इत्यादि में 'अण्' प्रत्यय क्यों नहीं होता?

वा०– अनभिधानात्।।६।।

भा०– अनभिधानादेव न भविष्यति।।

उपर्युक्त प्रसङ्गों में अनभिधान से अण् नहीं होगा। भाव यह है– यह व्याकरणशास्त्र नित्यशब्दों का अन्वाख्यान मात्र है। और 'आदित्यं पश्यति' इत्यादि अर्थप्रतिपादन के लिये 'आदित्यदर्शे' इत्यादि शब्दों का प्रयोग लोक में होता नहीं, अतः 'कर्मण्यण्' इत्यादि सामान्यशास्त्र के द्वारा भी साधुत्वेन उनका अनुशासन नहीं किया जायेगा।

अब आचार्य वार्त्तिककार विप्रतिषेध वार्त्तिक पढ़ते हैं–

वा०– अकारादनुपपदात्कर्मोपपदो विप्रतिषेधेन।।७।।

भाष्यम्– अकारादनुपपदात् कर्मोपपदो भवति विप्रतिषेधेन।। अनुपपदस्यावकाशः पचतीति पचः। कर्मोपपदस्यावकाशः– कुम्भकारः, नगरकारः। इहोभयं प्राप्नोति-ओदनपाचः। कर्मोपपदो भवति विप्रतिषेधेन।। अनुपपदस्यावकाशः– विक्षिपः, विलिखः। कर्मोपपदस्य स एव।। इहोभयं प्राप्नोति-काष्ठभेदः। कर्मोपपदो भवति विप्रतिषेधेन।। अनुपपदस्यावकाशः–जानातीति ज्ञः। कर्मोपपदस्य स एव। इहोभयं प्राप्नोति-अर्थज्ञः। कर्मोपपदो भवति विप्रपिषेधेन।।

अनुपपद अकार प्रत्यय के साथ कर्मोपपद की संप्रधारणा में विप्रतिषेध से कर्मोपपद ही होता है। जैसे- अनुपपद का अवकाश है– पचतीति पचः (यहाँ पचाद्यच्) (अ०– ३.१.१३४) से अच् प्रत्यय हो रहा है)। कर्मोपपद का अवकाश है– कुम्भं करोति कुम्भकारः (यहाँ 'कर्मण्यण्' (अ०– ३.२.१) से अण् हुआ है)। 'ओदनं पचति-ओदनपाचः' यहाँ अच् व अण् दोनों प्राप्त होते हैं, विप्रतिषेध से कर्मोपपद अण् हो जाता है।

और देखिये– अनुपपद 'इगुपधज्ञा०' (अ०– ३.१.१३५) का अवकाश है– विक्षिपः, विलिखः। कर्मोपपद का वही 'कुम्भकारः' काष्ठं भिनत्ति-काष्ठभेदः यहाँ दोनो 'क' व 'अण्' प्राप्त हैं। विप्रतिषेध से कर्मोपपद अण् ही होता है।

और भी एक प्रसङ्ग देखियेगा– 'जानातीति-ज्ञ:'– यह अनुपपद 'क'(इगुपधज्ञा– १३५) का अवकाश है। कर्मोपपद[1] का वही कुम्भकार:[2]। अर्थं जानाति, अर्थज्ञ:– यहाँ 'क' व 'अण्' दोनों प्राप्त हैं। यद्यपि अब विप्रतिषेध से तो 'कर्मण्यण्' अण् प्राप्त है तो भी उसे बाधकर 'आतोऽनुपसर्गे क:' (अ०– ३.२.३) से 'क' हो जाता है–ऐसा यहाँ भाष्यकार का तात्पर्य जानना चाहिये।

अण् व अच् के मध्य उपर्युक्त विप्रतिषेध तभी बनेगा जब अच् प्रत्यय मात्र केवल गणपठित धातुओं से ही होता है। जब तो पचादि को आकृतिगण मानकर सर्वधातुविषयक 'अच्' है, तब तो 'येन नाप्राप्तिन्याय०' (पारि० ५१) से अण् प्रत्यय के अपवाद होने से, उत्सर्ग (अच्) व अपवाद (अण्) का विप्रतिषेध नहीं बनेगा। और इस अच् प्रत्यय को तो सर्वधातुविषयक मानना आवश्यक ही है, जैसा कि स्वयं आचार्य ने 'कृ' धातु का पचादिगण में पाठ न होते हुये भी 'शिवशमरिष्टस्य करे' (अ०– ४.४.१४३) सूत्र में 'करोतीति कर:' इस रूप में 'अच् प्रत्ययान्त' कर: शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार तो 'कुम्भकार' आदि में भी 'अच्' का प्रसङ्ग होने से 'अण्' को अवकाश नहीं है। इसीलिये भाष्यकार ने विप्रतिषेध के 'क' व अण् विषयक काष्ठभेदादि उदाहरणान्तर प्रस्तुत किये हैं। 'काष्टभेद:' यहाँ यत: 'अच्' सर्वधातुविषयक होने से उत्सर्ग है अत: 'क'[3] व अण्[4], उसके[5] अपवाद होकर दो अपवादों के मध्य 'तुल्यबलविरोधरूप विप्रतिषेध बन जाने से अण् ही हो जाता है।

भाष्यम्– नैष युक्तो विप्रतिषेध:। अनुपपदस्तृतीय:। ण्वुल्तृजच:।

तेषां ण:। णस्य क:। स यथैव को णं बाधते, एवं कर्मोपपदमपि बाधेत।।

नहीं, यह जो आपने 'ज्ञा' के विषय में 'क' व 'अण्' का विप्रतिषेध दर्शाया है, वह ठीक नहीं है। क्योंकि अनुपपद तृतीयकोटीस्थ है। सबसे पहिले ण्वुल्-तृच्-अच् की पारी आती है– ये तीनों ही प्रत्यय उत्सर्ग हैं। इनका 'श्याद्व्यधा०' (अ०– ३.१.१४१) से विहित 'ण' अपवाद है। इसका भी अपवाद 'इगुपधज्ञा०' (१३५) 'क' है। सो यह तृतीयकोटिस्थ 'क' जैसे द्वितीयकोटिस्थ 'ण' को बाधता है, इसी प्रकार कर्मोपपद (आतोऽनुपसर्गे क: अ०– ३.२.३) को भी बाधेगा।

---

१. 'गोद' इत्यस्योपलक्षणम्। २. यहाँ शङ्का हो सकती है– 'अर्थज्ञ:' यहाँ 'आतोऽनुपसर्गे क:' (३.२.३) सूत्र से 'क' प्राप्त होता है, न कि अण्, तब यह कैसे कह दिया– 'कर्मोपपदस्य स एव' (कर्मोपपद का वही कुम्भकार) क्योंकि 'कुम्भकार' कर्मोपपद कप्रत्यय का विषय ही नहीं बनता। इस शङ्का का समाधान यह है कि 'क' और अण् के विप्रतिषेध में परत्व से 'अण्' 'क' को बाधता है, और अण् को भी कर्मोपपद 'क' अपवाद हेतु से बाध लेता है– इस क्रम में भाष्यकार के 'कर्मोपपदस्य स एव' इस कथन को अन्वित करना चाहिये। इसलिये ''कर्मोपपद का 'गोद:' यह अवकाश है''– ऐसा कहना अधिक युक्त है।

३. इगुपधेति क:। ४. कर्मण्यण्। ५. उत्सर्ग अच् के।

यहाँ पर नागेश ने अपना वक्तव्य प्रस्तुत किया कि विप्रतिषेधवादी के वास्तविक तात्पर्य को न जानकर, एकदेशी के द्वारा यह कहा गया है कि 'नैष युक्तो विप्रतिषेध:'। और इससे आगे का कथन है सिद्धान्त्येकदेशी का– ''कर्मोपपदोऽपि तृतीय:। ण्वुल्तृजच:। तेषामण्। अण: क:। उभयोस्तृतीययोर्युक्तो विप्रतिषेध:''। वस्तुत: 'स यथैव को णं बाधते एवं कर्मोपपदमपि बाधते' यह कथन बाध्यसामान्यचिन्ता से प्राप्तिमात्र के बाध्यत्व को लेकर है। जब तो प्राप्तिविशेष की अपेक्षा की जाती है, तब तो 'येन नाप्राप्तिन्याय०' से इगुपध 'क', 'ण' का ही बाधक होगा न कि कर्मोपपद अण् अथवा तदपवादभूत 'क' का। अर्थात् बाध्यविशेषचिन्ता से यदि देखना चाहेंगे तो 'इगुपध क', 'अण्' का बाधक होगा ही नहीं, केवलमात्र 'ण' का ही बाधक होगा। इस प्रकार उस बाध्यविशेषचिन्ता दृष्टि से तो दो अपवादों के तुल्यबलवाला होने से विप्रतिषेध बन ही जायेगा। अब यदि यह पूछते हो कि 'अर्थज्ञ:' यह प्रयोग 'जानातीति ज्ञ:, अर्थस्य ज्ञ: = अर्थज्ञ:' इस रूप में निरुपपद 'क' (१ ३ ५) से ही सिद्ध हो रहा है तो, सोपपद 'क' (३.२.३) के लिये आग्रह क्यों? उसका कारण है– सोपपद 'क' में नित्यसमास होता है, जबकि निरुपपद 'क' में विकल्प से षष्ठीसमास। समासाभाव पक्ष में 'अर्थस्य ज्ञ:' यह प्रयोग भी पाने लगेगा जो कि इष्ट नहीं है।

भाष्यम्– कर्मोपपदोऽपि तृतीय:। ण्वुल्तृजच:। तेषामण्। अण: क:। उभयोस्तृतीययोर्युक्तो विप्रतिषेध:।।

कर्मोपपद भी तो तृतीयकोटि का है। जैसे ण्वुल्, तृच्, अच् ये उत्सर्ग हैं। इनको 'कर्मण्यण्' (३.२.१) बाधता है। 'कर्मण्यण्' को भी 'आतोऽनुपसर्गे क:'। इस प्रकार सोपसर्ग-निरुपपद दोनों के तृतीयकोटिस्थ होने से तुल्यबलविरोधरूप विप्रतिषेध युक्त ही है। यहाँ 'उभयोस्तृतीययोर्युक्तो विप्रतिषेध:' कहते हुये विप्रतिषेध की युक्तता बाध्यसामान्यचिन्तापक्ष में दिखायी गयी है। बाध्यविशेषचिन्ता में तो यत: ण्वुल्तृजच् के 'क'(३.१.१३५) 'ण' (३.१.१४२) और कर्मोपपद (अण्– क, ३.२.१-३) अपवाद हैं, अत: इन तीनों अपवादों की संप्रधारणा में पुरस्तादपवादन्याय से 'इगुपधज्ञा०' 'क', अन्तर अपवाद 'ण' को ही बांध सकेगा, न कि उत्तर अपवाद कर्मोपपद (अण् क) को। इस प्रकार अपवादत्वेन तुल्यबलवाला होने से 'क' व कर्मोपपद के बीच विप्रतिषेध बनकर परत्व से कर्मोपपद ही हो जाता है। इसी दृष्टि से नागेश ने 'नैष युक्तो विप्रतिषेध:' को एकदेशी की उक्ति कहा है, और इसके विरोध में दी गयी युक्ति कि ''निरुपपद 'क' और सोपपद 'क' दोनों भी तृतीय कोटी के होने से'' विप्रतिषेध बन जायेगा– सिद्धान्त्येकदेशी की उक्ति कहा है।

भाष्यकार अब विप्रतिषेध का उदाहरणान्तर प्रस्तुत करते हैं।

भाष्यम्– अनुपपदस्यावकाश:– लिम्पतीति लिम्प:। कर्मोपपदस्य स एव।

इहोभयं प्राप्नोति 'कुड्यलेप' इति। कर्मोपपदो भवति विप्रतिषेधेन।।

अनुपपद का अवकाश है– 'लिम्पतीति लिम्प:'– 'अनुपसर्गाल्लिम्पविन्द०' (अ०- ३.१.३८) से

विहित 'श'। कर्मोपपद का वही 'कुम्भकार:'। 'कुड्यं लिम्पतीति कुड्यलेप:'– यहाँ 'श' और कर्मोपपद दोनों प्राप्त होते हैं। विप्रतिषेध से कर्मोपपद हो जाता है।

भा०– नैष युक्तो विप्रतिषेध:। अनुपपदस्यतृतीय:। ण्वुल्तृजच:। तेषां क:। कस्य श:। स यथैव श: कं बाधत एवं कर्मोपपदमपि बाधेत।।

नहीं! यह विप्रतिषेध तो युक्त नहीं है। क्योंकि, यह अनुपपद 'श' तृतीयकक्ष्यावाला है। जैसे कि, 'ण्वुल्-तृच्-अच्'– यह प्रथमकक्ष्या है। इनका अपवाद द्वितीयकक्ष्यावाला इगुपध० 'क' (३.१.१३५) है। और'क' का भी अपवाद तृतीयकक्ष्यावाला 'श' (३.१.१३८) है। सो वह 'श' जिस प्रकार 'क' को बाधता है उसी प्रकार कर्मोपपद 'अण्' को भी बाधेगा।

भा०– का तर्हि गति: ?

विप्रतिषेधवादी और उसके खण्डनवादी के मध्य चर्चा चल रही है। एक तीसरा व्यक्ति सुन रहा है, वह पूछ बैठता है कि– तो फिर विप्रतिषेध के उपपादन में क्या कोई मार्ग है?

भा०– मध्येऽपवादा: पूर्वान् विधीन्बाधन्ते, नोत्तरान्। इत्येवं श:, कं बाधिष्यते, कर्मोपपदं न बाधिष्यते।।

व्याकरणशास्त्र में एक नियम है– 'मध्येऽपवादा: पूर्वान्०' (पारि०- ५३)। अर्थात् यदि कहीं ऐसी परिस्थिति बन जाये कि मध्यवाला सूत्र, पूर्ववाले सूत्रों का तथा उत्तरसूत्रों का अपवाद बनकर उपस्थित हो रहा हो, तो वह केवल पूर्ववाली विधियों को बाधेगा न कि उत्तरविधियों को।

सो इस नियम के अनुसार 'श', 'क' को ही बाधेगा, परभूत कर्मोपपद को नहीं। 'श' और कर्मोपपद की संप्रधारणा में तो परत्व से कर्मोपपद ही होगा।

विप्रतिषेध का एक और भी उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं–

भाष्यम्– अनुपपदस्यावकाश:– सुग्ल:, सुम्ल:। कर्मोपपदस्य स एव। इहोभयं प्राप्नोति– गोसंदाय:, वडवासंदाय:। कर्मोपपदो भवति विप्रतिषेधेन।।

अनुपपद का अवकाश है– 'सुग्लायतीति सुग्ल:' 'आतश्चोपसर्गे' (अ०– ३.१.१३६) से यहाँ 'क' हो गया है। कर्मोपपद का वही 'कुम्भकार:'। गां वडवां वा संददातीति गोसन्दाय:, वडवासंदाय:' यहाँ 'कर्मण्यण्' से 'अण्' भी प्राप्त है और 'आतश्चोपसर्गे' से 'क' भी। विप्रतिषेध से कर्मोपपद ही हो जाता है।

भा०– नैष युक्तो विप्रतिषेध:। अनुपपदस्तृतीय:। ण्वुल्तृजच:। तेषां ण:। णस्य क:। स यथैव को णं बाधत एवं कर्मोपपदमपि बाधेत।।

नहीं! यह जो आपने विप्रतिषेध दर्शाया, यह तो ठीक नहीं है। क्योंकि अनुपपद 'आतश्चोपसर्गे' सूत्रविहित 'क' यहाँ तृतीयकक्ष्यावाला है। जैसे प्रथमकक्ष्यास्थानी 'ण्वुल्-तृच्-अच्' ये सामान्य हैं। उनका अपवाद है– 'श्याद्व्यधा०' (३.१.१४१) ण। और 'ण' का भी अपवाद है 'आतरचोपसर्गे' विहित 'क' सो वह 'क' जैसे 'ण' को बाधता है, इसी प्रकार कर्मोपपद को भी बाधेगा।

भा०– का तर्हि गतिः?

कोई तीसरा व्यक्ति पूछता है– तो फिर क्या कोई गति है, जिससे विप्रतिषेध बन जाये?

भा०– पुरस्तादपवादा अनन्तरान्विधीन् बाधन्ते, नोत्तरान्। इत्येवमयं को णं बाधिष्यते, कर्मोपपदं न बाधिष्यते।।

हाँ! गति है। जब कहीं सारी विधियों का पहले ही अपवाद पढ दिया गया हो तो वह अपवाद, जो उसके अनन्तर विधि होगी उसे ही बाधेगा, उससे आगेवाले विधियों को नहीं बाधेगा। जैसे कि प्रकृत में पुरस्ताद् अपवाद 'क' है। सो वह, उसके अनन्तर विधि 'ण' को ही बाध सकेगा, कर्मोपपद को नहीं। 'क' और कर्मोपपद की सम्प्रधारणा में तो परत्व से कर्मोपपद ही होगा।

वा०– शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो णः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च।।७।।

भाष्यम्– शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो णो वक्तव्यः, पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च वक्तव्यम्।

शीलि-मांसशीलः, मांसशीला। कामि-मांसकामः, मांसकामा। भक्षि-मांसभक्षः, मांसभक्षा। आचरि-कल्याणाचारः, कल्याणाचारा।

शीलि, कामि भक्षि तथा आङ् पूर्वक चर् धातु से अण् का अपवाद 'ण' प्रत्यय कहना चाहिये और साथ में पूर्वपद-प्रकृतिस्वर भी कहना चाहिये। जैसे– शीलि; मांसं शीलयति मांसशीलः, मांसशीला। कामि-मांसं कामयते मांसकामः, मांसकामा। भक्षि-मांस भक्षयति-मांसभक्षः, मांसभक्षा। आचरि– कल्याणमाचरति कल्याणाचारः, कल्याणाचारा।

'मांस' शब्द 'स' प्रत्ययान्त प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। और 'कल्याण' शब्द 'लघावन्ते[१] द्वयोश्च बह्वषो गुरुः' से माध्योदात्त है। यहाँ सर्वत्र 'गतिकारकोपपदात्कृत्' (अ०– ६.२.१३८) से कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर प्राप्त था। पूर्वपदप्रकृतिस्वर विधान कर रहे हैं।

---

१. एक अन्त्य लघु को या अन्त में दो लघु हों तो (बह्वषः) बह्वच् शब्द के गुरु अक्षर उदात्त हो जाता है।

वा०– ईक्षिक्षमिभ्यां च।।८।।

भा०– ईक्षिक्षमिभ्यां चेति वक्तव्यम्। सुखप्रतीक्षः, सुखप्रतीक्षा। कल्याणक्षमः, कल्याणक्षमा।।

ईक्ष् व क्षम्– इन धातुओं से ण प्रत्यय कहना चाहिये। जैसे– सुखं प्रतीक्षते-सुखप्रतीक्षः, सुखप्रतीक्षा। कल्याणं क्षमते कल्याणक्षमः, कल्याणक्षमा।

भा०– किमर्थमिदमुच्यते?

'शीलिकामि०' और 'ईक्षिक्षमि०' ये दोनों वार्त्तिक किस प्रयोजन से कहे जा रहे हैं?

भा०– पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च वक्ष्यामि, ईकारश्च मा भूदिति।

इन उपर्युक्त वार्त्तिकों को बनाने का यह प्रयोजन है कि, एक तो पूर्वपदप्रकृतिस्वर कहूँगा और दूसरा अण् प्रत्यय को मानकर 'टिड्ढाणञ्०' (अ०– १.४.१५) से ङीप् पाता था, वह न हो। अब 'ण' प्रत्यय करने पर 'अजाद्यतष्टाप्०' (४.१.४) ही होता है।

भा०– नैतदस्ति प्रयोजनम्। इह मांसं भक्षयति, मांसं तस्य भक्ष्यो भवति। तत्र योऽसौ भक्षयतेरच्, तदन्तेन बहुव्रीहिः।

नहीं! यह तो कोई प्रयोजन नहीं है। यहाँ, जो मांस को खाता है (मांसं भक्षयति), मांस उसका भक्ष (भक्ष्य-भक्षणयोग्य-भक्ष धातु से कर्म में अच्) होता है। अर्थात् जो बात आप णप्रत्यय के द्वारा करना चाहते हैं वह बहुव्रीहि से भी कहीं जा सकती है। सो जो वह भक्षि णिजन्त धातु से अच् प्रत्यय करके निष्पन्न 'भक्ष' शब्द होगा, उसके साथ बहुव्रीहि हो जायेगा। इस प्रकार 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या०' (अ०– ६.२.१) से पूर्वपदप्रकृतिस्वर और इस प्रक्रिया में 'अण्' न होने से, ङीप् भी नहीं होगा।

भाष्यकार के 'भक्षयतेरच्' इस कथन से ज्ञात होता है– 'एरच्' (अ०– ३.३.५६) सूत्र से संबद्ध करके जो वृत्तिकार 'एरजण्यन्तानाम्' ऐसा वचन पढ़ते हैं, वह अनार्ष ही है। णिजन्त से जहाँ अच् इष्ट नहीं है, उसके लिये तो 'कल्प्यादिभ्यः प्रतिषेधः' (भा०वा०– ३.३.५६/३) यह वचन ही है। 'मांसं भक्षोऽस्य' इस विग्रह में अच् प्रत्ययान्त भक्ष शब्द 'घञजपः पुंसि' लिङ्गानुशासन के नियम से नित्य पुँल्लिङ्ग है। 'मांस' शब्द प्रायः नपुंसक[१] ही है– क्वचित् पुल्लिँङ्ग[२] भी है। बहुव्रीहिप्रक्रिया में एक आपत्ति हो सकती है– 'बहवो भक्षा अस्य, बहुभक्षः'– यहाँ 'बहोर्नञ्वत्०' (अ०– ३.२.१७४) से अन्तोदात्त[३] प्राप्त होता है। पूर्वपदप्रकृतिस्वर सिद्ध नहीं होता। इसका समाधान है–

---

१. 'मुखनयनलोहवनमांस०' (लिङ्गा नपुंसक प्रकरण- २३)

२. चमसांसरस------ कांसमांसानि नपुंसके च। (लिङ्गा० पुल्लिँङ्गप्रकरण-६४)

३. 'नञ्सुभ्याम्' (अ०– ६.२.१७१) से अन्तोदात्त।

'भक्षणं भक्षः' इस रूप में भाव में अच् करके 'बहुषु भक्षोऽस्य' व्यधिकरणबहुव्रीहि[१] कर लिया जायेगा, और उस स्थिति में उत्तरपद में बहुत्व (भूमा) अर्थ के अभाव होने से 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या०' से पूर्वपदप्रकृतिस्वर ही होगा।

भाष्यम्– एवं तर्हि सिद्धे सति यत्कर्मोपपदं णं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यः 'समानेऽर्थे केवलं विग्रहभेदाद्यत्र कर्मोपपदश्च प्राप्नोति बहुव्रीहिश्च, कर्मोपपदस्तत्र भवती'ति।। किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्? काण्डलावः। काण्डानि लावोऽस्येति बहुव्रीहिर्न भवति।

इस प्रकार उपर्युक्त बहुव्रीहिप्रक्रिया से ही इष्ट सिद्धि होने पर भी जो आचार्य वार्त्तिककार, ण प्रत्यय का विधान कर रहे हैं, उससे यह ज्ञापित[२] करते हैं– समान अर्थ में, केवल विग्रहभेद से जहाँ कर्मोपद भी प्राप्त होता है और बहुव्रीहि भी, वहाँ कर्मोपपद ही होता है। ठीक है– इस व्यवस्था में तो, णप्रत्यय का विधान करना सार्थक हो जाता है, किन्तु कोई भी ज्ञापक, तभी सार्थक समझा जाता है, जब उसका अन्यत्र भी कोई फल हो। सो इस ज्ञापन के करने में, आचार्य का अन्य प्रयोजन क्या है? अन्य प्रयोजन है– काण्डलावः। 'काण्डानि लावोऽस्य[३]'– इस रूप में बहुव्रीहि नहीं होगा– काण्डानि लुनाति-काण्डलावः, कर्मोपपद अण् ही होगा।

'काण्डानि लावोऽस्य' इस विग्रह में प्रयुक्त हुवे 'लाव' शब्द को निवृत्त प्रेषणप्रकृतिक प्राकृत-अर्थवाली णिजन्त धातु से अच् प्रत्ययान्त समझना होगा। अन्यथा 'काण्डानि लुनाति' के साथ समानार्थता नहीं बन पायेगी।

भाष्यम्– भवति तु बहुव्रीहिरपि, मांसे कामोऽस्य मांसकामः, मांसकामुक इति वा। (वा०– न त्वम्भोऽभिगमा)[४]

न त्विदं भवति अम्भोऽभिगमोऽस्या अम्भोऽभिगमा इति।।

किं तर्हि? अम्भोऽभिगामीत्येव भवति।। काण्डलावेऽपि च विग्रहाऽभावान्न ज्ञापकस्य प्रयोजनं भवतीति। नैषोऽस्ति विग्रहःकाण्डानि लावोऽस्येति।।

---

१. कर्म अजन्त 'भक्ष' शब्द के साथ समानाधिकरण बहुव्रीहि तो अनभिधान से नहीं होगा।

२. यहाँ एक आपत्ति उठायी जा सकती है– 'सति प्रयोजने ज्ञापकं न' इस नियम से णविधायक वार्त्तिक के 'मांसभक्षी' इस प्रयोग के वारण में चरितार्थ हो जाने से कैसे ज्ञापक बनेगा क्योंकि अण् होने पर तो स्पष्ट ही ङीप् होने लगेगा, सो उस प्रयोग को रोकने में णविधान चरितार्थ हो रहा है। इसका समाधान है– प्रकृत में ज्ञापकवादी अनभिधान से अण् का अभाव मान रहा है।

३. 'लावः'– यह जाति में एकवचन है। काण्ड लवनीय है जिसके ऐसा अर्थ है।

४. इदं भाष्यवार्त्तिकमिति केचित्।

किन्तु होता तो बहुव्रीहि भी है। जैसे– 'मांसे कामोऽस्य मांसकाम:'। यहाँ 'मांसकाम:' का वही अर्थ है, जो 'मांसकामुक:' का है। पर, 'अम्भोऽभिगमोऽस्या अम्भोऽभिगमा' (जल अभिगम्य है जिसका ऐसी ब्राह्मणी) ऐसा बहुव्रीहि सहित प्रयोग तो नहीं होता। वहाँ तो 'अम्भोऽभिगच्छतीति = अम्भोऽभिगामी' ऐसा अण् प्रत्ययान्त का ही प्रयोग होता है। और 'काण्डलाव:' इस प्रयोग के विषय में भी इष्ट विग्रह का अभाव होने से उपर्युक्त ज्ञापक का प्रयोजन नहीं ठहरता। 'काण्डलाव:' का जो यह विग्रह दर्शाया गया है– 'काण्डानि लावोऽस्य' यह ठीक नहीं है। क्योंकि 'काण्डलाव:' का अर्थ है 'काण्डानि लुनाति'। और इस प्रकृत्यर्थ विवक्षा में 'णिच्' हो नहीं सकता। सो यदि बहुव्रीहि से विग्रह दिखाया जायेगा तो, वह इस प्रकार होगा– लूयत इति लव: (ॠदोरप्– अ०– ३.३.५७, इति कर्मण्यप्) काण्डानि लव: (लवनीय:) अस्य। इस विग्रह में शब्द बनेगा 'काण्डलव:' न कि 'काण्डलाव:'। पूर्वोक्त रीति से णिजन्त लू धातु को निवृत्त प्रेषण मानकर 'लाव:' शब्द की सिद्धि की जाये तो, वह इसलिये उचित नहीं कि उस प्रकार की कल्पना कभी कहीं इष्ट प्रयोग की सिद्धि के लिये की जाती है, न कि अनिष्ट के लिये। इस प्रकार ज्ञापन का कोई प्रयोजन नहीं होने से, मात्र अण् बाधन के लिये ही उक्त वार्त्तिक बनाना चाहिये न कि बहुव्रीहि का अभाव प्रतिपादन रूप ज्ञापन के लिये और अनभिधान का सहारा लेकर वार्त्तिक प्रत्याख्यान करना तो कोई चमत्कारी नहीं है। हाँ! ज्ञापन के अभाव में 'अम्भोऽभिगमोऽस्या: अम्भोऽभिगमा'– यहाँ बहुव्रीहि का वारण तो अनभिधान से ही करना होगा, न कि एक प्रयोजन के लिये सामान्यज्ञापकाश्रयण।

अब जबकि ज्ञापक नहीं है तो कर्मोपपद भी होने लगेगा और बहुव्रीहि भी। यदि वार्त्तिक नहीं बनायेंगे तो कर्मोपपद अण् ही हुआ करेगा। और अण् में ङीप् होने लगेगा। पूर्वपदप्रकृतिस्वर भी कर्मोपपद अण् में सिद्ध नहीं होगा। बहुव्रीहि में यद्यपि पूर्वपदप्रकृतिस्वर और ईकार अभाव, दोनों ही सिद्ध हो जाते हैं, पर काण्डलाव: और अम्भोऽभिगामी सिद्ध नहीं होंगे, अत: वार्त्तिक बनाना ही प्रशस्त है।

वा०– अन्नादायेति च कृतां व्यत्ययश्छन्दसि।।९।।

भाष्यम्– अन्नादायेति च कृतां व्यत्ययश्छन्दसि द्रष्टव्य:। अन्नादायाऽन्नपतये य आहुतिमन्नादां कृत्वा।।१।।

छन्द में 'अन्नादाय:' यह कृत्संज्ञक प्रत्ययों के व्यत्यय से जानना चाहिये। जैसे– अन्नादायाऽन्नपतये-----० अन्न के भोक्ता के लिये जो कि अन्नपति है उसके लिये जो (कोई याज्ञिक) अन्न का भक्षण करनेवाली आहुति को करके----।

'अन्नमत्तीत्यन्नाद:' इस रूप में यहाँ 'अण्' के प्रसङ्ग में 'अच्' प्रत्यय किया गया है। यद्यपि 'अण्' और 'अच्' में चतुर्थ्यन्तप्रयोग में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा, तो भी 'अन्नऽअदाय' इस अवग्रह की उपपत्ति के लिये, उक्त लक्षण बनाया गया है। वस्तुत: 'न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्या:' (भा०– ३.१.१०९) इत्यादि भाष्य के द्वारा, लक्षण की अवग्रहार्थता को दूषित कर देने से, यह वार्त्तिकरूप वचन व्यर्थ ही है।

आतोऽनुपसर्गे कः।।३.२.३।।

वा०– कविधौ सर्वत्र प्रसारणिभ्यो डः।।१।।

भाष्यम्– कविधौ सर्वत्र प्रसारणिभ्यो डो वक्तव्यः। ब्रह्मज्य इति।।

'क' प्रत्यय के विधान में सर्वत्र (केवल यहीं नहीं, बल्कि कप्रत्यय मात्र में) संप्रसारण होने वाली धातुओं से 'ड' प्रत्यय कहना चाहिये। जैसे कि– 'ब्रह्म जिनाति = ब्रह्मज्यः' (ब्रह्मचर्य, ज्ञान या ब्राह्मण, को नष्ट करने वाला) यदि यहाँ 'ज्या' धातु से 'क' हो जाये तो 'ग्रहिज्या०' (अ०– ६.१.१६) सूत्र से कित् प्रत्यय के परे कहा हुआ सम्प्रसारण होकर 'अचिश्नुधातु०' (६.४.७७) इयङ् होने लगेगा। पुनः 'ब्रह्मजियः' ऐसा अनिष्ट रूप बनने लगेगा।

भाष्यम्– किमुच्यते सर्वत्रेति?

'सर्वत्र' इस शब्द से क्या कहा जा रहा है?

भा०– अन्यत्रापि, नावश्यमिहैव।। क्वाऽन्यत्र? आह्वः[१] प्रह्व[२] इति।।

'सर्वत्र' से कहा जा रहा है– केवल इसी क प्रत्यय के विधान में ही नहीं बल्कि अन्यत्र भी। अन्यत्र कहाँ? यहाँ– आह्वः, प्रह्वः इत्यादि में। इन उदाहरणों में आङ् व प्र पूर्वक 'ह्वेञ्-स्पर्धायाम् शब्दे च' धातु से 'आतश्चोपसर्गे' (३.१.१३६) 'क' प्रत्यय प्राप्त है। यहाँ भी 'ड' कहना चाहिये। आह्वयति, प्रह्वयति = आह्वः प्रह्वः।

वा०– के हि संप्रसारणप्रसङ्गः।।२।।

भा०– के हि सति संप्रसारणं प्रसज्येत, संप्रसारणे कृते संप्रसारणपरपूर्वत्वे चोवङादेशः। 'आहुव' इत्येतद्रूपं प्रसज्येत।।

यदि 'आह्व' यहाँ 'क' हो जाये तो, 'वचिस्वपियजादीनां०' (६.१.१५) से कित् परे रहते सम्प्रसारण होने लगेगा। और फिर संप्रसारण होकर संप्रसारणसंबन्धी उत्तरवाले वर्ण को 'सम्प्रसारणाच्च' (६.१.१०४) से पूर्वरूप होकर, 'अचिश्नुधातु०' उवङादेश होने लगेगा। यदि सम्प्रसारण हो जावे तो 'आहुवः' ऐसा अनिष्टरूप बनने लगेगा, जबकि चाहते हैं 'आह्वः'। इसके लिये 'ड' ही करना चाहिये,

भा०– स तर्हि वक्तव्यः?

तो क्या फिर वह 'ड' प्रत्यय कहना चाहिये?

---

१. बुलानेवाला, पुकारनेवाला। २. विनम्र।

भा०– न वक्तव्य:। अस्त्वत्र संप्रसारणम्। संप्रसारणे कृते आकारलोप:। तस्य स्थानिवद्भावदुवङादेशो न भविष्यति।।

नहीं कहना चाहिये। 'क' प्रत्यय में ही उक्त 'आह्व:, प्रह्व:' रूप सिद्ध हो जायेंगे। 'क' प्रत्यय करते हैं तो, उसमें संप्रसारण भी प्राप्त होगा। सो कोई बात नहीं– संप्रसारण होने देते हैं। संप्रसारण करलेने पर 'आतो लोप इटि च' (६.४.६४) आकारलोप कर लिया जायेगा।

पुन: 'अचि श्नुधातु०' उवङादेश करने में, उस आकारलोप के स्थानिवद्भाव (अच: परस्मिन्०) हो जाने से, उवङादेश नहीं होगा।

भाष्यम्– पूर्वत्वे कृते प्राप्नोति।।

किन्तु पूर्वरूप कर लेने पर उवङादेश प्राप्त होता है।

भा०– एवं तर्हीदमिह संप्रधार्यम्, आकारलोप: क्रियतां पूर्वत्वमिति किमत्र कर्त्तव्यम्? परत्वादाकारलोप।। न सिद्ध्यति। अन्तरङ्गत्त्वात् पूर्वत्वं प्राप्नोति।।

अच्छा, तो यहाँ पहले यह निश्चय कर लेना चाहिये कि आकारलोप तथा पूर्वरूप, इन दो कार्यो में पहले कौन सा किया जाये? आकारलोप है ६/४ का और पूर्वरूप है ६/१ का, सो परत्व से आकारलोप ही होना चाहिये।।

नहीं, ऐसा नहीं सिद्ध होता। अन्तरङ्ग हेतु से पहले पूर्वरूप प्राप्त होता है। आकारलोप को तो बहिर्भूत प्रत्यय की अपेक्षा होने से बहिरङ्ग है।।

भा०– एवं तर्हि वार्णादाङ्गं बलीयो भवतीत्यकारलोपो भविष्यति।।

अच्छा तो 'वार्णादाङ्गं[1] बलीय:'– वर्णसंबन्धी कार्य से अङ्गसंबन्धी कार्य बलवान् होता है, इस हेतु से पूर्वरूप जो कि वर्णकार्य है, उसे बाधकर आङ्ग कार्य आकारलोप ही हो जोयेगा।

भा०– एवं तर्हीदमिह संप्रधार्यम्, आकारलोप: क्रियतां संप्रसारणमिति, किमत्र कर्त्तव्यम्? परत्वादाकारलोप:।।

और एक अन्य दृष्टि से भी यहाँ निश्चय करके देख सकते हैं– आकारलोप किया जाये अथवा संप्रसारण, तो भी यही बात सिद्ध होकर सामने आयेगी कि परत्व से आकारलोप होना चाहिये।

---

१. 'इयाय' इत्यादि की सिद्धि के लिये आङ्ग व वार्ण कार्य के समानाश्रयण (समाननिमित्तक) ही नहीं व्याश्रय में भी इस परिभाषा की प्रवृत्ति का स्वीकार करना आवश्यक है– ऐसा मानते हुये उक्त कथन है।

प्रकृत समाधान वार्णादाङ्ग परिभाषा के समानाश्रय आङ्गवार्णविषयत्व के अनाश्रयण में भी दिया गया है। इस प्रकार यहाँ भाष्य में पठित 'एवं तर्हि' का अर्थ है– 'किं च'।

भा०– नित्यं संप्रसारणम्। कृतेऽप्याकारलोपे प्राप्नोत्यकृतेऽपि।। आकारलोपोऽपि नित्यः। कृतेऽपि संप्रसारणे प्राप्नोत्यकृतेऽपि प्राप्नोति।।

किन्तु संप्रसारण नित्य है, क्योंकि आकारलोप करने पर भी वह प्राप्त होता है, और उसके न करने पर भी। संप्रसारण करलेने पर तो तत्काल पूर्वरूप ही हो जाना चाहिये– इसलिये आकारलोप अनित्य है। अजी नहीं! आकारलोप भी तो नित्य है। वह कैसे? संप्रसारण कर लेने पर भी प्राप्त होता है और न करने पर भी।

भाष्यम्– अनित्य आकारलोपः। न हि कृते संप्रसारणे प्राप्नोति। अन्तरङ्ग हि पूर्वत्त्वं बाधते।।

नहीं! आकारलोप अनित्य है। संप्रसारण कर लेने पर वह प्राप्त नहीं होता। क्योंकि पूर्वरूप अन्तरङ्ग होने से आकारलोप को बाध लेता है। यद्यपि यहाँ 'वार्णादाङ्गं०बलीयः' परिभाषा से आकारलोप का नित्यत्व कहा जा सकता था। किन्तु प्रकृत में उसका अनाश्रयण करके अन्तरङ्ग पूर्वत्व के द्वारा उसकी बाधा करते हुये आकारलोप का अनित्यत्व ठहरा दिया गया है।

भा०– यस्य लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते न तदनित्यम्। न च संप्रसारणमेवाकारलोपस्य निमित्तं विहन्ति। अवश्यं लक्षणान्तरं पूर्वत्वं प्रतीक्ष्यम्।

किन्तु जब किसी अन्य लक्षण (लक्षणान्तर) के द्वारा किसी प्राप्त कार्य का निमित्त नष्ट किया जाता है तो वह अनित्य नहीं हुआ करता। प्रकृत में संप्रसारण मात्र ही आकारलोप के निमित्त को नष्ट नहीं करता, बल्कि उसे अवश्य ही पूर्वत्वविधायक एक अन्य लक्षण की प्रतीक्षा करनी होती है। इस प्रकार उस पूर्वत्वविधायक लक्षण का सहयोग लेकर संप्रसारण के साथ आकारलोप की संप्रधारणा में आकारलोप को अनित्य नहीं ठहराया जा सकता।

भा०– उभयोर्नित्ययोः परत्वादाकारलोपः। आकारलोपे कृते संप्रसारणम्। संप्रसारणे कृते, यणादेशेन सिद्धं रूपम्– आह्वः, प्रह्व इति।।

और जब संप्रसारण और आकारलोप दोनों ही नित्य हैं, तो परत्व से आकारलोप ही होगा। आकारलोप कर लेने पर, पुनःप्रसङ्गविज्ञान से संप्रसारण करके 'आहु+अ' इस स्थिति में यणादेश के द्वारा 'आह्वः प्रह्वः' रूप सिद्ध हो जायेंगे।

भा०– एवमपि न सिद्ध्यति। यो ह्यनादिष्टादचः पूर्वस्तस्य विधिं प्रति स्थानिवद्भावः। आदिष्टाच्चैषोऽचः पूर्वो भवति।।

नहीं! फिर भी, 'आह्व' इत्यादि रूप सिद्ध नहीं होता। 'आ ह्वा+क = आह्वा+अ' इस स्थिति में परत्व से आकारलोप और पुन: संप्रसारण कर भी लिया तो भी 'आहु+अ' यहाँ यणादेश को बाधकर 'अचि श्नुधातु०' सूत्रविहित उवङादेश होने लगेगा। यदि यह कहते हो कि 'अच: परस्मिन् पूर्वविधौ' से आकारलोप के स्थानिवत् होने से, उवर्णान्तधातु न मिलने से उवङादेश नहीं होता, तो वह भी बात नहीं बन सकती। क्योंकि 'अच: परस्मिन्०' यह सूत्र स्थानिवद् भाव वहीं करता है, जहाँ अनादिष्ट अच् से भी पूर्व जो कोई वर्ण होता है, और फिर उसे कोई कार्य (विधि) करना हो। प्रकृत में तो जिस उकार को तुम उवङादेश करने जा रहे हो वह आदिष्ट अच् से पूर्व है अर्थात् आकारलोप करलेने पर ही संप्रसारण के द्वारा उकार का आगमन होता है, जब आकार का लोप नहीं हुआ था, तब तो वहाँ वकार ही दिखाई दे रहा था। इस प्रकार उकार के अनादिष्ट अच् (स्थानिभूत अच्) से पूर्व न मिलने के कारण स्थानिवद्भाव नहीं हो सकेगा, और जब स्थानिवद्भाव नहीं होगा तो उवर्णान्त धातु मिलने से उवङादेश होने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी और इस प्रकार हमारा इष्टरूप सिद्ध नहीं होगा। इसके लिये हमें वार्त्तिक के द्वारा 'ड' प्रत्यय का विधान करना ही होगा।

भाष्यम्– एवं तर्हि– आकारलोपस्याऽसिद्धत्वादुवङादेशो न भविष्यति।

अच्छा तो 'असिद्धवदत्राऽभात्' (६.४.२२) सूत्र से आकारलोप के असिद्ध होने से उवङादेश नहीं होगा। अर्थात् 'आहु+अ' यहाँ जैसे ही 'अचि श्नुधातु०' से उवङादेश करने लगेंगे उसी समय 'आतो लोप इटि च' से हुये आकारलोप के आभीयकार्य होने से असिद्ध होकर बाधा उपस्थित हो जायोगी और इसलिये उवङादेश नहीं होगा। अत: वार्त्तिक के द्वारा 'ड' प्रत्ययविधान करने की आवश्यकता नहीं है।

भा०– इहापि तर्ह्याकारलोपस्याऽसिद्धत्वादुवङादेशो न स्याद्-जुहुवतु:, जुहुवुरिति।।

इस रूप में यदि देखते हो, अर्थात् 'असिद्धवदत्राभात्' को यदि बीच में लाते हो तो, यहाँ 'ह्वेञ्' धातु से लिट् में 'जुहु+अतुस्' इस स्थिति में आकारलोप के असिद्ध होने से 'आह्व:, प्रह्व:' की भाँति उवङादेश नहीं होगा– यणादेश ही होने लगेगा जो कि इष्ट नहीं है।

भा०– अस्त्यत्र विशेष:। अकृतेऽत्राऽऽत्त्वे पूर्वत्वं भवति।। इदमिह संप्रधार्यम्, आत्त्वं क्रियतां पूर्वत्वमिति, किमत्र कर्त्तव्यम्? परत्वात् पूर्वत्वम्।।

जुहुवतु:, जुहुवु: की स्थिति तो अलग है। यहाँ तो आत्त्व करने से पहले ही पूर्वत्व हो जाता है। 'ह्वे+अतुस्' इस स्थिति में जब यह विचारणा उपस्थित होगी कि 'आदेच उपदेशे०' (६.१.४४) आत्त्व किया जाये या 'संप्रसारणाच्च' (६.१.१०४) से पूर्वत्व, तो परत्व से पूर्वत्व ही हो जायेगा। इस प्रकार आत्त्व करने से पहले ही पूर्वत्व हो जाने से आत्त्वलोप और उसके असिद्धत्व का प्रसङ्ग ही उपस्थित नहीं हो पायेगा।

भा०- न सिद्ध्यति। अन्तरङ्गत्वादात्त्वं[1] प्राप्नोति[2]।। एवं तर्हीदमिह संप्रधार्यम्, आत्त्वं क्रियतां संप्रसारणमिति, किमत्र कर्त्तव्यम्? परत्वादात्त्वम्[3]।।

नहीं! जिस ढंग से आप विचार कर रहे हैं, वह पूर्ण होने वाला नहीं है। क्योंकि यहाँ आत्व अन्तरङ्ग होने से पहले ही (सब कार्यों से पहले) प्राप्त होता है। और यह भी विचार कर लेते हैं कि आत्त्व किया जाये या संप्रसारण। आत्त्व और संप्रसारण इन दोनों कार्यों में पहले क्या करना चाहिये? आत्त्व करनेवाला सूत्र है– 'आदेच उपदेशे०' (६.१.४४), और संप्रसारणविधायक सूत्र है– 'ह्वः संप्रसारणम्०' (६.१.३२)। सो परत्व से आत्त्व ही प्राप्त है। इस प्रकार आत्त्व कर लेने पर 'वार्णादाङ्ग०' (पारि० ५०) इस न्याय से पूर्वरूप को बाधकर आकार का लोप होता है इस पक्ष में भी, लोप हुये आकार के स्थानिवत् होने से उवङ् न होने से 'जुहुवतुः' इत्यादि रूपों की असिद्धि जाननी चाहिये।

भा०– नित्यं संप्रसारणम्। कृतेऽप्यात्त्वे प्राप्नोत्यकृतेऽपि।।

आत्त्व व संप्रसारण इन दोनों कार्यों में परत्त्व से तो आत्त्व ही प्राप्त है, किन्तु संप्रसारण नित्य है, क्योंकि आत्त्व करने पर भी सम्प्रसारण प्राप्त होता है और न करने पर भी। और पर से नित्य बलवान् होता है, इसलिये पहले संप्रसारण ही होगा।

भा०– आत्त्वमपि नित्यम्। कृतेऽपि संप्रसारणे प्राप्नोत्यकृतेऽपि।।

किन्तु आत्त्व भी तो नित्य है। संप्रसारण के कर लेने पर भी प्राप्त होता है, और न करने पर भी।।

भा०– अनित्यमात्त्वम्। न हि संप्रसारणे कृते प्राप्नोति। परत्वात्पूर्वत्वेन भवितव्यम्।।

आत्त्व तो अनित्य ही है। क्योंकि वह संप्रसारण कर लेने पर प्राप्त नहीं होता। संप्रसारण के पश्चात् दो कार्य प्राप्त होते हैं– 'आदेच उपदेशे०' से आत्त्व और 'संप्रसारणाच्च' से पूर्वत्व। परत्व हेतु से पूर्वत्व ही होना चाहिये।

भाष्यम्– यस्य लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते न तदनित्यम्। न च संप्रसारणमेवात्त्वस्य निमित्तं विहन्ति। अवश्यं लक्षणान्तरं पूर्वत्वं प्रतीक्ष्यम्।

---

१. एवं चात्त्वे कृते पूर्वरूपलोपयोः प्राप्तयोर्वार्णादाङ्गमिति न्यायेन लोपे तस्य स्थानिवत्त्वादुवङ् न स्यात्-इति भावः। २. 'एवं तर्हि' यह प्राग्वत् ही 'किंच' इस अर्थ में है।

३. 'आदेच उपदेशे०' यहाँ अशिति पद में पर्युदास मानकर उक्त कथन है। 'प्रसज्य' में तो आत्त्व के अनैमित्तिक होने से वह अन्तरङ्ग रहेगा और अन्तरङ्ग बहिरङ्ग के बीच प्रतिषेध बनेगा नहीं। अथवा 'वचिस्वपि०' इस संप्रसारणविधायक सूत्र में 'किति' यहाँ विषयसप्तमी मानने पर, संप्रसारण भी अन्तरङ्ग ही है।

उभयोर्नित्ययो: परत्वादात्वम्, आत्वे कृते संप्रसारणम्।।

किन्तु उपर्युक्त प्रक्रिया से तो आत्त्व को अनित्य नहीं ठहराया जा सकता। क्योंकि जब किसी लक्षणान्तर के द्वारा किसी के निमित्त का व्याघात किया जाता है तो वह अनित्य नहीं होता। प्रकृत में यह द्रष्टव्य है, क्या केवल संप्रसारण ही आत्त्व के निमित्त को नष्ट करता है। नहीं! ऐसा तो नहीं है। केवल संप्रसारण करने मात्र से आत्त्व का निमित्त नष्ट नहीं होता। अवश्य ही उस संप्रसारण को आत्त्व का निमित्त नष्ट करने के लिये पूर्वत्वविधायक एक और सूत्र की सहायता लेनी पड़ती है। इस प्रकार आत्त्व व संप्रसारण दोनों के ही नित्य ठहर जाने से परत्व से पहले आत्व होगा और फिर आत्त्व कर लेने पर पुन: प्रसङ्गविज्ञान से संप्रसारण होगा।

भाव यह है– आत्त्व करके उसका लोप होगा और पुन: संप्रसारण इस क्रम में, उवङ् करते समय यद्यपि अनादिष्ट अच् से पूर्व उकार के न मिलने से 'अच: परस्मिन्०' स्थानिवत्त्व का अभाव होने पर भी 'असिद्धवदत्राभात्' से 'उवङ्' के विषय में आकारलोप के असिद्ध हो जाने से उवङ् नहीं हो पायेगा। 'जुहुवतु:' रूप सिद्ध नहीं होगा।

भा०– एवं तर्हि पूर्वत्वे[१] योगविभाग: करिष्यते। संप्रसारणात्पर: पूर्वो भवति। 'तत:' 'एङ:'। एङश्च संप्रसारणात्पूर्वो भवति।। किमर्थमिदम्? अकृत आत्त्वे पूर्वत्वं यथा स्यात्। तत: पदान्तादति। 'एङ' इत्येव।।

अच्छा तो पूर्वत्वविधायक शास्त्र में योगविभाग करेंगे– सबसे पहले हमारे पास सूत्र है– 'संप्रसारणात्' (६.१.१०४); संप्रसारण से उत्तर कोई अच् हो तो पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है। पुन: सूत्र होगा– 'एङ:' संप्रसारण से परे जो एङ् उसको पूर्वरूप होता है। यहाँ 'एङ्' यह पद षष्ठ्यन्त समझा जायेगा। अब यदि यह पूछा जाये कि 'एङ:' इस सूत्र से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा, तो उसका उत्तर यही दिया जायेगा कि आत्त्व न करके 'एङ्' को ही पूर्वरूप हो जाये। आगे सूत्र होगा– 'पदान्तादति' यहाँ 'एङ:' पञ्चम्यन्त ही अनुवर्त्तित रहेगा।

इसका भाव यह है– योगविभागसामर्थ्य से अन्तरङ्ग आत्व को भी बाधकर पहले संप्रसारण और पूर्वरूप ही होगा। इस प्रकार 'जुहुवतु:' इत्यादि में 'उवङ्' सिद्ध हो जायेगा।

भाष्यम्– इहापि तर्ह्यकृत आत्वे पूर्वत्वं स्यात्– 'आह्व:, प्रह्व' इति।

फिर तो 'आह्व:, प्रह्व:' इत्यादि में भी आत्व करने से पहले ही पूर्वत्व होने लगेगा। पुन: जुहुवतु: की भाँति 'आहुव:, प्रहुव:' ऐसा रूप बनने लगेगा जो कि सर्वथा अनिष्ट है। इसलिये हमारा कहना है कि 'क' प्रत्यय को बाधने के लिये प्रसारिणी धातुओं से वार्त्तिक के द्वारा 'ड' प्रत्यय का विधान कर देना चाहिये।

---

१. 'एङ: पदान्तादति' इत्ययं योगो विभज्यते– 'एङ:' इति। तेनाऽत्त्वं बाध्यते पूर्वत्वविधानेन।

भा०– अस्त्यत्र विशेषः। आकारान्तलक्षणः कविधिः, तेनाऽनेनाऽवश्यमात्वं प्रतीक्ष्यम्। लिट् पुनरविशेषेण धातुमात्राद्विधीयते।।

नहीं! यहाँ 'आह्वः' इत्यादि में तो स्थिति भिन्न है। 'आतश्चोपसर्गे' (अ०– ३.१.१३६) से किया गया 'क' प्रत्यय का विधान 'आकारान्त' इस लक्षण (निमित्त) वाला है। सो इस शब्दसिद्धि करने के लिये प्रवृत्त हुये अध्येता को अवश्य ही आत्व की प्रतीक्षा करनी होगी। अर्थात् आत्त्व करके ही 'क' प्रत्यय किया जा सकेगा। इसके लिये 'आदेच उपदेशेऽशिति' सूत्र के 'अशिति' पद में विषयसप्तमी का आश्रयण करना होगा। विषयसप्तमी का आश्रयण न किया जाये अथवा पर्युदासप्रतिषेध ही माना जाये तो भी 'ह्वावामश्च' (अ०- ३.२.२) इस ज्ञापक के आकारान्तलक्षण 'क' प्रत्यय करने से पहले ही आत्त्व हो जाता है। प्रसज्य प्रतिषेध में तो आत्व अनैमित्तिक होगा ही। जिस प्रकार 'क' प्रत्यय के लिये आकारान्तता का होना आवश्यक है वैसा लिट् में नियम नहीं है, वह तो सामान्य करके धातुमात्र से विहित है।

अब संग्रहश्लोक के द्वारा उक्तार्थ का प्रदर्शन किया जा रहा है–

भा०– नित्यं प्रसारणं ह्वो यण्वार्णादाङ्गं न पूर्वत्वम्।

योऽनादिष्टादचः पूर्वस्तत्कार्ये स्थानिवत्त्वं हि।।१।।

प्रोवाच भगवान्कात्यस्तेनाऽसिद्धिर्यणस्तु ते।

आतः को लिण्नैङः पूर्वः सिद्ध आह्वस्तथा सति।।२।।

'आह्वः' इत्यादि में 'ह्वेञ्' धातु को आकारादेश करके कप्रत्यय करने पर कृताकृतप्रसङ्गित्त्व के कारण नित्य हो जाने से आकारलोप से पहले संप्रसारण हो जाता है (नित्यं प्रसारणम्)। सम्प्रसारण करलेने पर पूर्वत्व व आकारलोप दो कार्य प्राप्त होते हैं, 'वार्णादाङ्गं' इस वचन से आकार लोप होता है, न कि पूर्वत्व[१]। (वार्णादाङ्गं न पूर्वत्वं हि)। अब आकारलोप के स्थानिवत् होने से उवङ् नहीं होता, बल्कि यण् ही होता है। (ह्वो यण्[१])। दूसरा वार्तिकस्थापनावादी व्यक्ति कहता है– क्योंकि अनादिष्ट अच् से पूर्व को कोई कार्य करनें में ही स्थानिवद्भाव होता है, (प्रकृत में आकारलोप करके सम्प्रसारण देख रहा है) अतः भगवान् कात्य ने, सम्प्रसारणवाली धातुओं से 'ड' प्रत्यय कहा है। (योऽनादिष्टादचः[२] पूर्वस्तत्कार्ये स्थानिवत्त्वं हि प्रोवाच[३] भगवान् कात्यः)। अब प्रत्याख्यानवादी कहता है–

---

१. एवं च ह्वो यण् फलतीत्यर्थः।

२. यतोऽनादिष्टादचः पूर्वत्वे स्थानिवत्त्वमतो भगवान् कात्यः संप्रसारणिभ्यो डं प्रोवाचेत्यन्वयः।

३. 'प्रोवाच भगवान् कात्यः' इत्युक्त्या डविधानस्याह्वसिद्ध्यर्थमावश्यकता ध्वनिता।

यतः 'असिद्धवदत्राभात्' इस सूत्र से आकारलोप की असिद्धि (असिद्धता) है, अतः तुम्हारा इष्ट यण् कार्य हो जाता है। (तेनाऽसिद्धिर्यणस्तु[1] ते)। फिर तो 'जुहुवतुः' इत्यादि में भी 'आह्वः' इत्यादि की भाँति ही यण् होने लगेगा। इस पर समाधाता कहता है– (एङः पूर्वः)। वहाँ तो 'एङः पदान्तादति' सूत्र का योगविभाग करके आकारादेश करने से पहले ही, एङ् को पूर्वरूप कर लिया जाता है, अतः 'असिद्धवदत्राऽभात्' से उसके असिद्धत्व का प्रश्न ही नहीं उठता। तब तो 'आह्वः, प्रह्व' में भी, उसी प्रकार 'एङ्' को ही पूर्वत्व होने लगेगा, इस पर आचार्य कहता है– (आतः कः)। यहाँ तो आकारान्त से 'क' का विधान होने के कारण एङ् को पहले आत्त्व ही होता है, न कि पूर्वत्व। फिर लिट् में आत्व क्यों नहीं होता? इसके उत्तर में कहा– (लिण्न)। लिट् तो धातुमात्र से ही कहा गया है न कि केवल आकारान्त से ही। अतः 'क' और 'लिट्' की परिस्थिति भिन्न होने से एक जैसी सूत्र प्रवृत्ति नहीं होगी।

सुपि स्थः।।३.२.४।।

वा०– सुपि स्थो भावे च।।१।।

भाष्यम्– 'सुपि स्थ' इत्यत्र भावे चेति[2] वक्तव्यम्। इहापि यथा स्यात् आखूत्थो वर्त्तते। श्येनोत्थः, शलभोत्थः।।

सुबन्त उपपद रहते 'स्था' धातु से 'क' प्रत्यय कर्त्ता में कहा है, भाव में भी कहना चाहिये। जिससे 'आखूत्थो वर्त्तते' यहाँ भाव में भी 'क' हो जाये। 'आखूत्थः' इत्यादियों का अर्थ होता है– आखूनाम् उत्थानम्, श्येनानामुत्थानम्, शलभानामुत्थानम्। चूहों का उठाव = चूहों की बहुतायत।

भाष्यम्– तत्तर्हि वक्तव्यम्? न वक्तव्यम्।।

वा०– योगविभागात्सिद्धम्।।२।।

भाष्यम्– योगविभागः करिष्यते। आतोऽनुपसर्गे को भवति। ततः 'सुपि'। सुपि चाऽऽतः को भवति। कच्छेन पिबति कच्छपः। कटाहेन पिबति कटाहपः। द्वाभ्यां पिबति द्विपः। ततः 'स्थः'। स्थश्च को भवति सुपीति। किमर्थमिदम्? भावे यथा स्यात्।।

---

१. तेनाभादिति सूत्रेण यतोऽसिद्धिः (आकारलोपस्यासिद्धता) अतो यणस्त्वित्यर्थः।

२. भावे चेति-चात् कर्त्तरि। कच्छेन पिबतीति अकर्मण्युपपदे प्रत्ययार्थं सुपीति योगविभागः इति भावः।

तो क्या 'भावे च' ऐसा कहना चाहिये? नहीं! कहने की आवश्यकता नहीं है। योगविभाग कर लिया जायेगा– 'आतोऽनुपसर्गे कः'। अनुपसर्ग आकारान्त धातुओं से कर्म उपपद रहते 'क' प्रत्यय होता है। तत्पश्चात् 'सुपि'– यह एक सूत्र होगा; कर्मभिन्न सुबन्त उपपद रहते भी अकारान्त धातु से कप्रत्यय होता है। जैसे– कच्छेन[1] पिबति कच्छपः। कटाहेन[2] पिबति कटाहपः। द्वाभ्यां पिबति द्विपः। उससे अगला सूत्र होगा– 'स्थः'। 'स्था' धातु से सुबन्त उपपद रहते कप्रत्यय होता है। यह बात तो 'सुपि' इस सूत्र से ही सिद्ध थी, फिर यह किसलिये? इसका प्रयोजन है– भाव में भी हो जाये।

यहाँ यह प्रश्न उठता है– 'घञर्थे कविधानम्' (वा०– ३.३.५८/४) से ही जब भाव में 'क' सिद्ध था तो यह वार्त्तिक क्यों बनाया? इसका उत्तर है– 'उपपदमतिङ्' (अ०– २.२.१९) जो कि नित्य समास है, उसके लिये यह विधान कर रहे हैं। अन्यथा पाक्षिक षष्ठी समास होता।

भा०– कुतो नु खल्वेतद्भावे भविष्यति, न पुनः कर्मादिष्वपि कारकेष्विति?

योगविभाग करने पर भी, यह कैसे समझा जायेगा कि कप्रत्यय भाव में होगा, न कि अन्य कर्मादि कारकों में।

भा०– योगविभागादयं कर्त्तुरपकृष्यते, न चाऽन्यस्मिन्नर्थे आदिश्यते, 'अनिर्दिष्टार्थाश्च प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ती'ति स्वार्थे भविष्यति। तद्यथा– 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' (३.१.५) 'यावादिभ्यः कन्' (५.४.२९)। सोऽसौ स्वार्थे भवन् भावे भविष्यति।।४।।

योगविभाग करने से यह 'क' कर्त्ता से खींच लिया जाता है, अर्थात् कर्त्ता के साथ 'क' के संबन्ध को हटा दिया जाता है। और अन्य किसी अर्थ में निर्देश किया नहीं गया है कि कर्त्ता से भिन्न अमुक विशेष अर्थ में हो जावे। ऐसी स्थिति में एक ज्ञापकसिद्ध परिभाषा से मदद लेनी होगी– 'अनिर्दिष्ट अर्थवाले प्रत्यय स्वार्थ में होते हैं' (परि०- १०१)। जैसे कि– 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्', 'यावादिभ्यः कन्' इत्यादि। इस प्रकार वह यह 'क' प्रत्यय स्वार्थ में होता हुआ भाव में हो जायेगा। क्योंकि धातुओं का स्वार्थ भाव ही होता है।

जिन प्रत्ययों का अर्थनिर्देश नहीं किया गया है– प्रकृति का अर्थ उनके प्रत्यासन्न होने से उसी के अर्थ में होते है। इसीलिये इनका नित्य एकवचन में ही प्रयोग होता है, न कि घञादिवाच्य के समान द्विवचनादि में भी।।

---

१. कच्छः = कछुवे का एक अङ्गविशेष।

२. कटाहः = कूआँ, कछुवे की कठोर खाल।

तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः।।३.२.५।।

वा०– तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोरालस्यसुखाहरणयोः।।१।।

भाष्यम्– तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोरित्यात्रालस्यसुखाहरणयोरिति वक्तव्यम्। तुन्दपरिमृजोऽलसः। शोकापनुदः पुत्रो जातः। यो हि तुन्दं परिमार्ष्टि तुन्दपरिमार्जः स भवति। यश्च शोकमपनुदति शोकापनोदः स भवति।।

'तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः' इस प्रकृत सूत्र में 'आलस्यसुखाहरणयोः' ऐसा कहना चाहिये। 'तुन्दपरिमृजः' अलस को कहते हैं। और 'शोकापनुदः पुत्रो जातः'– यहाँ 'शोकापनुदः' का अर्थ है– शोक को नष्ट कर सुख का आहरण करनेवाला पुत्र पैदा हुआ। जो तो तुन्द (उदर) पर हाथ स्वभाववश अथवा अन्य किसी कारण से घुमा रहा है न कि आलस्यवश, वह तुन्दपरिमार्जः कहाता है। यहाँ सामान्य अण् ही होगा। और जो संसार के अनित्यत्व की उद्भावनादि के द्वारा केवल शोक को ही हटाये, न कि सुख को भी उत्पन्न करे, वह 'शोकापनोदः' इस विशेषण द्वारा अभिहित होगा। यहाँ भी 'अण्' ही हो गया है।

यद्यपि प्रकृत में वार्त्तिककार ने आलस्य व सुखाहरण (सुखोत्पादन) अर्थ की गम्यमानता में प्रत्यय कहा है, तो भी सामर्थ्य से अलस कर्त्ता तथा सुख के आहर्त्ता को कहने के लिये प्रत्यय होता है। ऐसा होने पर ही प्रत्ययान्त शब्द से आलस्य तथा सुखाहरण अर्थ गम्यमान हो पायेंगे।

वा०– कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्य[१] उपसंख्यानम्।।२।।

भा०– कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानं कर्त्तव्यम्। मूलविभुजो रथः। नखमुचानि धनूंषि। काकगुहास्तिलाः। सरसीरुहं कमलम्।।

'क' प्रकरण में 'मूलविभुजः' इत्यादि शब्दों की सिद्धि के लिये उपसंख्यान करना चाहिये। मूलानि विभुजतीति मूलविभुजो रथः। नखमुचानि[२] धनूंषि। काकेभ्यो गूहितव्याः[३] काकगुहास्तिलाः। सरसि सरस्यां वा रोहति सरसीरुहं कुमुदम्[४]। यह आकृतिगण है। जिससे महीं धरति महीध्रः पर्वतः। कुध्रः पर्वतः। शिरोध्रः। शिरोरुहः इत्यादि सिद्ध हो जाते हैं।। ५।।

---

१. तादर्थ्ये चतुर्थी। मूलविभुजादिशब्दसिद्ध्यर्थमित्वन्वयः।

२. अतिकर्कशतया नखैश्छेत्तुमशक्यत्वाद् नखैर्मुच्यन्ते यानि तानि नखमुचानीत्यर्थः।

३. इह हि कर्मणि कप्रत्यय इष्यते-----।

गापोष्टक्।।३.२.८।।

वा०– सुराशीध्वोः पिबतेः।।१।।

भाष्यम्– सुराशीध्वोः पिबतेरिति वक्तव्यम्। इह मा भूत्– क्षीरपा ब्राह्मणीति। पिबतेरिति किमर्थम्? या हि सुरां पाति सुरापा सा भवति।।

केवल सुरा और शीधु उपपद रहते ही 'पा- पाने' धातु से टक् प्रत्यय होता है– यह कहना चाहिये। जिससे– 'क्षीरं पिबति क्षीरपा ब्राह्मणी' यहाँ टक् प्रत्यय न हो। टक् के अभाव में 'आतोऽनुपसर्गे कः' सामान्य रूप से 'क' ही हो गया। 'पिबतेः' ऐसा किस प्रयोजन के लिये कहा? 'या हि सुरां पाति सुरापा सा भवति'। 'पा-रक्षणे' धातु से तो 'क' ही होगा। 'क' और 'टक्' में स्त्रीप्रत्यय में भेद पड़ता है। 'क' प्रत्यय होने पर प्रत्यय 'अजाद्यतष्टाप्' (४.१.४) टाप् होगा, और 'टक्' होने पर 'टिड्ढाणञ्०' (४.१.१५) ङीप्। सुरां पिबति सुरापः, सोमं पिबति सोमपः ब्राह्मणः। सुरापा ब्राह्मणी, सोमपा ब्राह्मणी किन्तु टक् होने पर सुरापी, सोमपी शब्द बनेंगे।

वा०– बहुलं तणि।।२।।

भाष्यम्– बहुलं तणीति वक्तव्यम्। किमिदं 'तणी'ति? संज्ञाछन्दसोर्ग्रहणम्। या ब्राह्मणी सुरापी भवति नैनां देवाः पतिलोकं नयन्ति। या ब्राह्मणी सुरापा भवति नैनां देवाः पतिलोकं नयन्ति।।८।।

'तणि' में बहुल करके टक् होता है– ऐसा कहना चाहिये। यह 'तणि' क्या है? संज्ञा व छन्द का ग्रहण है। या ''ब्राह्मणी सुरापी नैनां देवाः पतिलोकं नयन्ति। या ब्राह्मणी सुरापा भवति नैनां देवाः पतिलोकं नयन्ति।'' जो ब्राह्मणी सुरापान करने वाली होती है, उसे देवगण पतिलोक को प्राप्त नहीं कराते।

हरतेरनुद्यमनेऽच्।।३.२.९।।

वा०– अच्प्रकरणे शक्तिलाङ्गलाङ्कुशयष्टितोमरघटघटीधनुःषु ग्रहेरूपसंख्यानम्।।१।।

भाष्यम्– अच्प्रकरणे शक्तिलाङ्गलाङ्कुशयष्टितोमरघटघटीधनुःषु ग्रहेरुपसंख्यानं कर्त्तव्यम्। शक्तिग्रहः। शक्ति।। लाङ्गलग्रहः। लाङ्गल।। अङ्कुशग्रहः। अङ्कुश।। यष्टिग्रहः। यष्टि।। तोमरग्रहः। तोमर।। घटग्रहः। घट।। घटीग्रहः। घटी।। धनुर्ग्रहः। धनुस्।।

अच् प्रकरण में शक्ति, लाङ्गल, अङ्कुश, यष्टि, तोमर, घट, घटी व धनुष् कर्म के उपपद रहते 'ग्रह- उपादाने' धातु से उपसंख्यान करना चाहिये। 'शक्ति' इत्यादि शब्द अस्त्र, शस्त्र वाचक है। 'घटी' शब्द का अर्थ है– दण्ड। शक्तिं गृह्णाति शक्तिग्रहः। लाङ्गलं गह्णाति लाङ्गलग्रहः। अङ्कुशं गृह्णाति अङ्कुशग्रहः। यष्टिं गृह्णाति याष्टिग्रहः। तोमरं गृह्णाति तोमरग्रहः। घटं गृह्णाति घटग्रहः। घटीं गृह्णाति घटीगृहः। धनुर्गृह्णाति धनुर्ग्रहः।

वा०– सूत्रे च धार्य र्थे।।२।।

भा०– सूचे च धार्यर्थे ग्रहेरुपसंख्यानम्। सूत्रग्रहः। धार्यर्थ इति किमर्थम्? यो हि सूत्रं गृह्णाति सूत्रग्राहः स भवति।।९।।

'सूत्र' कर्म उपपद रहते 'धारि' धातु के अर्थ में वर्त्तमान 'ग्रह' धातु से अच् प्रत्यय का उपसंख्यान करना चाहिये। सूत्रग्रहः। यहाँ 'ग्रह' धातु ग्रहणपूर्वक धारण करने अर्थ में लाक्षणिक है। जो सूत्र को धारण कर रहा है वह है सूत्रग्रहः[१]। 'धार्यर्थे' ऐसा किस प्रयोजन से कहा? जो सूत्र को ग्रहणमात्र करता है, धारण नहीं करता, वह 'सूत्रग्राहः' होता है। यहाँ तो सामान्य 'अण्' ही हो जाता है।

स्तम्बकर्णयो रमिजपोः।।३.२.१३।।

वा०– स्तम्बकर्णयोर्हस्तिसूचकयोः।।१।।

भाष्यम्– स्तम्बकर्णयोर्हस्तिसूचकयोरिति वक्तव्यम्। स्तम्बेरमो हस्ती। कर्णेजपः सूचकः। स्तम्बे रन्ता, कर्णे जपितेत्येवान्यत्र।।१३।।

स्तम्ब व कर्ण उपपद रहते 'रमु-क्रीडायाम्' तथा 'जप-व्यक्तायां वाचि, मानसे च' धातु से सामान्य करके अच् प्रत्यय कहा है। वार्त्तिककार अभिधेयनियम करते हुये कहते हैं– क्रमशः 'हस्ती' व 'सूचक' अभिधेय हो तो ही अच् प्रत्यय होता है– ऐसा कहना चाहिये जैसे; स्तम्बे, वृक्षादीनां काण्डे गुल्मे गुच्छे वा रमते, स्तम्बेरमो हस्ती। यहाँ 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (अ०– ६.३.१३) से पूर्वपद में सप्तमी का अलुक् हो रहा है। इसी प्रकार 'कर्णे जपतीति कर्णेजपः सूचकः'। रहस्य की बात बतलानेवाला, पिशुन, मुखबिर, झूठी निन्दा करने वाला। हस्ती व सूचक अर्थ से अन्यत्र तो स्तम्बे रन्ता, कर्णे जपिता ऐसा प्रयोग होगा।

शमि धातोः संज्ञायाम्।।३.२.१४।।

भाष्यम्– धातुग्रहणं किमर्थम्?

'धातोः' यह पद तो ऊपर से अनुवर्त्तमान है ही, फिर यहाँ धातुग्रहण क्यों किया है?

वा०– शमि संज्ञाया धातुग्रहणं कृञो हेत्वादिषु टप्रतिषेधार्थम्।।१।।

भा०– शमि संज्ञायां धातुग्रहणं क्रियते, कृञो हेत्वादिषु टो मा भूदिति। शमि संज्ञायां धातोरज्भवतीत्यस्यावकाशः शंवदः, शंभवः। टस्यावकाशः- श्राद्धकरः, पिण्डकरः। शङ्करा नाम परिव्राजिका, शङ्करा शकुनिका तच्छीला च, तस्यामुभयं प्राप्नोति। परत्वाट्टः स्यात्। धातुग्रहणसामर्थ्यादजेव भवति।।

---

१. यज्ञसूत्र (यज्ञोपवीत) के लिये सूत्र शब्द का प्रयोग है।

'शमि संज्ञायाम्' यहाँ इस सूत्र में धातुग्रहण करने का यह प्रयोजन है– 'डुकृञ्-करणे', धातु से हेतु-आदि[1] अर्थों में टप्रत्यय न होवे बल्कि अच् ही हो। 'शम्' उपपद रहते संज्ञा में धातु से अच् होता है– इस नियम का अवकाश है– शं भवति शंभव: तथा शं वदति शंवद:। ये किसी के नाम हैं। 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' (अ०– ३.२.२०) का अवकाश है– श्राद्धं करोति श्राद्धकर:[2], पिण्डकर:[2]। 'शङ्करा' नामवाली परिव्राजिका (संन्यस्ता स्त्री) है तथा शंकरा नाम की शकुनिका[3] है और 'शम्' (कल्याण) करना उनके स्वभाव में भी है– अब यहाँ 'अच्' और 'ट' दोनों की प्राप्ति होती है। परत्व से 'ट' हो जाता, धातुग्रहणसामर्थ्य से 'अच्' ही होता है।

भाष्यम्– कुरणवाडवस्त्वाह– नैषा शङ्करा। शङ्गरेषा कुत एतत्? गृणातिः शब्दकर्मा, तस्यैष: प्रयोग:।।१४।।

कुरणवाडव आचार्य तो कहता है– यह शंकरा नहीं है, यह तो शंगरा है। सो कैसे? शब्दार्थक गृ (धा०पा० क्र्यादि २९) है, उसका यह प्रयोग है। पृषोदरादित्व से संज्ञा में गकार को ककारव्यत्यय से शंकराशब्द के सिद्ध हो जाने से, उसके लिये अर्थात् 'ट' को बाधने के लिये धातुग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। हाँ! क्विप् को बाधने के लिये तो करना ही चाहिये– 'स्थ: क च' (अ०– ३.२.७७) सूत्रभाष्य में यह स्पष्ट है।

अधिकरणे शेते:।।३.२.१५।।

वा०– अधिकरणे शेते: पार्श्वादिषूपसंख्यानम्।।१।।

भाष्यम्– अधिकरणे शेते: पार्श्वादिषूपसंख्यानं कर्त्तव्यम्। पार्श्वशय: पृष्ठशय:, उदरशय:।।

अधिकरण उपपद रहते 'शीङ्' धातु से 'अच्' प्रत्यय कहा है। पार्श्वादि के अधिकरण न होने से 'अच्' प्राप्त नहीं था, इसके लिये उपसंख्यान किया जा रहा है। पार्श्वाभ्यां शेते पार्श्वशय:। पृष्ठेन शेते पृष्ठशय:। उदरेण शेते– उदरशय:। यह आकृतिगण है।

वा०– दिग्धसहपूर्वाच्च।।२।।

भा०– दिग्धसहपूर्वाच्चेति वक्तव्यम्। दिग्धसहशय:।।

'दिग्धसह' पूर्वक 'शीङ्' धातु से भी 'अच्' का उपसंख्यान करना चाहिये। दिग्धसहशय:। 'दिग्धेन सह शेते' इस विवक्षा में 'अच्' करके 'मयूरव्यंसकादि०' से समास है। 'दिग्धसह' इस समुदाय का पूर्वत्व अपेक्षित है। न कि प्रत्येक का। विष से लिप्त बाण के साथ सोने वाला।

---

१. हेतु-ताच्छील्य-आनुलोम्य अर्थों में।

२. जीवितपितरों के लिये श्रद्धायुक्त कर्म करने वाला तथा उन्हें भोजन-पानी रूप पिण्ड देने वाला।

३. लोक में प्रचलित शकुन शब्द के मूल में संभवत: यही 'शकुनिका' हो, कोई पक्षिविशेष जिसका दर्शन अच्छा माना जाता है।

वा०– उत्तानादिषु कर्त्तृषु[१] ।।३।।

भाष्यम्– उत्तानादिषु कर्तृष्विति वक्तव्यम्। उत्तानशयः, अवमूर्धशयः।।

कर्त्ता के रूप में उत्तानादि उपपद हों तो 'शीङ्-शये' धातु से अच् प्रत्यय होता है। ऐसा कहना चाहिये। 'उत्तानः शेत उत्तानशयः'। ऊपर को मुख करके सोनेवाला। 'अवमूर्धा शेत अवमूर्धशयः'। नीचे मुख करके सोनेवाला। यह आकृतिगण है।

वा०– गिरौ डश्छन्दसि।।४।।

भाष्यम्– गिरावुपपदे छन्दसि डो वक्तव्यः। गिरौ शेते गिरिशः।

'गिरि' यह शब्द उपपद होनेपर वेद में शीङ् धातु से 'ड' प्रत्यय कहना चाहिये। गिरौ शेते गिरिशः। 'गॄ-शब्दे' (धा० क्र्यादि० २९) 'गॄ-विज्ञाने' (धा०चुर० १७६) धातु से, गिरि शब्द सिद्ध होता है। विज्ञान में जो शयन करता हो अथवा 'गिरि' का अर्थ यदि पर्वत (कैलास[२] पर्वत) लिया जाये तो, आनन्द के पर्वत पर जो 'गिरि' का अर्थ, सामान्य-पर्वत लें तो भी अर्थ होगा पर्वत के समान स्थिरता में जो शयन करें, जो प्रपञ्च से प्रभावित न हो। इस प्रकार 'शिव' का विशेषण है।

वा०– तद्धितो वा।।५।।

वा०– तद्धितो वा पुनरेष भविष्यति। गिरौ शेते (गिरिरस्यास्तीति) गिरिशः।।१५।।

अथवा यह शब्द तद्धितान्त हो जायेगा। 'गिरौ डश्छन्दसि' इस उपसंख्यान की आवश्यकता नहीं। 'गिरौ शेते' या 'गिरिरस्यातीति[३]' दोनों प्रक्रियाओं से प्रकारान्तर से एक ही बात कही जा रही है।

इसका भाव यह है– उपायों (व्याकरणोपायों) के अनियम से शब्दों की व्युत्पत्ति यथाकथञ्चित् की जा सकती है। जैसा कि हरि ने भी कहा है–

वैरवासिष्ठगिरिशास्तथैकागारिकादयः।
कैश्चित् कथंचिदाख्याता निमित्तावधिसंकरैः[४]।।

---

१. कर्त्तरि वर्त्तमानानामुत्तानादीनां प्रयोगे शेतेरजित्यर्थः।

२. कलास ही कैलास हो गया = क- आनन्द, लास-क्रीडा। अतः कैलास = आनन्द में क्रीडा होना।

३. लोमादिपामादि० (अ०– ५.२.१००) इति शप्रत्ययः।

४. निमित्तमर्थः। अवधिः प्रत्ययानां प्रकृतिस्तत्संकरैरित्यर्थः। संकरेण = अनियमेन।

वीरस्येदम्, वीराया वेदम्, वीरात्, वीराया वा-आगतम्, तत्र भवम्-इति वा कोई भी व्युत्पत्ति हो सकती है। इसी प्रकार वसिष्ठस्येदम्, तेन कृतं, तेन प्रोक्तं वा। गिरौ शेते, गिरिं श्यति वा गिरिश:। एकागारे तिष्ठति, एकागारेण जयति वा, एकागारं प्रयोजनमस्येति वा-ऐकागारिक: चोर उच्यते। आदि शब्द से मरुत्तवास्तव्यादि शब्द गृहीत होते हैं। 'मरुत्त' शब्द 'मरुत् अस्यास्ति' इस अर्थ में 'पर्वमरुद्भ्यां तप्' (भा०वा० ५.२.११२/१०) वार्त्तिक से तप् प्रत्ययान्त अथवा 'मरुद्भिर्दत्त:' इस अर्थ में 'मरुच्छब्दस्योपसंख्यानम्' (भा०वा० १.४.५८-४) इस वार्त्तिक से उपसर्ग संज्ञा होकर 'अच उपसर्गात्त:' (अ०– ७.४.४७) दा धातु के अच् को तत्त्व होकर द्वेधा व्युत्पत्ति की जाती है। वास्तव्य शब्द में भी 'वसेस्तव्यत् कर्त्तरि णिच्च' (भा०वा० ३.१.९६-२) 'तद्धितो वा' (३) वार्त्तिकों से 'वसतीति वास्तव्य:' अथवा 'वस्तुनि भवा: वास्तव्या:' व्युत्पत्ति की गयी है। यदि यह पूछा जाता है कि शब्द तो नित्य हैं फिर उनकी अनेकधा व्युत्पत्ति कैसे संगत हो गयी, तो उसका उत्तर यह है– सत्यभूतशब्दों की व्युत्पत्ति में उपायभूत कल्पित प्रकृति प्रत्यय आदि के, जो कि रेखागवयस्थानी हैं– उनके अनियम से नित्यत्व की हानि नहीं होगी।।

चरेष्ट:।।३.२.१६।।

भाष्यम्– इह कस्मान्न भवति,– कुरूँश्चरति पंचालाँश्चरतीति?

'कुरूँश्चरति[१]', 'पञ्चालाँश्चरति' यहाँ 'ट' प्रत्यय क्यों नहीं होता है? जब कोई कुरुदेश को जाता है, तब यह प्रयोग होता है, जब तो कुरुदेश में भ्रमण कर रहा है, यह विवक्षा होती है तब तो 'कुरुषु चरति' ऐसा प्रयोग होता है।

भा०– अधिकरण इति वर्त्तते।

'कुरूँश्चरति' यहाँ टप्रत्यय इसलिये नहीं होता कि ऊपर से 'अधिकरणे' इस पद की अनुवृत्ति आ रही है।

भा०– ननु च 'कर्मणी'त्यपि वर्त्तते, तत्र कुत एतदधिकरणे भविष्यति, न पुन: कर्मणीति?

किन्तु 'कर्मणि' यह भी तो आ रहा है। अब ऐसा क्या कारण है कि अधिकरण उपपद रहते तो होगा और कर्म उपपद रहते नहीं होगा?

वा०– चरेर्भिक्षाग्रहणं ज्ञापकं कर्मण्यप्रसङ्गस्य।।१।।

भाष्यम्– यदयं 'भिक्षासेनादायेषु च' (अ०– ३.२.१७) इति चरेर्भिक्षाग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो 'न भवति कर्मणी'ति।।१६।।

---

१. तान् गच्छतीत्यर्थ:।

जो यह आचार्य 'भिक्षासेनादायेषु च' (३.२.१७) यहाँ 'चर-गतिभक्षणयो:' धातु से टप्रत्यय का विधान करने के लिये भिक्षा ग्रहण करता है, उससे यह ज्ञापित होता है– 'चरेष्ट:' यहाँ 'कर्मणि' यह संबन्धित नहीं होता। यदि 'चरेष्ट:' यहाँ कर्मणि इस पद का संबन्ध होता तो उसी से 'भिक्षां चरति' इस अर्थ में 'भिक्षाचर:' शब्द के सिद्ध होने से भिक्षाग्रहण व्यर्थ ही हो जाता।

'भिक्षाचर' यहाँ 'चर' धातु चरणकरणक अर्जन अर्थ में लाक्षणिक है। अथवा भक्षण अर्थवाली है। यहाँ सेनाग्रहण को तो ज्ञापकरूप में प्रस्तुत नहीं किया गया– 'सेनां चरति' और 'सेनायां चरति'– दोनों ही अर्थों में प्रायोगिकी विवक्षा के होने से। इससे यह भी जानना चाहिये कि आगे 'अधिकरणे' और 'कर्मणि' दोनों का ही अधिकार है, पर संबन्ध यथायोग होगा।

दिवाविभानिशाप्रभाभास्कारान्तानन्तादिबहुनान्दीकिंलिपिलिबिबलिभक्तिकर्तृचित्रक्षेत्र-संख्याजङ्घाबाह्वहर्यत्तद्धनुररुःषु।।३.२.२१।।

वा०– किंयत्तद्बहुषु कृञोऽज्विधानम्।।१।।

भाष्यम्– किंयत्तद्बहुषु कृञोऽज्विधानं कर्त्तव्यम्। किंकरा। किम्।।

यत्करा। यत्।। तत्करा। तत्।। बहुकरा। बहु।।२१।।

किं, यत्, तत् और बहु शब्द के उपपद रहते कृञ् धातु से अच् प्रत्यय का विधान करना चाहिये। सूत्र से 'ट' प्राप्त अच् प्रत्यय का विधान करना चाहिये। सूत्र से 'ट' प्राप्त था। वार्त्तिककार ने अच् विधान कर दिया। 'ट' और 'अच्' में स्त्रीप्रत्यय में भेद होगा। किंकरा, यत्करा, तत्करा, बहुकरा।

यहाँ प्रश्न होता है– 'किंकरी' यह शब्द साधु है या असाधु। इस विषय में यह समझना होगा– हेत्वादि अर्थों में टबाधा के द्वारा वार्त्तिक के चरितार्थ होने से सूत्रस्थ किमादि ग्रहण की सार्थकता के लिये हेत्वादि अर्थों से अन्यत्र सामान्य करके टविधान की आवश्यकता भी स्वीकार करनी ही होगी। इस प्रकार 'किंकरी' यह प्रयोग भी साधु ही है।।२१।।

स्तम्बशकृतोरिन्।।३.२.२४।।

वा०– स्तम्बशकृतोर्व्रीहिवत्सयो:।।१।।

भाष्यम्– स्तम्बशकृतोरित्यत्र 'व्रीहिवत्सयोरिति' वक्तव्यम्। स्तम्बकरिर्व्रीहि:। शकृत्करिर्वत्स:।।२४।।

'स्तम्ब' तथा 'शकृत्' शब्द उपपद रहते व्रीहि व वत्स कर्त्ता अभिधेय हो तो 'इन्' प्रत्यय कहना चाहिये। 'स्तम्बकरिर्व्रीहि:' (स्तम्ब = पुलियाँ, भरोटा बनानेवाला व्रीहि)। 'शकृत्करिर्वत्स:' (मलत्याग करने वाला छोटा बछडा)। शकृत् = मल, विष्ठा, विशेषप्रकार जानवरों की लीद गोबर इत्यादि।।

फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च।।३.२.२६।।

भा०– 'आत्मम्भरि'रिति किं निपात्यते?

'आत्मम्भरिः' इस शब्द में क्या निपातित किया जाता है?

भा०– आत्मनो मुम् भृञश्चेन्प्रत्ययः।

'आत्मन्' शब्द को 'मुम्-भाव' और भृञ् से इन् प्रत्यय।

भा०– अत्यल्पमिदमुच्यते 'आत्मन' इति।

'आत्मनः' यह जो कहा है– यह तो बहुत ही थोड़ा कहा है।

वा०– भृञः कुक्ष्यात्मनोर्मुम् च।।१।।

भा०– भृञः कुक्ष्यात्मनोर्मुम् चेति वक्तव्यम्। कुक्षिम्भरिः। 'आत्मम्भरिश्चरति यूथमसेवमानः'।।२६।।

'भृञ्-भरणे' धातु से इन् प्रत्यय तथा कुक्षि व आत्मन् शब्द को मुम् आगम् होता है– ऐसा कहना चाहिये। जैसे– कुक्षिम्भरिः। आत्मम्भरिश्चरति यूथमसेवमानः। अपना ही पेट भरने में लगा हुआ, यूथ = समूह की सेवा नहीं करता। कुक्षिम् आत्मानं वा बिभर्त्ति। समास व नलोप करने पर अथवा पहिले ही मुम् निपातन कर लेना चाहिये। यदि पहले मुम् करते हैं तो 'संयोगान्तस्य लोपः' (अ०– ८.२.२३) से नलोप हो जायेगा। अथवा मुम् करने से पहले ही 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (अ०– ८.२.७) नलोप कर देगा।

एजेः खश्।।३.२.२८।।

वा०– खश्प्रकरणे वातशुनीतिलशर्धेष्वजधेट्दजहातिभ्यः।।१।।

भाष्यम्– खश्प्रकरणे वातशुनीतिलशर्धेष्वजधेट्तुदजहातिभ्य इति वक्तव्यम्। वातमजाः मृगाः। वात।। शुनिंधयः। शुनी।। तिलन्तुदः। तिल।। शर्द्धञ्जहा माषाः। शर्द्ध।।२८।।

वात, शुनी, तिल और शर्द्ध– ये कर्म उपपद रहते यथासंख्य अज-गतिक्षेपणयोः, धेट्-पाने, तुद-व्यथने, ओहाक्-त्यागे इत्यादि धातुओं से भी खश् होता है– ऐसा उपसंख्यान करना चाहिये। वातमजाः मृगाः। शुनिन्धयः[१]। तिलन्तुदः। शर्द्धञ्जहा माषाः[२]।

---

१. 'खित्यनव्ययस्य' (अ०–६.३.६५) इति ह्रस्वत्त्वम्।

२. 'ओहाक्-त्यागे' जुहोत्यादित्वाच्छपः श्लौ द्विर्वचने 'श्नाभ्यस्तयोरातः' (अ०– ६.४.११२) इत्याकारलोपः।

सभी उदाहरणों में खित् परे रहते 'अरुर्द्विषदजन्तस्य०' (अ०– ६.३.६६) से मुम् हो रहा है। वातं-वातगमनं यथा भवति तथाऽजन्ति गच्छन्ति इति विग्रहः। वातशब्दस्य वातकर्तृके गमने लक्षणा, अभेदान्वयबोधोत्तरं सादृश्यपर्यवसानम्। वातगमनसदृशं गमनं कुर्वन्तीत्यर्थः। तिलान् तुदति लुञ्चति निष्पीडयतीत्यर्थः। शर्द्धं जहति शर्द्धञ्जहा माषाः। अफारा उत्पन्न करनेवाले उडद। यहाँ ओहाक् अन्तर्भावित ण्यर्थ है।

नासिकास्तनयोर्ध्माधेटोः।।३.२.२९।।

वा०– स्तने धेटः।।१।।

भा०– स्तने धेट इति वक्तव्यम्। स्तनन्धयः।

'स्तन' कर्म उपपद रहते धेट्-धातु से खश् होता है– ऐसा कहना चाहिये। यथासंख्याऽभाव के लिये यह अन्वाख्यापक वार्त्तिक करना चाहिये।

भा०– ततः– तत्पश्चात्

वा०– मुष्टौ ध्मश्च।।२।।

भा०– मुष्टौ ध्मश्च धेटश्चेति वक्तव्यम्। मुष्टिन्धमः, मुष्टिन्धयः।

'मुष्टि' कर्म उपपद रहते 'ध्मा-शब्दाग्निसंयोगयोः' तथा 'धेट्-पाने' धातुओं से खश् करना चाहिये। मुष्टिं धमति धयति वा। प्रकृत वार्त्तिक 'नाडीमुष्ट्योश्च' सूत्र का व्यवस्थापक ही है। नाडी शब्द के साथ ध्मा का ही संबन्ध है और मुष्टि शब्द के साथ दोनों का ऐसा समझना चाहिये।

वा०– नासिकायां ध्मश्च धेटश्च।।३।।

भा०– नासिकायां ध्मश्च धेटश्चेति वक्तव्यम्। नासिकंधमः, नासिकंधयः।

'नासिका' कर्म उपपद रहते ध्मा और धेट् दोनों धातुओं से खश् होता है– ऐसा कहना चाहिये। नासिकां धमति धयति वा नासिकंधमः, नासिकंधयः। 'खित्यनव्ययस्य' से ह्रस्व और 'अरुर्द्विषद०' से मुम् हो गया है।

भा०– अत्यल्पमिदमुच्यते–

'नासिकायां ध्मश्च धेटश्च' इस उपर्युक्त वार्त्तिक और 'नाडीमुष्ट्योश्च' इस सूत्र की भी अव्याप्ति को प्रकट करते हुये भाष्यकार कहता है– यह तो बहुत ही थोड़ा कहा जा रहा है।

भा०– नासिकानाडीमुष्टिघटीखारीष्विति वक्तव्यम्। नासिकंधमः। नासिकंधयः। नासिका।।

नाडिंधमः। नाडी।। मुष्टिंधमः, मुष्टिंधयः। मुष्टि।। घटिंधमः, धटिंधयः। घटी।। खारिंधमः, खारिंधयः। खारी।।२९।।

यहाँ यह कहना चाहिये– नासिका, नाडी, मुष्टि, घटी व खारी कर्म के उपपद रहते भी ध्मा और धेट् धातुओं से खश् प्रत्यय हो जाता है। नाडीं धमति, धयति वा नाडिंधम:, नाडिंधय:। मुष्टिं धमति, धयति वा मुष्टिंधम: मुष्टिंधय: (बच्चा)। घटीं धमति धयति वा धटिंधम: (घटवादक), घटिंधय: (घडाभर पीनेवाला)। खारीं धमति, धयति वा खारिंधम: खारिंधय:। 'खारी' परिमाणवाची है। क्वचित् 'खरी' पाठ भी मिलता है, तब अर्थ होगा– गधी का दूध पीनेवाला। नाडी = पोला डण्ठल।।

प्रियवशे वद: खच्।।३.२.३८।।

वा०– खच्प्रकरणे गमे: सुप्युपसंख्यान्।।१।।

भा०– खच्प्रकरणे गमे: सुप्युपसंख्यानं कर्त्तव्यम्। मितङ्गमो हस्ती, मितङ्गमा हस्तिनी।।

प्रिय और वश उपपद रहते 'वद' धातु से खच् कहा है, इससे अन्यत्र भी खच् विधान के लिये यह वार्त्तिक है– खच् प्रकरण में कोई भी सुबन्त उपपद रहते गम् धातु से खच् का उपसंख्यान करना चाहिये। जैसे– मितं गच्छति मितङ्गमो हस्ती (धीरे-धीरे चलनेवाला हाथी)। मितङ्गमा हस्तिनी। खच् के खित् होने से मुम् हो गया है।

वा०– विहायसो विह च।।२।।

भाष्यम्– विहायसो विह इत्यमादेशो वक्तव्य: खच्च। विहङ्गम:।

'विहायस्' सुबन्त उपपद रहते 'गम्' धातु से खच् और उसके साथ विहायस् शब्द को 'विह' यह आदेश कहना चाहिये। विहायसा गच्छति विहङ्गम:। आकाशमार्गेणेत्यर्थ:।

वा०– खच्च डिद् वा।।३।।

भा०– खच्च डिद् वा वक्तव्य:। विहङ्ग:।।

विहायस् शब्द पूर्वक गम् धातु से जब खच् प्रत्यय हो तो उसे विकल्प से डित् भी कहना चाहिये। जैसे– विहायसा गच्छति विहंग। खच् के डित् होने पर 'डित्यभस्याप्यनुबन्धकरणसामर्थ्यात्' (भा०वा० ६.४.१४३-१) गम् के टि-भाग का लोप हो गया।

वा०– डे च।।४।।

भा०– डे च विहायसो 'विह' इत्ययमादेशो वक्तव्य:। विहग:।।३८।।

'विहायस्' शब्दपूर्वक 'गम्' धातु से 'ड' प्रत्यय के परे रहते 'विह' यह आदेश कहना चाहिये। विहग:।

'ड' प्रत्यय तो 'अन्येष्वपि दृश्यते' (अं– ३.२.१०१) से ही हो जायेगा। 'विह' आदेश के लिये यह वार्त्तिक है।

अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु डः।।३.२.४८।।

वा०– डप्रकरणे सर्वत्रपन्नयोरुपसंख्यानम्।।१।।

भा०– डप्रकरणे सर्वत्रपन्नयोरुपसंख्यानं कर्त्तव्यम्। सर्वत्रगः, पन्नगः।

सर्वत्र और पन्न उपपद रहते भी गम् धातु से 'ड' होता है– ऐसा इस डप्रकरण में कहना चाहिये। सर्वत्र गच्छति सर्वत्रगः।

पन्नं पतितं यथा स्यात् तथा गच्छति पन्नगः। पन्न शब्द यहाँ क्रियाविशेषण है, इसलिये कर्मसंज्ञक हो गया।

वा०– उरसो लोपश्च।।२।।

भा०– उरसो लोपश्च वक्तव्यः। उरगः।

उरस् शब्द उपपद रहते 'गम्' घातु से 'ड' होता है और 'उरस्' शब्द का लोप भी। वह लोप 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्त्य का होगा। उरसा गच्छति उरगः।

वा०– सुदुरोरधिकरणे।।३।।

भा०–सुदुरोरधिकरणे डो वक्तव्यः। सुगः, दुर्गः।।

सु व दुर् पूर्वक 'गम्' धातु से अधिकरण कारक में 'ड' कहना चाहिये। 'कर्त्तरि कृत्' (अं– ३.४.६७) से कर्त्ता में पाता था, अधिकरण में विधान कर दिया। सु = सरलतया गम्यते यत्र सुगः। दुर् = कठिनतया गम्यते यत्र दुर्गः।

वा०– निसो देशे।।४।।

भाष्यम्– निसो देशे डो वक्तव्यः। निर्गो देशः।

निस् पूर्वक देश अभिधेय होने पर 'ड' कहना चाहिये। निर्गम्यते यस्मिन् देश इति निर्गो देशः।

भा०– अपर आह

दूसरे आचार्य कहते हैं–

वा०– डप्रकरणेऽन्येष्वपि दृश्यते।।५।।

भाष्यम्– डप्रकरणे अन्येष्वपि डो भवतीति वक्तव्यम्। तत्र[1] स्त्र्यगारगोऽश्नुते। अश्नुते यावदन्नाय ग्रामगः। ध्वंसते गुरुतल्पगः।।४८।।

---

१. पा०भे०– ततः स्त्र्यगारगोऽश्नुते। यावदन्नाय ग्रामगः। ध्वंसते गुरुतल्पगः।

अन्य उपपद रहते भी 'ड' प्रत्यय होता है– ऐसा कहना चाहिये। जैसे–स्त्र्यगारं गच्छति-स्त्र्यगारगोऽश्नुते (रोगानितिशेष:)। ग्रामं गच्छति– ग्रामग: यावदन्नायाश्नुते। (अन्न के लिये ग्राम जानेवाला जब तक (अन्न को) प्राप्त कर लेता है।) गुरुतल्पं गच्छति गुरुतल्पग: ध्वंसते।

आशिषि हन:।।३.२.४९।।

वा० – दारावाहनोऽणन्त्यस्य च ट: संज्ञायाम्।।१।।

भाष्यम्– दारावुपपद आङ्पूर्वाद्धन्तेरण्वक्तव्योऽन्त्यस्य च टो वक्तव्य:। दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनाम्।

दारु शब्द उपपद रहते आङ् पूर्वक 'हन-हिंसागत्यो:' धातु से 'अण्' कहना चाहिये। और 'हन्' धातु के अन्त्य को 'ट' आदेश भी कहना चाहिये। जैसे– दारु आहन्तीति दार्वाघाट:। अण् के परे रहते 'उपधावृद्धि' तथा 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' (अ० – ७.३.५४) से हकार को कवर्गादेश (घकार) व हन् के 'न' कार को प्रकृत वार्त्तिक से टकार होकर 'दार्वाघाट:' रूप सिद्ध हुआ है। (दारु को फोडने वाला)।

वा० – चारौ वा।।२।।

भा० – चारावुपपद आङ्पूर्वाद्धन्तेरण्वक्तव्योऽन्त्यस्य च टो वा वक्तव्य:। चार्वाघाट:, चार्वाघात:।

'चारु' शब्द उपपद रहते आङ् पूर्वक हन् धातु से अण् कहना चाहिये। और धातु के अन्त्य वर्ण को विकल्प से 'ट' आदेश कहना चाहिये। चार्वाहन्ति-चार्वाघाट:, चार्वाघात:।

वा० – कर्मणि समि च।।३।।

भा० – कर्मण्युपपदे सम्पूर्वाद्धन्तेरण्वक्तव्योऽन्त्यस्य च टो वा वक्तव्य:। वर्णसंघाट:, वर्णसंघात: पदसंघाट:, पदसंघात:।।४९।।

कोई भी कर्म के उपपद रहते सम् पूर्वक हन् धातु से अण् कहना चाहिये और धातु के अन्त्य को विकल्प से टकारादेश भी कहना चाहिये। वर्णान् संहन्ति = वर्णसंघाट:, वर्णसंघात:। पदं संहन्ति = पदसंघाट:, पदसंघात:। वर्णों का संघात करने वाला, पदों का संघात करनेवाला।

लक्षणे जायापत्योष्टक्।।३.२.५२।।

भाष्यम्– कथमिदं विज्ञायते– लक्षणे कर्त्तरीति, आहोस्विल्लक्षणवति कर्त्तरीति? किं चाऽत:? यदि विज्ञायते 'लक्षणे कर्त्तरी'ति सिद्धं जायाघ्नस्तिलकालक: पतिघ्नी पाणिरेखेति, जायघ्नो ब्राह्मण: पतिघ्नी वृषलीति न सिद्धयति। अथ विज्ञायते- लक्षणवति कर्त्तरीति, सिद्धं जायाघ्नो ब्राह्मण: पतिघ्नी वृषलीति, जायघ्नस्तिलकालक: पतिघ्नी पाणिरेखेति न सिद्धयति।।

सूत्रस्थ लक्षणपद का वास्तविक तात्पर्य जानने के लिये भाष्यकार विचारणा प्रस्तुत करते हैं– यहाँ 'लक्षणे' इस पद का अर्थ किस रूप में जाना जाता है; (लक्षणे कर्त्तरि) लक्षण कर्त्ता को कहने के लिये टक् होता है या (लक्षणवति कर्त्तरि) लक्षणवान् = लक्षणवाले कर्त्ता को कहने में। इससे कहाँ क्या भेद पड़ता है? यदि तो 'लक्षणे कर्त्तरि' ऐसा अर्थ जाना जाता है– जायां हन्ति जायाघ्नस्तिलकालक:, पतिं हन्ति पतिघ्नी पाणिरेखा– इस प्रकार के सब प्रयोग सिद्ध हो जायेंगे। किन्तु जायां हन्ति जायाघ्नो ब्राह्मण: और पतिं हन्ति पतिघ्नी वृषली ये सब सिद्ध नहीं होंगे। और दूसरी तरफ 'लक्षणे' इस पद का अर्थ 'लक्षणवति कर्त्तरि' ऐसा करते हैं तो जायाघ्नो ब्राह्मण:, पतिघ्नी वृषली ये सब सिद्ध हो जायेंगे पर जायाघ्नस्तिलकालक पतिघ्नी पाणिरेखा– ये सिद्ध नहीं होंगे।

भा०– अस्तु तर्हि 'लक्षणे कर्त्तरी'ति।।

अच्छा 'लक्षणे कर्त्तरि' इसी अर्थ को मान लेते हैं।

भा०– कथं 'जायाघ्नो ब्राह्मण:, पतिघ्नो वृषली'ति?

किन्तु उक्त अर्थ को मानने पर, अभी जो कहा– जायाघ्नो ब्राह्मण:, पतिघ्नी वृषली– ये प्रयोग कैसे सिद्ध होंगे? क्योंकि यहाँ यह कहा जा रहा है– ब्राह्मण या वृषली ऐसे लक्षण वाले हैं जो कि जाया (अपनी पत्नी) और अपने पति को मारने वाले हैं। जायाघ्न और पतिघ्नी का अभिधेयार्थ कोई लक्षण न होकर लक्षण वाला अभिप्रेत हैं।

भा०– अकारो मत्वर्थीय:। जायाघ्नोऽस्मिन्नस्तीति सोऽयं जायाघ्न इति।।

जायाघ्नो ब्राह्मण: पतिघ्नी वृषली-इत्यादि प्रयोग मत्वर्थीय अकार से सिद्ध कर लिये जायेंगे– 'जायाघ्न:'= जाया को मारने वाला लक्षण है जिसमें वह।

भा०– पतिघ्नी वृषलीति न सिद्ध्यति।।

किन्तु मत्वर्थीय अकार वाली प्रक्रिया का आश्रय लेने पर 'पतिघ्नी वृषली' तो सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि 'पतिघ्नाऽस्यांमस्तीति पतिघ्ना'– ऐसा शब्द बनेगा। ङीप् नहीं हो सकेगा।

भा०– अस्तु तर्हि 'लक्षणवति कर्त्तरी'ति।

अच्छा तो सूत्रस्थ लक्षणशब्द को ही मत्वर्थीय अकारप्रत्ययान्त मानकर लक्षणवान् कर्त्ता को कहने में 'टक्' होता है– ऐसा अर्थ कर लेते हैं।

भा०– कथं जायाघ्नस्तिलकालक: पतिघ्नी पाणिरेखेति?

किन्तु 'लक्षणवति कर्त्तरि' इस अर्थ में 'पतिघ्नी वृषली' की समस्या हट जायेगी। पर 'जायाघ्नस्तिलकालक:,

पतिघ्नी पाणिरेखा ये सब कैसे सिद्ध होंगे? क्योंकि 'तिलकालक' (शरीर के किसी विशेष स्थान पर होने वाला तिल) और पाणिरेखा (हाथ की कोई विशेष रेखा) साक्षात् लक्षण ही हैं, न कि लक्षणवाले।

भा०– 'अमनुष्यकर्त्तृके चे'त्येवं भविष्यति।

यह कोई समस्या नहीं! अगले ही सूत्र 'अमनुष्यकर्त्तृके च' से 'टक्' हो जायेगा। वहाँ, अमनुष्य = मनुष्यभिन्न कर्त्ता है, जिसका ऐसी हन् धातु से कर्म उपपद रहते 'टक्' कहा है। तिलकालक:, पाणिरेखा इत्यादि अमनुष्य कर्त्ता हैं ही। 'कृतघ्नोऽयं मनुष्य:'– यहाँ तो मनुष्य कर्त्ता है, फिर यह शब्द कैसे सिद्ध होगा? 'मूलविभुजादिगण' (भा०वा० ३.२.५-२) में पाठ मानकर सिद्ध कर लेंगे।

अमनुष्यकर्त्तृके च।।३.२.५३।।

भा०– अप्राणिकर्त्तृक इति वक्तव्यम्। इह मा भूत्-नगरघातो हस्ती।।

'अमनुष्यकर्त्तृके' सूत्र को 'अप्राणिकर्त्तृके'- ऐसा पढना चाहिये। जिससे, 'नगरं हन्ति नगरघातो हस्ती' यहाँ टक् न हो। जैसा सूत्र है, तदनुसार तो यहाँ भी हस्ती के अमनुष्य (मनुष्य से भिन्न) कर्त्ता होने से 'नगरघ्न:' ऐसा प्रयोग होना चाहिये।

भा०– यद्यप्राणिकर्त्तृक इत्युच्यते 'शशघ्नी शकुनी'ति न सिद्ध्यति।।

किन्तु यदि 'अप्राणिकर्त्तृके' ऐसा कहते हैं तो 'शशं हन्ति, शशघ्नी शकुनी[१]' यह सिद्ध नहीं होता। क्योंकि 'शकुनी'– यह प्राणिकर्त्ता है।

भा०– अस्तु तर्हि– 'अमनुष्यकर्त्तृक' इत्येव।।

अच्छा तो 'अमनुष्यकर्त्तृके' सूत्र को ही रखने देते हैं। क्योंकि जब 'अप्राणिकर्त्तृके'– ऐसे बदलाव करते हैं तो भी दोष से पीछा नहीं छुट पा रहा, तो हम विवश हैं।

भा०– कथं नगरघातो हस्ती?

किन्तु यथान्यास में नगरघातो हस्ती यह प्रयोग कैसे सिद्ध होगा?

भा०– 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (अ०– ३.३.११३) इत्येवमत्राऽण् भविष्यति।।५३।।

यहाँ 'कृत्यल्युटो०' बहुल वचन से अण् हो जायेगा।

---

१. शकुनि व शकुनी दोनों भी शब्द हैं।

पाणिघताडघौ शिल्पिनि।।३.२.५५।।

वा० – राजघ उपसंख्यानम्।।१।।

भाष्यम्– राजघ उपसंख्यानं कर्त्तव्यम्।। राजघ:।।५५।।

पाणिघ, ताडघ-इन शब्दों के साथ 'राजानं हन्ति राजघ:' इस शब्द का भी उपसंख्यान करना चाहिये। टक् प्रत्यय, घत्त्व और टिलोप निपातन हैं।

आढ्यसुभगस्थूलपलितनग्नान्धप्रियेषु च्व्यर्थेष्वच्वौ कृञ: करणे ख्युन्।।३.२.५६।।

वा० – ख्युनि च्विप्रतिषेधानर्थक्यं ल्युट्ख्युनोरविशेषात्।।१।।

भाष्यम्– ख्युनि च्विप्रतिषेधोऽनर्थक:।। किं कारणम्?

'ल्युट्ख्युनोरविशेषात्'। ख्युना मुक्ते ल्युटा भवितव्यं, न चैवाऽस्ति विशेषश्च्व्यन्त उपपदे ख्युनो वा ल्युटो वा। तदेव रूपं स एव च स्वर:।

च्वि प्रत्यय के अर्थ (अभूततद्भाव) में 'आढ्य' इत्यादि शब्द उपपद हों, पर वे च्व्यन्त न हों, तो 'कृ' धातु से करणकारक में ख्युन् होता है। यहाँ वार्त्तिककार का कहना है– ख्युन् प्रत्यय के विधान में च्वि का प्रतिषेध करना अर्थात् सूत्र में 'अच्वौ' ऐसा कहना अनर्थक है। क्यों-क्या कारण है? ल्युट् और ख्युन् में भेद न होने से। यदि हम विचार करें कि ख्युन् का प्रत्युदाहरण क्या होगा अर्थात् ख्युन् के अभाव में कौन सा प्रत्यय होवे, तो ल्युट् ही होना चाहिये। किन्तु च्व्यन्त उपपद रहते तो ख्युन और ल्युट् में कोई अन्तर पडता नहीं। वही तो रूप रहता है और वही स्वर[1]।

भा० – अयमस्ति विशेष:– ल्युटि सतीकारेण भवितव्यं, ख्युनि सति न भवितव्यम्।।

क्यों जी! यह कैसे कहते हो कि भेद नहीं है। यह है भेद– ल्युट् होने पर स्त्रीलिङ्ग में 'टिड्ढाणञ्०' (अ०– ४.१.१५) से ङीप् होगा, किन्तु ख्युन् होने पर नहीं होगा।

भा० – ख्युन्यपि सतीकारेण भवितव्यम्। एवं हि सौनागा: पठन्ति– 'नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुणतलुनानामुपसंख्यान'मिति।।

नहीं! ख्युन में भी ईकार ही होगा। सौनाग आचार्य ऐसा वचन पढते हैं– नञ्, स्नञ्, ईकक्, ख्युन्-प्रत्ययान्त तथा तरुण व तलुन शब्दों से ङीप् (ईकार) का उपसंख्यान करना चाहिये।

---

१. लित्स्वर (लिति- अ०– ६.१.१८७) और नित्स्वर (ञ्नित्यादिर्नित्यम्– ६.१.१९१) के द्वारा स्वर की एक ही स्थिति बनेगी।

भा० – अयं तर्हि विशेषः– ख्युनि सति नित्यसमासेन भवितव्यम्, उपपदसमासो हि नित्यसमास इति। ल्युटि सति न भवितव्यम्।

अच्छा तो यह विशेष है– ख्युन् होने पर नित्यसमास होगा। क्योंकि 'उपपदमतिङ्' (अ० – २.२.१९) से होने वाला उपपदसमास नित्यसमास है। और ल्युट् में यह नित्यसमास नहीं हो सकेगा।

भा० – ल्युट्यपि सति भवितव्यम्। गतिसमासोऽपि हि नित्यसमासः।

च्व्यन्तं च गतिसंज्ञं भवति।।

नहीं! ल्युट् में भी हो जायेगा। गतिसमास (कुगतिप्रादयः अ० – २.२.१८) भी तो नित्यसमास ही है। और च्व्यन्त, 'ऊर्यादिच्विडाचश्च' (अ० – १.४.६०) से गतिसंज्ञक तो होता ही है।

(वा० – मुमर्थं तु।।२।।[१])

भाष्यम्– मुमर्थं तर्हि प्रतिषेधो वक्तव्यः। ख्युनि सति मुमा भवितव्यम्, ल्युटि सति न भवितव्यम्।

अच्छा तो, मुम् आगम करने के लिये सूत्र में 'अच्वौ' ऐसा प्रतिषेध करना चाहिये। ख्युन् होने पर खित्प्रत्यय परे रहते 'अरुर्द्विषद०' से कहा गया मुम् हो जायेगा। किन्तु ल्युट् होने पर वह मुम् नहीं हो सकेगा।

वा० – मुमर्थमिति चेन्नाऽव्ययत्वात्।।३।।

भा० – मुमर्थमिति चेत्तन्न।। किं कारणम्? 'अव्ययत्वात्'। अनव्ययस्य मुमुच्यते, च्व्यन्तं चाऽव्ययसंज्ञं भवति।।

मुम् करने के लिये ख्युन् की बात कहते हो तो वह ठीक नहीं। क्या कारण है? अव्यय संज्ञा होने से। अनव्यय को मुम् कहा गया है। और च्व्यन्त तो 'ऊर्यादिच्वि०' से निपातसंज्ञक होने से 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' से अव्ययसंज्ञक हो जाता है।

वा० – उत्तरार्थं तु।।३।।

भाष्यम्– उत्तरार्थं तर्हि प्रतिषेधो वक्तव्यः। 'कर्त्तरि भुवः खिष्णुच् खुकञौ' (अ० – ३.२.५७) 'अच्वा' वित्येव। आढ्यीभविता।।

अच्छा तो उत्तरार्थ 'अच्वौ' यह प्रतिषेध कहना चाहिये। 'कर्त्तरि भुवः०' इस अगले ही सूत्र में, 'अच्वौ' पद की यहाँ से अनुवृत्ति पहुँचे। जिससे कि 'आढ्यीभविता' यहाँ च्व्यन्त से खिष्णुच्, खुकञ् न होवें, सामान्य तृच् ही होवे।

---

१. इदं वार्त्तिकं क्वचिन्न पठ्यते।

उत्तरत्र सूत्र में च्विप्रतिषेध (अच्वौ) के चरितार्थ होने से प्रकृतसूत्रस्थ 'अच्वौ' के प्रत्युदाहरणस्वरूप 'आढ्यीकरणम्' यहाँ अवश्य ही ल्युट् होना चाहिये। इसलिये जो काशिकावृत्ति में यह कहा गया है कि 'अच्वौ' प्रतिषेधसामर्थ्य से ख्युन् के अभाव में ल्युट् भी नहीं होता, वह भाष्यविरोध से अयुक्त ही ठहरता है। क्योंकि उत्तरार्थत्व प्रयोजन देते हुये इहार्थत्व के अभाव को भाष्यकार ने स्वीकार कर लिया है।

भाष्यम्– अथेदानीमनेन मुक्ते ताच्छीलिक इष्णुज्विधीयते, सोऽत्र कस्मान्न भवति?

अच्छा, अब यह विचारणीय है कि ख्युन् के अभाव होने पर 'भुवश्च' (अ०– ३.२.१३८) से तच्छीलादि अर्थों में, इष्णुच् विधान किया गया है, वह यहाँ क्यों नहीं होता?

भा०– रूढिशब्दप्रकारास्ताच्छीलिका:[१], न च रूढिशब्दा गतिभिर्विशेष्यन्ते। न हि भवति देवदत्त: = प्रदेवदत्त इति।।५६।।

ताच्छील्य अर्थ में सिद्ध किये गये शब्द रूढि शब्दों के सदृश होते हैं। और रूढिशब्द गतियों के द्वारा विशेषित नहीं किये जाते। 'देवदत्त:' इस रूढिशब्द को 'प्र' के द्वारा विशेषित करके 'प्रदेवदत्त:' ऐसा नहीं बोला जाता। अर्थात् 'प्र' शब्द बोधित प्रकर्ष अर्थ का देव शब्दनिष्ठ 'देवन' क्रिया में और दत्तशब्दनिष्ठ दानक्रिया में अन्वय नहीं होता। भाव यह है– जैसे रूढिशब्दों में क्रिया का केवल व्युत्पत्यर्थ आश्रयण किया जाता है, गच्छतीति गौ:, इस कारण गमनक्रियारहित को भी 'गो' शब्द से अभिहित किया जाता है तथा गोपिण्ड से अन्य अर्थ चाहे वह गमनविशिष्ट भी क्यों न हो– 'गो' नहीं होता। इसी प्रकार ताच्छीलिक शब्द भी क्रियाविषयक ताच्छील्य अर्थ का उपादान करके क्रियावेश के अभाव में भी प्रयुक्त होते हैं। सार यह है– अभिधानस्वाभाव्य से किन्हीं रूढ (घड़े-घड़ाये) प्रयोगों में ही गतिसंबन्ध होता है, सब में नहीं।

कर्त्तरि भुव: खिष्णुच्खुकञौ।।३.२.५७।।

भाष्यम्– किमर्थं खिष्णुजिकारादि: क्रियते, न ख्स्नुरित्येवोच्येत[२]? तत्रायमप्यर्थ:– स्वरार्थश्चकारो न कर्त्तव्यो भवति।।

'भू' धातु से विहित खिष्णुच् प्रत्यय पर शङ्किता का आक्षेप है– खिष्णुच् को इकारादि क्यों किया गया है? 'ख्स्नु इतना ही क्यों नहीं कर देते? उससे यह भी लाभ होगा कि स्वर के लिये चकार नहीं करना पड़ता।

१. 'प्रकार' शब्द का ग्रहण सादृश्य के लिये है। रूढिशब्दों का गति के साथ संबन्ध किसी का भी नहीं होता, किन्तु ताच्छीलिकों में तो किसी-किसी का हो भी जाता है। जैसे– आगामुक:, प्रवर्षुक:। किन्तु 'कामुक:' के साथ गति का संबन्ध होकर 'प्रकामुक:' नहीं होगा।

२. 'क्स्नु' रिति पा०। 'न च क्ष्णु'रिति नागेशाऽभिमत: पाठ:।

भा०– केनेदानीमिकारादित्वं क्रियते?

किन्तु यदि 'ख्स्नु' निर्देश किया जाता है तो 'ख्स्नु' के खकार की तो इत्संज्ञा होकर लोप हो जायेगा। पुन: इसका इकारादित्व कैसे बन सकेगा?

वा०– इष्णुच इकारादित्वमुदात्तत्वात्कृतं[१] भुव:।।१।।

भाष्यम्– भवतेरुदात्तत्वादिकारादित्वं भविष्यति।।

'भू' धातु उदात्त है, उसके उदात्त होने से इट् हो जायेगा। यदि अनुदात्त होती तब तो 'एकाच उपदेशे०' (अ०– ७.२.१०) इट् निषेध होने से समस्या बन जाती, किन्तु अब तो क्या समस्या है?

भा०– इदं तर्हि प्रयोजनं– खिदयं क्रियते, तत्र चर्त्वे कृते सन्देह: स्यात् किद्वा, खिद्वेति।।

अच्छा तो, यह प्रयोजन है– खिष्णुच् को खित् किया गया है, सो इकार के अभाव में चर्त्व कर लेने पर सन्देह होगा कि यह कित् प्रत्यय है या खित्?

भा०– सन्देहमात्रमेतद्भवति, सर्वसन्देहेषु चेदमुपतिष्ठते– 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षण'मिति। खिदिति व्याख्यास्याम:।।

यह तो कोई बात नहीं है। यह केवल सन्देहमात्र ही तो है। और जहाँ-जहाँ भी सन्देह होता है, वहाँ-वहाँ व्याख्यानतो विशेष:' यह परिभाषा उपस्थित हो जाती है। सो 'खित्' है– ऐसा व्याख्यान कर देंगे।

वा०– नञस्तु[२] स्वरसिद्ध्यर्थमिकारादित्वमिष्णुच:।।२।।

भाष्यम्– इदं तर्हि प्रयोजनं– 'कृत्योकेष्णुच्चार्वादयश्च' (अ०– ६.२.१६०) इत्येष स्वरो यथा स्यात्।।

अच्छा फिर, यह प्रयोजन है– नञ् से उत्तर स्वरसिद्धि के लिये इष्णुच् का इकारादित्व किया गया है। जिससे 'कृत्योकेष्णुच्०' सूत्रविहित अन्तोदात्त स्वर सिद्ध हो जाये। अन्यथा 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ०' (अ०– ६.२.२) से पूर्वपद प्रकृति स्वर होता। अब तो 'अनाढ्य भविष्णु:' यहाँ अन्तोदात्त होता है।

भा०– एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। अयमपीटि कृते षत्वे णत्वे चेष्णुजेव भविष्यति।।

यह भी प्रयोजन नहीं है। यह भी इट् कर लेने पर षत्व व णत्व होकर 'इष्णुच्' ही हो जायेगा।

---

१. भुव उदात्तत्वाद् इष्णुच इकारदित्वं कृतम्। कृतम् = सिद्धमित्यर्थ:।

२. 'नञ' इति पञ्चमी। नञ उत्तरस्येत्यर्थ:।

इस भाष्य का तात्पर्य यह है– क्स्नुच् प्रत्यय का चकार सामान्य ग्रहणार्थ होकर चकारोच्चारण से ही इष्णुच् व ख्स्नुच् (क्स्नुच्) दोनों का ग्रहण करने में लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा (पारि० ९२) व तदनुबन्धकपरिभाषा (पारि० ७२) की बाधा होने पर ख्ष्णुच् करने से षत्व-णत्व के असिद्ध न होने से इकारोच्चारण करना व्यर्थ है। पर यह मान्यपक्ष नहीं है, आगे इसका खण्डन कर देंगे। यदि तो इकारसहित खिष्णुच् करते हैं तब तो इकारोच्चारणसामर्थ्य से तदनुबन्धकपरिभाषा का आश्रयण नहीं किया जायेगा।

भा०– न सिद्ध्यति। 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव'ति।

अथवाऽसिद्धं खल्वपि षत्वं, तस्याऽसिद्धत्वादिस्नुजेव भवति।

इष्णुच इकारादित्वमुदात्तत्वात्कृतं भुवः।

नञस्तु स्वरसिद्ध्यर्थमिकारादित्वमिष्णुचः।।

नहीं सिद्ध होता। 'लक्षणप्रतिपदोक्त में प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण होता है' इस नियम से प्रतिपदोक्त इष्णुच् का ही ग्रहण होगा– लाक्षणिक इष्णुच् का नहीं। और षत्व (व णत्व) असिद्ध भी है। उसके असिद्ध होने से (यह) इस्नुच् ही रहेगा।

नागेश तो इस भाष्य को एकदेशी की उक्ति कहता है।

स्पृशोऽनुदके क्विन्।।३.२.५८।।

भा०– किमर्थो नकारः?

क्विन् में नकार किस प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये है?

भा०– स्वरार्थः। 'ञ्नित्या'त्याद्युदात्तत्वं यथा स्यात्।।

स्वर को उद्देश्य करके नकार है। जिससे 'ञ्नित्यादिः०' (अ०– ६.१.१९१) से आद्युदात्त हो जावे।

भाष्यम्– नैतदस्ति प्रयोजनम्। एकाऽचोऽयं विधीयते, तत्र नाऽर्थः स्वरार्थेन नकारेणाऽनुबन्धेन। धातुस्वरेणैव सिद्धम्।।

नहीं! यह कोई प्रयोजन नहीं है। यह क्विन् एकाच् धातु से विधान किया जा रहा है। सो इसके लिये स्वरार्थ नकारानुबन्ध का कोई प्रयोजन नहीं है। धातुस्वर (धातोः, ६.१.१५६) से ही इष्ट उदात्तस्वर सिद्ध हो जायेगा।

भा०– यस्तर्ह्यनेकाज् 'दधृ'गिति?

अच्छा जो अनेकाच् क्विनन्त शब्दरूप होगा जैसे कि 'दधृक्' वहाँ कैसे सिद्ध होगा?

भाष्यम्– वक्ष्यत्येतत्– 'धृषेर्द्विवचनमन्तोदात्तत्वं च निपात्यत' इति।।

उसके लिये तो आचार्य वार्त्तिककार स्वयं ही कहेंगे कि 'धृष्' धातु को द्विर्वचन तथा अन्तोदात्तत्व निपातन किया जा रहा है।

भा०– विशेषणार्थस्तर्हि।। क्व विशेषणाऽर्थेनाऽर्थः? 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (अ०– ८.२.६२) इति। 'क्विन्प्रत्ययस्य कु'रित्युच्माने सन्देहः स्यात् क्विर्वैष प्रत्ययः क्विब्वेति।।

अच्छा तो, विशेषणार्थ है। कहाँ पर विशेषणार्थ णकार से प्रयोजन सिद्ध होता है? 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' यहाँ पर। 'क्विप्रत्ययस्य कुः' ऐसा सूत्र बनाने पर सन्देह होगा कि यह सूत्रनिर्देश एक पकारवाला है, या दो पकारवाला। अर्थात् 'क्वि' प्रत्यय है या 'क्विप्' प्रत्यय।

भा०– सन्देहमात्रमेतद्भवति, सर्वसन्देहेषु चेदमुपतिष्ठते 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षण' मिति, 'क्वि प्रत्ययस्येति व्याख्यास्यामः'।।५८।।

यह तो केवल सन्देहमात्र है। सभी सन्देहों में यह वचन उपस्थित हो जाया करता है कि 'व्याख्यान से विशेष तथ्य का निश्चय कर लेना चाहिये, सन्देहमात्र से किसी नियमरूप लक्षण को अलक्षण (दुष्ट लक्षण)' नहीं घोषित करना चाहिये। 'क्विप्रत्ययस्य' ऐसा व्याख्यान कर लेंगे।

वस्तुतः यह प्रोढिमात्र है, क्योंकि 'व्याख्यान-परिभाषा' का आश्रय लेकर निर्णायकप्रत्याख्यान को मान लेने पर तो एकमात्र 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (अ०– ६.३.१०८) यही सूत्र स्थित रहेगा।

'क्वि प्रत्ययस्य कुः' कहने पर क्विप् का भी ग्रहण होने लगेगा तो 'क्वि' के द्वारा व्याख्यान[१] से 'क्वि' का ही ग्रहण किया जायेगा न कि 'क्विप्' का।

ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च।।३.२.५९।।

भाष्यम्– 'दधृ'गिति किं निपात्यते?

'दधृक्' इस शब्द में क्या निपातन किया जा रहा है?

वा०– धृषेर्द्विवचनमन्तोदात्तत्वं च।।१।।

भा०– धृषेर्द्विवचनमन्तोदात्तत्वं च निपात्यते।।५९।।

'धृष्' धातु को द्विर्वचन और अन्तोदात्तत्व निपातन है क्विन् में नकार के होने पर यह उक्त अन्तोदात्तत्व निपातन समझना चाहिये।।

१. तदनुबन्धकपरिभाषारूप व्याख्यान से।

त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च।।३.२.६०।।

भाष्यम्– किमर्थो ञकार:?

'कञ्' प्रत्यय में 'ञकार' किस प्रयोजन से है? ञकार केवल स्वर के लिये ही है या अन्य भी कोई प्रयोजन है? इस दृष्टि से विचार किया जा रहा है।

भा०– स्वरार्थ:। 'ञ्निती'त्याद्युदात्तत्वं यथा स्यात्।।

स्वर के लिये है। 'ञ्नित्यादि:०' से आद्युदात्तत्व हो जावे।

भा०– नैतदस्ति प्रयोजनम्। नकारेणाऽप्येष स्वर: सिद्ध:।।

नहीं! यह तो कोई प्रयोजन नहीं है। यदि केवल स्वरमात्र ही प्रयोजन है, तब तो वह नकार के द्वारा ही सिद्ध है।

भा०– विशेषणार्थस्तर्हि भविष्यति।। क्व विशेषणाऽर्थेनाऽर्थ:? 'कञ्क्वर'बिति। 'कन्क्वर'बित्युच्यमाने 'याविके[1]'त्यत्रापि प्रसज्येत।।

अच्छा तो विशेषणार्थ हो जायेगा। विशेषणार्थ 'ञकार' से कहाँ प्रयोजन है? ङीप् प्रत्यय करने के लिये 'टिड्ढाणञ्' (अ०– ४.१.१५) सूत्र में जो कि 'कञ्क्वरप्' इस रूप में पढा है। 'कन्क्वरप्' ऐसा कहेंगे तो 'याविका'– यहाँ भी कन्-प्रत्ययान्त 'यावक' शब्द से ङीप् होने लगेगा। इस प्रकार ञकार को विशेषणार्थ मानने पर उसी से स्वर भी सिद्ध हो जायेगा।

वा०– दृशे: समानान्ययोश्चोपसंख्यानम्[2]।।१।।

भा०– दृशे: समानाऽन्ययोश्चोपसंख्यानं कर्त्तव्यम्। सदृक्, सदृश:। अन्यादृक्, अन्यादृश:।।

समान और अन्य शब्द उपपद रहते भी दृश् धातु से क्विन् और कञ् प्रत्यय होता है– ऐसा उपसंख्यान करना चाहिये। सदृक्, सदृश:। अन्यादृक्, अन्यादृश:।

---

१. 'याचितिके'ति पाठभेद:। 'याविके'त्यत्र तु 'यावादिभ्य: कन्' (अ०– ५.२.२९) इत्यनेन कन्।

२. 'उपसंख्यान'मित्ति क्वाचित्कम्।

वा०– कृदर्थानुपपत्तिस्तु।।२।।

भाष्यम्– कृदर्थस्तु नोपपद्यते। दृशेः कर्त्तरि प्राप्नोति।।

कृदर्थ तो यहाँ उपपन्न नहीं हो पाता। दृश् धातु के (दर्शन क्रिया के) कर्त्ता को कहने के लिये प्रत्यय प्राप्त होता है।

भाव यह है–प्रकृत में दृश् धातु का (दर्शन क्रिया) कर्त्ता जो कि कृत्प्रत्यय (कञ्-क्विन्) का अर्थ है वह तादृशादिशब्दों का वाच्य नहीं होता। क्योंकि तादृशादि शब्द सदृशलक्षण अर्थ को कहते हैं, न कि दर्शनक्रिया के कर्त्ता को।

वा०– इवार्थे तु तद्धितः।।३।।

भाष्यम्– इवार्थे त्त्वयं तद्धितो द्रष्टव्यः। स इवायं तादृक्, तादृशः, अन्य इवायम् अन्यादृक् अन्यादृश इति।

यदि 'क' प्रत्यय के द्वारा तादृगादिशब्द सिद्ध करना युक्त नहीं है, तो किस रूप में उसको सिद्ध करना चाहिये? इवार्थ में यह तद्धित जानना चाहिये। स इवायं तादृक् = जैसा वह है वैसा ही यह है।

इसका भाव है– जैसे 'दृग्दृशवतुषु' (अ०– ६.३.८८) सूत्रपठित 'दृक्षे चेति' इस वार्त्तिकबल से अनुक्त होते हुये भी 'क्स' प्रत्यय की ऊहा कर ली जाती है तद्वत् इवाधिकार तद्धित में त्यदादि शब्दों से 'दृग्-दृशट्-दृक्ष[१]' प्रत्ययों की कल्पना कर लेनी चाहिये। दृशट् प्रत्यय के टित् होने से ही 'टिड्ढाणञ्०' से ङीप् भी सिद्ध हो जायेगा इस प्रकार ङीप् करने के लिये उस सूत्र में कञ् ग्रहण भी नहीं करना पड़ेगा– यह लाघव है।

भाष्यम्– अथवा युक्त एवात्र[२] कृदर्थः। कर्मकर्त्ताऽयम्। तमिवेमं पश्यति जनाः, सोऽयं स इव दृश्यमानस्तमिवात्मानं पश्यति – तादृक्। अन्यमिवेमं पश्यन्ति जनाः, सोऽयमन्य इव दृश्यमानोऽन्यमिवात्मानं पश्यति– अन्यादृगिति।।६०।।

अथवा यहाँ, यह जो कृदर्थ है– यह युक्त ही है। सौकर्यवशात् कर्म की ही कर्त्तृत्वविवक्षा में, कर्त्ता में ही प्रत्यय किया गया है। शास्त्रीय भाषा में इसे कर्मकर्त्ता कहते हैं। उसके समान इसे लोग देखते हैं, वह यह उसके समान लोगों के द्वारा देखा जाता हुआ, उसके समान अपने आप को लोगों को दिखा जाता हुआ, उसके समान अपने आप को लोगों को दिखा रहा है। इसी दिशा से दूसरा उदाहरण भी द्रष्टव्य है। प्रकरणप्राप्त आभिजात्यादिगुणविशिष्टतया किसी अन्य के समान लोग इसे देखते हैं, वह यह लोगों के द्वारा अन्य की भाँति देखा जाता हुआ, अन्य के समान ही अपने को दिखा रहा है।

---

१. जैसे कि 'संप्रोदश्च कटच्' (अ०– ५.२.२९) सूत्रपर 'गोयुगच्' इत्यादि प्रत्यय कहे गये हैं।

२. 'एवाऽयं'– पाठभेदः।

'तमिवेमं पश्यन्ति जना:' से 'तमिवात्मानं पश्यति'– यहाँ प्रेरणा– अर्थ अधिक होने पर भी अन्तर्भावितण्यर्थ होने से णिच् नहीं हुआ। 'तमिवात्मानं पश्यति' का अर्थ है; तमिवात्मानं जनान् दर्शयति। 'स इव दृश्यमान:' (जनैरिति शेष:) इस पूर्ववाक्य में जो कर्म है वही 'तमिवात्मानं पश्यति' (जनान् दर्शयति) इस उत्तरवाक्य में 'पश्यति' (दर्शयति) क्रिया का कर्त्ता बन गया है। यहाँ 'दृश्' धातु में प्रेरणारूप अर्थ के अधिक हो जाने से यह धातु अनालोचन अर्थ में विद्यमान है। इस सूत्र में 'कर्मणि' यह उपपद अनुवर्त्तमान ही है। इस हेतु से धातु को निवृत्तप्रेषण करके 'स इव पश्यति' ऐसा विग्रह अनुचित है अत: भाष्य में 'तमिवात्मानं पश्यति' ऐसा विग्रह दिखाया गया है।

सत्सूद्विषद्रुहदुहयुजविदभिदच्छिदजिनीराजामुपसर्गेऽपि क्विप्।।३.२.६१।।

वा०– सदादिषु सुब्ग्रहणम्।।१।।

भाष्यम्– सदादिषु सुब्ग्रहणं कर्त्तव्यम्। होता वेदिषत्। अतिथिर्दुरोणसत्।।

सदादि धातुओं में कुछ धातुओं के सकर्मक होने से 'कर्मण्यण्' (अ०- ३.२.१) से 'कर्मणि' पद का अधिकार होने के कारण कर्म उपपद प्राप्त होता है– इस बात को हृद्गत कर वार्त्तिककार कहता है– 'सदादि धातुओं के विषय में सुप्[१] का ग्रहण करना चाहिये, ताकि सुबन्तमात्र के उपपद रहते क्विप् प्रत्यय हो जावे।' वेद्यां सीदतीति वेदिषत्। 'पूर्वपदात्' (अ०- ८.३.१०६) से षत्व हो गया है। दुरोणे सीदतीति दुरोणसत्। दुरोण = गृह।

यहाँ इस सूत्र में 'उपसर्गेऽपि' का ग्रहण 'आतोऽनुपसर्गे क:' (अ०– ३.२.३) सूत्र से अनुवर्त्तमान 'अनुपसर्गे' अग्रिम सूत्रों में निवृत्तिद्योतन के लिये है। भाष्यकार ने तो इस ज्ञापक के द्वारा ही सुब् ग्रहण को उपसर्गेतर सुप् परक व्याख्यान करके 'अनुपसर्गे' पद का अनधिकार द्योतित किया है। उसका फल है– ज्ञापकसिद्ध के असार्वत्रिक होने से 'प्रष्ठ:' इत्यादि शब्द सिद्ध हो जायेंगे।

भाष्यम्– न तर्हीदानीमुपसर्गेऽपीति वक्तव्यम्?

तो क्या अब 'उपसर्गेऽपि' यह नहीं कहना चाहिये? क्योंकि सुप् कहने से उपसर्गों का समावेश स्वत: ही हो जायेगा।

भा०– वक्तव्यं च।। किं प्रयोजनम्? 'ज्ञापकार्थम्'।। किं ज्ञाप्यम्? एतज्ज्ञापयत्याचार्योऽ'ऽन्यत्र सुब्ग्रहणे उपसर्गग्रहणं न भवती'ति।। किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्? वद: सुप्यनुपसर्गग्रहणं चोदितं, तन्न वक्तव्यं भवति।।६१।।

---

१. सुब्ग्रहणं कर्मणीत्यस्य निवृत्तिद्योतनायेति बोध्यम्।

नहीं! 'उपसर्गेऽपि' यह भी कहना चाहिये। किस प्रयोजन के लिये? ज्ञापक के लिये। क्या है वह ज्ञाप्य (ज्ञापनीय विषय)? आचार्य यह जतलाना चाहते हैं– अन्यत्र सुप् के ग्रहण से उपसर्ग का ग्रहण नहीं होता। इस ज्ञापन करने का प्रयोजन क्या है? 'वदः सुपि क्यप् च' (अ०– ३.१.१०६) सुत्र में वार्त्तिककार ने अनुपसर्गग्रहण करने के लिये कहा है। अर्थात् 'सुपि' इस पद के द्वारा उपसर्गभिन्न सुबन्तों का ही ग्रहण करना चाहिये– ऐसा कहा है। अब इस ज्ञापक के होने पर वह नहीं कहना पड़ेगा।

अदोऽनन्ने।।३.२.६८।। क्रव्ये च।।३.२.६९।।

भाष्यम्– किमर्थमिदमुच्यते, नाऽदोऽनन्न इत्येव सिद्धम्?

'क्रव्ये च' यह सूत्र किसलिये बनाया जा रहा है? क्या 'अदोऽनन्ने' इसी से सिद्ध नहीं हो जायेगा?

भा०– न सिद्ध्यति। छन्दसीति वर्त्तते। भाषार्थोऽयमारम्भः।।

नहीं सिद्ध होगा। 'अदोऽनन्ने' सूत्र में 'छन्दसि' इसकी अनुवृत्ति आ रही है। और यह 'क्रव्ये च' भाषा के लिये आरम्भ है।

भा०– पूर्वस्मिन्नेव योगे छन्दोग्रहणं निवृत्तम्।। तच्चाऽवश्यं निवर्त्यम्, आमादित्येवमर्थम्[1]।।

नहीं! 'छन्दोग्रहण' तो पूर्वसूत्र (अदोऽनन्ने) में ही निवृत्त हो गया। और उसको तो उस सूत्र में, आममत्ति-आमात्, सस्यमत्ति सस्यात् इत्यादि लौकिक प्रयोगों की सिद्धि के लिये अवश्य ही निवृत्त करना होगा।

भा०– अत उत्तरं पठति–

इस उपर्युक्त भूमिका को ध्यान में रखते हुये वार्त्तिककार अपनी अग्रिम बात कहते हैं–

वा०– अदोऽनन्ने क्रव्येग्रहणं वाऽसरूपनिवृत्त्यर्थम्।। १।।

भाष्यम्– अदोऽनन्ने क्रव्येग्रहणं क्रियते वाऽसरूपो मा भूदिति।।६८,६९।।

'अदोऽनन्ने' करने पर भी जो 'क्रव्ये च' सूत्र बना रहे हैं, वह 'वाऽसरूप' निवृत्ति के लिये है। 'क्रव्यमत्ति क्रव्यादः[2]' यहाँ 'क्रव्ये च' सूत्रवचनसामर्थ्य से वाऽसरूपविधि से अण् नहीं होगा।।६८,६९।।

---

१. 'आमात्सस्यादित्येवमर्थ'मिति पाठभेदः।

२. आममांसभक्षणकर्त्तेत्यर्थः।

मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो ण्विन्।।३.२.७१।।

वा०– श्वेतवहादीनां डस्।।१।।

भाष्यम्– श्वेतवहादीनां डस्वक्तव्यः। श्वेतवा इन्द्रः।।

'श्वेतवहादीनाम्' यह अनन्तरयोग में षष्ठी है। श्वेतवहादि के अनन्तर ण्विन् प्रत्यय का अपवाद डस् प्रत्यय कहना चाहिये। श्वेता एनं वहन्तीति श्वेतवा इन्द्रः। श्वेत (अश्व) (निर्मल इन्द्रियाँ) इस इन्द्ररूप जीवात्मा को लक्ष्य पर पहुँचाते हैं)।

श्वेतवह्+डस्[1] = श्वेतव्+अस् = श्वेतवस्+सु। अब 'अत्वन्तस्य०' (६.४.१४) से उपधादीर्घ तथा हल्ङ्यादि लोप होकर सकार को विसर्जनीय– श्वेतवाः।

वा०– पदस्य च।।२।।

भाष्यम्– पदस्येति[2] च वक्तव्यम्। इह मा भूत्– श्वेतवाहौ, श्वेतवाह इति।

'डस्' उत्पत्तिवेला में तो पदत्व संभव नहीं, अतः 'पदस्य च' इस वार्त्तिक का भाव यह है– जहाँ डसन्तशब्द रूप का पदत्व होगा वहाँ तो डस् प्रत्यय कहना चाहिये। और अन्यत्र ण्विन् ही। कुछ व्याख्याकार प्रकृतवार्त्तिक का यह अर्थ करते हैं– पदसंबन्धी ण्विन् के स्थान में डस् कहना चाहिये।

भा०– किं प्रयोजनम्?

किस प्रयोजन के लिये डस् का विधान किया जा रहा है?

वा०– र्वर्थम्।।३।।

भाष्यम्– रुर्यथा स्यात्।।

जिससे कि 'ससजुषो रुः' (अ०– ८.२.६६) से रु हो जाये।

भा०– क्रियते र्वर्थं निपातनम्। 'अवयाःश्वेतवाः पुरोडाश्च' (अ०- ८.२.६७) इति।। आतश्च र्वर्थम्, उक्थशास्शब्दस्य सामान्येन रुः सिद्धो न तस्य निपातनं क्रियते।। तन्न वक्तव्यम् भवति।।

'रु' करने के लिये तो 'अवयाः श्वेतवाः' सूत्र से आचार्य ने निपातन कर दिया है। निश्चित ही 'रु' के लिये ही वह निपातन किया है। क्योंकि 'उक्थशस्' शब्द को सामान्य से रु सिद्ध था। अतः उसे निपातन नहीं किया।। 'डस्' के द्वारा ही सिद्ध होने से वह निपातन नहीं करना पडेगा।

---

१. 'डित्यभस्याप्यनुबन्धकरणसामर्थ्यात्०' (भा०वा० ६.४.१४३) से 'वह्' के टि भाग का लोप।

२. पदस्येत्यस्य तदन्ते (डसन्ते) पदत्वस्य संभावनायामित्यर्थः।

भा०–अवश्यं तद्वक्तव्यं, दीर्घार्थम्।

'डस्' का आरम्भ करने पर भी वह निपातन तो दीर्घ के लिये अवश्य ही करना चाहिये।

भा०– नैतदस्ति प्रयोजनम्। सिद्धमत्र दीर्घत्वम्– 'अत्वसन्तस्य चाधातो' (अ०– ६.४.१४) रिति।

नहीं! यह तो कोई प्रयोजन नहीं है। दीर्घत्व तो यहाँ 'अत्वसन्तस्य०' सूत्र से ही सिद्ध है।

भा०– यत्र तेन न सिद्ध्यति तदर्थम्।। क्व च तेन न सिद्ध्यति? संबुद्धौ। 'हे श्वेतवा' इति।।

जहाँ उससे सिद्ध नहीं होता, उसके लिये दीर्घत्व निपातन आवश्यक है। उससे कहाँ सिद्ध नहीं होता? उस सूत्र में ऊपर से 'असंबुद्धौ' की अनुवृत्ति होने से 'हे श्वेतवा:' यहाँ संबुद्धि में उससे सिद्ध नहीं होता।

भा०– न तर्हीदानीं डस्वक्तव्य:?

तो क्या अब ऐसी स्थिति में डस् नहीं कहना चाहिये?

भा०– वक्तव्यश्च।। किं प्रयोजनम्? उत्वार्थम्। श्वेतवोभ्याम्, श्वेतवोभि:।।

नहीं-नहीं, डस् भी अवश्य ही कहना चाहिये।। किस प्रयोजन के लिये? उत्व करने के लिये। श्वेतवोभ्याम् श्वेतवोभि: इत्यादि में उत्व हो जाये।

अवया:, श्वेतवा:– इत्यादि रूप में प्रथमान्त पदों का ही निपातन किया गया है, इस कारण 'डस्' के अभाव में श्वेतवोभ्याम् इत्यादि रूप नहीं बन पायेंगे। पदमात्र विषयक भी यदि निपातन माना जाता है तो भी अकार से उत्तर विधीयमान उत्व आकार से उत्तर नहीं हो पायेगा। इसलिये संबुद्ध्यर्थ निपातन भी करना चाहिये और डस् भी उत्व के लिये कहना चाहिये। अर्थात् 'अवया:' इत्यादि की भाँति 'उक्थशा:' यह भी संबुद्ध्यर्थ निपातन करना चाहिये और 'उक्थशोभ्याम्' इत्यादि सिद्धि के लिये डस् भी कहना चाहिये।७१ ।।

स्थ: क च।।३.२.७७।।

भाष्यम्– किमर्थं स्थ: कक्विपावुच्येते? न क्विप्सिद्धो'ऽन्येभ्योऽपि दृश्यते' (अ०– ३.२.१७८) इति, कश्च 'आतोऽनुपसर्गे क:' (अ०– ३.२.३) इति?

किस प्रयोजन के लिये 'स्था' धातु से 'क' और 'क्विप्' कहे जा रहे हैं? क्या 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' सूत्र से तो क्विप्, और 'आतोऽनुपसर्गे क:' से 'क' सिद्ध नहीं है?

भा०– न सिद्ध्यति। विशेषविहित: क:, सामान्यविहितं क्विपं बाधेत।

नहीं सिद्ध होगा। विशेषविहित 'क' सामान्यविहित क्विप् को बाधने लगेगा।

भा०– वाऽसरूपेण क्विबपि भविष्यति।

'क' क्विप् को बाध भी ले, तो कोई बात नहीं। वाऽसरूपविधि से क्विप् भी हो जायेगा।

भा०– इदं तर्हि– शंस्थः, शंस्थाः।

अच्छा तो यह प्रयोजन है कि शंस्थः तथा शंस्थाः– ये प्रयोग सिद्ध हो जायें। 'शंस्थाः'– यहाँ क्विप् में 'घुमास्था०' (अ०– ६.४.६६) से प्रत्ययलक्षण से प्राप्त ईत्व, 'ईत्वमवकारादौ' (वा) इसी सूत्र पर पठित वार्त्तिक से अथवा भाष्यकारवचनप्रामाण्य से नहीं होगा।

भा०– उक्तमेतत्– 'शमि संज्ञायां धातुग्रहणं कृञो हेत्वादिषु टप्रतिषेधार्थ'मिति। स यथैवाऽच् टं बाधते एवं कक्विपावपि बाधेत।।७७।।

'शमि धातोः संज्ञायाम्' (अ०– ३.२.१४) सूत्र पर कहा गया है कि 'कृञ्' से हेत्वादि अर्थों में टप्रतिषेध करने के लिये धातुग्रहण है। सो उस सूत्र से विहित 'अच्' जैसे 'ट' को बाधता है उसी प्रकार (बाध्यसामान्यचिन्ता से) 'क' व 'क्विप्' को भी वह (अच्) बाधने लगेगा।

भाव यह है– यदि अच् के द्वारा 'क' की बाधा हो जाती है तो 'शंस्थः' यह सिद्ध नहीं होगा, उसके लिये 'स्था' से 'क' का विधान करना ही चाहिये। इस प्रकार क, अच् का ही बाधक ठहरेगा, न कि क्विप् का। 'क' और 'क्विप्' की संप्रधारणा में तो परत्व से क्विप् 'क' को नित्य ही बाधने लगेगा। सो उसकी नित्यबाधकता को रोकने[१] के लिये क्विप् का भी विधान करना चाहिये।।७७।।

सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये।।३.२.७८।।

भा०– सुपीति वर्त्तमाने पुनः सुब्ग्रहणं किमर्थम्?

'सुपि स्थः' (अ०– ३.२.४) सूत्र से जब इस पूरे प्रकरण में सुप् की अनुवृत्ति आ रही है तो यहाँ पुनः सुब्ग्रहण किसलिये है?

भाष्यम्– अनुपसर्ग इत्येवं तदभूत्। इदं सुब्मात्रे यथा स्यात्प्रत्यासारिण्य, उदासारिण्य इति।।

वह सुप् ग्रहण उपसर्गभिन्न सुप् के रूप में था। यह सुप्मात्र में समझा जावे– जैसे कि; प्रति व आङ् तथा उत् व आङ् सुबन्त उपपद रहते 'सृ' धातु से णिनि होकर प्रत्यासारिणी व उदासारिणी शब्द सिद्ध हो गये।

१. क्योंकि पाक्षिक बाधा तो 'वाऽसरूपो०' से सिद्ध ही है।

'सत्सूद्विष०' (अ०– ३.२.६१) सूत्र में 'उपसर्गेऽपि' ग्रहण से आचार्य का यह अभिप्राय निकाला गया था कि सुब् ग्रहण से उपसर्गग्रहण नहीं होता। इसी कारण यहाँ यह कहा गया कि– 'अनुपसर्ग इत्येवंतदभूद् इदं सुप्मात्रे यथा स्यात्'।

वा०– णिन्विधौ साधुकारिण्युपसंख्यानम्।।१।।

भाष्यम्– णिन्विधौ साधुकारिण्युपसंख्यानं कर्त्तव्यम्। साधुकारी, साधुदायी।

णिनि प्रत्यय की विधि में साधुकारी अर्थ में उपसंख्यान करना चाहिये। साधु करोति-साधुकारी। साधु ददाति-साधुदायी। यह अताच्छील्य के लिये है। अच्छा करने अथवा अच्छी प्रकार देने का स्वभाव तो नहीं है पर फिर भी जो अच्छा करता है या अच्छा देता है वह कहा जाता है साधुकारी या साधुदायी। 'साधुकारिणि' यहाँ 'कृ' सामान्यार्थक है– इससे अन्य धात्वर्थो का भी संग्रह हो जायेगा, जैसे कि साधुदायी, साधुशायी, साधुभाषी इत्यादि।

वा०– ब्रह्मणि वदः।।२।।

भाष्यम्– ब्रह्मणि वद उपसंख्यानं कर्त्तव्यम्। ब्रह्मवादिनो वदन्ति।।७८।।

'ब्रह्मन्' शब्द उपपद रहते 'वद' धातु से णिनि का उपसंख्यान करना चाहिये। ब्रह्म वदन्ति ते ब्रह्मवादिनः। यह भी अताच्छील्यार्थ ही है।

व्रते।।३.२.८०।।

भाष्यम्– किमुदाहरणम्?

क्या उदाहरण है? उदाहरण में कुछ विचार्य विषय है– इसलिये पूछ रहे हैं; 'किमुदाहरणम्'?

भा०– अश्राद्धभोजी।

इसका उदाहरण है– अश्राद्धभोजी।

भा०– किं योऽश्राद्धं भुङ्क्ते सोऽश्राद्धभोजी? किं चाऽतः? यदाऽसावश्राद्धं न भुङ्क्ते तदाऽस्य व्रतलोपः स्यात्। तद्यथा– स्थायी[1] यदा न तिष्ठति तदाऽस्य व्रतलोपो भवति।।

क्या जो अश्राद्ध खाता है वह अश्राद्धभोजी है? इससे क्या कहना चाहते हैं? जब कभी वह अश्राद्ध को नहीं खाता है, तब उसका व्रतलोप हो जायेगा। जैसे कि 'स्थायी' (खडा रहने का व्रत लिया हुआ कोई व्यक्ति) जब खडा नहीं रहता, तब इसका व्रतलोप हो जाता है।

---

१. 'स्थण्डिलस्थायी यदा स्थण्डिले न तिष्ठति तदा' पाठभेदः।

इसका भाव है– 'अश्राद्धं मया भोक्तव्यम्' ऐसा जिसने संकल्प किया है और फिर जब बुभुक्षा होने पर जिस किसी दिन (एकादशी आदि को) वह अश्राद्ध को नहीं खाता तो उसका व्रत लोप हो ही गया।

यहाँ थोड़ा परिसंख्या व विधि के भेद को समझना होगा। मीमांसकों का नियम है–

विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति।

तत्र चाऽन्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति कीर्त्यते।।

अर्थात् अत्यन्त अप्राप्ति में विधि होती है। जैसे 'स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्ग की कामनावाला यज्ञ करें)। स्वर्ग पाने के लिये क्या कुछ करना चाहिये, इस बारे में कुछ भी पता नहीं था, सो इस स्थिति में विधान कर दिया कि यज्ञ करे। जब समान बल वाली कई विधियाँ एकसाथ प्राप्त होती हैं तो वहाँ नियम कर दिया जाता है कि यही करें (अन्य न करें) जैसे; व्रीहि (चावल, धान) के छिलके हटाने की कई क्रियायें हैं– (१) ऊखल में कूटना, (२) नाखूनों से छीलना, (३) पत्थर आदि से मसलना। ये सब लोकविज्ञात विधियाँ विकल्प से प्राप्त होती है। अतः 'व्रीहीन् अवहन्ति' वचन नियमविधि है। अवहनन से ही तुषविमोक करना है, अन्य प्रकार से नहीं। परिसंख्या = जो अपूर्व-विधान तो कुछ नहीं करती (जिसके न करने से प्रत्यवाय हो), पर एक ही समय में पूर्वतः विदित दो या अधिक सम्भव क्रियाओं में से एक का नियम करती हो, वह विधि परिसंख्या (उक्त विधान से अन्य का वर्जन करना) विधि कहाती है। परिसंख्या में निषेध की प्रधानता होती है न कि विधि की। प्रकृत में 'अश्राद्धभोजी' इस प्रकार उदाहरण पर यदि परिसंख्या की दृष्टि से विचार करते हैं तब तो कोई दोष नहीं आता। क्योंकि उस अवस्था में श्राद्धभोजन निषेधपरक यह कथन होगा, न कि अश्राद्धभोजन विधिपरक। कारण-बुभुक्षाप्रयुक्त भोजन में रागवश प्रवृत्ति होती है। सो रागप्राप्त भोजन में अपूर्वविधि नहीं हो सकती, किन्तु परिसंख्या ही हो सकती है। और उस अवस्था में कदाचित् अश्राद्ध भोजन के अभाव में भी व्रतलोप नहीं होगा। हाँ! यदि यह अपूर्वविधि है, तब तो अश्राद्धभक्षण के अभाव में अवश्य ही व्रतलोप हो जायेगा।

शिवरामेन्द्र सरस्वती का तो यहाँ यह कहना है– 'न श्राद्धम् = अश्राद्धम्' ऐसा समर्थसमास का आश्रयण करने पर 'अश्राद्धं भोक्ष्ये' इस संकल्प के व्रतरूपता संभव होने से जब कदाचित् वह अश्राद्ध नहीं खायेगा अर्थात् उपवास करेगा तो उसका व्रतलोप हो जायेगा– ऐसा यहाँ भाष्यकार ने पूर्वपक्ष स्थापित किया है। जिसका कि अन्त में 'श्राद्धं न भोक्ष्ये' इस रूप में असमर्थ समास मानते हुये परिहार दिया है।

भाष्यम्– एवं तर्हि णिन्यन्तेन समासो भविष्यति– 'न श्राद्धभोजी अश्राद्धभोजी'ति।

यदि ऐसी बात है तो 'श्राद्ध' उपपद रहते, पहले णिनि कर लेंगे और फिर 'णिन्यन्त' (श्राद्धभोजी) के साथ 'न श्राद्धभोजी = अश्राद्धभोजी' इस रूप में नञ् समास हो जायेगा।

'न श्राद्धभोजी' यह समास करने के लिये केवलमात्र प्रक्रियावाक्य है, न कि लौकिकविग्रह वाक्य। क्योंकि केवल 'श्राद्धभोजी' यह शब्द व्रतविषयक उपपन्न नहीं हो सकता। 'अश्राद्धभोजी' यह समुदाय ही व्रतविषयक है।

भाष्यम्– नैवं शक्यम्। स्वरे हि दोषः स्यात्। अश्रा॑द्धभोजीत्येवं स्वरः प्रसज्येत, अश्राद्धभोजी॒ति चेष्यते।।

नहीं! ऐसा संभव नहीं है। स्वर में दोष आने लगेगा। न श्राद्धभोजी = 'अश्राद्धभोजी'– इस रूप में समास स्वीकारने पर 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ०' (अ०– ६.२.२) अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर से आद्युदात्त पद होने लगेगा। 'गतिकारकोपपदात्कृत्' (अ०– ६.२.१३८) कृदुत्तरपद प्रकृतिस्वर से 'अश्राद्धभोजी॒' ऐसा अन्तोदात्त चाहते हैं।

भा०– एवं तर्हि नञ एवाऽयं भुजिप्रतिषेधवाचिनः श्राद्धशब्देनाऽसमर्थसमासो- न भोजी श्राद्धस्येति।

अच्छा तो, 'भुज' धातु का प्रतिषेधवाची नञ् का ही यह श्राद्धशब्द के साथ असमर्थसमास है– न भोजी श्राद्धस्य = श्राद्ध को न खाने वाला। 'न भोजी श्राद्धस्य' यह भी 'भुज' धातु के अर्थ के साथ नञ् का सम्बन्ध दिखाने के लिये प्रक्रियावाक्य दर्शाया है। क्योंकि सुबन्त उपपद रहते प्रत्ययविधान होने से केवल 'भोजी' इस शब्द का तो प्रयोग ही नहीं होता। अतः 'न श्राद्धं भुङ्क्ते'– ऐसा लौकिक विग्रह करके नञ् का 'श्राद्ध' शब्द के साथ असमर्थसमास का विधान कर अश्राद्धशब्द उपपद रहते णिनि करना चाहिये। 'णिनि' (अ०- ६.२.७९) इस सूत्र में 'संज्ञायाम्' (अ०– ६.२.७७) सूत्र से संज्ञा की अनुवृत्ति होने से कृत्स्वर ही होगा। 'णिनिः' सूत्रोक्त पूर्वपद प्रकृतिस्वर नहीं होगा।

भा०– स तर्ह्यसमर्थसमासो वक्तव्यः।।

तो क्या यह असमर्थसमास कहना चाहिये?

भा०– यद्यपि वक्तव्योऽथवैतर्हि बहूनि प्रयोजनानि।। कानि? असूर्यंपश्यानि मुखानि। अपुनर्गेयाःश्लोकाः। अश्राद्धभोजी ब्राह्मणः। सुडनपुंसकस्येति।।८०।।

यद्यपि कहना चाहिये। तथापि इस असमर्थसमास के कहने से बहुत सारे प्रयोजन सिद्ध होंगे। वे कौन से हैं? असूर्यंपश्यानि मुखानि (सूर्यं न पश्यन्ति, एवं भूतानि मुखानि)। सूर्य को न देखनेवाले मुख। अपुनर्गेयाःश्लोकाः (पुनर्न गेयाः श्लोकाः)। पुनः न गाने योग्य श्लोक। अश्राद्धभोजी ब्राह्मणः (श्राद्धं न भुङ्क्त, एवं भूतो ब्राह्मणः)। श्राद्ध न खानेवाला ब्राह्मण। सुडनपुंसकस्य (नपुंसकस्य सुटः सर्वनामस्थानसंज्ञा न भवति)।।

आत्ममाने खश्च।।३.२.८३।।

भाष्यम्– आत्मग्रहणं किमर्थम्?

सूत्रस्थ 'आत्ममाने' इस पद में आत्मग्रहण का क्या प्रयोजन है?

भा०– परमाने मा भूदिति।।

आत्मग्रहण का प्रयोजन है– पर को मानने का जहाँ प्रसङ्ग हो वहाँ खश् न हो।

भा०– क्रियमाणेऽप्यात्मग्रहणे परमाने प्राप्नोति।। किं कारणम्? 'आत्मन' इतीयं कर्त्तरि षष्ठी, 'मान' इत्यकारो भावे। स यद्येवात्मानं मन्यतेऽथापि परमात्मन एवाऽसौ मानो भवति।।

किन्तु आत्मग्रहण करने पर भी परमान में तो प्राप्त होता ही है। क्या कारण है? 'आत्मन:' यह कर्त्ता में षष्ठी है। और 'मान:' यहाँ 'मन' धातु से भाव में अकार है। सो वह माननेवाला चाहे तो अपने को मान रहा हो या किसी दूसरे (पर) को। 'मान' तो वह आत्मकर्त्तृक ही होगा।

भा०– नैष दोष:। 'आत्मन' इति कर्मणि षष्ठीयम्।। कथम्? 'कर्त्तृकर्मणो: कृति' (अ०– २.३.६५) इति।।

नहीं, यह कोई दोष नहीं है। 'आत्मन:' यह कर्म में षष्ठी है। कैसे? 'कर्त्तृकर्मणो: कृति' इस सूत्र से।

भा०– ननु च कर्त्तर्यपि वा एतेनैव विधीयते। तत्र कुत एतत् 'कर्मणि भविष्यति न पुन: कर्त्तरि' इति?

क्यों जी, कर्त्ता में भी तो उसी सूत्र से विधान की जाती है। ऐसी स्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि कर्म में षष्ठी है, कर्त्ता में नहीं है?

भा०– एवं तर्हि

अच्छा तो;

वा०– कर्मकर्त्तरि च।।१।।

भा०– कर्मकर्त्तरि[1] खश् चेति वक्तव्यम्।।

प्रकृतसूत्र से जो खश् होता है वह कर्मकर्त्ता में होता है– ऐसा कहना चाहिये।। जब प्रत्ययार्थ कर्त्ता अपने आप को ही पाण्डित्यादि से युक्त मानता है तब वह कर्मकर्त्ता होता है, तो ऐसी स्थिति में यदि कर्त्ता में षष्ठी होगी तो निश्चय ही मननक्रिया के कर्त्तृसंबन्ध का त्याग न कर पा सकने से आत्मग्रहण अनर्थक हो जायेगा।

---

१. 'कर्मकर्त्तरि चेति वक्तव्यम्'– पाठभेद:।

यद्यपि यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' (अ०– २.३.६६) इस नियम से कर्त्ता में षष्ठी नहीं है। तथापि प्रकृत में कर्त्ता व कर्म दोनों का एक साथ प्रयोग न होने से उस नियम की यहाँ प्राप्ति नहीं है। और एक बात यह भी है कि यदि 'उभयप्राप्तौ०' से यहाँ षष्ठी होगी तो 'कर्मणि च' (अ०– २.२.१४) सूत्र से निषेध होने से 'आत्मनो मानः = आत्ममानः' ऐसा समास ही नहीं होगा। यह सब देखते हुये भाष्यकार स्वयं अनुपद ही कहेंगे कि आत्मग्रहणसामर्थ्य से कर्म में ही षष्ठी जानी जाती है।

भाष्यम्– तत्तर्हि वक्तव्यम्?

तो फिर क्या वह (कर्मकर्त्तरि च) कहना चाहिये?

भा०– न वक्तव्यम्। 'आत्मन' इति कर्मणि षष्ठीयम्।। कथम्? 'कर्त्तृकर्मणोः कृती'ति।।

नहीं! कहना चाहिये। 'आत्मनः' यह कर्म में ही षष्ठी है। कैसे? 'कर्त्तृकर्मणोः कृति' (२.३.६५) इस सूत्र से।

भा०– ननु चोक्तम्– 'कर्त्तर्यपि वा एतेनैव विधीयते, तत्र कुत एतत्कर्मणि भविष्यति न पुनः कर्त्तरी'ति?

किन्तु अभी-अभी तो यह भी हमने कहा था कि कर्त्ता में षष्ठी भी उसी सूत्र से विधान की जाती है। सो उस स्थिति में यह कैसे निर्णय किया जाये कि कर्म में होगी– कर्त्ता में नहीं होगी।

भा०– एवं तर्ह्यात्मग्रहणसामर्थ्यात्कर्मणि विज्ञास्यते।

अच्छा तो ऐसा समझिये कि आत्मग्रहणसामर्थ्य से कर्म में जानी जाती है। जैसा कि 'कर्मकर्तरि च' इस वार्त्तिक के व्याख्यान में ऊपर दर्शा ही दिया है।

भाष्यम् – एवमपि कर्मकर्तृग्रहणं[१] कर्त्तव्यम्। कर्मापदिष्टो यग्यथा स्यात्, श्यन् मा भूदिति।।

फिर भी कर्मकर्त्तृग्रहण तो करना ही चाहिये। कर्त्ता में खश् प्रत्यय के परे रहते, 'मन्' धातु से 'दिवादिभ्यः०' (अ०– ३.१.६९) सूत्रविहित श्यन् न हो, कर्म में कहा हुआ 'सार्वधातुके यक्' (अ०– ३.१.६७) ही हुआ करें।

'लान्तस्य[२] कर्त्ता कर्मवत्' (भा०वा० ३.१.८७-६) इस वचन की अपेक्षा न करके उपर्युक्त कथन है। प्रकृत में श्यन् से ही इष्टसिद्धि हो जाने से यक् के सिद्धान्तत्व का अभाव मानते हुये, ज्यादा बारीकी से अवलोकन नहीं किया गया है।

---

१. वस्तुतः कर्मकर्त्तृग्रहणमिति भाष्यस्य कर्मवद्भावो वक्तव्य इत्यर्थः, यथाऽस्याऽपि कर्मकर्त्तृत्वेन ग्रहणं = व्यवहारो भवति तथा वक्तव्यमित्यक्षरार्थः।

२. इदमुलक्षणं कर्मस्थया क्रियया तुल्यक्रियत्वस्याऽपि।

भाष्यम्– कश्चात्र विशेषो यको वा श्यनो वा?

यहाँ क्या फर्क पड़ता है– यक् हो या श्यन् हो?

भा०– यकि सत्यन्तोदात्तत्वेन भवितव्यम्। श्यनि सत्याद्युदात्तत्वेन।

यक् होने पर अन्तोदात्त होगा और श्यन् में आद्युदात्त।

भा०– श्यन्यपि सत्यन्तोदात्तत्वेन भवितव्यम्। कथम्? खशः स्वरः, श्यनः स्वरं बाधिष्यते।।

श्यन् में भी अन्तोदात्त ही होगा। कैसे? खश्स्वर, श्यन् स्वर को बाध लेगा।

भाष्यम्– सति शिष्टत्वाच्श्यनः स्वरः प्राप्नोति।।

'सतिशिष्टस्वरो बलीयान्०' (भा०वा०- ६.१.१५८-९) हेतु से श्यन् स्वर ('ञ्नित्यादिः– ६.१.१९१') प्राप्त होता है।

भा०– आचार्य प्रवृत्तिर्ज्ञापयति– 'सतिशिष्टोऽपि विकरणस्वरः सार्वधातुकस्वरं न बाधत' इति, यदयं तासेः परस्य लसार्वधातुकस्याऽनुदात्तत्वं शास्ति।।

नहीं! आचार्य का व्यवहार यह जतलाता है– विकरणस्वर सतिशिष्ट होता हुआ भी सार्वधातुकस्वर को नहीं बाधता, जो कि यह तासि[1] प्रत्यय से परे लसार्वधातुक को 'तास्यनुदात्तेत्०' (अ०– ६.१.१८०) सूत्र से अनुदात्तत्व का शासन करता है। प्रकृत में विकरणस्य श्यन्स्वर है और सार्वधातुकस्वर खश्स्वर।

भाष्यम्– लसार्वधातुक एवैतज्ज्ञापकं स्यात्।।

किन्तु यह ज्ञापक तो लसार्वधातुक में ही बन पायेगा।

भाष्यम्– 'ने'त्याह। अविशेषेण ज्ञापकम्।।

नहीं-नहीं। 'सामान्यापेक्षं ज्ञापकम्' इस नियम से सार्वधातुकमात्र (अविशेषण) में ज्ञापक होगा। इसी अभिप्राय से आगे ६.१.१५८ सूत्र पर कहेंगे–

सतिशिष्टस्वरबलीयस्त्वमन्यत्र विकरणेभ्यः।।८३।।

इति तृतीयाध्यायस्य द्वितीये पादे प्रथममाह्निकम्।।

---

१. यहाँ यह समझना चाहिये– यदि लावस्था में स्य-तासि उत्पन्न होते हैं तो उक्तवचन ज्ञापक न होकर वाचनिक ही होगा।

भूते।।३.२.८४।।

भाष्यम्– भूत इत्युच्यते, कस्मिन् भूते?

'भूते'– ऐसा कहा जा रहा है; किन्तु किसके भूत होने पर– यह तो पता ही नहीं है, सो पहले यही जानना चाहिये कि किसके भूत (अतीत) होने पर आगे कहे जाने वाले प्रत्ययों का विधान है?

भा०– काले।।

दूसरा कोई उत्तर देता है– भूतादि शब्दों का वाच्यरूप से काल अर्थ ही प्रसिद्ध है। सो अर्थ होगा– काल के भूत (अतीत) होने पर।

भा०– न वै कालाधिकारोऽस्ति।।

पर 'काल' का तो यहाँ अधिकार ही नहीं है। जब काल का अधिकार ही नहीं है तो यह कैसे कह सकते हैं कि– काल के भूत होने पर। अर्थात् 'काल' इस सामान्यशब्द का, 'भूत' इस विशेष में अवस्थान नहीं हो पायेगा।

भा०– एवं तर्हि 'धातोः' (अ०– ३.१.९१) इति वर्त्तते। धातौ भूते। धातुर्वै शब्दो, न च शब्दस्य भूतभविष्यद्वर्त्तमानतायाः[१] संभवोऽस्ति।।

अच्छा तो, 'धातोः' इस पद की अनुवृत्ति आ रही है। धातौ भूते = धातु के भूत होने पर।

किन्तु यह भी कहना नहीं बनता। धातु तो शब्द है। शब्द की भूतता, भविष्यता या वर्त्तमानता संभव ही नहीं है।

भा०– शब्देऽसंभवादर्थे कार्यं विज्ञास्यते।। कः पुनर्धात्वर्थः? क्रिया। क्रियायां भूतायाम्।

ठीक है, जब शब्द की भूतता का संभव नहीं है, तो उसके अर्थ में कार्य जाना जायेगा। धातु भूत नहीं हो सकती है तो उसका अर्थ तो भूत हो ही सकता है। अच्छा! धातु का अर्थ क्या समझा जाये?

धातु का अर्थ है– क्रिया। सो 'भूते'– इस सूत्र का अर्थ हुआ– क्रिया के भूत होने पर।

भा०– यद्येवं–

यदि ऐसी बात है तो–

---

१. --------वर्त्तमानतायाम् - पाठभेदः।

वा०– निष्ठायामितरेतराश्रयत्वादप्रसिद्धिः।।१।।

भाष्यम्– निष्ठायामितरेतराश्रयत्वादप्रसिद्धिः स्यात्।। केतरेतराश्रयता?

भूतकालेनाऽयं[1] शब्देन निर्देशः क्रियते, निर्देशोत्तरकालं च भूतकालता, तदितरेतराश्रयं भवति। इतरेतराश्रयाणि च न प्रकल्पन्ते।

'निष्ठा' में इतरेतराश्रयता के कारण 'भूते' यह अधिकार प्रसिद्ध नहीं हो पायेगा। क्या इतरेतराश्रयता है? भूतकालेन = भूतकालक्रियावाचक शब्द के द्वारा यह निर्देश किया जा रहा है। और निर्देशोत्तरकाल भूतकालता जानी जाती है। यही है– इतरेतराश्रयता। और इतरेतराश्रय कार्य सम्पन्न नहीं हुआ करते।

इसका भाव है– 'भूते' इस निर्देशवाचक शब्द में 'भू' धातु से निष्ठा प्रत्यय (भूतक्रियावाची से) करना होगा। और भूताधिकार के विना निष्ठा प्रत्यय का भूतक्रियाविषयत्व प्राप्त नहीं हो सकेगा। और दूसरी तरफ भूतक्रिया विषयवाले निष्ठा विधान के विना भूताधिकार नहीं बनेगा। इस प्रकार अधिकाराश्रय निष्ठा प्रत्यय और उसी निष्ठा प्रत्यय के आश्रय से अधिकार– इस रूप में इतरेतराश्रयत्व बनकर उक्त समस्या उपस्थित होने लगती है।

वा०– अव्ययनिर्देशात्सिद्धम्।।२।।

भाष्यम्– अव्ययवता शब्देन निर्देशः करिष्यते। अवर्त्तमानेऽभविष्यतीति।

नहीं! इतरेतराश्रयत्व रूप जो दोष दर्शाया है– यह कोई दोष नहीं है। 'अवर्त्तमाने अभविष्यति' इस रूप में अव्ययवाले शब्द से निर्देश कर देंगे।

वार्त्तिक में 'अव्यय' पद अर्श अजाद्यन्त है– यह मानते हुये भाष्यकार ने 'अव्ययवता'- ऐसा व्याख्यान किया है। वार्त्तिककार का भाव है– 'भूते' सूत्र के स्थान में अव्ययवाले एक अन्य सूत्र से निर्देश करेंगे। वह निर्देश 'अवर्त्तमाने अभविष्यति'– इस रूप में किया जायेगा। अवर्त्तमाने और अभविष्यति में जो 'नञ्' शब्द का 'अ' है वह अव्यय है।

भा०– स तर्हि 'अव्ययवता शब्देन' निर्देशः कर्त्तव्यः?

तो क्या फिर अव्ययवाले शब्द के द्वारा निर्देश करना चाहिये?

भा०– न कर्त्तव्यः। अव्ययमेष 'भूते' शब्दो, नैषा भवतेर्निष्ठा।।

---

१. भूतकालक्रियावाचकेनेत्यर्थः।

कथमव्ययत्त्वम्? 'उपसर्गविभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्च निपाता भवन्ती'ति निपातसंज्ञा। निपातोऽव्ययमित्यव्यसंज्ञा।।

नहीं करना चाहिये। 'भूते' जो यह शब्द है, यह अव्यय ही है। 'भू' धातु से निष्ठा (क्त) करके 'भूते' यह शब्द नहीं बनाया गया है। अच्छा! 'भूते' शब्द अव्यय कैसे है? उपसर्ग-विभक्ति-स्वर के प्रतिरूप वाले शब्द निपात होते हैं, (का० १.४.५७ गणसूत्र- १६) और निपात 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' (अ०– १.१.३६) से अव्ययसंज्ञक हो जाते हैं– इस प्रकार 'भूते'– यह शब्द अव्यय के रूप में ही निर्दिष्ट है।

भाष्यम्– अथाऽपि भवतेर्निष्ठा, एवमप्यव्ययमेव।। कथम्? न व्येतीत्यव्ययमिति।। क्व पुनर्न व्येति? एतौ कालविशेषौ भविष्यद्वर्त्तमानौ[1]। स्वभावतो भूत एव वर्त्तते।।

और यदि 'भू' धातु से निष्ठा मानते हैं तो भी 'भूते' यह शब्द अव्यय ही है। कैसे? 'अव्यय'- यह अन्वर्थशब्द है। न व्येति = विविधमर्थं न प्राप्नोति तदव्ययम्। जो विविधता को न प्राप्त हो वह अव्यय कहाता है। किस विषय में– अर्थात् किस रूप में विविध अर्थ को प्राप्त नहीं होता? ये जो भविष्यद् और वर्त्तमान कालविशेष हैं– इन अर्थों को प्राप्त नहीं होता। स्वभावत: भूत अर्थ में ही विद्यमान होता है।

यहाँ 'अव्यय' शब्द का जो शास्त्रीय अर्थ है– 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' (अ०– १.१.३६) वह अभिप्रेत नहीं है, बल्कि जो नित्य ही अतिक्रान्त (अतीत) अर्थ का कथन करना रूप अर्थ है जो कि भविष्यद्-वर्त्तमान का प्रतिद्वन्द्वी है– यही उसका अव्ययत्व = अविविधगामित्व रूप अर्थ है।

भाष्यम्– यदि तर्हि न व्येतीत्यव्ययम्।

यदि 'न व्येतीत्यव्ययम्'– ऐसा अव्ययशब्द का अर्थ लिया जाता है,

वा०– न वा तद्विधानस्याऽन्यत्राऽभावात्।।३।।

भाष्यम्– न वा भूताधिकारेणाऽर्थ:।। किं कारणम्? 'तद्विधानस्यान्यत्राऽभावात्[2]'। येऽपि ह्येत इत उत्तरं प्रत्यया: शिष्यन्त एतेऽप्येतौ कालविशेषौ न वियन्ति भविष्यद्वर्त्तमानौ[1]। स्वभावत एव ते भूत एव वर्त्तन्ते।।

---

१. वर्त्तमानभविष्यन्तौ पा०।

२. तस्मिन्विधानं यस्येत्यर्थ:। (उस भूत अर्थ में विधान है जिस प्रत्यय का वह)।

तब तो भूताधिकार करने का कोई अर्थ नहीं है। क्या कारण है? उस भूत अर्थ में विहित प्रत्ययों का अन्यत्र (भविष्यद् या वर्त्तमान अर्थ में) अभाव होने से। जो भी यहाँ से आगे प्रत्यय विधान किये जा रहे हैं, वे सब इन भविष्यद् और वर्त्तमान रूप कालविशेष में गमन नहीं करते। स्वभावत: भूत अर्थ में ही वर्त्तमान होते हैं। अर्थात् 'भूत' शब्द की भाँति वे भी स्वभावत: भूतमात्र के ही वाचक होते हैं– फिर 'भूते' इस अधिकार की क्या आवश्यकता है?

भाष्यम्– अत उत्तरं पठति।

इस उपर्युक्त पृष्ठभूमि को आधार बनाकर आचार्य यह वार्त्तिक पढते हैं।

वा०– प्रयोजनं कुमारघाती शीर्षघाती आखुहा विडाल:।

सुत्वान: सुन्वन्त: सुषुपुष: अनेहा: अग्निमादधानस्य।।४।।

भाष्यम्– भूताधिकारस्य प्रयोजनं कुमारघाती शीर्षघातीति भविष्यद्वर्त्तमानार्थो भूतनिवृत्त्यर्थ:।।

आखुहा विडाल इति भविष्यद्वर्त्तमानार्थ:। इतरथा हि ब्रह्मादिषु नियमस्त्रिषु कालेषु निवर्त्तक: स्यात्।। सुत्वान: सुन्वन्त:, यज्ञसंयोगे ङ्वनिपस्त्रिषु कालेषु शताऽपवादो मा भूत्।।

सुषुपुष:, नजिङ् सर्वकालापवादो मा भूत्।। अनेहा इति वर्त्तमानकाल एव। अन्यत्र– 'अनाहन्ता'।। आदधानस्य। कानचश्चानश् ताच्छील्यादिषु सर्वकालापवादो मा भूत्। अग्निमादधानस्य। आदधानस्येत्येवान्यत्र।।८४।।

तो भी भूताधिकार का प्रयोजन है। कुमारघाती, शीर्षघाती, आखुहा विडाल:, सुत्वान: सुन्वन्त:, सुषुपुष:, अनेहा:, अग्निमादधानस्य इत्यादि में भूतकालनिवृत्ति के लिये और भविष्यद् व वर्त्तमान काल के सम्प्रत्यय के लिये।

कुमारघाती और शीर्षघाती इन प्रयोगों में भविष्यत् सहित वर्त्तमान अर्थ की प्राप्ति और भूत अर्थ की निवृत्ति, भूताधिकार का प्रयोजन है। यदि यहाँ भूताधिकार नहीं किया जाता है तो 'कर्मणि हन:' (अ०– ३.२.८६) से णिनि कालसामान्य में समझा जायेगा। और 'कुमारशीर्षयोर्णिनि:' (अ०– ३.२.५१) से विहित णिनि तो कालसामान्य में है ही। यदि यह पूछा जाये कि पुनर्विधान किसलिये है, तो वह तो वाऽसरूपनिवृत्यर्थ

अर्थात् 'कुमारहन्ता' इत्यादि प्रयोगों की व्यावृत्ति के लिये समझा जायेगा। ऐसी स्थिति में उपपदविशेष में विहित 'कुमारशीर्षयोर्णिनिः' यह 'भूत' में भी होने लगेगा। भूताधिकार के होने पर तो तक्रकौण्डिन्य[१] न्याय से 'कुमारशीर्षयो:०' इसके द्वारा भूत में णिनि को बाधकर भविष्यद् व वर्त्तमान में ही णिनि का विधान किया जाता है।

'आखुहा विडाल:' यहाँ भविष्यद् व वर्त्तमान में क्विप् प्रत्यय हो जावे, भूत में न हो– इसके लिये भूताधिकार है। भूताधिकार होने पर 'ब्रह्मादिष्वेव हन्तेर्भूते क्विब्भवति' इस रूप में नियम होने से उपपदान्तर होने पर भूत में ही क्विप् निवृत्त होगा न कि कालान्तर में। इस प्रकार 'आखुहा' यह प्रयोग भविष्यद् व वर्त्तमान काल में उपपन्न हो जाता है। अन्यथा 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्' (अ०– ३.२.८७) यह नियम तीनों कालों में क्विप् का निवर्त्तक हो जाता।

'सुत्वान:'- यहाँ 'सुयजोर्ङ्वनिप्' (अ०– ३.२.१०३) से भूतकाल में 'ङ्वनिप्' प्रत्यय किया गया है। और 'सुन्वन्त:' यहाँ 'सुञो यज्ञसंयोगे' (अ०– ३.२.१३२) से वर्त्तमान काल में शतृ प्रत्यय। सो यहाँ यज्ञसंयोग विषय में शतृ प्रत्यय, ङ्वनिप् का तीनों कालों में अपवाद न हो।

---

१. 'कुमारशीर्षयो:०' से णिनि के उपपदविशेष में विहित होने से वह विशेष है और 'कर्मणि हन:' से विहित णिनि सामान्य है। अत: वह उसे बाध लेता है। यद्यपि 'कर्मणि हन:' से भी णिनि का ही विधान है अत: 'कुमारशीर्षयो:०' से विहित णिनि से 'कर्मणि हन:' से विहित णिनि को बाध लिया यह कहते नहीं बनता है। अत: यहाँ यह समझना होगा कि 'कर्मणि हन:' णिनि से सम्बद्ध भूतकाल बाधलिया जाता है, इस प्रकार वर्त्तमान व भविष्यत् में ही 'कुमारशीर्षयो:०' णिनि होता है। इस प्रकार भूतकाल को बाधने में 'कुमारशीर्षयो:०' यह शास्त्र चरितार्थ हो गया, इसलिये अब यह नहीं कहा जा सकता कि पुनर्विधानसामर्थ्य से वाऽसरूपन्याय को बाधना ही चाहिये, अत: वाऽसरूपन्याय से 'कुमारहन्ता' इत्यादि भी सिद्ध हो जायेगा। 'कुमारघाती' इत्यादि में विधीयमान 'कुमारशीर्ष०' यह णिनि भविष्यद्वर्त्तमान में हो जावे, और उसकी भूतार्थनिवृत्ति भी सिद्ध हो जावे– इसके लिये भूताधिकार है– यह भाष्याक्षरार्थ हुआ। यहाँ कैयट द्वारा उद्धृत 'तक्रकौण्डिन्यन्याय' नागेश को स्वीकार नहीं है। उनका कहना है– 'तक्रकौण्डिन्यन्याय' तो विधेयविषयक है। अत: प्रकृतभाष्य का यह अर्थ है– भूताधिकारसामर्थ्य से 'कर्मणि हन:' यही णिनि भूत में होगा न कि अन्य णिनि भी। इस प्रकार अन्य णिनि की भूत में निवृत्ति हो जायेगी।

प्रसङ्गवश वर्त्तमानाधिकार का भी प्रयोजन प्रदर्शित किया जा रहा है। भाष्यकार ने जो 'भूताधिकारस्य प्रयोजनम्' ऐसा कहा है– वह उपलक्षण के रूप में है। अर्थात् ङ्वनिप् भूताधिकार में है और शतृ वर्त्तमानाधिकार में। सो यदि भूताधिकार व वर्त्तमानाधिकार नहीं किया जाता है 'यज्ञसंयोग' इस विशेष अर्थ में विधीयमान शतृ प्रत्यय तीनों कालों में भी ङ्वनिप् को बाधेगा। इस प्रकार भूतकाल में 'यज्ञसंयोग' में 'सुत्वा' प्रयोग नहीं होगा। और यदि वाऽसरूपन्याय से ङ्वनिप् विधान कर भी दिया जाये तो 'सुत्वा' और 'सुन्वन्' में कालभेद नहीं होगा। क्योंकि 'वाऽसरूप' से वर्त्तमान में भी ङ्वनिप् प्राप्त होने लगेगा। अधिकार करने पर तो कालभेद से 'सुत्वा' और 'सुन्वन्' दोनों का अवस्थान हो जाता है। भाष्य में 'सुत्वानः सुन्वन्तः' बहुवचनान्त।

सुषुपुषः[१]। भूत व वर्त्तमान अधिकार न करने पर वर्त्तमान काल में विशेषविहित 'स्वपितृषोर्नजिङ्' (अ० ३.२.१७२) के द्वारा भूतकाल में विहित लिट् (छन्दसि लिट्, लिटः कानज्वा। क्वसुश्च– अ० ३.२.१०५-१०६-१०७) की बाधा होने लगेगी। ताच्छीलिक प्रत्ययों में वाऽसरूपविधि तो होती नहीं। अधिकार करने पर पृथक्-पृथक् विषय विभाग होने से बाध्य-बाधकभाव नहीं होता; भूत में लिट् और वर्त्तमान में नजिङ् हो जाता है।

भाष्य में कथित 'सर्वकालापवादः' पद का अर्थ है– सर्वकालद्योतक प्रत्यय का अपवाद। भूतकाललिटोऽपीति यावत्।।८४।।

---

१. स्वपेर्लिटः 'क्वसुश्च' (अ०– ३.२.१०७) इति क्वसुरादेशः। 'वचिस्वपि०' (अ०– ६.१.१५) इति वकारस्य संप्रसारणेनोत्त्वम्, द्वित्वं षत्वम्। 'सुषुप् वस्' इति स्थिते 'वसोः संप्रसारणम्' (अ०– ६.४.१३१) इत्यनेन संप्रसारणेन सिद्धं रूपं 'सुषुपुषः'।

प्रत्ययः।।३.१.१।।

अधिकारेणेयं प्रत्ययसंज्ञा क्रियते। सा प्रकृत्युपपदोपाधीनामपि प्राप्नोति। तस्याः प्रतिषेधो वक्तव्यः।

प्रकृति-गुप्तिज्कितः। उपपद- स्तम्बकर्णयोः। उपाधि- हरतेर्दृतिनाथयोः पशौ। एतेषां प्रतिषेधो वक्तव्यः।

'वृद्धिरादैच्' इत्यादि में तो प्रातिस्विक[1] रूप से संज्ञी का निर्देश है और उससे अतिरिक्त अन्य किसी का निर्देश है नहीं– इसलिये उस प्रकार के संज्ञा सूत्रों में तो कोई अतिप्रसंग उपस्थित नहीं होता। यहाँ भी उसी प्रकार एक-एक संज्ञी को पकड़ कर 'प्रत्यय' यह संज्ञा की जाये तो कल्पना की जा सकती है कितना अधिक गौरव होगा। सन् के स से लेकर कप् के पकार तक प्रत्याहारनिर्देशपूर्वक 'सप् प्रत्ययः' ऐसा कथन किया जाये तो भी वे ही दोष आने लगते हैं जो अधिकार पक्ष में आ रहे हैं। साथ में 'सप्' ऐसा द्विमात्रोच्चारण अधिक भी करना पड़ता है। अतः यहाँ अधिकार से ही संज्ञा विधान करना उपयुक्त समझा गया। और जब अधिकार से संज्ञा करते हैं तो प्रकृति-उपपद–उपाधि की भी प्रत्यय संज्ञा प्राप्त होने लगती है। यदि यहाँ एक वाक्य के द्वारा ही दोनों[2] कार्य सम्पन्न हो जाये तब तो कोई दोष नहीं आता, परन्तु यतः असत् की तो संज्ञा होती नहीं, अतः इस प्रकरण में अवश्य ही विधेय भेद प्रयुक्त वाक्य भेद करना अनिवार्य हो जायेगा अर्थात् एक वाक्य से सनादि का विधान और दूसरे वाक्य से संज्ञा करनी होगी। और जब इस प्रक्रिया का आश्रय लेंगे तो प्रकृति-उपपद-उपाधि की भी संज्ञा प्राप्त होने लगेगी। प्रथम वाक्य से कहेंगे– गुपादियों से सन् होता है और दूसरे वाक्य से 'वे' प्रत्यय संज्ञक भी होते हैं। वे = सन् और गुप्-तिज्-कित्। अर्थवशाद् विभक्तिविपरिणाम नियम को लेकर 'गुप्तिज्किद्भ्यः' यह पञ्चमी द्वितीय वाक्यों में प्रथमा में बदल जायेगी। इसी प्रकार 'स्तम्बकर्णयो रमिजपोः' सूत्र मे स्तम्ब, कर्ण उपपद रहते रम और जप धातु से अच् होता है और वे प्रत्ययसंज्ञक भी होते हैं। वे = अच् तथा स्तम्ब, कर्ण। उपाधि स्थल में भी दृति और नाथ उपपद रहते हृ धातु से पशु कर्ता अभिधेय होने पर इन् होता है और वे प्रत्यय संज्ञक भी होते हैं। वे =इन्, दृति, नाथ और पशु शब्द वाच्य श्वा इत्यादि। सो अनिष्ट स्थलों में भी व्याप्त हो रही प्रत्यय संज्ञा का प्रतिषेध करना चाहिये कि इन-इन रूपों की अर्थात् प्रकृति-उपपद-उपाधि की प्रत्यय संज्ञा नहीं होती।

विशेषः यहाँ उपाधि शब्द अस्पष्ट है, उस पर विचार किया जा रहा है। उपाधि शब्द से सामान्यतया 'विशेषण' यह अर्थ लिया जाता है। पर 'उपदेशेऽज०' (१.३.२) सूत्र पर भाष्यकार ने 'नोपाधेरुपाधिर्भवति विशेषणस्य वा विशेषणम्' यह कहते हुए दोनों का भेद भी स्वीकार किया है। तो फिर इन दोनों में क्या भेद है? आइये! इनके पारिभाषिक सूक्ष्म भेद को जानने के लिए हम न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका में वाचस्पतिमिश्र द्वारा

१) विशिष्ट, असामान्य।

२) सनादि का विधान और संज्ञा।

उद्धृत कात्यायनीय वचन के समीप चलते हैं–

अर्थविशेष उपाधिस्तदन्तवाच्यः समानशब्दो यः।
अनुपाधिरतोऽन्यः स्याच्छ्लाघादि विशेषणं यद्वत्।।

श्लोक में पठित 'तदन्तवाच्यः' और 'समानशब्दः' इन दो पदों को समझ लेने से उपाधि का अभिप्रेतार्थ सरलता से गृहीत हो जायेगा। तदन्तवाच्यः = प्रत्ययान्तवाच्यः। प्रत्ययान्त शब्द से जिसका कथन किया जाये उस विशिष्ट अर्थ को 'उपाधि' कहते हैं। समानः = पर्यायः शब्दः = पशु इत्यादिशब्दो यस्यार्थस्य। अथवा समानविभक्तिकः शब्दो वाचको यस्य स तथा, समानाधिकरणपद इति यावत्। यथा पश्वादिः। श्लोकस्थ 'समानशब्द' बहुव्रीहि पद है। चूँकि वह उपाधिभूत अर्थ प्रत्ययान्तशब्दवाच्य होता है इसलिये उससे भिन्न शब्द के द्वारा जब अर्थ का प्रकाश करना अभीष्ट होगा तो उस अर्थ का वाचक समानाधिकरण पद होगा। जैसे कि प्रकृत में जो यह 'पशु' उपाधि है, वह **'दृतिहरिः'** के साथ समानाधिकरण रूप से अन्वित होती है। रही बात प्रयोग की, सो वह इस हेतु से नहीं होता कि वह उसका पर्याय शब्द है। हाँ! चूँकि गाय, बैल, कुत्ता इत्यादि रूप में पशु तो अनेक है, सो स्पष्ट बोध के लिए उनमें से किसी एक 'श्वा' इत्यादि का प्रयोग हो जाता है। श्लोक की दूसरी पंक्ति में कहा– **'अतोऽन्यः प्रत्ययान्तेनाऽवाच्यो व्यधिकरणपदश्च यः, तद्विशेषणमेव, नोपाधिः, यथा श्लाघादि'**[१] **। जैसे 'गोत्रचरणाच्छ्लाघाऽत्याकारतदवेतेषु'** (अ० ५.१.१३३) सूत्र में श्लाघा, अत्याकार और तदवेत विशेषण रूप से निर्दिष्ट हैं। वहाँ 'गार्गिकया श्लाघते' आदि उदाहरणों में श्लाघादि प्रत्ययान्तवाच्य नहीं हैं, इसलिये 'गार्गिका' आदि के साथ 'श्लाघा' इत्यादि का समानाधिकरण रूप से अन्वय नहीं होता। अर्थात् 'गार्गिका श्लाघा' इस रूप में कथन नहीं होता। यहाँ एक बात ध्यातव्य है– अपत्य, समूह आदि तथा कर्ता, कर्म इत्यादि अर्थ प्रत्ययवाच्य होते हैं न कि प्रत्ययान्तवाच्य; इसलिये वे उपाधि के अन्तर्गत नहीं आयेंगे। हाँ, **'विषयो देशे'** (अ० ४.२.५१) सूत्र में 'पञ्चालानां विषयः पाञ्चालः' यहाँ देश को अवश्य ही उपाधि कहा जायेगा। इसी प्रकार सब जगह समझना चाहिये।

किं च स्याद् यद्येतेषामपि प्रत्ययसंज्ञा स्यात्?

दूसरा व्यक्ति पूछता है– क्या हो जायेगा यदि इनकी भी (प्रकृति-उपपद-उपाधि की भी) प्रत्ययसंज्ञा हो जाये?

प्रत्याक्षेप्ता का भाव है– संज्ञा प्रवृत्तिमात्र में तो कोई हानि नहीं, जैसे कि यमों की अनुनासिक संज्ञा हो जाती है। इसलिये तत्प्रयुक्त (प्रत्ययसंज्ञाप्रयुक्त) कुछ अनिष्ट कार्य दिखाना चाहिये।

१. श्लाघादीति- आदिपदेन धातोः कर्मणः समानकर्तृकादित्यादि।

परत्वमाद्युदात्तत्वमङ्गसंज्ञेत्येते विधयः प्रसज्येरन्।।

'परश्च' (अ० ३.१.२) इस अग्रिम सूत्र के नियम से जिसकी प्रत्यय संज्ञा हो जाती है, वह परे बैठता है– इस प्रकार प्रकृति-प्रत्यय का पर्याय से परस्पर परत्व होने लगेगा तथा उपपद की भी प्रत्यय संज्ञा होने पर प्रत्ययान्त शब्द से परे प्रयोग होने लगेगा। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि फिर तो **'उपपदमतिङ्'** (अ० २.२.१९) से होने वाले समास में उपपद चूँकि उपसर्जन संज्ञक भी है सो तदाश्रित कार्य न होने से **'उपसर्जनं पूर्वम्'** (अ० २.२.३०) अचरितार्थ ही रह जायेगा। 'राजपुरुषः' इत्यादि अनेक उदाहरणों में उसे चरितार्थ होने के लिये कोई रुकावट नहीं है। इस प्रकार 'कुम्भकारः' आदि इष्ट प्रयोग 'कारकुम्भः' ऐसे अनिष्ट रूपों में बदल जायेंगे तथा तिङन्तोपपद स्थल में उपपद की प्रत्यय संज्ञा होने पर 'व्रजति भोक्तुम्' ऐसा प्रयोग कभी भी न हो सकेगा सदैव 'भोक्तुं व्रजति' ही बोलना पड़ेगा, जब कि हैं दोनों अभीष्ट। इसी प्रकार 'उपाधि' का भी प्रत्ययान्त निष्पन्न शब्द से परे ही प्रयोग होने लगेगा। 'दृतिहरिः श्वा प्रयाति' ही बोल सकेंगे, 'श्वा दृतिहरिः प्रयाति' ऐसा कभी भी प्रयोग न हो सकेगा। और देखिये! जिसकी प्रत्यय संज्ञा होती है, उसके लिये स्वरविषयक **'आद्युदात्तश्च'** (अ० ३.१.३) भी नियम बनाया हुआ है– सो सावकाश[1] स्थल में स्वरान्तर को बाधकर इन सबको आद्युदात्त ही होने लगेगा। और प्रत्यय के समान इनकी भी प्रत्यय संज्ञा होने से प्रकृत्यादि का भी वाक्यभेद से प्रत्यय से परे विधान होने से प्रत्ययादि की भी **'यस्मात् प्रत्ययविधिः'**। (अ० १.४.१३) अङ्गसंज्ञा होने लगेगी। उससे फिर प्रत्यय को भी अङ्गसंज्ञाप्रयुक्त कार्य होने लगेंगे, जो की सर्वथा अनिष्ट हैं।

अत उत्तरं पठति-

अतः = इस स्थिति से आगे अर्थात् ऐसी समस्या उत्पन्न होने पर आचार्य कात्यायन उत्तर देते हैं–

✽ प्रत्ययाधिकारे प्रकृत्युपपदोपाधीनामप्रतिषेधः ✽।।१।।

(भाष्यम्) अधिकारेणापि प्रत्ययसंज्ञायां सत्यां प्रकृत्युपपदोपाधीनामप्रतिषेधः।

अनर्थकः प्रतिषेधोऽप्रतिषेधः।।

अधिकार के द्वारा भी 'प्रत्यय' यह संज्ञा होने पर प्रकृति-उपपद और उपाधि की प्रत्ययसंज्ञा के प्रतिषेध करने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्यों नहीं आवश्यकता– इसका उत्तर आगे दिया जायेगा।

विशेष: – 'प्रत्ययाधिकारे' यहाँ यह सत्सप्तमी है। इसलिये भाष्यकार ने 'अधिकारेणापि प्रत्ययसंज्ञायां सत्याम्' ऐसा अर्थ किया है।

---

१. फिट्स्वरादि से अन्यत्र।

'अपि' इस पद का अध्याहार किया गया है। इसलिये अर्थ बन गया– 'प्रत्यय:' यह अधिकार होने पर भी.......।

'अप्रतिषेध:' यह वार्त्तिककार का एक प्रसिद्ध शब्द है जो उनके द्वारा बहुत्र प्रयुक्त हुआ है और सर्वत्र भाष्यकार ने इसकी व्याख्या ''अनर्थक: प्रतिषेध: = अप्रतिषेध:'' करके की है। 'अनर्थक:' इसका शब्दार्थ होगा– **न विद्यतेऽर्थ: (प्रयोजनम्) यस्य सोऽनर्थक:।** फिर अनर्थक और प्रतिषेध का उत्तरपदलोपी तत्पुरुष समास कर दिया है। इस प्रकार 'अप्रतिषेध:' शब्द का यह अर्थ उत्पन्न हो जाता है कि 'प्रतिषेध करने का कोई प्रयोजन (=आवश्यकता) नहीं है'।

स्वभावत: ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है–

प्रत्ययसंज्ञा कस्मान्न भवति?

तो फिर (प्रकृति-उपपद-उपाधि की) प्रत्ययसंज्ञा क्यों नहीं होती?

✻ निमित्तस्य [१]निमित्तिकार्यार्थत्वादन्यत्रापि ✻ ।।२।।

निमित्त निमित्ती का कार्य (प्रयोजन) सम्पादन करने के लिये होता है। यह बात अन्यत्र भी (=लोक में भी) इसी रूप में देखी जाती है।

(भाष्यम्) निमित्तानि हि निमित्तिकार्यार्थानि भवन्ति।

किं पुनर्निमित्तं को वा निमित्ती?

प्रकृत्युपपदोपाधयो निमित्तम्, प्रत्ययो निमित्ती।

अन्यत्रापि चैष न्यायो दृष्ट:, नावश्यमिहैव। क्वाऽन्यत्र?

लोके। तद्यथा बहुष्वासीनेषु कश्चित् कञ्चित् पृच्छति कतरो देवदत्त:, [२]कतमो यज्ञदत्त इति।

स आह 'योऽश्वे, य: पीठे' इति।

योऽश्वे य: पीठ इत्युक्ते निमित्तस्य निमित्तिकार्यार्थत्वादध्यवस्यति– अयं देवदत्तोऽयं यज्ञदत्त इति।

नेदानीमश्वस्य पीठस्य वा 'देवदत्त' इति संज्ञा भवति।

निमित्त निमित्ती के कार्यार्थ (=प्रयोजनार्थ) होता है, न कि निमित्ती निमित्त के लिये।

१. निमित्तमस्यास्तीति निमित्ती, तस्य कार्यं निमित्तिकार्यम्, तदेवार्थ: (=प्रयोजनं) यस्य, तत्त्वादित्यर्थ:।
२. कतमो देवदत्त:, कतरो यज्ञदत्त इति पा०।

अच्छा तो यह बतलाइये– कौन तो निमित्त है और कौन निमित्ती? स्पष्ट है– प्रकृति-उपपद और उपाधि निमित्त हैं, क्योंकि भूतविभक्ति[१] (सिद्धत्वबोधकविभक्ति) से निर्दिष्ट हैं और सनादि प्रत्यय निमित्ती हैं, क्योंकि वे भाव्यमानविभक्ति[१] (साध्यत्वबोधकविभक्ति) से कथित होते हैं। यह नियम (=न्याय) अन्यत्र भी इसी रूप में परिपालित होता है न केवल यहाँ (=व्याकरणशास्त्र) में ही।

अन्यत्र से क्या अभिप्राय?

शास्त्र की अपेक्षा से लोक ही अन्यत्र होता है। देखिये! जैसे लोक में कहीं बहुत सारे लोग बैठे हुवे हैं, उनमें ही देवदत्त व यज्ञदत्त भी हैं। अब किसी व्यक्ति को देवदत्त-यज्ञदत्त से कुछ काम है, सो उन्हें जानने का इच्छुक वह व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति से पूछता है– भाई! इन सब बैठे हुये लोगों में कौन सा तो देवदत्त है और कौन सा यज्ञदत्त? उत्तर देने वाला व्यक्ति अश्व और पीठ (=चौकी) को देवदत्त-यज्ञदत्त की पहचान का निमित्त बनाकर कहता है– 'जो घोड़े पर है और जो पीठ पर है।' उत्तरदाता ने तो इतना मात्र ही कहा था कि जो घोड़े पर है और जो पीठ पर है, पर जिज्ञासु जो श्रोता था– उसने निमित्त निमित्ती के कार्यार्थ होता है– इस नियम के अधीन निश्चय कर लिया कि यह तो देवदत्त है और यह यज्ञदत्त। वक्ता की बात को समझने में श्रोता को कुछ भी कठिनाई नहीं हुयी। 'अश्व' अथवा 'पीठ' को उसने देवदत्त और यज्ञदत्त नहीं समझा क्योंकि 'अश्व' और 'पीठ' को तो देवदत्त और यज्ञदत्त के बोध कराने में निमित्त बनाया गया था। इस प्रकार निमित्त जिसके लिये होता है वह (=निमित्ती) उस निमित्त से सदा पृथक् ही होता है।

पर व्याकरण के सन्दर्भ में निमित्त-निमित्ती का निर्धारण कैसे करेंगे, क्योंकि शब्द तो नित्य हैं और अखण्ड हैं– सो 'प्रकृति-प्रत्यय' 'उपपद-प्रत्यय' या 'उपाधि प्रत्यय' के बीच निमित्त-निमित्तिभाव कैसे बन पायेगा? इस समस्या को ही हृद्गत करके भाष्यकार पूछते हैं–

> किं पुनर्निमित्तं को वा निमित्ती?
> निर्ज्ञातोऽर्थो निमित्तम्। अनिर्ज्ञातोऽर्थो निमित्ती। इह च
> प्रत्यययोऽनिर्ज्ञातः, प्रकृत्युपपदोपाधयो निर्ज्ञाताः। क्व?
> धातूपदेशे प्रातिपदिकोपदेशे च। ते निर्ज्ञाता निमित्तत्वेनाश्रीयन्ते[२]।

वस्तुतः प्रस्तुत भाष्य की अवतरणिका हमने कैयट के अनुसार दी है। अवतरणिका में जो समस्या उठाई गयी है कि शब्दों के नित्य होने से निमित्त-निमित्तीभाव नहीं बनेगा– इसका समाधान भी हम उन्हीं की दृष्टि से कुछ देर बाद करेंगे। पर यहाँ इस भाष्य की भूमिका को यदि इस रूप में रखा जाये कि, ''निमित्त-निमित्ती' का लक्षण जानने की इच्छा से पूछता है– 'किं पुनर्निमित्तं को वा निमित्ती?'' तो यह अधिक सुसंगत प्रतीत होता है।

---

१. प्रायः प्रथमा भाव्यमान विभक्ति होती है और उससे इतर सब भूतविभक्तियाँ।

२. सनादिकं ज्ञापयितुमिति शेषः। '---नोपादीयन्ते' पा०।

उस अवस्था में इतनी बात अवश्य समझनी होगी कि ये 'निमित्त-निमित्तिशब्द भावप्रधान[१]निर्देश हैं अर्थात् निमित्तत्व और निमित्तित्व के लिये 'निमित्त' 'निमित्ती' इन शब्दों का प्रयोग हुआ है और इसके उत्तर में प्रयुक्त 'निर्ज्ञात' 'अनिर्ज्ञात' शब्दों को भी भावप्रधाननिर्देश ही समझना होगा।

अच्छा ! कौन तो निमित्त है और कौन निमित्ती? अर्थात् निमित्तत्व और निमित्तित्व क्या है? निर्ज्ञात अर्थ (निर्ज्ञातत्व) निमित्त होता है और अनिर्ज्ञात अर्थ (अनिर्ज्ञातत्व) निमित्ती। निमित्त सदा निर्ज्ञात होता है। जैसे कि ऊपर प्रदर्शित लौकिक उदाहरण में भी 'अश्व' और 'पीठ' निर्ज्ञात अर्थ को पकड़कर वक्ता ने श्रोता को अनिर्ज्ञात देवदत्त और यज्ञदत्त अर्थ का बोध करा दिया। सो सिद्धान्त यही निकला कि निमित्त सर्वत्र (चाहे लोक हो या शास्त्र) निर्ज्ञात होता है और निमित्ती अनिर्ज्ञात। यहाँ व्याकरण शास्त्र में अध्येता को 'प्रत्यय' अनिर्ज्ञात होते हैं और 'प्रकृति-उपपद-उपाधि' निर्ज्ञात। प्रश्न उठता है– वे कैसे निर्ज्ञात हैं? वे भी तो अनिर्ज्ञात है। इसका उत्तर है धातूपदेश (धातुपाठ) में अध्येता ने धातुभूत प्रकृतियों को जान लिया है और उपपद व उपाधि के रूप में प्रयुक्त जो प्रातिपदिक हैं अथवा चौथे-पाँचवें अध्याय में प्रकृति के रूप में भी जिन प्रातिपदिकों को पढ़ा है, उन सबको प्रातिपदिकोपदेश (गणपाठ, वृद्धपरम्परा, पृषोदरादि यथोपदिष्टरूप आप्तवाक्य, उणादि अव्युत्पन्न पक्ष से सिद्धशब्द व नामपारायण[२] इत्यादि) के माध्यम से अध्येता जान लेता है। इस प्रकार अध्यापक हो चाहे अध्येता दोनों के लिये ही प्रकृति-उपपद-उपाधि सदा निर्ज्ञात ही होते हैं। इस हेतु से प्रत्ययों को उत्पन्न करने में उनका निमित्तभाव स्वीकार करने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं। अर्थात् वे निर्ज्ञात प्रकृति-उपपद-उपाधि सनादि प्रत्ययों के ज्ञान कराने में निमित्तभाव से आश्रित कर लिये जाते हैं।

लेकिन शब्दों के नित्य होने से उनमें निमित्त-निमित्तिभाव नहीं बन सकता, यह जो आपत्ति उठाई गई थी उसकी क्या गति होगी?

देखिये! अर्थप्रतिपादक के रूप में जो शब्द शिष्ट लोक में प्रसिद्ध हैं, उनका सरलता से अर्थ बोध कराने के लिये 'प्रकृति-प्रत्यय-विकार-आगम-आदेश रूप' विभाग की कल्पना के आधार पर व्याकरणस्मृति की रचना हुयी है। सो इस आधार को लेकर शब्दों के नित्य व अखण्ड होते हुये भी प्रकृति-प्रत्यय आदि में निमित्त-निमित्तिभाव को सरलता से देखा जा सकता है।

---

१. अन्तरेणापि भावप्रत्ययं भवति हि भावप्रधानो निर्देशः। यथा बहुषु बहुवचनम् (अ० १.४.२१-२२) इत्यत्र बहुषु=बहुत्वे, द्व्येकयोः=द्वित्वे एकत्वे।

२. पहले नामपारायण, धातुपारायण नाम से ग्रन्थ भी होते थे। नामपारायण ग्रन्थ में प्रातिपदिकों का संकलन होता था।

विशेष– इस भाष्य के व्याख्यान में नागेश ने और भी गहराई से विचार किया है। यहाँ गुप्-तिज् आदि धातुओं से परे दो काम किये जा रहे हैं– एक तो सन् का विधान और दूसरा प्रत्ययसंज्ञा का विधान। प्रश्न यह है– ये दोनों कार्य एक ही वाक्य के द्वारा सम्पन्न हुआ करते हैं या दो पृथक् वाक्यों के द्वारा। यदि एक ही वाक्य के द्वारा ये दोनों कार्य सम्पन्न हो रहे हैं, अर्थात् सन् के साथ प्रत्ययः और परश्च (बल्कि आद्युदात्तश्च भी) की एकवाक्यता होकर संज्ञाविशिष्ट का ही विधान हो रहा है तो गुप् तिज् आदि प्रकृतियों की (प्रकृतियों को यहाँ उपपद और उपाधि का भी उपलक्षण समझना चाहिये) प्रत्ययसंज्ञा होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। बस! यही 'निमित्तस्य निमित्तिकार्यार्थत्वात्' का भाव है। उस अवस्था में सूत्रार्थ होगा– 'गुपादिभ्यः सन्प्रत्ययः परो भवति'। इस रूप में प्रत्यय का विधान होने पर गुपादि की क्यों प्रत्ययसंज्ञा प्राप्त नहीं होती और यदि यह विधान दो वाक्यों में सम्पन्न होता है (गुपादिभ्यः परः सन् भवति, अथ च प्रत्ययसंज्ञाऽपि तेषां भवति) तो कैसे गुणादि प्रकृति (या उपपद और उपाधि में भी) प्रत्ययसंज्ञा की सम्भावना उपस्थित होने लगती है– आइये! इसी पर थोड़ा विचार करते हैं– मीमांसकों[1] का एक दृढ सिद्धान्त है कि एक वाक्य में एक ही विधेय होता है। कहीं वक्ता को यदि दूसरा विधेय अभीष्ट है तो उसके लिये उसे दूसरा वाक्य बोलना चाहिये और जो ये पाणिनि के सूत्र हैं वे प्रायः एक-एक विधेय वाले एक-एक वाक्य ही तो हैं। कहीं एक ही सूत्र से जब दो चीजों का विधान हो रहा होता है तो वहाँ चकारकरणादि अन्य यत्न किया जाता है– उसके कारण वैसा हो जाता है अर्थात् दो भिन्न वाक्य हो जाते हैं– ऐसा समझना चाहिये। सो यह बात निरपवादरूप से सबको मान्य है कि एक वाक्य में एक ही विधेय होता है। अब और एक बात पर ध्यान देना है– यहाँ शास्त्र में संज्ञा-संज्ञिसम्बन्ध को बताने के लिये प्रायः प्रथमा से या क्वचित् षष्ठी से निर्देश उपलब्ध होता है। सो 'प्रत्यय' इस संज्ञा का संज्ञी प्रथमानिर्दिष्ट 'सन्' इत्यादि ही बन पायेंगे न कि 'गुप्तिज्किद्भ्यः' इत्यादि पञ्चमीनिर्दिष्ट या उपपद और उपाधि रूप में पठित सप्तमीनिर्दिष्ट। इस प्रकार निमित्ती सन् इत्यादि के अनिर्ज्ञात होने से तथा साथ में योग्यविभक्ति[2] से निर्दिष्ट होने से एकवाक्यता के द्वारा उसी में 'प्रत्यय' इस संज्ञा का अन्वय होगा। निमित्तभूत प्रकृति-उपपद-उपाधि में 'प्रत्यय' इस संज्ञा को अन्वित करने के लिये अवश्य ही वाक्यभेद करना पड़ेगा– अर्थात् दो वाक्य बनाने पड़ेंगे। एक वाक्य से कहना होगा– 'गुप्तिज्किद् से उत्तर सन् होता है' और फिर दूसरे वाक्य से कहा जायेगा कि 'और ये सब[3] प्रत्ययसंज्ञक भी होते हैं' पर भिन्न वाक्य बनाने के लिये हमारे पास कोई हेतु या

---

१. वाक्य और उसके अर्थ पर विचार करने वाले विद्वान् को 'मीमांसक' कहते हैं। मीमांसा दर्शन को भी इसीलिये मीमांसक कहते हैं– क्योंकि वहाँ वेद और ब्राह्मणग्रन्थों में प्रयुक्त हुये वाक्यों व उनके अर्थ पर विचार किया गया है।

२. संज्ञी का जिस विभक्ति से निर्देश होना चाहिये उस विभक्ति से।

३. सन् भी और गुप्-तिज्-किद् भी। यहाँ द्वितीय वाक्य में 'गुप्-तिज्-किद् इत्यादि योग्यविभक्ति (अर्थात् प्रथमा) में बदल जायेंगे'।

प्रणाम है नहीं। मीमांसक 'उद्भिदा यजेत' इत्यादि में भी नामधेयसम्बन्ध लाभ के लिये वाक्यभेद नहीं मानते। उद्भिद्संज्ञाविशिष्ट याग का सीधा विधान कर दिया जाता है। वैसे ही प्रकृत में संज्ञाविशिष्ट का ही विधान समझना चाहिये। शब्द और अर्थ के अभेद होने से न तो इसमें अन्वय की अयोग्यता है, न ही लक्षणा करनी पड़ती है। और एक बात– संज्ञाविशिष्ट का विधान यदि नहीं माना जायेगा तो **'लुटः प्रथमस्य०'** अ० २.४.८५ सूत्रशेषस्थ भाष्य व कैयट में जो यह कहा गया है कि **'प्रत्ययस्वरश्च तासेर्वृत्तिसंनियोगशिष्टः'** अर्थात् **'यदैव तासिः प्रवर्तते तदैवोदात्तत्वयुक्तः'** इस कथन से विरोध आयेगा। सो उक्त भाष्य से भी यही प्रमाणित होता है कि विशिष्ट संज्ञी का विधान है। जब ऐसा है तो एक ही वाक्य रहेगा और एक वाक्य रहेगा तो प्रकृति-उपपद-उपाधियों में प्रत्ययसंज्ञा कथमपि व्यापृत नहीं हो सकेगी।

यहाँ भाष्य में 'बहुष्वासीनेषु.......पृच्छति-कतरो देवदत्तः?' इस वाक्य में 'कतरः' यह प्रयोग सांशयिक है, क्योंकि डतरविधायक सूत्र में 'द्वयोरेकस्य' ऐसा कहा गया है। जब कि यहाँ बहुतों में से एक को छाँटा जा रहा है। इस समस्या का समाधान यह है कि 'किं यत्तदोर्निर्धारिणे द्वयोरेकस्य०' अ० ५.३.९२ तथा 'वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्' अ० ५.३.९३ दोनों सूत्रों में उपाधि का प्रत्याख्यान होने से बहुतों में से भी एक के निर्धारण में 'कतर' शब्द सिद्ध हो जायेगा।

❊ प्रधाने कार्यसंप्रत्ययाद्वा सिद्धम् ❊ ।।३।।

(भाष्यम्) अथवा प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययो भवति।
किं च प्रधानम्? प्रत्ययः।
तद्यथा–बहुषु यात्सु कश्चित् कञ्चित् पृच्छति– 'को याती'ति? स आह-'राजे'ति।
'राजे'त्युक्ते प्रधाने कार्यसम्प्रत्याद् यः पृच्छति,
यश्च कथयति[१], उभयोः सम्प्रत्ययो भवति।
किंकृतं पुनः प्राधान्यम्? अर्थकृतम्।
यथा पुनर्लोकेऽर्थकृतं प्राधान्यम्, शब्दस्येदानीं किंकृतं प्राधान्यम्?
शब्दस्याऽपूर्वोपदेशः प्राधान्यम्। यस्यापूर्वोपदेशः स प्रधानम्।
प्रकृत्युपपदोपाधयश्च निर्दिष्टाः। क्व?
धातूपदेशे प्रातिपदिकोपदेशे च।।

प्रधान में कार्य का बोध होने से भी (प्रकृत समस्या का समाधान) सिद्ध है। अर्थात् प्रकृति-उपपद और उपाधियों की अप्रधानता के कारण उनकी प्रत्ययसंज्ञा नहीं होती।

१. 'यश्चाचष्टे' पा०।

प्रश्न उठता है प्रधान क्या है? प्रत्यय[१]। जैसे व्यवहार में देखा जाता है– जब बहुत सारे लोग राजपथ से जा रहे हों तो कोई जिज्ञासु व्यक्ति किसी दूसरे जानकार व्यक्ति से पूछता है– 'कौन जा रहा है?' वह अभिज्ञ व्यक्ति उसे उत्तर देता है– 'राजा'। प्रधान में कार्य का बोध होता है– इस हेतु से 'राजा' ऐसा कहने पर जो पूछता है और जो उत्तर देता है– दोनों को ही ठीक-ठीक एतद्विषयक ज्ञान (निश्चय) होता है।

यदि हम पूछें कि किस आधार को लेकर उक्तप्रसङ्ग में प्रधानता का निश्चय किया गया? तो यही कहना होगा– अर्थ[२] (धन) के आधार पर। वहाँ समस्त वैभव (ठाट-बाट) राजा का ही होता है या राजा के लिये ही होता है, सो उस समूह में वही सबसे विशिष्ट या सबसे अलग-थलग दिखायी देता है। इसीलिये उसकी प्रधानता है। अच्छा लोक में तो अर्थकृत प्रधानता सुसंगत हो जाती है। पर अब यहाँ व्याकरण में शब्द की (प्रत्ययरूप शब्द की) प्रधानता किंकृत (किस आधार को लेकर) मानी जाये? शब्द का प्राधान्य समझा जाये उसके अपूर्वोपदेश[३] के आधार पर, क्योंकि एक अर्थ में वह, जिसका कि अपूर्वोपदेश किया जा रहा है– अन्य सब साधनों के द्वारा सिद्ध किये जाने योग्य साध्यभूत अर्थ होता है, अर्थात् अन्य जो कुछ है वह सब उसी के निष्पादन के लिये होता है, इसलिये वह प्रधान है। यहाँ प्रस्तुत प्रसङ्ग में ऐसा अपूर्वरूप से कथन (=उपदेश) तो प्रत्यय का ही है। प्रकृति-उपपद-उपाधियाँ तो धातुओं के उपदेश करते समय धातुपाठ में और प्रातिपदिकोपदेश नामपारायण गणपाठ आदि में पहले ही निर्दिष्ट (उपदिष्ट) हो चुकी हैं। इसलिये प्रकृत में उनका प्रधानत्व नहीं समझा जा सकता। भाष्यकार का भाव है– आचार्य या शिष्य दोनों का ही लक्ष्य होता है कि ज्ञात से अज्ञात विषय की ओर बढ़ें। जिस विषय को कहीं से भी जान लिया गया है वह तो ज्ञात की सीमा में आ गया, अब उसके सहारे से या उसे साधन बनाकर जो नहीं जाना गया है उसको जानने का उपक्रम किया जाये। प्रस्तुत प्रसङ्ग में ऐसा जो है वह प्रत्यय ही है न कि प्रकृति-उपपद-उपाधियाँ। सो उनमें प्रत्ययसंज्ञा की अतिव्याप्ति नहीं होगी।

यद्येव निमित्तस्य निमित्तिकार्यार्थत्वात् यद्वा प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययात् प्रकृत्युपपदोपाधीनां न भवति। विकारागमानां तु प्राप्नोति 'हनस्त च' 'त्रपुजतुनोः षुक्'। एतेषां ह्यपूर्वोपदेशात् प्राधान्यम्, निमित्तिनश्चैवैते।

---

१. प्रत्यय प्रधान है इसीलिये 'प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतः' यह सिद्धान्त प्रचलित हुआ।

२. यहाँ 'अर्थ' शब्द से प्रयोजन अर्थ भी गृहीत हो सकता है। सबको अपने-अपने प्रयोजन-चाहे वे व्यक्तिगत हैं (अच्छा पद-प्रतिष्ठा, धन-वैभव, उद्योग-व्यापार इत्यादि) अथवा सार्वजनिक (सड़कें, नहरें, उचित न्यायव्यवस्था, बाह्य व आभ्यन्तरीय सुरक्षा, अन्य इसी प्रकार की सुख-सुविधायें) सिद्धि या पूर्ति का केन्द्र-बिन्दु (आधार) राजा ही दिखाई देता है। उस दृष्टि से भी सब में राजा की ही प्रधानता अभिलक्षित होती है।

३. अपूर्वत्वमज्ञातविषयकत्वम्, उपदेशो-ज्ञापनम्।

अच्छा हम इस बात को मान गये कि चाहे तो इस हेतु से कि निमित्त निमित्ती का प्रयोजन सिद्ध करने के लिये होता है और चाहे प्रधान में कार्य का बोध होता है इससे प्रकृति-उपपद-उपाधियों की प्रत्ययसंज्ञा नहीं होती। पर फिर भी विकारों (जैसे 'हनस्त च' अ० ३.१.१०८ से विहित तकारादेश) और आगमों जैसे त्रपुजतुनोः षुक् अ० ४.३.१३६ से विहित षुक् आगम) की तो प्रत्ययसंज्ञा प्राप्त होगी ही। क्योंकि इनका अपूर्वोपदेश होने से प्राधान्य भी है और ये निमित्ती भी हैं।

❊ विकारागमेषु च परविज्ञानात् ❊।।४।।

(भाष्यम्) विकारागमेषु[१] च परविज्ञानात् प्रत्ययसंज्ञा न भविष्यति। 'प्रत्ययः परो भवती'त्युच्यते। न च विकारागमाः परे (संभवन्ति)।

विकारों व आगमों में प्रत्ययसंज्ञा की अतिव्याप्ति नहीं होगी। क्यों? परविज्ञान हेतु से। 'परश्च' (अ० ३.१.२) इस परिभाषा[२] के 'प्रत्ययः' इस सूत्र के साथ सम्बद्ध होने पर अर्थ होगा– जो प्रत्ययसंज्ञक है वह परे होता है। विकार व आगम परे संभव ही नहीं हैं।

विशेष : यहाँ परविज्ञान प्रत्ययसंज्ञा का फल है। फल भी प्रयोजक होने से 'अध्ययनेन वसति' के समान 'हेतु' कह दिया जाता है। अत एव 'विभाषा गुणे०' (अ० २.३.२५) से यहाँ हेतु में पञ्चमी हो गयी है। सो इस भाष्य को इस रूप में समझना चाहिये कि प्रत्ययसंज्ञा में परत्व फल है और वह यहाँ सम्भव नहीं, इसलिये प्रयोजनाभाव होने से प्रत्ययसंज्ञा नहीं होती। प्रत्ययसंज्ञा होने पर उसका जो परत्व फल है वह यहाँ क्यों सम्भव नहीं है– यदि ऐसा पूछा जाये तो कहना होगा– क्योंकि षष्ठी के द्वारा स्थानसम्बन्ध और अवयव सम्बन्ध रूप अर्थ का प्रतिपादन किया गया है। इस बात को इसी सूत्र के भाष्य में अनुपद ही और भी स्पष्ट कर दिया जायेगा। कोई कहे कि विकार-आगमों की प्रत्ययसंज्ञा होने से 'आद्युदात्तश्च' से आद्युदात्तस्वर हो जाना प्रयोजन है, पर वह इसलिये नहीं है– क्योंकि 'आगमा अनुदात्ता भवन्ति' (पा०१११) नियम से आगमों को अनुदात्त कहा हुआ है। और विकार भी अर्थकृत आन्तर्य को लेकर प्रवृत्ति वेला में ही स्थानी के स्वर से युक्त हो जाते हैं। एक और सम्भावना रखी जा सकती है कि विकार आगमों की प्रत्ययसंज्ञा होने से 'यस्मात् प्रत्ययविधिः०' (अ० १.४.१३) सूत्र से अङ्गसंज्ञा हो जायेगी, पर वह भी नहीं है– क्योंकि 'अङ्गसंज्ञा'

१.विकारागमेषु च प्रत्ययसंज्ञा न भविष्यति परविज्ञानादिति वाक्यार्थयोजना।

२. 'लिङ्गवती परिभाषा भवति' इस नियम से 'परश्च' अ० ३.१.२. यह परिभाषा है। प्रत्ययसंज्ञा इसका लिङ्ग है। 'यः प्रत्ययसंज्ञकोऽस्ति स परो भवति' इस रूप में यह व्यापृत होगी। यह कैयटानुसारी व्याख्यान है। नागेश ने तो 'परश्च' को भी स्पष्ट ही अधिकार सूत्र ही माना है। जिसे इसी भाष्य के व्याख्यान में देखा जा सकता है।

प्रत्ययविधान और परत्व से सम्बद्ध है या प्रतिबद्ध है, लेकिन यहाँ वह चीज मिलेगी नहीं। इस प्रकार खूब सोचने पर भी विकार-आगमों की प्रत्ययसंज्ञा करने का कोई भी प्रयोजन नहीं निकल पा रहा। उधर केवल संज्ञामात्र विधान करने का तो कोई अर्थ है नहीं, उस संज्ञा का कुछ काम भी दिखाना चाहिये, पर वह मिल नहीं रहा, इसलिये प्रत्ययसंज्ञा नहीं होती।। इति कैयट:।

नागेश ने 'परविज्ञानात्' का अर्थ किया है– तत्सन्नियोगशिष्टत्वात्। अर्थात् प्रत्ययसंज्ञा 'पर' इसके सन्नियोग से विहित होने के कराण विकार-आगमों में प्रवृत्त नहीं होगी। सो कैसे? नागेश का कहना है– पञ्चम अध्याय पर्यन्त अग्रिम प्रकरण में एकवाक्यता से प्रत्यय:, परश्च और आद्युदात्तश्च इन तीनों का युगपत् ही विधान होता है– इसीलिये इन तीनों के बीच अन्योऽन्य के प्रति अन्योऽन्य की उद्देश्यता नहीं बन सकेगी। और जब ऐसा है तो प्रत्ययसंज्ञा के परत्व तथा आद्युदात्तत्व ये दो फल हैं– ऐसा कहना भी नहीं बन सकेगा। 'लुट: प्रथमस्य०' (अ० २.४.८५) सूत्रस्थ भाष्य का भी हमारे इसी अर्थ में समर्थन है कि ये तीनों कार्य एक साथ होते हैं न कि आगे-पीछे। इसीलिये इस भाष्य को इस रूप में समझना चाहिए कि विकार-आगम स्थलों में चूँकि 'आद्यन्तौ टकितौ' (अ० १.१.४५) और 'षष्ठी स्थानेयोगा' (अ० १.१.४८) के उपस्थित हो जाने से उनका स्थान निश्चित हो जाता है, इसीलिये वहाँ देशाकांक्षा का अभाव होने से तत्तत् सूत्रस्थ स्थानषष्ठ्यादि के साथ 'पर' इस अर्थ का सम्बन्ध नहीं हो सकेगा– जब 'पर' का सम्बन्ध नहीं होता तो सन्नियोगशिष्ट न्याय से 'प्रत्यय:' और 'आद्युदात्त:' का भी सम्बन्ध नहीं होगा। इस प्रकार विकार-आगमों की प्रत्ययसंज्ञा नहीं होती।

शिवरामेन्द्र सरस्वती ने इस भाष्य की व्याख्या इस प्रकार की है– विकारागमेषु प्रत्ययसंज्ञा न भवति, परस्य प्रत्ययसंज्ञाविज्ञानात् विकारागमयो: परत्वेन विधानाऽभावादिति। इनका भाव है– 'प्रत्यय:' 'परश्च' 'आद्युदात्तश्च' ये तीनों सूत्र 'गुप्तिज्किद्भ्य: सन्' आदिसूत्रों में अनुवर्तमान हैं। सो पहले मध्यम सूत्र अर्थात् 'परश्च' इस अर्थ से सम्बन्धित होकर एक वाक्य बनेगा, फिर अलग से 'प्रत्यय:' और 'आद्युदात्तश्च' प्रवृत्त होंगे। इस प्रकार सूत्रार्थ होगा– **''सन् गुप्तिज्किद्भ्य: पर: स्यात् प्रत्ययसंज्ञक आद्युदात्तश्च''**। सो उनका कहना है– जो पर है, उसकी प्रत्ययसंज्ञा कही गयी है– विकार-आगमों में परत्वेन विधान ही नहीं है। इसमें क्या विनिगमक है कि उनका परत्वेन विधान नहीं है– इसका उत्तर 'षष्ठीनिर्दिष्टस्य च तद्युक्तत्वात्' इस अग्रिम वार्तिक से दिया गया है।

किं पुन: कारणं समानेऽपूर्वोपदेशे प्रत्यय परो, विकारागमा न परे?

ऐसा क्या कारण है जो विकार-आगम और प्रत्ययों का अपूर्वोपदेश (=प्रथमत: कथन) समान होने पर (भी) प्रत्यय तो परे (हो जाता है) और विकार-आगम परे नहीं (हो पाते)।

यहाँ शिवरामेन्द्र सरस्वती ने 'कारण' का अर्थ 'विनिगमक' करके प्रश्न पूछा है– (ऐसा क्या विनिगमक है----) और अग्रिम वार्तिक को विनिगमक रूप में प्रस्तुत किया है।

षष्ठीनिर्दिष्टस्य च तद्युक्तत्वात्[१] ।।५।।)

षष्ठीनिर्दिष्ट के विकार-आगम से युक्त होने के कारण (वे विकार आगम परे नहीं होते)।

(भाष्यम्) षष्ठीनिर्दिष्टं विकारागमयुक्तं भवति। पञ्चमीनिर्दिष्टाच्च प्रत्ययो विधीयते।

ऊपर वार्तिक की भूमिका में पूछा 'किं कारणम्-----' उसी का उत्तर दिया जा रहा है– कारण यह है कि सूत्रों में जहाँ कहीं विकार व आगम का विधान किया गया है, वहाँ सर्वत्र षष्ठीविभक्ति से निर्देश उपलब्ध होता है, और दूसरी तरफ प्रत्ययों का विधान पञ्चमीनिर्देश[२] से किया गया है और 'गापोष्टक्' अ० ३.२.९आदि में कहीं पर एक आध जगह षष्ठी से निर्देश है भी तो उसको व्यत्यय (विभक्तिव्यत्यय) से पञ्चम्यर्थक ही समझना चाहिये अथवा उस षष्ठी को आनन्तर्य अर्थ में समझ लेना चाहिये। सो षष्ठी विभक्ति को देखकर झटिति विकार स्थल में स्थानसम्बन्ध और आगमस्थल में अवयवसम्बन्ध रूप अर्थ गृहीत होगा न कि परत्वरूप अर्थ, क्योंकि अनवयववाचक[३] पर शब्द के योग में पञ्चमी का ही विधान है न कि षष्ठी का।

प्रत्ययविधानानुपपत्तिस्तु ।।६।।

(भाष्यम्) प्रत्ययविधिस्तु नोपपद्यते। क्व? यत्र विकारागमाः शिष्यन्ते– 'हनस्त च' 'त्रपुजतुनोः षुक्' इति।

पर फिर प्रत्ययविधि नहीं उपपन्न होगी। कहाँ? जहाँ पर विकार व आगमों का शासन किया गया है। जैसे 'हनस्त च' (अ० ३.१.१०८) और 'त्रपुजतुनोः षुक्' (अ० ४.३.१३६) इत्यादि। क्योंकि विकारस्थल में स्थान्यादेश सम्बन्ध को बताने में षष्ठी का उपयोग हो गया और दूसरा वाक्य है नहीं। एक वाक्य से तो एक ही काम हो सकता है– ऐसा नियम है। सो आगम-आदेश स्थलों में प्रत्ययविधि उपपन्न नहीं हो सकेगी। इसी बात को भाष्यकार आगे प्रश्नोत्तररूप में उपस्थापित कर रहे हैं।

किं पुनः कारणं न सिध्यति?

क्या कारण है जो प्रत्ययविधि नहीं हो पायेगी?

---

१. विकारागमयुक्तत्वादिति भावः।

२. पञ्चमीनिर्दिष्ट स्थल में दिक्शब्द (=पूर्व या पर) का अध्याहार होने से– क्योंकि 'अन्यारा-----दिक्छब्दा०' अ० २.३.२९ सूत्र से दिक्वाची शब्द के योग में पञ्चमीविहित है– सो पर्याय से पूर्वत्व और परत्व अर्थ की प्राप्ति होने पर 'परश्च' अ० ३.१.२. सूत्र से परत्व का नियम हो जाता है। इस प्रकार षष्ठीनिर्देश में जैसे परत्व का विरोध है– वैसा पञ्चमीनिर्देश में नहीं।

३. पर शब्द 'अवयववाचक' भी है– जैसे– 'उस का परला भाग' सो अवयववाचक पर शब्द के योग में तो षष्ठी ही होती है, पर जब अवयव से भिन्न अर्थ में जैसे 'उससे परे' तो पर शब्द के योग में पञ्चमी ही विहित है।

विकारागमयुक्तत्वात्। अपञ्चमीनिर्दिष्टत्वाच्च।

कारण यही है– विकार-आगम से युक्त होने से (अर्थात् विकार-आगम का विधान होने से) और पञ्चमी के द्वारा निर्देश न होने से।

तस्मात् तत्र पञ्चमीनिर्देशात् सिद्धम्।।७।।

तस्मात् तत्र पञ्चमीनिर्देश: कर्त्तव्य:[१]।

इसलिये विकार अथवा आगम स्थलों में पञ्चमी का निर्देश करना चाहिये। अर्थात् 'हनस्त च, तस्मात्' ऐसा कहना चाहिये।

न कर्तव्य:। इह तावत् 'हनस्त च' इति धातोरिति वर्तते।

'त्रपुजतुनो: षुक्' इति प्रातिपदिकादिति वर्तते।

भाष्यकार का कहना है– पञ्चमी से निर्देश करने की आवश्यकता नहीं है। 'हनस्त च' अ० ३.१.१०८ यहाँ इस सूत्र में ऊपर से 'धातो:' अ० ३.१.९१ यह पञ्चम्यन्त पद उपस्थित हो रहा है और यहाँ 'त्रपुजतुनो: षुक्' अ० ४.३.१३६ सूत्र में 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' अ० ४.१.१ सूत्र से पञ्चम्यन्त 'प्रातिपदिकात्' पद अनुवर्तमान है।

यद्येवं हनस्त च– धातो: क्यप् भवतीति धातुमात्रात् क्यप् प्राप्नोति।

यदि ऐसी बात है तब तो बहुत गड़बड़ झाला हो जायेगा। क्या? 'हन:' और 'धातो:' में असमान विभक्ति होने के कारण विशेषणविशेष्य तो बन ही नहीं सकेगा, इसलिये दो स्वतन्त्र वाक्यों में सूत्रार्थ पूरा होगा 'धातु से क्यप् होता है और हन् को तकारादेश भी (हो जाता है)'। इस प्रकार धातुमात्र से क्यप् प्राप्त होने लगेगा। जो कि कथमपि अभीष्ट नहीं है।

नैष दोष:। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति– 'न धातुमात्रात् क्यप् भवती'ति, यदयम् 'एतिस्तुशास्वृदृजुष: क्यप्' अ० ३.१.१०९ इति परिगणनं करोति।

नहीं! यह कोई दोष नहीं है। आचार्य का व्यवहार इस बात में ज्ञापक बन जायेगा की 'धातुमात्र से क्यप् नहीं होता'। कैसे? 'एतिस्तुशास्०' इस अगले ही सूत्र के द्वारा आचार्य इण्-इत्यादि कुछ निश्चित धातुओं से क्यप् विधान कर रहे हैं– वह नियामक हो जायेगा कि 'केवल इन्हीं धातुओं से क्यप् होता है'। यदि धातुमात्र से क्यप् होता होता तो 'एतिस्तुशास्०' सूत्र द्वारा कुछ धातुओं का नाम लेकर पुन: क्यप् विधान की क्या आवश्यकता थी!

---

१. अस्मादग्रे 'स तर्हि पञ्चमीनिर्देश: कर्त्तव्य:' इति तु गौडा: पठन्ति।

पर फिर भी एक समस्या यहाँ शेष रह जाती है– धातुविशेष का नाम लेकर पुन: क्यप् विधान करने से क्यप् की असार्वत्रिकता तो ज्ञापित हो गयी– पर अब वह क्यप् हन् से हो जाता है, इस अर्थ की उपलब्धि में कोई विनिगमक दिखायी नहीं दे रहा। इसीलिये भाष्यकार समाधानान्तर प्रस्तुत करते हुये कहते हैं–

अथवा हन्तिमेवात्र[१] धातुग्रहणेनाभिसंभन्त्स्याम:[२] 'हन्तेस्तो भवति, धातो: क्यब्भवती'ति। कस्मात्? हन्तेरिति।

अथवा 'हनस्त च' सूत्र में अनुवर्तमान 'धातो:' पद से 'हन' को ही वाक्य भेद से विशेषित कर देंगे। कैसे? 'हनस्तोभवति' 'हन् धातु को तकारादेश होता है', यह वाक्य होगा। 'धातो: क्यब्भवति' = 'धातु से क्यप् होता है' यह दूसरा वाक्य है। अब इस द्वितीय वाक्य में आकांक्षा उदित होती है कि किस धातु से? तो प्रत्यासत्तिन्याय[३] से समीपस्थ श्रूयमाण हन् को ही सम्बन्धित कर देंगे– 'हन् धातु से'। इस प्रकार विकार-आगम स्थलों में विना पञ्चमीनिर्देश के भी प्रत्ययविधि सिद्ध हो जाती है।

अर्थाश्रयत्वाद्वा।।८।।

(भाष्यम्) अथवा अर्थाश्रय:[४] प्रत्ययविधि:। यस्तमर्थं[५] संप्रत्याययति[६] स प्रत्यय:। किं वक्तव्यमेतत्? न हि। कथमनुच्यमानं गंस्यते? 'प्रत्यय' इति महती संज्ञा क्रियते। संज्ञा च नाम यतो न लघीय:। कुत एतत्? लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम्। तत्र महत्या: संज्ञाया: करण एतत् प्रयोजनम्– अन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेत– प्रत्याययतीति प्रत्यय:।

अथवा अर्थ का आश्रय करके प्रत्ययविधान कर रहे हैं। जो उस अर्थ का (=तम् अर्थम्) बोध कराता है, वह प्रत्यय है। किस अर्थ का? भाव-कर्म-कर्ता अथवा अपत्यादि अर्थ का। इस प्रकार प्रत्यय इस अन्वर्थसंज्ञा के आश्रयण से अर्थवान् की ही प्रत्ययसंज्ञा होगी। क्या यह बात कहनी पड़ेगी कि अर्थवान् ही प्रत्यय होता है। नहीं! कहने की कोई आवश्यकता नहीं। विना कहे कैसे समझा जायेगा?

---

१. 'हन्तिरेवात्र' पा०। २. 'सम्भन्त्स्यते' पा०– अभिसम्पूर्वाद् बन्ध धातोर्लृटिरूपम्।
३. प्रत्यासत्ति न्याय और व्याप्तिन्याय ये एक दूसरे के विरोधी न्याय हैं। 'सामीप्यसम्बन्ध' का नाम प्रत्यासत्ति है। ४. अर्थ आश्रयो यस्य स तथा।
५. 'य: स्वमर्थं' पा०। ६. प्रत्याययति पा०।

सुनिये! प्रत्यय यह इतनी बड़ी संज्ञा की जा रही है। और वास्तव में संज्ञा तो वह है जिससे और छोटा न हो सके– संज्ञा को तो लघु से लघु होना चाहिये। यह बात कहाँ से निकाल ली? क्योंकि संज्ञा करने (=नाम रखने) का प्रयोजन ही लाघव है। तब ऐसी स्थिति में बड़ी संज्ञा के करने में यह प्रयोजन समझा जायेगा कि अन्वर्थसंज्ञा जानी जाये। 'जो (उस अर्थ का) बोध कराता है' जिसमें उस अर्थ का दर्शन हो, वह होता है 'प्रत्यय'। सो जब विकार और आगमों में भी प्रत्ययसंज्ञा की प्रवृत्ति होने लगेगी तो वहाँ 'प्रत्यय' इस संज्ञा के अर्थ का सम्भव न होने से 'प्रत्यय' यह संज्ञा प्रवृत्त नहीं होगी।

विशेष : 'अन्वर्थसंज्ञा' यह शब्द व्याख्यान की अपेक्षा रखता है। 'अनु' का 'अर्थ' पद के साथ 'अत्यादय: क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' भा० वा० २.२.१८ से प्रादितत्पुरुष समास है– अनुगता अर्थम् अन्वर्था (=अर्थ का अनुगमन करने वाली– अर्थ के पीछे-पीछे चलने वाली) पुन: 'अन्वर्था च सा संज्ञा-अन्वर्थसंज्ञा' विशेषणं विशेष्येण० अ० २.१.५६ से कर्मधारयतत्पुरुष समास होकर पूर्वपद को 'पुंवत् कर्मधारय०' अ०६.३.४१ से पुंवद्भाव हो गया है। 'प्रत्यय:' यह पद प्रतिपूर्वक अन्तर्भावितण्यर्थक[1] इण् धातु से कर्त्ता कारक में पचाद्यच् (अ० ३.१.१३४) करके निष्पन्न किया जाता है। इसीलिये यहाँ भाष्यकार ने 'प्रत्याययतीति प्रत्यय:' ऐसा विग्रह दर्शाया है।

यदि प्रत्यायतीति प्रत्यय:, अविकादीनां प्रत्ययसंज्ञा न प्राप्नोति।

न हि ते किञ्चित् प्रत्यायन्ति।

यदि अर्थ का जो प्रत्यायक (=बोधक) होता है, वही प्रत्यय होता है तो 'अविक[2]' इत्यादि शब्दों में विद्यमान कादि ('क' इत्यादि) की प्रत्ययसंज्ञा नहीं प्राप्त होती। क्योंकि वे किसी भी अर्थ का न तो बोधन कराते हैं और न ही तरबादि की भाँति द्योतन। अर्थ के अवधारण करने में आचार्यों ने 'अन्वय-व्यतिरेक' नामक एक विशिष्ट प्रक्रिया का निर्देश किया है। जिसके होने से जो हो वह 'अन्वय' और जिसके न होने से जो न हो वह 'व्यतिरेक' कहाता है। सो 'अविक' यहाँ और इस जैसे स्थलों में 'अन्वय-व्यतिरेक' के द्वारा 'क' इत्यादि प्रत्ययों में किसी भी वाच्यार्थ अथवा द्योत्यार्थ का निश्चय न होने से प्रत्ययसंज्ञा नहीं प्राप्त होती।

---

१. अन्त:=मध्ये भावित:=सम्पादितो ण्यर्थ: (=णेरर्थ:) यस्मिन् स तथा। जहाँ विना ही णिच् के णिच् प्रत्यय के अर्थ को धातु के द्वारा कहा जाता है वह अन्तर्भावितण्यर्थक धातु कहाती है।

२. अवे: क: अ० ५.४.२८ इति क: प्रत्यय:।

एवं तर्हि प्रत्याय्यत[1] इति प्रत्ययः।

अच्छा तो जिसका प्रकृति के द्वारा बोध कराया जाये– वह प्रत्यय होता है। यद्यपि कर्मव्युत्पत्ति से सिद्ध प्रत्यय शब्द का यह अर्थ निकलता है कि जो प्रत्याय्यमान है वह प्रत्यय। और प्रत्याय्यमान होता है 'अर्थ' न कि शब्द, क्योंकि प्रकृति के द्वारा अर्थ ही प्रत्याय्यमान हो सकता है– कादि तो शब्द होते हैं, जो किसी के द्वारा प्रत्याय्यमान हो ही नहीं सकते। तथापि यहाँ ऐसा समझना चाहिये– व्यवहार में कभी तो अभिधानधर्म[2] का अभिधेय में उपचार[3] कर दिया जाता है– जैसे भ्रमर[4] में द्विरेफ का और कहीं अभिधेय धर्म का अभिधान में। सो प्रकृति में अभिधेय 'जो प्रकृति के द्वारा प्रत्याय्यमानरूप अर्थ है' उसका अभिधानभूत 'क' आदि शब्द में उपचार कर दिया गया है। इस प्रकार कर्मसाधन प्रत्ययशब्द के द्वारा अविकादिघटककादियों की प्रत्ययसंज्ञा सिद्ध हो जायेगी।

एवमपि सन्नादीनां न प्राप्नोति।

यदि ऐसा है (अर्थात् प्रत्याय्यमानः प्रत्ययः) तो इच्छादि अर्थ में विधीयमान जो सनादि प्रत्यय हैं, उनकी प्रत्ययसंज्ञा प्राप्त नहीं होगी। प्रश्नकर्त्ता प्रत्यय शब्द को केवल कर्मसाधन में ही निष्पन्न मान रहा है। आगे उभयसाधनता स्वीकार करके उत्तर दिया जा रहा है–

एवं तर्ह्युभयसाधनोऽयं कर्तृसाधनः कर्मसाधनश्च।

आप ऐसा समझिये– यह प्रत्ययशब्द उभयसाधन है– कर्तृसाधन भी और कर्मसाधन भी। कोई भी शब्द एक से अधिक प्रवृत्तिनिमित्त को लेकर भी प्रयुक्त हो सकता है, इसमें कुछ भी शास्त्रीय आपत्ति नहीं है। यहाँ प्रत्ययशब्द ऐसा ही है। कर्त्ता व कर्म दोनों ही प्रवृत्तिनिमित्तों का इसके साथ सम्बन्ध माना जायेगा। फिर आगे आवश्यकतानुसार कहीं कर्तृसाधन का उपयोग होगा और वहीं कर्मसाधन का। प्रत्यय जहाँ किसी विशेष अर्थ के अभिधायक होंगे अथवा द्योतक होंगे वहाँ तो कर्तृसाधनपक्ष और जहाँ उनका कोई अपना निज अर्थ नहीं होगा वहाँ कर्मसाधनपक्ष स्वीकृत होगा। इस प्रकार सनादि और कादि सबकी प्रत्यय संज्ञा सिद्ध हो जायेगी।

एवमपि कुत एतत् समानेऽपूर्वोपदेशे त्रापुषं जातुषमित्यत्राऽकारस्तमर्थं प्रत्याययति, न पुनः षकार इति?

---

१. प्रतिपूर्वादन्तर्भावितण्यर्थाद् इण् धातोः 'एरच्' अ० ३.३.५६ इति,
कर्मण्यच्प्रत्ययेन साध्यतेऽयं प्रत्ययशब्दः। प्रत्याय्यते 'प्रकृत्ये' ति शेषः।

२. शब्दोऽभिधानम्– अर्थोऽभिधेयः।

३. उपचार गौण व्यवहार को कहते हैं– उपचार में लाक्षणिक अर्थ अभिप्रेत होता है।

४. द्विरेफ=दो रेफ हैं जिसमें ऐसा कोई शब्द– वह है भ्रमर (भ्रमर शब्द में दो रेफ हैं) पर व्यवहार में द्विरेफ कहने से भ्रमर शब्द का अभिधेयार्थ (भौंरा) लिया जाता है।

फिर भी आगम (और उपलक्षण से आदेश की भी) प्रत्ययसंज्ञा को कैसे हटा पायेंगे? अपूर्वोपदेश (=प्रथमत:कथन) तो आगम और प्रत्यय दोनों का ही एक जैसा ही है, तब यह कैसे कहा जाये कि त्रापुषम्[1] या जातुषम् में अकर (अण्प्रत्यय) तो उस (विकाररूप) अर्थ का बोध कराता है, पर षकार (षुग् आगम) नहीं कराता।

अन्यत्राप्यकारेण तस्यार्थस्य प्रत्यायनान्मन्यामहे– अकारस्तमर्थं प्रत्याययति, न पुन: षकार इति। क्वान्यत्र? 'बिल्वादिभ्योऽण्' अ० ४.३.१३४– बैल्व:।। प्रत्यय:।।१।।

सर्वत्र अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा अर्थवत्ता का निश्चय किया जाता है– यह बात पहले भी कही जा चुकी है। सो अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा प्रत्यय की ही अर्थवत्ता सिद्ध होती है न कि आगमों की। हम देखते हैं– प्रकृत उदाहरण से अन्यत्र (षकाररहितस्थल) 'बैल्ब' इत्यादि में भी अकार ही उस विकाररूप अर्थ का बोध करा रहा है– इस उपपत्ति से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अकार ही उस विकाररूप अर्थ का बोधक है न कि षकार। इस प्रकार 'षकार' जिसे शास्त्र में आगम नाम दिया गया है जो शास्त्रगत अन्य आगमों व साथ में आदेशों का भी उपलक्षण है– की प्रत्ययसंज्ञा नहीं होगी।

सूत्रनिष्कर्ष :

१.प्रत्यय यह अधिकार सूत्र है।

२.अधिकार होते हुवे भी प्रकृति-उपपद और उपाधियों की प्रत्ययसंज्ञा नहीं होगी। इसमें दो हेतु दिये गये–

(क) निमित्त निमित्ती का प्रयोजन सिद्ध करने के लिये होता है–

(निमित्तस्य निमित्तिकार्यार्थत्वात्)

प्रकृति-उपपद-उपाधि निमित्त हैं तथा प्रत्यय निमित्ती।

(ख) प्रधान में कार्य का बोध होता है (प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययाद्वा)

प्रकृति-उपपद-उपाधियाँ अप्रधान हैं, क्योंकि वे निर्दिष्टचर[2] हैं।

प्रत्यय प्रधान है– क्योंकि वह अपूर्वत्वेन उपदिष्ट हो रहा है।

३. उपर्युक्त दोनों हेतुओं से विकार व आगमों में भी प्रत्ययसंज्ञाप्राप्ति की संभावना उपस्थित कर उसका निराकरण– पञ्चमीनिर्देश व षष्ठीनिर्देश के आधार पर।

---

१. त्रापुषम् में 'त्रपुजतुनो: षुक्' अ०४.३.१३६ सूत्र से 'तस्य विकार:' अ० ४.३.१३२ अर्थ में अण् प्रत्यय तथा साथ में षुक् आगम किया जाता है।

२. भूतपूर्वे चरट् अ० ५.३.५३ (धातूपदेशे प्रातिपदिकोपदेशे च पूर्वं निर्दिष्टा) इति।

४. अर्थाश्रयत्व रूप अन्तिम मान्य हेतु के द्वारा विकार-आगमों में प्रत्ययसंज्ञा की अतिव्याप्ति का वारण।

५. प्रत्यय यह अन्वर्थसंज्ञा स्वीकार कर अर्थाश्रयत्व की सिद्धि।

६. प्रत्यय शब्द में कर्तृसाधन व कर्मसाधन उभयप्रवृत्तिनिमित्त का स्वीकरण।

परश्च।।३.१.२।।

किमर्थमिदमुच्यते ?

किसलिये इस सूत्र का कथन किया जा रहा है? जबकि पञ्चमीनिर्देश में– परशब्द का अध्याहार करके पञ्चमीविधान[१] होने से परत्व सिद्ध है। जहाँ 'गापोष्टक्' अ० ३.२.८ इत्यादि में षष्ठीनिर्देश है, वहाँ भी 'धातो:' अ० ३.१.९१ यह पञ्चम्यन्त पद अनुवर्तमान है, सो उसके कारण परशब्द का अध्याहारसिद्ध है। रही बात 'गापो:' इत्यादि निर्देशों में षष्ठी की, सो उस तरह के निर्देशों में आनन्तर्यसम्बन्ध में षष्ठी समझी जायेगी।

परो यथा स्यात्, पूर्वो मा भूदिति।

समाधाता का कहना है कि– पूर्वशब्द के अध्याहार के द्वारा भी तो पञ्चमीविधान सम्भावित है, वैसा होने पर पूर्वत्व अर्थ भी तो प्राप्त है। सो 'परश्च' सूत्र नियमार्थ है कि– पर ही हो, पूर्व न हो। षष्ठीनिर्देश स्थलों में चूँकि आनन्तर्य अर्थ का पूर्वत्व के साथ भी सम्बन्ध सम्भव है, सो वहाँ के लिये भी प्रकृत सूत्र नियमार्थ ही है। भाव इतना ही है कि व्याख्यान दुर्ज्ञेय है– इसलिये 'पर' अर्थ की प्राप्ति के लिये इस सूत्र को बनाया गया।

नैतदस्ति प्रयोजनम्। यमिच्छति पूर्वमाह तम्– 'विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु' अ० ५.३.६८ इति।

यह तो कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि जिसको पूर्व में बिठाना चाहते हैं– उस एक का नाम लेकर स्वत: ही आचार्य कह रहे हैं– 'विभाषा सुपो०' इति। भाव यह है 'पूर्व में कोई प्रत्यय हो तो बहुच् ही हो– अन्य नहीं' (बहुजेव पुरस्ताद्भवति नान्य: प्रत्यय:) इस प्रकार बहुच् विषय में पूर्वदेश के नियत होने से अन्य सभी प्रत्यय पर ही होंगे।

१.'अन्यारादितरर्तेदिक्छब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते' अ० २.३.२९ इस सूत्र में दिक्शब्द के योग में पञ्चमी का विधान है।

मध्ये तर्हि मा भूदिति।

पञ्चमीनिर्देश में तो मध्य शब्द का अध्याहार असम्भव है, पर व्रीहिशाल्योर्ढक' अ० ५.२.२ इत्यादि षष्ठीनिर्देश स्थलों में मध्य शब्द के अध्याहार द्वारा षष्ठी विधान न समझ लिया जाये, और फिर वहीं वह प्रत्यय मध्य में बैठने लगे, इसलिये यह सूत्र है।

मध्येऽपि यमिच्छत्याह तम्– 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टे:,' रिति अ० ५.३.७१। य इदानीमतोऽन्य: प्रत्यय:[१] शेष: सोऽन्तरेण वचनं पर एव भविष्यतीति नार्थ: परवचनेन।

मध्य में भी जिसको बिठाना चाहते हैं, उसका भी नाम लेकर अपने महान् कण्ठ से ही कह रहे हैं– 'अव्ययसर्वनाम्नाम्०'। अब जो इससे अन्य बच गया प्रत्ययमात्र– वह विना इस वचन के भी पर ही होगा, इस प्रकार परवचन की कोई आवश्यकता नहीं।

'अव्ययसर्वनाम्नाम्' इस पद में मध्य शब्द के अध्याहार द्वारा षष्ठी का विधान है। ऐसा मान लेने पर अकच् टिभाग से पूर्व स्वत: ही सिद्ध है। फिर जो 'प्राक्टे:' कथन है, वह नियम करने के लिये है कि 'अकच् ही प्रकृति के मध्य में होता है, अन्य कोई भी नहीं' (अकजेव प्रकृतिमध्ये भवति नान्य:)। यहाँ यह ध्यातव्य है– मध्यमात्र का परिग्रह करके उक्त नियम समझा जायेगा कि 'अकजेव प्राक्टे:' अकच् ही टिभाग से पहले होता है– ऐसा मध्यविशेष का आश्रय करके, अन्यथा मध्यान्तर[२] में प्रत्ययान्तर होने लगेगा।

यहाँ यह उपर्युक्त व्याख्यान कैयटानुसारी है। शिवरामेन्द्र सरस्वती का कहना है– मध्य शब्द का अध्याहार करके 'अव्ययसर्वनाम्नाम्' इस पद में षष्ठीविधान है– यह सब कल्पना करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। यहाँ तो भाष्यकार सीधी-सीधी बात कह रहे हैं कि यथाश्रुत सूत्र के द्वारा टिभाग से पूर्व अकच् का विधान करने पर भी स्वाभाविक रूप से वह विधान मध्य में होता है तो उससे नियम के रूप में यह निष्कर्ष निकाला जायेगा कि 'अकच् ही मध्य में होता है अन्य कोई नहीं'। (अकजेव मध्ये नान्य:) अर्थात् मध्य में कोई प्रत्यय हो तो अकच् ही हो। इस प्रकार के नियम के स्वरूप की पुष्टि में उन्होंने एक अन्य प्रसङ्ग उपस्थित किया कि सभी भाष्यकारादि वैयाकरणों ने (कृत्तद्धितसमासाश्च) अ० १.२.४६ सूत्र में भी वास्तविक[३] धर्म का आश्रय करके ही समासग्रहण की नियमार्थता स्वीकार की है। कैयट के तरीके से मध्य शब्द का अध्याहार कर अकच् का विधान करने की बात सोचने पर तो टिभाग से पहले वह अकच् कहीं भी मध्य में बैठने लगेगा– जो कि सर्वथा अनिष्ट है।

---

१. इह जातावेकवचनम्।

२. जैसे 'व्रीहिशाल्योर्ढक'- अ० ५.२.२ यहाँ व्रीहिशब्द के रेफ व ईकार के मध्य मे अथवा ईकार हकार के मध्य में ढक् होने लगेगा।

३. अर्थवत्वरूप धर्म को ही प्रकृत में वास्तविक धर्म जानना चाहिये।

एवमपि येषामेव प्रत्ययानां देशो नियम्यते, त एव नियतदेशा:[१]स्यु:।

य इदानीमनियतदेश:[२] स कदाचित् पर:, कदाचित् पूर्व:, कदाचिन् मध्ये स्यात्।

तद्यथा मातुर्वत्स: कदाचिदग्रत:, कदाचित् पृष्ठत:, कदाचित् पार्श्वतो भवति।

पर एव यथा स्यादित्येवमर्थं परवचनम्।

फिर भी जिन प्रत्ययों का देश नियत हो गया (अर्थात् जिन प्रत्ययों का देशविशेष में नियम हो गया) जैसे बहुच् या अकच् इत्यादि, वे ही नियतदेश वाले हो पायेंगे। अब जो बच गये सनादि, जिनके कि देश का कोई नियम नहीं है (कि वे कहाँ पर बैंठे) वे कभी तो (प्रकृति से) पर, कभी पूर्व और कभी मध्य में होने लगेंगे।[३] भाष्यकार इस विषय में एक लौकिक दृष्टान्त देते हैं, जैसे- किसी गाय का बछड़ा राह चलते कभी आगे चल पड़ता है तो कभी पीछे और कभी अगल-बगल में हो जाता है। क्योंकि उस बछड़े के लिये ऐसा कोई नियम नहीं बनाया हुआ है कि तुम्हें माँ की दायीं तरफ ही खड़ा होना है या चलना है, या बायीं तरफ ही, या पीछे ही। उसकी इच्छा है– कहीं भी खड़ा हो सकता है, किधर भी चल सकता है। तद्वत् इन अनियत देश वाले प्रत्ययों की भी यही गति होगी। लेकिन अभिमत यह है कि वह सदा पर ही हो। जब उसे पर ही बिठाना अभिमत है तब तो सूत्र बनाना ही पड़ेगा। सो इस व्यवस्था के लिये यह सूत्र बनाया है।

---

१. नियतो देशो येषां ते तथा।

२.न विद्यते नियतो देशो यस्य स (जातावेकवचम्)।

३. व्यक्तिपदार्थ और आकृतिपदार्थ दो रूपों में सूत्रों की लक्ष्यों में यानी उदाहरणों में प्रवृत्ति होती है। आकृति पदार्थ में सूत्र एक होता है। और उसके सामने सब के सब लक्ष्य उपस्थित होते है। सो वह सूत्र सब लक्ष्यों में एक ही साथ, एक ही रूप में प्रवृत्त होता है। ऐसा नहीं कि एक लक्ष्य में प्रत्यय को परे बिठा रहा है तो दूसरों में पूर्व में। लेकिन व्यक्ति पदार्थ में प्रतिलक्ष्य लक्षण भिन्न होता है 'धातो: कर्मण:०' अ० ३.१.७ सूत्र से सिद्ध होने वाले एक लाख उदाहरण होंगे तो एक लाख ही सूत्र। ऊपर जो दोष उपस्थित किया गया है, वह व्यक्तिपदार्थ को लेकर ही किया गया है। अर्थात् गम् धातु से सन् अलग लक्षण द्वारा प्राप्त होगा और पठ् से सन् अलग लक्षण के द्वारा सो विनिगमक के अभाव में किसी लक्ष्य में वह सन् पूर्व होगा तो किसी में परे तो किसी किसी अन्य लक्ष्य में मध्य में आकर बैठने लगेगा– ऐसा कहा जा रहा है। ऊपर दिये गये दृष्टान्त में प्रकृति को मातृस्थानीय और प्रत्यय को वत्सस्थानीय समझ कर संगत कर लेना चाहिये।

विशेष :– 'विषाभा सुपो०' 'अव्ययसर्वनाम्नाम्०' इन सूत्रों को नियम सूत्र बनाने पर दो प्रकार का नियम सम्भव है– देशनियम और प्रत्ययनियम। नियम को समझने में 'यत्रैवकारस्ततोऽन्यत्रावधारणम्' इस व्यवहार को ध्यान में रखा जाता है। इसलिये देशनियमपक्ष में नियम का स्वरूप होगा– 'बहुजेव पुरस्तात्' अर्थात् प्रकृति से पूर्व में कोई प्रत्यय हो तो केवल मात्र बहुच् ही हो– इस अर्थ में पूर्वदेश बन्ध जाता है (बहुच् के साथ)। इसी प्रकार 'अकजेव प्राक् टेः' टिभाग से पूर्व (अर्थात् मध्य में) कोई प्रत्यय हो तो अकच् ही हो– मध्य बन्ध गया (अकच् के साथ)। पर इस व्यवस्था में बहुच् और अकच् का नियतदेशत्व नहीं बन पायेगा। दूसरा है प्रत्ययनियम, सो उस पक्ष में सूत्रार्थ होगा– 'बहुच् पुरस्तादेव' 'अकच् प्राक्टेरेव' अर्थात् बहुच् प्रकृति से पूर्व ही हो। इस व्यवस्था में 'बहुच्' व 'अकच्' बन्ध जाते हैं अर्थात् उनका देश (=स्थान) निश्चित हो जाता है। पर स्वयं 'देश' पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता। उस पूर्व या मध्यरूप अनियतदेश में कोई और प्रत्यय आकर बैठना चाहे तो उसके लिये कोई रुकावट नहीं होगी। सो अब इस परिपेक्ष्य में देखना यह है– 'एवमपि येषामेव प्रत्ययानां देशो नियम्यते, त एव नियतदेशाःस्युः' इस कथन से भाष्यकार देशनियम की बात कह रहे हैं या प्रत्ययनियम की। कैयट ने इस भाष्य की सङ्गति प्रत्यय-नियमपरक लगायी है। उनका कहना है– 'एवमपि--स्युः'। इस कथन के द्वारा भाष्यकार यह कहना चाहते हैं कि प्रकृत में बहुच् और अकच् विधेय हैं– इसलिये वे प्रधान हैं, प्रधान होने से उन्हीं का देशविशेष में नियम हो पायेगा (पुरस्तादेव बहुच्, प्राक् टेरेवाकच्-इत्यादि) अन्य सब अनियत देश वाले होने लगेंगे। पर इस अर्थसङ्गति में 'देशो नियम्यते' भाष्यकार का यह कथन अनुपपन्न हो जाता है– इसलिये इस कथन की संगति लगाता हुआ कैयट कहता है– प्रत्ययनियम होते हुए भी भाष्यकार ने 'देशो नियम्यते' इस भाव से कहा है कि 'परश्च' सूत्र के अभाव में सभी प्रत्ययों का अनियत-देश प्राप्त हो रहा था, सो उनमें से बहुच्-अकच् इत्यादि कुछ प्रत्ययों के विशिष्ट देश का प्रतिपादन कर दिया, बस इस दृष्टि से प्रत्यय-नियम को ही देश नियम कह दिया है।[१] इस व्यवस्था में बहुच् व अकच् से बाकी जो प्रत्यय शेष बच गये वे तो अनियत देश वाले ही रहेंगे।

शिवरामेन्द्र सरस्वती का कहना है– 'यत्रैवकारस्तत्रैव नियमः' इस व्यवहार को सामने रखकर 'एवमपि येषामेव-----स्युः'। इस भाष्य को समझना चाहिये। अर्थात् 'बहुच् पुरस्तादेव' 'अकच् प्राक्टेरेव' जब कहेंगे तो बहुच् और अकच् का नियम नहीं हो रहा है बल्कि बहुच् और अकच् के देश का नियम हो रहा है। इस प्रकार शेष बचे प्रत्ययों का देश तो अनियत ही रहेगा-जो कि समस्या बनी हुयी है।

परवचनमनर्थकं पञ्चमीनिर्दिष्टाद्धि परस्य (कार्यम्)।।१।।

परग्रहणमनर्थकम्[२]। किं कारणम्? पञ्चमीनिर्दिष्टाद्धि परस्य कार्यमुच्यते।

तद्यथा- 'द्व्यन्तरूपसर्गेभ्योऽप ईदि'ति।

---

१. प्रत्ययस्यानियतदेशसम्बन्धप्रसङ्गे नियतदेशसम्बन्धः प्रत्ययनियमेन क्रियत इत्येतावता प्रत्ययनियम एव देशनियमशब्देनोक्त इत्यर्थः। अन्नंभट्ट। २. न विद्यते अर्थः (प्रयोजनम्) यस्य तत्।

'परश्च' यह सूत्र बनाना व्यर्थ है। किस कारण से? 'तस्मादित्युत्तरस्य' अ० १.१.६६ इस परिभाषा से शास्त्र में जहाँ कहीं पञ्चमीनिर्दिष्टकार्य हो वह उत्तर को (=पर को) होता है, ऐसा कहा गया है सो उसी से इष्ट व्यवस्था सिद्ध हो जायेगी। जैसे कि 'द्व्यन्त०' अ० ६.३.९६ सूत्र से द्वि इत्यादि शब्दों से उत्तर अप् शब्द को ईकार आदेश होता है– द्वि+अप=द्वि+ईप=द्वीप।

विषम उपन्यास:। सतस्तत्र[1] परस्य कार्यमुच्यते। इहेदानीं कस्य सत:[2] परस्य कार्यं भवितुमर्हति।

आपने जो 'परश्च' सूत्र की अनावश्यकता विषय में उपपत्ति प्रस्तुत की है, वह विषम है। वहाँ तो स्पष्ट ही परिभाषा में 'उत्तरस्य' ऐसा षष्ठीनिर्दिष्ट पद पढा है। सो उससे तो यह अर्थ– निकलता है– उत्तर में जो कोई विद्यमान है– उसको किसी कार्य का आधार बनाया जाये तो वह परिभाषा नियम करने के लिये उपस्थित हो जाती है। क्या आप बता सकते हैं– यहाँ किस विद्यमान पर को कोई कार्य किया जा रहा है? क्या आप नहीं देख रहे– यहाँ तो सर्वथा अविद्यमान ही सनादि को उत्पन्न किया जा रहा है। इसलिये वह परिभाषा विधीयमान आदेश व आगम मात्र की व्यवस्थापिका है न कि प्रत्यय की भी। सो प्रत्यय के परत्व के लिये यह सूत्र बनाना ही पड़ेगा।

इहापि सत एव। कथम्? स्वाभाविकं परत्वम्।

प्रत्याख्यानवादी कहता है– यहाँ भी विद्यमान को[3] ही कार्य है। सो कैसे? देखिये! व्याकरणशास्त्र के द्वारा सिद्धशब्दों का अन्वाख्यान किया जाता है। अर्थात् शब्द तो सदा से ही बने बनाये हैं। व्याकरण का काम तो इतना ही है कि किसी भी शब्द को पकड़कर यह दर्शाना कि इस शब्द में विद्यमान पूर्व भाग को हम प्रकृति नाम से पुकारते हैं और परभाग को प्रत्यय और फिर उनको यह तो आदेश हो गया है या हो रहा है और यह आगम। सो जुगुप्सते आदि प्रयोगों में 'गुप्' इस प्रकृतिभूत शब्द से स्वाभावत: जो परे विद्यमान 'स' है उसको 'गुप्तिज्किद्भ्भ: सन्' अ० ३.१.५ के द्वारा बताया जा रहा है कि यह प्रयोग साधु[4] है। यही है वैयाकरणों का अन्वाख्यान। रही बात व्याकरणप्रक्रिया (=व्युत्पत्ति) की– सो सूत्रार्थ होगा- 'गुप्तिज्किद् आदि से उत्तर विद्यमान 'स' (सन्) को आदेश होता है।' 'तस्मादित्युत्तरस्य' के नियम से 'गुप्तिज्किद्भ्य: सन्' सूत्र में पढा प्रथमानिर्दिष्ट सन् षष्ठी में बदल कर 'सन् के स्थान में आदेश होता है' ऐसा अर्थ बन जायेगा। चूँकि अन्य किसी आदेश का तो अभाव है, इसलिये 'स्थानेऽन्तरतम:' के नियम से अर्थकृत आन्तर्य को लेकर 'सन्' को सन् ही आदेश हो जायेगा। सन् इत्यादि मे नकारादि अनुबन्धों का प्रयोग केवल प्रक्रियामात्र के लिये है अर्थात् प्रक्रियागत कार्यों को निष्पन्न करने के लिये है।

---

१. 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' इत्यत्र।

२. विद्यमानस्येत्यर्थ:।

३. हिन्दी भाषा मे षष्ठी विभक्ति का अर्थ 'को' इस शब्द से भी कहा जाता है। गत पङ्क्तियों में भी इस प्रयोग को देखा जा सकता है।

४. अर्थात् 'जुगुप्सते' प्रयोग में गुप् से उत्तर सन् की स्थिति साधु है।

शिवरामेन्द्र सरस्वती ने स्वाभाविक परत्व पक्ष में तस्मादित्त्युरस्य परिभाषा को व्यापृत नहीं किया। उनका कहना है– जब यह निर्णय हो गया है कि 'परत्व' स्वाभाविक है न कि वाचनिक तो उस अवस्था में लक्ष्य को देख कर लक्षण का अर्थ होगा। लक्ष्य में तो 'स' परे ही है, इसलिये 'गुप्तिज्किद्०' सूत्र में पठित पञ्चमी को (पर शब्द का अध्याहार करके) दिग्योगलक्षणा स्वीकार करना होगा। 'प्रत्ययः' और 'आद्युदात्तश्च' दोनों सूत्र ऊपर से अनुवर्तमान हैं ही– सो सूत्रार्थ होगा– 'गुप्तिज्किद्भ्यः परः सन् प्रत्ययसंज्ञः स्यादाद्युदात्तश्च'। सो इस सूत्र के विना भी स्वाभाविकपक्ष में काम चलेगा। एक और बात– 'अथवा यदस्य परस्य सतः संज्ञा स्यात्' आगे कही गयी भाष्य पङ्क्ति को भी वे स्वाभाविक पक्ष में ही नियोजित करते हैं। यद्यपि उनकी यह बात ठीक है कि स्वाभाविक पक्ष में 'तस्मादित्युत्तरस्य' के विना भी अभीष्ट सूत्रार्थ प्राप्त हो जाता है। पर प्रस्तुत प्रसङ्ग में भाष्य-प्रवाह को देखने में यह नहीं लगता कि भाष्यकार को यहाँ यही अभिमत है कि स्वाभाविक पक्ष में 'तस्मादित्युत्तरस्य' का उपयोग नहीं लेना चाहिये और 'अथवा यदस्य परस्य सतः संज्ञा स्यात्' भाष्यप्रवाह में यही लगता है कि उक्त पङ्क्ति वाचनिक पक्ष में कही गयी है न कि स्वाभाविक पक्ष में।

अथ वाचनिके परत्वे सति परग्रहणेनार्थः स्यात्?

अच्छा तो क्या वाचनिक[1] परत्व होने पर परग्रहण अर्थात् प्रकृत सूत्र से कोई अर्थ (=प्रयोजन) सिद्ध हो सकता है?

वाचनिके च नार्थः। एतद्धि तत्परस्य कार्यम्-यदसौ[2] परतः[3] स्यात्।
अथवा यदस्य[4] परस्य सतः संज्ञा[5] स्यात्[6]।

वाचनिक पक्ष में भी कोई प्रयोजन नहीं है (परग्रहण का)। हि=क्योंकि तत्=वह यह (=एतत्) पर का ही तो कार्य है अर्थात् परसम्बन्धी ही तो कार्य है जो कि वह (सनादि) परे हो जायें।

अथवा जो पर में विद्यमान हुआ सनादि है उसकी प्रत्ययसंज्ञा हो जाये (यही पर का कार्य है)।

विशेष:– 'तस्मादित्युत्तरस्य' यह परिभाषा सूत्र उन-उन कार्यों (प्रदेशों) में उपस्थित होता हुआ भिन्न-भिन्न रूप से अपने अर्थ को उपस्थापित करेगा। सो जहाँ तो किसी विद्यमान को कार्यी (=कार्य का आधार) रूप से ग्रहण किया जायेगा– वहाँ अर्थ होगा– उत्तर को कार्य होता है (उत्तरस्य कार्यं भवति) अर्थात् कार्य की अपेक्षा से 'उत्तरस्य' में सम्बन्ध षष्ठी मानी जायेगी। पर जहाँ अविद्यमान की उत्पत्ति की जायेगी (जैसा कि प्रकृत प्रसङ्ग है) वहाँ उत्तर का भाव हो जाता है– (उत्तरस्य भावो भवति) ऐसा अर्थ गृहीत होगा–अर्थात् भाव की अपेक्षा से उत्तरस्य में कर्ता में षष्ठी समझी जायेगी। भाष्य में जो यह कहा गया है कि 'यही पर का कार्य है कि जो वह पर हो जावे' उसका यही भाव है कि उत्पत्ति ही कार्य है। 'परःस्यात्' स्पष्ट ही 'परो भवति' का समानार्थक है। अथवा केवल उत्पत्तिमात्र को परसम्बन्धी कार्य स्वीकार करने में आपको कोई कठिनाई हो रही है तो यह समझ लीजिये कि 'विद्यमान पर की प्रत्ययसंज्ञा करना' परसम्बन्धी कार्य है। इस प्रकार 'तस्मादित्युत्तरस्य' परिभाषा से ही इष्ट सिद्धि हो जाने के कारण वाचनिक पक्ष में भी सूत्र अनावश्यक है। पर वाचनिक परत्व हो चाहे स्वाभाविक-सर्वत्र प्रत्यय प्रकरण में यदि यही व्यवस्था की जायेगी तो सन्, क्यच्, क्यष् इत्यादि प्रत्ययों में जो प्रथमाविभक्ति से निर्देश किया है, वह अचरितार्थ ही रहेगा क्योंकि सभी जगह 'तस्मादित्युत्तरस्य' से उपस्थित हुये उत्तरस्य के साथ सन् इत्यादि का समानाधिकरण होने पर वह प्रथमा षष्ठी में बदल जायेगी। कोई कहे कि 'न च प्रत्ययविधौ पञ्चम्यः प्रकल्पिकाः' अर्थात् प्रत्ययविधान करने वाली पञ्चमियाँ उत्तर को षष्ठी में नहीं बदलती, ऐसा नियम है। पर इसको ऐसा समझा जायेगा कि 'परश्च' सूत्र के प्रत्याख्यान पक्ष में वह नियम है ही नहीं। वह तो तभी है जब 'परश्च' सूत्र है।

---

१. शब्दों के विषय में दो पक्ष हैं– नित्य और कार्य। यद्यपि पाणिन्यादि सभी वैयाकरणों द्वारा समादृत नित्यपक्ष ही सिद्धान्त रूप से स्वीकृत है तो भी जब ऐसा माना जाता है कि प्रकृति और प्रत्यय के योग से शब्दों को बनाया जाता है– उस अवस्था में यहाँ एक बात ध्यान देने की है– चाहे स्वाभाविक पक्ष हो या वाचनिक, दोनों ही पक्षों में प्रकृति-प्रत्यय, विकार-आगम सब कल्पित ही समझे जाते हैं। केवल अन्तर इतना ही है कि एक में (स्वाभाविक पक्ष में) प्रकृति प्रत्ययादि के द्वारा अन्वाख्यान किया जाता है तो दूसरे में निर्माण।

२. असौ = सनादिः, ३. 'परः' इत्यर्थः (कई पुस्तकों में 'परः' ही पाठ उपलब्ध है)

४. अस्य = सनादेः ५. प्रत्ययसंज्ञा ६. 'तत् परस्य कार्यम्' इति शेषः।

महाभाष्य

उपर्युक्त समस्या का समाधान यह है कि लाघवार्थ निर्देश मात्र के लिये प्रातिपदिकार्थमात्र में अथवा प्रथमोपस्थिति के आधार पर प्रथमाविभक्ति से निर्देश हो सकता है। उत्तरकाल में वह षष्ठी में बदल ही जायेगी।

कैयट कृत इस सम्पूर्ण व्याख्या को शिवरामेन्द्र सरस्वती ने निरस्त कर दिया। उनका कहना है– 'वाचनिके च नार्थः' भाष्य के इन शब्दों का यथाश्रुत व्याख्यान करना ठीक नहीं है, क्योंकि वाचनिक पक्ष ही भाष्यकार या वार्तिककार को अभिमत नहीं है। वाचनिकत्व के विधायक किसी प्रामाणिक वचन के विना वाचनिकता स्वीकार करना उचित नहीं है। हमारे पास वाचनिकत्व का समर्थक कोई वचन होना चाहिये– तब हम इस विषय में आगे कोई कदम बढ़ा सकते हैं। यथास्थिति में तो हमें इसकी व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिये कि ''वाचनिकता'' स्वीकार करना युक्त नहीं है– क्योंकि उससे 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः' म०भा० वा०१ इस भाष्य सिद्धान्त का व्याघात होता है। अतः जब वह पक्ष ही नहीं तो उस पक्ष में यह पूछना भी अपने आप समाप्त हो जाता है कि क्या वाचनिक परत्व मानने पर परग्रहण का कोई प्रयोजन हो सकता है।

इसी प्रकार 'एतद्धि परस्य कार्यं यदसौ परतः स्यात्' इस भाष्यपङ्क्ति का भी व्याख्यान 'तत्तु न युज्यते, सिद्धशब्दान्वाख्यानसिद्धान्तविरोधादिति शेषः' इतना शेष मानकर करते हैं। उनका भाव यह है कि पर शब्द का कार्य यही है कि वह सनादि पर हो जाये– पर वह युक्त नहीं क्योंकि उससे सिद्धशब्दों के अन्वाख्यानरूप सिद्धान्त का विरोध होता है।

लेकिन भाष्य के ऊपर से नीचे तक पूरे प्रवाह को देखने से ऐसा कहा नहीं जा सकता कि प्रकृत में भाष्यकार का यही अभिप्राय है। क्योंकि भाष्य में ऐसे अनेक स्थल दिखाये जा सकते हैं जहाँ एकदेशी पक्ष को लेकर भी विचार किया गया है।

अब 'अथवा यदस्य परस्य संज्ञा स्यात्' इस भाष्यपङ्क्ति पर और भी विचार किया जा रहा है– असत् की तो कोई संज्ञा होती नहीं। संज्ञा तो सदा सत् की ही होती है। सो प्रकृत में 'गुप्तिज्किद्०' आदि सूत्रों में दिक्शब्द के योग में पञ्चमी मानकर परशब्द का अध्याहार कर सन् का विधान कर दिया जायेगा। कोई कह सकता है– पूर्वशब्द का अध्याहार भी तो सम्भव है, पर वह इसलिये नहीं हो सकता कि आचार्य यहाँ सन् का विधान करके 'प्रत्यय' यह संज्ञा भी कर रहे हैं। प्रकृति से पूर्व में सन् का विधान करके संज्ञा करने में तो कोई प्रयोजन अर्थात् कोई शास्त्रीय कार्य सिद्ध होगा नहीं, साथ में ऐसा कोई प्रमाण भी नहीं है कि पूर्व का अध्याहार किया ही जाये, इसलिये पर शब्द का अध्याहार करना ही आवश्यक समझा जायेगा। सो प्रथम वाक्य के द्वारा सन् का विधान होने पर द्वितीय वाक्य से विद्यमान पर की संज्ञा (=प्रत्ययसंज्ञा) कर दी जायेगी। तब सूत्र का अर्थ होगा– 'गुपादिभ्य उत्तरस्य सनः 'प्रत्यय' इत्येषा संज्ञा भवति'।

हमारे विचार में प्रकृत भाष्य का भाव यह हो सकता है– 'गुप्तिज्किद्०' आदि सूत्रों में सर्वत्र 'प्रत्ययः' और 'आद्युदात्तश्च' की तो अनुवृत्ति है ही। तस्मादित्युत्तरस्य से 'उत्तरस्य' पहुँच कर 'सन्' इस संज्ञी के रूप में उपस्थित उद्देश्य[१] उसको षष्ठी में बदल देगा। उस संज्ञा-संज्ञिसम्बन्ध को बताने के लिये षष्ठी और प्रथमा दोनों से भी निर्देश देखा जाता है। जैसे 'स्वं रूपं शब्दस्या०' अ० १.१.६७ सूत्र को जब संज्ञा रूप में स्वीकार करते हैं तो 'शब्दस्य स्वं रूपं संज्ञा' ऐसा अर्थ होता है। तद्वत् यहाँ भी 'सनः प्रत्यय इत्येषा संज्ञा' ऐसा अर्थ गृहीत होगा। बस साथ में इतनी बात यहाँ अवश्य समझनी होगी कि 'वृद्धकुमारीन्याय' से सन् की उत्पत्ति अन्तर्गर्भित है। इस प्रकार 'परश्च' यह सूत्र बनाना अनावश्यक है।

यत्र तर्हि पञ्चमी नास्ति तदर्थमयं योगो वक्तव्यः।

क्व च पञ्चमी नास्ति?

यत्र विकारागमाः शिष्यन्ते।

क्व च विकारागमाः शिष्यन्ते? 'हनस्त च' अ० ३.१.१०८

'त्रपुजतुनोः षुक्' अ० ४.३.१३६

सूत्रसमर्थनवादी कहता है– तो जहाँ पञ्चमी नहीं है, उसके लिये यह योग (=सूत्र) कहना चाहिये। ऐसा कौन सा स्थल है, जहाँ पञ्चमी नहीं है? जहाँ विकार और आगम विधान किये जाते हैं। कहाँ विकार व आगमों का विधान किया जा रहा है?

'हनस्त च' अ० ३.१.१०८ सूत्र में तथा 'त्रपुजतुनोः षुक्' अ० ४.३.१३६ सूत्र में। 'तस्मादित्युत्तरस्य' परिभाषा तो अपना कार्य वहीं कर सकती है जहाँ पञ्चमी निर्देश उपलब्ध होता है। सो उपर्युक्त प्रसङ्गों के लिये 'परश्च' सूत्र बनाना आवश्यका होगा।

विकारागमेषु चोक्तम्।।२।।

(भाष्यम्) विकारागमेषु चोक्तम्। किमुक्तम्?

'प्रत्ययविधानानुपपत्तिस्तु तस्मात् तत्र पञ्चमीनिर्देशात् सिद्धमिति'। म०भा० ३.१.१. वा०६

इस विषय में जो कहना चाहिये वह 'प्रत्ययः' अ० ३.१.१ में कहा गया है। वहीं से जान लेना चाहिये। क्या कह दिया?

यही कह दिया कि पञ्चमीनिर्देश के अभाव में यदि प्रत्ययविधि नहीं उत्पन्न हो पा रही तो वहाँ इष्टसिद्धि के लिये पञ्चमी निर्देश करना ही चाहिये और कोई रास्ता नहीं है।

---

१. सन् और प्रत्यय के बीच में उद्देश्य-विधेय का व्याख्यान से निर्णय कर लिया जायेगा।

अच्छा इतनी सी ही बात है तो इसके लिये यह मार्ग है– पञ्चम्यन्त धातोः अ० ३.१.९१ और प्रातिपदिकात् अ० ४.१.१ की सर्वत्र अनुवृत्ति होने से प्रत्ययविधि उत्पन्न हो सकती है, और यह कहा जाए कि फिर तो धातुमात्र या प्रातिपदिकमात्र से वे प्रत्यय होने लगेंगे। सो वैसा नहीं होगा– क्योंकि प्रत्यासत्तिन्याय से उस सूत्र पठित धातु और प्रतिपदिक का ही ग्रहण होगा। इस प्रकार उन विकार व आगम विधान किये जाने वाले स्थलों में भी 'परश्च' अनावश्यक ही है।

अत्यन्तापरदृष्टानां वा परभूतलोपार्थम्।।३।।

(भाष्यम्) अत्यन्तापरदृष्टानां[1] तर्हि परभूतलोपार्थं[2] परग्रहणं कर्तव्यम्। य एतेऽत्यन्तापरदृष्टाः क्विबादयो लुप्यन्ते तेषां परभूतानां[3] लोपो यथा स्यात्। अपरभूतानां मा भूदिति।

अब तक 'परश्च' सूत्र का प्रयोजन अनुक्त होने से वार्तिक में पठित 'वा' शब्द का भाष्यकार 'तर्हि' अर्थ में व्याख्यान कर रहे हैं। समुच्चय अथवा विकल्प अर्थ तो तभी सम्भव था जब पहले भी कोई प्रयोजन दे दिया गया होता।

अच्छा तो जो प्रत्यय कभी भी प्रकृति से पररूप में देखे नहीं गये, उनका परभूतों का लोप करने के लिये 'परश्च' सूत्र बनाना चाहिये। जो ये क्विप्-क्विन्-ण्वि-विच्-च्वि इत्यादि प्रत्यय हैं उनकी प्रयोग में सदा परत्वेन अत्यन्त अदृष्ट स्थिति है और उधर लोप भी उनका होता ही है– तथा लोप कहा गया है विद्यमान का। सो उनका परभूतों का लोप हो अर्थात् 'पर' इस रूप में उपस्थित हुवों का ही लोप हो, 'पर' इस स्थिति को प्राप्त हुये विना अर्थात् पूर्वोपस्थितों का लोप न हो। इसके लिये प्रकृत सूत्र अपेक्षित है। भाव यह है सनादि की तो प्रयोग में परत्वेन विद्यमान होते हुवों की प्रत्ययसंज्ञा विधि उत्पन्न हो जायेगी, लेकिन क्विप्-क्विन् आदि तो प्रयोगावस्था में उपलब्ध ही नहीं होते, इसलिये उन क्विबादि का पहले परत्वेन बोधन करके, उसके बाद प्रत्ययसंज्ञा और अपृक्तसंज्ञा का विधान कर 'वेरपृक्तस्य' अ० ६.१.६५ से लोप विधान करने के लिये प्रकृत सूत्र बनाना आवश्यक है, और एक बात- यह व्याकरणशास्त्र लक्षणैकचक्षुष्कों[4] के लिये उपयोगी है, और वे प्रयोग को देखकर सूत्रार्थ का निर्णय करने में असमर्थ होंगे, सो उनको भी यह बोध कराने के लिये कि सनादि पर ही हों, पूर्व न हों– 'परश्च' बनाना ही चाहिये।

---

१. परत्वेन दृष्टः परदृष्टः, न परदृष्टः = अपरदृष्टः। अत्यन्तम् अपरदृष्टोऽत्यन्ताऽपरदृष्ट इति मयूरव्यंसकादित्वात् अ० २.१.६९ समासः।

२. परभूतानां लोपायेत्यर्थः।

३. परत्वं भूताः (=प्राप्ताः) परभूतास्तेषाम्।

४. लक्षणमेव- एकम् (एकमात्रम्) चक्षुर्येषां ते तथा।

किं पुनरत्यन्तापरदृष्टानां परभूतलोपवचने प्रयोजनम्?

किति णितीति कार्याणि यथा स्युरिति।

'अत्यन्त-अपरदृष्ट' प्रत्ययों के परभूतों का ही लोप करने में ऐसा कौन सा प्रयोजन सिद्ध करना चाहते हो जो उसके लिये इतना आग्रह किया जा रहा है?

वह परभूतों का ही लोप करना आवश्यक इसलिये है कि कित् परे रहते भूसुप् और देवेट् इत्यादि प्रयोगों में सम्प्रसारण[१]; फलभाक्, अंशभाक्[२] इत्यादि में 'अत उपधाया:' अ० ७.२.११६ से उपधावृद्धि हो जाये, और साथ में अग्निचित् में 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' अ० ६.१.६९ से तुक् तथा शुक्लीकरोति इत्यादि में 'अस्य च्वौ' अ० ७.४.३२ इत्यादि का भी उपलक्षण से ग्रहण समझ लीजिये।

प्रकृत प्रसङ्ग की यह उपर्युक्त व्याख्या हमने शिवरामेन्द्र सरस्वती के अनुसार दी है। कैयट क्या कहता है उसे भी देखते चलिये– उसका कहना है– 'अत्यन्तापरदृष्ट' इस पद में 'पर' शब्द प्रधान अर्थ का वाचक है– परेण प्रधानेन प्रमाणेन प्रत्यक्षेण न क्वचित् (पूर्वतो वा परतो वा) दृष्टा ये क्विबादय:। अर्थात् परमप्रमाण प्रत्यक्ष के द्वारा क्विबादि न तो कभी प्रकृति से पूर्व देखे गये हैं और न पर इस प्रकार की सत्ता का सर्वथा अभाव होने से चाहे नित्यशब्ददर्शन हो या कार्यशब्ददर्शन– 'तस्मादित्युत्तरस्य' परिभाषा के उपस्थिति न होने से उन-उन प्रत्ययों का स्थान निश्चित न हो पाने से लोप भी अनियतदेश वाला होने लगेगा। इसके लिये परभूतलोपार्थ यह वचन[३] आवश्यक है। इसके होने पर अवश्य ही यह बुद्धि उत्पन्न हो जायेगी की वे सब प्रत्यय पर में स्थित होकर फिर लोप को प्राप्त होते हैं। उससे 'अग्निचित्' आदि उदाहरणों में प्रत्ययलक्षण (अ० १.१.६१) के द्वारा परभूत प्रत्यय के आश्रय से तुगादि सिद्ध हो जाते हैं। कैयट यह कहना चाहते हैं– ठीक इससे पूर्व गत प्रसङ्ग में जो 'परश्च' सूत्र को अनावश्यक ठहराया, वह इसी आधार पर कि इस सूत्र से जो प्रयोजन सिद्ध करना चाहते हैं वह 'तस्मादित्युत्तरस्य' की उपस्थिति से सिद्ध हो जायेगा। पर जब क्विबादि का अस्तित्व ही नहीं– क्योंकि शास्त्र तो सिद्धशब्दों का अन्वाख्यान मात्र करता है और सिद्धशब्दों में वे क्विबादि दिखायी नहीं देते। यद्यपि कार्यशब्ददर्शन अर्थात् वाचनिक परत्व पक्ष में जैसा कि पीछे व्याख्यान किया गया है– उत्तरस्य भाव: (धातोरुत्तस्य क्विपो भाव:) तदनुसार क्विबादि के होने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये। लेकिन वहाँ भी क्विबादि में भावबुद्धि हो नहीं सकेगी– क्योंकि लोप अभाव बुद्धि को उत्पन्न कर देता है या कर देगा। इनकी स्थिति तो शशविषाण की तरह है–

---

१. भुवि स्वपिति, देवान् यजते देवेट्– 'वचिस्वपियजादी०' अ० ६.१.१५ इति सम्प्रसारणम्।

२. फलं भजते, अंश भजत इत्यादौ 'भजो ण्वि:' अ० ३.२.६२ इति ण्विप्रत्यय:।

३. 'परश्च' सूत्र।

महाभाष्य

जो अपने स्वरूप को कभी प्राप्त नहीं कर पाते। इसीलिये तो इनके लिये वार्तिककार ने ''अत्यन्तापरदृष्ट'' यह हेतुगर्भित विशेषण दिया है। केवल प्रत्ययलोपवचन[१] के द्वारा उनके अत्यन्त अभाव होने पर भी शास्त्रीय कार्यमात्र का विधान किया जाता है। इस प्रकार चाहे नित्यशब्ददर्शन या कार्यशब्ददर्शन 'तस्मादित्युत्तरस्य' परिभाषा से क्विबादि प्रसङ्ग में 'उत्तरस्य' का सम्बन्ध नहीं हो पायेगा। 'परश्च' सूत्र बनाने पर तो तत् सामर्थ्य से 'परत्वबुद्धिविशिष्ट बौद्ध क्विप्' ऐसा अर्थ समझा जायेगा, और उससे परभूत प्रत्यय के आश्रय से होने वाले तुक्-सम्प्रसारण-वृद्धि इत्यादि अभीष्ट कार्य प्रत्ययलक्षण के द्वारा सिद्ध हो जायेंगे।

सार यह है 'परश्च' सूत्र के अभाव में 'क्विप् च' अ० ३.२.७६ सूत्र में 'धातोः' इस पञ्चम्यन्त पद की अनुवृत्ति से तो अर्थ करते समय दिक्वाची पूर्व या 'पर' शब्द का अध्याहार किया जायेगा। 'पर' के अध्याहार से तो कुछ अनिष्ट नहीं होगा, लेकिन पूर्व के अध्याहार होने पर 'क्विप्' पूर्व में उपस्थित होता हुआ लोप को प्राप्त होगा। इस स्थिति को लक्ष्य करके ही भाष्य में कहा गया है– अपरभूतानां लोपो मा भूत् (अपरभूतानाम्=पूर्वभूतानाम्)। अर्थात् इस समस्या से बचने के लिये प्रकृतसूत्र आवश्यक है।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति-

'अत्यन्तापरदृष्टाः परभूता एव लुप्यन्त' इति यदयं तेषु कादीननुबन्धानासजति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्?

अनुबन्धासञ्जन एतत् प्रयोजनम्– किति णितीति कार्याणि यथा स्युरिति।

यदि चात्यन्तापरदृष्टाः परभूता लुप्यन्ते ततोऽनुबन्धासञ्जमर्थवद् भवति।

प्रत्याख्यानवादी ऊपर दिये प्रयोजन को भी ज्ञापक से निरस्त करता हुआ कहता है– अब भी प्रयोजन नहीं है। आचार्य के व्यवहार से पता चलता है– अत्यन्तापरदृष्ट (क्विबादि) परभूत ही लुप्त होते हैं (न कि पूर्वभूत)। क्या है भला वह व्यवहार? जो कि यह आचार्य उन क्विबादि में कादि अनुबन्धों का योग कर रहें हैं। इससे कैसे ज्ञापित होगा– जरा खुलासा करके बताइये? देखिये! अनुबन्ध लगाने का यही तो प्रयोजन है कि कित् परे रहते और णित् परे रहते जो कार्य (सम्प्रसारण अथवा वृद्धि इत्यादि) कहे गये हैं वे प्रकृत में भी हो जावें और यह तब हो पायेगें जब अत्यन्तापरदृष्ट प्रत्यय परभूत लुप्त होंगे। अपरभूतों (पूर्वभूतों) का लोप होने पर उन-उन कादि अनुबन्धों के द्वारा वे-वे कार्य सम्पन्न हो ही नहीं सकेंगे। क्योंकि सभी अनुबन्ध कार्य पर भूत प्रत्यय को आश्रित करके ही होते हैं। अर्थात् किति, पिति, णिति, कृति इत्यादि में सर्वत्र परसप्तमी ही मान्य है। इस प्रकार तो वे सब के सब अनुबन्ध कार्य व्यर्थ हो जायेंगे। इससे यह प्रकट होता है कि आचार्य यह देखते हैं कि परभूतों का ही लोप होता है। अर्थात् केवलमात्र उसी स्थिति में उन अनुबन्धों का लगाना सार्थक है।

१.प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् अ० १.१.६१।

प्रयोगनियमार्थं वा।।४।।

(भाष्यम्) प्रयोगनियमार्थं तर्हि पर ग्रहणं कर्त्तव्यम्।

परभूतानां प्रयोगो यथा स्यात्। अपरभूतानां मा भूदिति।

वार्तिककार की दृष्टि में पूर्वप्रयोजन स्थित है इसलिये उन्होंने अपने हिसाब से विकल्पार्थ 'वा' पढा है। भाष्यकार ने तो उस पूर्वप्रयोजन को लिङ्ग से निराकृत कर दिया– इस कारण 'वा' का 'तर्हि' इस अर्थ में व्याख्यान प्रस्तुत कर रहे हैं।

सूत्र का रखना आवश्यक मानकर वार्तिककार और साथ में भाष्यकार प्रयोजन देते हैं अच्छा तो ऐसा समझिये कि प्रयोग का (=प्रत्ययों के प्रयोग का) नियम करने के लिये यह सूत्र बनाना चाहिये। 'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न च केवलः प्रत्ययः' वैयाकरण निकाय में जो यह नियम प्रचलित है, इसे प्रत्यय के सन्दर्भ में दो रूपों में प्रस्तुत करना होगा या समझना होगा– 'यः प्रत्ययः स प्रकृतेः परः प्रयोक्तव्य एव' तथा दूसरा 'प्रत्ययः प्रकृतेः पर एव प्रयोक्तव्यः'। अर्थात् जो प्रत्यय है उसका प्रकृति से पर प्रयोग करना ही चाहिये, तथा प्रत्यय को प्रकृति से परे में ही प्रयोग करना चाहिये। इसी बात को भाष्य में अपने ढंग से कहा गया– 'परभूतानां प्रयोगो यथा स्यात्। अपरभूतानां मा भूत्'। यहाँ शिवरामेन्द्र सरस्वती का कहना है कि इन दोनों ही वाक्यों के 'प्रकृतीनाम्' और 'प्रत्ययानाम्' ये दोनों ही पद शेष भूत हैं। सो प्रथम वाक्य का अर्थ होगा– परं प्रत्ययं भूतानां (प्राप्तानामेव[१]) प्रकृतीनाम्, प्रकृतेः परत्वेन भूतानां (=सतामेव[१]) प्रत्ययानां चेत्यर्थः।

तथा दूसरे वाक्य का अर्थ होगा– परभूतेतराणां[२] केवलानां प्रकृतीनां प्रत्ययानां चेत्यर्थः।

नागेश ने 'अपरभूतानाम्' पद में नञ् तथा बहुव्रीहि दो प्रकार का समास करके यही अर्थ प्रकट किया है। उनके शब्द हैं– न परभूता अपरभूता इति, न विद्यन्ते परभूता येषामिति चार्थः। तेन केवलप्रत्ययानां केवलप्रकृतीनाञ्चेर्त्थः। अर्थात् नञ्समास के अनुसार 'केवल प्रत्ययों का' और बहुव्रीहि के अनुसार 'केवल प्रकृतियों का' ऐसा अर्थ निकलता है।

१.भूधातु प्राप्त्यर्थक भी है और सत्तार्थक भी। प्रसङ्ग के अनुसार अर्थ का ग्रहण कर लिया जाता है।

२. परभूतानि-इतराणि येभ्यस्तानि, तेषाम्। 'अपरभूतानाम्' पद में प्रयुक्त नञ् (=अ) का अर्थ 'इतर' इस शब्द के द्वारा किया गया है।

महाभाष्य

इस सम्पूर्ण चर्चा का सार यह है कि आचार्य प्रकृत सूत्र बनाकर प्रत्ययों के प्रयोग को नियमित (नियमबद्ध) करना चाहते हैं। 'पर' यह एक सापेक्ष शब्द है। जब इससे कुछ पूर्व भी होगा तो ही 'पर' इस शब्द का अर्थ चरितार्थ हो पायेगा। सो कहना यह चाहते हैं कि परभाव को प्राप्त हुये-हुये प्रत्ययों का ही अर्थात् प्रकृति के सहित ही प्रयोग हो (परत्वं भूता:=प्राप्ता: परभूता:) विना परभाव को प्राप्त हुये प्रत्ययों का अर्थात् केवलों का प्रयोग न हो (न परत्वम्=परभावं भूता:=प्राप्ता इत्यपरभूता:, अर्थात् केवला:) भाव यह है सूत्र के विना ही जब प्रत्ययों का परत्व सिद्ध था, फिर जो भी 'परश्च' बनाया– इससे यह समझा जायेगा कि आचार्य उनके परत्व पर जोर[१] दे रहे हैं कि ये सदा परभाव को प्राप्त होकर ही प्रयोगार्ह होते हैं– अकेले नहीं।

क्यों जी! प्रत्ययरहित प्रकृतियों का और प्रकृतिरहित प्रत्ययों का तो कहीं भी प्रयोग नहीं दिखायी देता, इसलिये ऐसा लगता है कि आपका यह प्रयोगनियम व्यर्थ है– इस भावना को हृद्गत करके अग्रिम भाष्य है–

अस्ति पुन: किंचिदनिष्टं दृश्यते[२] यदर्थो नियम: स्यात्?

क्या कुछ ऐसा अनिष्ट दिखायी दे रहा है जिसके लिये यह उपर्युक्त नियम करना सार्थक हो?

अस्तीत्याह।

समाधाता कहता है– हाँ! अनिष्ट दिखायी दे रहा है।

प्रकृतेरर्थाभिधाने[३]ऽप्रत्ययदर्शनात्[४]।।५।।

(भाष्यम्) प्रकृतिरर्थाभिधानेऽप्रत्ययिका[५] दृश्यते– क्व स देवदत्त: क्व स यज्ञदत्तो बभ्रुर्मण्डुर्लमक[६] इति। बाभ्रव्यो[७] माण्डव्यो[७] लामकायन[८] इति प्रयोक्तव्ये बभ्रुर्मण्डुर्लमक इति प्रयुज्यते।

अर्थ का कथन करने में अथवा अर्थाभिधायक वाक्य में प्रत्ययरहित प्रकृति का भी प्रयोग देखा जा जाता है। जैसे- जो बभ्रु मण्डु लमक है ऐसा वह देवदत्त या यज्ञदत्त कहाँ है। यहाँ प्रकृत वाक्य में अपत्यप्रत्ययान्त बाभ्रव्य, माण्डव्य, लामकायन का प्रयोग करना चाहिये था; उसके स्थान में बभ्रु, मण्डु, लमक प्रयोग किये जा रहे हैं।

---

१. अंग्रेजी भाषा में इसके लिये एक शब्द प्रयोग होता है– Emphasis के लिये।

२. दृशिक्रियाऽस्तिक्रियाया: कर्त्री। पुनरिति प्रश्नार्थे। किञ्चिदनिष्टकर्मकं दर्शनमस्ति किमित्यर्थ:।

३.अर्थो विशिष्टोऽभिधीयतेऽनेनेत्यर्थाभिधानम्, अर्थबोधनार्थं प्रयुज्यमानं वाक्यं तत्रेत्यर्थ:।अथवा 'अभिधाने' इत्यत्र भावे ल्युट्-अर्थस्याभिधाने=कथन इत्यर्थ:।

४. प्रत्ययाऽभावदर्शनादित्यर्थ:। ५. अविद्यमान: प्रत्ययो यस्या: सा।

६. यो बभ्रुर्मण्डुर्लमक: स देवदत्त: क्वेत्यर्थ:।

७. 'गर्गादिभ्यो यञ्' अ० ४.१.१०५ इति यञ्प्रत्ययान्तौ।

८. 'नडादिभ्य: फक्' अ० ४.१.९९ इति फक्प्रत्ययान्त:।

यहाँ कोई ऐसा कह सकता है कि उपर्युक्त शब्दों का 'सोऽयम्' इस सम्बन्ध को लेकर अभेदोपचार से अपत्य अर्थ में प्रयोग सम्भव है, फिर उनका असाधुत्व कैसे कहा जा रहा है? इसके उत्तर में यह कहना होगा कि अभेदोपचार से नियमत:[१] अपत्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। भृत्य-मित्र आदि अर्थ भी साहचर्य से जाने जा सकते हैं। इसलिये अभेदोपचार के विना अपत्यार्थ की विवक्षा करके बहुवचनान्त 'गर्गा:' की भाँति कोई एकवचनान्त 'बभ्रु' इत्यादि का प्रयोग न करने लगे– इसके लिये नियमार्थ 'परश्च' यह वचन बनाना चाहिये।

द्वयसादीनां च केवलदृष्टत्वात्।।६।।

(भाष्यम्) द्वयसादीनां च केवलानां प्रयोगो दृश्यते– किमस्य-

द्वयसम्, किमस्य मात्रम्, काऽद्य तिथीति।

तथा केवल द्वयसजादि प्रत्ययों का भी प्रयोग देखा जाता है। जैसे– 'किमस्य प्रमाणम्' इस अर्थ में किमस्य द्वयसम्, किमस्य मात्रम्, और बहूनां पूरणी बहुतिथी[२] शब्द का एकदेश 'तिथी' को भ्रान्तिवश 'काऽद्य तिथी' रूप में प्रयोग करते देखा जाता है। जो तिथिशब्द से 'बह्वादिभ्यश्च' अ० ४.१.४५ सूत्रपठित 'सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके' गणसूत्र से ङीष् करके 'तिथी' शब्द सिद्ध होता है वह तो साधु ही है।

भाव यह है– **'समानेऽर्थेऽन्वाख्यातोऽनन्वख्यातस्य निवर्तक:'** इस अभियुक्तोक्ति से उस-उस अर्थ में प्रत्ययपरक का ही साधुत्व कथन किया गया है। इसलिये केवल प्रकृतिरूप अथवा केवल प्रत्ययरूप प्रयोग असाधु ही है। सो प्रागुक्त युक्तियों से प्रत्यय का परत्व तो सिद्ध ही था फिर भी जो 'परश्च' सूत्र बनाया– वह प्रत्यय के प्रयोग को नियमित करने के लिये है कि 'प्रत्यय: परो भवत्येव'। अर्थात् प्रत्यय का पर प्रयोग होता ही है। 'पर' यह सापेक्ष शब्द है– पूर्व की अपेक्षा से ही पर होता है। जब यह कह दिया कि प्रत्यय का पर प्रयोग होता ही है तो केवल प्रकृति का अथवा केवल प्रत्यय का प्रयोग अपने आप निरस्त हो जाता है।

द्वयसजादयो वृत्तिजसदृशा अवृत्तिजा:, यथा बहुस्तथा।

बभ्रु इत्यादि प्रयोग विषय में कोई परिहार न पाकर अभी ऊपर कहे गये अप्रकृतिक प्रत्यय प्रयोग विषय में परिहार प्रस्तुत करने की इच्छा से भाष्यकार कहते हैं–

---

१. तदुक्तं हरिणा– सोऽयमित्यभिसंबन्धात्तद्धितेन विना यदि।
बभ्र्वादय: प्रयुज्येरन्नपत्ये नियमो भवेद्।।

२. 'तस्य पूरणे डट्' अ० ५.२.४८ इति विहिते डटि 'बहुपूगगणसंघस्य तिथुक्' अ० ५.२.५२ इति तिथुगागमे टित्त्वान् ङीपि बहुतिथीति सिध्यतीति भाव:।

महाभाष्य

'द्वयस' इत्यादि शब्द तद्धितवृत्ति से उत्पन्न जानुद्वयसम्, जानुमात्रम् इत्यादि के एकदेश के समान (वृत्तिजसदृशा:) उसी अर्थ में या अन्य अर्थ मे स्वतन्त्र शब्द भी हैं (अवृत्तिजा:) इस विषय में दृष्टान्त देते हैं– जैसे ईषदसमाप्ति अर्थ में 'विभाषा सुपो बहुच्०' अ० ५.३.६८ से बहुच् प्रत्यय होकर 'ईषदसमाप्त: पटु:=बहुपटु:' ऐसा यह प्रयोग होता है। इस वृत्तिजप्रयोग के एकदेश बहु शब्द के समान ही सर्वथा स्वतन्त्र (अवृत्तिज) बहु शब्द का प्रयोग भी देखा जाता है। जैसे- बहवो जना:, बहुजनहिताय इत्यादि। सो जो अवृत्तिज द्वयसादि हैं, उनमें तो प्रत्ययत्व का अभाव होने से वे तो साधु ही हैं। क्योंकि 'परश्च' नियम तो वहीं लागू होगा– जहाँ प्रत्ययमात्र को ही प्रातिपदिक समझकर प्रातिपदिक के रूप में प्रयोग किया जाये। यदि द्वयसादि का स्वतन्त्र प्रातिपदिकत्व स्वीकार कर प्रातिपदिक के रूप में प्रयोग करते हैं तो दोष नहीं, ऐसा भाष्यकार का तात्पर्य प्रतीत होता है।

नागेश ने भाष्यपठित 'अवृत्तिजा:' शब्द को अभी ऊपर व्याख्यात अर्थ से अलग ही अर्थ (sense) में ग्रहण किया है। उनका कहना है– यहाँ 'अवृत्तिजा:' यह कथन द्वयसादि के असाधुत्व का तथा 'परश्च' इस वचन के उदाहरणत्व का उपपादक है। एकार्थीभाव रूप वृत्तिविषय का अभाव होने पर भी उच्चारित जो वृत्तिज द्वयसादि के सदृश 'प्रमाण अर्थ में' द्वयसादि वैसे ही साधु न होने लगे जैसे बहुच् प्रत्यय के समान आकार प्रकार वाला संघादिवाची बहुशब्द साधु होता है, इसके लिये 'परश्च' यह वचन है। बहुच् प्रत्यय की अपेक्षा से भिन्न अर्थ वाला होने से स्वतन्त्र बहुशब्द का तो साधुत्व हो जायेगा। द्वयसादि का तो कोई अन्य अर्थ न होने से असाधुत्व ही है। वृत्तिज शब्दों के समान ही द्वयसादि की आनुपूर्वी होने से 'अर्थ भी वही है' ऐसी भ्रान्ति के कारण केवल भी (द्वयसादि मात्र ही) लोक में प्रयुक्त होते हुये देखे जाते हैं। सो 'प्रत्यय: पर एव' इस नियम से 'अर्थत: शब्दतश्च य: प्रत्ययजातीय: स पर एव' इस रूप में द्वयसादि का असाधुत्व जानना चाहिये। अन्यथा इसमें प्रत्ययत्व धर्म का अभाव होने से प्रकृत नियम के द्वारा कैसे असाधुत्व बोधित हो सकेगा। इसी बात से उन लोगों को भी उत्तर मिल जाता है, जिनका यह कहना है कि प्रकृति को उद्दिष्ट करके ही प्रत्ययों का विधान होने से केवल प्रत्ययों का तो अपने आप ही असाधुत्व सिद्ध है फिर कैसे यह उपर्युक्त कथन 'परश्च' का प्रयोजन बनेगा।

संक्षिप्त में कहा जा सकता है कि कैयट-नागेश ने प्रकृत भाष्य को इस रूप में अन्वित किया है– यथा बहुच्प्रत्ययसदृशो बहुशब्द: संख्यावैपुल्यवाची लोके साधुशब्दरूपेण प्रयुज्यते तथा द्वयसादयोऽपि वृत्तिजसदृशा अवृत्तिजा: प्रयोगार्हा: सन्तीति कश्चिन् मन्येत चेत् तन्न– 'परश्च' इति नियमेन तेषां तथा प्रयोगाऽभावादिति।

वावचने चानुत्पत्त्यर्थम्।।७।।

(भाष्यम्) वाचचने चानुत्पत्त्यर्थं[1] परग्रहणं कर्तव्यम्।

वावचने चानुत्पत्तिर्यथा स्यात्।

प्रत्ययप्रकरण में जहाँ कहीं वावचन है–जैसे 'धातो: कर्मण:०' अ० ३.१.७ 'समर्थानां प्रथमाद्वा' अ० ४.१.८२ इत्यादि, वहाँ पाक्षिक अनुत्पत्ति के लिये भी पर ग्रहण करना चाहिये, जिससे पक्ष में प्रत्यय की अनुत्पत्ति सिद्ध हो जाये।

भाव यह है 'तस्मादित्युत्तरस्य' परिभाषा से ही प्रत्यय का परत्व तो सिद्ध था, फिर जो 'परश्च' बनाया गया उसका यह प्रयोजन है– जिन सूत्रों मे 'वा' पढा है (वावचने= 'वा' इत्येतद् उच्यते यस्मिन् सूत्रे तत् तथा) वहाँ यह अर्थ समझा जाये– 'वा पर: सन् भवति' अर्थात् परत्व से उपलक्षित सन् पक्ष में होता है, पक्ष में उत्पन्न नहीं होता। 'वा पर: सन् भवति' से किसी को यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिये कि परत्व का विकल्प करके, पक्ष में पूर्व में होता है– ऐसा कह रहे हैं। क्योंकि 'तस्मादित्युत्तरस्य' से 'उत्तरस्य' के भी उपस्थित होने पर एकार्थक दो शब्दों (एक तो उत्तरस्य दूसरा परश्च) से परत्व को तो नियत ही कर दिया गया है, इसलिये वैसा नहीं होगा।

अथ क्रियमाणेऽपि वै परग्रहणे कथमिव वावचनेनाऽनुत्पत्तिर्लभ्या?

अच्छा यह बतायें– परग्रहण के कर दिये जाने पर भी वावचन के द्वारा प्रत्यय की पाक्षिक अनुत्पत्ति कैसे प्राप्त की जा सकेगी?

क्रियमाणे परग्रहणे वावचने 'वा पर' इत्येतदभिसम्बध्यते[2]।

अक्रियमाणे परग्रहणे वावचनेन किमन्यच्छक्यमभिसंबन्धुमन्यदत: संज्ञाया:।

न च संज्ञाया भावाभावाविष्येते।

देखिये! परग्रहण करने पर जहाँ पर हमें 'वा' मिलेगा वहाँ 'वा पर:' इस रूप में अभिसम्बन्ध होगा अर्थात् 'य: पर: स वा भवति' जो पर है वह विकल्प से होता है। पर तो सन् ही है सो उसी का विकल्प होगा। लेकिन यदि परग्रहण नहीं करेंगे तो संज्ञा से भिन्न और कुछ ऐसा रह ही नहीं जाता जिसको 'वा' के साथ अभिसम्बन्धित किया जा सके, अर्थात् प्रत्ययसंज्ञा विकल्प से होती है– ऐसा अर्थ होने लगेगा। जब कि संज्ञा का भाव और अभाव चाहते नहीं हैं। अर्थात् एक बार तो संज्ञा हो जाये और फिर न भी हो– ऐसा नहीं होता। इस प्रकार एक ढंग से वह 'वा' व्यर्थ ही हो जायेगा।

---

१. चकार: प्रयोगनियमार्थमित्युक्तप्रयोजनसमुच्चयार्थ:।

२. तत्र परत्वस्य प्रयोगे नियतत्वेनाऽविकल्पनीयतयोत्पत्तिरेव विकल्पनीयेतिभाव:।

महाभाष्य

भाव यह है– 'धातोरिच्छायां वा सन् प्रत्ययसंज्ञो भवति' इस अर्थ में यदि प्रधान और अप्रधान को देखा जाये तो कहना होगा– 'धातु से इच्छा अर्थ में सन् होता है' यह वाक्यभूत अर्थ प्रधान है और सन् की प्रत्ययसंज्ञा का विधान अप्रधान। सो परग्रहण न करने पर प्रधानता को लेकर 'सन्' तो नित्य ही होने लगेगा और अप्रधानभूत होने से उसकी संज्ञा विकल्प से होने लगेगी और वह इष्ट नहीं है। लेकिन परग्रहण करने पर तत्सामर्थ्य से प्रधानन्याय की बाधा होकर 'सन्' का ही विकल्प होगा। 'धातोः परो वा भवति सन्, पक्षे नैव भवति।' इस प्रकार संज्ञा का विकल्प नहीं होगा।

वावचने चोक्तम्।।८।।

(भाष्यम्) (वावचने चोक्तम्) किमुक्तम्?

वावचनानर्थक्यं च तत्र[1] नित्यत्वात् सन इति।

वावचन की समस्या को लेकर जो कहना था वह 'समर्थः पदविधिः' अ० २.१.१ सूत्र पर भाष्यवार्तिक संख्या २ में हमने कह दिया– यह बात वार्तिककार की ओर से कही जा रही है।

'वा' का कथन अनर्थक बताते हुवे वहाँ जो सामान्यरूप से 'स्वभावसिद्धत्वात्' हेतु दिया था, उसी को विशेष रूप से दर्शा रहे हैं। वार्तिककार का कहना है– यहाँ प्रत्ययकरण में वावचन अनर्थक है– अर्थात् 'वा' ऐसा कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्यों? देखिये! दो पक्ष हैं– वृत्तिपक्ष और अवृत्तिपक्ष। वृत्तिपक्ष में नित्य ही सन् चाहते हैं और 'कर्तुमिच्छति' इस अवृत्तिपक्ष में कभी भी सन् की उत्पत्ति प्राप्त नहीं होती। इस प्रकार 'विकल्प से सनादि प्रत्ययों की उत्पत्ति होवे' यह परग्रहण का प्रयोजन स्थित नहीं रहा।

प्रयोगनियमार्थमेव तर्हि परग्रहणं कर्तव्यम्।

अच्छा तो 'वावचने चानुत्पत्त्यर्थम्' इस उपर्युक्त प्रयोजन के प्रत्याख्यात हो जाने पर भी प्रयोगनियमार्थ (प्रयोगस्य नियमकरणाय) तो परग्रहण करना ही चहिये।

अथैतस्मिन् प्रयोगनियमार्थे किमयं प्रत्ययनियमः-प्रकृतिपर[2] एव प्रत्ययः प्रयोक्तव्योऽप्रकृतिपरो नेति।

आहोस्वित् प्रकृतिनियमः– प्रत्ययपरैव[3] प्रकृतिः प्रयोक्तव्याऽप्रत्ययपरा नेति। कश्चात्र विशेषः?

---

१. तत्रेत्यस्य वृत्तावित्यर्थः।

२. प्रकृतेः पर एवेत्यर्थ, पञ्चमीतत्पुरुषः।

३. प्रत्ययः परो यस्याः सैवेत्यर्थः, बहुब्रीहिः।

अच्छा यह हमने स्वीकार कर लिया कि यह सूत्र प्रयोगनियमार्थ है। पर इस स्थिति में दो विचार उपस्थित होते हैं– क्या यह प्रत्ययनियम है अथवा प्रकृतिनियम? अर्थात् प्रत्यय के प्रयोग का नियम करता है अथवा प्रकृति के प्रयोग का? जब प्रत्यय नियम होगा तो नियम का स्वरूप ऐसा बनेगा कि प्रकृति से पर ही प्रत्यय का प्रयोग करना चाहिये, अप्रकृति से परे नहीं। 'अप्रकृति से परे नहीं' का तात्पर्य है– विना प्रकृति के केवल प्रत्यय का प्रयोग नहीं, और जब प्रकृतिनियम होगा तो नियम का स्वरूप होगा– प्रत्ययपरक (=प्रत्यय परे है जिससे) इस स्थिति वाली ही प्रकृति का प्रयोग करना चाहिये, अप्रत्ययपरक का नहीं अर्थात् केवल प्रकृति का नहीं। इन दोनों पक्षों में क्या विशेष (भेद) है?

तत्र प्रत्ययनियमे प्रकृतिनियमाऽभाव:।।९।।

तत्र प्रत्ययनियमे सति प्रकृतेर्नियमो न प्राप्नोति। अप्रत्ययिकाया:[१] प्रकृते: प्रयोग: प्राप्नोति। क्व स देवदत्त: क्व स यज्ञदत्तो बभ्रुर्मण्डुर्लमक इति।

यदि 'परश्च' सूत्र को प्रत्यय नियम के रूप में स्वीकार कर लेते हैं तो प्रकृति का नियम नहीं प्राप्त होता। जैसा कि इस सूत्र के व्याख्यान में पहले भी कहा गया– नियम में यह व्यवस्था होती है– जिसका नियम करते हैं वह तो बंध जाता है, पर उससे भिन्न खुला रहता है। जैसे प्रत्ययनियम किया गया तो प्रत्यय तो बंध जायेगा वह प्रकृति के विना नहीं रहेगा। फिर विना प्रत्ययवाली प्रकृति का भी प्रयोग होने लगेगा। जैसे 'क्व स देवदत्त: क्व स यज्ञदत्तो बभ्रुर्मण्डुर्लमक:' यहाँ बाभ्रव्य[२], माण्डव्य[२] और लामकायन[३] की जगह यञ् और फक् प्रत्यय से रहित केवल बभ्रु, मण्डु, लमक का प्रयोग दिखायी दे रहा है। जो कि अनिष्ट है।

यदि कोई पूछे कि किसी वाक्य को देखकर यह कैसे निर्णय किया जाये अथवा पहचाना जाये कि यह अमुक नियम है तो उसके लिये सुहृद्भूत आचार्यों ने एक बहुत ही सरल ढंग बतलाया हुआ है कि 'यत्रैवकारस्ततोऽन्यत्रावधारणम्' अर्थात् जिसके साथ 'एव' का प्रयोग कर दिया जायेगा, उससे अन्य का अवधारण होगा। जैसे कि इस व्यवस्था को ऊपर दिये गये प्रत्ययनियामक वाक्य और प्रकृतिनियामक वाक्य का ध्यान से अवलोकन करके सहजता से समझा जा सकता है। 'प्रकृते: पर एव प्रत्यय: प्रयोक्तव्य:' कहेंगे तो प्रत्यय बंधेगा क्योंकि 'एव' प्रकृति के साथ प्रयुक्त है। और जब 'प्रत्ययपरैव प्रकृति:' कहेंगे तो प्रकृति बंध जायेगी।

---

१. न विद्यते प्रत्ययो यस्या: सा, तस्या:।

२.'गर्गादिभ्यो यञ्' अ० ४.१.१०५ इत्युभयत्रापि यञ् प्रत्यय:।

३.'नडादिभ्य: फक्' अ० ४.१.९९ इति फक्प्रत्यय:।

अस्तु तर्हि प्रकृतिनियमः।

अच्छा तो प्रकृतिनियम स्वीकार कर लेते हैं।

प्रकृतिनियमे प्रत्ययानियमः।।१०।।

(भाष्यम्) प्रकृतिनियमे सति प्रत्ययनियमो न प्राप्नोति।

किमस्य द्वयसम्, किमस्य मात्रम्, काऽद्य तिथीति।

अप्रकृतिकस्य प्रत्ययस्य प्रयोगः प्राप्नोति।

प्रकृतिनियम होने पर प्रत्ययनियम नहीं प्राप्त होता। फिर 'किमस्य द्वयसम्' किमस्य मात्रम् इत्यादि प्रकृतिरहित प्रत्ययों का भी प्रयोग प्राप्त होने लगेगा।

भाव यह है प्रकृतिनियम होने पर प्रकृति तो बंध जायेगी। किसके साथ? प्रत्यय के साथ। अर्थात् प्रकृति प्रत्यय के विना नहीं रहेगी। पर प्रत्यय खुला रहेगा, सो उसका अकेले का भी प्रयोग होने लगेगा, जो कि सर्वथा अनिष्ट है।

सिद्धं तूभयनियमात्।।११।।

(भाष्यम्) सिद्धमेतत्। कथम्? उभयनियमात्।

उभयनियमोऽयम् 'प्रकृतिपर एव प्रत्ययः प्रयोक्तव्यः', 'प्रत्ययपरैव च प्रकृति' रिति।

किं वक्तव्यमेतत्?

न हि।

कथमनुच्यमानं गंस्यते?

परग्रहणसामर्थ्यादन्तरेणापि परग्रहणं स्यादेवायं परः।

पर एव यथा स्यादित्येवमर्थं परग्रहणम्। परश्च।।

ये ऊपर दर्शायी गयी कोई भी समस्या शेष नहीं रहेगी। हम इसे उभयनियम स्वीकार कर लेते हैं। यह सूत्र दोनों नियम करता है– प्रकृतिनियम भी और प्रत्ययनियम भी। 'प्रकृति से परे ही प्रत्यय का प्रयोग करना चाहिये' और 'प्रत्यय परे वाली ही प्रकृति'।

क्या यह बात कहनी पड़ेगी?

नहीं! कहने की कोई आवश्यकता नहीं। विना कहे यह सब कैसे जानेंगे? क्योंकि हमारे पास वाक्य

एक है और नियम दो; सो एक वाक्य से दो नियम कैसे साधित होंगे, एक वाक्य से तो एक ही नियम बन पायेगा। परग्रहण सामर्थ्य से यह ऐसाा होगा। विना भी परग्रहण के प्रत्यय पर तो हो ही जाता। विना परग्रहण के कैसे हो जाता? देखिये! चाहे तो 'जुगुप्सते, चिकीर्षति' आदि प्रयोगों को देखकर 'गुप्तिज्किद्भ्य:०' आदि में पर शब्द का अध्याहार कर दिग्योगलक्षणा पञ्चमी स्वीकार कर ली जाये; जैसा कि शिवरामेन्द्र सरस्वती ने किया है और चाहे कैयट द्वारा समर्थित रीति से 'तस्यादित्युत्तरस्य' परिभाषा के नियम से परत्व अर्थ को प्राप्त कर लिया जाये। इन दोनों तरीकों में से किसी भी प्रकार से परत्व अर्थ की प्राप्ति विना 'परश्च' के भी सिद्ध है, फिर भी जो 'परश्च' बना रहे हैं उससे आचार्य प्रत्यय के परप्रयोग पर जोर देते हुवे यह कहना चाहते हैं कि 'प्रत्यय का परप्रयोग होवे ही' ऐसा न हो कि किसी अवस्था में न भी हो।' भाष्य में प्रयुक्त 'पर एव स्याद्-इत्येवमर्थं परग्रहणम्' पदों की अर्थयोजना 'पर:स्यादेव' इस रूप में करनी चाहिये– उससे दोनों नियमों का फल लाभ हो जोयेगा। क्योंकि इस अर्थविवेचना में प्रकृति कभी भी किसी भी अवस्था में अकेली नहीं छुट पायेगी, प्रत्यय के अकेले छुटने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। उभयनियम का यही तो फल है– प्रकृति और प्रत्यय कहीं भी या कभी भी अकेले-अकेले प्रयुक्त न हों।

यहाँ पदमञ्जरीकार हरदत्त मिश्र ने एक उपयोगी ऊहा की है–

चशब्दश्चावधारणे, प्रत्यय: परो भवत्येव, न तु कदाचिन्न भवतीति वचनव्यक्ति:।
आ पदत्वनिष्पत्तेश्चायं नियम:, निष्पन्ने तु पदे तावदेव प्रयुज्यते।
अपत्याद्यर्थान्तरविवक्षायां तु तस्मादपि प्रत्ययान्तरं भवतीत्यलमतिप्रसङ्गेन।

भाष्यसार :

१. अनियत देश प्रत्ययों का स्थान निश्चित करने के लिये कि वे पर ही हों- मध्य में या पूर्व में न हो- इस प्रयोजन की सिद्धि हेतु सूत्र की स्थापना।

२. 'तस्मादित्युत्तरस्य' परिभाषा के द्वारा ही पर अर्थ की प्राप्ति होने से यह सूत्र अनावश्यक।

३. अत्यन्तापरदृष्ट क्विबादि में 'तस्मादिति०' परिभाषा का संचार न होने से सूत्रावश्यकता का प्रदर्शन और ज्ञापक के द्वारा उसका समाधान।

४. 'धातो: कर्मणा:०' इत्यादि विकल्प से प्रत्यय विधायक सूत्रों में प्रकृतवचन की आवश्यकता और उसका समाधान।

५. प्रसङ्गवश वृत्तिजसदृश अवृत्तिज द्वयसादि के स्वतन्त्र प्रयोग का स्वीकार या नागेश मत में अस्वीकार।

६. प्रयोगनियमार्थ सूत्र का अन्तिम प्रयोजन।

७. प्रयोगनियम के अन्तर्गत प्रकृतिनियम व प्रत्ययनियम उभयनियम का अङ्गीकार।

८. परग्रहण सामर्थ्य से उभयनियम सिद्धि।

आद्युदात्तश्च।।३.१.३।।

इस सूत्र की व्याख्या आरम्भ करने से पूर्व ही नागेश ने अपना एक महत्त्वपूर्ण निर्णय सुना दिया। उनका कहना है– 'प्रत्ययः' 'परश्च' और 'आद्युदात्तश्च' ये तीनों अधिकार सूत्र हैं। जो कुछ लोग 'परश्च' और 'आद्युदात्तश्च' को परिभाषा मानते हैं, वह ठीक नहीं है। क्योंकि परिभाषा लिङ्गवती होती है। यहाँ कोई ऐसा लिंग है नहीं। यदि यह कहा जाये कि प्रत्ययसंज्ञा लिङ्ग है तो सही, सो वह नहीं है; क्योंकि एकवाक्यता के द्वारा इन तीनों का सहविधान है। यह बात इसी भाष्य के व्याख्यान में आगे स्पष्ट है। इस सहविधान रूप हेतु से तीनों में से एक प्रत्यय को अन्य दो का लिङ्ग नहीं माना जा सकता।

पर एक बात है– 'लिङ्गवती परिभाषा भवति' इस आधार से तो चाहे हम इन्हें परिभाषा न कह सकें। लेकिन 'अनियमे नियमकारिणी परिभाषा' इस दृष्टि-बिन्दु से यदि विचार करें तो 'परश्च' और 'आद्युदात्तश्च' भी कुछ अंश में तो परिभाषा के धर्मों को धारण कर रहे हैं। कुछ अंश में इसलिये क्योंकि यहाँ अभी-अभी कहे गये अनियमे नियमकारिणी० इस वाक्य के द्वारा परिभाषा की पूर्णपरिभाषा नहीं दी गयी है बल्कि उसका केवल एक गुण बतलाया गया है। सो इससे यह बात निकली की 'अनियम के उपस्थित होने पर नियम करना' परिभाषा का एक गुण है। इधर भाष्यकार ने स्वयं इन दोनों सूत्रों के आरम्भ में 'किमर्थमिदमुच्यते' ऐसा प्रश्न उठाकर अन्त में अपना निर्णायक उत्तर यह दिया– 'पर एव यथा स्यादित्येवमर्थं परवचनम्', 'आद्युदात्त एव यथा स्यादित्येवमर्थमिदमुच्यते'। यह बात सभी जानते और मानते हैं कि 'एव' इस शब्द का प्रयोग किसी नियम को प्रकट करने के लिये होता है। सो इन सूत्रों के लिये 'नियमरूप अधिकार' यह शब्द प्रयोग करना अधिक उचित प्रतीत होता है। अधिकारसूत्रों के अनेक भेद या अनेकरूप हैं– जैसे (१) संज्ञा (२) विशेषण (३) स्थानी (४) प्रकृति (५) निमित्तम् (६) आदेश (७) नियम। इनके क्रमशः उदाहरण हैं– (१) प्रत्ययः (३.१.१), (२) कारके अथवा शेषे (१.४.२३/४.२.९१), (३) एकः पूर्वपरयोः (६.१.८१), (४) ङ्याप्प्रातिपदिकात् अथवा धातोः (४.१.१/३.१.९१), (५) आर्धधातुके (६.४.४६), (६) मूर्धन्यः (८.३.५५), (७) परश्च और आद्युदात्तश्च (३.१.२/३.१.३)।

किमर्थमिदमुच्यते ?

यह सूत्र किस प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये बना रहे हैं ? आक्षेप्ता का भाव है– स्वररहित अच् का उच्चारण तो होता नहीं, सो उन-उन सभी स्वरों[१] के भिन्न-भिन्न प्रत्ययों में स्थान नियत होने से पारिशेष्य न्याय से शेष बचा प्रत्यय स्वत: ही आद्युदात्त हो जायेगा। फिर यह किसलिये ?

आद्युदात्तो यथा स्यात्। अन्तोदात्तो मा भूदिति।

यह बात आपकी ठीक है कि अच् अस्वरक[२] नहीं होते, पर आद्युदात्तत्व का नियम तो नहीं हो पायेगा। अन्तोदान्त भी तो हो सकता है। वह न हो इसके लिये यह सूत्र है।

नैतदस्ति प्रयोजनम्। यमिच्छत्यन्तोदात्तम्, करोति तत्र

चकारमनुबन्धम्, आह च-'चितोऽन्त उदात्त:' (६.१.१५७) इति।

यह आपके द्वारा दिया गया प्रयोजन अन्यथासिद्ध है। जिसको अन्तोदात्त चाहते हैं, वहाँ तो प्रत्यय के साथ चकार अनुबन्ध लगाया है और उधर अन्तोदात्त विधायक 'चित:' ऐसा सूत्र भी बना दिया है।

भाव यह है– अस्वरक उच्चारण का अभाव होने से अनियत अन्तोदात्त आदि में प्राप्त होने लगा सो 'चित्त:' ऐसा कहकर नियम कर दिया गया है कि 'चित्' ही अन्तोदात्त होता है (चित एवान्तोदात्तत्वम्)। इस प्रकार चित्त इत्यादि तत्-तत् नियमों के द्वारा अन्य सभी स्वरों के प्रतिबन्धित हो जाने पर, चूँकि अच् अस्वरक तो रह नहीं सकता– इसलिये शेष बचा अपने आप ही आद्युदात्त हो जायेगा, फिर इस सूत्र का क्या लाभ है ? अर्थात् कुछ नहीं।

मध्योदात्तस्तर्हि मा भूदिति।

अच्छा तो मध्योदात्त न हो– इसके लिये तो 'आद्युदात्तश्च' कहना चाहिये।

मध्योदात्तमपि यमिच्छति तत्र रेफमनुबन्धं करोति। आह च 'उपोत्तमं रिति' (६.१.२११) इति।

मध्योदात्त भी जिसको चाहते हैं, वहाँ रेफ अनुबन्ध का प्रयोग करते हैं। और उधर 'उपोत्तमं रिति' (६.१.२११) 'रिदन्त के उपोत्तम को उदात्त होता है' ऐसा कहा ही है। उत्तम अन्तिम का पर्याय है, उसके जो समीप होगा वह उपोत्तम कहलायेगा, वह एक अर्थ में मध्य ही ठहरता है।

---

१. अन्तोदात्त, मध्योदात्त, अनुदात्त, स्वरित।

२. न विद्यते स्वरो यस्य स तथा। स्वररहित इत्यर्थ:।

अनुदात्तस्तर्हि मा भूदिति।

अच्छा तो अनुदात्त न हो जाये, इसके लिये यह सूत्र है।

अनुदात्तमपि यमिच्छति तत्र पकारमनुबन्धं करोति। आह च- 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (३.१.४) इति।

अनुदात्त भी जिस-जिस को चाहते हैं, वहाँ-वहाँ प्रत्यय के साथ पकार अनुबन्ध का प्रयोग करते हैं। और इस प्रकार 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' यह वचन बनाकर अभीष्ट अनुदात्त स्वर सिद्ध कर लेते हैं।

स्वरितस्तर्हि मा भूदिति।

अच्छा तो (आदि को) स्वरित न हो जाये, इसके लिये तो कुछ करना ही पड़ेगा। और वही तो आद्युदात्तश्च कर रहा है, अर्थात् स्वरित की व्यावृत्ति।

स्वरितमपि यमिच्छति, करोति तत्र तकारमनुबन्धम्। आह च– 'तित् स्वरितम्' (६.१.१७९) इति।

स्वरित करना भी जहाँ अभीष्ट होता है, वहाँ प्रत्यय के साथ तकार अनुबन्ध का प्रयोग कर देते हैं और साथ में उधर 'तित् स्वरितम्' ऐसा नियम बना ही रखा है। सो तित् प्रत्यय को अभीष्ट स्वरित स्वर प्राप्त हो जाता है।

य इदानीमतोऽन्यः प्रत्ययः शेषः सोऽन्तरेणापि वचनमाद्युदात्त एव भविष्यतीति नार्थ आद्युदात्तवचनेन।

अब जो उपर्युक्त प्रत्यय विधान से शेष बचा हुआ प्रत्यय है वह विना इस 'आद्युदात्तश्च' वचन के भी आद्युदात्त ही होगा। इस प्रकार वचन की कोई आवश्यकता (=प्रयोजन) नहीं है।

इसका भाव यह है– चिदेवान्तोदात्तः (चित् ही अन्तोदात्त होता है), रिदेव मध्योदात्तः (रित् ही मध्योदात्त होता है), सुप्पितावेवानुदात्तौ (सुप् और पित् ही अनुदात्त होते हैं), तिदेव स्वरितः (तित् ही स्वरित होता है)। इस प्रकार स्वरनियम का आश्रयण करने से जो शेष बच गया वह अपने आप आद्युदात्त ही हो जायेगा, अर्थात् स्वररहित रह नहीं सकता– अन्य सब स्वरों ने अपनी-अपनी जगह ग्रहण कर ली। अब बचे हुये को स्वतः यही स्थान (=आदि) प्राप्त होगा– इस कारण से यह सूत्र बनाना अनावश्यक ही ठहरता है।

एवमपि येषामेव प्रत्ययानां स्वरो नियम्यते त एव नियतस्वराः स्युः। य इदानीमनियतस्वरः स कदाचिदाद्युदात्तः कदाचिदन्तोदात्तः कदाचिन्मध्योदात्तः कदाचिदनुदात्तः कदाचित् स्वरितः स्यात्। आद्युदात्त एव यथा स्यादित्येवमर्थमिदमुच्यते।

फिर भी जिन प्रत्ययों के स्वर का नियम हो जायेगा, केवलमात्र वे ही नियतस्वर वाले हो पायेंगे। अब जो अनियत स्वर वाला प्रत्यय होगा– वह कभी आद्युदात्त तो कभी अन्तोदात्त, कभी मध्योदात्त तो कभी अनुदात्त और कभी स्वरित होने लगेगा। इष्ट यह है कि आद्युदात्त ही हो, सो इसके लिये यह सूत्र है।

प्रकृत भाष्य का भाव यह है कि 'चित:' इत्यादि सूत्रों के द्वारा जब हम नियम करेंगे तो देखना यह होगा कि उन सभी सूत्रों में स्वरनियम होवे या प्रत्ययनियम। या तो नियम का स्वरूप यह हो सकता है कि 'चिदेवान्तोदात्त:' अथवा 'चिद् अन्तोदात्त एव'। सो 'चिदेवान्तोदात्त:' इस व्यवस्था में अन्तोदात्त इत्यादि वे बन्ध जायेंगे पर चित् इत्यादि प्रत्यय नहीं बन्ध पायेंगे, वे खुले रहेंगे। अर्थात् अन्तादोत्त होगा तो वह चित् ही होगा, पर चित् को अन्य स्वर भी हो सकते हैं। भाव यह है अन्तोदात्त तो चित् के साथ में बन्ध जायेगा। वह चित् से अन्यत्र कहीं नहीं जायेगा, पर चित् अन्तोदात्त के साथ नहीं बंधेगा, वह किसी भी स्वर के साथ सम्बद्ध होने लगेगा। इस प्रकार यद्यपि 'चित:' इत्यादि सभी स्वर विधायक सूची में इस स्वरनियम रूप व्यवस्था को स्वीकार करने पर 'आद्युदात्तश्च' बनाने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, पारिशेष्य न्याय से जिन-जिन प्रत्ययों को हम आद्युदात्त करना चाहते हैं उनको स्वत: ही आद्युदात्त होगा। पर इस व्यवस्था में कठिनाई यह आ जाती है कि चिदादि को अन्य स्वर की व्यावृत्ति नहीं हो सकेगी। उन-उन सूत्रों के द्वारा जो एक-एक नियत कार्य का विधान किया गया है, वह उच्छिन्न हो जायेगा। अर्थात् एक तरफ तो चित् को अन्तोदात्त कह रहें हैं और उसी चित् को कोई और स्वर प्राप्त होने की भी अनुमति मिल जाये तो स्पष्ट है कि चित् के लिये जो व्यवस्था बनायी गयी थी, वह तो समाप्त हो गयी। इस कारण स्वरविधायक उन सभी सूत्रों में अन्तोदात्तादि स्वरों का नियम न मानकर 'चिदन्तोदात्त एव, तित् स्वरितमेव, पित् अनुदात्तमेव' इस रूप मे प्रत्ययनियम मानना पड़ेगा। और जब प्रत्ययनियम मानते हैं तो चित्, सुप्, पित्, तित्, रित् इत्यादि जिन प्रत्ययों का स्वर निश्चित हो गया; वहाँ तो कोई बाधा उत्पन्न नहीं होगी, पर जो प्रत्यय शेष बच गये, जिनके विषय में कुछ भी नहीं कहा गया– वहाँ पर जो अव्यवस्था होने लगेगी, उनको हटाने के लिये प्रकृत सूत्र है।

अथ किमर्थं प्रत्ययसंज्ञासंनियोगेनाद्युदात्तत्वमनुदात्तत्वं चोच्यते, न यत्रैवान्य: स्वर:, तत्रैवायमप्युच्येत– 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६.१.१९१) प्रत्ययस्य च। 'अदुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तम्०' (६.१.१८०) सुप्पितौ च इति। तत्रायमप्यर्थ: द्विराद्युदात्तग्रहणं द्विश्चानुदात्तग्रहणं न कर्तव्यं भवति। प्रकृतमनुवर्तते।

अच्छा यह बतायें प्रत्ययसंज्ञा संनियोग से आद्युदात्तत्व और अनुदात्तत्व का विधान किसलिये कर रहे हैं? ऐसा क्यों नहीं कर लेते कि जहाँ 'ञ्नित्यादिर्नित्यम् (६.१.१९१) अदुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तम्०' (६.१.१८०) इत्यादि अन्य स्वर विहित हैं, वहीं 'प्रत्ययस्य च' और 'सुप्पितौ च' ये भी कह दिये जायें। उससे यह भी लाभ मिलेगा कि दो बार आद्युदात्तग्रहण और दो बार अनुदात्तग्रहण नहीं करना पड़ेगा। ऊपर से अनुवृत्ति आ ही रही है। उसी से अपना यह भी इष्ट सिद्ध हो जायेगा।

यहाँ भाष्य में 'प्रत्ययसंज्ञासंनियोगेन' ऐसा जो कहा, उसका भाव यह है कि इस प्रकरण में 'प्रत्यय:' 'परश्च' और 'आद्युदात्तश्च' इन तीनों का अधिकार होने से एकवाक्यता होकर विशिष्ट तव्यदादि का विधान

है, और अन्यत्र अर्थात् षष्ठाध्याय में करने पर प्रत्यय का अनुवाद करके स्वर का विधान किया जायेगा, इसलिये वहाँ प्रत्यय संज्ञा का स्वर के साथ सन्नियोग (सहविधान) नहीं होगा। यद्यपि वहाँ 'प्रत्ययस्य च' ऐसा अतिरिक्त ग्रहण करना पड़ता है, पर यहाँ आद्युदात्त और अनुदात्त ग्रहण नहीं करना पड़ेगा– इसलिये लाघव ही है।

अत उत्तरं पठति।

इस स्थिति को अपने मन में बिठाकर आचार्य वार्तिककार उत्तर देते हैं–

आद्युदात्तस्य प्रत्ययसंज्ञासंनियोगे प्रयोजनं यस्य संज्ञाकरणं तस्याद्युदात्तार्थम्।।१।।

(भाष्यम्) आद्युदात्तस्य प्रत्ययसंज्ञासंनियोगकरण एतत् प्रयोजनम्– यस्य संज्ञा क्रियते तस्याद्युदात्तत्वं यथा स्यात्।

आद्युदात्त का प्रत्ययसंज्ञा के साथ संनियोग करने में यह प्रयोजन है– जिसकी संज्ञा (='प्रत्यय' यह संज्ञा) कर रहे हैं उसको (=उसी को) आद्युदात्त हुआ करे।

असन्नियोगे हि यस्मात् स विहितस्तदादेराद्युदात्तत्वं तदन्तस्य चानुदात्तत्वम्।।२।।

(भाष्यम्) अक्रियमाणे हि प्रत्ययसंज्ञासन्नियोगेनाद्युदात्तत्वे 'प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणं भवती' ति तदादेरेवाद्युदात्तत्वं प्रसज्येत तदन्तस्य चानुदात्तत्वम्।

प्रत्ययसंज्ञा के सन्नियोग से आद्युदात्तत्व न करने पर 'प्रत्ययग्रहणे यस्मात्०[१]' (पा० २४) इस परिभाषा बल से उस पूरे समुदाय के आदि को आद्युदात्त होने लगेगा और इसी प्रकार तदन्त समुदाय को अनुदात्त।

'प्रत्ययग्रहणे यस्मात्०' इस परिभाषा का भाव यह है– जिस सूत्र में प्रत्यय का ग्रहण है वहाँ– जिस प्रकृति से वह प्रत्यय विहित हुआ है, उस पूरे तदादि तदन्त समुदाय का ग्रहण होता है न कि केवल प्रत्ययमात्र का। परिभाषास्थ तदादि और तदन्त शब्द में स्थित तद्शब्द से क्रमशः प्रकृति और प्रत्यय अर्थ लिया जाता है। दोनों जगह तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास है। अर्थात् तद् (प्रकृतिरूपम्) आदिर्यस्य प्रत्ययस्य स तथा, और तद् (प्रत्ययरूपम्) अन्ते यस्य प्रकृतिरूपस्य स तथा। प्रकृति आदि में है जिस प्रत्यय के और प्रत्यय अन्त में है जिस प्रकृति के ऐसा जो समुदायभूत शब्द है वह उस प्रत्यय के द्वारा गृहीत होता है। सो यहाँ 'आद्युदात्तश्च' और अनुदात्तौ सुप्पितौ न बनाकर यदि षष्ठाध्याय में 'प्रत्ययस्य च' और 'सुप्पितौ च' ऐसा बनाते हैं तो 'प्रत्ययस्य च' इस सूत्र का अर्थ होगा– 'प्रत्ययान्तस्यादेरुदात्तो भवति'। प्रत्ययस्य=प्रत्ययान्तस्य। अर्थात् प्रत्ययान्त समुदाय के आदि को उदात्त होता है, जबकि चाहते यह है कि प्रत्यय के आदि को उदात्त हो। भाष्य में कहे गये 'तदादेरेवाद्युदात्तत्वं प्रसज्येत' शब्दों का यही अर्थ है।

---

१. रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्रकाशित संस्कृत पारिभाषिक में इस परिभाषा का विशेष व्याख्यान देखा जा सकता है।

'तदादे:' यहाँ षष्ठीतत्पुरुष समास है– तदादे:=प्रत्ययान्तस्याऽऽदे:। यहाँ जो तद् शब्द है वह प्रत्यय का बोधक होता हुआ प्रत्ययग्रहण परिभाषा के द्वारा उपस्थापित तदन्त अर्थ का ग्राहक हो गया है। तदन्त=प्रत्ययान्त। भाष्य में दूसरी बात 'सुप्पितौ च' को दृष्टि में रखकर कही गयी है कि 'तदन्तस्य चानुदात्तत्वम् (प्रसज्येत)'। प्रत्ययग्रहण परिभाषा के कारण 'सुप्पितौ च' का अर्थ होगा–सुबन्त और पित्प्रत्ययान्त को अनुदात्त होता है। भाष्यस्थ 'तदन्तस्यचानुदात्तत्वम्' जहाँ तदन्त पद में बहुव्रीहि जानना चाहिये तदन्तस्य=प्रत्ययान्तस्य, अर्थात् वह सुप् और पित् प्रत्यय अन्त में हैं जिसके ऐसे उस समुदाय को अनुदात्त होने लगेगा– जबकि इष्ट यह है कि प्रत्ययमात्र को अनुदात्त हो।

अथ क्रियमाणेऽपि प्रत्ययसंज्ञासन्नियोगेनाद्युदात्तत्वेऽनुदात्तत्वे च कस्मादेव तदादेराद्युदात्तत्वं न भवति तदन्तस्य वानुदात्तत्वम्?

अच्छा चलो प्रत्ययसंज्ञा के संनियोग से ही आद्युदात्तत्व और अनुदात्तत्व का विधान कर देते हैं, पर ऐसा करने पर भी किस हेतु से प्रत्ययान्त के आदि को उदात्तत्व और सुबन्त अथवा पित्प्रत्ययान्त समुदाय को अनुदात्तत्व नहीं होता?

उत्पन्न: प्रत्यय: प्रत्ययाश्रयाणां कार्याणां निमित्तं भवति नोत्पद्यमान:।

तद्यथा कृतो घटो घटाश्रयाणां कार्याणां निमितं भवति न क्रियमाण:।

देखो! उत्पन्न हुआ प्रत्यय ही तदन्तविध्यादि अन्य प्रत्ययाश्रित (=प्रत्ययसंज्ञाश्रित) कार्यों का निमित्त होता है न कि उत्पद्यमान अवस्था में ही। भाष्यकार अपने इस कथन की पुष्टि में एक दृष्टान्त देते हैं– जैसे घड़ा जब बनकर तैय्यार हो जाता है तो ही घट के आश्रय से सम्पन्न होने वाले जलाहरणादि कार्यों का निमित्त होता है, न कि बन रही अवस्था में ही– तद्वत् यहाँ भी समझना चाहिये।

नागेश प्रकृत भाष्य का भाव प्रस्तुत करता हुआ कहता है कि 'प्रत्ययग्रहणे यस्मात्०' यह परिभाषा अनुवाद विषय में ही अपना कार्य करती है। यहाँ तृतीय अध्याय में जब 'आद्युदात्तश्च' या 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' रखते हैं तो ये सूत्र अग्रिम प्रत्येक सूत्र में उपस्थित होते हुये उत्पद्यमान अवस्था में ही तव्यादि को आद्युदात्त और तिबादि को अनुदात्त करते जाते हैं। इस योजना में प्रत्यय का अनुवाद[१] रूप से कथन नहीं हो पाता इस प्रकार प्रत्यय के अनुवाद्यत्व के अभाव में यहाँ उस परिभाषा की उपस्थिति नहीं होती।

१. सिद्धभूत वस्तु के (न कि साध्यभूत) कार्यान्तर विधान के लिये पुन: कथन का नाम 'अनुवाद' है। जिसका अभी विधान किया जा रहा है वह साध्यभूत अर्थ होता है न कि सिद्धभूत।

शिवरामेन्द्र सरस्वती– प्रत्ययप्रकरण में यह व्यवस्था मानते हैं कि 'प्रत्ययः', 'परश्च' और 'आद्युदात्तश्च' इन तीनों सूत्रों की पूरे प्रकरण में अनुवृत्ति जा रही है। पर अर्थ करते समय पहले मध्यमसूत्र के साथ एकवाक्यता होती है फिर अन्यों (प्रत्ययः और आद्युदात्तश्च) के साथ। सो तव्यादि की उत्पत्ति होने के बाद प्रत्यय संज्ञा होती है, उत्पत्ति से पहले तो वे तव्यादि प्रत्यय ही नहीं हैं, इसलिये उनके प्रत्ययग्रहणत्व का अभाव होने से उक्त परिभाषा का विषय ही नहीं बन सकेगा। फिर तदन्तविधि कैसे हो सकती है?

न वा प्रकृतेराद्युत्तवचनं ज्ञापकं तदादेरग्रहणस्य।।३।।

न वैष दोषः। किं कारणम्? यदयं 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६.१.१९१) इति प्रकृतेराद्युदात्तत्वं शास्ति।

तज्ज्ञापयत्याचार्यः– 'न तदादेराद्युदात्तत्वं भवती'ति।

ऊपर जो समस्या प्रस्तुत की गयी है– यह कोई दोष नहीं है। किस कारण से दोष नहीं है? जो कि यह आचार्य 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' सूत्र से ञित् नित् परे रहते प्रकृति को आद्युदात्तत्व का शासन कर रहे हैं, उससे स्पष्ट ही आचार्य का यह भाव झलकता है कि तदादि को अर्थात् प्रत्ययान्त समुदाय के आदि को उदात्त नहीं होता। यदि यह पूछा जाये कि इससे कैसे पता लगा कि उनका यह भाव है? यह पता इस प्रकार लगा कि 'प्रत्ययस्य च' सूत्र के द्वारा ही यदि तदादि को आद्युदात्त हो जाता तो 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' बनाने की क्या आवश्यकता थी? उससे किये जाने वाले कार्य को 'प्रत्ययस्य च' ही कर देता, फिर भी 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' बना रहे हैं तो उससे आचार्य का इससे अतिरिक्त और क्या अभिप्राय समझें कि 'प्रत्ययस्य च' इस सूत्र में प्रत्ययग्रहण परिभाषा से 'तदादि-तदन्तग्रहण' नहीं होता।

तदन्तस्य तर्ह्यनुदात्तत्वं प्राप्नोति।

अच्छा तो षष्ठाध्याय में 'सुप्पितौ च' ऐसा सूत्र होने पर प्रत्ययग्रहण परिभाषा से सुबन्त व पित्प्रत्ययान्त ऐसा अर्थ होकर तदन्त समुदाय को अनुदात्तत्व प्राप्त होने लगेगा।

प्रकृतिस्वरविधानसामर्थ्यात् प्रत्ययस्वराऽभावः।।४।।

(भाष्यम्) यदयं धातोरन्तः प्रातिपदिकस्य चान्त इति

प्रकृतेरन्तोदात्तत्वं शास्ति, तज्ज्ञापयत्याचार्यः– 'न तदन्तस्याऽनुदात्तत्वं[1] भवती'ति।

कथं कृत्वा ज्ञापकम्?

यत्र ह्यनुदात्तः प्रत्ययः[2], प्रकृतिस्वरस्तत्र प्रयोजयति[2]।

---

१. प्रत्ययान्तस्येत्यर्थः।

२. 'परः' इति शेषः। प्रयोजयतीत्यस्य ज्ञापकत्वमिति शेषः।

जो यह आचार्य 'धातोः' (६.१.१५६) इस सूत्र से धातु को तथा 'फिषोऽन्तोदात्तः' (फिट् सूत्र १.१) सूत्र से प्रातिपदिक को अन्तोदात्त विधान करते हुये प्रकृति को अन्तोदात्तत्व शासन कर रहे हैं, उससे यह ज्ञापित करते हैं कि– 'तदन्त को अनुदात्त नहीं होता'।

कैसे बनेगा भला यह ज्ञापक? जरा स्पष्ट कीजियेगा। देखो! जहाँ याति-यासि अथवा कृष्णतर-रामाभ्याम् इत्यादि में अनुदात्त-प्रत्यय[1] परे होता है वहीं तो उपर्युक्त धातुस्वर या प्रातिपदिकस्वर को चरितार्थ होने के लिये अवकाश मिलेगा। 'यातः' इत्यादि में जहाँ प्रत्यय उदात्त होता है वहाँ तो सतिशिष्ट[2] हेतु से उसी का स्वर प्रवृत्त होकर 'अनुदात्तं पदमेक०' (६.१.१५२) के नियम से शेष बचा सब अनुदात्त हो जायेगा, सो वहाँ तो प्रकृतिस्वर को अवकाश मिलने का प्रश्न ही नहीं उठता। सो यदि 'याति अथवा कृष्णतर' इत्यादि में प्रत्ययान्त को अनुदात्त होवे तो धातु व प्रातिपादिक को कहा गया उदात्तविधाननिर्विषय हो जायेगा। कोई पूछ सकता है तदन्त को कहा गया भी अनुदात्त पूरे संघात को किस नियम से होगा, 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' (पा० १३) इस परिभाषा-बल से प्रत्यय मात्र को ही हो जायेगा; इसका उत्तर यह है कि स्वरविधि में संघात को कार्यी[3] माना गया है– इसलिये ऐसा होने लगेगा।

यद्यपि आस्ते, शेते इत्यादि में 'तास्यनुदात्तेत्०' (६.१.१८०) से लसार्वधातुक को अनुदात्त होकर धातुस्वर को तो प्रवृत्त होने के लिये अवकाश है। कोई कह सकता है कि वहाँ भी तदन्त विधि होने से प्रत्ययान्त शब्द को ही अनुदात्त प्राप्त होगा। पर वैसा वहाँ नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'प्रत्ययग्रहणे चापञ्चम्याः' (पा० २५) इस परिभाषा से वहाँ पर अर्थात् 'तास्यनुदात्तेत्०' सूत्र में तदन्तविधि का प्रतिषेध है। फिर भी 'सामान्यापेक्षं ज्ञापकम्' इस आधार को लेकर प्रातिपदिक का अन्तोदात्त विधान 'सुप् व पित् के विषय में सर्वत्र (धातु विषय में भी और प्रातिपदिक विषय में भी) तदन्त को अनुदात्ताऽभाव का ज्ञापक ही है।' अर्थात् 'प्रत्ययान्त समुदाय को अनुदात्त होता है' यदि ऐसा मान लिया जाए तो कम से कम प्रातिपदिक को अन्तोदात्त विधान करना सर्वथा व्यर्थ हो जाता है। दूसरे शब्दों में 'प्रत्ययान्त को अनुदात्त नहीं होता' इस वचन की छाया में ही प्रातिपदिक के अन्तोदात्त विधान को व्यर्थ होने से बचाया जा सकता है। बस! हमें व्याख्यान से केवल इतना मात्र निश्चय करना होगा कि उक्त ज्ञापक विशेष की अपेक्षा करके अर्थात् प्रातिपदिक मात्र की अपेक्षा करके नहीं है बल्कि धातु व प्रातिपदिक उभयसाधारणापेक्ष है।

---

१. पित्त्वात् प्रत्ययस्यानुदात्तत्वम्।

२. किसी एक स्वर के प्राप्त होने पर जो बाद में स्वर पाता है, वह बलवान् होता है।

३. कार्याधिकरण= कार्य का आधार।

महाभाष्य

आगमानुदात्तार्थं वा।।५।।

आगमानुदात्तार्थं तर्हि प्रत्ययसंज्ञासंनियोगेनाद्युदात्तत्वमुच्यते।

प्रत्ययसंज्ञासंनियोगेनाद्युदात्तत्वे कृत आगमा अनुदात्ता यथा स्युरिति।

पूर्वप्रयोजन का ज्ञापक के द्वारा खण्डन कर दिये जाने के कारण (अर्थात् षाष्ठ पाठ की तुलना में तार्तीय पाठ में कोई वैशिष्ट्य न दिखा सकने के कारण) इहवचन का एक और प्रयोजन दिया जा रहा है। इसीलिये भाष्यकार वार्तिक पठित 'वा' शब्द का 'तर्हि' अर्थ में व्याख्यान कर रहे हैं–

अच्छा तो आगमों को अनुदात्त करने के लिये प्रत्ययसंज्ञासंनियोग से आद्युदात्त कर रहे हैं। प्रत्ययसंज्ञा के संनियोग से आद्युदात्तत्व कर लेने पर (शेष निघात से) आगम अनुदात्त हो जायें, इस हेतु से प्रत्ययसंज्ञा के साथ ही आद्युदात्त कर दिया गया है।

भाव यह है 'लवितव्यम्' इत्यादि में 'लू+तव्य' इस स्थिति में ही अर्थात् तव्य की उत्पत्ति वेला में ही आद्युदात्तत्व कर लेने पर, पश्चात् होने वाला इडागम, शेषनिघात[१] से अनुदात्त हो जाता है षष्ठ अध्याय में इस सूत्र को करने पर तव्योत्पत्ति के बाद दो कार्य प्राप्त होंगे– षाष्ठिक 'प्रत्ययस्य च' से आद्युदात्त और साप्तमिक इडागम। परत्व से इडागम कर लेने पर 'अर्थवत आगमा:०' (पा० १२) परिभाषा से इट् के प्रत्यय का भाग होने से प्रत्ययग्रहण से उसका भी ग्रहण होकर 'पुन: प्रसङ्गविज्ञान' (पा० ४०) होने लगेगा। जो कि अभीष्ट नहीं है। इस प्रकार का सिद्धान्त यह ठहरा कि आगमानुदात्तत्व के लिये यहाँ तृतीय अध्याय में 'आद्युदात्तश्च' पढ़ा गया है और 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' तो उसी का अपवादरूप एक भाग है।

नागेश का कहना है कि यहाँ से आगे अर्थात् 'आगमानुदात्तार्थं वा' इस वार्तिक से आगे जो भाष्य है वह एकदेशी की उक्ति है। उसे सम्पूर्ण सिद्धान्त नहीं मानना चाहिये।

न वागमानुदात्तवचनात्।।६।।

न वैतदपि प्रयोजनमस्ति। किं कारणम्? आगमानुदात्तवचनात्।

'आगमा अनुदात्ता भवन्ती'ति वक्ष्यामि।

षाष्ठसूत्रवादी तार्तीयसूत्रवादी से कहता है– यह भी इस सूत्र करण का प्रयोजन नहीं है। किस कारण से? 'आगम अनुदात्त होते हैं' ऐसा कहूँगा अथवा (ज्ञापक के द्वारा) उक्त व्याख्यान कर लूँगा, उससे हमारा इष्ट स्वर सिद्ध हो जायेगा।

---

१. 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' ६.१.१५२ से एक (उदात्त अथवा स्वरित) को छोड़कर शेष बचे सबको अनुदात्त कर लिया जाता है।

यहाँ से आगे भाष्य को षाष्ठसूत्रवादी व तार्तीयसूत्रवादी का पर्याय के कथनोपकथन के रूप में समझना चाहिये। यहाँ इस प्रसङ्ग में यह ध्यान रखने की बात है कि तार्तीय सूत्र प्रक्रिया से आगमों का अनुदात्तत्व शेषनिघात से किया जाता है और षाष्ठसूत्रवादी के मत में ज्ञापक से अथवा साक्षात्‌वचन से।

के पुनरागमा अनुदात्तत्वं प्रयोजयन्ति?

जब 'आगमानुदात्तार्थं वा' वार्तिक के द्वारा इह वचन का प्रयोजन प्रस्तुत किया गया है कि आगमों को अनुदात्त करने के लिये यहाँ पढ़ना चाहिये तो षाष्ठसूत्रवादी ने कहा कि 'न वैतदपि प्रयोजनमस्ति' यह भी प्रयोजन नहीं है– क्योंकि 'आगमा अनुदात्ता भवन्ति' ऐसा कहूँगा, उस वचन के द्वारा सभी इष्ट स्थल संगृहीत हो जायेंगे।

अब तार्तीयसूत्रवादी का सहायक या समर्थक शेषनिघात से आगमानुदात्तत्ववादी षाष्ठसूत्रवादी से पूछता है– 'ऐसे कौन से आगम हैं जो अनुदात्तत्व के प्रयोजक हैं अर्थात् जिनको इहस्थ सूत्र के द्वारा प्रत्यय को आद्युदात्त निघात से ही सब आगमों का अनुदात्तत्व सिद्ध है तो उसके लिये 'आगमा अनुदात्ता भवन्ति' ऐसा नया वचन कहने की क्या आवश्यकता है?

षाष्ठसूत्रवादी ने इसके प्रत्युत्तर में कहा- हाँ! ऐसे आगम हैं जो 'आगमा अनुदात्ताः' इस वचन के प्रयोजक हैं। तार्तीय सूत्र प्रक्रिया से जिनको अनुदात्त नहीं किया जा सकेगा। उनमें से ही हम उदाहरण रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं–

इट्– लविता।

लू धातु से लुट्, तिप्, डा, तासि, इट् (आगम) ये सब कार्य होने पर 'लू+इट् तास्+डा' ऐसी स्थिति में यदि इट् को अनुदात्त नहीं होगा तो चूँकि इट् तासिप्रत्यय का भाग है इसलिये प्रत्ययाद्युदात्त से वह उदात्त हो जायेगा और तदन्तर शेष निघात से तास् का आकार अनुदात्त होने से जब टेः (६.४.१४३) सूत्रस्थ 'डित्यभस्यापि टेर्लोपः' नियम से तास् के आस् भाग का टिलोप करेंगे तो वह उदात्तलोप नहीं कहा जा सकेगा, उससे फिर 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः' (६.१.१५५) सूत्र से होने वाला उदात्तनिवृत्ति स्वर 'डा' के आकार को नहीं हो सकेगा। 'इट्' को 'आगमा अनुदात्ताः' वचन से अनुदात्त करने पर तो 'तास्' का आकार ही उदात्त होगा, सो उदात्तनिवृत्तिस्वर सिद्ध हो जायेगा। इस प्रकार 'लविता' इत्यादि में उदात्तनिवृत्तिस्वर स्वर से अन्तोदात्तत्व की सिद्धि हमारे मत[१] में आगमानुदात्तवचन का फल हुआ।

षाष्ठसूत्रवादी के द्वारा 'आगमा अनुदात्ताः' के अनुदात्तत्व के प्रयोजक रूप में इट् को उपस्थित करने पर शेषनिघात से आगमानुदात्तत्ववादी प्रत्युत्तर में कहता है–

१. षाष्ठ सूत्रवादी के मत में।

महाभाष्य

इट् तावन्न प्रयोजयति।

इट् तो आगमानुदात्तत्व का प्रयोजक नहीं है, अर्थात् इट् के लिये तो आगमों को अनुदात्त करने की कोई आवश्यकता नहीं। सो कैसे? देखिये! षष्ठ अथवा तृतीय दोनों में से किसी एक में सूत्र को पढ़ने पर भी अन्तरङ्ग हेतु से पहले ही आद्युदात्तत्व की प्रवृत्ति होकर उसके पश्चात् शेष निघात से इट् को अनुदात्त होगा, इस प्रकार इष्ट उदात्तनिवृत्तिस्वर सिद्ध हो ही जायेगा।

इदमिह संप्रधार्यम्– इट् क्रियतामाद्युदात्तत्वमिति। किमत्र कर्तव्यम्? परत्वादिट्। नित्यमाद्युदात्तत्वम्। कृतेऽपीटि प्राप्नोत्यकृतेऽपि। इडपि नित्यः। कृतेऽप्याद्युदात्तत्वे प्राप्नोत्यकृतेऽपि। अनित्य इट्। अन्यथास्वरस्य कृत आद्युदात्तत्वे प्राप्नोत्यन्यथास्वरस्याकृते (प्राप्नोति), स्वरभिन्नस्य च प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति। आद्युदात्तत्वमप्यनित्य्। अन्यस्य कृत इटि प्राप्नोत्यन्यस्याकृते, शब्दान्तरस्य च प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति। उभयोरनित्ययोः परत्वादिडागमः।

अभी ऊपर कहा गया कि अन्तरङ्ग हेतु से पहले ही आद्युदात्त होकर फिर शेषनिघात से इट् को अनुदात्त होकर उदात्तनिवृत्तिस्वर के द्वारा हमारा अभीष्ट स्वर सिद्ध हो जायेगा। लेकिन प्रतिपक्षी अन्तरङ्गत्व को न देखता हुआ अपने मत में परत्व से पहले इडागम को स्थापित करने के लिये आग्रह करता है–

यहाँ हमारे समक्ष यह सम्प्रधार्य[१] है कि इट् किया जाये अथवा आद्युदात्त। क्या करना चाहिये? परत्व से इट् का होना ही सङ्गत मालूम पड़ता है। पर, आद्युदात्तत्व नित्य है। क्योंकि वह इट् के कर लेने पर भी पाता है और न करने पर भी। और 'परान्नित्यं बलीयः' के नियम से पर से भी नित्य बलवान् होता है। इसलिये पर को भी बाधकर नित्य को ही प्रवृत्त होना चाहिये।

लेकिन इट् भी तो नित्य है (इसकी भी वही स्थिति है जो आद्युदात्तत्व की)। यह भी आद्युदात्तत्व के कर लेने पर भी पाता है और न करने कर भी।

नहीं! इट् तो अनित्य है। आद्युदात्तत्व कर लेने पर अन्य प्रकार के स्वर को (अर्थात् उदात्त स्वर वाले 'तृ' को) इट् प्राप्त होता है। और न करने पर अन्य प्रकार वाले स्वर को (अर्थात् उदात्तरहित तृ को) और उधर एक नियम बना हुआ है कि स्वर भिन्न को प्राप्त होती हुयी विधि अनित्य होती है। अर्थात् रूप के समान स्वर भी श्रुतिभेद का हेतु होने से शब्दान्तर बना देता है। वृद्धिरादैच् (१.१.१) सूत्र पर स्पष्ट ही भगवान् ने स्वरों को भेदक कहा है।

१. संप्रधारणा के जो योग्य हो वह 'सम्प्रधार्य' कहाता है। किसी वस्तु के औचित्य-अनौचित्य के निर्धारण करने का नाम सम्प्रधारण है।

(इस प्रकार तो) आद्युदात्तत्व भी अनित्य है। इट् कर लेने पर अन्य को आद्युदात्त पाता है और न करने पर अन्य को। अर्थात् जैसे 'लविता' यहाँ इट् कर लेने पर 'इतृ' को आद्युदात्त पायेगा और न करने पर केवल 'तृ' को।

जब दोनों विधियाँ अनित्य हैं तो तुल्यबलविरोध होने से 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (१.४.२) के नियम से परत्व से इडागम ही होगा। और जब इडागम पहले होगा तो जैसा कि इस प्रसङ्ग में प्रारम्भ में ही दर्शाया गया कि इडागम 'तास्' का भाग होने से उस इट् को ही आद्युदात्त होकर शेषनिघात से बाकी सबको अनुदात्त होकर 'लविता' इस प्रयोग में अन्तोदात्त रूप अभीष्ट स्वर की सिद्धि नहीं हो पायेगी। इसके लिये हमें यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि यह 'इट्' आगम अनुदात्तत्व का प्रयोजक है।

अन्तरङ्गं तर्ह्याद्युदात्तत्वम्। काऽन्तरङ्गता? उत्पत्तिसन्नियोगेनाद्युदात्तत्वमुच्यते। उत्पन्ने प्रत्यये प्रकृतिप्रत्ययावाश्रित्याङ्गस्येडागमः। आद्युदात्तत्वमपि नान्तरङ्गम्। यावता प्रत्यय आश्रिते प्रकृतिरप्याश्रिता भवति। अन्तरङ्गमेवाद्युदात्तत्वम्। कथम्? इदानीमेव ह्युक्तम्– 'न प्रत्ययस्वरविधौ तदादिविधिर्भवती'ति।

जिसने पहले यह कहा था कि इडागम अनुदात्तत्व का प्रयोजक नहीं है (इट् तावन्न प्रयोजयति) वही अर्थात् शेषनिघात से आगमानुदात्तत्ववादी हेतुसहित अपने आशय को प्रकट करता हुआ कहता है–

अच्छा तो आद्युदात्त अन्तरङ्ग है। पूर्व से पर, पर से नित्य और नित्य से अन्तरङ्ग बलवान् होता है। सो इडागम यद्यपि परे है पर आद्युदात्त अन्तरङ्ग होने से वही पहले होगा। तत्पश्चात् शेषनिघात से इट् अनुदात्त होकर उदात्तनिवृत्तिस्वर से इष्ट स्वर सिद्ध हो जायेगा।

अच्छा यह बताओ आद्युदात्तत्व की अन्तरङ्गता क्या है? अर्थात् किस हेतु से वह अन्तरङ्ग है? आद्युदात्तत्व की अन्तरङ्गता इस आधार पर है कि वह उत्पत्तिसन्नियोग से कहा गया है। उत्पत्तिमात्र ही उसका निमित्त है, उसे और कुछ नहीं चाहिये। जब कि इडागम प्रत्यय के उत्पन्न होने पर प्रकृति और प्रत्यय दोनों का आश्रय करके (सम्पन्न होने वाली) अङ्गसंज्ञा का निमित्त जो प्रत्यय है उसको होता है।

'अङ्गस्येडागमः' इस भाष्यवचन का भाव है– अङ्गसंज्ञानिमित्तस्येडागमः। चूँकि अङ्गसंज्ञा प्रकृति-प्रत्यय दोनों के आश्रित है। इसलिये इडागम को 'प्रकृतिप्रत्ययावाश्रित्य' ऐसा कहा गया है। तृतीय अध्याय में जब 'आद्युदात्तश्च' को लक्ष्य करें तो 'उत्पत्तिसंनियोगेन' कहना ठीक बनता है। लेकिन यह कथन तो शेषनिघात से आगमानुदात्तत्ववादी की ओर से षाष्ठ 'प्रत्ययस्य च' सूत्रपाठवादी को लक्ष्य कर कहा गया है, सो उस सन्दर्भ में 'उत्पत्तिसन्नियोगेन' शब्द का औपचारिक अर्थ लेना पड़ेगा– 'प्रत्ययमात्रनिमित्तत्वेन'। क्योंकि अभी अनुपद ही कहेंगे कि षाष्ठ प्रत्ययस्वरविधि में भी ज्ञापक से तदादिविधिप्रतिषिद्ध है– केवल प्रत्ययमात्र को ही वह स्वर होता है।

प्रतिपक्षी कहता है– आद्युदात्त भी अन्तरङ्ग नहीं है। क्योंकि जब वहाँ प्रत्यय का आश्रय करके स्वरविहित है तो प्रकृति तो स्वत: ही आश्रित हो जाती है।

इसका भाव यह है– 'प्रत्ययग्रहणे यस्मात्०' (पा० २४) परिभाषा से अथवा प्रत्ययग्रहणं चापञ्चम्या: (भाष्य वार्तिक १.१.७१-२८) इस भाष्यवार्तिक से प्रत्यय के ग्रहण में प्रत्ययान्त का ग्रहण होगा और जब प्रत्ययान्त का ग्रहण होगा तो प्रकृति भी उसके साथ गृहीत होगी ही। और जब ऐसा है तो आद्युदात्त को अन्तरङ्ग नहीं कहा जा सकता।

अब शेषनिघात से आगमानुदात्तत्ववादी आद्युदात्तत्व के अन्तरङ्गत्व का समर्थन करता हुआ कहता है– आद्युदात्तत्व तो अन्तरङ्ग ही है। कैसे? अभी-अभी ही तो कहा था कि 'प्रत्यय की स्वरविधि में तदादिविधि नहीं होती'।

भाव यह है– इसी सूत्र के भाष्य में यह कहा गया है कि ञ्नित्यादिर्नित्यम् (६.१.१९१) से ञिदन्त निदन्त को या ञित्-नित् परे रहते पूर्व को आद्युदात्त विधान करते हुये आचार्य यह ज्ञापित करते हैं कि तदादि को आद्युदात्त नहीं होता। अर्थात् प्रत्यय को कहा हुआ कार्य प्रत्यय मात्र को ही होगा न कि प्रत्ययान्त को। इस प्रकार उक्त स्वरविधि में यह नहीं कहा जा सकेगा कि वहाँ प्रकृति का भी आश्रय है। और जब प्रकृति का आश्रय नहीं होता है तो यही बात स्थित रहेगी कि आद्युदात्तत्व अन्तरङ्ग है। और जब आद्युदात्त अन्तरङ्ग है तो षाष्ठ पाठ में भी पहले स्वर[1] प्रवृत्त होगा, उसके बाद इट्, शेषनिघात से उसको अनुदात्त और अन्त में उदात्तनिवृत्तिस्वर। इस क्रम में 'इट्' के लिये 'आगमा अनुदात्ता:' यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

सीयुट् तर्हि प्रयोजयति[2]।

इस प्रकार शेषनिघात से आगमानुदात्तत्ववादी के द्वारा षष्ठाध्याय में सूत्रारम्भवादी के प्रति जब यह सिद्ध कर दिया गया कि आगमानुदात्तवचन[3] का 'इट्' को लक्ष्य कर कोई लाभ (=प्रयोजन) नहीं है तब वह षाष्ठपाठवादी सीयुट् को आगमानुदात्तत्व के प्रयोजक रूप में प्रस्तुत करता हुआ कहता है कि 'सीयुट्' यह आगम अनुदात्तत्व का प्रयोजक है (अर्थात् यहाँ शेषनिघात से आगमानुदात्तत्ववाली प्रक्रिया से इष्ट सिद्धि नहीं हो पायेगी)।

---

१. आद्युदात्तस्वर।

२. 'अनुदात्तत्वम्' इति शेष:। ३. 'आगमा अनुदात्ता: भवन्ति' इस वचन का।

अवचने हि सीयुडादेराद्युदात्तत्वम्।।७।।

(भाष्यम्) अक्रियमाणे ह्यागमानुदत्तत्वे क्रियमाणेऽपि प्रत्ययसंज्ञासंनियोगेनाद्युदात्तत्वे सीयुडादेर्लिङ आद्युदात्तत्वं प्रसज्येत। लविषीय॒लविषीय॒।

आगमानुदात्तत्व न किये जाने पर और उधर प्रत्ययसंज्ञा के संनियोग से आद्युदात्तत्व कर दिये जाने पर भी 'सीयुट् आदि में है जिसके' ऐसे लिङ् को आद्युदात्त होने लगेगा। लविषीय॒ लविषीय॒ इत्यादि में।

'क्रियमाणेऽपि प्रत्ययसंज्ञासंनियोगेनाद्युदात्तत्वे' इस भाष्य के द्वारा तृतीय अध्याय में 'आद्युदात्तश्च' करने पर भी आगमानुदात्तवचन की आवश्यकता पर बल दिया गया है। अर्थात् षाष्ठ 'प्रत्ययस्य च' सूत्र रखो या यहाँ 'आद्युदात्तश्च' दोनों अवस्थाओं में ही 'लविषीय' इत्यादि उदाहरणों में 'सीयुट्' को आद्युदात्तत्व से बचाने के लिये आगमानुदात्तवचन अवश्य करना चाहिये। 'लविषीय' यह लू धातु से आशीर्लिङ् में उत्तमपुरुष एकवचन का रूप है। यहाँ 'लू+लिङ्' इस स्थिति में 'लिङः सीयुट्' (३.४.१०२) के द्वारा विशेषविधान [१] होने से अथवा परत्व[२] से पहले सीयुट् किया जायेगा, फिर लादेश। सो सीयुट् होते ही प्रत्ययाद्युदात्तत्व भी साथ ही होगी। इसके लिये 'आगमा अनुदात्ताः' इस वचन से सीयुट् को अनुदात्त होने पर, लादेश इट् होकर 'इटोऽत्[३]' (३.४.१०६) से इट् के स्थान में हुवे अकार को प्रत्यय स्वर से उदात्त होकर 'लविषीय॒' ऐसा अन्तोदात्त इष्ट स्वर सिद्ध होता है।

कोई कहने लगे यदि सीयुट् पहले हो जायेगा तो 'धातोः' पद पञ्चम्यन्त होने के कारण 'तस्मादित्युत्तरस्य' के नियम से, लिङ् के अव्यवहित उत्तर न मिलने से, लादेश नहीं हो सकेगा। इसका उत्तर यह है– 'धातोः' (३.१.९१) का अधिकार प्राग्लादेश भी माना गया है– सो उस पक्ष में तो कोई कष्ट है ही नहीं। जब लादेश प्रकरण में भी 'धातोः' अधिकार है तब भी उक्त दोष इसलिये नहीं आयेगा कि वहाँ विहितविशेषण मानकर अर्थ किया जायेगा– 'धातोर्विहितो यो लकारस्तस्य आदेशा भवन्ती'ति अर्थात् धातु से विहित जो लकार उसको आदेश होते हैं। इस अर्थ योजना में सीयुट् का व्यवधान लादेश करने में बाधक नहीं होगा।

---

१. अनवकाश होने पर ही विशेषविधान की बलवत्ता मानी जाती है। लादेशोत्तर भी प्रवृत्त होने से सीयुट् सावकाश है। इसीलिये दूसरा 'परत्व' हेतु दिया गया।

२. लादेशनिमित्ताद्युदात्तत्वस्य 'यात' इत्यादिरवकाशः। शयिषीष्टेत्यादौ लसार्वधातुकानदात्तत्वात् सीयुट् सावकाशः। प्रकृते 'लविषीये' त्यत्रोभयप्रसङ्गे परत्वात् सीयुडित्यर्थः।

३. यहाँ 'अत्' आदेश के तकार 'तित् स्वरितम्' (६.१.१७९) से स्वरितत्व की आशङ्का नहीं करनी चाहिये। यहाँ तो स्थानिवद्भाव (१.१.५५) से आतिदेशिक प्रत्ययत्व है। अथवा 'अत्' प्रत्यय में इत्संज्ञक दकार है न कि तकार।

महाभाष्य

तत्तर्हि वक्तव्यमागमा अनुदात्ता भवन्तीति।

तार्त्तीयसूत्रवादी का समर्थक शेषनिघात से आगमानुदात्तत्ववादी कहता है– इस प्रकरण के प्रारम्भ में हमारे द्वारा पूछा गया था कि ऐसे कौन से आगम हैं जो अनुदात्तत्व के प्रयोजक हैं– अर्थात् जिनके लिये 'आगम अनुदात्ता' ऐसा कहना ही चाहिये, अन्यथा इष्ट स्वर सिद्ध नहीं होगा। उत्तर में आपने 'लविता' इस प्रयोग में 'इट्' को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया। पर अन्तरङ्ग हेतु से इडागम करने से पहले ही आद्युदात्तत्व हो जाने पर, शेष-निघात से ही 'इट्' के अनुदात्तत्व की प्राप्ति हो जाने से, जब उसकी प्रयोजकता निरस्त हो गयी; तो 'सीयुट्' इस आगम को आपने (षाष्ठ सूत्रपाठ समर्थक ने) अनुदात्तत्व के प्रयोजक के रूप में प्रस्तुत किया। और जब सीयुट् आगम के अनुदात्तत्व की प्रयोजकता स्थिर रही अर्थात् जब उसको नहीं हटाया जा सका तो इसका अब सीधा अर्थ यही निकलता है कि इस उपर्युक्त अवलोकन प्रक्रियानुसार हम दोनों को ही एक नवीन वचन के रूप में 'आगमा अनुदात्ता भवन्ति' ऐसा कहना चाहिये।

न वक्तव्यम्। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति- 'आगमा अनुदात्ता भवन्ती'ति, यदयं 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्चे' त्याह।

षाष्ठसूत्रवादी उत्तर देता है– नहीं! (अपूर्ववचन के रूप में कहने की आवश्यकता नहीं है।) स्वयम् आचार्य ही ऐसा चाहते हैं– केवल इतना मात्र समझ लेना होगा। देखो! जो ये आचार्य 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' (३.४.९७) सूत्र के द्वारा यासुट् को उदात्त विधान कर रहे हैं, उससे यह पता चलता है कि वे ऐसा मानते हैं कि 'आगम अनुदात्त होते हैं'।

प्रकृत भाष्य का भाव यह है– यासुड्विधायक सूत्र में पढ़े हुये 'परस्मैपदेषु' इस पद में विषयसप्तमी है, सो उस सूत्र का अर्थ होगा– 'परस्मैपदविषयक लिङ् को यासुड् आगम होता है और साथ में वह उदात्त तथा ङित् भी होता है।' इस सूत्रार्थ के अनुसार यासुट् भी सीयुट् के समान ही लादेशों से पूर्व ही होता है। सो लादेशों को प्रत्ययत्वसंनियोग से प्रवर्तमान आद्युदात्तत्व यासुट् आगम को ही हो जायेगा, फिर भी जो उसको उदात्त किया गया उससे यह सूचना मिलती है कि 'आगम अनुदात्त होते हैं'। यहाँ यह अवश्य ध्यातव्य है यदि 'परस्मैपदेषु' पद में विषयसप्तमी न मानकर परसप्तमी मान ली जायेगी तो परस्मैपद को निमित्त मान कर होने वाला यासुट् लादेशोत्तर काल में होगा– सो लादेश होते ही, यासुट् करने से पहले ही, अन्तरङ्ग हेतु से प्रत्ययाद्युदात्त होकर शेष निघात से यासुट् अनुदात्त होने लगेगा। जबकि चाहते उदात्त हैं इसलिये उस अनुदात्त को हटाने में उदात्त विधान चरितार्थ हो जाने से ज्ञापक नहीं बन सकेगा। क्योंकि 'सति प्रयोजने न ज्ञापकं भवति'। अर्थात् प्रयोजन के होने पर ज्ञापक नहीं होता है। जब किन्हीं विशेष परिस्थितियों में आचार्य का कोई कथन या वचन ऐसा प्रतीत होने लगे कि इसकी तो कोई आवश्यकता नहीं, तब उस प्रसङ्ग से कोई ऐसी सूचना

ग्रहण करनी होती है कि आचार्य का वह निर्देश व्यर्थ न रहे। उस सूचना को यदि हम अपने लक्ष्य में नहीं रखते तो निश्चय ही वह निर्देश व्यर्थ हो जाता है। किसी सूत्र या सूत्रैकदेश की व्यर्थता को सार्थकता में बदल देने वाली सूचना ही यहाँ व्याकरणशास्त्र में ज्ञापक नाम से कह दी जाती है। भाष्य के समस्त ज्ञापकस्थलों को समझने के लिये अध्येता को या व्यवस्था को इस ज्ञापक निकालने की इस प्रक्रिया को ठीक से अपनी बुद्धि में बिठा लेना चाहिये। भाष्य में पदे-पदे ज्ञापकों की भरमार है। एक अर्थ में ज्ञापकों को भाष्य का हृदय ही कह दिया जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

नैतदस्ति ज्ञापकम्। वक्ष्यत्येतत्– 'यासुटो ङिद्वचनं पिदर्थमुदात्तवचनं चे'ति।

तार्तीयसूत्रवादी– यह आपके द्वारा प्रस्तुत किया गया ज्ञापक तो बनेगा नहीं। क्योंकि आचार्य वार्तिककार 'यासुट् परस्मैपदेषू०' (३.४.१०३) सूत्र पर कहेंगे कि यासुट् का ङिद्वचन व उदात्तवचन पित्प्रत्ययों के लिये है। परस्मैपद में तिप् सिप् मिप् ये तीनों प्रत्यय पित् होते हैं शेष अपित्। अपित् तो 'सार्वधातुकमपित्' (१.२.४.) से ङित्वत् हो जाते हैं पर पित् ङित् नहीं हो पाते सो 'चिनुयात्' इत्यादि में 'चिनु' अङ्ग को गुणाऽभाव के लिये ङित् करना आवश्यक है और साथ में चूँकि वह पित् प्रत्यय का भाग है सो वह भी पित्[1] होकर 'अनुदातौ सुप्पितौ' (३.१.४) के नियम से अनुदात्त न हो जाये इसके लिये उसे उदात्त करना भी आवश्यक है। इस प्रकार जब वह प्रयोजनवान् है तो ज्ञापक कैसे हो सकता है?

शक्यमनेनैवं वक्तुं 'यासुट् परस्मैपदेषु भवति, अपिच्च लिङ् भवतीति। सोऽयमेवं लघीयसा न्यासेन सिद्धे सति यद् गरीयांसं यत्नमारभते। तज्ज्ञापयत्याचार्यः– 'आगमा अनुदात्ता भवन्ती'ति। शक्यमेवं लब्धुम्।

षाष्ठसूत्रवादी– यासुट् को ङित् करने और उदात्त करने का जो आपने प्रयोजन दिया कि वह पिदर्थ है, सो तो एक छोटे मार्ग से भी सिद्ध हो जाता। अर्थात् केवल इतनी सी ही बात होती तो आचार्य ऐसा कह देते कि 'परस्मैपद में यासुट् होता है और लिङ् (अर्थात् लिङादेश) अपित् भी होते हैं। अपित् कहने से अपने आप ङित्[2] हो जायेगा और साथ में अनुदात्त होने से भी बच जायेगा–पित् ही तो अनुदात्त कहा है, पित् नहीं होगा तो सामान्य करके प्रत्ययाद्युदात्त ही प्रवृत्त होगा। इस प्रकार आचार्य लघु मार्ग का त्याग कर जो लम्बे मार्ग से चल रहे हैं उससे यह अर्थ ग्रहण किया जायेगा कि आचार्य यह देख रहे हैं कि आगम अनुदात्त होते हैं। और ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि यह लघु प्रक्रिया जो हमें दिख गयी, हो सकता है उन्हें न दिखायी दी हो। क्या ऐसा कभी हो सकता है– जो बात अनल्पमति को न दिखायी दे, वह अल्प मति को दिखायी दे जाये। सो इस रीति से आचार्य का आगमानुदात्तविषयक संकेत प्राप्त करना शक्य है। अपूर्ववचन बनाने की आवश्यकता नहीं है।

१. 'अर्थवत आगमाः' (पा० १२) परिभाषा से आगम आगमी के भाग हो जाते हैं।

२. सार्वधातुकमपित् (१.२.४) इति ङिद्वत्भावो विधीयते।

महाभाष्य

यद्येव वचनाद्, अथापि ज्ञापकाद् 'आगमा अनुदात्ता भवन्ती'ति।
आगमैस्तु व्यवहितत्वादाद्युदात्तत्वं न प्राप्नोति।

तार्तीयसूत्रवादी– अच्छा चाहे वचन से (क्योंकि 'तस्मिन्निति' १.१.६५ परिभाषा के रहते यासुट् विधायकसूत्र में पढ़े 'परस्मैपदेषु' पद में विषय-सप्तमी मानना अनुचित होने से ज्ञापक बन पाना अशक्य है) अथवा ज्ञापक से (अर्थात् 'परस्मैपदेषु' पद में जब आपके कथनानुसार विषयसप्तमी ही स्वीकार कर ली जाती है तो) यह तो हमने मान लिया कि 'आगम अनुदात्त होते हैं'। पर अब आगमों के द्वारा व्यवहित होने से अर्थात् जिसको स्वर विधान करना चाह रहे हैं उसके आदि में न रहने से या यह कहिये आगमों के द्वारा प्रत्यय का आदित्व विच्छिन्न हो जाने से 'प्रत्ययस्य च' के द्वारा विधीयमान आद्युदात्त प्राप्त नहीं होगा।

प्रकृत भाष्य को लेकर कैयट– नागेश ने अपना कुछ विशेष विचार रखा है। उनका कहना है– आगमों के प्रत्यय से पूर्व में उपस्थित होने से, उन प्रत्ययों के आदिधर्म के विच्छिन्न हो जाने से 'लविषीय' इत्यादि में प्रत्यय (जैसे इस प्रस्तुत उदाहरण में उत्तमपुरुष का इट् अथवा उसके स्थान में आदेश हुआ-हुआ 'अ') आद्युदात्त नहीं प्राप्त होता। यह दोष षाष्ठवादी के मत में ही है। यहाँ इस सूत्र के आरम्भ करने पर तो प्रत्ययसंज्ञासंनियोग से आद्युदात्तत्व कर लेने पर आगम होते रहते हैं– इसलिये दोष नहीं है। इस प्रकार सीयुट् आगम के अनुदात्तत्व के लिये आगमानुदात्तवचन अनावश्यक है। प्रकृत में 'लविषीय' यहाँ सीयुट् को छोड़कर केवल इट् को जैसे स्वर कर दिया गया वैसे केवल इट् इस प्रत्यय को परे मानकर सीयुट् पर्यन्त की अङ्गसंज्ञा[१] भी कोई करने लगे सो नहीं होगी, क्योंकि अर्थवत आगमा:० (पा० १ २) इस न्याय से सीयुट्विशिष्ट 'अ' का ही प्रत्यय ग्रहण से ग्रहण होगा न कि केवल सीयुट् का। कारण अङ्गसंज्ञा विधायक सूत्र में सप्तम्यन्त 'प्रत्यये' पद का अनुवाद रूप से ग्रहण होने से अनुवादविषयिका 'अर्थवत आगमा:०' परिभाषा के प्रवृत्त होने में कोई बाधा नहीं होगी। इस तृतीय अध्यायस्थ सूत्र प्रक्रिया में यासुट् को भी सीयुट् के समान शेषनिघात से अनुदात्तत्व प्राप्त होने पर उदात्तग्रहण के चरितार्थ हो जाने से 'आगमा अनुदात्ता भवन्ति' इस ज्ञापक का असम्भव भी ध्वनित होता है। इस प्रकार जब हम शेषनिघात से सीयुट् का अनुदात्तत्व स्वीकार कर लेते हैं तो पीछे 'लविषीय' इस उदाहरण को लेकर भाष्य में जो यह कहा गया कि 'क्रियमाणेऽपि प्रत्ययसंज्ञासंनियो-गेनाद्युदात्तत्वे०........' यह एकदेशी की उक्ति भी असंगत हो जाती है।

---

१. यदि सीयुट् पर्यन्त की अङ्गसंज्ञा हो जाये तो लविषीध्वम् में सीयुट् के 'य्' का वलि लोप होने पर इगन्त अङ्ग मिल जाने से गुण होने लगेगा।

'आगमा अविद्यमानवद् भवन्ती'ति वक्ष्यामि।

षाष्ठवादी– 'आगम अनुदात्त होते हैं' यह न करके 'आगम अविद्यमानवत् होते हैं'– यह कहूँगा। जब आगम अविद्यमानवत् होंगे तो षाष्ठिक 'प्रत्ययस्य च' के द्वारा आद्युदात्त करने में कोई बाधा नहीं आयेगी।

यद्यागमा अविद्यमानवद् भवन्तीत्युच्यते, लविता– अवादेशो न प्राप्नोति।

तार्तीयसूत्रवादी– यदि आगम अविद्यमानवत् होते हैं– ऐसा कहते हो तो 'लविता' यहाँ 'लो+इता' इस स्थिति में 'एचोऽयवायाव:' (६.१.७५) से अच् के परे रहते कहा अवादेश नहीं प्राप्त हो सकेगा– क्योंकि अच् के रूप में जो इट् आगम है वह अविद्यमानवत् हो जायेगा।

स्वरविधाविति वक्ष्यामि।

षाष्ठसूत्रवादी– साथ में यह भी कहूँगा कि केवल स्वरविधि में आगम अविद्यमानवत् होते हैं। यहाँ तो अवादेशविधि है, इसलिये विद्यमान ही रहेगा।

एवमपि लविता– उदात्तादनुदात्तस्य स्वरित: (८.४.६५) इति स्वरितत्वं न प्राप्नोति।

तार्तीयसूत्रवादी– फिर भी 'लविता' यहाँ आद्युदात्त होने पर उदात्त से उत्तर कहा गया अनुदात्त को स्वरित नहीं प्राप्त हो सकेगा। क्योंकि स्वरविधि में वह अविद्यमानवत् हो जायेगा।

'लविता' यह तृन्नन्त पद है। तृजन्त अथवा लुडन्त में तो अन्तोदात्त होने से उक्तस्वर की प्राप्ति ही नहीं।

'षाष्ठिके स्वर' इति वक्ष्यामि।

षाष्ठसूत्रवादी– षष्ठ अध्याय सम्बन्धी स्वर करने में ही आगम अविद्यमानवत् होते हैं, ऐसा कहूँगा। यह जो 'उदात्तादनु०' स्वर है– यह तो अष्ठम अध्याय सम्बन्धी है।

एवमपि शिक्षित:– निष्ठा च द्व्यजनात् (६.१.१९९) इत्येष स्वर: प्राप्नोति।

तार्तीयसूत्रवादी– फिर भी (क्योंकि षाष्ठिक स्वर करने में आगम अविद्यमानवत् हो जाते हैं– इसलिये) 'शिक्षित:' यहाँ इट् के अविद्यमानवत् होने से द्व्यच्क हो जायेगा, सो 'संज्ञाविषय में निष्ठान्त द्व्यच् आकार से भिन्न आदि को उदात्त होता है' इस विशेष विधान से आदि को उदात्त प्राप्त होने लगेगा। जबकि इष्ट है– प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त।

प्रत्ययस्वरविधाविति वक्ष्यामि

षाष्ठसूत्रवादी– 'प्रत्ययस्वरविधि में ही आगम अविद्यमानवत् होते हैं' ऐसा कहूँगा। उक्त स्वर षाष्ठिक तो है, पर प्रातिपदिक स्वरविधित्व के कारण प्रत्ययस्वरविधित्व का अभाव है।

तत्तर्हि वक्तव्य[१]मागमा अविद्यमानवद् भवन्तीति।

तार्तीयसूत्रवादी– तो फिर हमें यह कहना ही चाहिये कि 'आगम अविद्यमानवत् होते हैं'।

न वक्तव्यम्[२]। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति– 'आगमा अविद्यमानवद् भवन्तीति,' यदयं 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' (३.४.१०३) इत्याह।

षाष्ठवादी– नहीं! कहने की तो कोई आवश्यकता नहीं। आचार्य की प्रवृत्ति से ही यह संकेत ग्रहण कर लेंगे कि आगम अविद्यमानवत् होते हैं। यदि यह पूछा जाये कि ऐसी कौन सी है वह आचार्य की प्रवृत्ति, जिससे यह पता लगता है कि आगम अविद्यमानवत् होते हैं, तो कहना होगा कि जो यह आचार्य 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' ऐसा सूत्र बना रहे हैं।

भाव यह है– प्रत्ययाद्युदात्तत्व करने में अर्थात् षाष्ठिक 'प्रत्ययस्य च' सूत्र की प्रवृत्ति वेला में यदि आगम आदित्व के विघातक होते तो 'चिनुयाताम्' इत्यादि में यासुट् ही प्रत्ययादि माना जाता, फिर उसको तो स्वत: ही आद्युदात्तत्व सिद्ध था, सो उसके लिये तो यह कहना ही नहीं बनता कि यासुट् उदात्त होता है। फिर भी कहा है– इसका यही अर्थ निकलता है कि आगम अविद्यमानवत् होते हैं। जब अविद्यमानवत् होते हैं तो आगमरहित प्रत्यय को ही आद्युदात्तत्व होकर शेषनिघात से आगम को अनुदात्त प्राप्त होने लगता है, उसकी व्यावृत्ति के लिये उदात्तग्रहण सार्थक होता है। यही इस ज्ञापक का स्वार्थ में फल है और अन्यत्र फल यह है कि 'लविषीय' इत्यादि में 'लू+लिङ्=लू+ल्' इस स्थिति में तो प्रत्यय (ल्+प्रत्यय) के अनच्क होने से आद्युदात्तत्व अप्राप्त है, पर लादेश होने से पहले ही सीयुट् आ जाने के कारण लादेश करने पर भी उसको[३] प्रत्यय स्वर नहीं हो सकेगा– क्योंकि अब तो प्रत्यय के आदि में 'सीय्' का 'ई' कहा जायेगा। लेकिन आगम अविद्यमानवत् होने से इटोऽत् (३.४.१०६) से हुये अकार को प्रत्ययस्वर सिद्ध हो जाता है।

नैतदस्ति ज्ञापकम्। वक्ष्यत्येतत्– 'यासुटो ङिद्वचनं पिदर्थम् उदात्तवचनञ्चे'ति।

तार्तीयसूत्रवादी– यह जो आपने ज्ञापक प्रस्तुत किया, वह बन नहीं पायेगा। क्योंकि आचार्य वार्तिककार आगे यासुट्विधायक सूत्र पर ही कहेंगे कि 'यासुट् का ङित्वचन और उदात्तवचन दोनों ही पित्-सिप्-मिप् जो पित् प्रत्यय हैं उनके लिये है, अर्थात् पित् प्रत्यय न तो ङित् हो सकते हैं– क्योंकि सार्वधातुकमपित् (१.२.४) से अपित् को ही ङित् कहा है और न वे उदात्त हो सकते हैं क्योंकि पित् को 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (३.१.४) से अनुदात्त कहा हुआ है। और जैसा कि पहले ही इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है कि 'सति प्रयोजने न ज्ञापकम्' अर्थात् जब किसी सूत्र अथवा सूत्र के एकदेश के कथन करने का कोई भी प्रयोजन है तो बस वे अपने उस प्रयोजन को पूरा कर देते हैं–

१. 'अस्माभि'रिति शेषः।

२. 'अस्माभिरि'ति शेषः।

३. उत्तमपुरुष के एकवचन 'इट्' प्रत्यय को।

उससे अतिरिक्त वे किसी अन्य बात के संकेतक नहीं होते, जिनको कि शास्त्रीय भाषा में ज्ञापक नाम से अभिहित किया जाता है। इस प्रकार उदात्तवचन पिदर्थ सप्रयोजन होने से उक्तार्थ के ज्ञापन करने में असिद्ध (असमर्थ) ही रहेगा।

शक्यमनेन वक्तुम्– 'यासुट् परस्मैपदेषु भवत्यपिच्च लिङ् भवती'ति। सोऽयमेवं लघीयसा न्यासेन सिद्धे सति यद्गरीयांसं यत्नमारभते तज्ज्ञापयत्याचार्य 'आगमा अविद्यमानवद् भवन्ती'ति।

षाष्ठसूत्रवादी– आचार्य को यदि केवल इतनी सी बात ही अभीष्ट होती कि यासुट् का ङिद्वचन और उदात्तवचन पित्प्रत्ययों के लिये है तो वे अपने सूत्र को इस रूप में रख सकते थे–

'परस्मैपद में यासुट् आगम होता है' और लिङ् अपित् भी हो जाता है। ऐसा कहने से लिङ् का अपित्त्व पित् प्रत्ययों में चरितार्थ हो जाता। वह– यह आचार्य जो सूत्रों में एक-एक मात्रा को घटाने में अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा लगाते रहते हैं, पर यहाँ उल्टा ही हो रहा है– लघुतर न्यास (=सूत्र) से ही उनका काम बन रहा है तो भी गुरुतर यत्न कर रहे हैं तो फिर क्या यह उनका गुरुवर यत्न अपने मनमौजी ढंग का है? ऐसा तो नहीं होना चाहिये, निश्चय ही सूत्र रचना करते समय आचार्य बहुत सावधान हैं। फिर भी जो वे ऐसा कर रहे हैं– उससे प्रकृत में यही समझा जायेगा कि उनका यह मनोगत भाव अभिलक्षित होता है कि 'आगम अविद्यमानवत् होते हैं।'

आद्युदात्तस्य वा लोपार्थम्।।८।।

(भाष्यम्) आद्युदात्तस्य तर्हि लोपार्थं प्रत्ययसंज्ञासंनियोगेनाद्युदात्तत्वमुच्यते।

प्रत्ययसंज्ञासंनियोगेनाद्युदात्तत्वे कृते (लोपे[1]) उदात्तनिवृत्तिस्वरः सिद्धो भवति। स्रौघ्नी माथुरीति।

अत्र हि परत्वाल्लोपः प्रत्ययस्वरं बाधेत।

अब तक की सम्पूर्ण चर्चा का सार यह रहा कि आगमानुदात्तवचन[2] तार्तीयसूत्र का फल नहीं है। षाष्ठसूत्रवादी के मत में भी उक्तवचन ज्ञापकसिद्ध है। इसीलिये पूर्वप्रयोजन[3] के अन्यथासिद्ध होने से भाष्यकार प्रकृतवार्तिक में स्थित 'वा' शब्द का 'तर्हि' अर्थ में व्याख्यान कर रहे हैं। यदि यहाँ प्रागुक्त कैयट-नागेश प्रदर्शित रीति से ज्ञापक असम्भव है तब तो तार्तीय पाठ का आगमानुदात्तत्वरूप प्रयोजन जो कि पञ्चमवार्तिक के द्वारा 'आगमानुदात्तार्थं वा' कहकर दिया गया, स्थित ही है।

---

१. क्वचिन्न

२. 'आगमा अनुदात्ता भवन्ति' यह वचन।

३. 'आगमानुदात्तार्थं वा' इस पूर्वप्रयोजन के।

महाभाष्य

तार्तीयसूत्रवादी– अच्छा तो आद्युदात्त का लोप करने के लिये प्रत्ययसंज्ञासंनियोग से आद्युदात्तत्व कह रहे हैं। प्रत्ययसंज्ञासंनियोग से आद्युदात्तत्व कर लेने पर लोप होने से उदात्तनिवृत्तिस्वर सिद्ध हो जाता है। अन्यथा 'स्रौघ्नी माथुरी' इत्यादि में परत्व से लोप प्रत्ययस्वर को बाधने लगेगा।

क्रमेण अन्वाख्यान, पदविभज्य अन्वाख्यान और वाक्यविभज्य अन्वाख्यान भेद से अन्वाख्यान तीन होते हैं। सो पदविभज्य अन्वाख्यान पक्ष में 'स्रौघ्न+अण्+ई' माथुर+अ+ई इस स्थिति में दो कार्य प्राप्त हुये– ६.१.१९१ के साथ पढे जा रहे 'प्रत्ययस्य च' से 'अ' को आद्युदात्त और यस्येति च ६.४.१४८ से 'ई' परे रहते उसी 'अ' का लोप; परत्व से पहले लोप होगा। अब चूँकि उदात्त होने से पहले ही अकार लोप हो गया है इसलिये अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः ६.१.१५५ (जिस अनुदात्त के परे रहते उदात्त लोप हो उस अनुदात्त को उदात्त हो जाता है) सूत्र से कहा गया उदात्तनिवृत्तिस्वर 'ई' में प्रवृत्त नहीं हो सकेगा।

यहाँ यह ध्यातव्य है– यदि क्रमेण अन्वाख्यान पक्ष को लेकर 'स्रौघ्नी माथुरी' सिद्ध करते हैं तब तो ङीप् उत्पत्ति से पहले ही 'अण्' को आद्युदात्त कर लेने पर फिर ङीप् उत्पन्न होगा– सो उस पक्ष में उदात्त अकार का लोप होने पर उदात्तवृत्तिस्वर प्रवृत्त हो जाने से कोई दोष नहीं आयेगा।

प्रत्ययसंज्ञासंनियोग से जब आद्युदात्त करते हैं– तो प्रत्ययोत्पत्ति के साथ ही आद्युदात्त हो जाने से 'यस्येति च' से प्रवर्तमान लोप उदात्तलोप होता है। उसके कारण 'ई' जो अनुदात्त है उसे उदात्तनिवृत्तिस्वर (६.१.१५५) से उदात्त हो जाता है।

न वा बहिरङ्गलक्षणत्वात्।।९।।

(भाष्यम्) न वैतदपि प्रयोजनमस्ति। किं कारणम्? बहिरङ्गलक्षणत्वात्। बहिरङ्गलक्षणो लोपः। अन्तरङ्गः स्वरः। असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे। अवश्यं चैषा परिभाषाऽऽश्रयितव्या।

षाष्ठसूत्रवादी– यह (आद्युदात्तस्य वा लोपार्थम्) भी इह वचन का प्रयोजन नहीं है। क्यों? क्या कारण है? कारण है बहिरङ्गलक्षणत्व। यहाँ जो लोप और स्वर दो कार्य उपस्थित हैं इनमें लोप बहिरङ्ग है और स्वर अन्तरङ्ग। 'अन्तरङ्ग कार्य करने में बहिरङ्ग असिद्ध हो जाता है' (पा०४४) ऐसी परिभाषा है। और यह भी सोच लीजिये प्रकृत प्रसङ्ग में इस परिभाषा का हमें अवश्य ही सहारा लेना होगा। इसका सहारा लिये विना हम कुछ भी करें अपने इष्ट लक्ष्य तक कदापि नहीं पहुँच पायेंगे। इसी तथ्य को सहेतु अग्रिम भाष्य में स्पष्ट किया गया है।

अवचने हि ञ्नित्कित्स्वतिप्रसङ्गः।।१०।।

(भाष्यम्) अक्रियमाणायां ह्यस्यां परिभाषायां क्रियमाणेऽपि प्रत्ययसंज्ञासंनियोगेनाद्युदात्तत्वे ञ्नित्कित्स्वतिप्रसङ्गः स्यात्। औत्सी कंसिकी आत्रेयीति। अत्र हि परत्वाल्लोपो ञित्-नित्-कित्स्वरान् बाधेत।

षाष्ठसूत्रवादी– उपर्युक्त परिभाषा का प्रकृत प्रसङ्ग में उपयोग न लेने पर तो चाहे फिर प्रत्ययसंज्ञासंनियोग से ही आद्युदात्तत्व करते रहें तो भी ञित्-नित्-कित्स्वरों के विषय में (लोप का) अतिप्रसङ्ग उपस्थित हो ही जायेगा। फिर औत्सी कंसिकी आत्रेयी आदि उदाहरणों में (यस्येति च विधीयमान) लोप परत्व से ञित्-नित्-कित् स्वरों को बाधने लगेगा। सो उपर्युक्त परिभाषा का आश्रय लेने पर ही अनिष्ट से बचाव हो सकेगा न कि केवल तार्तीय प्रक्रिया को स्वीकार करने मात्र से। परिभाषा के रहते 'स्रौघ्नी माथुरी' तो सिद्ध हो ही जायेंगे– साथ में केवल तार्तीय सूत्र के सहारे सिद्ध न होने वाले 'औत्सी कंसिकी आत्रेयी' भी सिद्ध हो जायेंगे।

यहाँ ऊपर भाष्य में लोप को बहिरङ्गलक्षण इस आधार पर कहा गया है कि बहिर्भूत प्रत्यय (ङीप्=ई) को निमित्त मानकर होता है और स्वर को प्रवृत्त होने के लिये जिस 'अण्' को स्वरविधान किया जा रहा है, बस वही मात्र चाहिये, उससे अतिरिक्त किसी बाह्य निमित्त की अपेक्षा नहीं है जैसे कि लोप को है। व्याकरणशास्त्र में अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग अपना एक विशेष स्थान रखते हैं, इसलिये अध्येता को चाहिये कि वह इन शब्दों के द्वारा बोधित अर्थ को अविकलरूपेण अपनी बुद्धि में बिठा ले।[१]

अब भाष्य में उद्धृत 'औत्सी कंसिकी आत्रेयी' उदाहरणों पर विचार किया जा रहा है कि यहाँ उपर्युक्त परिभाषा का आश्रय न लेने पर यस्येति च (६.४.१४८) से कहा गया लोप परत्व से कैसे ञित्-नित्-कित् स्वरों का बाधक होने लगेगा। 'औत्सी' यहाँ 'उत्से जाता' इस अर्थ में उत्सादिभ्योऽञ् (४.१.८६) से अञ् व 'टिड्ढाणञ्०' ४.१.१५ से ङीप् होकर, अञ् को मानकर 'उत्स' को आदिवृद्धि होने पर 'औत्स+अ+ई' इस स्थिति में प्रत्ययसंज्ञासंनियोग से 'अ' को उदात्त होकर दो कार्य प्राप्त हुये– ञित् प्रत्यय परे मानकर 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' से औत्स के आदि में उदात्त और ङीप् का 'ई' परे मानकर अञ् के 'अ' का लोप। 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' प्रत्ययस्वर का अपवाद होने से वही होना चाहिये, पर उस ञित्लक्षण– आद्युदात्त को भी 'यस्येति च' लोप परत्व से बाधने लगा। इस स्थिति में यदि 'अ' का लोप हो जाता है तो चूँकि वह उत्पत्ति के साथ ही, चाहे यह कहिये प्रत्ययसंज्ञा के साथ ही आद्युदात्तश्च से आद्युदात्त हो चुका है, इसलिये उदात्तलोप होने से ङीप् के 'ई' में उदात्तनिवृत्तिस्वर- प्रवृत्त होने लगेगा, जो कि अनिष्ट है। इसी प्रकार 'कंसिकी' यहाँ पर 'कंसेन क्रीता' इस अर्थ में 'कंसाट् टिठन्' अ० ५.१.२५ से टिठन् होकर, टिठन् के टित् होने से 'टिड्ढाणञ्' अ० ४.१.१५ से ङीप् होकर 'कंस+टिठन्क+ङीप्=कंस+ठ+ई' इस स्थिति में (=प्रत्ययाद्युदात्त) होने पर, नित्लक्षण आद्युदात्त को बाधकर परत्व से पूर्ववत् लोप होने लगेगा और इस प्रकार पूर्ववत् ही उदात्तनिवृत्तिस्वर की प्रसक्ति होकर अनिष्ट स्वर प्राप्त होने लगेगा। चाहते यह हैं कि इन दोनों उदाहरणों में ञित्लक्षण और नित्लक्षण आद्युदात्तस्वर ही अवस्थित रहे।

---

१. अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग के स्वरूप को ठीक से समझने के लिये रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित संस्कृत पारिभाषिक की ४४-४५वीं परिभाषा को देखें।

महाभाष्य

इसी प्रकार तृतीय उदाहरण में 'अत्रेरपत्यं स्त्री' इस अर्थ में 'इतश्चानिञ:' अ० ४.१.१२२ से ढक् करने पर 'आयन्नादिषूपदेशिवद्वचनं स्वरसिध्यर्थम्' (का० वा० ७.१.१/१) भाष्यवार्तिक से पहले ही एयादेश तथा उसे प्रत्ययसंज्ञासंनियोग से आद्युदात्त होकर पूर्ववत् 'टिड्ढाणञ्०' ङीप् व आदि वृद्धि होकर 'अत्रि+ढक्+ङीप्=आत्रि+एय+ई' इस स्थिति में 'एय' को 'कित:' ६.१.१५९ से प्राप्त अन्तोदात्तत्व को बाधकर पूर्ववत् लोप होने लगेगा और उसके उदात्तलोप न होने से उदात्तनिवृत्तिस्वर नहीं हो पायेगा। उपर्युक्त इन सभी उदाहरणों में जैसा कि पहले ही बता दिया गया कि स्वर अन्तरङ्ग है और लोप बहिरङ्ग सो 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' (पा० ४४) इस परिभाषा का आश्रय लेकर बहिरङ्ग लोप को असिद्ध करके यदि अन्तरङ्ग ञित्-नित्-कित् स्वरों को पहले प्रवृत्त कर दिया जाता है तो कोई दोष नहीं आता।

नैष दोष:। ञिन्नित्कित्स्वरा: प्रत्ययस्वरस्यापवादा:। [1]न चापवादविषय उत्सर्गोऽभिनिविशते। पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते पश्चादुत्सर्गा:। प्रकल्प्य चापवादविषयं[2] तत उत्सर्गोऽभिनिविशते। न तावदत्र कदाचित् प्रत्ययस्वरो[3] भवति, अपवादान् ञिन्नित्कित्स्वरान् प्रतीक्षते।

तार्तीयसूत्रवादी– नहीं! यह कोई दोष नहीं है। अर्थात् अन्तरङ्ग परिभाषा का आश्रय न लेने पर भी एक और मार्ग है, जिससे हमारी इष्ट सिद्धि हो सकती है। देखिये! आप भी यह मानते है कि ञित्-नित्-कित् स्वर प्रत्ययस्वर के अपवाद हैं, और यह भी मानते हैं कि 'अपवादविषय में उत्सर्ग कभी भी प्रवृत्त नहीं होता' (पा० ५५)। इस विषय में दो परिभाषायें और भी हैं। एक तो यह है कि 'पहले अपवाद प्रवृत्त होते हैं पश्चाद् उत्सर्ग' (पा० ५६) और दूसरी एक 'अपवाद विषय को छोड़कर शेष बचे हुए विषय में उत्सर्ग प्रवृत्त होता है' (पा० ५७)। अथवा सर्वदा अपवाद विषय के अभाव में ही उत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है। सो यहाँ कभी भी प्रत्ययस्वर (प्रत्ययाद्युदात्तत्व) होता ही नहीं है। अपवादभूत ञित्-नित्-कित् स्वर की प्रतिक्षा करता रहता है कि कब ये होंवें– कब ये होवें। उनके होने पर ही प्रत्ययस्वर की प्रतिक्षा का अन्त होता है। सो इस प्रकार जब लोप ञित्-नित्-कित् स्वरों को बाधेगा तो एक अर्थ में प्रत्ययस्वर को भी बाध कर ही प्रवृत्त होगा क्योंकि ञित्स्वर होने तक प्रत्ययस्वर तो प्रतीक्षा सूची में खड़ा है, इस स्थिति में वह अपना काम कर ही नहीं सकेगा। इसलिये यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि 'औत्सी और कंसिकी' इन उदाहरणों में परत्व से स्वररहित का ही लोप होने से उदात्तनिवृत्तिस्वर की प्राप्ति ही नहीं हो सकेगी– क्योंकि यह स्वर तो तभी प्रवृत्त हो सकता है जब उदात्त का लोप हो। उदात्तनिवृत्तिस्वर न होने पर 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' अ० ६.१.१९१से प्रत्ययलक्षण से इष्ट आद्युदात्त स्वर सिद्ध हो जाता है।

---

१. इन तीनों परिभाषाओं की विशेष जानकारी के लिये रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्रकाशित संस्कृत पारिभाषिक पुस्तक की परिभाषा संख्या ५५.५६.५७ को देखना चाहिये। क. 'टिठन्' यहाँ इकार उच्चारणार्थ है और टकार व नकार इत्संज्ञक।

२. 'वापवाद----' इति कीलहार्नपाठ:।   ३. 'प्रत्ययाद्युदात्तत्वम्' इति की. हा. पाठ:।

कंसिक्यां भूयान् परिहारः– अन्यास्यात्रोदात्तत्वम् अन्यस्य लोपः। आदेरुदात्तत्वमन्त्यस्य लोपः।

कंसिकी में तो बहुत परिहार हैं– यहाँ उदात्त अन्य को होता है लोप अन्य का। आदि को उदात्त होता है और अन्त्य का लोप।

'भूयान्' यहाँ स्वार्थ में ईयसुन् है। बहुशब्द वैपुल्यवाची है। परिहारद्वय के समुदाय को एक परिहार ही अपेक्षा से वैपुल्य कह दिया जा रहा है। एक परिहार तो ऊपर दर्शा ही दिया कि स्वररहित अकार का लोप उदात्तलोप नहीं कहा जायेगा, इसलिये उदात्तनिवृत्तिस्वर का विषय नहीं बनेगा।

दूसरा एक परिहार यह है कि 'ठच्' प्रत्यय के चित्करण से यह ज्ञापित होता है कि 'ठस्येकः' ७.३.५० से विधीयमान इकादेश 'आद्युदात्तश्च' प्रवृत्त होने से पहले ही हो जाता है। यदि इकादेश पहले न होकर आद्युदात्त स्वर ही पहले होता तो 'ठच्' प्रत्यय को चित् करने की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि 'ठ' के 'अ' को उदात्त होने पर व्यञ्जनान्त स्थानी को व्यञ्जनान्त 'इक्' आदेश होकर उदात्त हुआ-हुआ अकार उसमें मिलकर अन्तोदात्त 'इक्' सिद्ध ही था। फिर भी चित् किया– उससे आचार्य यह जतलाते हैं कि पहले 'ठस्येकः' प्रवृत्त होता है तदनन्तर प्रत्ययाद्युदात्त। सो प्रकृत में कंस शब्द से हुये टिठन् के 'ठ' को इकादेश होने पर प्रत्ययाद्युदात्त से 'इक' के 'इ' को उदात्त होकर शेषनिघात से 'इक' के 'क' को अनुदात्त होकर 'यस्येति च' अनुदात्त हुये 'अ' का लोप होने से उदात्तनिवृत्तिस्वर की प्राप्ति ही नहीं है।

पर नागेश ठच् के चित्करण को ज्ञापकार्थ नहीं मानता। उनका कहना है– ठ-ठक्-ष्ठन्-ठच् आदि सभी प्रत्यय अकारविशिष्ट ही हैं, इसलिये यहाँ यह कहना ही नहीं बनता कि व्यञ्जनान्त 'ठ्' को व्यञ्जनान्त 'इक्' आदेश हो जायेगा। जब अकारविशिष्ट ही प्रत्यय हैं तो उनको हुआ इकादेश भी आन्तरतम्य से आद्युदात्त प्राप्त होने लगा, उनकी व्यावृत्ति के लिये चित्करण सार्थक है। और यदि व्यञ्जनमात्र को भी प्रत्यय मान लें तो आदेश से पहले तो प्रत्ययस्वर हो नहीं सकेगा क्योंकि अच् को ही उदात्तादि होते हैं और आदेशोत्तर जब प्रत्ययस्वर प्रवृत्त करेंगे तो स्पष्ट ही उसे बाधने के लिये चित्करण की आवश्यकता होगी। इस प्रकार ठच् का चित्करण किसी भी प्रकार ज्ञापक बन नहीं पायेगा। इसलिये इस भाष्य को इस रूप में योजित करना चाहिये कि कंस शब्द से हुवे टिठन् के 'ठ' को आद्युदात्त होने पर तत्काल उसके स्थान में हुवे 'इक' आदेश को भी आन्तरतम्य से आद्युदात्त ही होगा। सो 'कंस+इक+ई' इस स्थिति में 'यस्येति च' लोप के उदात्तलोप न होने से उदात्तनिवृत्तिस्वर प्रवृत्त नहीं होगा। इस प्रकार हमारा इष्ट सिद्ध हो जायेगा।

इदं तर्हि आत्रेयीति। अत्र हि परत्वाल्लोपः कित्स्वरं बाधेत।

तस्मादेषा परिभाषाऽऽश्रयितव्या।

महाभाष्य

एतस्यां च सत्यां शक्यं प्रत्ययसंज्ञासंनियोगेनाद्युदात्तत्वमवक्तुम्।

षाष्ठसूत्रवादी– अच्छा तो 'आत्रेयी' इसको लीजिये। 'अत्रि+ढक्+ङीप्=आत्रि+एय+ई' यहाँ इस स्थिति में परत्व से 'यस्येति च' लोप 'कित:' ६.१.१५९ से होने वाले अन्तोदात्त कित्स्वर को बाधने लगेगा। और उधर इस आदेश हुवे-हुवे 'एय' को प्रत्ययस्वर कर लें तो भी और न करें तो भी दोष ही बना रहेगा। क्योंकि हम यह चाह रहे हैं कि 'एय' के यकार में स्थित 'अकार' उदात्त हुआ-हुआ लोप को प्राप्त होवे जिससे हमारा इष्ट उदात्तनिवृत्तिस्वर सिद्ध हो जाये। सो वह एकमात्र इस अन्तरङ्ग परिभाषा का आश्रय लेने से ही सिद्ध हो सकेगा। अन्य कोई रास्ता है ही नहीं। और जब अन्ततोगत्वा परिभाषा का आश्रय लेना ही है तो प्रत्ययसंज्ञासंनियोग से आद्युदात्तत्व करने का कोई मूल्य नहीं रह जाता है। इस प्रकार आपके द्वारा प्रस्तुत किया गया 'आद्युदात्तस्य वा लोपार्थम्' यह अष्टम वार्तिकोक्त प्रयोजन खण्डित हो जाता है। परिभाषा का आश्रय लेने पर 'आत्रेयी' इस प्रकृत उदाहरणों में अन्तरङ्ग हेतु से 'एय' को पहले कित्स्वर (=अन्तोदात्त) होगा और फिर उसका लोप इस प्रकार उदात्तनिवृत्ति स्वर सिद्ध हो जायेगा।

प्रत्ययाद्युदात्तत्वाद् धातोरन्त:।।११।।

(भाष्यम्) प्रत्ययाद्युदात्तत्वाद् धातोरन्त इत्येतद् भवति विप्रतिषेधेन। प्रत्ययाद्युदात्तत्वस्यावकाशो यत्राऽनुदात्ता प्रकृति:– समत्वम् सिमत्वम्। धातोरन्त इत्येतस्यावकाशो यत्रानुदात्त: प्रत्यय:पचति पठतीति। इहोभयं प्राप्नोति– गोपायति धूपायति। धातोरन्त इत्येतद् भवति विप्रतिषेधेन।

तार्तीयसूत्रपाठवादी– प्रत्ययाद्युदात्त (३.१.३) से (अर्थात् उसे बाधकर) धातु को अन्तोदात्त (६.१.१५६) यह स्वर (पर) विप्रतिषेध से होता है। विप्रतिषेध तभी बनता है जब दो सूत्रों का समानबल हो। समानबल तब माना जायेगा जब दोनों सूत्र अन्यत्र सावकाश (=चरितार्थ) हों, या दोनों नित्य हों या दोनों ही अनित्य हों, अन्तरङ्गबहिरङ्गभाव न हो, उत्सर्गअपवादभाव भी न हो। तुल्यबल देखने के लिये ये सारी बातें सामने रखनी होती हैं। सो प्रकृत में भाष्यकार तुल्यबल दिखाने के लिये प्रत्ययाद्युदात्त और धातुस्वर के सावकाश स्थल को प्रस्तुत कर फिर एक उदाहरण में दोनों की युगपत्प्राप्ति दर्शा रहे हैं– जहाँ प्रकृति अनुदात्त है वहाँ प्रत्ययाद्युदात्त को अवकाश है। जैसे– समत्वम्, समत्वम्। सम और सिम ये सर्वानुदात्त[१] प्रातिपदिक हैं और जहाँ प्रत्यय अनुदात्त है वहाँ धातुस्वर (=अन्तोदात्त) को अवकाश है। जैसे पचति पठति। यहाँ 'पच्+शप्+तिप्' पित् होने से शप् और तिप् अनुदात्त प्रत्यय हैं, इसलिये उक्त प्रयोगों में शेष बचा जो धातुभाग है उसे 'धातो:' ६.१.१५६ सूत्र से अन्तोदात्त हो जाता है।

१. त्वत्त्वसमसिमेत्यनुच्चानि। फिट्सूत्रम् ४.१०। सम:=तुल्यपर्याय: सर्वपर्यायश्च। सिम:=सर्वपर्याय:।

'गोपायति-धूपायति' इत्यादि उदाहरणों में 'गुपूधूपविच्छि०' ३.१.२८ से आय प्रत्यय होकर 'गुप्+आय-धूप्+आय' इस स्थिति में आय को प्रत्ययाद्युदात्त स्वर भी प्राप्त है और आयप्रत्ययान्त की 'सनाद्यन्ता धातव:' (३.१.३२) से धातुसंज्ञा होने से 'धातो:' अन्तोदात्त भी प्राप्त है। 'विप्रतिषेध परं कार्यम्' के नियम से परत्व से धातुस्वर हो जाता है। यहाँ प्रत्ययाद्युदात्त को रखने पर न्यायप्राप्त विप्रतिषेध संगत हो जाता है। यदि ञ्नित्यादिर्नित्यम् ६.१.१९१ के अनन्तर 'प्रत्ययस्य च' रखते हैं तो धातो: ६.१.१५६ सूत्र के पूर्व होने से पूर्वविप्रतिषेध पढना पड़ेगा।

पित्स्वरात् तित्स्वरष्टापि।।१२।।

(भाष्यम्) पित्स्वरात् तित्स्वरष्टापि भवति विप्रतिषेधेन। पित्स्वरस्यावकाश:– पचति पठति। तित्स्वरस्यावकाश:कार्यम् हार्यम्। इहोभयं प्राप्नोति– कार्या हार्या। तित्स्वरो भवति विप्रतिषेधेन।

तार्तीयसूत्रवादी– इह सूत्रपाठ का यह भी प्रयोजन है कि 'कार्या' इत्यादि में जहाँ टाप् प्रत्यय होता है वहाँ पित्स्वर को बाधकर विप्रतिषेध से तित्स्वर हो जाता है। षाष्ठिक पाठ में अर्थात् 'तास्यनुदात्तेत्०' ६.१.१८० के पश्चात् 'सुप्पितौ च' पढ़ने पर तो तित्स्वर से पित्स्वर ही पर हो जायेगा। फिर उसके लिये पूर्वविप्रतिषेध पढ़ना पड़ेगा। पित्स्वर अर्थात् 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (३.१.४) का अवकाश है– पचति पठति। जैसा कि पूर्ववार्तिक में बताया 'शप्-तिप्' प्रत्यय हैं। तित्स्वर (तित् स्वरितम् ६.१.१७९) का अवकाश है– कार्यम्-हार्यम्। यहाँ कृ व हृ धातु से 'ऋहलोर्ण्यत्' (३.१.१२४) से हुआ ण्यत् तित्प्रत्यय है। अब कार्य-हार्य शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'अजाद्यतष्टाप्' ४.१.४ से टाप् होकर कार्य+टाप्-हार्य+टाप् इस स्थिति में स्वरित से पहले 'अक: सवर्णे दीर्घ:' ६.१.९७ से दीर्घैकादेश होकर कार्या-हार्या बनने पर 'अन्तादिवच्च' ६.१.८२ (सूत्र में) जहाँ कहीं पूर्व का आश्रय करके कार्यविधान है वहाँ वह एकादेश पूर्व के अन्तवत् और पराश्रय कार्य में पर के आदिवत् मान लिया जाता है सो प्रकृत में एकादेश के पूर्व के प्रति अन्तवद् हो जाने से तित्स्वर (=स्वरित) पाने लगा और पर के प्रति आदिवद्भाव होने से पित् स्वर (=अनुदात्त)। इस प्रकार उभयप्रसङ्ग उपस्थित होने पर 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' १.४.२ सूत्रबल से इष्ट तित्स्वर हो जाता है।

चित्स्वरश्चापि पित्स्वरात्।।१३।।

(भाष्यम्) पित्स्वरात् चित्स्वरश्चापि भवति विप्रतिषेधेन।

चित्स्वरस्यावकाश:– चलन: कम्पन:। पित्स्वरस्य स[१] एव।

इहोभयं प्राप्नोति– आम्बष्ठ्या सौवीर्या। चित्स्वरो भवति विप्रतिषेधेन।

१. पचति पठतीत्येवेत्यर्थ:।

महाभाष्य

तार्तीयसूत्रवादी– इह वचन का यह एक और प्रयोजन है कि आम्बष्ठ्या आदि में जहाँ चाप् प्रत्यय होता है वहाँ पित्स्वर को बाधकर विप्रतिषेध से चित्स्वर सिद्ध हो जाता है। षाष्ठ सूत्रपाठ में तो चित्स्वर (६.१.१५७) से पित्स्वर (६.१.१८० के पश्चात् पढ़ा जाने वाला सुप्पितौ च) ही परे है। चित्स्वर ('चित:' ६.१.१५७ अन्तोदात्त) को अपना काम करने के लिये चलन: कम्पन: में 'चलनशब्दार्थाद्०' ३.२.१४८ से हुआ 'युच्' अवकाश है। और पित्स्वर को वही पूर्वोद्धृत पचति पठति अवकाश है। आम्बष्ठ्या सौवीर्या यहाँ उभयप्राप्ति है। 'आम्बष्ठस्यापत्यं स्त्री-सौवीरस्यापत्यं स्त्री' इस अर्थ में आम्बष्ठ व सौवीर शब्द से 'वृद्धेत्कोसलाजा०' ४.१.१६९से ञ्यङ् और स्त्रीलिङ्ग में 'यङश्चाप्' अ० ४.१.७४ से चाप् होकर 'आम्बष्ठ+ञ्यङ्+चाप् =आम्बष्ठ+य+आ' इस स्थिति में पूर्ववत् सवर्णदीर्घैकादेश होने पर 'आम्बष्ठ्या' और इसी प्रकार 'सौवीर्या' सिद्ध होकर चाप् प्रत्यय चित् होने से जो अन्तोदात्त पाता है और पित् होने से अनुदात्त। 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' जब तृतीय अध्याय में होता है तब तो परत्व से चित्स्वर होने में कोई बाधा नहीं है पर षष्ठ अध्याय में 'सुप्पितौ च' ऐसा पढ़ने पर वही परे हो जाता है। परत्व से पित्स्वर न हो इसके लिये फिर पूर्वविप्रतिषेध रूप कुछ यत्न करना पड़ेगा। अत: तार्तीय सूत्रपाठ ही साधु है।

न वाद्युदात्तत्वस्य प्रत्ययसंज्ञानिषेधात्।।१४।।

(भाष्यम्) न वाऽर्थो विप्रतिषेधेन। किं कारणम्? आद्युदात्तत्वस्य प्रत्ययसंज्ञासन्नियोगात्। प्रत्ययसंज्ञासंनियोगेनाद्युदात्तत्वे कृते सति शिष्टत्वाद्धातुस्वरो भविष्यति।

अब ऊपर दर्शाये गये तीनों विप्रतिषेधों का उत्तर षाष्ठसूत्रवादी के द्वारा दिया जा रहा है। सबसे पहले 'प्रत्ययाद्युदात्तत्वाद् धातोरन्त:' इस ११वें वार्तिक के द्वारा उद्धृत विप्रतिषेध के बारे में कहा गया कि प्रत्ययाद्युदात्त और धातु को अन्तोदात्त जब दोनों कार्य 'गोपायति' इत्यादि उदाहरणों में एक साथ पाने लगें तो विप्रतिषेध से धातु को अन्तोदात्त होता है– ऐसा कहने की कोई आवश्यकता (=प्रयोजन) नहीं है। क्या कारण है? कारण यह है आद्युदात्तत्व प्रत्ययसंज्ञा के संनियोग से कहा गया है। चाहे आप 'आद्युदात्तश्च' तार्तीय सूत्र के द्वारा स्वर विधान करें या षाष्ठ 'प्रत्ययस्य च' के द्वारा इसे प्रत्ययसंज्ञा मात्र की अपेक्षा है, इससे अतिरिक्त अन्य कोई अपेक्षा नहीं है– इसलिये यह अन्तरङ्ग है। सो प्रत्ययसंज्ञा के सन्नियोग से आद्युदात्तत्व कर लेने पर 'सति शिष्ट' हेतु से बाद में प्रवृत्त होने वाला धातुस्वर हो ही जायेगा अर्थात् धातुस्वर को प्रत्ययस्वर बाध नहीं सकेगा– क्योंकि उसकी अपना काम करने की बारी तो पहले ही समाप्त हो चुकी है। स्वरप्रकरण में यही व्यवस्था है– जिसकी बारी बाद में आती है वह महत्त्वशाली माना जाता है। 'सति शिष्टस्वरो बलीयान्' (भाष्य वा० अनुदात्तं पदम् ६.१.१५२/९) इसी बात को कह रहा है।

अयं चाप्ययुक्तो विप्रतिषेध: पित्स्वरस्य तित्स्वरस्य च। किं कारणम्?

और देखिये! ऊपर जो १२वें वार्तिक के द्वारा पित्स्वर (=अनुदात्त) और तित्स्वर (=स्वरित) का विप्रतिषेध दर्शाया है– यह भी अयुक्त ही है। वह किस कारण से अयुक्त है? वह अयुक्त इसलिये है–

टापि स्वरितेनैकादेशः।।१५।।

(भाष्यम्) टाप्यपि स्वरितेनैकादेशो भविष्यति। इदमिह सम्प्रधार्यम्– स्वरितत्वं क्रियतामेकादेश इति। किमत्र कर्तव्यम्? परत्वात् स्वरितत्वम्। नित्य एकादेशः। कृते स्वरितत्वे प्राप्नोत्यकृतेऽपि। स्वरितत्वमपि नित्यम्। कृतेऽप्येकादेशे प्राप्नोत्यकृतेऽपि। अनित्यं स्वरितत्वम्। अन्यस्य कृत एकादेशे प्राप्नोत्यन्यस्याऽकृते 'शब्दान्तरस्य च प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति'। एकादेशोऽप्यनित्यः। अन्यथास्वरस्य कृते स्वरितत्वे प्राप्नोत्यन्यथा स्वरस्याकृते 'स्वरभिन्नस्य च प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति'। (उभयोरनित्ययोः परत्वात् स्वरितत्वम्) अन्तरङ्गस्तर्ह्येकादेशः। कान्तरङ्गता? वर्णावाश्रित्यैकादेशः, पदस्य स्वरितत्वम्।

स्वरितत्वमप्यन्तरङ्गम्। कथम्? वक्ष्यत्येतत्– 'पदग्रहणं परिमाणार्थम्'[१] इति। उभयोरन्तरङ्गयोः परत्वात्स्वरितत्वम्। स्वरितत्वेकृते आन्तर्यतः स्वरितानुदात्तयोरेकादेशः स्वरितो भविष्यति।

षाष्ठसूत्रवादी कहता है– 'कार्या' इत्यादि टाप् सम्बन्धी उदाहरणों में भी पदविभज्यान्वाख्यान पक्ष में 'कार्य+टाप् =कार्य+आ' इस स्थिति में पहले स्वरित होगा फिर उस स्वरित के साथ सवर्णदीर्घैकादेश होगा। इस प्रकार विना विप्रतिषेध के ही स्वरितरूप इष्ट स्वर की सिद्धि हो जायेगी। पर एकादेश से पहले स्वरित किस आधार को लेकर किया जा सकेगा, क्योंकि हम क्रमेण अन्वाख्यान पक्ष को लेकर विचार नहीं कर रहे बल्कि पद विभज्य अन्वाख्यान पक्ष को लेकर? चलो! यदि यही समस्या है तो इस पर विचार कर लेते हैं। यहाँ सम्प्रधार्य[२] विषय यह है कि स्वरित किया जाये अथवा एकादेश। क्या करना चाहिये? इससें भी क्या पूछना– पूर्व से पर बलवान् होता है सो इस शास्त्र में कृताकृतविधि नित्य होती है। स्वरित के कर लेने पर भी एकादेश पाता है और न करने पर भी। और नित्य पर से भी बलवान् होता है– इस प्रकार एकादेश को पहले होना चाहिये। अच्छा आप नित्यानित्य देखने लग गये सो तो स्वरितत्व भी नित्य ही है। क्योंकि एकादेश कर लेने पर भी स्वरित पाता है और न करने पर भी।

---

१. अनुदात्तादेश्चेत्यत्रेदमुक्तम् (४.३.१३८)।

२. पृ० ६१ पर सम्प्रधार्यशब्द का अर्थ देखें।

महाभाष्य

नहीं! स्वरितत्व नित्य नहीं है, वह तो अनित्य है। एकादेश कर लेने पर वह स्वरितत्व अन्य को (अर्थात् कार्या को) पाता है और न करने पर अन्य को (कार्य को)। 'शब्दान्तर को प्राप्त होती हुयी विधि अनित्य होती है' (पा० ४३) ऐसा प्रमाण है। अच्छा! इस तरह तो एकादेश भी अनित्य है। स्वरित कर लेने पर अन्य प्रकार के स्वर को एकादेश पाता है और न करने पर अन्य प्रकार के स्वर को, आपने अपनी बात की पुष्टि में 'शब्दान्तरस्य च प्राप्नुवन्०' इस परिभाषा को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया। लेकिन अप्रमाण हम भी अपनी बात नहीं कह रहे। प्रमाण हमारे पक्ष में भी है– 'स्वरभिन्न को प्राप्त होती हुयी विधि अनित्य होती है' (पा० १५७)।

इस प्रकार जब दोनों अनित्य होती हैं तो तुल्यबलविरोध होने से विप्रतिषेध बन जायेगा और विप्रतिषेध में पर बलवान् होता है इसलिये इस चर्चा के प्रारम्भ में ही हमारे द्वारा कही गयी वही बात आ जाती है कि पहले स्वरित होगा न कि एकादेश।

लेकिन अभी पीछा नहीं छुटेगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि स्वरित परे है। पर एकादेश अन्तरङ्ग है। अन्तरङ्ग तो पर से और नित्य से दोनों से भी बलवान् होता है। अच्छा यह बताओ– एकादेश को किस आधार पर आपने अन्तरङ्ग कहा है? एकादेश दो वर्णों का आश्रय करके है, स्वरितत्व पद को होता है।

यदि आप इस ढंग से विचार कर रहे हैं, तब तो स्वरितत्व भी अन्तरङ्ग ही है। आचार्य वार्तिककार किसी संदर्भ में 'अनुदात्तादेश्च' (४.३.१३८/४) सूत्र पर एक बात कहेंगे कि 'पदग्रहण परिमाण बताने के लिये है'। जब दोनों ही अन्तरङ्ग हैं अर्थात् दोनों को ही समान अपेक्षा है तो फिर परत्व से स्वरितत्व ही होगा। और इस प्रकार स्वरितत्व कर लेने पर आन्तर्य से स्वरित और अनुदात्त का एकादेश स्वरित ही होगा– क्योंकि स्वरित में अनुदात्त भी है, इसलिये स्वरित और अनुदात्त का अन्तरतम स्वरित ही होता है।

यहाँ भाष्य में 'पदस्य स्वरितत्वम्' ऐसा जो कहा गया। उसका भाव यह है कि स्वरविषय में 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' ६.१.१५२ यह परिभाषा सभी विधिसूत्रों के साथ एकवाक्यता को प्राप्त होती हुयी अपना अर्थ समर्पित करती है। सो इस पभिाषा के मिलने पर 'तित् स्वरितम्' का अर्थ इस रूप में सम्पन्न होगा– 'तित् स्वरित होता है और साथ में उस स्वरित को छोड़कर पूरा पद अनुदात्त हो जाता है'। इस कथन में स्वरित वर्णसमूहरूप पद की अपेक्षा कर रहा है। सो इसी अभिप्राय से भाष्य में 'पदस्य स्वरितत्वम्' कहते हुये उसको बहिरङ्ग कहा है। पूर्वपक्षी के इस कथन का उत्तर देते हुये कहा गया कि 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' सूत्र में पदग्रहण परिमाण (सीमा) को बताने के लिये है कि पद तक ही उस अनुदात्त रूप विधान की गति (पहुँच) हो उससे आगे न बढे अर्थात् वह विधान पदसमुदायरूप वाक्य में प्रवृत्त न हो। पदग्रहण के अभाव में उक्त परिभाषा के द्वारा विधीयमान अनुदात्तत्व वाक्य में भी प्रसृत होने लगता। 'पदग्रहणं परिमाणार्थम्' इस वार्तिक का व्याख्यान

करते हुये स्वयम् भाष्यकार ने यही कहा है– 'पदग्रहणं क्रियते– वाक्यस्य मा भूद् अनुदात्तं पदमेकवर्जम्'। अर्थात् उस सूत्रगत 'पदम्' शब्द करके सुबन्त अथवा तिङन्त रूप पद की अपेक्षा नहीं की गयी है। पूर्वपक्षी को उत्तर देते हुये भाष्यकार कहते हैं कि आपने 'पदस्य स्वरितत्वम्' कहते हुये जो स्वरित को बहिरङ्ग ठहराया, वह इसी आधार पर कि आपने यह मान लिया 'अनुदात्तं पदम्०' सूत्रस्थ 'पदम्' शब्द 'सुप्तिङन्तं पदम्' १.४.१४ सूत्र निर्दिष्ट पारिभाषिक पदशब्द है। हाँ! पारिभाषिक तो है, पर वह केवल परिमाण बताने के लिये है, न कि स्वर प्रवृत्तिकाल में उसके उस मुख्यार्थ को उसी रूप में उदाहरण में भी देखने के लिये। इसी कारण से तो 'अनुदात्त पदम्०' सूत्र की 'धातोः' ६.१.१५६ इत्यादि सूत्रों के साथ एकवाक्यता हो जाती है। पदशब्द से सुबन्त या तिङन्त रूप अर्थ लेने पर तो पदत्व के अभाव होने से 'धातोः' इत्यादि के साथ एकवाक्यता बन ही नहीं सकेगी। इस सम्पूर्ण चर्चा का सार यह रहा कि वह पदग्रहण अधिकतम सीमा का निर्धारण/अवधारण करने के लिये है कि जिसका पदत्वेन ग्रहण होगा उसमें उदात्तादि स्वर प्रवृतिकाल में जो (भावी) असंनिहित अच् हैं उनको भी अनुदात्त हो जाता है, पर उससे अधिक में इस परिभाषा का संचार/व्यापार नहीं होगा। इस प्रकार पदग्रहण प्रकृत में स्वरित के बहिरङ्गत्व का हेतु नहीं बनेगा।

अयं चाप्ययुक्तो विप्रतिषेधः पित्स्वरस्य चित्स्वरस्य च। किं कारणम्?

चापि चित्करणात्।।१६।।

चापि चित्करणसामर्थ्यादन्तोदात्तं भविष्यति।

षाष्ठसूत्रवादी अपनी अन्तिम बात कहता है कि जो आपने पित्स्वर (अनुदात्त) और चित्स्वर (अन्तोदात्त) का ऊपर १३ वें वार्तिक के द्वारा विप्रतिषेध प्रस्तुत किया, वह भी अयुक्त ही है। वह अयुक्त किस कारण से है? उस विप्रतिषेध की आवश्यकता इसलिये नहीं, क्योंकि 'चाप्' प्रत्यय को आचार्य ने चित् किया है। चित् करने का अन्य तो कोई प्रयोजन है नहीं, और फिर उसके द्वारा होने वाला अन्तोदात्त भी यदि न किया जाये तो वह व्यर्थ ही है। सो वह व्यर्थ न हो इस सामर्थ्य से पित्स्वर (अनुदात्त) को बाध कर अन्तोदात्त ही हो जायेगा। कोई कह सकता है कि सामान्यग्रहणाविघात[1] के लिये चकारानुबन्ध हो सकता है और जब वह प्रयोजन है तो चित्करण सामर्थ्य ऐसा नहीं कहा जा सकेगा– क्योंकि सामर्थ्य हेतु तो तभी दिया जाता है जब अन्य कोई भी प्रयोजन न रहे[2]।

---

१. ङ्याप्प्रातिपदिकात् ४.१.१, ङ्यापोः संज्ञा० ६.३.६२ इत्यादि सूत्रों में।

२. 'आप्' करके चाप्-डाप्-टाप् तीनों का ग्रहण है। यहाँ यदि चाप् को द्व्यनुबन्धक नहीं रखा जायेगा तो उन सूत्रों में इसका विशेष ग्रहण हो जायेगा– क्योंकि 'तदनुबन्धकग्रहणे नातदनु०' पा० ७२ इस नियम से आप्ग्रहण से टाप् और डाप् का ग्रहण नहीं हो पायेगा। 'आप्' को चित् कर देने से सामान्यग्रहण बना रहेगा– ऐसा (तार्तीयसूत्रवादी) का भाव है।

महाभाष्य

इसका उत्तर यह है कि यदि केवलमात्र इतना ही प्रयोजन अभीष्ट होता तो आचार्य 'ट' अनुबन्ध का प्रयोग कर टाप् प्रत्यय प्रकरण में ही इस सूत्र को पढ़ देते, इससे यही निष्कर्ष निकाला जायेगा कि चित्करण सामान्यग्रहणाविघात के लिये न होकर अन्तोदात्त स्वर को निष्पन्न करने के लिये है। इस प्रकार तार्तीय सूत्रपाठ के समर्थन में जो यह कहा गया कि इह सूत्र वचन से अमुक-अमुक विप्रतिषेध बन जायेंगे– उन सब का निराकरण कर दिया गया।

भाष्यसार

१. आद्युदात्तश्च यह अधिकार सूत्र है।

२. जो अनियत-स्वर वाले प्रत्यय हैं उनको कभी आद्युदात्त, कभी अन्तोदात्त, कभी मध्योदात्त, कभी अनुदात्त, कभी स्वरित– इस अनियमता से स्वरप्राप्ति होने पर वे सब आद्युदात्त ही हों; मध्योदात्त, अन्तोदात्त इत्यादि न हों– इस प्रयोजन की स्थापना।

३. यहाँ तृतीय अध्याय में प्रत्ययसंज्ञासंनियोग से आद्युदात्तत्व व अनुदात्तत्व के विधान और 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' ६.१.१९१ से उत्तर 'प्रत्ययस्य च' तथा '----अदुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तम्०' ६.१.१८० से उत्तर 'सुप्पितौ च' ऐसी सूत्र रचना में विशेष का पर्यालोचन। अर्थात् तार्तीयसूत्रपाठ और षाष्ठसूत्रपाठ के मध्य गुण-दोष का विवेचन।

४. तार्तीयसूत्रवादी की ओर से षाष्ठसूत्रवादी के प्रति प्रत्ययग्रहणपरिभाषा (पा० २४) से तदादि-तदन्त अर्थ का ग्रहण होने से तदादि (=प्रत्ययान्त शब्द के आदि) को उदात्त और तदन्त (=प्रत्ययान्त शब्दों) को अनुदात्त प्राप्ति रूप दोष का उपस्थापन।

५. षाष्ठसूत्रवादी के द्वारा ज्ञापक से उक्त दोष का समाधान।

६. तार्तीयसूत्रवादी की ओर से प्रत्ययसंज्ञासंनियोग से आद्युदात्तत्व कर लेने पर शेषनिघात से आगमानुदात्तत्वसिद्धि रूप प्रयोजन का उपस्थापन।

७. षाष्ठसूत्रवादी के द्वारा 'आगमा अनुदात्ता भवन्ति' इस वचन के आवश्यक होने से इसी से उपर्युक्त प्रयोजन का निराकरण।

८. तार्तीयसूत्रवादी के द्वारा सहायक या समर्थक 'शेषनिघात से आगमाऽनुदात्तत्ववादी' के षाष्ठसूत्रवादी से उन आगमों के बारे में पूछना जो शेष निघात से सिद्ध न होकर 'आगमा अनुदात्ता:' इस वचन के प्रयोजक हैं।

९. षाष्ठसूत्रवादी के द्वारा 'इट्' को उदाहरण रूप में प्रस्तुत करना।

१०. तार्तीसूत्रवादी के द्वारा शेषनिघात से ही उक्तप्रयोजन की सिद्धि।

११. षाष्ठसूत्रवादी के द्वारा 'सीयुट्' इस एक और आगम को अनुदात्तत्व के प्रयोजक रूप में उपस्थापित करना।

१२. तार्तीयसूत्रवादी के द्वारा 'आगमा अनुदात्ता भवन्ति' इस नवीन वचन के बनाने रूप गौरवापत्ति का उत्थापन।

१३. षाष्ठसूत्रवादी के द्वारा नवीन वचन न बनाकर ज्ञापक के द्वारा उक्त अर्थ की सम्प्राप्ति का कथन।

१४. तार्तीयसूत्रवादी के द्वारा आगमों से व्यवहित हो जाने के कारण इष्ट प्रत्ययाद्युदात्त स्वर की अप्राप्ति का कथन।

१५. षाष्ठसूत्रवादी के द्वारा इस उपस्थित दोष का भी 'आगमा अविद्यमानवद् भवन्ति' इस ज्ञापक से समाधान।

१६. तार्तीयसूत्रवादी के द्वारा 'स्रौघ्नी माथुरी' इत्यादि उदाहरणों में प्रत्यय को आद्युदात्त कर लेने पर लोप करने के लिये इह वचन का स्थापन।

१७. षाष्ठसूत्रवादी के द्वारा 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इस परिभाषा के द्वारा ही उक्त प्रयोजन की सिद्धि।

१८. तार्तीयसूत्रवादी के द्वारा अलग-अलग तीन विप्रतिषेधों की सिद्धि हेतु यहाँ पढ़ने की आवश्यकता पर बल।

१९. षाष्ठसूत्रवादी के द्वारा विप्रतिषेधों की अन्य प्रकार से सिद्धि का मार्ग-प्रदर्शन।

यहाँ नागेश इस सूत्रभाष्य के अन्त में अपना निर्णय देते हैं कि 'आगमानुदात्तार्थं वा' वार्तिक संख्या ५– यही सिद्धान्ती की उक्ति है। इस प्रकार शेष निघात द्वारा आगमानुदात्तत्व सिद्धि के लिये ही यहाँ इस सूत्र को पढ़ा गया है। षाष्ठ पाठ में भी यद्यपि दोष नहीं है, पर उस पक्ष में 'आगमा अनुदात्ता भवन्ति' यह एक नवीन वचन बनाना पड़ेगा, इसलिये गौरव होगा। नागेश का कहना है– ''तार्तीय सूत्र की उपस्थिति में आगमा अनुदात्ता भवन्ति' न तो यह अपूर्ववचन है और न ज्ञापकसिद्ध कथन है, बल्कि प्रत्ययसंज्ञासंनियोग से आद्युदात्त कर लेने पर शेषनिघात से ही सम्पद्यमान अनुदात्त का फलितार्थकथनमात्र है।'' भाष्यकार ने जो यह कहा कि 'लविषीय' अथवा 'लवितव्यम्' आदि में 'आगमैस्तु व्यवहितत्वादाद्युदात्तत्वं न प्राप्नोति' इस आधार को पकड़ कर कैयट-नागेश षाष्ठसूत्रपाठ को अयुक्त मानते हैं। उक्त भाष्यपङ्क्ति का व्याख्यान करता हुआ कैयट कहता है– आगम होने पर जिस प्रत्यय को हम आद्युदात्त करना चाहते हैं, अब उस प्रत्यय का वह वर्ग विशेष आदि में है ही नहीं। तार्तीय सूत्र पाठ में ऐसी कोई बाधा नहीं आती– क्योंकि प्रत्ययसंज्ञासंनियोग से आद्युदात्त कर लेने पर बाद में आगम होते हैं और फिर शेषनिघात से उनको अनुदात्त हो जाता है।

महाभाष्य

'आगमा अनुदात्ता:' के अभाव में 'लविषीय' इत्यादि में इष्ट स्वर की सिद्धि कैसे होगी? क्योंकि यहाँ तो आगम पहले ही हो जाता है। इसके उत्तर में उनका कहना है कि 'ल्' अवस्था में ही सीयुट् होने पर भी चूँकि अब वह सीयुट् 'ल्' का भाग है इसलिये प्रत्ययसंज्ञा होकर केवल को ही आद्युदात्तत्व हो जाता है, पुन: लादेश होने पर सतिशिष्ट स्वर की बलवत्ता के आधार पर उसे[1] भी आद्युदात्त होकर अब शेष निघात से पूर्वप्रवृत्त सीयुट् के आद्युदात्तत्व को अनुदात्त हो जाता है। इस प्रकार 'लविषीय' में स्वरसिद्धि के लिये आगमाऽनुदात्तवचन अनावश्यक है। इसी दिशा से यासुट् को भी शेषनिघात से अनुदात्तत्व प्राप्त होने पर उदात्त ग्रहण के चरितार्थ हो जाने से 'आगमा अनुदात्ता:०' इस ज्ञापक का असम्भव परिलक्षित होता है। नागेश का यह भी कहना है इस व्यवस्था को स्वीकार करने पर 'अक्रियमाणे ह्यागमानुदात्तत्वे क्रियमाणेऽपि-----' ६वें वार्तिक के सन्दर्भ में कही गयी यह एकदेशी की उक्ति भी असंगत हो जाती है। अर्थात् उपर्युक्त प्रक्रिया से इष्ट स्वर सिद्धि हो जाने के कारण इस कथन का कोई औचित्य नहीं रह जाता।

गुप्तिज्किद्भ्य: सन्।।३।१।५।

यहाँ 'तिज्' के अविकृतस्वरूप का बोध कराने के लिये 'खरि च' ८.४.५४ चर्त्व नहीं किया गया। आचार्य की यह प्रवृत्ति अन्यत्र भी देखी जाती है। जैसे 'इन्हन्पूषा०' ६.४.१२ सूत्र में नलोप नहीं किया। 'परक्षेत्रे चिकित्स्य:' इत्यादि में व्याधिप्रतीकारादि में ही व्यवहार देखे जाने से और जुगुप्सादि का निन्दादि में ही व्यवहार होने से और गुप गोपने, कित निकेतने इत्यादि सन्रहित प्रयोगों में अर्थ विशेष के ही निर्देश से, 'विचिकित्सा तु संशय:' इत्यादि कोशबल से भी यही निश्चय होता है कि अर्थविशेषोपहित गुपादि से ही सन् चाहते हैं– न कि सामान्यरूप से सर्वत्र।

(गुप्तिज्कितमाना अनुदात्तेत:[2]) गुपादिष्वनुबन्धकरणं किमर्थम्?

गुप्, तिज्, कित, मान ये धातुयें अनुदात्तेत् हैं। इन सबके नित्य सनन्त होने से केवल[3] गुपादियों से तो लडादि उत्पन्न होंगे नहीं, फिर इनके अनुबन्ध का कहाँ उपयोग हो सकेगा? अनुदात्तेत् अनुबन्ध का फल यही है कि उससे[4] अव्यवहित उत्तर लडादि के स्थान में आत्मनेपद हो जाये। सो लट् और धातु के बीच में सदा ही सन् के उपस्थित रहने से 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' १.३.१२ का अर्थ न घट पा सकने से आत्मनेपद तो अनुदात्तेत् अनुबन्ध का प्रयोजन हो नहीं सकता– अन्य कुछ हो तो बताओ– ऐसा प्रश्नकर्त्ता का भाव है।

---

१. लादेश को भी। २. अयं पाठोऽसार्वत्रिक:।

३. यहाँ यह समझना चाहिये– केवल गुपादि का भी प्रयोग तो होता है पर सनन्त में जो अर्थ प्रतीत होता है उस अर्थ में केवल गुपादि का कभी भी प्रयोग नहीं होता। अर्थात् सनन्त से प्रतीयमान उन-उन विशिष्ट अर्थों में ही ये धातुयें अनुदात्तेत् हैं। अन्य अर्थ में तो ये सब उस अनुबन्ध वाली हैं ही नहीं। ४. अनुदात्तेत् धातु से।

यहाँ अनुक्रमवशात् कित को भी भाष्यकार ने आक्षेप में पढ़ दिया है, पर कित अनुदात्तेत् नहीं है। लेकिन भाष्यकार के इस पाठ से यह भी ध्वनित हो सकता है कि कित धातु वैदिक-प्रयोगों में तो परस्मैपदी देखी जाती है पर लोक में इससे आत्मनेपद ही उचित है। भाष्य में 'अनुदात्तेत्करणं किमर्थम्' ऐसा प्रश्न न करके 'अनुबन्धकरणं किमर्थम्' जो ऐसा कहा वह दान-शान के स्वरितेत्त्व के बोधन के लिये और वध के स्वरितेत्त्व अथवा परस्मैपदित्व को लक्ष्य कर कह दिया है– ऐसा समझा जा सकता है।

गुपादिष्वनुबन्धकरणमात्मनेपदार्थम्।।१ ।।

(भाष्यम्) गुपादिष्वनुबन्धा: क्रियन्ते। आत्मनेपदं यथा स्यात्।

गुपादि धातुओं में अनुबन्ध इसलिये लगाये गये हैं कि (जब ये धातुयें सनन्त हों तो) उनसे आत्मनेपद हो जावे।

अथ क्रियमाणेष्वप्यनुबन्धेष्वात्मनेपदं न प्राप्नोति। किं कारणम्? सना व्यवहितत्वात्।

पर समस्या यह है कि अनुबन्ध किये जाने पर भी आत्मनेपद तो नहीं प्राप्त होता। ऐसा क्या कारण है जो अनुबन्ध कर देने पर भी तदाश्रित कार्य नहीं हो सकेगा? कारण है– सन् के द्वारा व्यवधान का उपस्थित हो जाना।

'पूर्ववत् सन:' इत्येवं भविष्यति।

चलो सन् का व्यवधान आ जाने के कारण 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' १.३.९२ से आत्मनेपद न सही, पर 'पूर्ववत् सन:' १.३.६२ से तो हो सकता है, हमें आत्मनेपद ही तो चाहिये सो उससे हो जायेगा।

उत्तर देने वाले का भाव यह है कि सन् से पूर्व जिस निमित्त को लेकर धातु आत्मनेपदी है तद्वत् सनन्त से भी आत्मनेपद हो जाता है– इस अनुदात्तेत्वरूप लिङ्ग का सनन्त में अतिदेश हो जाने से निर्विघ्न आत्मनेपद की प्राप्ति हो सकती है।

'पूर्ववत् सन:' इत्युच्यते। न चैतेभ्य: प्राक् सन आत्मनेपदं, नापि परस्मैपदं पश्याम:।

'पूर्ववत् सन:' ऐसा कहा गया है। सो कठिनाई तो यही है कि (सनन्त में जो अर्थ प्रतीत होता है उस अर्थ में) इन धातुओं से सन् से पहले (अर्थात् विना सन् के) न तो आत्मनेपद और न ही परस्मैपद देखने में आता है।

'पूर्ववत् सन:' यह कार्यातिदेश है न कि लिङ्गातिदेश। यदि उस सूत्र को लिङ्गातिदेश भी मान लिया जाये तो 'अनुचिकीर्षति' में भी आत्मनेपद की अतिव्याप्ति होने लगेगी क्योंकि कृञ् धातु में सन् से पहले ञित् लिङ्ग देखा गया है– जिसका फल है– आत्मनेपद व परस्मैपद दोनों भी हो जाना, सो आत्मनेपद भी होने

लगेगा। कार्यातिदेश मानने पर तो सन् से पूर्व आत्मनेपद कार्य देखा जाना चाहिये– जो कि यहाँ है नहीं– क्योंकि अनुपूर्वक कृ से 'अनुपराभ्यां कृञः' १.३.७९ से परस्मैपद का विशेष विधान हो जाने के कारण आत्मनेपद बाध लिया जाता है। इसलिये कोई दोष नहीं आता।

एवं तर्ह्यनुबन्धकरणसामर्थ्याद् भविष्यति।

अथवा अवयवे कृतं लिङ्गं समुदायस्य विशेषकं भवति। तद्यथा गोः सक्थनि कर्णे वा कृतं लिङ्गं गोर्विशेषकं भवति।

अच्छा तो अनुबन्ध करण सामर्थ्य से सन् के व्यवधान में भी आत्मनेपद हो जायेगा, अर्थात् अनुबन्ध को व्यर्थ होने से बचाने के लिये 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' सूत्र से आत्मनेपद रूप कार्य करते समय सन् का व्यवधान सहन कर लिया जायेगा।

अथवा उपर्युक्त समस्या का एक और भी समाधान है– अवयव में किया गया लिङ्ग (चिह्न) यदि निष्फल हो रहा है अर्थात् अवयव में उस लिङ्ग का कोई प्रकट या अप्रकट प्रयोजन नहीं दिखायी दे रहा हो तो वह लिङ्ग पूरे समुदाय[१] का विशेषक हो जाता है। जैसे गाय अथवा बैल के पुट्ठे (सक्थि) या कान (कर्ण) में कोई चिह्न (लिङ्ग) बना दिया जाये तो वह लिङ्ग उस गो रूप समुदाय का विशेषक हो जायेगा। तद्वत् यहाँ भी अनुदात्तेत् लिङ्ग अवयव में तो उसके द्वारा साध्य ऐसा कुछ कार्य है नहीं सो वह पूरे सनन्त समुदाय का विशेषक हो जायेगा अर्थात् सनन्त समुदाय को ही अनुदात्तेत् कह दिया जायेगा। फिर तो व्यवधान की कोई बात ही नहीं।

यद्यवयवे कृतं लिङ्गं समुदायस्य विशेषकं भवति। तदा जुगुप्सयति, मीमांसयतीत्यत्रापि प्राप्नोति।

यदि इस न्याय को माना जाता है कि अवयव में किया गया लिङ्ग समुदाय का विशेषक हो जाता है तो जुगुप्सते मीमांसते की भाँति जुगुप्सयति और मीमांसयति इत्यादि प्रयोगों में आत्मनेपद होने लगेगा।

यहाँ गुप् व मान धातु से सन् करके जुगुप्स व मीमांस बन जाने पर पुनः णिच् कर दिया गया है। णिच् परे रहते जुगुप्स मीमांस के अकार का 'अतो लोपः' ६.४.४८ लोप होकर जुगुप्सि और मीमांसि सनाद्यन्त धातु से लट् आने पर जुगुप्सि+लट्, मीमांसि+लट् इस स्थिति में उपर्युक्त 'अवयवे कृतं लिङ्गम्०' इस न्याय से जैसे जुगुप्स और मीमांस को अनुदात्तेत् माना जाता है तद्वत् जुगुप्सि और मीमांसि को भी अनुदात्तेत् मानकर यहाँ भी आत्मनेपद होने लगेगा– शङ्किता के द्वारा ऐसा कहा जा रहा है।

---

१. जैसे 'धेट् पाने' धातु का टित्व अवयव में अचरितार्थ है, सो 'स्तनंधयी' यहाँ पर समुदाय को टित् बनाकर ङीप् प्राप्त करा देता है।

अवयवे कृतं लिङ्गं तस्य समुदायस्य विशेषकं भवति यं समुदायं योऽवयवो न व्यभिचरति। सनन्तमेव च न व्यभिचरति णिजन्तं पुनर्व्यभिचरति। तद्यथा गोः सक्थनि कर्णे वा कृतं लिङ्गं गोरेव विशेषकं भवति, न गोमण्डलस्य।

देखिये! अवयव में किया गया लिङ्ग उस समुदाय का विशेषक होता है जिस समुदाय को जो अवयव कभी भी नहीं छोड़ता, सो प्रकृत में अनुदात्तेत् लिङ्ग वाला गुप अवयव सन्नन्त को ही कदापि नहीं छोड़ता णिजन्त को तो वह छोड़ ही देता है अर्थात् विना णिच् के भी केवल सन्नन्त का प्रयोग होता रहता है। ऐसा नहीं होता कि विना सन् किये ही केवल णिजन्त मात्र का ही प्रयोग होने लगे। इस सन्दर्भ में प्रस्तुत किये गये लौकिक न्याय में भी गो के पुट्ठे अथवा कर्ण पर किया गया चिह्न गो का ही तो (विशेषक होता है न कि गोमण्डल) का क्योंकि उस लिङ्ग से युक्त अवयव उस विशिष्ट गो को जिसके पुट्ठे अथवा कर्ण पर वह चिह्न दागा गया है, कभी नहीं छोड़ता, गोमण्डल को तो छोड़ ही देता है। दूसरी गायों को उस चिह्न वाली गो से पृथक करके दूर ले जाया जा सकता है। पर उस अवयव रूप चिह्नित सक्थि अथवा कार्ण को उस गो से अलग नहीं किया जा सकता। इसीलिये 'अमुक चिह्न वाली गो को लावो' ऐसा कहने पर उस चिह्न विशिष्ट उस एक गो को ही लाया जाता है न कि पूरा गोमण्डल।

मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य।।३.१.६।।

अभ्यासदीर्घेऽवर्णस्य दीर्घप्रसङ्गः।।१।।

(भाष्यम्) अभ्यासदीर्घत्वेऽवर्णस्य दीर्घत्वं प्राप्नोति।

'मान्बधदान्०' सूत्र से जो सन् प्रत्यय के साथ अभ्यास को दीर्घत्व का विधान किया गया है वह चूँकि सामान्य विधि की विशेषविधि बाधक होती है– इस करके सामान्यविहित 'सन्यतः' ७.४.७९ से प्राप्त इत्त्व को बाधकर अवर्ण को दीर्घत्व ही प्राप्त होता है।

ननु चेत्त्वे कृते दीर्घत्वं भविष्यति।

क्योंजी! (पहले इत्त्व ही करेंगे) सो इत्त्व कर लेने पर फिर दीर्घत्व होता रहेगा।

कथं पुनरुत्पत्तिसन्नियोगेन दीर्घत्वमुच्यमानमित्त्वं प्रतीक्षते?

पर कठिनाई तो यही है कि दीर्घत्व तो सन् उत्पत्ति के साथ ही कह दिया गया है, सो वह तत्काल ही होने लगेगा, वह इत्त्व की प्रतीक्षा क्यों करेगा कि पहले इत्त्व होवे तब मैं होऊँ?

अथ कथमभ्यासं प्रतीक्षते?

अच्छा! हमें यह बताओ कि वह दीर्घत्व अभ्यास की प्रतीक्षा कैसे किया करता है? आप यही कहेंगे

कि सूत्र में जो 'अभ्यासस्य' ऐसा कह दिया गया है– उसके कारण अभ्यास की प्रतीक्षा तो उसे करनी ही होगी। सो हमारा भी यही कहना है कि जैसे यहाँ वचन सामर्थ्य से अभ्यास की प्रतीक्षा करता है वैसे ही वचनान्तर विहित इत्त्व की भी प्रतीक्षा कर लेगा।

वचनादभ्यासं प्रतीक्षते। अभ्यासस्य दीर्घत्वविधानात्। इत्त्वं पुनर्न प्रतीक्षते।

नहीं! इत्त्व के विषय में ऐसा नहीं हो सकेगा। अभ्यास को विहित दीर्घत्व और इत्त्व में समानता नहीं दिखायी जा सकती। सन् प्रत्यय के साथ ही अभ्यास को दीर्घत्व का विधान होने से वचनसामर्थ्य हेतु दीर्घत्व के विषय में तो देना ठीक बैठता है पर इत्त्व के विषय में नहीं। सो वचन व्यर्थ न हो इस करके दीर्घत्व अभ्यास की तो अवश्य प्रतीक्षा करेगा, पर वह इत्त्व की प्रतीक्षा नहीं करेगा। अर्थात् चाहे तो विशेष विधि मानकर और चाहे अन्तरङ्ग[१] होने से वह इत्त्व को बाध ही लेगा।

न वाऽभ्यासविकारेष्वपवादस्योत्सर्गाऽबाधकत्वात्।।२।।

(भाष्यम्) न वैष दोषः। किं कारणम्? अभ्यासविकारेष्वपवादस्योत्सर्गाबाधकत्वात्।

'अभ्यासविकारेष्वपवादा उत्सर्गान्न बाधन्त' इत्येवं दीर्घत्वमुच्यमानमित्त्वं न बाधिष्यते।

नहीं! यह कोई दोष नहीं है। क्या कारण है– क्यों नहीं है दोष? अभ्यास सम्बन्धी विकारों में अपवाद के उत्सर्ग का बाधक न होने से, अर्थात् अभ्यास को विधीयमान आदेशों में अपवाद उत्सर्ग विधियों के बाधक नहीं होते, इस कारण दीर्घत्व विशेष विधान होने पर भी इत्त्व का बाधक नहीं होगा।

'अभ्यासविकारेष्वपवादाः०'[२] यह परिभाषा 'दीर्घोऽकितः' ७.४.८३ सूत्र में अकिद्ग्रहण से ज्ञापित की गयी है। 'यंयम्यते' इत्यादि में 'नुगतोऽनुना०' ७.४.८५ से नुक् हो जाने पर अभ्यास के अजन्त न होने से दीर्घ अप्राप्त है तथा 'चरिकर्ति' इत्यादि में रीक् आगम के साथ रीक् आगम का भी विधान होने से दीर्घ अप्राप्त है– इस प्रकार अकित् ग्रहण व्यर्थ होता हुआ प्रकृतार्थ का ज्ञापक है। परिभाषा में 'अपवाद' यह पद बाधकमात्र का उपलक्षण है। सो इस परिभाषा के रहते– पहले उत्सर्ग के प्रवृत्त होने पर अपवाद की प्रवृत्ति अथवा अपवाद के प्रवृत्त होने पर उत्सर्ग की प्रवृत्ति दोनों होते रहते हैं।

---

१. सन् प्रत्यय के साथ अभ्यास दीर्घत्व विषयक बोध का संनियोग होने से वह अनैमित्तिक है और इसलिये वह अन्तरङ्ग है।

२. इस परिभाषाविषयक विशेष जानकारी के लिये रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्रकाशित संस्कृत पारिभाषिक परि०सं० ५८ को देखना चाहिये।

अथवा 'मान्बधदान्शान्भ्य ई चाभ्यासस्ये' ति वक्ष्यामि।

अब भाष्यकार उपर्युक्त समस्या का न्यासान्तर से समाधान करने के इच्छुक होकर कहते हैं– अथवा स्पष्ट ही ऐसा कहूँगा कि मान्-बध-आदि धातुओं के अभ्यास को 'ई' हो जाता है।

एवमपि हलादि: शेषापवाद ईकार: प्राप्नोति।

फिर भी 'हलादि: शेष:' ७.४.६० का अपवाद 'ई' पाने लगेगा अर्थात् 'हलादि: शेष:' को बाधकर 'ई' आदेश होने लगेगा, जो कि अनिष्ट है।

'ई चाच' इति वक्ष्यामि।

अपने न्यास में थोड़ा और सुधार करते हुये भाष्यकार कहते हैं कि 'मान्बधदान्शान्भ्यो ई चाच:' ऐसा सूत्र बनाऊँगा। अर्थात् अजन्त अभ्यास को 'ई' आदेश होता है– ऐसा कहूँगा। सो पहले 'हलादि: शेष:' होगा– फिर प्रकृत सूत्र का कार्य।

अथ वा 'मानबधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चेतोऽभ्यासस्ये'ति वक्ष्यामि।

एक और भी न्यास से समाधान हो सकता है– मान्-बध आदि धातुओं से सन् होता है और अभ्यास के इकार को दीर्घ होता है। अर्थात् 'सन्यत:' से हुये 'इ' को प्रकृत सूत्र से दीर्घ हो जाता है। 'दीर्घश्चेतो' का 'दीर्घ: च इत:' ऐसा छेद होगा।

सिध्यति। सूत्रं तर्हि भिद्यते।

ऐसा करने में सिद्ध तो हो जाता है। पर चाहे आप 'ई चाचोऽभ्यासस्य' कहें अथवा 'दीर्घश्चेतोऽभ्यासस्य' दोनों ही पक्षों में सूत्रभेदरूप दूषण उपस्थित रहेगा।

यथान्यासमेवास्तु।

चलो! यथान्यास अर्थात् वर्तमान पाणिनीय न्यास को ही रख लेते हैं।

ननु चोक्तम्– अभ्यासदीर्घत्वेऽवर्णस्य दीर्घत्वप्रसङ्ग इति।

पर इस न्यास में अभी-अभी ही तो हमने अपनी समस्या रखी थी कि प्रकृत सूत्र के द्वारा अभ्यास को ही सीधा दीर्घ कहा गया है सो अवर्ण को ही दीर्घ पाने लगता है। हमें चाहिये तो मीमांसते, बनने लगेगा– मामांसते।

परिहृतमेतत्– न वाऽभ्यासविकारेष्वपवादस्योत्सर्गाबाधकत्वाद्।

उसका समाधान कर तो दिया (आप तो बड़ी जल्दी ही भूल गये) कि अभ्यास सम्बन्धी विकारों में बाधक

(=अपवाद) सामान्य सूत्रों को बाधते नहीं हैं।

अथवा नैवं विज्ञायते– 'दीर्घश्च अभ्यासस्ये'ति।

कथं तर्हि? दीर्घश्च आभ्यासस्येति।

किमिदमाभ्यासस्येति? अभ्यासस्य विकार आभ्यास:, तस्येति। मान्बधदान्० ।।६।।

अथवा एक और भी परिहार है– सूत्रच्छेद 'दीर्घश्च अभ्यासस्य' ऐसा नहीं है। तो कैसा है? 'दीर्घश्च आभ्यासस्य' ऐसा। क्या है भला यह आभ्यासस्य? अभ्यास का विकार आभ्यास होता है। 'तस्य विकार:' ४.३.१३२ अर्थ में अभ्यासशब्द से अण् प्रत्यय हो गया है। भाव यह है कि 'सन्यत:' ७.४.७९ से जो सन् परे रहते इकार रूप विकार विहित है, उसका आभ्यास शब्द से ग्रहण है। उसको दीर्घ होता है। इस प्रकार सूत्र से बाहर इधर-उधर भटकने की आवश्यकता है नहीं।

धातो: कर्मण: समानकर्तृकादिच्छायां वा।।७।।

धातोरिति किमर्थम्?

सूत्र में 'धातो:' यह शब्दस्वरूप सन् प्रत्यय की प्रकृति के रूप में गृहीत है। उसका अर्थात् शब्दरूप का इच्छा के प्रति कर्मत्व अथवा समानकर्तृकत्व सम्भव नहीं– इस प्रकार धातुशब्द से धात्वर्थ का ग्रहण होगा। शब्द और अर्थ का अविनाभावसम्बन्ध (नित्यसम्बन्ध) होने से अर्थधर्म का शब्द में आरोप हो जायेगा। कर्मत्व और समानकर्तृकत्व को भी कोई न कोई क्रिया अवश्य चाहिये क्योंकि क्रिया के विना कारक की कल्पना ही नहीं की जा सकती। सो सूत्र में प्रत्ययार्थ के रूप में निर्दिष्ट इच्छा क्रिया का ही, प्रत्यासत्तिन्याय से भी तथा प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ के परस्पर व्यपेक्षालक्षण सामर्थ्य की दृष्टि से भी, आश्रय करके विभक्तिविपरिणाम के द्वारा कर्मत्व व समानकर्तृकत्व को विशेषित कर दिया जायेगा। अर्थात् (धात्वर्थ को) इच्छा क्रिया का कर्मत्व तथा इच्छा के साथ उसका समानकर्तृकत्व देखना होगा। जैसे– 'देवदत्त: पठितुमिच्छति' यहाँ इच्छति क्रिया के कर्म के रूप में 'पठितुम्' कहा जा रहा है और साथ में पठितुम् तथा इच्छति का देवदत्तादि एक ही कर्त्ता है– जो पठितुम् का कर्ता है वही इच्छति का कर्ता है। इस प्रकार इच्छति के साथ 'पठितुम्' का कर्मत्व व समानकर्तृकत्व है, सो ऐसी धातु से अर्थात् इस विशेषताओं से युक्त धातु से कहा गया सन् प्रत्यय उपर्युक्त उदाहरण में पठ् से सिद्ध हो जाता है अर्थात् 'पठितुमिच्छति' के अर्थ में 'पिपठिषति' यह प्रयोग उत्पन्न हो जाता है। 'गमनेनेच्छति' इत्यादि के रूप में विवक्षा होगी तो भी नहीं होगा और देवदत्तस्य भोजनमिच्छति यज्ञदत्त: (देवदत्तकर्तृकभोजनं यज्ञदत्त इच्छति) अथवा 'इच्छामि यायाद् देवदत्त:' इत्यादि भिन्नकर्तृक दशा में भी 'सन्' नहीं होगा।

धातुग्रहण आनर्थक्यकथनपरक वार्तिक के अवतरण के लिये भाष्यकार प्रश्न करते हैं– धातुग्रहण किसलिये है?

धातुग्रहण का प्रयोजन यदि हमें पता चल जाये तो किसी अन्य उपाय से उस प्रयोजन की सिद्धि, विना धातुग्रहण के भी की जा सकती है जो कि वार्तिक के द्वारा दर्शायी जा रही है। प्रकृत में शङ्किता (प्रश्नकर्ता) यह कहना चाहता है कि धातु ही क्रियावाची है, उपसर्ग तो उस-उस अर्थ के विशेषक (द्योकतमात्र) होते हैं। अत: धातु के अर्थ के द्वारा कर्मत्व और समानकर्तृकत्व धातु के ही सम्भव होने से धातुग्रहण व्यर्थ है।

प्रकर्तुमैच्छत् प्राचिकीर्षत्। सोपसर्गादुत्पत्तिर्माभूदिति।

समाधाता कहता है– प्रपूर्वक कृधातु से जब सन् करना चाहें तो उपसर्गसहित कृ से सन् की उत्पत्ति न हो, इसके लिये धातुग्रहण किया है। यहाँ संघात से ही विशिष्टक्रिया (प्रकर्षयुक्तक्रिया) का प्रतिपादन हो रहा है। सो धातुपद के अभाव में प्रकर्षविशिष्ट के ही इच्छा का विषय बनने से, चूँकि वह 'प्रकृ' समुदाय ही कर्म बन रहा है इसलिये तद्वाचक समुदाय प्रकृ से ही सन् पाने लगेगा। 'प्रकृ' इस समुदाय से सन् होने पर संघात के आदि को ही द्विर्वचन तथा लङादि में संघात से पहले ही 'अट्' बैठने लगेगा। इस प्रकार 'प्राचिकीर्षत्' ऐसा इष्ट रूप सिद्ध नहीं हो पायेगा।

कर्मग्रहणात् सन्विधौ धातुग्रहणानर्थक्यम्।।१।।

(भाष्यम्) कर्मग्रहणात् सन्विधौ धातुग्रहणमनर्थकम्। कर्मण: समानकर्तृकादिच्छायां वा सन् भवतीत्येव धातोरुत्पत्तिर्भविष्यति।

वार्तिक में पढ़ा गया कर्मग्रहणात् 'समानकर्तृकाद्' का भी उपलक्षण है, अर्थात् कर्म और समानकर्तृक के ग्रहण होने से सन्विधायक सूत्र में धातुग्रहण अनर्थक है। जब 'कर्मण: समानकर्तृकादिच्छायां वा सन् भवति' ऐसा कहेंगे तो इसी कथन से केवलमात्र धातु से ही सन् उत्पत्ति होगी न कि धातु-उपसर्ग समुदाय से।

सोपसर्गं वै कर्म तत उत्पत्ति: प्राप्नोति।

पर यहाँ सोपसर्ग ही तो कर्म है। क्योंकि पूरा संघात ही क्रियाविशेषाभिधायी है, सो संघात से ही उत्पत्ति पाने लगेगी।

महाभाष्य

सोपसर्गं कर्मेति चेत् [१]कर्मविशेषकत्वादुपसर्गस्यानुपसर्गं कर्म।।२।।

(भाष्यम्) सोपसर्गं कर्मेति चेत् कर्मविशेषक उपसर्गः।

अनुपसर्गमेव हि कर्म। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयमनुपसर्गमेव हि कर्मेति।

यदि ऐसा कहते हो कि सोपसर्ग अर्थात् प्रकृ कर्म है तो वह ठीक नहीं। क्योंकि उपसर्ग तो कर्म का (अर्थात् कृ का) विशेषक है। कर्म संज्ञा तो अनुपसर्ग कृ की ही है। अर्थात् 'कृ' मात्र ही कर्म है। 'प्र' तो उसकी विशेषता बतला रहा है। इस बात को अवश्य ही इसी रूप में जानना चाहिये कि अनुपसर्ग (उपसर्गरहित) ही कर्म है।

इसका भाव यह है– धातु अर्थात् कृ ही क्रियावाची है इसलिये यहाँ तदर्थ का ही (अर्थात् धात्वर्थ का ही) कर्मत्व है न कि उपसर्गार्थ का भी। संघात से विशिष्ट क्रिया का बोध होने पर भी विशेषण-विशेष्य में विशेष्य के प्रधान होने से उसी का कर्मत्व है। जैसा कि 'अनभिहिते' २.३.१ सूत्रभाष्य में भी इस बात का समर्थन होता है– वहाँ पर कहा गया है– कट एव कर्म तत्सामानाधिकरण्यात्तु भीष्मादिभ्यो द्वितीया भविष्यतीति– अर्थात् कट ही कर्म है, उसके साथ समानाधिकरण होने से 'भीष्मम् उदारं दर्शनीयम्' आदि में द्वितीया हो जायेगी। यदि यह कहो कि वहाँ उस सूत्र में तो कर्म के विशेषण में भी कर्मत्वशक्ति स्वीकार की गई है– ऐसा उस प्रसङ्ग में तात्पर्य है तो भी समानाधिकरणविशेषण में ही वैसा स्वीकार किया गया है; उपसर्गार्थ तो व्यधिकरणविशेषण है। विशेषण समानाधिकरण भी होता है और व्याधिकरण भी। जैसे 'शुक्लः पटः' यहाँ शुक्ल समानाधिकरण विशेषण है और 'पटस्य शुक्लः अथवा राज्ञः पुरुषः' इत्यादि में 'पटस्य' या 'राज्ञः' व्यधिकरणविशेषण में ही वैसा स्वीकार किया गया है; उपसर्गार्थ तो व्यधिकरणविशेषण हैं। प्रकृत में प्रसम्बन्धी जो 'कृ' इस रूप में अर्थात् 'प्र' के द्वारा कृ को व्यधिकरण रूप से विशेषित किया जाता है, इसलिये यहाँ 'प्र' विशेषण में कर्मत्व सम्भव नहीं है। और धात्वर्थगत विशेषणरूप उपसर्गार्थ का पृथक् कर्मत्व स्वीकार कर भी लिया जाये जैसा कि 'अनभिहिते' सूत्र में किया गया है कि 'कटोऽपि कर्म भीष्मादयोऽपीति' तो भी 'प्र' और 'कर्तुम्' का पृथक्-पृथक् तो कर्मत्व माना जा सकता है, पर समुदाय रूप में दोनों के संघात को एक कर्म नहीं कहा जा सकता, इसलिये संघात की उत्पत्ति नहीं होगी।

---

१. 'कर्मविशेषकः' यहाँ कैयट वार्तिककार के इस प्रयोग से 'तृजकाभ्यां कर्तरि' २.२.१५ षष्ठीसमासप्रतिषेध को अनित्य कहता है, पर शिवरामेन्द्र सरस्वती का कहना है कि इस वार्तिककार व भाष्यकार के प्रमाण से 'तृजकाभ्यां कर्तरि निषेध कारकषष्ठी का ही करता है। अतः यहाँ शेषषष्ठ्यन्त कर्मशब्द का विशेषक शब्द के साथ समास होने में कोई बाधा नहीं है। इसी दिशा से गुणग्राहक, त्रिभुवनधातुः आदि शब्दों को भी सिद्ध कर लेना चाहिये।

सोपसर्गस्य हि कर्मत्वे [१]धात्वधिकारेऽपि सनोऽविधानमकर्मत्वात्।।३।।

(भाष्यम्) यो हि मन्यते सोपसर्गं कर्मेति क्रियमाणेऽपि तस्य धातुग्रहणे सनोऽविधिः स्यात्। किं कारणम्? अकर्मत्वात्।

यदि संघात अर्थात् प्रकृ का अर्थ के द्वारा कर्मत्व हो भी जाये तो धातुग्रहण करने पर भी अवयव (कृ) के अकर्म होने से उससे सन्प्रत्यय नहीं हो पायेगा। जो ऐसा मानता है कि 'सोपसर्ग समुदाय ही कर्म है' उसके मत में धातुग्रहण करने पर भी प्रकृनिष्ठ कृ से सन् का विधान नहीं हो पायेगा। क्यो? ऐसा क्या कारण है जो धातुग्रहण करने पर भी सन् नहीं हो पायेगा? कारण यह है कि 'प्रकृ' यह समुदाय ही कर्म है न कि उसका अवयव कृ और 'कर्मणः' यह पञ्चम्यन्त है न कि षष्ठ्यन्त। हाँ! 'कर्म का अवयव जो धातु' ऐसा षष्ठी मानकर अर्थ करने पर 'प्रकर्तुम् ऐच्छत् प्राचिकीर्षत्' प्रकृ कर्म का अवयव जो उससे तो सन् सिद्ध हो जायेगा पर 'पठितुमिच्छति पिपठिषति' इत्यादि स्थलों में अनुपसर्ग पठ् से सन् नहीं हो पायेगा क्योंकि अवयवी (संघात) का ही अवयव हो सकता है, स्वयं पूरा अवयवी ही अवयव कैसे हो सकता है, अर्थात् 'पठ्' ही जब कर्म के रूप में कथित हो रहा है तो वही पठ्धातु उसी पठ् कर्म का अवयव कैसे बन सकेगा? इस कारण–

अडादीनां व्यवस्थायै पृथक्त्वेन प्रकल्पनात्।
धातूपसर्गयोर्धातुः क्रियावाचीति निर्णयः।। (द्र० वा० प०) २.१८०

'प्राचिकीर्षत्' इत्यादि में अडादि की व्यवस्था करने के लिये धातु और उपसर्ग का 'यह धातु'– 'यह उपसर्ग' इस रूप में पृथक्त्व से स्वरूप और अर्थ को कल्पित किये जाने से उपसर्गरहित धातु ही क्रियावाची ठहरती है, उपसर्ग तो धातु के ही अर्थ का विशेषक मात्र होता है ऐसा निर्णय है। इस प्रकार हरि ने भी अपनी इस बात पर मुहर लगा दी है। अतः 'कर्मणः समानकर्तृकाद्०' इसी से– क्रियावाचक से ही अर्थात् उपसर्गरहित केवल धातु से ही सन् का विधान होगा न कि उपसर्गविशिष्ट से। सो 'सोपसर्गादुत्पत्तिर्माभूत्' यह धातुग्रहण का प्रयोजन नहीं बनता।

इदं तर्हि प्रयोजनम् सुबन्तादुत्पत्तिर्मा भूत्।

अच्छा तो यह प्रयोजन है। सुबन्त से उत्पत्ति न होवे। अर्थात् 'पचनमिच्छति' इस विवक्षा में 'पचनम्' इस सुबन्त से सन् न हो।

---

१. यहाँ अधिकार पद 'स्वरितेनाधिकारः' वाला नहीं है। बल्कि करणं कारः, अधिकः कारः=अधिकारः अर्थात् धातोरित्यस्याधिकस्य करणेऽपीत्यर्थः– 'धातोः' यह अधिक ग्रहण करने पर भी– ऐसा भाव है।

महाभाष्य

सन् के विकल्पित होने से पक्ष में क्यजादि सावकाश हैं– ऐसा मानते हुये यह कहा जा रहा है। यहाँ एक प्रश्न उठता है– प्रातिपदिक का अतिक्रमण कर सुबन्त का ग्रहण क्यों किया? वह इसलिये क्योंकि सूत्र में 'कर्मण:' ऐसा कहा गया है। सो कर्मत्व की द्योतिका विभक्ति को तो आना ही पड़ेगा– इसलिये वह अवश्य ही सुबन्त बन जायेगा।

सुबन्ताच्चाप्रसङ्गः क्यजादीनामपवादत्वात्।।४।।

(भाष्यम्) सुबन्ताच्च सनोऽप्रसङ्गः। किं कारणम्? क्यजादीनामपवादत्वात्।
सुबन्तात् क्यजादयो विधीयन्ते। तेऽपवादत्वाद् बाधका भविष्यन्ति।

सुबन्त से सन् का प्रसङ्ग नहीं है। क्या कारण है? कारण है– क्यजादि प्रत्ययों का (सन्) का अपवाद होना। सुबन्त से क्यजादि विहित हैं, वे अपवाद होने से बाधक हो जायेंगे।

इसका भाव यह है– 'धातो:' ऐसा न होने पर सन्विधि तो कर्ममात्र से होने के कारण सामान्यविधि होगी और कर्मविशेष सुबन्त से होने के कारण क्यजादि विधि विशेषविधि समझी जायेगी। सामान्यविधि को विशेषविधि बाध लेती है, इस नियम को लेकर क्यजादिविधि सन् की बाधक होगी।

पर क्यच् भी विकल्प से होता है और सन् भी क्यच् के अभावपक्ष में सन् क्यों नहीं होगा, इसका उत्तर यह है 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' २.१.१७ सूत्र में महाविभाषा के प्रकृत होते हुये भी पुन: 'वा' ग्रहण से यह ज्ञापित किया गया है कि जहाँ उत्सर्ग और अपवाद दोनों विकल्प से होते हैं वहाँ अपवाद के मुक्त होने पर उत्सर्ग प्रवृत्त नहीं होता (यत्रोत्सर्गापवादौ विभाषा तत्राऽपवादेन मुक्त उत्सर्गो न प्रवर्तते)। इस प्रकार क्यज् जो अपवाद है उसके अभावपक्ष में वाक्य ही बना रहेगा, सन् नहीं होगा।

और यह जो कहा गया कि सन् के विकल्पित होने से पक्ष में क्यजादि सावकाश हैं, इसके उत्तर में कहना होगा कि क्यजादि का भी एकार्थीभाव सामर्थ्य तो होता है पर एकार्थीभाव नहीं होता, सो एकार्थीभाव के अभाव होने से क्यजादि की सावकाशता नहीं बन पायेगी। इस हेतु से भी क्यजादि के अभावपक्ष मे सन् नहीं होगा– क्योंकि सन् की भी एकार्थीभाव होने पर ही प्रवृत्ति होने से क्यजादि के अभाव में एकार्थीभाव के अभाव होने से सन् प्राप्त नहीं। इस प्रकार यही बात स्थित रही कि सुबन्त से विहित क्यजादि अपवाद होने से सन् को बाँध लेंगे, इसलिये सुबन्तव्यावृत्ति के लिये धातुग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं।

अनभिधानाद्वा।।५।।

(भाष्यम्) अथवाऽनभिधानात्सुबन्तादुत्पत्तिर्न भविष्यति।
न हि सुबन्तादुत्पद्यमानेन सनेच्छाया अभिधानं स्यात्।

अनभिधानात्तत उत्पत्तिर्न भविष्यति।

अथवा सुबन्त से सन् की अनुत्पत्ति में अनभिधान भी एक कारण है। क्योंकि ऐसा कोई प्रयोग ही नहीं मिलता जहाँ (जिसमें) सुबन्त से सन् उत्पन्न हो रहा हो और उससे इच्छा का अभिधान हो। अर्थात् सुबन्त से उत्पद्यमान सन् के द्वारा (लोक में) इच्छा का अभिधान (कथन) नहीं है।

इयं तावदागतिका गतिर्यदुच्यतेऽनभिधानादिति।

जब और कोई भी रास्ता न मिले– उस अवस्था की यह बात है– जो यह कहा जाता है– अनभिधानात्। क्योंकि अध्येता (बोद्धा) लक्षण के सहारे से लक्ष्य का ज्ञान करते हैं, इसीलिये उनके लिये एक विशिष्टशब्द का प्रयोग प्रचलित है– लक्षणैकचक्षुष्क (लक्षणमेवैकं चक्षुर्येषां ते तथा)। जो लक्ष्य से भलीभाँति परिचित हैं, उनकी दृष्टि से ही हेतु कारगर हो सकता है।

यदप्युच्यते सुबन्ताच्चाप्रसङ्गः क्यजादीनामपवादत्वादिति भवेत्कस्माच्चिदप्रसङ्गः स्यादात्मेच्छायाम्। परेच्छायां तु प्राप्नोति। राज्ञः पुत्रमिच्छतीति।

और जो यह चतुर्थ वार्तिक के द्वारा कहा गया है कि क्यजादि सन् के अपवाद होने से सुबन्त से सन् का अप्रसङ्ग है। सो ऐसा हो सकता है कि आत्मेच्छा में किसी कर्मीभूत सुबन्त से सन् का अप्रसङ्ग हो, लेकिन परेच्छा में तो कर्मीभूत सुबन्त से सन् प्राप्त हो ही सकता है। क्योंकि क्यज् विधायक सूत्र में आत्मसम्बन्धी सुबन्त से क्यच् कहा गया है सो उस स्थिति में ही क्यच् सन् का बाधक हो सकता है। 'राज्ञः पुत्रमिच्छाति' यहाँ तो क्यच् प्राप्त ही नहीं है– इसलिये प्रकृत सूत्र में 'धातोः' ग्रहण के अभाव में 'पुत्रम्' इस सुबन्त कर्म से सन् का अतिप्रसङ्ग होने लगेगा ही।

एवं तर्हीदमिह व्यपदेश्यं सदाचार्यो न व्यपदिशति।

किम्? 'समानकर्तृकादिच्छायां वा' इत्युच्यते। न च सुबन्तस्य समानः कर्ताऽस्ति।

अच्छा तो ऐसा है यहाँ (सुबन्ताच्चाप्रसङ्गः क्यजादीनामपवादत्वात् इस अपने कथन में) आचार्य (वार्तिककार) व्यपदेश करने योग्य के विद्यमान होते हुये (व्यपदेश्यं सत्) (भी) उसका व्यपदेश नही कर रहे हैं (अर्थात् उसको अपनी दृष्टि से ओझल किया हुआ है)। क्या है ऐसा वह? सन् विधायक सूत्र में 'कर्मणः पद के साथ 'समानकर्तृकाद् इच्छायां वा' ऐसा कहा हुआ है 'कर्मणः समानकर्तृकाद्' को सामने रखकर जब विचार करेंगे तो यही पायेंगे 'राज्ञः पुत्रमिच्छति' इत्यादि उपर्युद्धृत परेच्छा स्थलों में भी सन् प्राप्त नहीं हो सकेगा, क्योंकि ऐसे सभी प्रसङ्गों में सुबन्त का समान कर्ता नहीं हो पाता है। अर्थात् क्रिया के प्रति जो स्वातन्त्र्येण विवक्षित होता है वही 'कर्ता' इस संज्ञा को प्राप्त करता है, सो यहाँ पुत्र इत्यादि के अक्रियावाची होने से 'इच्छति' का जो देवदत्तादिकर्ता है वह 'पुत्रम्' का कर्ता नहीं हो सकता।

महाभाष्य

'न च सुबन्तस्य समान: कर्ताऽस्ति' इस पङ्क्ति की व्याख्या करते हुये कैयट ने दार्शनिकता की पुट दे दी है। उनका कहना है– एक साध्यभूत अर्थ होता है और दूसरा सिद्धभूत। क्रिया सदा ही साध्य होती है और द्रव्य सिद्ध। साध्यत्वेन जो प्रतीयमान अर्थ होता है उसी के साथ साधन अर्थात् कारक का सम्बन्ध हुआ करता है या हो सकता है। सो यहाँ पुत्रादि के सत्त्वभूत अर्थात् सिद्धरूप अर्थ के वाचक होने से वे (पुत्रादि) कर्ता इस साधन का आश्रय नहीं बन सकेंगे। कोई कहे कि 'कटं करोति' यहाँ 'कट' भी तो सिद्ध रूप अर्थ है फिर इसके साथ 'कर्म' इस साधन का सम्बन्ध कैसे हो गया– उसका उत्तर है– 'करोति' इस क्रिया के सान्निध्य से उसमें साध्यता की प्रतीति होने लगती है। जैसा कि भर्तृहरि ने भी कहा है– कर्म का चाहे निर्वर्त्य रूप हो चाहे विकार्य या प्राप्य, ये सब सिद्धरूप से ही प्रतीत होते हैं। पर साथ में प्रयुज्यमान क्रियाओं के कारण साधनाश्रय अर्थात् कर्मत्वलक्षणशक्ति के आश्रय बन जाते हैं–

निर्वर्त्यो वा विकार्यो वा प्राप्यो वा साधनाश्रय:।
क्रियाणामेव साध्यत्वात्सिद्धरूपोऽभिधीयते।। (वा० प० ३.७.७९)
एवमपि भवेत् कस्माच्चिदप्रसङ्ग: स्याद् यस्य कर्ता नास्ति।
इह तु प्राप्नोति– आसितुमिच्छति शयितुमिच्छतीति।

तो भी ऐसा हो सकता है कि जिसका कर्ता (समानकर्ता) नहीं है ऐसे किसी सुबन्त से सन् का अप्रसङ्ग हो जाये। पर यहाँ 'आसितुमिच्छति' इत्यादि में तो पायेगा ही क्योंकि 'क्यचि मान्ताव्ययप्रतिषेध:' ३.१.८/३ वार्तिक से यहाँ क्यच् का तो प्रतिषेध है, सो यह भी नहीं कहा जा सकता कि क्यच् बाधक हो जायेगा। इस प्रकार आसितुम् शयितुम् आदि के क्रियावाची होने से तथा समानकर्तृकत्व और कर्मत्व अर्थ के विद्यमान होने से तुमुनन्तप्रकृतिक सुबन्त से सन् होने लगेगा। कोई पूछ सकता है– आसितुम् आदि के क्रियावाची होने में क्या प्रमाण है– तो कहना होगा 'अव्ययकृतो भावे भवन्ति' ३.४.२६ महाभाष्य का यह वचन तुमुनादि की क्रिया वाचकता में प्रमाण है।

इच्छायामर्थे सन् विधीयत इच्छार्थेषु च तुमुन्।
तत्र तुमुनोक्तत्वात्तस्यार्थस्य सन्न भविष्यति।

देखिये! इच्छा अर्थ में सन् का विधान है और उधर समानकर्तृकेषु तुमुन् ३.३.१५८ में ऊपर से 'इच्छार्थेषु' पद की अनुवृत्ति होने से तुमुन् भी इच्छार्थ में ही होता है, सो तुमुन् के द्वारा उस इच्छा अर्थ के कह दिये जाने से सन् नहीं होगा। यद्यपि तुमुन् सीधा इच्छार्थ में नहीं कहा है– वह तो इच्छार्थक धातुओं के उपपद रहते कहा गया है। फिर भी 'इच्छति' तुमुन् का निमित्त तो बन ही रही है। बस! इसी भाव को लक्ष्य कर भाष्य में कह

दिया है– 'तुमुनोक्तत्वात् तस्यार्थस्य०'। यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'इच्छति' इस प्रयोग को बाधकर सन् होने लगेगा। क्यों? इसलिये कि तुमुन् तो होता ही तब है जब 'इच्छति' उपपद है। सो इच्छति के उपपद रूप में न रहने पर तो तुमुन् ही नहीं हो सकेगा, और उपपद इस महासंज्ञा[१] के साथ विरोध होने से 'सन्' को ही उपपद मान लिया जाये वह भी सम्भव नहीं हो पायेगा।

एवमपीह प्राप्नोति– आसनमिच्छाति शयनमिच्छातीति।

फिर भी 'आसनम् इच्छति' इत्यादि में ल्युडन्तप्रकृतिक सुबन्त से (उपर्युक्त सभी दोषों का अभाव होने से) सन् को प्राप्त होने से नहीं रोका जा सकेगा, क्योंकि ल्युट् भावमात्र में विहित है न कि इच्छार्थक धातुओं के उपपद रहते, और धातुवाच्य क्रिया की अपेक्षा से समानकर्तृकत्व भी है।

इह यो विशेष उपाधिर्वोपादीयते द्योत्ये[२] तस्मिंस्तेन[३] भवितव्यम्। यश्चेहार्थो गम्यते– आसितुमिच्छति शयितुमिच्छतीति स्वयं तां क्रियां कर्तुमिच्छतीति; नासाविह गम्यते– आसनमिच्छति शयनमिच्छतीति। अन्यस्याप्यासनमिच्छतीत्येषोऽप्यर्थो गम्यते। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्। यो हि मन्यतेऽद्योत्ये तस्मिंस्तेन भवितव्यमिति क्रियमाणेऽपि तस्य धातुग्रहण इह प्रसज्येत संगतमिच्छति देवदत्तो यज्ञदत्तेनेति।

यहाँ जो विशेष (विशेषण) अथवा उपाधि का ग्रहण किया गया है, उसके (वृत्ति के द्वारा अर्थात् सनन्त शब्द के द्वारा) द्योतित (शब्दजन्यबोध का विषय) होने पर ही सन् प्रत्यय को होना चाहिये। जो यहाँ आसितुमिच्छति या शयितुमिच्छति से अर्थ गम्यमान है वह इस रूप में है कि स्वयं उस क्रिया को करना चाहता है। केवलमात्र यह अर्थ आसनमिच्छति, शयनमिच्छति में गम्यमान नहीं होता। क्योंकि यहाँ अन्य के भी आसन (बैठना क्रिया) को चाहता[४] है या चाह रहा है कि वह बैठ जाये ऐसा अर्थ गम्यमान है।

---

१. समीपोच्चारितम् पदम् उपपदम्।

२. तस्मिन् = उपाधौ विशेषे वा – स च समानकर्तृकादिच्छायामिति।

३. तेन = सना,

४. अर्थात् चाह सकता है।

महाभाष्य

यह बात अभी ऊपर बताये गये रूप में हमें अवश्य ही जाननी होगी। जो यह मानता है कि उपाधि का अर्थ प्रत्ययान्त शब्द से द्योतित (शब्द जन्य बोध का विषय) न होने पर भी अर्थात् वृत्तिसमानार्थक विग्रहवाक्य के न होने पर भी सन् हो सकता है उसके अनुसार तो धातुग्रहण किये जाने पर भी 'संगतमिच्छति देवदत्तो यज्ञदत्तेन' (यज्ञदत्तकर्तृक संगति को देवदत्त चाहता है) इस प्रयोग में सन् की प्रसक्ति होने लगेगी। जो कि इष्ट नहीं है। जब तो संगन्तुमिच्छति देवदत्तो यज्ञदत्तेन-विवक्षा होगी तब तो इच्छा के साथ समानकर्तृकत्व होने से सन् हो ही जायेगा।

प्रत्ययान्तवाच्य जो अर्थ होता है वह 'उपाधि' कहा जाता है, साथ में जो समानशब्दवाला भी हो। जैसे 'हरतेर्दृतिनाथयो: पशौ' ३.१.२५ यहाँ पशु उपाधि है, यह अर्थ प्रत्ययान्त दृतिहरि शब्द का वाच्यभूत अर्थ है। प्रकृत में इच्छति के साथ समानकर्तृक जो कर्म का अवयवभूत धातु उससे इच्छा अर्थ में सन् का विधान किया जा रहा है। इसको हम सन् की उपाधि भी कह सकते हैं और विशेष भी। यद्यपि अन्यत्र[१] उपाधि और विशेष को भिन्न-भिन्न रूप में व्यवहृत किया गया है पर यहाँ दोनों का अभेद मानकर ही प्रयोग हुआ है। वस्तुत: समानकर्तृकत्व और इच्छा रूप अर्थ सन् प्रत्यय के विशेष हैं। इसीलिये कैयट ने कहा है '----समानकर्तृकत्वलक्षणं विशेषम्------।'

प्रकृतभाष्य का भाव यह है– वृत्ति और वाक्य (विग्रहवाक्य) को समानार्थक होना चाहिये। जैसे कि आसितुमिच्छति और आसिसिषते दोनों एक ही अर्थ को कहते हैं। लेकिन 'आसनमिच्छति' इस विवक्षा में 'किमात्मन आसनमिच्छत्यथ परस्य' क्या अपने बैठने की क्रिया को चाहता है या दूसरे की– ऐसा संदेह बने रहने से सूत्रगत समानकर्तृकत्व रूप अर्थ का सम्यग् बोध नहीं हो पाता– इसलिये आसन शब्द से (सूत्र में धातुग्रहण न करने पर भी) सन् प्रत्यय नहीं होगा। क्योंकि विग्रह में समानकर्तृकत्व लक्षण अर्थ की अप्रतीति होने से इससे (अर्थात् आसन शब्द से) उत्पद्यमान सन् समानकर्तृकत्व लक्षण विशेष (विशेषणभूत अर्थ को) अपने अन्दर समाविष्ट करने में समर्थ नहीं है। तुमुनन्त विग्रहवाक्य में यह समस्या नहीं आती– क्योंकि 'समानकर्तृकेषु तुमुन्' ३.३.१५८ सूत्र के नियम से समानकर्तृकत्व अर्थ के होने पर ही तुमुन् विहित है, इसलिये समानकर्तृकत्व विषय वाले सन् का वह विग्रहवाक्य ठीक बैठता है। भावविषयक ल्युडन्त में समानकर्तृकत्व रूप अर्थ के अनिश्चित होने से सन् के लिये वह विग्रहवाक्य उपयुक्त नहीं है, अर्थात् आसनशब्दगर्भवाला विग्रहवाक्य समानकर्तृकत्व की निश्चित प्रतीति कराने में अक्षम है– इस कारण उससे सन् की अनुत्पत्ति का ही अनुमान किया जायेगा।

---

१. जैसे 'गोत्रचरणाच्छ्लाघा०' ५.१.१३३ यहाँ श्लाघादि को वुञ् की उत्पत्ति में निमित्त माना गया है, पर वे प्रत्ययान्तवाच्य अर्थ नहीं हैं। उपाधि पदान्तराभिधेय नहीं होती। लेकिन विशेषणभूत अर्थ पदान्तराभिधेय होता है। हमें वुञ् के प्रसङ्ग मे 'श्लाघते' ऐसा प्रयोग करना ही होगा। केवल 'गार्गिकया' मात्र नहीं बोल सकते।

भाष्य में जो यह कहा गया कि वृत्ति के द्वारा उपाधि के उद्योतन में भी यदि सन् हो जाये तो धातुग्रहण करने पर भी 'संगतमिच्छति देवदत्तो यज्ञदत्तेन' यहाँ सन् होने लगेगा– इसको इस रूप में समझना चाहिये कि केवल धातु का तो प्रयोग होता नहीं है– इसलिये भाववाची क्तप्रत्यय को पकड़कर दोष को उपस्थापित किया गया है। कहा यही जा रहा है कि इस विवक्षा में धातु से सन् होने लगेगा जो कि अनिष्ट है। सो धातुग्रहण करें या न करें यह द्वितीय कोटी की बात है। प्रथम कोटी की बात है– 'समानकर्तृकादिच्छायाम्' इस उपाधि के अर्थ को महत्त्व देना। इस प्रकार 'समानकर्तृकादिच्छायाम्' इस उपाधि के बल से अनिष्टव्यावृत्ति हो जाने से धातुग्रहण करना व्यर्थ ही है।

कर्मसमानकर्तृकग्रहणानर्थक्यमिच्छाभिधाने प्रत्ययविधानात्।।६।।

(भाष्यम्) कर्मसमानकर्तृकग्रहणमनर्थकम्। किं कारणम्? इच्छाभिधाने प्रत्ययविधानात्। इच्छायामभिधेयायां सन् विधीयते।

सूत्र में 'कर्मण:' तथा 'समानकर्तृकाद्' ऐसा विशेषण डालना भी व्यर्थ है। किस कारण से व्यर्थ है? क्योंकि इच्छा को कहने के लिये सन् प्रत्यय का विधान किया जा रहा है (उसी से हमारा इष्ट सिद्ध हो जायेगा)।

अकर्मणो ह्यसमानकर्तृकाद्वानभिधानात्।।७।।

(भाष्यम्) इच्छायामभिधेयायां सन् विधीयते। न चाकर्मणोऽसमानकर्तृकाद्वोत्पद्यमानेन सनेच्छाया अभिधानं स्यात्। अनाभिधानात् [१]तत उत्पत्तिर्न भविष्यति।

धातुग्रहण का 'कर्मण: समानकर्तृकाद् इच्छायां वा' इतने ही सूत्र के आधार पर खण्डन (प्रत्याख्यान) करने पर, अब अनभिधान के आधार पर 'कर्मण: समानकर्तृकाद्' का भी प्रत्याख्यान करने का इच्छुक कहता है–

इच्छा के अभिधेय होने पर सन् का विधान किया जा रहा है। अकर्म से या असमानकर्तृक से उत्पद्यमान सन् के द्वारा इच्छा का अभिधान हो नहीं सकता। इसलिये अनभिधान के कारण उससे (कर्मभिन्न से या असमानकर्तृक से) उत्पत्ति नहीं होगी।

प्रकृत भाष्य का भाव यह है– इच्छा के सकर्मक होने से अर्थात् सविषय होने से कोई न कोई कर्म तो होगा ही। यदि कोई भी एष्टव्य विषय नहीं है तो सीधा सा गणित है इच्छा भी नहीं है और दूसरी तरफ इच्छा है तो उसका विषय भी है। इस प्रकार जो विषय होगा वही कर्म रूप में अभिहित हो जायेगा और साथ में प्रकृत्यर्थ के कर्ता को ही इच्छा में और इच्छा के कर्ता को ही प्रकृत्यर्थ में आश्रय किया जायेगा, क्योंकि इसके अतिरिक्त किसी अन्य की कल्पना करने में कोई ऐसा प्रमाण तो हमारे पास है नहीं इसलिये निकटवर्ती अर्थ की ही अपेक्षा संगत समझी जायेगी।

---

१. अकर्मणोऽसमानकर्तृकाद्वा।

महाभाष्य

इस प्रकार कर्म से अतिरिक्त 'गमनेनेच्छति' इत्यादि में सन् की अतिव्याप्ति का प्रसङ्ग उपस्थित नहीं होगा। यद्यपि करण में भी इच्छा की अपेक्षा सम्भव तो है, पर वह नियत नहीं है जैसी कि कर्मापेक्षा प्रसिद्धतर या निकटतर या नियमत: है इसलिये कर्म से ही सन् की उत्पत्ति होगी। और प्रत्यासत्ति के कारण ही 'देवदत्तस्य भोजनमिच्छति' (देवदत्तकर्तृक भोजन को यज्ञदत्त चाहता है) इत्यादि भिन्नकर्तृकस्थलों में भी सन् नहीं होगा। लेकिन यदि व्याप्ति न्याय का भी आश्रय किया जाये तो भी चूँकि शब्द नित्य हैं सो किसी अर्थ को कहने के लिये जब साधु और असाधु दोनों प्रकार के शब्दों का प्रयोग प्राप्त होने लगा तो असाधुशब्दों से साधुशब्दों का विभाग करने के लिये ही तो व्याकरण का आरम्भ है। इस स्थिति में 'गमनेनेच्छति' और 'देवदत्तस्य भोजनमिच्छति' इस अर्थ में– 'जिगमिषति और 'बुभुक्षते' ऐसा प्रयोग देखा ही नहीं जाता तो उनकी निवृत्ति के लिये सूत्र में 'कर्मण:' और 'समानकर्तृकाद्' रूप विशेषोपादान (विशेषणोपादान) की क्या आवश्यकता है।

अब 'इच्छायां वा' इतना सूत्र बनाने पर अनभिधान से अतिप्रसङ्ग वारित होने पर भी अङ्गपरिमाण के लिये तथा सन् की आर्धधातुक संज्ञा लाभ के लिये धातुग्रहण करना ही चाहिये– इस आशय से वार्तिककार कहता है–

अङ्गपरिमाणार्थन्तु ।।८।।

(भाष्यम्) अङ्गपरिमाणार्थं तर्ह्यन्यतरत्कर्तव्यं कर्मग्रहणं धातुग्रहणं वा। अङ्गपरिमाणं ज्ञास्यामीति। किं पुनरत्र ज्याय:? धातुग्रहणमेव ज्याय:। अङ्गपरिमाणं चैव विज्ञातं भवत्यपि च धातोर्विहित: प्रत्यय: शेष आर्धधातुकसंज्ञो भवतीति सन आर्धधातुकसंज्ञा सिद्धा भवति।

अच्छा तो अङ्ग संज्ञा के परिमाण का ज्ञान करने के लिये धातु ग्रहण का कर्मग्रहण (कर्मग्रहण यहाँ समानकर्तृकग्रहण का भी उपलक्षण है) में से किसी एक का ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि ऐसा करने से अङ्ग का परिमाण स्पष्टरूप से जान लूँगा।

इन दोनों में से किसका ग्रहण करना अधिक प्रशस्त है? धातुग्रहण करना ही अधिक लाभप्रद है। उससे अङ्गपरिमाण तो जान ही लिया जायेगा। साथ में एक और भी आनुषङ्गिक लाभ मिल जाता है कि धातु विहित प्रत्यय (धातुशब्द का उच्चारण करके विहित) जो प्रत्यय तिङ् और शित् से शेष हैं, उसकी (उन्हीं की) आर्धधातुकसंज्ञा होती है– इस प्रकार सन् की आर्धधातुकसंज्ञा सिद्ध हो जाती है।

'इच्छायां वा' इतना कहने पर भी यद्यपि प्रत्ययपरत्व के द्वारा पूर्व में प्रकृति का आक्षेप हो जाता है– क्योंकि जब प्रत्यय होगा तो वह किसी न किसी से तो परे होगा ही– जिससे परे होगा वही प्रकृति कही जायेगी और वह भी प्रत्यासत्ति से जैसा कि ऊपर बतलाया गया कर्मबोधक ही गृहीत होगी। इस प्रकार विना धातुग्रहण अथवा कर्मग्रहण के भी अङ्गपरिमाण तो ज्ञात हो ही जायेगा; लेकिन उस अवस्था में 'प्राचिकीर्षत्' इत्यादि में सोपसर्ग धातु का अङ्गत्व प्राप्त होने लगेगा। सो उसके लिये साक्षाद् विशिष्ट प्रकृति का निर्देश करने पर ही

अभीष्ट अङ्गपरिमाण (उपसर्गरहित का अङ्गत्व) ज्ञात हो सकेगा। भाष्य में कहे गये '----अन्यतरत्कर्त्तव्यम्-----' 'अन्यतरत्' शब्द पर विचार किया जा रहा है।

कैयट का कहना है– 'धातोः' 'कर्मणः' और 'समानकर्तृकाद्' तीनों का ही इससे पूर्व प्रत्याख्यान हो चुका है– इसलिये 'अन्यतमम्' कहना चाहिये था– क्योंकि दो के निर्धारण में अन्यतरशब्द और बहुतों के निर्धारण में अन्यतमशब्द रूढ हैं। फिर जो ऐसा कहा– उसमें भाष्यकार का यह अभिप्राय है कि 'समानकर्तृकाद्' की तो सर्वथा ही आवश्यकता नहीं है। कैयट के इस कथन की व्याख्या नागेश इस रूप में करता है कि उत्तरसूत्र में ग्रहण किया गया 'आत्मनः' इसी सूत्र में पढ़ देना चाहिये। 'इच्छा में आत्मनः' इसके कर्तृत्वेन अन्वित होने से तथा अन्तरङ्गहेतु से धातु में भी उसी सम्बन्ध से (अर्थात् कर्तृसम्बन्ध से) अन्वय होने से- इस प्रकार (समानकर्तृकाद् इसके न कहने पर भी) प्रत्यासत्ति से दोनों कर्ताओं के एकत्व में ही प्रकृतसूत्र की प्रवृत्ति होगी। प्रदीपव्याख्याकार श्री नारायण का कहना है– अङ्गसंज्ञा का निमित्तत्व 'कर्मणः' या 'धातोः' इन दो का ही है– इस दृष्टि से भाष्यकार ने अन्यतरत् कह दिया है। शिवरामेन्द्र सरस्वती का मानना है– 'कर्मणः यह समानकर्तृकाद्' का भी उपलक्षण है, इसलिये 'कर्मणः समानकर्तृकाद्' यह एक अर्थ और 'धातोः' यह एक अर्थ– इस प्रकार इस रूप में दो के निर्धारण में 'अन्यतरत्' कहा गया है।

धातुग्रहण को ही भाष्यकार ने अधिक प्रशस्त इस दृष्टि से कहा– क्योंकि आर्धधातुकसंज्ञा धातुशब्द का उच्चारण करके विहित प्रत्ययों की ही कही गयी है। इसीलिये गुप्तिज्किद्भ्यः सन् तथा मान्बधदान्० सूत्रों से कहे गये सन् की आर्धधातुकसंज्ञा न होने से 'जुगुप्सते' इत्यादि में 'आर्धधातुकस्येड्' ७.२.३४ से इट् (आगम) नहीं होता। इस सूत्र से (अर्थात् 'धातोः कर्मणः०' सूत्र से) विहित सन् के आर्धधातुक होने से 'शिशयिषते' में इट् और गुण हो जाते हैं। यद्यपि यहाँ यह कहा जा सकता है कि 'इको झल्' १.२.९ का सन् को कित्त्वविधान आर्धधातुक निमित्तक गुणनिषेध के लिये होने से सन् की आर्धधातुकसंज्ञा होती है इस अर्थ में ज्ञापक हो जायेगा। पर इसमें कठिनाई यह आती है कि ज्ञापक को यदि सामान्यापेक्ष मानते हैं तो सर्वत्र (आर्धधातुक) संज्ञा की प्रसक्ति होने लगेगी, फिर जुगुप्सते में भी सन् आर्धधातुक बनने लगेगा। और यदि सामान्यापेक्ष न मानकर ज्ञापक को विशेषापेक्ष मानते हैं तो इगन्त प्रकृति से ही उत्तर सन् की आर्धधातुकसंज्ञा हो पायेगी। इसलिये इस सूत्रविहित सन् की आर्धधातुकसंज्ञा करने के लिये प्रकृत सूत्र में धातुग्रहण करना ही पड़ेगा और कोई रास्ता नहीं है।

यच्चाप्येतदुक्तं कर्मग्रहणात्सन्विधौ धातुग्रहणानर्थक्यं सोपसर्गं कर्मेति चेत् कर्मविशेषकत्वादुपसर्गस्यानुपसर्गं कर्म सोपसर्गस्य हि कर्मत्वे धात्वधिकारेऽपि सनोऽविधानमकर्मत्वादिति स्वपक्षोऽनेन वर्णितः। युक्तमिह द्रष्टव्यं-किं न्याय्यं कर्मेति।

महाभाष्य

अब धातुग्रहणप्रत्याख्यानवादी के द्वारा जो अनुपसर्ग का कर्मत्व व्यवस्थापित किया गया, उसका निराकरण करके इस अनभिधान आश्रयण पक्ष में सोपसर्ग के ही कर्मत्व को व्यवस्थापित करने के लिये भाष्यकार कहते हैं– जो यह पहले कहा गया कि (सन्विधायक सूत्र में) कर्मग्रहण करने से धातुग्रहण अनर्थक है। क्योंकि यदि सोपसर्ग ही कर्म हो तो उपसर्ग के कर्म के (अर्थात् क्रिया के) विशेषक होने से अर्थात् उपसर्ग के द्वारा कर्म को (क्रिया को) विशेषित किये जाने से कर्म तो (उपसर्गरहित) ही है। क्योंकि यदि सोपसर्ग समुदाय को ही कर्म मान लिया जाये तो धातु का अधिकार (अधिक ग्रहण) करने पर भी (अवयव के) अकर्म होने से उससे सन् की विधि नहीं हो सकेगी (और उसके परिमाणस्वरूप प्रकर्तुमैच्छत् प्राचिकीर्षत् आदि में द्विर्वचन और अडादि की अव्यवस्था होने लगेगी)। अजी! इन्होंने यह तो स्वपक्ष का वर्णन किया है, अर्थात् परपक्ष का खण्डन करने के आवेश में जो मन में आया कह डाला। पर अब हमें हस संदर्भ में जो युक्त है– उसे देखना है कि न्याय्य (न्यायोचित) कर्म क्या है? अर्थात् सोपसर्ग समुदाय को न्याय्य कर्म कहें या उपसर्गरहित को?

एतच्चात्र युक्तं यत् सोपसर्गं कर्म स्यात्।

यहाँ यही युक्त लगता है कि सोपसर्ग को ही कर्म माना जाये। क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा सोपसर्ग से ही विशिष्ट क्रिया कही जाती है, इसलिये उसी का कर्मत्व न्याय है।

इसका भाव यह है– धातु-उपसर्ग संघात के द्वारा ही क्योंकि विशिष्ट क्रिया का बोध होता है इसलिये अर्थद्वारक उसी का कर्मत्व है। अर्थात् उपसर्गार्थविशिष्ट धात्वर्थ ही कर्म है। उपसर्ग से द्योत्य जो अर्थ है तद्विशिष्ट ही क्रिया साधन के द्वारा निष्पन्न (निर्वृत्त) की जाती है, न कि पहले तो सामान्य रूप से उत्पन्न हो जाती है और फिर उसके साथ विशेषार्थ का योग होता है।

सो इस स्थिति में यद्यपि धातु वाचक है और उपसर्ग उसके द्योतक तथापि धातुग्रहण न करने पर चूँकि [१]वाचकद्योतकविभाग को यहाँ शब्द से प्रतिपादित नहीं किया गया है– इसलिये कर्मबोधक संघात प्रकृ इत्यादि से ही उत्पत्ति होने लगेगी और जो उपपदमतिङ् २.१.१९ सूत्र पर यह कहा गया है कि 'साधनं हि क्रियां निर्वर्तयति तामुपसर्गो विशिनष्टि' वह पक्षान्तर[२] होने से प्रकृतभाष्य के साथ उसका अविरोध है। अथवा अन्यत्र तो यही नियम है कि पहले धातु का साधन के साथ योग होता है और बाद में उपसर्ग के साथ, पर प्रकृत में इच्छति का कर्मत्व विशिष्टक्रिया (उपसर्गार्थविशिष्टक्रिया) का ही स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि धातु का इच्छत्यर्थक सन् के साथ सम्बन्ध की अपेक्षा उपसर्गसम्बन्ध अन्तरङ्ग है, इसलिये सन् से पहले उपसर्ग के साथ सम्बन्ध होने पर धातुग्रहण न करने पर सोपसर्ग से सन् का उत्पत्तिप्रसङ्ग होने ही लगेगा।

---

१. वाचकादेवोत्पत्तिर्न द्योतकादिति विभागः शब्देन न प्रतिपादित इत्यर्थः।

२. 'पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण'। यद्यपि इस सिद्धान्त में भी धातु और उपसर्ग का आर्थसम्बन्ध तो पहले ही हो जाता है। शाब्दसम्बन्ध ही बाद में किया जाता है। अर्थात् उस-उस विशिष्ट अर्थ में वह मूल धातु ही वर्तमान होता है।

ननु चोक्तं– 'सोपसर्गस्य हि कर्मत्वे धात्वधिकारेऽपि सनोऽविधानमकर्मत्वादिति'। नैष दोषः। कर्मण इति नैषा धातुसमानाधिकरणा पञ्चमी। कर्मणो धातोरिति। किं तर्हि? अवयवयोगैषा षष्ठी। कर्मणो यो धातुरवयव इति।

लेकिन अभी जो कहा कि यदि सोपसर्ग का कर्मत्व स्वीकार किया जायेगा तो सूत्र में धातु का ग्रहण करने पर भी (कृ अवयव से) सन् की विधि नहीं बन पायेगी– क्योंकि फिर वह धातु-उपसर्ग समुदाय प्रकृ ही कर्म माना जायेगा न कि उसका अवयव केवल कृ धातु। नहीं! यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि 'कर्मणः' इस पद में 'धातोः' के साथ समानाधिकरण पञ्चमी नहीं है कि 'कर्मभूत धातु से' तो क्या है? अवयव सम्बन्ध वाली षष्ठी है– 'कर्म का अवयव जो धातु' इस रूप में 'कर्मणः' 'धातोः' के साथ अन्वित है। बहुलक्ष्यसम्बन्धलाभ के लिये व्याख्यान से 'कर्मणः' इस पद में षष्ठी का ही आश्रय किया जायेगा न कि पञ्चमी का। क्योंकि पञ्चमी मानने पर अनुपसर्ग कर्तुमिच्छति कृ से ही उत्पत्ति हो पायेगी न कि सोपसर्ग प्रकर्तुमिच्छति के कृ से। षष्ठीपक्ष में सोपसर्ग और अनुपसर्ग दोनों से सन् उत्पत्ति सिद्ध हो जाती है।

नागेश ने 'परे तु' कहते हुये इस प्रकरण का इस रूप में उपसंहार किया– 'गतिर्गतौ' ८.१.७० सूत्रभाष्य कैयटोक्तरीति से तथा 'उपपदमतिङ्' २.२.१९ सूत्रोक्तरीति से 'चिकीर्षति' ऐसा सिद्ध करने के बाद 'प्र' आदि उपसर्ग के साथ योग होने से सब इष्ट सिद्धि हो जाने से प्रकृतसूत्र में धातुग्रहण अनर्थक ही है। 'युक्तं यत् सोपसर्गं कर्म' यही इस प्रकरण में सिद्धान्ती की उक्ति है– 'उपसर्गार्थविशिष्टधात्वर्थ ही कर्म है' ऐसा उसका अर्थ है। 'समानकर्तृकाद्' इस कथन से सन्नन्त को कारक के साथ इस उपसर्गार्थविशिष्टधात्वर्थ रूप कर्म का सम्बन्ध होने पर ही चूँकि साध्यत्व की प्रतीति होगी और 'प्रादय उपसर्गाः क्रियायोगे' १.४.५८ इस नियम से साध्यत्वेन प्रतीयमान अर्थ के साथ सम्बन्ध होने पर ही प्रादियों की उपसर्ग यह आख्या (संज्ञा) प्राप्त हो सकेगी। नागेश का कहना है– यह सब न जानते हुये शङ्किता के द्वारा यह कहा गया है कि 'सोपसर्गस्य हि कर्मत्वे०---'। और उसका एकदेशी के द्वारा 'कर्मण इत्यवयवषष्ठी' ऐसा उत्तर दिया गया। यदि कैयटोक्तरीति से सन् उत्पत्ति से पहले उपसर्गसम्बन्ध किया जायेगा तो जो उपपदमतिङ् सूत्र भाष्य में कहा गया है कि 'यहाँ (अर्थात् ऐसे प्रसंगो में) धातु-उपसर्ग के समास को रोक पाना कठिन हो जायेगा'– भाष्यकार के उस कथन के साथ विरोध होने लगेगा।

हमारे विचार में 'कर्मणः' पद में 'धातोः' के साथ समानाधिकरण पञ्चमी भी माने या 'धातोः' ग्रहण न भी करें तो भी चुरादिगण में संग्राम धातु के पाठ से यह ज्ञापित किया गया है कि 'धातूपसर्गसमुदायात् प्रत्यये विधित्सित उपसर्गाः पृथक्क्रियन्ते' इस नियम से कर्मबोधक संघात से भी कहा गया सन् धातुमात्र से ही होगा।

यद्यवयवयोगैषा षष्ठी केवलादुत्पत्तिर्न प्राप्नोति-चिकीर्षति जिहीर्षतीति।

महाभाष्य

यदि 'कर्मण:' इस पद में अवयवयोगा (अवयव-अवयविसम्बन्ध) में षष्ठी मानते हैं तो चिकीर्षति जिहीर्षति आदि प्रयोगों में केवल 'कृ' या 'हृ' आदि धातुओं से अवयव-अवयविभावसम्बन्ध के न बन पा सकने के कारण सन् की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि कृरूप कर्म (अवयवी) का अवयव वही कृ धातु कैसे हो सकती है?

एषोऽपि व्यपदेशिवद्भावेन कर्मणो धातुरवयवो भवति।

यह भी व्यपदेशिवद्भाव[1] से कर्म का अवयव धातु हो सकता है। अभेद में भी भेदोपचार के देखे जाने से उक्त अर्थ प्राप्त कर लिया जायेगा– जैसे कि 'राहो: शिर:' ऐसा प्रयोग होता है– राहु और केतु में राहु शिर है और केतु धड़, पर फिर भी 'राहु का शिर' ऐसा व्यवहार होता है। इसी प्रकार प्रकृत में भी जैसे प्रकृ कर्म का अवयव कृ धातु है उसी प्रकार कृ धातु को कृ कर्म का अवयव मान कर उपसर्गरहित केवल कृ कर्म से भी सन् सिद्ध हो जायेगा।

कामं तर्ह्यनेनैव हेतुना क्यजपि कर्तव्य:।

महान्तं पुत्रमिच्छतीति। कर्मणो यत्सुबन्तमवयव इति।

बेशक फिर तो इसी हेतु से ('कर्मण:' यह षष्ठ्यन्त मानने से) 'महान्तं पुत्रमिच्छति' इस प्रयोग में 'सुप आत्मन: क्यच्' ३.१.८ इस अग्रिम सूत्र से क्यच् भी कर देना चाहिये– क्योंकि यहाँ भी 'कर्म का जो सुबन्त अवयव' इस अर्थ के अनुसार 'महान्तं पुत्रम्' इस कर्म का 'पुत्रम्' यह सुबन्त अवयव बन रहा है।

न कर्तव्य:। असामर्थ्यान्न भविष्यति।

कथमससामर्थ्यम्? सापेक्षमसमर्थं भवतीति।

नहीं! यहाँ तो क्यच् नहीं करना चाहिये। असामर्थ्य के कारण यहाँ उक्त स्थल में क्यच् नहीं हो सकेगा। यदि यह पूछो कि असामर्थ्य कैसे है? तो उसका उत्तर है– सापेक्ष असमर्थ होता है।

सुबन्त से क्यच् विधान होने से यह पदविधि हो जाती है और जहाँ-जहाँ पदसम्बन्धी कार्य करना होता है, वहाँ-वहाँ समर्थ: पदविधि: २.१.१ परिभाषा उपस्थित हो जाया करती है। इसलिये समर्थ सुबन्त से ही क्यच् का विधान सम्भव है। यहाँ जो 'पुत्रम्' कर्म है उसे 'महान्तम्' अर्थ की अपेक्षा होने से सापेक्ष हो गया है और ऐसा नियम है जो सापेक्ष होता है वह असमर्थ होता है, सो इस हेतु से क्यच् नहीं हो सकेगा।

---

१. व्यपदेश:=मुख्यव्यवहार:, व्यपदेशोऽस्यास्तीति व्यपदेशी, तेन तुल्यं वर्तते व्यपदेशिवद् तच्चासौ भाव:=व्यपदेशिवद्भाव:।

पर सन् विधि में तो पदविधि का अभाव होने से समर्थपरिभाषा के उपस्थित न होने से सापेक्ष[१] से भी सन् की उत्पत्ति हो जायेगी। अथवा एक और भी समाधान है– धातु ही विशिष्टक्रिया को कहती है अर्थात् कर्तुम् का ही प्रकर्तुम् यह अर्थ भी है– उपसर्ग तो धातुगत अर्थ को ही द्योतितमात्र कर देता है। सो जिस पृथगुपस्थित हुये हुये की दूसरे को अपेक्षा होती है वही सापेक्ष शब्द की कार्यसीमा में आ सकता है। प्रकृत में प्रकृष्ट अर्थ धातु से पृथग्भूत नहीं है– इसलिये यहाँ धातु को सापेक्ष नहीं कह सकते। इस दिशा से यदि विचार किया जाता है तो यह भी प्रतिफलित होता है कि अनुपसर्ग का अकर्मत्व कहना अत्यन्त असङ्गत है (अभी जो ऊपर कहा गया था कि सोपसर्ग को यदि कर्म मानेगें तो अवयव अकर्म रहेगा और उससे सन् नहीं हो पायेगा– यह कथन निरस्त हो गया है)।

वावचनानर्थक्यं च तत्र नित्यत्वात् सनः।।९।।

(भाष्यम्) वावचनं चानर्थकम्। किं कारणम्? 'तत्र नित्यत्वात् सनः'। इह द्वौ पक्षौ वृत्तिपक्षश्चावृत्तिपक्षश्च। स्वभावतश्चैतद्भवति– वाक्यं च प्रत्ययश्च। तत्र स्वाभाविके वृत्तिविषये नित्ये प्रत्यये प्राप्ते वावचनेन किमन्यच्छक्यमभिसम्बन्द्धुमन्यदतः संज्ञायाः। न च संज्ञाया भावाऽभावाविष्येते। तस्मान्नार्थो वावचनेन।

सन् विधायक सूत्र में 'वा' का कथन करना अनर्थक है। क्या कारण है? कारण यह है कि सन् नित्य है। यहाँ दो पक्ष हैं– एक वृत्तिपक्ष दूसरा अवृत्तिपक्ष। और यह स्वभावतः ही ऐसा होता है कि एक बार वाक्य रहे और एक बार प्रत्यय हो जाये। तो वहाँ स्वाभाविक वृत्तिविषय में नित्य प्रत्यय की प्राप्ति होने पर वावचन के द्वारा (प्रत्यय) इस संज्ञा को छोड़कर ऐसा और क्या हो सकता है जिसे सम्बद्ध किया जा सके। लेकिन साथ में यह भी है कि संज्ञा का भाव और अभाव इष्ट नहीं है अर्थात् एक बार सन् की प्रत्यय संज्ञा हो जाये और एक बार न हो ऐसा अभीष्ट नहीं है। इसलिये वावचन का कोई प्रयोजन नहीं है।

वृत्ति एकार्थीभावविषयवाली होती है और वाक्य व्यपेक्षा विषयवाला, इस प्रकार दोनों का अलग-अलग विषय होने से परस्पर इन दोनों में बाध्यबाधक भाव नहीं होता। यदि यह कहा जाये कि पदविधि न होने से समर्थपरिभाषा के सन्विधि में अनुपस्थित रहने से इसका एकार्थीभाव विषयत्व कैसे बन सकेगा तो यही कहना होगा कि इसी भाष्यप्रमाण्य से इसकी भी एकार्थीभाव में ही प्रवृत्ति होती है।

तुमुनन्ताद्वा तस्य च लुग्वचनम्।।१०।।

(भाष्यम्) तुमुनन्ताद्वा सन् वक्तव्यस्तस्य च तुमुनो लुग् वक्तव्यः। कर्तुमिच्छति चिकीर्षति।

अथवा तुमुनन्त से सन् कहना चाहिये और साथ में यह भी कहना चाहिये कि उस तुमुन् का लुक् भी हो जाता है।

---

१. अर्थात् 'कर्तुम्' को 'प्र' के अर्थ की अपेक्षा होने पर भी।

कर्तुमिच्छति चिकीर्षति।

वार्तिककार न्यासान्तर उपस्थापित कर रहे हैं। उनका भाव है– यदि उपर्युक्त लक्षण बनाया जाये तो वह लघु भी रहेगा और समझने में सरल भी, इच्छाग्रहण तो प्रत्ययार्थनिर्देश के लिये करना ही चाहिये। वचनसामर्थ्य से उपपद श्रवण को (अर्थात् 'इच्छति' इस प्रयोग को) बाधकर पक्ष में उसके अर्थ में सन् होगा। यहाँ एक समस्या आ सकती है कि तुमुनन्त के पद होने से तुमुन् का लुक् करने पर 'हन्तुमिच्छामि जिघांसति' आदि में नलोपादि कार्य प्राप्त होने लगेंगे। इसका समाधान है– तुमुन् का लुक् सन् सापेक्ष होने के कारण बहिरङ्ग होने से अन्तरङ्ग नलोप करने में असिद्ध हो जायेगा। इस सूत्र न्यास में धातु शब्द का उच्चारण करके सन् का विधान न होने से आर्धधातुकसंज्ञा नहीं प्राप्त होती, सो उसके लिये इष्टसिद्ध्यर्थ 'इको झल्' १.२.९ का कित्त्वविधान ज्ञापक के रूप में आश्रय कर लेना चाहिये।

'इको झल्' में इच्छासन् के ही सम्भव होने से उन सब की आर्धधातुक संज्ञा होती है– ऐसा ज्ञापित किया जायेगा, इसलिये अप्रसङ्ग या अतिप्रसङ्ग नहीं होगा।

लिङुत्तमाद्वा।।११।।

(भाष्यम्) लिङुत्तमाद् वा सन् वक्तव्यः। तस्य च लिङो लुक् वक्तव्यः। कुर्यामितीच्छति चिकीर्षति।

वार्तिककार एक और लघु न्यास का सुझाव दे रहे हैं– अथवा उत्तमपुरुष से सम्बन्धित लिङ् (विधि लिङ्) से सन् कहना चाहिये। और उस लिङ् का लुक (भी) कह देना चाहिये। **कुर्यामितीच्छति चिकीर्षति**।

यहाँ विग्रह में लिङ् के अर्थ के स्वरूप का अवधारण करने के लिये 'इति' शब्द का प्रयोग किया जायेगा।

आशङ्कायामचेतनेषूपसंख्यानम्।।१२।।

(भाष्यम्) आशङ्कायामचेतनेषूपसंख्यानं कर्तव्यम्। अश्मा लुलुठिषते, कूलं पिपतिषतीति।

किं पुनः कारणं न सिध्यति? एवं मन्यते, चेतनावत एतद्भवति– 'इच्छे'ति कूलं चाचेतनम्।

अचेतन पदार्थों के विषय में आशङ्का में वर्तमान धातु से अर्थात् आशङ्काविशिष्टार्थाभिधायी धातु से स्वार्थ में सन् कहना चाहिये। अश्मा लुलुठिषते। कुलं पिपतिषति। ऐसा क्या करण है जो सिद्ध नहीं होता?

यह आचार्य वार्तिककार ऐसा मान रहा है कि यह इच्छा नाम का धर्म चेतनावाले का ही है, और कूल (किनारा अथवा अश्मा= प्रस्तर) अचेतन है।

यहाँ आशङ्का प्रकृत्यर्थ विशेषण है, इसका अर्थ है– सम्भावना। 'शङ्के कूलं पतिष्यति' ऐसा अर्थबोध होने के कारण उसे प्रयोक्ता का धर्म समझना चाहिये। 'लुलुठिषते' इस उदाहरण में 'रुठ लुठ प्रतीघाते' यह

द्युतादिगण में अनुदात्तेत् पढा है। 'रलो व्युपधाद्०' १.२.२६ से कित्त्व होने के कारण गुण नहीं हुआ है। सम्भावनाविषयक लोठन में भविष्यत्व की प्रतीति होने पर भी 'वर्तमानसामीप्ये०' ३.३.१३१ इस नियम से लट् कर दिया गया है।

अचेतनग्रहणेन नार्थः। 'आशङ्कायां'मित्येव। इदमपि सिद्धं भवति- श्वा मुमूर्षति।

भाष्यकार का कहना है– वार्तिक में 'अचेतनेषु' ऐसा पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। केवल 'आशङ्कायाम्' इतना ही पढ़ देना चाहिये। उससे यह भी सिद्ध हो जायेगा– श्वा मुमूर्षति। श्वा (कुत्ते) के चैतन्य होने पर भी जीवन के प्रिय होने से बेशक वह व्याधि इत्यादि से अभिभूत भी हो रहा है तो भी उसकी मरने की इच्छा नहीं कही जा सकती। मनुष्य के विषय में तो यह कहा जा सकता है कि वह दु:खी होकर मरना चाह रहा है– पर पशु योनि के लिये ऐसा नहीं कहा जा सकता।

न वा तुल्यकारणत्वादिच्छाया हि प्रवृत्तित उपलब्धिः।।१३।।

(भाष्यम्) न वा कर्तव्यम्। किं कारणम्? 'तुल्यकारणत्वात्'। तुल्यं हि कारणं चेतनावति देवदत्ते कूले चाचेतने। किं कारणम्? 'इच्छाया हि प्रवृत्तित उपलब्धिः'। इच्छाया हि प्रवृत्तित उपलब्धिर्भवति। योऽप्यसौ कटं चिकीर्षुर्भवति नासावघोषयति कटं करिष्यामीति। किं तर्हि? संनद्धं रज्जुकीलकपूलपाणिं दृष्ट्वा तत इच्छा गम्यते। कूलस्यापि पिपतिषतो लोष्टाः शीर्यन्ते, भिदोपजायते, देशाद्देशान्तरमुपसङ्क्रामति। श्वानः खल्वपि मुमूर्षव एकान्तशीला शूनाऽक्षाश्च भवन्ति।

'आशङ्कायामुपसंख्यानं कर्तव्यम्' ऐसा जो कहा– उसके कहने की आवश्यकता नहीं है। क्या कारण है? क्यों आवश्यकता नहीं है? विना कहे 'कूलं पिपतिषति' आदि उदाहरणों को कैसे सिद्ध कर पायेंगे? तुल्य कारण होने से सिद्ध हो जायेंगे। चेतनावान् देवदत्त में और अचेतन कूल में एक ही जैसा (तुल्य) कारण है। क्या है वह कारण? देखिये! इच्छा की प्रवृत्ति से उपलब्धि होती है। जो भी कोई (जब) कट (चटाई) बनाने का इच्छुक होता है– तो वह ढिंढोरा नहीं पीटता कि (सुनो भाई लोगो) मैं चटाई बनाऊँगा। तो क्या (करता है)? रज्जु-कील और पूले हाथ में हैं जिसके ऐसे उस सन्नद्ध (सज्जीभूत Ready, fully, equipped, armed) व्यक्ति को देखकर (अपने आप ही) उससे (उसकी) इच्छा का पता चल जाता है। गिरने की इच्छा करते हुये कूल (नदी-कूप-तडागादि के तट) के भी लोष्ट (मिट्टी के ढेले) शीर्ण होने लगते हैं, दरार (भिदा) पड़ने लगती है, और (सब कुछ) एक देश से दूसरे देश (स्थान) की ओर उपसंक्रमित (गतिशील) होने लगता है। कुत्ते भी जब मरने की तैय्यारी में होते हैं तो एकान्तशील हो जाते हैं, आँखें फूल जाती हैं या सूज जाती हैं। 'शून्याक्षाः' पाठ मानें तो विषयाग्राही हो जाती हैं– देखना बन्द कर देती हैं।

प्रकृतभाष्य के द्वारा अनुमान प्रमाण से इच्छा को सिद्ध किया जा रहा है। अनुमान त्रिविध है– पूर्ववत्,

शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट। सो यहाँ शेषवत् अनुमान से अर्थात् कार्य को देखकर उसके मूल कारण– उस उस विषयक या उस-उस प्रकार की इच्छा को जाना जा रहा है। इच्छा ही मूल कर्म है या दूसरे शब्दों में कर्म का आदि बिन्दु है। लोकव्यवहार में रोज हमें यह बात देखने को मिलती रहती है कि जो भी बाल-युवा-वृद्ध जैसी भी प्रवृत्तियों या चेष्टाओं में रहते हैं, उन-उन प्रवृत्तियों या चेष्टाओं से उनकी इच्छाओं का आकलन किया जाता रहता है। आजकल के मनौवैज्ञानिक शिक्षाविद् भी बालकों की इच्छाओं को ढूंढ निकालने के लिये सलाह देते हैं कि शान्तभाव से उनकी प्रवृत्तियों का अध्ययन करो। यदि वह हाथ में तूलिका (कमल आदि) लिये कुछ चित्र आदि बनाता रहता है तो उससे उसकी मूल इच्छा चित्रकारिता (painting) का पता सहज ही लग जाता है। हाथ से कुछ नयी-नयी रचना कुछ बनाना-बिगाड़ना करता रहता है तो शिल्पविषयक उसकी इच्छा का पता लगता है। कुछ गुनगुनाता रहता है तो उससे उसकी गायनविषयक इच्छा का पता लगता है। 'विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि' इत्यादि रूप प्रवृत्ति वाला है तो निश्चय ही उसकी इच्छा अपने अन्दर कुछ ढूंढ तलाश करने की है। विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः (योगसूत्र ४/२५) का भाष्य करते हुये व्यास महाराज लिखते हैं–

'यथा प्रावृषि तृणाङ्कुरस्योद्भेदेन तद्बीजसत्ताऽनुमीयते तथा मोक्षमार्गश्रवणेन यस्य रोमहर्षाश्रुपातौ दृश्येते तत्राप्यस्ति विशेषदर्शनबीजमपवर्गभागीयं कर्माभिनिर्वर्तितमित्यनुमीयते'। तस्यात्मभावभावना स्वाभाविकी प्रवर्तते, यस्याऽभावादिदमुक्तम्–

'' स्वभावं मुक्त्वा दोषाद् येषां पूर्वपक्षे रुचिर्भवति-अरुचिश्च निर्णये भवति''

अर्थात् जैसे वर्षा ऋतु में घास के अङ्कुरों की उत्पत्ति से उसके बीज के अस्तित्व का अनुमान किया जाता है, वैसे मोक्षमार्ग=दुःख से अत्यन्त मुक्ति से सम्बद्ध बातों को सुनकर जिस पुरुष के रोमहर्ष (रोमाञ्च) और अश्रुपात=आँसु बहने लगें तो उस पुरुष में अपवर्ग=मोक्ष प्राप्त कराने वाला विशेषदर्शन=विवेकज्ञान का बीज=कारण विद्यमान है, जो (योगाङ्गानुष्ठानादि विशेष) कर्मों से (जन्म-जन्मान्तरों में) सिद्ध किया होता है, यह अनुमान किया जाता है। उस पुरुष की आत्मभावना=आत्मतत्त्व को जानने की इच्छा स्वाभाविक रूप से होती है और जिन जीवों में विवेकज्ञान के बीजों का अभाव होता है उनकी रुचि (योगी के सदृश स्वभाव न होने से) आत्मा से भिन्न तत्त्वों में होती है, सत्त्व (बुद्धि) व पुरुष के विवेक में रुचि नहीं होती।

इस प्रकार भाष्यवार्तिककार का यह कथन पूर्ण युक्ति व प्रमाणसंगत है कि प्रवृत्ति से इच्छारूप बीज की उपलब्धि होती है। इच्छा और प्रवृत्ति के बीच बीज-वृक्ष का सम्बन्ध है। इच्छा रूप बीज ही प्रवृत्ति के रूप में वृक्ष बनकर लहराते हैं। इसलिये जिन्हें अपनी प्रवृत्तियाँ बदलनी होती हैं–उन्हें अपनी इच्छाओं को बदलना होता है। जो इच्छाओं को बदलते नहीं और प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाते हैं। वे कभी भी सफल नहीं होते। शुभ इच्छा

मूल में है तो प्रवृत्तियाँ भी शुभ और उसके विपरीत मूल में अशुभ इच्छा के होने पर प्रवृत्तियाँ भी अशुभ चालु हो जाती हैं। मनु ने कहा है–

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः।।२.३।।
अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित् तत् तत् कामस्य चेष्टितम्।।२.४।।

विना इच्छा के कुछ भी क्रिया नहीं होती। क्रिया (=प्रवृत्ति) इच्छा का ही साकार रूप है।

नीतिकार भी एक बात कहते हैं– नाऽकामी मण्डनप्रियः। अर्थात् मण्डनात्मक प्रवृत्तियों से व्यक्ति की दैहिक इच्छाओं का पता लगता है। यह वचन भी उक्त तथ्य का समर्थन कर रहा है।

किसी की भी प्रवृत्तिपरक प्रवृत्ति से प्रवृत्तिविषयक इच्छा का तथा निवृत्तिपरकप्रवृत्तियों से निवृत्तिविषयक इच्छा का सहज में ही बोध हो सकता है। सांसारिक प्रवृत्ति से सांसारिक इच्छा और आध्यात्मिक प्रवृत्तियों से आध्यात्मिक इच्छा का अनुमान होता है।

इस प्रकार जैसे चेतन प्राणियों में प्रवृत्ति से इच्छा का पता लग जाता है– इसी उत्पत्ति से या सामान्यतोदृष्ट अनुमान से अचेतन में भी दृश्यमान स्थूल प्रवृत्ति से एक अर्थ में उसकी भी मूल इच्छा का ज्ञान होता है। सो अचेतनों में भी सूत्र से ही सन् सिद्ध हो जायेगा, उपसंख्यान करने की आवश्यकता नहीं– ऐसा प्रकृत में भाष्यवार्तिककार का आशय है।

लेकिन जो बुद्धिपूर्वक प्रवृत्यादि इच्छानिमित्तक कर्म है वह तो अचेतन पदार्थों में है नहीं और जो है उसे इच्छा का ही वह कार्य है– ऐसा कहते बनता नहीं– इस दृष्टि से वार्तिककार प्रस्तुत करते हैं–

उपमानाद्वा सिद्धम्।।१४।।

उपमानाद्वा सिद्धमेतत्। कथम्? लुलुठिषत इव लुलुठिषते। पिपतिषतीव पिपतिषति।

अथवा उपमान (=उपमा) से (अचेतन पदार्थों से सम्बन्धित) ये प्रयोग सिद्ध हो जायेंगे (इनके लिय वार्तिक बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है)। लुलुठिषत इव लुलुठिषते। पिपतिषतीव पिपतिषति।

न वै [१]तिङन्तेनोपमानमस्ति[२]।

पर, तिङन्त (तिङन्तार्थ) के द्वारा तो उपमा होती नहीं (हो नहीं सकती)।

---

१. तिङन्तेन=तिङन्तार्थेन=क्रिययेत्यर्थः। २. उपमानम्=सादृश्यमित्यर्थः।
केचित्तु तिङन्तेनोपमानबोधो नास्तीति भाष्यार्थमाहुः। 'उद्योत'।

इसका भाव यह है– क्रिया साध्यैकस्वभाववाली होने से अनिष्पन्नरूप होती है। इसलिये उसके लिये 'इदं-तत्' शब्दों का व्यवहार नहीं हो सकता। उपमान उसी वस्तु का बन सकता है जो सिद्धरूपेण प्रतीयमान हो, जिसका 'इदं-तत्' शब्दों से संकेत किया जा सके। इसमें शब्दशक्तिस्वभाव या वस्तुशक्तिस्वभाव ही कारण है। 'क्षत्रियवदधीते' इत्यादि प्रयोगों में क्रिया का उपमेय रूप में तो प्रयोग इष्ट है, पर उसका उपमानत्व नहीं देखा जाता। इवशब्द के प्रयोग में उत्प्रेक्षा के रूप में एक क्रिया का दूसरी क्रिया में अध्यारोप तो हो जाता है जैसे रोदितीव गायति, नृत्यतीव गच्छति देवदत्तः। तिङन्त अर्थात् क्रिया रूप अर्थ के उपमानत्वेन प्रयोग न होने में एक और भी कारण है– उपमान वहीं हो सकता है जहाँ दो वस्तुओं में सादृश्य भी हो और असादृश्य भी– एक अधिक गुण वाली हो दूसरी न्यून गुणवाली। लेकिन क्रिया जिस साधन से निष्पन्न की जाती है उस अपने आश्रय में वह परिपूर्ण रूप से समाप्त होती है– उसमें किसी प्रकार की कोई न्यूनता नहीं कही जा सकती। जैसा कि हरि ने भी कहा है–

येनैव हेतुना हंसः पततीत्यभिधीयते।
आतौ तस्य समाप्तत्वादुपमार्थो न विद्यते।। (वा०प० ३.८.५७)

अर्थात् जिस हेतु से हंस के लिये 'पतति' ऐसा प्रयोग होता है, 'आति' इस नाम के एक सामान्य पक्षी में भी उस पतनक्रिया के उसी प्रकार परिपूर्ण रूप से समाप्त होने से उपमार्थ नहीं है। इस प्रकार क्रिया के एक होने से– उसमें भेद का कथञ्चिदपि सम्भव न होने से भेदाधिष्ठान उपमानभाव नहीं होता। और भिन्नजातीय क्रियाओं में तो साधारण धर्मरूप सादृश्य का सर्वथा ही अभाव होने से उपमानत्व का प्रश्न ही नहीं उठता। समानजातीय क्रियाओं में भी क्यों उपमानभाव सम्भव नहीं– यह अभी-अभी ऊपर बताया ही है कि ''क्रिया साध्यस्वभाव वाली होती है'', उपमान-उपमेयभाव तो दो सिद्धपदार्थों के बीच ही सम्भव है। और जो 'यथा वै श्येनो निपत्यादत्त एवयमं भ्रातृव्यं निपत्यादत्ते' इत्यादि प्रसङ्गों में क्रियाओं की परस्पर तुलना की गयी प्रतीत होती है वहाँ भी क्रियाओं का उपमान-उपमेय नहीं है– क्योंकि वहाँ जिस धर्मवाला श्येनकर्तृक आदान है उसी धर्मवाला यागकर्तृक आदान है– इस रूप में श्येन और याग के धर्मों को पकड़कर परस्पर सादृश्य बोध किया या कराया जाता है।

शिवरामेन्द्र सरस्वती को प्रकृत भाष्य का यह उपर्युक्त व्याख्यान अभिमत नहीं है। उनका कहना है– तिङन्त शब्द में धात्वर्थ (फल व व्यापार) की प्रधानता के भ्रम होने से ऐसा व्याख्यान किया गया है। जब हम तिङन्तशब्द में तिङर्थ (कर्ता-कर्म-संख्या–काल आदि) की ही प्रधानता होती है– ऐसा स्वीकार कर लेते हैं तो इव शब्द के प्रयोग में तिङन्त का भी उपमानत्व सम्भव है और इवशब्द के अभाव में प्रकृत भाष्य के द्वारा ही उसका उपमानत्वेन प्रयोग रोक दिया गया समझना चाहिये– इसलिये 'न वै तिङन्तेनोपमानं भवति' इस भाष्य

का इस रूप में व्याख्यान करना चाहिये– 'लुलुठिषत इव' इत्यादि में इवशब्द के प्रयोग में तिङन्त के उपमानपरक होने पर भी इवशब्द के विना तिङन्तमात्र से उपमानबोध नहीं हो सकता– भाष्यप्रामाण्य से शब्दशक्तिस्वभाव को ही इसमें कारण समझना होगा।

एवं तर्हीच्छेवेच्छा

अच्छा तो ऐसा समझना चाहिये कि जहाँ इच्छा तो न हो पर इच्छा के समान व्यापार हो तो उसे कहने के लिये भी सन् हो जाता है।

इसका भाव यह है–सूत्रपठित 'इच्छायाम्' को मुख्यार्थक व गौणार्थक उभयपरक मानकर अश्मा लुलुठिषते कूलं पिपतिषति आदि प्रयोग भी सिद्ध हो जायेंगे। अर्थात् जहाँ प्रकटत: तो इच्छा नहीं है, पर इच्छा के जैसे चिह्न (signs) दिखाई पड़ रहे हों, वहाँ भी सन् हो जाता है। कोई कहे मुख्यार्थ के सम्भव होते हुये गौणार्थ का ग्रहण कैसे हो सकेगा? सो इसका तो यही उत्तर दिया जायेगा कि लक्ष्यवशात् क्वचित् ऐसा भी हो जाता है या ऐसा हो सकता है। इच्छा शब्द के कृदन्त होने से 'कृदभिहितो भावो द्रव्यवद् भवति' (महा भा० ३.१.६७) नियम से सत्त्वभूत अर्थ कहा जाता है न कि साध्यरूप, इसलिये उसकी उपमानता में कोई सैद्धान्तिक आपत्ति भी नहीं है।

शिवरामेन्द्र सरस्वती ने चूँकि 'न वै तिङन्तेनोपमानमस्ति' इस उपर्युक्त पङ्क्ति का व्याख्यान इस रूप में किया है कि शब्दशक्तिस्वाभाव्य के कारण इव शब्द के प्रयोग के विना तिङन्तशब्द से उपमानबोध नहीं होता– इसलिये 'एवं तर्हीच्छेवेच्छा' इस भाष्यपङ्क्ति का व्याख्यान करते हुये वे कहते हैं– 'सन्नेव तत्र लाक्षणिक आश्रीयते। 'कूलं पिपतिषति' इत्यस्य कूलं पतनानुगुणं भवतीत्यर्थ इति भाव:'। उनका भाव है– तिङन्त से इवशब्द के प्रयोग के विना उपमानबोध बेशक न हो तो भी ऐसे प्रसङ्गों में सनन्त प्रयोग को इच्छार्थक न मानकर गौणरूप में इच्छा के सदृश अर्थ को प्रकट करने वाला मान लिया जायेगा– कूल पतन के अनुकूल हो रहा है। इन दोनों व्याख्यानों में भेद यह है– कैयट ने ऐसे प्रसङ्गों के लिये सूत्रपठित 'इच्छायाम्' को लाक्षणिक माना है– जबकि शिवरामेन्द्र सरस्वती ने सनन्त प्रयोग को ही लाक्षणिक स्वीकार किया है।

सर्वस्य वा चेतनावत्त्वात्।।१५।।

(भाष्यम्) अथवा सर्वं चेतनावत्। एवं ह्याह-कंसका: सर्पन्ति। शिरीषोऽध: स्वपिति। सुवर्चला आदित्यमनु पर्येति। 'आस्कान्द कपिलके'त्युक्ते तृणमास्कन्दति। अयस्कान्तमय: संक्रामति। ऋषि: पठति–शृणोत ग्रावाण:।

अथवा सब कुछ के ही चेतना वाला होने से (उक्त प्रसङ्गों में भी सूत्र से ही सन् सिद्ध हो जायेगा)।

सब कुछ ही चेतना वाला है। लोक में जिन्हें हम अचेतन कहते हैं वहाँ भी तो चेतन जैसे ही सब

व्यवहार देखे जाते हैं। जैसे कि (कोई किसी से) कहता है– कटोरे (कंसकाः) सरकते हैं। शिरीष वृक्ष (अपने पत्तों को) नीचे की ओर (झुकाकर) सो रहा है। सूरजमुखी पुष्प (सुवर्चला) सूर्य की ओर (जहाँ-जहाँ सूर्य होता है– उसको लक्ष्य करके उसकी ओर) घूम रहा है– गमन कर रहा है। 'हे कपिलक (कपिलवर्ण वाले) आगे बढ़ो' ऐसा कहने पर तृण (कुश आदि का सूखा तिनका) आगे बढ़ता है। लोहा चुम्बक की ओर गतीशील होता है। (वेद में) ऋषि पढ़ता है– हे ग्रावो (पत्थरो) (मेरी पुकार को या मेरी वाणी को) सुनो।

उपर्युक्त सभी उदाहरणों में प्रस्तरों को सम्बोधन, कटोरों का सरकना, तृण का आगे बढ़ना, लोहे का एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर गति करना, वृक्ष का शयन करना, पुष्प का सूर्य का अनुगामी होना आदि व्यवहारों में जैसे किसी को कोई आपत्ति नहीं होती; तद्वत् कूल (किनारा) टूटकर गिरना चाह रहा है, पत्थर लुढकना या नीचे गिरना चाहता है– इत्यादि प्रयोगों में भी कूल और अश्म में इच्छा को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये। और जब ऐसा हो तो 'आशङ्कायामुप०' (वा० १२) इस उपसंख्यान करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। सूत्र से ही सब प्रयोग सिद्ध हो जायेंगे।

यहाँ कोई पूछने लगे कि यदि सब कुछ ही चेतना वाला है तो सर्वत्र सभी चेतन धर्मों (इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान, वृद्धि-ह्रास इत्यादि) का दर्शन भी होना चाहिये, पर सो तो होता नहीं। इसके उत्तर में यही कहा जायेगा कि इस सम्पूर्ण सृष्टि में मनुष्यों को हम पूर्णचेतन मानते हैं पर वहाँ भी नानाजातीय व्यवहार देखे जाते हैं, अर्थात् सब मनुष्यों में चैतन्य के विकास का तारतम्य एक जैसा नहीं है, कोई अत्यन्त चेतन है तो कोई दूसरे छोर पर अत्यन्त अचेतन दिखायी पड़ता है। इस प्रकार यही मानना होगा कि चैतन्य तो सर्वत्र है पर कहीं वह विकसित रूप में है तो कही अविकसित, कहीं पूर्ण प्रसुप्त। एक और भी युक्ति है जो सर्वत्र चैतन्य को सिद्ध करती है– स्पष्टरूप से सभी जगह, सभी वस्तुओं का सभी पदार्थों में हमें 'परिणाम' दिखायी दे रहा है और यह दर्शन शास्त्र का परमसिद्धान्त है कि विना चेतनाधिष्ठान के परिणाम असम्भव है, इस प्रकार यह हेतु भी यही सिद्ध कर रहा है कि सबकुछ ही चेतनवाला है।

इम इषयो बहवः पठ्यन्ते। तत्र न ज्ञायते कस्यायमर्थे सन्विधीयत इति। इषेश्छत्वभाविनः। यद्येवंकर्तुमन्विच्छति-कर्तुमन्वेषणा, अत्रापि प्राप्नोति। एवं तर्हि यस्य स्त्रियामिच्छेत्येतद्रूपं निपात्यते। कस्य चैतन्निपात्यते? कान्तिकर्मणः।

ये 'इष' धातुवें (धातुपाठ में) बहुत सारी पढी हुयी हैं– एक तो 'श' विकरणवाली पढी है तुदादिगण में इषु इच्छायाम्, दूसरी इष गतौ 'श्यन्' विकरण दिवादिगण में, तीसरी इष आभीक्ष्ण्ये 'श्ना' विकरण क्र्यादिगण में। तो कई सारे 'इष' हो जाने से पता नहीं चल पा रहा कि किस इष के अर्थ में यह सन् विधान किया जा रहा है? इसमें तो संदेह नहीं होना चाहिये– जिसको छत्व होता है उसी के अर्थ में समझना चाहिये, वह होता है श

विकरण तौदादिक को। यदि छत्वभावी का ग्रहण मानेंगे तो 'कर्तुमन्विच्छति- (कर्तुमन्वेषणा- करने की खोज करता है) यहाँ भी सन् होने लगेगा, क्योंकि यहाँ भी छत्व तो हो रहा है। अच्छा तो ऐसा समझियेगा– जिस (अर्थवाली) इष् धातु का स्त्रीलिङ्ग में 'इच्छा' यह रूप निपातन किया गया है। किस 'अर्थवाली' का यह निपातन है? कान्ति (कामना-अभिलाष) अर्थवाली का। अन्विच्छति का अर्थ तो 'गवेषयति-खोज करता है' ऐसा है न कि 'कामयते-चाहता है' ऐसा।

अथेह ग्रामं गन्तुमिच्छतीति कस्य किं कर्म?

अच्छा यहाँ 'ग्रामं गन्तुमिच्छति' इस प्रयोग में किस धातु का कौन कर्म है? प्रश्न यह है कि 'गन्तुम्' यहाँ कर्म के रूप में भी पठित है और क्रिया के रूप में भी। सो गन्तुम् का 'ग्रामम्' यह कर्म और इच्छति का 'गन्तुम्' है या 'ग्रामम् और गन्तुम्' दोनों ही इच्छति के कर्म हैं?

इषेरुभे कर्मणी।

इष धातु के ही दोनों कर्म हैं।

जो ग्राम गमन को चाहता है, उसको इषिक्रिया के द्वारा दोनों ही ईप्सित हैं न केवल ग्राम और न ही केवल गमन।

यद्येवं ग्रामं गन्तुमिच्छति ग्रामाय गन्तुमिच्छतीति गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ न प्राप्नुत:।

यदि ऐसी बात है (अर्थात् इष के ही दोनों कर्म हैं तो) ग्राम के गत्यर्थ धातु का कर्म न होने से 'गत्यर्थकर्मणि' अ० २.३.१२ सूत्रविहित द्वितीया और चतुर्थी नहीं प्राप्त होती।

एवं तर्हि गमेर्ग्रामि: कर्म। इषेर्गमि: कर्म।

अच्छा तो ऐसा समझा जायेगा कि गम धातु का ग्राम कर्म है और इषधातु का गन्तुम् (गमि:) कर्म।

एवमपीष्यते ग्रामो गन्तुमिति परसाधन[१] उत्पद्यमानेन लेन ग्रामस्याभिधानं न प्राप्नोति।

फिर भी (अर्थात् गम् धातु का ग्राम कर्म और इष धातु का गन्तुम् कर्म है तो भी) 'इष्यते ग्रामो गन्तुम्' इस विवक्षा में (गम धातु की अपेक्षा से) पर के (अर्थात् इष धातु के) साधन (कारक) के रूप में जो कर्म है– उसको कहने के लिये जो लकार उत्पन्न होगा– वह 'गमन' होगा न कि 'ग्राम'। सो इष्यते क्रिया के द्वारा ग्राम का अभिधान नहीं हो सकेगा और फिर उसमें 'अभिहिते प्रथमा' (महा भा० २.३.४६) नियम लागु नहीं हो पायेगा।

---

१. 'परस्य साधने' इत्येवं षष्ठीतत्पुरुष: न तु कर्मधारय:।

महाभाष्य

एवं तर्हि गमेर्ग्रामः कर्म, इषेरुभे कर्मणी।

अच्छा तो गम धातु का ग्राम कर्म है और इष के दोनों ही (ग्राम भी और गन्तुम् भी)।

'इष्यते ग्रामो गन्तुम्' इस उपर्युद्घृत वाक्य में 'गन्तुम्' क्रिया का कर्म ग्राम है और 'इष्यते' क्रिया के दोनों ही कर्म हैं। लेकिन इन दोनों कर्मों में 'गमन' ग्रामप्राप्त्युद्देश्यक होने से अप्रधान है और 'ग्राम' प्रधान है। प्रधान और अप्रधान दोनों का एक शब्द के द्वारा तो कथन हो नहीं सकता, साथ में 'प्रधान में ही कार्य का बोध होता है' यह नियम भी है, इस प्रकार लकार के द्वारा प्रधानकर्म ग्राम का ही अभिधान होता है। यह तो बात हुयी दोनों कर्मों में कौन प्रधान है और कौन अप्रधान और लकार के द्वारा कौन कर्म कहा जायेगा। अब बात आती है– इषिक्रिया और गमिक्रिया के रूप में उपस्थित इन दो क्रियाओं में कौन प्रधान है और कौन अप्रधान? सो आख्यातपदवाच्या क्रिया विशेष्य होने से प्रधान होगी और कृदन्तवाच्य क्रिया विशेषण होने से अप्रधान। प्रधानक्रिया कि आश्रित शक्ति (कारक) का अभीधान होने पर गुणक्रिया आश्रित शक्ति के भी अभिहितवत् मान लिये जोने से अप्रधान गमिक्रिया की अपेक्षा से ग्राम कर्म में द्वितीया और चतुर्थी नहीं होती। इस विषय में भर्तृहरि का भी यही निर्णय है–

प्रधानविषया शक्तिः प्रत्ययेनाभिधीयते।
यदा, तदा गुणे तद्वद् अनुक्तापि प्रतीयते।। (वा०प० ३.७.८२)
[१]प्रधानेतरयोर्यत्र द्रव्यस्य क्रिययोः पृथक्।
शक्तिर्गुणाश्रया तत्र प्रधानमनुरुध्यते।। (वा०प० ३.७.७१)

इस प्रकार कैयट-नागेश व भर्तृहरि तीनों ही आचर्यों ने प्रकृतभाष्य का यही सार निकाला है कि 'इष्यते ग्रामो गन्तुम्' प्रयोग ही साधु है– 'इष्यते ग्रामं गन्तुम्' कभी भी नहीं होता। जबकि शिवरामेन्द्र सरस्वती का इन तीनों के विरोध में खड़े होकर कहना है– 'इषेरुभे कर्मणी' पर्यायेणेति शेषः। इष्यते क्रिया के द्वारा ग्राम और गमन कर्म का पर्याय से अभिधान होता है। जब गमनरूप कर्म को कहने के लिये लकार आता है तो 'इष्यते ग्रामं गन्तुम्' ऐसा प्रयोग भी बन जाता है।

'इच्छा सन्नन्त से पुनः सन् नहीं होता' इस व्यवस्था का बोध कराने के लिये प्रश्न उठाते हैं–

अथ सन्नन्तात् सना भवितव्यम्–चिकीर्षितुमिच्छति जिहीर्षितुमिच्छतीति।

---

१. यत्र प्रधानेतरयोः = प्रधानाप्रधानयोः क्रिययोर्द्रव्यस्य पृथक् शक्तिस्तत्र गुणाश्रया (शक्तिः) प्रधानमनुरुध्यते इत्यन्वयः।

अच्छा जब हम यह पूछना चाहते हैं– सन्नन्त से पुन: सन् होना चाहिये अथवा नहीं– चिकीर्षितुमिच्छति, जिहीर्षितुमिच्छति- इस विवक्षा में।

न भवितव्यम्। किं कारणम्? अर्थगत्यर्थ: शब्दप्रयोग:। अर्थं संप्रत्याययिष्यामीति शब्द: प्रयुज्यते। तत्रैकेनोक्तत्वात् तस्यार्थस्यापरस्य प्रयोगेण न भवितव्यम्। किं कारणम्? उक्तार्थानामप्रयोग इति।

'चिकीर्षितुमिच्छति' इस विवक्षा में सन् नहीं होना चाहिये। यदि यह पूछा जाये क्यों नहीं होना चाहिये? तो कहना होगा। अर्थ का बोध कराने के लिये शब्दप्रयोग होता है। 'अर्थ का बोध कराऊँगा' इस प्रकार (वक्ता के द्वारा श्रोता के प्रति) शब्द का प्रयोग किया जाता है। तो उस इच्छा रूप अर्थ के एक 'सन्' इस शब्द के द्वारा ही कथन हो जाने से दूसरे सन् शब्द का प्रयोग नहीं होना चाहिये। क्या कारण है– क्यों नहीं होना चाहिये? कारण है– 'उक्तार्थानामप्रयोग:'। जिनशब्दों का कथनीय विषय किसी भी रूप में कह दिया जाता है, उन शब्दों का फिर प्रयोग नहीं होता।

न तर्हीदानीमिदं भवति– एषितुमिच्छति-एषिषिषतीति?

तो क्या यह प्रयोग नहीं होता– एषितुमिच्छति-एषिषिषति?

इच्छार्थवाली इष धातु के द्वारा ही इच्छारूप अर्थ का अभिधान हो जाने से (इच्छार्थ को कहने के लिये) सन् प्राप्त नहीं होता– ऐसा प्रश्नकर्ता का आशय है।

अस्त्यत्र विशेष:। एकस्यात्रेषेरिषि: साधनं वर्तमानकालश्च प्रत्यय:। अपरस्य बाह्यं साधनं सर्वकालश्च प्रत्यय:।

चिकीर्षितुमिच्छति और एषितुमिच्छति ये दोनों प्रयोग एक जैसे नहीं हैं। चिकीर्षितुमिच्छति से एषितुमिच्छति में यह भेद है– यहाँ एक इष् धातु का (अर्थात् इच्छति का) इष्धातु का अर्थ अर्थात् एषितुम् यह साधन (कर्मकारक) है तथा 'इच्छति' यहाँ वर्तमानकालवाला प्रत्यय है और दूसरे अर्थात् 'एषितुम्' का बाह्य (अध्ययनादि) कर्म साधन और 'समानकर्तृकेषु तुमुन्' ३.३.१५८ से कालसामान्य में विहित होने से (एक अर्थ में) सर्वकालवाला तुमुन् प्रत्यय है।

कोई आलस्यादि से घिरा हुआ अध्ययनादिविषयवाली इच्छा की ही इच्छा करता है तब यह प्रयोग होता है– एषितुमिच्छति- एषिषिषति (इच्छा तावन्मम स्यादिति प्रार्थना भवतीत्यर्थ:)।

इहापि तर्ह्येकस्येषे: करोतिविशिष्ट इषि: साधनं वर्तमानकालश्च प्रत्यय:। अपरस्य बाह्यं साधनं सर्वकालश्च प्रत्यय:। येनैव खल्वपि हेतुनैतद्वाक्यं भवति चिकीर्षितुमिच्छति जिहीर्षितुमिच्छतीति तेनैव हेतुना वृत्तिरपि प्राप्नोति। तस्मात् सनन्तात् सन: प्रतिषेधो वक्तव्य:। तं चापि ब्रुवतेषिसन इति वक्तव्यम्। भवति हि जुगुप्सिषते मीमांसिषत इति।।

महाभाष्य

फिर तो यहाँ पर भी एक इष् धातु का अर्थात् इच्छति का, करोतिविशिष्ट इष् धातु का अर्थ अर्थात् 'चिकीर्षितुम्' यह साधन (कर्म) है और वर्तमानकालिक प्रत्यय है। दूसरे का अर्थात् चिकीर्षितुम् का (पूर्ववत्) बाह्य (अध्ययनादि) साधन और पूर्ववत् एषितुम् की ही भाँति सार्वकालिक प्रत्यय है। और निश्चय ही जिस हेतु से यह वाक्य प्रयोग होता है– चिकीर्षितुमिच्छति उसी हेतु से सन्नन्त यह वृत्ति भी प्राप्त होती है। इसलिये स्पष्ट रूप से यह कहना (ही) चाहिये कि सनन्त से पुन: सन् नहीं होता और उसे कहते हुये भी साथ में 'इषि सन:' ऐसा कहना चाहिये– इच्छार्थक सन् से ही पुन: सन् हो ही जाता है, जैसे– जुगुप्सितुमिच्छति मीमांसितुमिच्छति जुगुप्सिषते मीमांसिषते।

विषयान्तरसाधारण संग्रहश्लोक पढते हैं–

शैषिकान्मतुबर्थीयाच्छैषिको मतुबर्थिक:।
सरूप: प्रत्ययो नेष्ट: सन्नन्तान्न सनिष्यते।।

सन् के प्रसङ्ग से अन्य भी अनिष्ट प्रत्ययों का वारण किया जा रहा है– शेषे भव: शैषिक:, मतुपोऽर्थोमतुबर्थ:– मतुबर्थे भवो मतुबर्थीय:[१]। शेष अर्थ में हुआ जो प्रत्यय, तदन्तशब्द से अर्थात् शैषिकप्रत्ययान्तशब्द से समानरूपवाला शैषिकप्रत्यय नहीं होता। जैसे– 'शालायां भव: शीलीयो घटस्तत्र भवमुदकम्' इस विवक्षा में पुन: 'छ' नहीं होता। विरूप (प्रत्यय) तो हो ही जाता है, जैसे अहिच्छत्रे भव आहिच्छात्रस्तत्र भव आहिच्छत्रीय:। अण्प्रत्ययान्त आहिच्छात्र शब्द से पुन: भव अर्थ में 'छ' हो गया। इसी प्रकार मतुबर्थीय प्रत्ययान्तशब्द से पुन: समानरूप वाला मतुबर्थिक[२] प्रत्यय नहीं होता। जैसे– दण्डोऽस्यास्तीति दण्डिक; इससे 'सोऽस्यास्ति' इस विवक्षा में पुन: 'ठन्' नहीं होता। विरूप तो हो ही जाता है, जैसे– दण्डिमती सेना– इन्नन्त दण्डिन् शब्द से मतुप् हो गया। और अब श्लोक के द्वारा अन्तिम बात कही जा रही है– सन्नन्त से भी सरूप सन् नहीं होता। 'सन्नन्तान्न सनिष्यते' यहाँ भी 'सरूप' अपेक्षित है। संभव और व्यभिचार होने पर ही विशेषण बन सकता है। अर्थात् विशेषण की सार्थकता इसी में है कि वह दूसरे से व्यावृत्त कर देता है। सो प्रकृत में 'सरूप सन्' इस कथन के द्वारा विरूप सन् को व्यावृत्त किया जा रहा है। सरूप यहाँ सादृश्य का उपलक्षक है। और वह होगा अर्थ के द्वारा, क्योंकि शब्दकृतसादृश्य का ग्रहण करने पर तो उसका कुछ व्यावर्त्य बन ही नहीं सकेगा, इसलिये अर्थ के द्वारा सादृश्य ग्रहण किया जायेगा। अर्थात् इच्छासन्नन्त से पुन: इच्छासन् नहीं होता। स्वार्थिकसन् से तो इच्छा सन् होता रहेगा।

---

१. गहादिभ्यश्च ४.२.१३७ इति छ:।

२. अत इनिठनौ ५.२.११५ इति ठन्– मुतुबर्थोऽस्यास्तीति स तथा।

सूत्रभाष्यसार :

- सूत्रस्थ पदों का प्रयोजन प्रस्तुत करना। सबसे पहले धातुग्रहण का प्रयोजन पूछना।
- 'प्रकर्तुमैच्छत् प्राचिकीर्षत्' इत्यादि में सोपसर्ग धातुसमुदाय से सन् उत्पत्ति न हो– ऐसा धातुग्रहण का प्रयोजन देने पर 'कर्मण: समानकर्तृकाद्०' बल से ही इस प्रयोजन का निरस्तीकरण।
- सोपसर्ग के ही कर्मत्व की सम्भावना प्रकट करने पर धातुमात्र को ही क्रियावाची स्वीकार करते हुये धात्वर्थ का ही कर्मत्व स्वीकार करना न कि उपसर्गार्थ का भी। इस प्रकार उपसर्गार्थ को कर्म का विशेषक ठहराना। इसी के उपोद्बलक के रूप में यह कहना कि यदि सोपसर्ग का ही कर्मत्व माना जायेगा तो अवयव से (अर्थात् उपसर्ग रहित केवल धातु से) सन् की अप्राप्ति होने लगेगी– इस प्रकार धातु और उपसर्ग में धातु का ही क्रियावाची के रूप में स्वीकरण। धातु उपसर्ग की पार्थक्यकल्पना का फल अभीष्ट अट्-द्विर्वचनादि व्यवस्था का बन जाना।
- सुबन्त से (सन्) उत्पत्ति न हो– ऐसा धातुग्रहण का एक अन्य प्रयोजन प्रस्तुत करना।
- क्यजादि के द्वारा (अपवाद हेतु से) सन् के बाध लिये जाने के कारण सुबन्त से सन् की अप्राप्ति।
- अथवा अनभिधान से सुबन्त से सन् की अप्राप्ति।
- 'राज्ञ:पुत्रमिच्छति' इत्यादि परेच्छा स्थलों में क्यज् के बाधक न होने से सुबन्त से सन्प्राप्ति सम्भावना का प्रकट करना।
- समानकर्तृकाद् हेतु से ऐसे प्रसङ्गों में अतिव्याप्ति का निरास।
- 'आसितुमिच्छति' इत्यादि में 'आसितुम्' इस सुबन्त से सन् की सम्भावना। तुमुन् और सन् दोनों के इच्छार्थ में विहित होने से– तुमुन् के द्वारा ही उस अर्थ के कह दिये जाने से तुमुनन्त से सन् का अभाव।
- 'आसनमिच्छति' इत्यादि में 'आसनम्' इत्यादि सुबन्त से सन् की प्राप्ति और 'कर्मण: समानकर्तृकाद्' सूत्रपठित उपाधिबल से अतिव्याप्ति का वारण। इस प्रकार धातुग्रहण का प्रत्याख्यान।
- 'इच्छायां वा' इतने मात्र सूत्र से ही कर्म और समानकर्तृक अर्थ की संप्राप्ति हो जाने से 'कर्मण: समानकर्तृकाद्' का प्रत्याख्यान।
- अकर्म अथवा असमानकर्तृक से उत्पन्न हुये सन् के द्वारा इच्छा अर्थ की अभिव्यक्ति न होने के कारण अर्थात् अनभिधान से अतिव्याप्ति का वारण।
- अङ्ग का परिमाण बताने के लिये धातो: अथवा कर्मण: में से किसी एक को रखने की आवश्यकता।

महाभाष्य

• इन क्षेत्रों में से भी आर्धधातुकसंज्ञासिद्धि रूप अतिरिक्त लाभ मिलने के कारण धातुग्रहण करना अधिक प्रशस्त।

• धातुग्रहण के आनर्थवाक्य में वार्तिक संख्या १,२,३ के द्वारा दिये गये हेतु पर पुनः विचार।

• और पुनर्विचार में सोपसर्ग का ही कर्मत्व स्वीकार करना। इस स्थिति में धातुग्रहण के अभाव में धातु उपसर्ग समुदाय से ही सन् उत्पत्ति रूप दोष का प्रसङ्ग।

• सोपसर्ग का कर्मत्व मान लेने पर अवयव से सन् अप्राप्ति रूप दोष का सूत्रस्थ 'कर्मणः' पद में षष्ठी मानकर समाधान।

• 'कर्मणः' पद में षष्ठी मानने पर केवल धातु से सन् अप्राप्ति प्रसङ्ग का व्यपदेशिवद्भाव से समाधान।

• 'महान्तं पुत्रमिच्छति' में व्यपदेशिवद्भाव से क्यज् विषयक अतिव्याप्ति का कथन कर असामर्थ्य हेतु से उसका समाधान।

• सन्विधायक सूत्र में वृत्तिपक्ष में सन् के नित्य होने से वावचन का आनर्थक्य।

• 'तुमुनन्ताद्वा तस्य च लुग्वचनम्' ऐसा न्यासान्तर का कथन।

• लिङुत्तमाद्वा ऐसे एक और न्यास का कथन।

• आशङ्का विषय में अचेतन पदार्थों के लिये सन् का उपसंख्यान।

• भाष्यकार के द्वारा वार्तिक में से 'अचेतन' को हटाकर आशङ्का मात्र में सन् के उपसंख्यान का सुझाव जिससे कि यह लक्षण अधिक लक्ष्यसंग्राहक हो जाये।

• इच्छा की प्रवृत्ति से उपलब्धि होने के कारण आशङ्का विषयक प्रयोगों की सूत्र से ही सिद्धि।

• अथवा उपमा से उन प्रयोगों की सिद्धि– उपसंख्यान की अनावश्यकता।

• सब कुछ की चेतनावान् है– इस दर्शन की स्थापना।

• इषु इच्छायाम्, इष गतौ, इष आभीक्ष्ण्ये इन तीन इष् धातुओं में किस इष् का ग्रहण है– इस विषय का निर्णय।

• 'ग्रामं गन्तुमिच्छति' प्रयोग में दो क्रियायें और दो ही कर्म होने से कौन किस का कर्म इस विषय का निर्णय कि गम् का ग्राम कर्म और इष् के दोनों (ग्राम भी और गमन भी)।

• सन्नन्त से सन् होना चाहिये या नहीं– इस विषय का निर्णय कि इच्छार्थक सन् से सन् नहीं होना चाहिये स्वार्थिक सन् से इच्छा सन् हो सकता है।

• 'शैषिकान्मतुबर्थीयात्०' संग्रहश्लोक के द्वारा सन् के प्रसङ्ग से अन्य अनिष्ट प्रत्ययों की भी निवृत्ति करते हुये सूत्र का समापन।

इति तृतीयाध्याये प्रथमे पादे प्रथममाह्निकम्।

सुप आत्मनः क्यच्।।३.१.८।।

भा० किमर्थश्चकारः?

क्यच् प्रत्यय में चकारकरण का क्या प्रयोजन है? स्वरार्थ है, या विशेषणार्थ है या फिर सामान्यग्रहणार्थ है– ऐसा शंकिता का भाव है।

भा० स्वरार्थः। चितोन्त उदात्तो भवतीत्यन्तोदात्तत्वं यथा स्यात्।

क्यच् प्रत्ययस्थ चकार स्वर के लिये है। चित् (समुदाय को) अन्त उदात होता है (चितः, अ०-६.१.१५७) इस हेतु से अन्तोदात्तत्व हो जावे।

इस समाधान को, अभी असली समाधान नहीं समझ लेना चाहिये। शिष्य-बुद्धि परीक्षा करते हुए एक-एक कदम (step) आगे बढ़ रहे हैं।

भा० – नैतदस्ति प्रयोजनम्। एकाजयं, तत्र नार्थः स्वरार्थेन चकारेणाऽनुबन्धेन। प्रत्ययस्वरेणैव सिद्धम्।

यह तो कोई प्रयोजन नहीं है। यह (क्यच् प्रत्यय) एक-अच् वाला है सो स्वर के लिये तो चकार अनुबन्ध की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रत्ययस्वर (आद्युदात्तश्च, अ०- ३.१.३) से ही उक्त स्वर की सिद्धि हो जायेगी।

यद्यपि यहाँ (सतिशिष्ट न्याय से) प्रत्ययस्वर को धातुस्वर बाध लेता है, तो भी, प्राप्तिक्रम में अन्तरङ्ग हेतु से प्रत्ययस्वरकृत अन्यथा सिद्धि दर्शा दी गयी है।

भा० विशेषणार्थस्तर्हि।। क्व विशेषणार्थेनार्थः?

'अस्य च्वौ', 'क्यचि च' (अं- ७.४.३२.३३) इति।

'क्ये चे' ति ह्युच्यमाने 'अपि काकः श्येनायते' अत्रापि प्रसज्येत।

अच्छा तो विशेषणार्थ है। कहाँ है विशेषणार्थ प्रयोजन? 'अस्य च्वौ' 'क्यचि च' यहाँ इस सूत्र में प्रयोजन है। यदि यहाँ 'क्यचि च' के स्थान में 'क्ये च' ऐसा सूत्र बना देते हैं, तो 'अपि काकः श्येनायते' इस उदाहरण में जहाँ कि क्यङ् हो रहा है, वहाँ भी यह सूत्र प्रवृत्त होने लगेगा और 'श्येनीयते' ऐसा अनिष्ट रूप बनने लगेगा।

महाभाष्य

भा० नैतदस्ति। 'तदनुबन्धकग्रहणेऽतदनुबन्धकस्य ग्रहणं ने' त्येवमेतस्य न भविष्यति।

नहीं! ऐसा नहीं होगा, 'तदनुबन्धकग्रहणेऽतदनुबन्धकस्य ग्रहणं न' ऐसी परिभाषा है, अत: 'क्ये च' ऐसा कहने पर भी 'क्यङ्' का ग्रहण नहीं होगा।

'तदनुबन्ध' पद में वचनसामर्थ्य[1] से सावधारण बहुव्रीहि का आश्रयण किया गया है। 'स एव (उच्चरित एव) अनुबन्धो यस्य'। इसीलिये अतदनुबन्ध शब्द में 'अपि' पदघटित बहुव्रीहि लिया जायेगा। 'असोऽपि (स चाऽन्यश्च) अनुबन्धो यस्य'। इस प्रकार उक्त परिभाषा बल से क्यङ् के द्व्यनुबन्धक होने से, 'क्य' ग्रहण से ग्रहण नहीं होगा।

भा० सामान्यग्रहणाऽविघातार्थस्तर्हि।। क्य च सामान्यग्रहणाऽविघातार्थेनाऽर्थ:? 'न: क्ये' (अ०-१.४.२५) इति।।

अच्छा तो, समान्यग्रहण का विघात न हो जाये, इसके लिये चकार है। ऐसा कौन सा स्थल है– जहाँ सामान्यग्रहण के अविघात से प्रयोजन सिद्ध करना है? वह है– 'न: क्ये' सूत्र पर।

यदि यहाँ 'क्यच्' में चकार नहीं रखेंगे तो 'न: क्ये' में केवल इसी 'क्य' का ग्रहण होने लगेगा। जबकि इष्ट है– क्यच्, क्यङ्, क्यष् तीनों का ग्रहण हो। सो 'क्य' के साथ चकार पढ़ देने से अब वह विशेष ग्रहण नहीं बनेगा। स्पष्ट है, जब वह विशेषग्रहण नहीं है तो सामान्यग्रहण ही होगा। क्योंकि इससे अतिरिक्त तो कोई स्थिति होती नहीं– या तो कोई शब्द सामान्य अर्थ का वाचक होगा या फिर विशेष का।

भा० अथाऽत्मग्रहणं किमर्थम्?

अच्छा! यह सूत्र में 'आत्म' ग्रहण क्यों किया है?

'इच्छा' की अपेक्षा से कर्ता में षष्ठी मान ली जायेगी। सो प्रत्यासत्तिन्याय से (आत्मग्रहण के विना) आत्मकर्तृक इच्छा में ही प्रत्यय होगा।

भा० आत्मेच्छायां यथा स्यात् परेच्छायां मा भूत्– राज्ञ: पुत्रमिच्छतीति।

'राज्ञ: पुत्रमिच्छति'– राजा के पुत्र को चाहता है इत्यादि स्थलों में, जहाँ परेच्छा गम्यमान है, वहाँ क्यच् न हो, जहाँ आत्मेच्छा गम्यमान है वहीं हो, इसके लिये आत्मग्रहण है।

---

१. जिस अनुबन्धविशिष्ट प्रत्ययादि का सूत्र में ग्रहण किया है, उस अनुबन्ध से रहित का तो विना वचन के भी अनुबन्धरूप विशेषण के द्वारा ही अग्रहण सिद्ध है, अर्थात् उस अनुबन्ध के साथ अनुबन्धान्तर विशिष्ट का भी यदि ग्रहण होने लगे तो यह परिभाषा व्यर्थ ही हो जायेगी– इस हेतु से वचनसामर्थ्य बन जायेगा।

आत्म-शब्द यहाँ परव्यावृत्तिवाचक स्वशब्दपर्याय एषितृपरक लिया गया है, न कि चेतनद्रव्यवाची। आत्मन् और इच्छा तथा पर और इच्छा का सुबन्तद्वारक संबन्ध माना जायेगा न कि साक्षात्। इसलिये यह अर्थ होगा– एषिता जब स्वसंबन्धी सुबन्तार्थ की इच्छा करेगा तब स्वसंबन्धी सुबन्त से क्यच् होगा और एषिता जब परसंबन्धी सुबन्तार्थ की इच्छा करेगा तो क्यच् नहीं होगा। यहाँ 'आत्मन इच्छा = आत्मेच्छा' इस रूप में शेष षष्ठी का समास हो रहा है, न कि कर्तृषष्ठी का, यदि 'आत्मन:' यहाँ कर्ता में षष्ठी मानेंगे तब तो 'राज्ञ: पुत्रमिच्छति' इत्यादि में भी क्यच् का प्रसङ्ग होने लगेगा– क्योंकि आत्मकर्तृक इच्छा तो यहाँ भी है। शेषषष्ठी में भी यदि 'आत्मन:' का इच्छा के साथ साक्षात् संबन्ध मानेंगे तो भी दोष बना ही रहेगा। इसलिये 'आत्मन:' इच्छा के साथ सुबन्त के द्वारा संबन्धित होगा। 'आत्मन: पुत्रं, परस्य दासमिच्छति' इत्यादि में तो दोष नहीं होगा क्योंकि– यहाँ तो दास इष्यमाण के रूप में है, वह आत्मसंबन्धी नहीं है।

भा०– क्रियमाणेऽपि वै आत्मग्रहणे परेच्छायां प्राप्नोति।। किं कारणम्? 'आत्मन' इतीयं कर्तरि षष्ठी। 'इच्छे' त्यकारो भावे। स यद्येवात्मन इच्छत्यथाऽपि [१]परस्यात्मेच्छैवासौ भवति।

आत्मग्रहण कर लिये जाने पर भी परेच्छा में 'क्यच्' प्राप्त होता है। क्यों? ऐसा क्या कारण है? कारण यह है कि 'आत्मन:' यह[२] कर्त्ता में षष्ठी है और। 'इच्छा' यहाँ 'अ' प्रत्यय भाव में है। सो चाहे वह अपनी इच्छा करे या पर की। इच्छा तो वह आत्मा की ही होती है।

प्रतिवादी 'आत्मन:' इसका 'इच्छा' में साक्षात् अन्वय मानकर अपनी बात कह रहा है। उसका यह मानना है कि क्रियाकारकरूप अन्तरङ्ग सम्बन्ध के प्राप्त होते हुए परंपरासंबन्ध को क्यों ग्रहण किया जावे? परंपरासंबन्ध के षष्ठ्यर्थ न होने से ही आगे वादी के द्वारा उक्त आपेक्ष का 'आत्मन:' को सुबन्त का विशेषण मानकर परिहार किया जायेगा।

भा०– नैष दोष:। नाऽत्मग्रहणेनेच्छाऽभिसंबध्यते।।

किं तर्हि? सुबन्तमभिसम्बध्यते 'आत्मनो यत्सुबन्त' मिति।।

नहीं! यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि आत्मग्रहण के साथ अर्थात् 'आत्मन:' इसके साथ 'इच्छा'– यह अभिसम्बन्ध नहीं हो रहा है। तो कौन हो रहा है? सुबन्त– आत्मसम्बन्धी जो सुबन्त।

आत्मग्रहण उपादानसामर्थ्य से 'आत्मन:' इच्छा से संबद्ध नहीं है। क्योंकि एषिता के विना इच्छा का सम्भव ही नहीं– इस प्रकार व्यभिचार का अभाव होने से 'आत्मा' को इच्छा के विशेषण रूप में कथन करना निष्फल है। इच्छा है तो एषिता भी होगी ही और वही तो आत्मा पद का अर्थ है।

---

१. आत्मन इच्छा० इति पाठ:।

२. कर्तृकर्मणो: कृति। (अ०– २.३.६५)

भा० यद्याऽत्मग्रहणं क्रियते, छन्दसि परेच्छायां न प्राप्नोति मा॑ त्वा॑ वृका॑ अघायवो॑ विदन्। तस्मान्नार्थ आत्मग्रहणेन।

यदि आत्मग्रहण करते हैं तो वेदविषय में परेच्छा में (इष्ट क्यच् की) प्राप्ति नहीं हो सकेगी। जैसे- मा त्वा वृका अघायवो विदन्। इसलिये सूत्र में आत्मग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं है। 'अघायव:' यहाँ 'अघ' शब्द से परेच्छा में क्यच् होकर 'क्यचि च' (अ०– ७.४.३३) से विहित ईत्व को बाधकर 'अश्वाघस्यात्' (अ०– ७.४.३७) से आत्व होकर 'क्याच्छन्दसि' (अ०– ३.२.१७०) से 'उ' प्रत्यय, इस प्रकार 'अघायु' शब्द से बहुवचन हुआ है।

भा० इह कस्मान्न भवति 'राज्ञ: पुत्रमिच्छती'ति?

तो फिर आत्मग्रहण न करने पर 'राज्ञ: पुत्रमिच्छति' इस प्रयोग में (जहाँ कि परसंबन्धी पुत्र को चाहता है) क्यच् किस हेतु से नहीं होगा? अर्थात् 'आत्मन:' न करने पर इस अतिव्याप्ति को कैसे रोका जा सकेगा?

भा०– असामर्थ्यात्।

सामर्थ्य न होने से 'क्यच्' यहाँ रुक जायेगा।

भा० कथमसामर्थ्यम्? सापेक्षमसमर्थं भवति।

यदि यह पूछो कि असामर्थ्य कैसे है? तो उसका उत्तर है– जो सापेक्ष होता है, वह असमर्थ होता है। और इस शास्त्र में जो भी पद-सम्बन्धी विधि है वह समर्थ के ही आश्रित कही गयी है– 'समर्थ: पदविधि:' (अं– २.१.१)। चूँकि सुबन्त पद होता है– सो उससे कहा गया क्यच् समर्थ सुबन्त से ही हो पायेगा। प्रकृत में 'पुत्रम्' सुबन्त 'राज्ञ:' इस अर्थ की अपेक्षा रखने से असमर्थ हो गया।

भा०– छन्दस्यपि तर्हि न प्राप्नोति– मा त्वा वृका अघायवो विदन्।

यदि यही बात है कि 'राज्ञ: पुत्रमिच्छति' में असमर्थ से क्यच् नहीं होगा– तब तो छन्द में भी नहीं होगा– 'मा त्वा अघायवो विदन्' इस प्रयोग में।

भा० अस्त्यत्र विशेष:। अन्तरेणाऽप्यत्र तृतीयस्य पदस्य प्रयोगं परेच्छा गम्यते।

उपर्युक्त 'मा त्वा---' इस प्रयोग में कुछ विशेष है। यहाँ तो तृतीय पद के प्रयोग के विना भी परेच्छा गम्यमान है।

भा० कथं पुनरन्तरेणाऽप्यत्र तृतीयस्य पदस्य प्रयोगं परेच्छा गम्यते?

यदि यह पूछो कि, यहाँ ऐसी क्या बात है, जो तृतीय पद के प्रयोग के विना ही परेच्छा गम्यमान है? तो सुनिये–

भा० ते चैव हि वृका एवमात्का हिंस्रा:, कश्चाऽत्मनोऽघमेषितुमर्हति? अतोऽन्तरेणाऽप्यत्र तृतीयस्य पदस्य प्रयोगं परेच्छा गम्यते। यथैव तर्हिच्छन्दस्यघशब्दात्परेच्छायां क्यज्भवत्येवं भाषायामपि प्राप्नोति– 'अघमिच्छती'ति। तस्मादात्मग्रहणं कर्त्तव्यम्। छन्दसि कथम्? आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति 'भवत्यधशब्दाच्छन्दसि परेच्छायां क्य'जिति यदयम्– 'अश्वाघस्यात्' (अं– ७.४.३७) इति क्यचि प्रकृत ईत्वबाधनार्थमाकारं शास्ति।

वे जो वृक हैं, वे ऐसे हिंसक स्वभाववाले हैं कि वे सदा दूसरे को दु:ख देने की ही इच्छा करते हैं अर्थात् दु:ख ही देते रहते हैं। क्या इस विशाल संसार में ऐसा भी कोई है जो अपने अघ (पाप उसका फल, व्यसन-दु:ख) की इच्छा करने के लिये तत्पर हो? अर्थात् कोई नहीं। इसलिये हमने कहा कि यहाँ तो तृतीय पद के प्रयोग के विना ही परेच्छा गम्यमान है।

तो फिर जैसे छन्द में अघ शब्द से परेच्छा में क्यच् हो जाता है वैसे ही भाषा में भी प्राप्त होने लगेगा। अघमिच्छति दूसरों के पाप = दु:ख को चाहता है। (न केवल हिंसक स्वभाववाला ही बल्कि सामान्यरूपेण कभी-कभार भी) कोई किसी का दु:ख चाहने लगे– वहाँ भी क्यच् होने लगेगा। सो ऐसे प्रसङ्गों में क्यच् की व्यावृत्ति के लिये आत्मग्रहण करना चाहिये।

लेकिन, आत्मग्रहण करने पर भी छन्द में परेच्छा प्रसङ्ग में कैसे क्यच् प्राप्त कर पायेंगे?

आचार्य का व्यवहार ही हमें इस बात का बोध करा देगा कि अघशब्द से वेद में परेच्छा के क्यच् होता है। जो कि यह आचार्य 'अश्वाघस्यात्' (अं- ७.४.३७) से क्यच् के परे रहते 'क्यचि च' (७.४.३३) से प्राप्त ईत्व को बाधने के लिये आकारादेश का विधान कर रहे हैं।

भाव यह है, वृद्धकुमारीन्याय से पहले क्यच् होगा, फिर आकारादेश। कोई कहे कि, आचारार्थक क्यच् के लिये वह आत्व विधान सार्थक हो सकता है! पर वेद में 'अघ' शब्द से आचार अर्थ में क्यच् का प्रयोग उपलब्ध नहीं होता– इसलिये वैसी संभावना नहीं की जा सकेगी।

भा०– अथ सुब्ग्रहणं किमर्थम्?

अच्छा! अब यह बताईये– सुब्ग्रहण किसलिये है? अर्थात् वह किस प्रयोजन को साधित करने के लिये है?

भा०– सुबन्तादुत्पत्तिर्यथा स्यात् प्रातिपदिकान्मा भूदिति।

सुब्ग्रहण है– सुबन्त से उत्पत्ति करने के लिये प्रादिपदिक से (क्यच्) न हो।

भा०– नैतदस्ति प्रयोजनम्। नास्त्यत्र विशेष: सुबन्तादुत्पत्तौ सत्यां प्रातिपदिकाद्वा।

नहीं, यह तो कोई प्रयोजन नहीं है। यहाँ कुछ भी भेद (विशेष) नहीं है– चाहे सुबन्त से उत्पत्ति करें या प्रातिपदिक से।

महाभाष्य

भा०– अयमस्ति विशेष:- सुबन्तादुत्पत्तौ सत्यां पदसंज्ञा सिद्धा भवति। प्रातिपदिकात्पुनरुत्पत्तौ सत्यां पदसंज्ञा न प्राप्नोति।

क्यों, विशेष कैसे नहीं है? यह रहा विशेष– सुबन्त से उत्पत्ति होने पर पदसंज्ञा हो जाती है, और प्रातिपदिक से उत्पत्ति होने पर पद संज्ञा नहीं प्राप्त होती है।

भा० ननु च प्रातिपदिकादप्युत्पत्तौ सत्यां पदसंज्ञा सिद्धा।

कथम्? आरभ्यते 'न: क्ये' (अं- १.४.१५) इति। तच्चावश्यं कर्त्तव्यम्।

सुबन्तादुत्पत्तौ सत्यां नियमार्थं, तदेव प्रातिपदिकादुत्पत्तौ सत्यां विध्यर्थं भविष्यति।

क्यों जी! प्रातिपदिक से भी उत्पत्ति होने पर पदसंज्ञा सिद्ध है। सो कैसे? देखिये– आचार्य के द्वारा 'न: क्ये' (अं- १.४.१५) सूत्र पदसंज्ञाप्रकरण में आरम्भ किया गया है। और वह तो हर हालत में कहना ही चाहिये– सुबन्त से क्यच् उत्पत्ति होने पर वह 'न: क्ये' सूत्र नियमार्थ होगा और वही प्रातिपदिक से उत्पत्ति होने पर विध्यर्थं हो जायेगा।

सुबन्त से 'क्यच्' उत्पत्ति होने पर 'सुप्तिङन्तं पदम्' (अ०- १.४.१४) से ही पदसंज्ञा सिद्ध थी, फिर जो 'न: क्ये' सूत्र होगा, वह 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थ:' के अनुसार नियमार्थ समझा जायेगा– कि 'क्य' के परे रहते पदसंज्ञा हो तो वह नान्त की ही हो– 'वाच्यति' (आत्मन: वाचमिच्छति) इत्यादि में चकारान्त की न हो और जब प्रातिपदिक से उत्पत्ति होगी तो पहले किसी से भी पदसंज्ञा प्राप्त नहीं थी– 'न: क्ये' के द्वारा अपूर्व विधान समझा जायेगा।

भा० इदं तर्हि प्रयोजनं 'सुबन्तादुत्पत्तिर्यथा स्याद्धातोर्मा भू'दिति।

अच्छा तो यह (सुब्ग्रहण का) प्रयोजन है– सुबन्त से (क्यच्) उत्पत्ति हो– धातु से न हो।

पठितुम् या भाववाचक पठनम् इत्यादि कर्मवाचक भी हैं और (तदन्तर्गत) धातु भी विद्यमान है। सो सुब्ग्रहण के अभाव में इससे भी 'क्यच्' होने लगेगा। तिङन्त से ना हो– ऐसी संभावना इसलिये नहीं प्रकट की गयी है कि तिङन्त शब्दरूप कर्मत्व का प्रतिपादक नहीं हो सकता।

भा०– एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। धातो: सन्विधीयते, स बाधको भविष्यति।।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं है। धातु से सन् कहा गया है, वह (अपने विषय में क्यच् का) बाधक हो जायेगा।

भा०– अनवकाशा हि विधयो बाधका भवन्ति, न साऽवकाशा:, सावकाशश्च सन्।। कोऽवकाश: ? परेच्छा।।

अनवकाश विधियाँ बाधक हुआ करती हैं न कि सावकाश। और सन् तो सावकाश है। क्या है भला सन् का अवकाशस्थल? परेच्छा में सन् को चरितार्थ होने के लिये अवकाश है।

भा०– न परेच्छायां सना भवितव्यम्।। किं कारणम्?

'समानकर्तृका'दित्युच्यते, यावच्चेहात्मग्रहणं तावत् तत्र समानकर्तृकग्रहणम्।

परेच्छा में सन् नहीं हो सकता। क्यों– ऐसा क्या कारण है, जो परेच्छा में नहीं हो सकता। कारण यह है– यहाँ जो अर्थसिद्धि (प्रयोजनसिद्धि) आत्मग्रहण के द्वारा की जाती है, वही काम वहाँ समानकर्तृक ग्रहण कर रहा है। अर्थात् सन् तभी होता है जब इच्छा का और कर्म का एक ही कर्त्ता हो, सो वह परेच्छा में कैसे संभव हो सकेगा?

भा० इदं तर्हि प्रयोजनं– 'सुबन्तादुत्पत्तिर्यथा स्याद्वाक्यान्मा भू'दिति। महान्तं पुत्रमिच्छतीति।

अच्छा तो सुब्ग्रहण का यह प्रयोजन है, कि सुबन्त से उत्पत्ति हो, वाक्य (सुबन्तसमुदाय) से ना हो। जैसे– 'महान्तं पुत्रमिच्छति' यहाँ 'महान्तं पुत्रम्' ये दो सुबन्त हैं, इन से क्यच् न हो।

यदि यहाँ सुबन्त समुदाय से परे क्यच् प्रत्यय हो जाये, तो यत: इच्छारूप प्रत्ययार्थ को कहने के लिये दोनों ही पद प्रवृत्त हो रहे हैं, सो अन्य के साथ अर्थात् इच्छारूप अर्थ के साथ एकार्थीभाव को प्राप्त हुये पदों के अर्थ को वहाँ से अलग करके परस्पर संबद्ध न कर सकने के कारण समास नहीं हो सकेगा और फिर 'आन्महत: समानाधिकरण०' (अं- ६.३.४५) सूत्र से होने वाला उत्तरपदनिबन्धक आत्व भी नहीं हो पायेगा– इस प्रकार 'महत्पुत्रीयति' ऐसा अनिष्ट रूप बनने लगेगा।

यहाँ नागेश का कहना है– महत् और पुत्र दोनों ही के एक साथ इच्छारूप प्रत्ययार्थ में एकार्थीभाव को प्राप्त हो जाने से यद्यपि वहाँ से पृथक करके (निष्कृष्य) परस्पर एक दूसरे के साथ विशेषरूप से एकार्थीभावरूप सामर्थ्य तो नहीं बन पायेगा, तो भी, समर्थसूत्रादिस्थभाष्य की यही सम्मति है कि सामान्य रूपेण एकार्थीभावमात्र में भी समास हो जाता है, सो उस अवस्था में प्रकृत में समास होकर आत्व तो हो ही जायेगा, पर स्वर में अन्तर आयेगा। सतिशिष्टन्याय से प्रत्ययस्वर को बांधकर समासस्वर प्रवृत्त होकर 'पुत्री' का ईकार उदात्त होने लगेगा, क्योंकि इस प्रक्रिया में प्रत्यय पहिले होगा और समास बाद में, तो समासस्वर ही सतिशिष्ट ठहरेगा। जबकि, महत् व पुत्र का समास पहिले करके पश्चात् प्रत्यय करते हैं, तो प्रत्ययस्वर सतिशिष्ट ठहरता है। प्रत्ययस्वर यहाँ इष्ट है।

शिवरामेन्द्र सरस्वती ने प्रकृत भाष्य की संगति इस प्रकार लगायी है कि यदि यहाँ सुबन्तसमुदाय से क्यच् हो जाये तो 'सुपो धातुप्रातिपदिकयो:' (२.४.७१) सूत्र से सुप् लुक् हो जाने के कारण 'महत्पुत्रीयति'–

ऐसा अनिष्ट रूप बनने लगेगा। क्योंकि समानाधिकरण उत्तर पद के परे रहते विधीयमान आत्व असमानाधिकरण अनुत्तरपद पुत्र शब्द के परे रहते नहीं हो सकेगा। उनका भाव यह है, कि समास के वैकल्पिक होने से समासाभावपक्ष में 'महान्तं पुत्रमिच्छति' इस वाक्य से प्रत्ययोत्पत्ति विवक्षा में महान्तं पुत्रम् का समानाधिकरण भी नहीं कहा जा सकता और 'पुत्र' का उत्तरपदत्व भी नहीं सिद्ध किया जा सकता। क्योंकि यहाँ समास करके प्रत्यय विधान करने की बात नहीं सोची जा रही है और समास के विना समानाधिकरण को मान भी लें तो भी उत्तरपद तो नहीं होगा। क्योंकि पूर्वपद-उत्तरपद ऐसा व्यपदेश तो समास में ही होता है और इस प्रकार उस उत्तरपद के अभाव में आत्व नहीं हो सकेगा।

भा०– न वा भवति 'महापुत्रीयति'?

क्या 'महापुत्रीयति' ऐसा प्रयोग नहीं होता है?

भा०– भवति, यदैतद्वाक्यं भवति- महान् पुत्रो महापुत्रः, महापुत्रमिच्छति महापुत्रीयतीति।

यदा त्वेतद्वाक्यं भवति-महान्तं पुत्रमिच्छतीति, तदा न भवितव्यं, तदा च प्राप्नोति, तदा मा भूदिति।

होता है, (पर) जब इस रूप में विवक्षा होती है– महाँश्चासौ पुत्रः=महापुत्रः, महापुत्रमिच्छति महापुत्रीयति और जब यह वाक्य होता है– महान्तं पुत्रमिच्छति अर्थात् जब महान् और पुत्र का समास न करके सीधा ही उक्त रूप में कहना चाहते हैं, तब क्यच् नहीं होना चाहिये। और उस विवक्षा में भी (सुब्ग्रहण के अभाव में 'महान्तं पुत्रम्' इस सुबन्त समुदाय से) क्यच् प्राप्त होता है। इस विवक्षा में क्यच् न हो इसके लिये सुब्ग्रहण करना चाहिये।

भा०– अथ क्रियमाणेऽपि सुब्ग्रहणे कस्मादेवाऽत्र न भवति? सुबन्तं ह्येतद्भवति वाक्यम्।

अच्छा! यह सुब्ग्रहण कर देने पर भी किस हेतु से (क्यच्) नहीं होता? क्योंकि यह वाक्य सुबन्त ही तो है।

भा०– नैतत्सुबन्तम्।। कथम्?

'प्रत्ययग्रहणे [१] यस्मात्स तदादेर्ग्रहणं भवती'ति।

नहीं! यह सुबन्त नहीं है। कैसे? प्रत्यय के ग्रहण में जिस प्रकृति से वह प्रत्यय विहित हुआ है, वह प्रकृति आदि में है जिसके उस तदादि समुदाय का ग्रहण होता है, इस हेतु से सुबन्त शब्द का अभिधेय 'महान्तं पुत्रम्' यह समुदाय नहीं है। और प्रकृत में तो समुदाय ही कर्म है। प्रत्येक को कर्म माना जाये तो भी कर्मसमुदाय तो अकर्म ही है, इसलिये क्यच् नहीं हो सकेगा।

---

१. रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्रकाशित संस्कृत पारिभाषिक के पृ० सं०-३४ पर उक्त परिभाषा को विस्तार से देखा-समझा जा सकता है।

भा०– अथ यदत्र सुबन्तं, तस्मादुत्पत्तिः कस्मान्न भवति?

अच्छा, (चलो आपके कहे अनुसार ही सही) जो यहाँ सुबन्त है, अर्थात् 'पुत्रम्' उससे (क्यच्) किस हेतु से नहीं होता?

अभी ऊपर कहा गया है 'प्रत्ययग्रहण' परिभाषा से 'पुत्रम्' को ही सुबन्त कह सकते हैं न कि 'महान्तं पुत्रम्' को। पर उक्त विवक्षा में 'पुत्रम्' सुबन्त होते हुये भी उससे क्यच् नहीं होता इसका क्या कारण है? ऐसा प्रश्नकर्त्ता का आशय है।

'समानाधिकरणमसमर्थं भवति'। (म० भा० २.१.१) 'सापेक्षमसमर्थं भवति'। (म० भा० २.१.१)

दो प्रकार से सामर्थ्य के निषिद्ध होने से असामर्थ्य से प्रत्यय नहीं होता– इस प्रसिद्ध समाधान के विद्यमान होते हुये भी यक्षानुरूप बलि-न्याय[1] से समाधानान्तर के रूप में कह रहे हैं–

समानाधिकरणानां सर्वत्राऽवृत्तिरयोगादेकेन।

भा०– समानाधिकरणानां सर्वत्रैव वृत्तिर्न भवति।

'समानाधिकरणानाम्' यहाँ निर्धारण में षष्ठी है, न कि संबन्धषष्ठी। समानाधिकरण पदों के मध्य एक पद के साथ (इच्छति इत्यादि प्रत्ययार्थ का) योग (संबन्ध) न होने से सर्वत्र ही वृत्ति नहीं होती। 'समानाधिकरणानां' यहाँ संबन्ध षष्ठी मानेंगे तो अर्थ होगा– 'समानाधिकरणों का एक संबन्धी के साथ योग न होने से'। पर 'ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः' इत्यादि में ऋद्धत्व विशिष्ट राजा का पुरुष एक संबन्धी के साथ योग है, अतः निर्धारण षष्ठी मानना ही अधिक संगत है। निर्धारण षष्ठी के अनुसार 'ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः' इस उदाहरण में इस प्रकार संगति लगानी होगी कि 'ऋद्धस्य राज्ञः' ये दो समानाधिकरण पद हैं, इनमें से एक राजा के साथ पुरुष का योग नहीं है– बल्कि दोनों ही पदों के साथ पुरुष संबन्धित है।

शिवरामेन्द्र सरस्वती तो 'समानाधिकरणानाम्' में निर्धारण षष्ठी न मानकर संबन्धषष्ठी ही मानते हैं और जाति में बहुवचन अथवा लक्ष्यबाहुल्यवश व्यक्ति में बहुवचन है– ऐसा कहते हुये 'समुदायान्वयिना' इस पद का अध्याहार करते हैं। उनके अनुसार अर्थ है– 'समानाधिकरणस्य समुदायान्वयिना सर्वत्र वृत्तिर्न भवति, समुदायान्वयिनः एकेन = अवयवेन योगस्य = संबन्धस्याभावादिति भावः'। अर्थात् समानाधिकरण की समुदायान्वयी के साथ सर्वत्र वृत्ति नहीं होती, क्योंकि समुदायान्वयी का एक अवयव के साथ संबन्ध नहीं होता।

---

१. यादृशो यक्षस्तादृशो बलिरिति न्यायः।

महाभाष्य

भा०– क्व सर्वत्र? समासविधौ प्रत्ययविधौ च। समासविधौ तावत्ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः, महत्कष्टं श्रित इति। प्रत्ययविधौ ऋद्धस्योपगोरपत्यम्, महान्तं पुत्रमिच्छतीति।

किं पुनः कारणं समानाधिकरणानां सर्वत्र वृत्तिर्न भवतीति? 'अयोगादेकेन'। न ह्यत्रैकेन पदेन योगो भवति। इह तावत्-ऋद्धस्य राज्ञः पुरुष इति षष्ठ्यन्तस्य सुबन्तेन सामर्थ्ये सति समासो विधीयते। यच्चात्र षष्ठ्यन्तं न तस्य सुबन्तेन सामर्थ्यं, यस्य च सामर्थ्यं न तत्षष्ठ्यन्तं, वाक्यं तत्। ऋद्धस्योपगोरपत्यमिति च षष्ठीसमर्थादपत्येन योगे प्रत्ययो विधीयते। यच्चात्र षष्ठीसमर्थं न तस्यापत्येन योगो, यस्य चाऽपत्येन योगो न तत्षष्ठ्यन्तं, वाक्यं तत्।

समानाधिकरणों की (समानाधिकरण जो भी है उसकी) सर्वत्र वृत्ति नहीं होती। कहाँ सर्वत्र? अर्थात् सर्वत्र से क्या अभिप्राय है? समासविधि में और प्रत्ययविधि में। जैसे समासविधि में– 'ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः' यहाँ राजा की पुरुष के साथ वृत्ति (षष्ठीसमास) नहीं होता, और एक उदाहरण– 'महत्कष्टं श्रितः' यहाँ 'कष्टं' का श्रितः के साथ द्वितीयासमास नहीं होता। प्रत्ययविधि में 'ऋद्धस्योपगोरपत्यम्' इस विवक्षा में उपगु शब्द से 'तस्यापत्यम्' (अ०- ४.१.९२) इस अर्थ में प्राग्दीव्यतीय अण् (४.१.८३) नहीं होता और महान्तं पुत्रमिच्छति इस विवक्षा में 'पुत्रम्' से क्यच् नहीं होता।

अच्छा! हम यह पूछें कि यह क्या कारण है जो समानाधिकरणों की (समानाधिकरण की) सर्वत्र वृत्ति नहीं होती? कारण है, एक के साथ सम्बन्ध न होना अर्थात् समुदाय के साथ संबन्ध होना। क्योंकि यहाँ एक पद के साथ संबन्ध नहीं होता है। जैसे जो यह 'ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः' है– यहाँ षष्ठ्यन्त ('राज्ञः' इसका) सुबन्त (पुरुष) इसके साथ सामर्थ्य (अर्थात् संबन्ध) होने पर समास विधान किया जाता है। यहाँ उपर्युक्त विवक्षा में राज्ञः जो षष्ठ्यन्त है उसका (पुरुष इस) सुबन्त के साथ सामर्थ्य नहीं और जिस (ऋद्धस्य राज्ञः) का (पुरुष के साथ) सामर्थ्य (योग) है, वह षष्ठ्यन्त[1] नहीं, वह तो (पदसमुदायरूप) वाक्य है। इसी प्रकार 'ऋद्धस्योपगोरपत्यम्' यहाँ षष्ठी समर्थ (उपगोः इस प्रातिपदिक) से अपत्य अर्थ के साथ योग होने पर प्रत्ययविधान किया जाता है। 'ऋद्धस्योपगोरपत्यम्' इस विवक्षा में जो यह पष्ठ्यन्त 'उपगोः' पद है उसका अपत्य अर्थ के साथ योग नहीं, और जिस (ऋद्धस्योपगोः) का अपत्य अर्थ के साथ योग है, वह षष्ठीसमर्थ[2] नहीं है, वह तो वाक्य है।

---

१. 'प्रत्ययग्रहण०' परिभाषा के आश्रित तदादि नियम के द्वारा केवल 'राज्ञः' ही षष्ठ्यन्त है न कि 'ऋद्धस्य राज्ञः'।

२. यहाँ भी प्रत्ययग्रहण परिभाषा बल से तदादि नियम के आश्रित केवल 'उपगोः' को ही षष्ठीसमर्थ (षष्ठ्यन्त) कहा जा सकता है न कि 'ऋद्धस्योपगोः' को।

भा०– समानाधिरणानामित्युच्यतेऽथ व्यधिकरणानां कथम्– राज्ञः पुत्रमिच्छतीति?

शङ्किता का कहना है– ऊपर जो कथन किया गया है कि 'समानाधिकरणानां सर्वत्रावृत्तिरयोगादेकेन'– यहाँ 'समानाधिकरणानां' ऐसा कहा है। पर अब व्यधिकरणों के विषय में कैसे क्या करना चाहिये; जैसे– राज्ञः पुत्रमिच्छति। (राजा के पुत्र को चाहता है।) यहाँ 'राज्ञः' और 'पुत्रम्' का व्यधिकरण है। उपर्युक्त व्यवस्था के अनुसार तो, व्यधिकरण प्रसङ्गों में, व्यावृत्ति न होने से वृत्ति हो जानी चाहिये? समाधाता कहता है–

भा०– एवं तर्हीदं पठितव्यं– 'सविशेषाणानां सर्वत्राऽवृत्तिरयोगादेकेने'ति।

अच्छा तो (उपर्युक्त वचन को) इस रूप में पढ़ना चाहिये– विशेषणसहितों (विशेषणसहित) की सर्वत्र ही वृत्ति नहीं होती। क्योंकि (ऐसे प्रसङ्गों में) विशेषणरहित के साथ अर्थात् विशेष्यमात्र के साथ प्रत्ययार्थ का या उत्तरपद का संबन्ध नहीं होता, बल्कि सविशेषण का ही संबन्ध होता है।

शङ्किता उपर्युक्त समाधान में आपत्ति प्रस्तुत करता हुआ कहता है–

द्वितीयानुपपत्तिस्तु।

भा०– द्वितीया तु नोपपद्यते, महान्तं पुत्रमिच्छतीति।।

किं कारणम्? न पुत्र इषिकर्म।। यदि[1] पुत्रो नेषिकर्म, न चावश्यं द्वितीयैव। किं तर्हि? सर्वा (अत्र) द्वितीयादयो विभक्तयो न स्युः। महता पुत्रेण कृतम्, महते पुत्राय देहि, महतः पुत्रादानय, महतः पुत्रस्य स्वम्, महति पुत्रे निधेहीति। तस्मान्नैतच्छक्यं वक्तुं– 'न पुत्र इषिकर्मेति'।।

पुत्र एवेषिकर्म तत्सामानाधिकरण्यान्महतोऽपि द्वितीयादयो भविष्यन्ति।।

किन्तु उपर्युक्त सिद्धान्त को मान लेने पर तो 'महान्तं पुत्रमिच्छति' ऐसे प्रसङ्गों में 'पुत्र' इत्यादि में द्वितीया ही उपपन्न (सिद्ध) नहीं हो पायेगी। क्यों, ऐसा क्या कारण है? क्योंकि (उक्त स्थिति में) 'पुत्र' इषि (इष्-धातु का) कर्म नहीं है या नहीं होगा और जब 'पुत्र' इष् धातु का कर्म नहीं है, तो निश्चित ही बात केवल द्वितीया की ही नहीं है। तो क्या? तब तो (विशेषणसहित संदर्भ स्थलों में) सभी द्वितीयादि विभक्तियाँ ही नहीं हो पायेंगी। जैसे– 'महता पुत्रेण कृतम्' यहाँ तृतीया नहीं हो सकेगी, 'महते पुत्राय देहि' यहाँ चतुर्थी, 'महतः पुत्रादानय' यहाँ पंचमी, 'महतः पुत्रस्य स्वम्' यहाँ षष्ठी और 'महति पुत्रे निधेहि' यहाँ सप्तमी। इसलिये ऐसा नहीं कहा जा सकता कि 'पुत्र' इष् धातु का कर्म नहीं है (क्योंकि फिर तो ऐसे प्रसङ्गों में विभक्तिमात्र का व्यवहार ही उच्छिन्न हो जायेगा) अतः यही मानना उचित है कि 'पुत्र' ही 'इष्' धातु का कर्म है और उसके साथ सामानाधिकरण्य[2] होने से महत् शब्द के भी स्वयम् कर्म होने पर उससे द्वितीयादि तत्-तद् विभक्तियाँ हो जाती हैं, या हो जायेंगी।

---

१. यदि पुत्रो नेषिकर्मेति यतः पुत्रो नेषिकर्मेत्यर्थः (उद्योत)।

२. विशेषण दो प्रकार के होते हैं– एक समानाधिकरण विशेषण दूसरा व्यधिकरणविशेषण। उनमें समानाधिकरण विशेषण को विशेष्य के ही समानशक्तिवाला माना जाता है।

महाभाष्य

इस भाष्य का भाव यह है कि यदि यह मान लिया जाता है कि 'समानाधिकरणानां सर्वत्रावृत्तिरयोगादेकेन' या इसी का परिष्कृत (modified) रूप 'सविशेषणानां सर्वत्रावृत्तिरयोगदेकेन' अर्थात् यदि केवल पुत्र प्रातिपदिकार्थ का इष् धातु के साथ अर्थात् इच्छति के साथ सम्बन्ध नहीं चाहते- बल्कि महद् विशिष्ट पुत्र का ही चाहते हैं तब तो उसमें कर्मत्व का अभाव होने से उससे द्वितीया नहीं प्राप्त होती और प्रातिपदिकसमुदाय के अप्रादिपदिक होने से समुदाय से भी द्वितीया नहीं हो सकेगी। 'कर्मणि द्वितीया' इत्यादि स्थलों में 'कर्मणि' आदि उद्देश्य हैं और 'द्वितीया' आदि विधेय। उद्देश्य-विधेय इसमें उद्देश्य गुण (गौण) माना जाता है और विधेय प्रधान। कोई कहे कि प्रधानगत संख्या ही विवक्षित होती है गुणगत संख्या के विवक्षित न होने से समुदाय से द्वितीया हो जायेगी– सो प्रकृत में वैसा नहीं है, क्योंकि वैयाकरणों के द्वारा यह नियम समादृत नहीं है। जैसा कि भूषणकार ने कहा है– 'लक्ष्यानुरोधात्संख्यायास्तन्त्रान्ते मते यतः'। इस हेतु से प्रातिपदिक– समुदाय से द्वितीया की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि 'कर्मणि' यहाँ 'ङि' इस प्रत्यय से बोधित एकत्व संख्या विवक्षित है। अथवा 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इसके स्वादिविधि का शेष[१] होने से अप्रधान होते हुये भी एकत्व संख्या विवक्षित है अर्थात् एक प्रातिपदिक से ही 'सु' इत्यादि प्रत्यय हो सकते हैं न कि प्रातिपदिकसमुदाय से। और यह भी है कि प्रातिपदिकसमुदाय से द्वितीया उत्पत्ति-अनुत्पत्ति की बात को एक ओर कर दें तो भी 'महान्तं पुत्रम्' ऐसा कहा गया है– सो यहाँ इष्ट द्वितीया की अनुपपत्ति मात्र शङ्किता के द्वारा उपस्थापित की जा रही है। शङ्किता के इस उपर्युक्त आक्षेप का समाधान, समाधाता ने इस रूप में किया कि 'कुर्तुरीप्सिततमं कर्म' (अ०- १.४.४९) इस कर्मसंज्ञा विधायक नियम से इच्छति क्रिया के द्वारा 'पुत्र' के ही ईप्सिततम होने से वही कर्म है, महत्त्वादि गुणों में तो ईप्सा प्रकर्ष हो ही नहीं सकता इसलिये वे कर्म नहीं हैं। वे कर्म नहीं तो उनमें द्वितीया कैसे हो जाती है? वह तो प्रधानानुरोधी गुण या विशेष्यानुरोधी विशेषण के नियम से होती है।

इस उपर्युक्त स्थिति में शङ्किता पुनः प्रश्न करता है।

भा०– वृत्तिस्तर्हि कस्मान्न भवति?

अच्छा तो 'महान्तं पुत्रमिच्छति' यहाँ इस विवक्षा में वृत्ति (क्यच्) क्यों नहीं होती? इस पर समाधाता उत्तर देता है;

भा०– सविशेषणानां वृत्तिर्न, वृत्तस्य वा विशेषणं न प्रयुज्यत इति वक्तव्यम्।

विशेषसहितों की वृत्ति नहीं होती, अथवा वृत्तस्य अर्थात् वृत्ति हुये हुये के साथ विशेषण का प्रयोग नहीं होता– ऐसा कहना (ही) चाहिये।

---

१. ''शेषः परार्थत्वात्'' (मी० ३.१.२) इस न्याय से शेष अप्रधान होता है।

भाव यह है– सूत्र में सुब्ग्रहण का यही तो फल है कि केवल सुबन्त से क्यच् हो, विशेषण सहित सुबन्त से न हो। सुब् ग्रहण से यह बात कैसे निकलेगी? सुब्ग्रहण करने पर पदविधि हो जाती है। पदविधि के कारण समर्थपरिभाषा (अ०- २.१.१) के उपस्थित हो जाने से एक ही का, एककाल में व्यपेक्षासामर्थ्य भी हो और एकार्थीभावसामर्थ्य भी-ऐसा हो पाना असम्भव है। क्योंकि 'महान्तं पुत्रमिच्छति' इस कथन में 'पुत्र' इत्यादि अर्थ इच्छार्थक के साथ एकार्थीभाव को प्राप्त होने पर तो उपसर्जनत्व को प्राप्त हो रहा है। और वही महान्तम् इत्यादि विशेषणान्तर के साथ संबन्ध में प्रधानभाव को भी प्राप्त हो रहा है, सो इस प्रकार एक के एक ही बार में गुणप्रधानभाव के विरोध होने से वृत्ति नहीं होगी। यह व्याख्या कैयट-नागेशानुसारी है। शिवरामेन्द्र सरस्वती इससे सहमत नहीं है। उनके शब्द हैं– **वृत्तौ शक्तिमभ्युपगच्छतां वैयाकरणानां मते वृत्तिघटकानां पदानां स्वार्थमात्रपरत्वात्। राजसेवकादौ राजाद्यपेक्षयाप्राधान्यस्य स्वभृत्याद्यपेक्षया प्राधान्यस्य च दृष्टत्वेनैकस्यैकदा गुणप्रधानभावयोर्विरोधस्याप्रसिद्धे गुणप्रधानभावप्रयुक्तकार्यविशेषस्य यौगपद्यासंभवेऽपि विशेषणविशेष्यभावे विरोधासंभवात्। अन्यथा वाक्ये 'देवदत्तस्य गुरुकुलम्' इत्यादौ तदभावापत्तेश्च।**

प्रकृत प्रसङ्ग में शिवरामेन्द्र सरस्वती स्वयं भाष्यकार के द्वारा अनुपद ही दिये गये 'अगमकत्वात्' समाधान को ही सिद्धान्त रूपेण स्वीकार करते हैं।

भा०– यदि तर्हि सविशेषणानां वृत्तिर्न, वृत्तस्य वा विशेषणं न प्रयुज्यत इत्युच्यते– 'मुण्डयति माणवकम्' इत्यत्र वृत्तिर्न प्राप्नोति।

यदि 'सविशेषणानां वृत्तिर्न, वृत्तस्य वा विशेषणं न' यह व्यवस्था स्वीकार कर ली जाती है तो 'मुण्डयति माणवकम्' यहाँ 'मुण्डमिश्रश्लक्ष्ण०' (अ०– ३.१.२१) सूत्रविहित णिच् प्रत्यय की प्राप्ति नहीं हो सकेगी।

'सविशेषणानां वृत्तिर्न' इस कथन में 'सविशेषण' पद 'सापेक्ष' अर्थ का उपलक्षक है। इसीलिये 'ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः' यहाँ ऋद्धपद के साथ भी समास नहीं होता। प्रकृत में माणवक अर्थ की अपेक्षा रखने वाले 'मुण्ड' शब्द से 'णिच्' प्राप्त नहीं हो सकता। ऐसा कहा जा रहा है।

भा०– एवं तर्हि 'अमुण्डादीना'मिति वक्तव्यम्।।

अच्छा तो 'सविशेषणानां वृत्तिर्न०----' इस उपर्युक्त कथन में 'अमुण्डादीनाम्' इसे भी सम्मिलित कर लेना चाहिये। अर्थात् मुण्डादि शब्दों से तो विशेषणसहितों भावी सापेक्षों से भी वृत्ति हो जाती है– ऐसा कहना चाहिये।

शङ्किता और समाधाता दो व्यक्तियों की चर्चा सुनता हुआ एक तीसरा व्यक्ति बीच में पूछ बैठता है–

महाभाष्य

भा०– तत्तर्हि वक्तव्यं 'सविशेषणानां वृत्तिर्न, वृत्तस्य वा विशेषणं न प्रयुज्यतेऽमुण्डादीना' मिति?

तो फिर क्या ऐसा कहना चाहिये कि मुण्डादि शब्दों को छोड़कर सविशेषणों की वृत्ति नहीं होती और वृत्ति को प्राप्त हुये-हुये के साथ विशेषण का प्रयोग नहीं होता?

भा०– न वक्तव्यम्।

सिद्धान्ती उत्तर देता है– नहीं! कहने की आवश्यकता नहीं है।

भा०– वृत्तिस्तर्हि कस्मान्न भवति– महान्तं पुत्रमिच्छतीति?

पूर्वपक्षी फिर अपने उसी पुराने प्रश्न को दोहराता है– लेकिन (कोई रोक लगाने वाले वचन के अभाव होते हुये भी) 'महान्तं पुत्रमिच्छति' इस विवक्षा में वृत्ति क्यों नहीं होती?

भा०– अगमकत्वात्। इह समानार्थेन वाक्येन भवितव्यं, प्रत्ययान्तेन च। यश्चेहाऽर्थो वाक्येन गम्यते- 'महान्तं पुत्रमिच्छती'ति नाऽसौ जातुचित्प्रत्ययान्तेन गम्यते– 'महान्तं पुत्रीयति' इति। एतस्माद्धेतोर्ब्रूम:– 'अगमकत्वादिति', न ब्रूमो'ऽपशब्द: स्यादिति'। यत्र च गमकत्वं भवति,– भवति तत्र वृत्तिस्तद्यथा 'मुण्डयति माणवक'मिति।।

सिद्धान्ती समाधान देता है– अगमक होने से वृत्ति नहीं होती। यहाँ (प्रकृतविचारविषय में) वाक्य को और प्रत्ययान्त शब्द को परस्पर समानार्थक होना चाहिये। 'महान्तं पुत्रमिच्छति' इस वाक्य से जो अर्थ जाना जाता है, वह कभी भी 'महान्तं पुत्रीयति' इस रूप में निष्पन्न प्रत्ययान्त शब्द से नहीं जाना जा सकता। 'अपशब्द हो जायेगा' इस हेतु से वृत्ति नहीं होती– ऐसा हम नहीं कर रहे, बल्कि यह कह रहे हैं कि अगमक हेतु से वृत्ति नहीं होगी और जहाँ गमक (गमकत्व) होता है, वहाँ तो वृत्ति हो ही जाती है– जैसे कि मुण्डयति[१] माणवकम्। इस प्रत्ययान्त प्रयोग की 'माणवकं मुण्डं करोति' इस वाक्यार्थ के साथ अर्थबोधकता (समानार्थकता) होने से वृत्ति हो गयी है।

लौकिक प्रयोग में जहाँ साधुशब्दों से अर्थ का बोध किया जाता है वहाँ तद्भव और तत्सम असाधुशब्दों या अपभ्रंश शब्दों से भी अर्थ का ज्ञान कर लिया जाता है। भाष्यकार ने पस्पशा में स्पष्ट ही कहा है– ''समानायामर्थगतौ शब्देन चापशब्देन च शास्त्रेण धर्मनियम:'' और ऐसा ही ब्रह्मकाण्ड में हरि ने भी कहा है कि 'वाचकत्वाविशेषेऽपि नियम: पुण्यपापयो:'। गो और गावी दोनों ही शब्द लोक व्यवहार के निर्वाहक है। अन्तर केवल इतना है–

---

१. मुण्डयतीति प्रयोगे मौण्ड्यस्य क्रियारूपत्वेन कारकांशे नित्यसापेक्षतया गमकत्वमिति भाव: (उद्योत)।

गो शब्द अर्थात् साधुशब्द उस विशिष्ट गुण का अवबोधक होता हुआ द्रव्य का बोधक होता है जबकि असाधुशब्द (अपभ्रंशशब्द) रूढ अर्थमात्र के बोधक होते हैं। पर उसका क्या किया जाये जो लोक में सर्वथा ही अप्रयुक्त है! साधु-असाधु से भिन्न ये तीसरे प्रकार के शब्द हैं जिन्हें व्याकरण प्रक्रिया से तो असाधु घोषित नहीं किया जा सकता, पर लोक में अप्रयुक्त होने के कारण अर्थबोधन में असमर्थ हैं। व्याकरणस्मृति के द्वारा सिद्धशब्दों का असाधु (अपभ्रंश) शब्दों से निरास करने के लिये अन्वाख्यान किया जाता है, न कि अप्रयुक्त अर्पूव शब्दों का व्युत्पादन।

भा०– अथाऽस्य क्यजन्तस्य कानि साधनानि भवन्ति? भाव: कर्त्ता च।।

अच्छा अब हम यह जानना चाहते हैं कि इस क्यजन्त शब्दरूप के कौन-कौन से साधन होते हैं? भाव और कर्त्ता।

यद्यपि व्याकरण शास्त्र में 'साधन' शब्द क्रिया के निष्पादक अर्थात् 'कारक' के लिये प्रयुक्त होता है, पर प्रकृत में लकारोत्पत्ति का निमित्त साधन शब्द से कहा जा रहा है। इस अर्थ में 'भाव' के लिये भी साधन शब्द का व्यपदेश हो जाता है।

भा०– अथ कर्म?

और कर्म?

भा०– नास्ति कर्म।

कर्म तो नहीं है। क्यजन्त धातु का कर्म न होने से कर्म में प्रत्यय नहीं हो सकता।

भा०– ननु चायमिषि: सकर्मको, यस्यायमर्थे क्यज्विधीयते।

क्यों जी! यह इष् धातु तो सकर्मक है, जिसके कि अर्थ में यह क्यच् विधान किया जा रहा है।

आक्षेप्ता का यह भाव है– इच्छा अर्थ में क्यच् का विधान किया गया है और इच्छति है सकर्मक। फिर भी इस क्यजन्त धातु का कर्म क्यों नहीं उपलब्ध हो पा रहा है?

भा०– अभिहितं तत्कर्माऽन्तर्भूतं धात्वर्थ: सम्पन्नो, न चेदानीमन्यत्कर्मास्ति येन सकर्मक: स्यात्।

देखिये! (इच्छति का) जो भी वह (पुत्रादि) कर्म है, वह (क्यजन्त के द्वारा) अभिहित होता हुआ (पुत्रीय इत्यादि शब्द के) अन्तर्भूत होकर धात्वर्थ अर्थात् धातु के अर्थ का भाग बन गया है और अब ऐसा कोई अन्य कर्म है नहीं, जिसके द्वारा वह सकर्मक हो सके।

समाधाता का भाव है– कर्म जब धात्वर्थ के द्वारा अपने गर्भ में क्रोडी कर लिया जाता है तो सकर्मक धातु भी अकर्मक हो जाती है[१]– जैसे कि 'जीवति' में 'प्राणान्' कर्म अन्तर्गर्भित होने से 'जीव' धातु को अकर्मक माना जाता है। तद्वत् ही क्यजन्त धातु की भी स्थिति है। सो उसके अकर्मक हो जाने से कर्म में लादि का अभाव रहता है अर्थात् पुत्रादि कर्मविशेष के साथ इच्छा के एकार्थीभाव को प्राप्त हो जाने से, अब कर्मान्तर के साथ उसका अन्वय नहीं हो सकता। जैसे 'राजपुरुषो भार्याया:' कथन में यत: पुरुष का राजा के साथ संबन्ध हो चुका है, सो अब उसका भार्या के साथ अन्वय नहीं होगा या नहीं होता।

भा०– कथं तर्ह्ययं सकर्मको भवति– अपुत्रं पुत्रमिवाचरति पुत्रीयति माणवकमिति?

यदि ऐसी बात है तो 'अपुत्रं पुत्रमिवाचारति पुत्रीयति माणवकम्' इस प्रयोग में धातु सकर्मक कैसे हो जाती है? यहाँ भी तो पूर्ववत् ही पुत्र कर्म का अन्तर्भाव हो रहा है?

भा०– अस्त्यत्र विशेष:– द्वे ह्यत्र कर्मणी उपमानकर्मोपमेयकर्म च। उपमानकर्माऽन्तर्भूतम्, उपमेयेन कर्मणा सकर्मको भवति। तद्यथा 'अपि काक: श्येनायत' इत्यत्र द्वौ कर्त्तारौ उपमानकर्ता चोपमेयकर्त्ता च। उपमानकर्त्ताऽन्तर्भूत:, उपमेयकर्त्रा सकर्तृको भवति।।

यहाँ एक उदाहरण में उपर्युक्त उदाहरण से कुछ भेद है– यहाँ तो दो कर्म है– एक उपमानकर्म दूसरा उपमेय कर्म, उपमानकर्म (पुत्र) तो अन्तर्भूत हो गया है अर्थात् धात्वर्थ का भाग बन गया है, पर उपमेय कर्म (माणवक) धातु के अर्थ से बहिर्भूत है– इसलिये उस माणवक रूप उपमेय कर्म से धातु सकर्मक हो जाती है। जैसे कि 'अपि काक: श्येनायते' इस प्रयोग में दो कर्त्ता होते हैं– उपमान कर्त्ता (श्येन) और उपमेय कर्त्ता (काक)। श्येन उपमानकर्त्ता तो धातु में अन्तर्भूत हो गया। पर 'काक' इस उपमेयकर्त्ता के द्वारा श्येनायते यह आख्यातपद (क्रियापद) सकर्तृक होता है।

'क्यच्' प्रत्यय एक तो इच्छा[२] अर्थ में होता है। दूसरा होता है उपमानवाची सुबन्त से आचार[३] अर्थ में। इच्छार्थक क्यच् से आचारार्थक क्यच् की परिस्थितियाँ भिन्न हैं। यहाँ तो वाक्यावस्था में ही दो कर्म आकांक्षित हैं। सो उपमानकर्म के अभिहित हो जाने पर भी उपमेय कर्म की पृथक् उपस्थिति बनी रहती है। जैसे कि– 'अपि काक: श्येनायते' इस प्रयोग में 'श्येन इवाचरति काक:' इस कथन प्रकार में श्येन उपमानकर्त्ता के क्यङन्त[४] शब्दरूप में अन्तर्भाव हो जाने पर भी 'काक' इस उपमेयकर्त्ता से उक्त प्रयोग सकर्तृक हो जाता है।

---

१. उक्तञ्च– धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसंग्रहात्। प्रसिद्धेरविवक्षात: कर्मणोऽकर्मिका क्रिया।।

२. सुप आत्मन: क्यच्। (अं– ३.१.८)

३. उपमानादाचारे। (अं– ३.१.१०)

४. कर्त्तु: क्यङ् सलोपश्च (अं– ३.१.११) इत्यनेन क्यङ् अत्र द्रष्टव्य:।

भा०– अयं तर्हि कथं सकर्मको भवति– 'मुण्डयति माणवक'मिति?

अच्छा तो 'मुण्डयति माणवकम्' इस प्रयोग में कैसे सकर्मक हो जाता है?

यद्यपि 'मुण्डं करोति माणवकम्' ऐसा विग्रह देखे जाने से 'मुण्डयति' यहाँ भी मुण्ड और माणवक इन दोनों का कर्मत्व स्पष्ट ही विद्यमान है– इसलिये उक्त आक्षेपात्मक प्रश्न बनना ही नहीं चाहिये– तथापि अकेले 'मौण्ड्य' गुण के कर्मत्व होने पर, यत: गुण गुणी के आश्रय में ही रहता है– इसलिये मौण्ड्य गुण को गुणी रूप आश्रय की अपेक्षा होने से 'सापेक्षमसमर्थं भवति' इस व्यवस्था से सापेक्षत्वेन असामर्थ्य के कारण णिच् ही नहीं हो सकेगा– इस हेतु से मुण्डगुणविशिष्ट द्रव्य का ही कर्मत्व स्वीकार करना पडेगा और वैसा मानने पर माणवकरूप कर्म का धात्वर्थ में ही अन्तर्भाव है– इसलिये 'मुण्डयति' इस णिजन्त धातु को सकर्मक नहीं होना चाहिये ऐसा प्रश्नकर्त्ता का अभिप्राय है।

भा०– अत्राऽपि द्वे कर्मणी,– सामान्यकर्म विशेषकर्म च। सामान्यकर्माऽन्तर्भूतं, विशेषकर्मणा सकर्मको भवति।

यहाँ भी दो कर्म हैं– एक सामान्य कर्म और दूसरा विशेष कर्म। सामान्यकर्म ही धात्वर्थ के अन्तर्भूत हुआ है। न कि विशेष कर्म– इसलिये उसके द्वारा धातु सकर्मक हो जाता है।

ण्यन्तधातु मुण्डगुणविशिष्ट सामान्यरूपेण किसी एक द्रव्य को अपने अन्दर ग्रहण करने में सक्षम है, न कि माणवकादि विशेषद्रव्य को– इसलिये विशेषद्रव्य तो धातु के द्वारा अनभिहित ही बना रहता है– ऐसा समाधाता का कहना है।

भा०– ननु च वृत्त्यैवाऽत्र न भवितव्यम्।। किं कारणम्?

असामर्थ्यात्।। कथमसामर्थ्यम्? सापेक्षमसमर्थं भवतीति।।

क्यों जी! 'मुण्डयति माणवकम्' इस प्रयोग में तो णिच् की वृत्ति ही नहीं होनी चाहिये। क्यों, क्या कारण है? असामर्थ्य ही कारण है। असामर्थ्य कैसे? 'सापेक्ष असमर्थ होता है' इस प्रसिद्ध हेतु से।

यद्यपि उक्त शंका पहिले ही उपस्थापित कर दी गयी है और उसका परिहार भी कर दिया गया है– तो भी गमकत्व-अगमकत्वविषयविभागप्रदर्शन के लिये पुनरूपन्यास किया जा रहा है। विषयविभाग यही है कि 'मुण्ड' इत्यादि शब्दों से णिच् करने में गमकत्व है और क्यच् के विषय में अगमकत्व है।

भा०– नैष दोष:। नाऽत्रोभौ करोतियुक्तौ मुण्डो माणवकश्च। न हि माणवकत्वं क्रियते। यदा चोभौ करोतियुक्तौ भवतो न भवति तदा वृत्ति:। तद्यथा बलीवर्दं करोति, मुण्डं चैनं करोतीति।

नहीं! यह कोई दोष नहीं है। यहाँ 'मुण्डं करोति माणवकम्' इस उपर्युक्त उदाहरण में मुण्ड और माण्वक दोनों 'करोति' इस क्रिया से युक्त नहीं है। क्योंकि उक्त विवक्षा में 'माणवकत्व' किया नहीं जा रहा है– (किया तो केवल मौण्ड्य ही जा रहा है) जब कभी दोनों (कर्म) करोति से युक्त होते हैं, तब तो वृत्ति नहीं ही होती है। जैसे कि कहीं चित्रादि बनाते समय कोई चित्रकार बलीवर्द बना रहा है और उसे मुण्ड भी बना रहा है। इस विवक्षा में 'मुण्डयति बलीवर्दम्'– ऐसा प्रयोग नहीं होता।

'न हि माणवकत्वं क्रियते' भाष्यकार के इस कथन से ज्ञात होता है 'मुण्ड' शब्द णिच् वृत्ति में भावप्रधान गृहीत हुआ है। अर्थात् 'मौण्ड्यं करोति' इस अर्थ में 'मुण्डयति' यहाँ णिच् उत्पन्न होता है। 'मौण्ड्य' रूप अर्थ की उत्पद्यमानता के कारण 'मुण्डं करोति माणवकम्' यहाँ इस वाक्य में कर्मत्व मुण्ड का ही है और इसके साथ समानाधिकरण होने से माणवक शब्द से भी द्वितीया उत्पन्न हो गयी है न कि करोति क्रिया में अन्वित होने से क्योंकि करोत्यर्थ में तो उसका अन्वय है ही नहीं। कोई पूछ सकता है माणवक विशेष्य है– इसलिये उसके साथ सामानाधिकरण्य होने से मुण्ड शब्द से द्वितीया का कथन करना युक्त ठहरता है न कि मुण्ड के साथ सामानाधिकरण्य होने से माणवक शब्द से। इसका उत्तर यह है कि विवक्षावशात् गुणप्रधानभाव अर्थात् परिच्छेद्य-परिच्छेदक भाव अनियत है। परिच्छेदक भी परिच्छेद्य के समानशक्तिवाला ही होता है। इस प्रकार वृत्ति के समान वाक्य में भी मुण्ड का ही करोति के साथ योग माना गया है। माणवक का ग्रहण तो केवलमात्र मौण्ड्य के आधारविशेष का बोध कराने की दृष्टि से किया गया है। अत: वह करोतियुक्त नहीं है। अच्छा वाक्य में तो मुण्ड के साथ सामानाधिकरण्य होने से माणवक में द्वितीया हो गयी, पर वृत्ति में अर्थात् णिच् प्रत्यय होने पर मुण्डयति माणवकम् यहाँ माणवक का कर्मत्व और द्वितीयान्तत्व कैसे हो जाता है? अब 'मुण्डयति' के क्रियाविशेषवाची बन जाने से उसकी अपेक्षा से माणवक का कर्मत्व बन जायेगा। 'कृतपूर्वी कटम्' प्रयोग की भाँति इस 'मुण्डयति माणवकम्' प्रयोग को समझा जा सकता है। जैसे कि 'कृ' धातु का अविवक्षितकर्मत्वरूप अकर्मकत्व स्वीकार कर, पहिले भाव में क्तप्रत्यय कृत शब्द बना लिया जाता है और फिर तद्धितवृत्ति होने पर उसके साथ 'कट' का संबन्ध किया जाता है– उसके अनुक्त होने से द्वितीया हो जाती है, तद्वत् पहिले 'मुण्डयति' ऐसी वृत्ति होने पर पश्चात् मौण्ड्यरूपक्रिया के आश्रय से माणक्क का कर्मत्व बन जायेगा।

भा०– कामं तर्हि अनेनैव हेतुना क्यजपि कर्त्तव्यो 'माणवकं मुण्डमिच्छतीति', नोभाविषियुक्ताविति।।

फिर तो[१] इसी हेतु से 'माणवकं मुण्डम् इच्छति' इस विवक्षा में क्यच् भी कर देना चाहिये। क्योंकि माणवक और मुण्ड दोनों इष् धातु से युक्त नहीं है, बल्कि केवल मौण्ड्य ही चाहा जा रहा है। माणवक का तो मौण्ड्य के आधारविशेष का प्रतिपादन करने की दृष्टि से साथ में ग्रहण कर दिया गया है।

---

१. नि:शङ्क होकर।

भा०– न कर्त्तव्य:। उभावत्रेषियुक्तौ मुण्डो माणवकश्च।।

कथम्? न ह्यसौ मौण्ड्यमात्रेण सन्तोषं करोति, माणवकस्थमसौ मौण्ड्यमिच्छति।

नहीं! क्यच् तो नहीं किया जा सकता। क्योंकि मुण्ड और माणवक दोनों भी (उपर्युक्त विवक्षा में) इषियुक्त हैं। सो कैसे? देखिये! यह इच्छा करनेवाला मौण्ड्य मात्र से सन्तुष्ट नहीं होता या सन्तोष नहीं करता, बल्कि उस मौण्ड्य को माणवक में स्थित देखना चाहता है।

मौण्ड्य क्रिया के द्वारा माणवक की संस्कार्यता अभीष्ट होने से इष धातु के द्वारा निरूपण प्रसङ्ग में दोनों का ही क्रमत्व होने पर, यत: मुण्ड का माणवक समानाधिकरण विशेषण है इसलिये मुण्ड के सापेक्ष हो जाने से उससे प्रत्ययोत्पत्ति नहीं होगी। वस्तुत: यह सब कहते हुये भाष्यकार ने यही बात दर्शा दी है कि ण्यन्त में तो गमकत्व है पर क्यच् में गमकत्व नहीं है।

भा०– इहापि तर्हि न प्राप्नोति– 'मुण्डयति माणवक'मिति।

अत्रापि ह्युभौ करोतियुक्तौ मुण्डो माणवकश्च। न ह्यसौ मौण्ड्यमात्रेण सन्तोषं करोति।। किं तर्हि? माणवकस्थमसौ मौण्ड्यं निर्वर्तयति।।

फिर तो 'मुण्डयति माणवकम्' यहाँ भी णिच् नहीं प्राप्त होता। क्योंकि 'माणवकम् मुण्डमिच्छति' की भाँति 'माणवकं मुण्डं करोति' इस विवक्षा में भी तो मुण्ड और माणवक दोनों भी करोति से युक्त हैं। क्योंकि मुण्डनकर्त्ता व्यक्ति मौण्ड्य मात्र से सन्तोष नहीं कर रहा है। तो क्या कर रहा है? वह तो उस मौण्ड्य को माणवकस्थ होता हुआ देखना चाहता है।

उक्त आक्षेप यह मानते हुये किया गया है कि, 'मुण्डम् इच्छति' कहें या 'मुण्डं करोति'-दोनों ही स्थितियों में समानरूप से माणवक का आश्रय तो लेना ही पड़ता है। सो या तो दोनों ही जगह वृत्ति हो जानी चाहिये या फिर दोनों ही जगह नहीं होनी चाहिये। वस्तुत: इच्छति का फल जो इच्छा है, माणवक उसका तो आश्रय हो सकता है पर करोति का फल जो उत्पत्ति है, उसका आश्रय नहीं हो सकता, फिर भी आक्षेप्ता के द्वारा यह सूक्ष्म भेद देखा नहीं जा रहा है।

भा०– एवं तर्हि मुण्डादयो गुणवचना:। गुणवचनाश्च सापेक्षा:। तत्र वचनात्सापेक्षाणां वृत्तिर्भविष्यति।।

अच्छा तो ऐसा समझियेगा– मुण्डादि शब्द गुणवाची हैं। अर्थात् गुणप्रवृत्तिनिमित्तक हैं और गुणवचन सदा ही सापेक्ष होते हैं। परिच्छेद्य विशेष की अपेक्षा रखते हैं। सो वचनसामर्थ्य से सापेक्षों की भी वृत्ति हो जायेगी। क्यच् प्रत्यय तो निरपेक्ष पुत्रादियों से सावकाश है। इस हेतु से 'माणवकं मुण्डमिच्छति' इत्यादि में सापेक्षों से नहीं होता या नहीं होगा।

महाभाष्य

कोई कह सकता है– यह णिच् भी तो गुणमात्रविवक्षा में सावकाश है– जैसे कि 'मुण्डयत्ययं नापित:' अर्थात् यह नापित मौण्ड्यकरण में प्रवीण है। तो फिर द्रव्यविशेषापेक्षा में प्रत्यय नहीं प्राप्त हो सकेगा। इस आशङ्का को हृद्गत करके ही 'तत्र वचनात् सापेक्षाणां वृत्तिर्भविष्यति' ऐसा भाष्य में कहा है। भाष्यकार का भाव है– 'तत्करोति' (धातुसूत्र, चु० ३३८) से ही णिच् सिद्ध या, फिर भी जो 'मुण्डमिश्रश्लक्ष्ण०' (अं– ३.१.२१) सूत्र में णिच् का विधान करने के लिये मुण्डादियों का ग्रहण किया, उस सामर्थ्य से सापेक्ष मुण्डादियों से भी णिच् हो जायेगा– अन्यथा (यदि ऐसा न हो तो) सूत्र में मुण्डादि का ग्रहण ही व्यर्थ है। विशेषवचन का अभाव होने से क्यच् तो नहीं होगा– यह भी साथ में समझ लेना चाहिये।

भा०– अथवा धातव एव मुण्डादय:। न[१] चैव ह्यर्था आदिश्यन्ते, क्रियावचनता च गम्यते।।

अथवा एक और समाधान सुनियेगा– मुण्डादि सौत्र धातुएँ हैं, धातोरेकाचो० (अं- ३.१.२२) उत्तरसूत्रस्थ धातुग्रहण का 'मुण्डमिश्र०' इस पूर्वसूत्र में अपकर्ष होने से इनका धातुत्व निश्चित होता है। सो उन धातुभूत मुण्डादि से चुरादिवत् स्वार्थिक णिच् हो जायेगा।

मुण्डादियों को धातु स्वीकार करने में एक आपत्ति हो सकती है कि अर्थों का निर्देश तो है ही नहीं– यद्यपि यह आपत्ति है तो सही, पर फिर भी अर्थाभिधान के स्वाभाविक होने से प्रयोग से ही क्रियावचनता जान ली जायेगी। जैसे कि कण्ड्वादि धातु व प्रातिपदिक दोनों रूपों में उपलब्ध होते हैं उन्हीं के समान मुण्डादि को भी समझ लिया जायेगा। और वैसा स्वीकार करने पर धातुओं से णिच् और प्रातिपदिक से वाक्य यह व्यवस्था मान्य होगी।

भा०– अथवा नेदमुभयं युगपद्भवति– वाक्यं च प्रत्ययश्च। यदा वाक्यं न तदा प्रत्यय:। यदा प्रत्यय: सामान्येन तदा वृत्तिर्भवति। तत्राऽवश्यं विशेषार्थिना विशेषोऽनुप्रयोक्तव्य:। मुण्डयति। कम्? माणवकमिति। मुण्डविशिष्टेन वा करोतिना तमाप्तुमिच्छति।।

शिष्यबुद्धिपरीक्षार्थ मुण्डादि का प्रातिपदिकत्व ही आश्रय करके समाधानान्तर कहते हैं– अथवा ऐसा समझियेगा– वाक्य और प्रत्यय ये दानों एक साथ नहीं हुआ करते हैं। जब वाक्य होता है, तब प्रत्यय नहीं होता। और जब प्रत्यय होता है तो सामान्य अर्थ को लेकर ही वृत्ति होती है। अर्थात् वृत्ति के द्वारा कर्मसामान्य ही कहा जाता है। उस समय कर्मविशेष की अपेक्षा न रहने से उसका असंबन्ध ही रहता है। लेकिन बाद में तो विशेषार्थी के द्वारा विशेष का अनुप्रयोग प्रत्येक अवस्था में करना ही चाहिये। जब श्रोता यह जानना चाहेगा कि 'मुण्डयति कम्?' तो इस जिज्ञासा की पूर्त्ति 'माणवकम्' इस उत्तर के द्वारा की जायेगी।

---

१. यद्यपि न चैव हि मुण्डादीनामर्था आदिश्यन्ते (साक्षादुपादीयन्ते) तथापि क्रियावचनता (प्रयोगादेव) गम्यते– 'यद्यपि' इति 'तथापि' इति शेषपूरणेन ग्रन्थोऽयं लापनीय:।

अथवा, प्रकृत सन्दर्भ में यह प्रक्रिया भी अपनायी जा सकती है– मुण्डविशिष्ट करोति के द्वारा उस (माणवक) को प्राप्त करना चाहता है। इसका भाव यह है, पहिले शुद्ध करोति 'मौण्ड्य' के साथ संबन्धित होती है और फिर मौण्ड्य विशिष्ट अर्थात् मौण्ड्य द्वारा माणवक के साथ। कोई पूछ सकता है– 'अथवा नेदमुभयं युगपद्भवति-----' तथा 'मुण्डविशिष्टेन वा करोतिना तमाप्तुमिच्छति' इन दोनों समाधानों में क्या भेद है? क्योंकि दोनों ही जगह 'पहले करोति का मुण्डसंबन्ध है पश्चात् माणवक का संबन्ध' इसका उत्तर यह है– 'अथवा नेदमुभयं युगपत्----' इस परिहार में कर्मविशेष की अपेक्षा रहते हुये ही प्रत्ययोत्पत्ति होती है– ऐसा कहा गया है और 'मुण्डविशिष्टेन वा करोतिना----' इस दूसरे परिहार में माणवकरूप कर्मविशेष की अपेक्षा तो है पर वह बहिरङ्ग होने से पहिले उसका संबन्ध नहीं होगा– जैसे कि 'गां दोग्धि पय:' इस प्रयोग में शुद्ध 'दुह्' धातु का गोपयनिष्ठप्रधानव्यापार के द्वारा आप्यमान होने से पहिले गो के साथ सम्बन्ध होता है और फिर गोनिष्ठविशेषणव्यापार के द्वारा आप्यमान होने से बाद में गोविशिष्ट दुह् के साथ 'पय:' का– तद्वत् 'मुण्डं करोति माणवकम्' इस प्रकृत उदाहरण को भी समझना चाहिये।

भा०– अथवोक्तमेतत्– 'नाऽत्र[१] व्यापारोऽ[२]नुगन्तव्य:[३]' इति। गमकत्वादिह वृत्तिर्भविष्यति– 'मुण्डयति माणवक'मिति।।

इस उपर्युक्त न्याय से तो 'माणवकं मुण्डमिच्छति' यहाँ क्यच् भी प्राप्त होने लगेगा– ऐसी आशङ्का से समाधाता अपनी अन्तिम बात कह रहा है– अथवा पहिले दिया गया समाधान ही इस विषय में मुख्यरूप से समझना चाहिये। 'माणवकं मुण्डं करोति' इस अर्थ को कहने के लिये गमक हेतु से 'मुण्डयति माणवकम्' यहाँ वृत्ति हो जाती है– इसलिये प्रकृत में किसी यत्नविशेष का आश्रय लेने की कोई आवश्यकता नहीं है।

यहाँ प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'सापेक्षेभ्योऽपि मुण्डादिसूत्रारम्भसामर्थ्यात्०' अथवा 'धातव एव मुण्डादय:' अथवा 'नेदमुभयम्०' इत्यादि कई रूपों में यत्नविशेष का आश्रय किया गया है। उसी को लक्ष्य करके 'नाऽत्र व्यापारोऽनुगन्तव्य:' ऐसा कहा गया है। णिच् तो गमकत्व हेतु से हो जाता है पर क्यच् अगमकत्व के कारण नहीं हो पाता, इसका भाव यह है– ण्यन्तवृत्ति में मुण्डशब्द भावप्रधान है अर्थात् मौण्ड्य अर्थ का वाचक है– इस प्रकार वही करोति से युक्त ठहरता है न कि माणवक। क्यजन्त वृत्ति में तो मुण्ड शब्द धर्मिपरक होता हुआ माणवक के साथ समानाधिकरण है– इसलिये वहाँ इच्छा-क्यच् नहीं होता– सापेक्षत्वेन असामर्थ्य होने से। यदि यहाँ क्यच् कर भी दें तो क्यजन्त के द्वारा आचारार्थ की प्रतीति होने लगती है न कि इच्छार्थ की। जैसा कि हरि ने भी कहा है–

---

१. अथवोक्तमेतत्– (यत:) गमकत्वादिह वृत्तिर्भविष्यति 'मुण्डयति माणवक'मिति (अत:) नाऽत्र व्यापारोऽनुगन्तव्य' इति वाक्ययोजना।

२. यत्नविशेष– इत्यर्थ:।

३. आश्रयणीय– इत्यर्थ:।

सदपीच्छाक्यच: कर्म तदाचारक्यचा हृतम्।

वाक्यवाच्यमतो[१]ऽव्यक्तेर्यथाभ्यास: क्रमादिष्विति।।

'माणवकं मुण्डमिच्छति' इत्यादि स्थलों में न्याय से इच्छाक्यच् सम्बन्धी कर्म के संभव होने पर भी आचारार्थक क्यच् के द्वारा उसका अपहरण कर लिया जाता है– अर्थात् यदि कभी प्रयोक्ता 'मुण्डीयति माणवकम्' ऐसा प्रयोग करता है तो इससे यही अर्थ प्रकट होता है कि 'मुण्डमिवाचरति माणवकम्'। इसलिये किसी को इच्छा अर्थ का बोध कराना है तो वह 'माणवकं मुण्डमिच्छति' इस वाक्य के द्वारा ही कराना चाहिये न कि क्यजन्त के द्वारा (वाक्यवाच्यम्)। क्योंकि क्यजन्त से उस अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। जैसे कि क्रमादि धातुओं में पौन:पुन्य रूप अभ्यास अर्थ 'पुन: पुन: क्रामति' अथवा 'भृशं क्रामति' इस वाक्य के द्वारा ही जाना जाता है न कि यङ् के द्वारा; कारण– चङ्क्रम्यते इत्यादि यङन्त पद कौटिल्य अर्थ में रूढ हैं तथा जैसे भावगर्हाभिधायी (धात्वर्थ की निन्दा करने में प्रयुक्त हुआ) लोलुप्यते (गर्हितं लुम्पति) इत्यादि प्रसिद्ध प्रयोग अभ्यास (पौन: पुन्य) अर्थ में लोलुप्यते इत्यादि शब्द का अपहरण कर लेता है। यदि वक्ता को अभ्यास अर्थ का कथन करना अभिप्रेत हो तो, वह पुन: पुन: लुम्पति इस वाक्य के द्वारा ही कहा जा सकता है न कि यङन्त के द्वारा– तद्वत् प्रकृत में भी समझना चाहिये। इस स्थिति में 'मुण्डादि' शब्द को तो प्रपञ्चार्थ ही मानना होगा। इस सब कथनोपकथन से यह भली भाँति निश्चित हो जाता है कि आचारक्यजन्त से तो कर्म में प्रत्यय हो जाता है, पर इच्छाक्यजन्त से नहीं होता।

सूत्र में 'सुप:' ऐसा सामान्य करके निर्देश होने से जैसे द्वितीयान्त से इच्छा अर्थ में क्यच् होने पर कर्त्ता में लकार होता है, वैसे ही प्रथमान्त से क्यच् होकर कर्म में लकार क्यों नहीं होता– इस आशय से प्रष्टा पूछता है–

भा० – अथेह क्यचा भवितव्यम्– इष्ट: पुत्र:[२], इष्यते पुत्र इति?

अच्छा! 'इष्ट: पुत्र:' अथवा 'इष्यते पुत्र:' यहाँ, इस विवक्षा में क्यच् होना चाहिये या नहीं?

---

१. अतोऽनभिव्यक्तेरगमकत्वादित्यर्थ:।

२. 'अस्ति' या 'भवति' क्रिया के गम्यमान होने से 'पुत्र इष्टो भवति' यह भी 'इष्यते पुत्र:' के तुल्यार्थक ही है।

'जीवति' इत्यादि की भाँति इच्छाक्यजन्त के अकर्मक होने से कर्म में लादि की अनुत्पत्ति का समर्थन किया गया। किन्तु अब प्रकारान्तर से कर्म में लाद्युत्पत्ति की आशङ्का प्रस्तुत की जा रही है। 'इष्टः पुत्रः' या 'इष्यते पुत्रः' इस उपर्युक्त विवक्षा में यदि क्यच् हो जाता है तो क्यच् के द्वारा तो केवल इच्छामात्र का ही कथन हो पायेगा– इस हेतु से कर्म का कथन करने के लिये अवश्य ही कर्मवाची प्रत्यय को भी उत्पन्न होना चाहिये– जैसे कि 'पुत्रीयति' यहाँ कर्त्ता को कहने के लिये तिप् उत्पन्न होता है[१]।

आक्षेप्ता का कहना यह है कि यदि 'इष्टः पुत्रः' या 'इष्यते पुत्रः' इस विवक्षा में क्यच् हो जाता है तो क्यजन्त से कर्म में लादि को लाना ही होगा।

भा०– केचित्तावदाहुः– 'न भवितव्य'मिति।। किं कारणम्? स्वशब्देनोक्तत्वादिति।।

कुछ विद्वान् उपर्युक्त समस्या के बारे में ऐसा कहते हैं– उक्त विवक्षा में क्यच् नहीं होना चाहिये। क्या कारण है? क्यों नहीं होना चाहिये? स्व शब्द के द्वारा कथन कर दिये जाने से। प्रकृत में 'स्व' शब्द का अर्थ है 'कर्मत्व', इस प्रकार 'स्वशब्देनोक्तत्वात्' का अर्थ होगा– कर्मत्व का वाचकशब्द जो क्त या यक् है उसके द्वारा (अर्थात् क्त व यक् के द्वारा) कर्मत्व के कह दिये जाने से यहाँ 'पुत्र' यह सुबन्त कर्मत्व का वाचक नहीं है इसलिये उक्त विवक्षा में क्यच् नहीं होना चाहिये। भाव यह है– सूत्र के द्वारा आत्मसंबन्धी सुबन्त कर्म से इच्छार्थ में क्यच् का विधान किया जा रहा है। किन्तु 'इष्ट पुत्रः' या 'इष्यते पुत्रः' इस विवक्षा में इष्ट या इष्यते के साथ सामानाधिकरण्य होने से पुत्रगत कर्मत्व के साक्षात्कर्मवाची 'क्त' या कर्म में आये 'ल' के द्वारा अभिधान हो जाने से अब पुत्र सुबन्त के प्रातिपदिकार्थमात्र परक ही ठहरने से (कर्मत्व का वाचक न रहने से) उससे क्यच् नहीं होगा। एक अन्य दृष्टि से भी यह विषय विचार्य है– किसी भी क्रिया के दो भाग होते हैं– फल और व्यापार। 'इष्ट पुत्रः' या 'इष्यते पुत्रः' इस विग्रह में फल की विशेष्यता (प्रधानता) है और 'पुत्रीयति' इत्यादि में व्यापार की– इस प्रकार भिन्नार्थ होने से उस अर्थ में क्यच् नहीं होता किन्तु 'पुत्रमिच्छति' इसी अर्थ में ही होता है। 'इष्टः पुत्रः' इत्यादि में सामानाधिकरण्य के अनुरोध से कर्म प्रत्यय में फल की विशेष्यता तो अवश्य स्वीकार करनी ही चाहिये, क्योंकि यही नियम है– कर्मप्रत्यय मे फलमुख्यविशेष्यक बोध होता है, और कर्तृप्रत्यय में व्यापारमुख्यविशेष्यक।

---

१. 'पुत्र' इस प्रथमान्त पद का इष्ट शब्द के साथ सामानाधिकरण्य देखे जाने से कर्मत्व का 'सद्भाव' होने पर भी उसके (पुत्र शब्द के) कर्मवाचकत्व के अभाव होने से अर्थात् कर्मत्व का सद्भाव तो है फिर भी वह पुत्र शब्द कर्मवाचक नहीं है क्योंकि उपर्युक्त विवक्षा में 'इष्ट' यह शब्द कर्मवाचक है, सो उससे (पुत्र शब्द से) क्यच् करते समय उसके द्वारा (क्यजन्त पुत्र शब्द के द्वारा) कर्म का कथन नहीं हो पायेगा। अतः उससे कर्मप्रत्यय (त) को हो जाना चाहिये।

शिवरामेन्द्रसरस्वती ने 'स्वशब्देनोक्तत्वात्' पर लिखा है– पुत्र के इष् धातु के प्रति कर्मता के रूप में विवक्षित होने से और कर्तृवाच्य के कर्म में द्वितीया के ही उचित होने से द्वितीयान्त से ही क्यच् होना चाहिये। भाव यह है द्वितीयान्त के द्वारा अभिहित जो कर्मरूप अर्थ उसके धात्वर्थ में अन्तर्भाव हो जाने से और इस प्रकार धातु के अकर्मक हो जाने से उससे कर्म में लकार नहीं हो सकेगा।

भा०– अपर आहुः– 'भवितव्य'मिति।। किं कारणम्? धात्वर्थेऽयं। क्यज्विधीयते। स च धात्वर्थः केनचिदेव शब्देन निर्देष्टव्य इति।।

दूसरे विद्वान् ऐसा कहते हैं कि क्यच् तो हो जाना ही चाहिये। क्या कारण है? धात्वर्थ अर्थात् इच्छार्थ में इस क्यच् का विधान किया जा रहा है। और वाक्य में वह धात्वर्थ किसी भी शब्द से निर्देश किया जा सकता है। कर्तृप्रत्यय हो या कर्मप्रत्यय इससे कुछ व्यत्यास (अन्तर) नहीं पड़ता। हाँ क्यच् आने पर तो क्यच् प्रत्ययान्त धातु के अकर्मक होने से कर्मप्रत्यय नहीं होगा।

भा०– इह भवन्तस्त्वाहुः 'न भवितव्य'मिति।। किं कारणम्? इह समानार्थेन वाक्येन भवितव्यं प्रत्ययान्तेन च। यश्चेहाऽर्थो वाक्येन गम्यते– इष्टः पुत्रः, इष्यते पुत्र इति नाऽसौ जातुचित् प्रत्ययान्तेन गम्यते।।

पूज्य वैयाकरणों का तो इस विषय में कहना है– (कर्मप्रत्यय की तो कौन कहे) क्यच् भी नहीं होना चाहिये। क्या कारण है? क्यों नहीं होना चाहिये? कारण है– सर्वत्र वाक्य और प्रत्ययान्त शब्द (वृत्ति) को समानार्थक होना चाहिये। 'इष्टः पुत्रः' या 'इष्यते पुत्रः' के द्वारा जो अर्थ जाना जाता है वह कभी भी प्रत्ययान्त शब्द के द्वारा नहीं जाना जा सकता। अर्थात् इच्छाक्यजन्त जो भी प्रत्ययान्त धातु होगी उसके अकर्मक हो जाने से उससे कर्म में प्रत्यय उत्पन्न हो पाना सर्वथा असंभव ही है। इसलिये 'इष्टः पुत्रः' इत्यादि कर्मप्रत्ययान्त शब्दों से विग्रह दर्शाना भी अनुचित ही होगा।

वा०– क्यचि मान्ताव्ययप्रतिषेधः।।१।।

भा०– क्यचि मान्ताव्ययानां[१] प्रतिषेधो वक्तव्यः। इह मा भूत् इदमिच्छति किमिच्छति। उच्चैरिच्छति। नीचैरिच्छति।

क्यच् प्रत्यय के विधान में मान्तप्रकृतिक सुबन्तों का और अव्ययों का प्रतिषेध करना चाहिये। अर्थात् मान्तप्रकृतिक सुबन्तों से और अव्ययों से क्यच् नहीं होता– ऐसा कहना चाहिये। जिससे कि यहाँ न हो– इदमिच्छति किमिच्छति। उच्चैरिच्छति। नीचैरिच्छति। वार्त्तिक में मान्तत्व सुबन्त का विशेषण नहीं है। (अपितु प्रकृति का है इसलिये 'मान्तप्रकृतिक' ऐसा अर्थ लेना है।) अन्यथा 'पुत्रमिच्छति' इत्यादि में तो क्यच् नहीं हो सकेगा। और 'काविच्छति' इत्यादि में होने लगेगा।

---

१. मान्ताश्चाव्ययानि च मान्तव्ययानि, तेषाम्।।

वा०– गोसमानाक्षरनान्तादित्येके[1] ।।२।।

भा०– गोसमानाक्षरनान्तादित्येके वक्तव्यमित्याहु:। गामिच्छति गव्यति।

समानाक्षरात्– घटीयति, पटीयति, दधीयति, मधूयति, कर्त्रीयति। नान्तात्– राजीयति, तक्षीयति।

कुछ आचार्यों का मत है कि गो शब्द , समानाक्षर (अर्थात् अ आ इ ई उ ऊ ऋ– ये अक्षर) अन्त में हैं जिनके वे शब्द और नकारान्त शब्दों से ही क्यच् प्रत्यय हो। जैसे गव्यति यहाँ गो शब्द से क्यच् होने पर 'वान्तो यि प्रत्यये' (अ०– ६.१.७६) से वान्तादेश हो गया है। घटीयति[2], दधीयति[3], मधूयति[3], कर्त्रीयति[4]– इनमें समानाक्षरान्त से और राजीयति[5], तक्षीयति[5]– यहाँ नकारान्तों से क्यच् प्रत्यय हुआ है।

पर इस पक्ष में 'वाच्यति', 'मृद्यति' इत्यादि सिद्ध नहीं हो पायेंगे– इसलिये यह स्थितपक्ष नहीं है। भाष्यकार ने मतभेद प्रदर्शन करने के लिये उपन्यास कर दिया। इसलिये 'इत्याहु:' कहते हुये इस मत को अरुचिग्रस्त दर्शाया है।

काम्यच्च।।३.१.९।।

भा०– किमर्थश्चकार: ?

आक्षेप्ता 'काम्यच्' प्रत्ययस्थ चकार का प्रयोजन जानने की इच्छा से पूछता है– चकार किसलिये है?

भा०– स्वरार्थ:। चितोऽन्त उदात्तो भवतीप्यन्तोदात्तत्वं यथा स्यात्।

काम्यच् का चकार स्वर के लिये है। चित् के अन्त का उदात्त होता है– (अ०– ६.१.१५७) इस नियम के कारण अन्तोदात्त हो जाया करें।

भा०– नैतदस्ति प्रयोजनम्। धातुस्वरेणाप्येतत्सिद्धम्।।

यह तो कोई प्रयोजन नहीं है। 'काम्यच्' प्रत्ययान्त 'सनाद्यन्ता धातव:' (अ०– ३.२.३२) से धातु-संज्ञक होकर धातुस्वर (धातो:– अ०- ६.१.१५६) से भी यह (अन्तोदात्तत्व) सिद्ध है।

---

१. गौश्च समानाक्षरञ्च नान्तञ्चेति तत् तथोक्तम्, तस्मात्।

२. क्यचि च (अ०– ७.४.३३) इति ईत्वम्।

३. अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घ: (अ०– ७.४.२५) इति दीर्घत्वम्।

४. रीङ् ऋत: (अ०– ७.४.२७) इति रीङ् आदेश:।

५. 'न: क्ये' इति पदत्वान्नलोपे, क्यचि च इत्यनेन ईत्वम्। नलोप: सुप्स्वर० (अ०– ८.२.२) इति नियमान्नासिद्धत्वम्।

महाभाष्य

भा०– ककारस्य तर्हीत्संज्ञापरित्राणार्थ आदितश्चकार: कर्त्तव्य:।।

अच्छा तो ककार की इत्संज्ञा के परित्राण के लिये आदि में चकार करना चाहिये।

अन्त में भी किया गया आदि में किये गये फल का संपादक होने से आदि में ही किया गया मान लिया जायेगा। जब चकार को आदि में कर लेते हैं तो ककार के अनादि हो जाने से 'लशक्वतद्धिते' (अ०– १.३.८) से विहित ककार की इत्संज्ञा नहीं होती। इसी प्रकार अन्त में भी किया गया– यत: चित्कार्य अन्तोदात्तत्व तो अन्यथासिद्ध है– इसलिये नियमार्थ हो जायेगा– यह काम्यच् चित् शब्द से ही व्यपदेश करने योग्य है, न कि अनुबन्धान्तर से। इस प्रकार नियमार्थता से चकार आदिपाठ फलवाला संपन्न हो जायेगा।

शिवरामेन्द्र सरस्वती कैयट की उपर्युक्ता व्याख्या से सहमत नहीं है। उनका कहना है यदि भाष्यकार का ऐसा अभिप्राय होता तो स्वयं ही– 'चिदेवेति नियमार्थस्तर्हि चकार: कर्त्तव्य:'। ऐसा कह देता। इसलिये यथाश्रुत व्याख्यान ही करना चाहिये। अर्थात् 'काम्यच्' को 'च्काम्य' पढ़ना चाहिये।

भा०– अत उत्तरं पठति।

इस उपर्युक्त भूमिका को आधार बनाकर वार्तिककार अपना उत्तर देते हुये वार्तिक पढ़ते हैं–

वा०– काम्यचश्चित्करणानर्थक्यं कस्येदर्थाभावात्।।१ ।।

भा०– काम्यचश्चित्करणमनर्थकम्।। ककारस्य तर्हीत्संज्ञा कस्मान्न भवति? 'इदर्थाभावात्'। इत्कार्याभावादत्रेत्संज्ञा न भविष्यति।।

वा० काम्यच् का चित्करण व्यर्थ है। ककार की इत्संज्ञा से किसी प्रयोजनसिद्धि का अभाव होने से।

भाष्यम्– काम्यच् प्रत्यय में चकार को इत्संज्ञक रखना अनर्थक है। ककार की इत्संज्ञा रोकने के लिये यदि चकार नहीं रखेंगे तो स्वभावत: यह प्रश्न उठेगा कि ककार की इत्संज्ञा क्यों नहीं होती? सो उक्त प्रश्न का उत्तर यह दिया जायेगा कि इत्कार्य का अभाव होने से यहाँ ककार की इत्संज्ञा नहीं होगी।

भा०– ननु च लोप एवेत्कार्यम्।।

क्यों जी इत्संज्ञा होने से 'तस्य लोप:' (अ०– १.३.९) के विधानानुसार लोप हो जाया करता है, सो लोप है तो सही इत्कार्य। आप यह कैसे कह रहे हैं कि इत्कार्य नहीं है?

भा०– अकार्यं लोप:। इह हि शब्दस्य कार्यार्थो वा भवत्युपदेश: श्रवणार्थो वा। कार्यं चेह नाऽस्ति। असति कार्ये यदि श्रवणमपि न स्यादुपदेशोऽनर्थक: स्यात्।।

लोप को इत्कार्य नहीं कहा जा सकता। यहाँ व्याकरणशास्त्र में शब्द का या तो कार्यार्थ उपदेश है या फिर श्रवणार्थ। कार्य तो यहाँ ककार की इत्संज्ञा से कुछ भी है नहीं। और इस प्रकार कार्य के अभाव में यदि श्रवण भी न हो तो उपदेश अनर्थक हो जायेगा।

भा॰– इदं तर्हीत्कार्यम्। अग्निचित्काम्यति। कितीति गुणप्रतिषेधो यथा स्यात्।।

फिर भी आप यह कैसे कहते हैं कि ककार की इत्संज्ञा का आश्रित कोई कार्य नहीं है। यह रहा कार्य– अग्निचित्काम्यति। यहाँ 'काम्य' के ककार की इत्संज्ञा होने से क्ङिति च (१.१.५) से कित् परे रहते विधीयमान गुणप्रतिषेध हो जाया करे।

'अग्निं चितवान्' इति अग्निचित्, तमिच्छति-अग्निचित्काम्यति। कित्करण का प्रयोजन दर्शाने वाले व्यक्ति की ओर से ऐसा कहा जा रहा है कि 'काम्यच्' के कित् को लेकर अग्निचित् में 'पुगन्तलघूपधस्य च' (अ॰– ७.३.८६) से प्राप्त गुण का अभाव समझा जा सकता है।

भा॰– नैतदस्ति प्रयोजनम्। सार्वधातुकार्धधातुकयोरङ्गस्य गुण उच्यते, धातोश्च विहितः प्रत्ययः शेष आर्धधातुकसंज्ञां लभते। न चायं धातोर्विधीयते।।

नहीं! यह प्रयोजन नहीं हो सकता। क्योंकि सार्वधातुक-आर्धधातुक प्रत्ययों के परे रहते अङ्ग को गुण कहा जाता है। और धातु से विहित (धातु शब्द का उच्चारण करके विहित) प्रत्यय जो शित् तिङ् से शेष हैं वह आर्धधातुकसंज्ञा को प्राप्त होता है। यह 'काम्यच्' तो ऐसा प्रत्यय है जिसका धातु से विधान ही नहीं किया जाता– इसका तो सुबन्त से विधान किया गया है।

भा॰– इदं तर्हि प्रयोजनम्, उपयट्काम्यति। कितीति संप्रसारणं यथा स्यात्।

अच्छा तो कित्करण का एक और प्रयोजन संभावित है– उपयट्काम्यति यहाँ कित् प्रत्यय के परे रहते 'वचिस्वपियजादीनां किति' (६.१.१५) से विधीयमान संप्रसारण हो जाये।

उपयजत इत्युपयट्[१], तमिच्छति उपयट्काम्यति। यहाँ कित्करणप्रयोजनवादी का भाव है– उपयट् शब्द 'विच्' इस अश्रावी प्रत्यय से निष्पन्न होता है। अश्राविप्रत्ययान्तशब्द धातुधर्म को नहीं छोड़ते इसलिये कित्प्रत्यय के परे रहते यज् धातु को संप्रसारण की प्राप्ति संभव है। 'क्विबन्तो धातुत्वं न जहाति' यहाँ 'क्विबन्त' यह अश्राविप्रत्ययान्त का उपलक्षण है।

भा॰– एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। यजादिभिरत्र कितं विशेषयिष्यामो 'यजादीनां यः कि'दिति। कश्च यजादीनां कित्? यजादिभ्यो यो विहित इति।।

प्रयोजननिराकरणवादी का कहना है– यह भी कोई प्रयोजन नहीं है। यजादियों के द्वारा यहाँ कित् को विशेषित करेंगे। यजादिसंबन्धी जो कित् है– उसके परे रहते। ऐसा कौन हो सकता है जो यजादि संबन्धी कित् हो? ऐसा वही हो सकता है जो यजादियों से विहित हो । प्रकृत में तो कित् समझा जाने वाला काम्यच् सुबन्त से विहित है न कि यजादि धातुओं से। इसलिये वचिस्वति॰ सूत्रविहित संप्रसारणरूप कार्य उक्त उदहारण में प्राप्त ही नहीं हो पा रहा है।

---

१. विजुपे छन्दसि (अ॰– ३.२.७३) इति यजधातोर्विच्प्रत्ययः। ततः काम्यच्।

महाभाष्य

भा०– अथाऽपि[२] कथंचिदित्कार्यं स्यादेवमपि न दोषः। क्रियते न्याय एव द्विचकारको निर्देशः– 'सुप आत्मनः क्यच् च्काम्यच्चे'ति।।

अथवा छान्दसमेतत्। दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति, न चाऽत्र संप्रसारणं दृश्यते।।९।।

समाधाता (काम्यच् के अन्त्य चकार प्रत्याख्यानवादी तथा ककार इत्संज्ञा को अभ्युपगम से मानने वाला) अपना अन्तिम कथन प्रस्तुत करता है। और जैसे-तैसे इत्कार्य (अर्थात् कित्कार्य) सिद्ध कर भी दिया जाये और सूत्रस्थ अन्त्य चकार न हो तो भी कोई दोष नहीं। क्योंकि आचार्य ने सूत्रन्यास में ही द्विचकारवाला निर्देश किया हुआ है– 'सुप आत्मनः क्यच्च्काम्यच्च'। (यदि कोई पूछे 'प्रचलित पाठ में फिर वह चकार सुनाई क्यों नहीं देता?' तो उसका उत्तर है 'छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति' मानकर छान्दस वर्ण लोप हो रहा है।) अथवा 'उपयट्' यह प्रयोग छान्दस है और छन्द में दृष्टानुविधि हुआ करती है, छन्द में उक्त प्रयोग में संप्रसारण देखा ही नहीं जाता– इसलिये इत्कार्य सम्भव होने पर भी इत्कार्य नहीं होगा।

इत्कार्य मानने पर 'वाक्काम्यति' आदि में संप्रसारण को रोकने के लिये 'वचिस्वपियजादीनाम्०' सूत्र का विहित विशेषण के आधार पर 'यजादिभ्यो यो विहितः कित्' ऐसा पूर्व परिहार ही स्वीकार किये जाने से अतिव्याप्तिदोष उपस्थित नहीं होगा। अथवा 'धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्यये कार्यविज्ञानात्' (परिभाषिक० ७८) इस परिभाषा के बल से भी 'वाक्काम्यति' या 'उपयट्काम्यति' आदि में संप्रसारण की प्राप्ति नहीं होगी। उक्त परिभाषा का भाव है– जहाँ धातु का स्वरूपग्रहण होता है, वहाँ धातुशब्द का उच्चारण करके विहित प्रत्यय के परे रहते ही वह कार्य होता है। प्रकृत में 'काम्यच्' प्रत्यय धातुशब्द का उच्चारण करके नहीं लाया जाता बल्कि यह तो सुबन्त से आता है।

उपमानादाचारे।।३.१.१०।।

वा०– अधिकरणाच्च।।१।।

भाष्यम्– अधिकरणाच्चेति वक्तव्यम्। इहापि यथा स्यात्कुटीयति प्रसादे। प्रासादीयति कुट्याम्।।१०।।

सूत्र के द्वारा उपमानवाची सुबन्त कर्म से आचार अर्थ में प्रत्ययविधान किया गया है। चाहते यह हैं कि उपमानवाची अधिकरण से भी प्रत्यय हो जाये– इसके लिये वार्तिकारम्भ किया जा रहा है। ''उपमानवाची अधिकरण से भी क्यच् हो जाता है''– ऐसा कहना चाहिये। जैसे– कुट्यामिवाचरति प्रासादे– कुटीयति प्रासादे। कोई व्यक्ति प्रासाद में भी ऐसा आचरण कर रहा है अर्थात् ऐसे रह रहा है जैसे कुटी में। इसके विपरीत जब विवक्षित होगा कि कुटी में भी ऐसे रह रहा है जैसे प्रासाद में रह रहा हो, तब प्रासादीयति कुट्याम् ऐसा प्रयोग उपपन्न होगा।

---

२. जब यजादियों से कित् को विशेषित नहीं किया जाता– अपितु यजादि कार्यी रूप में ही केवल निर्दिष्ट समझे जाते हैं– तब।

कर्तुः क्यङ् सलोपश्च।।३.१.११।

भाष्यम्– सलोपसन्नियोगेनाऽयं क्यङ्विधीयते, तेन यत्रैव सलोपस्तत्रैव क्यङ् स्यात्-पयायते। इह न स्यात्- अपि काकःश्येनायते।।

सलोपविधि में 'कर्तुः' यह स्थानषष्ठी है। सकार[1] के द्वारा जब कर्त्ता को विशेषित करेंगे तो 'येन विधिः०' (अ०- १.१.७१) के नियम से तदन्तविधि होकर अर्थ बनेगा– सकारान्त कर्त्ता का लोप[2] (अलोऽन्त्यस्य– १.१.५१ के नियम से अन्त्य का) होता है और साथ में क्यङ् प्रत्यय भी।[3] क्यङ् प्रत्यय और लोप की एकवाक्यता मानकर उक्त आक्षेप किया जा रहा है। एकवाक्यता बनाने के लिये सूत्रस्थ 'च' शब्द को संनियोग अर्थ का वाचक माना जायेगा।

इसलिये यह आपत्ति नहीं की जा सकती कि विधेय के अनेकत्व में एकवाक्यता कैसे बेनगी।

आक्षेप्ता का कहना है– सलोपसंनियोग से इस क्यङ् का विधान किया जा रहा है, इसलिये जहाँ ही सलोप प्राप्त होगा, वहीं क्यङ् हो पायेगा– जैसे कि पयायते (पयस्-क्यङ्)। और यहाँ 'अपि काकः श्येनायते' इस प्रकार के प्रयोगों में सलोप नहीं है– इसलिये क्यङ् भी नहीं होगा, या नहीं हो सकेगा।

भा०– नैतदस्ति। प्रधानशिष्टः क्यङ्, अन्वाचयशिष्टः[4] सलोपो, यत्र च सकारं पश्यसीति। तद्यथा कश्चिदुक्तो 'ग्रामे भिक्षां चर देवदत्तं चानये'ति। स ग्रामे भिक्षां चरति यदि च देवदत्तं पश्यति तमप्यानयति।।

समाधाता वाक्यभेद तथा अन्वाचय में 'च' शब्द को मानता हुआ परिहार देता है–

नहीं! यह आपकी आपत्ति उचित नहीं है। क्योंकि यहाँ क्यङ् तो एक स्वतन्त्र वाक्य के द्वारा उपमान कर्त्तामात्र से प्रधानरूप से विहित है और सलोप दूसरे वाक्य के द्वारा अप्रधानरूपेण अर्थात् जहाँ कहीं सकार को देखो- वहाँ उसका लोप भी हो जाता है। जैसे कि– (किसी आचार्य के द्वारा) किसी (ब्रह्मचारी) को कहा गया– ग्राम में भिक्षाओं के लिये जाओ और देवदत्त को भी ले आना। वह (ब्रह्मचारी) ग्राम में घर-घर से भिक्षा प्राप्त करता है और यदि उस भिक्षासंग्रहण समय कहीं देवदत्त को भी देखता है तो उसे भी ले आता है। देवदत्त को ढूँढ़ने के लिये भिक्षासंग्रहण रूप अपने मुख्य काम को छोड़कर अलग से प्रयत्न नहीं करता।

---

१. सूत्र में सलोपश्च यहाँ 'स' यह लुप्तषठ्यन्त पद मानकर उक्त अर्थ दर्शाया जा रहा है।

२. इसीलिये 'हंसायते' इत्यादि में सलोप नहीं होगा।

३. यहाँ संनियोग अर्थ में 'च' को मान लेने पर सूत्रार्थ को इस रूप में रखा जा सकता है– सकारान्त कर्त्ता से क्यङ् होता है और साथ में सकार का लोप भी हो जाता है।

४. प्रधान के साथ गौण रूप से कथित।

महाभाष्य

वा॰– सलोपो वा।।१।।

भाष्यम्– सलोपो वेति वक्तव्यम्। पयायते[1]। पयस्यते।

सूत्र से कहा गया सकार का लोप विकल्प से होता है– ऐसा कहना चाहिये। जैसे कि पयस् शब्द के सकार का लोप एक बार होगा और एक बार नहीं भी होगा– इस प्रकार पयायते और पयस्यते दो रूप बनेंगे।

वा॰– ओजसोऽप्सरसोर्नित्यम्।।२।।

भाष्यम्– ओजसोऽप्सरसोर्नित्यं सलोपो वक्तव्यः।

ओजायमा॑नं य अहिं॑ जघान। (ऋ॰- २.१२.११)। अप्सरायते।

किन्तु उपर्युक्त वार्त्तिक (सलोपो वा॰) के द्वारा सभी सकारान्त शब्दों का लोप विकल्प से नहीं चाहते। ओजस् और अप्सरस् शब्द के तो सकार का लोप नित्य ही कहना चाहिये।

जैसे कि– ओजायमानं योऽहिं जघान। अप्सरायते।

भा॰– अपर आह– सलोपो अप्सरस एव, ओजस्यते इत्येव भवितव्यम्।।

एक अन्य आचार्य का तो कहना है– अप्सरस् शब्द का ही नित्य लोप होता है। 'ओजस्' शब्द से तो क्यङ् प्रत्यय में ओजस्यते ही बनना चाहिये। वस्तुतः मतभेद प्रदर्शन के लिये इसका उपन्यास कर दिया है। किन्तु यह स्थित पक्ष नहीं है।

भा॰- कथम्– ओजायमानं योऽहिं जघान इति?

किन्तु यदि 'अप्सरस्' का ही सलोप होता हो और ओजस् का न हो तो अभी-अभी 'ओजायमानं॰----' जो उदाहरण दिया गया, वह कैसे सिद्ध होगा?

भा॰– छान्दसत्वात्सिद्धम्। छान्दसः प्रयोगः, छन्दसि च दृष्टमनुविधीयते।

'ओजायमा॑नं योऽहिं जघान' यह प्रयोग तो छान्दस है और छान्दस वर्णलोप तो प्रसिद्ध है ही– उस व्यवस्था में सिद्ध हो जायेगा।

वा॰– आचारेऽवगल्भक्लीबहोडेभ्यः क्विब् वा।।३।।

भा॰– आचारेऽवगल्भक्लीबहोडेभ्यः क्विब् वा वक्तव्यः।

अवगल्भते, अवगल्भायते। क्लीब– विक्लीबते, विक्लीबायते। क्लीब।

होड- विहोडते, विहोडायते। होड।। किं प्रयोजनम्? क्रियावचनता यथा गम्येत।।

---

१. लोपपक्ष में अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः (७.४.२५) से दीर्घ हो जाता है।

आचार अर्थ में अवगल्भ, क्लीब और होड शब्दों से विकल्प से क्विप् होता है– ऐसा कहना चाहिये। क्विप् के अभाव पक्ष में क्यङ् हो जाता है। उदाहरण मूल भाष्य में देख लेने चाहिये। किस प्रयोजन के लिये इन शब्दों से क्विप् विधान किया जा रहा है? प्रयोजन यह है– क्रियावचनता (आचारलक्षणक्रियावचनता) जानी जाये। यद्यपि भ्वादि गण में गल्भ-धाष्ट्र्ये, क्लीबृ-अधाष्ट्र्ये, होडृ-गतौ- इस रूप में ये धातुएँ पढ़ी होने से इनकी क्रियावचनता स्वत: सिद्ध है तो भी आचारलक्षण क्रियावचनता के लिये प्रकृत वार्त्तिक से क्विप् कहना चाहिये– ऐसा अभिप्राय हैं।

भा०– नैतदस्ति प्रयोजनम्। धातव एवावगल्भादय:।।

नहीं! यह जो कहा गया कि क्रियावचनता जानी जाये– इसके लिये क्विप् कहना चाहिये– यह तो कोई प्रयोजन नहीं है। अवगल्भादि स्पष्ट रूप से धातु ही है।

भा०– न चैव ह्यर्था आदिश्यन्ते।।

यद्यपि धातुएँ तो हैं, पर धातुपाठ में अर्थ तो (अर्थात् सब के सब अर्थ तो) निर्दिष्ट नहीं किये गये हैं। अर्थात् आचारलक्षण क्रियावचनता रूप अर्थ तो धातुपाठ में निर्दिष्ट नहीं है।

भा०– क्रियावचनता च गम्यते।।

यह कोई बात नहीं, फिर भी लोक से इन सब शब्दों का आचारलक्षण क्रियारूप अर्थ तो जाना ही जाता है।

भा०– इदं तर्हि प्रयोजनम्– अवगल्भा, विक्लीबा, विहोडा।

अ प्रत्ययात् (अ०– ३.३.१०२) इत्यकारप्रत्ययो यथा स्यात्।।

अच्छा तो क्विब् विधान करने का यह प्रयोजन है कि क्विब् करने पर प्रत्ययान्त धातु बन जाने से 'अ प्रत्ययात्' सूत्र से 'अकार' प्रत्यय हो जाये– जिससे अवगल्भादि प्रयोग सिद्ध हो जायें।

भा०– मा भूदेवम्। गुरोश्च हल: (३.३.१०३) इत्येवं भविष्यति।

चलो! 'अ प्रत्ययात्' से अकारप्रत्यय न भी हो तो क्या बात है। उससे अगले ही सूत्र 'गुरोश्च हल:' से हो जायेगा। ये सभी धातुयें गुरुमान् भी हैं और हलन्त भी।

भा०– इदं तर्हि प्रयोजनम्– अवगल्भाञ्चक्रे, विक्लीबाञ्चक्रे, विहोडाञ्चक्रे। 'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि' (अ०– ३.१.३५) इत्याम् प्रत्ययो यथा स्यात्।।

अच्छा तो यह प्रयोजन है– अवगल्भाञ्चक्रे, विक्लीबाञ्चक्रे, विहोडाञ्चक्रे इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि

के लिये लिट् में प्रत्ययान्त धातु मानकर 'कास्प्रत्ययात्०' सूत्र से 'आम्' प्रत्यय हो जाया करे। यदि क्विप् नहीं करेंगे तो केवल अवजगल्भे, विचिक्लीबे, विजुहोडे इत्यादि रूप ही बन सकेंगे। जबकि चाहते दोनों हैं– इसलिये विकल्प से क्विप् कहना ही पड़ेगा।

भा०– अपर आह– 'सर्वप्रातिपदिकेभ्य आचारे क्विब्वा वक्तव्यः,' अश्वति, गर्दभतीत्येवमर्थम्।।

एक अन्य वैयाकरणनिकाय का तो कहना है– सभी प्रातिपदिकों से आचार अर्थ में विकल्प से क्विप् कहना चाहिये। जिससे कि, अश्वति, गर्दभति इत्यादि प्रयोग सिद्ध हो जायें।

यहाँ यह समझ लेना चाहिये, वार्त्तिक में 'सर्वेभ्यः' ऐसा कहने की अपेक्षा जो 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः' ऐसा कहा है– उससे यह बात जानी जाती है कि यह क्विप् प्रातिपदिक से ही विधान किया जा रहा है न कि सुबन्त से। इससे यह लाभ मिलेगा– अश्व+अ+ति– इस स्थिति में अश्व के अकार के अपदान्त होने से 'अतो गुणे' (अ०– ६.१.९४) से विहित पररूप हो जायेगा।

भा०– न तर्हीदानीं गल्भाद्यनुक्रमणं कर्त्तव्यम्?

तो फिर क्या उपर्युक्त वार्तिक से ही क्विप् सिद्ध हो जाने के कारण 'आचारेऽवगल्भ०' इस तृतीय वार्तिक के रूप में गल्भादिशब्दों के साक्षात् पाठ (अनुक्रमण) की कोई आवश्यकता नहीं?

भा०– कर्त्तव्यं च।। किं प्रयोजनम्? 'आत्मनेपदार्थाननुबन्धानासङ्क्ष्यामीति' गल्भँ, क्लीबँ, होडँ।।११।।

नहीं! वह तो करना ही चाहिये। क्यों? किस प्रयोजन के लिए करना चाहिये? तभी तो आत्मनेपद करने के लिये जो अनुबन्ध हैं, उन्हें लगा पाऊँगा। अन्यथा क्विप् मात्र का विधान करने से आत्मनेपद कैसे सिद्ध हो पायेगा?

इसका भाव यह है– वार्तिक में ही गल्भादि के अकार का अनुदात्तत्व और अनुनासिकत्व प्रतिज्ञात किया जाता है। गल्भँ, क्लीबँ होडँ। नागेश तो 'आत्मनेपदार्थाननुबन्धान्०' इस पङ्क्ति का 'आम्विषये क्विप्संनियोगेन'– यह शेष मानते हुये इस रूप में व्याख्या करता है– 'क्विप् के संनियोग से आम्प्रत्यय के विषय में 'तद्गुणविशिष्ट' अर्थात् अनुदात्तानुनासिकगुणविशिष्ट अवर्णान्तर का प्रश्लेष के द्वारा उपदेश करूँगा। इसी कारण उसकी इत्संज्ञा हो जायेगी। अन्यथा क्लीबादि पचाद्यजन्तों का क्विप् करने के लिये अनुवाद के रूप में कथन होने से उपदेश के अभाव होने के कारण इत्संज्ञा नहीं हो पायेगी। प्रश्लेष में तो उसकी किसी दूसरे प्रमाण से सिद्धि न होने से उपदेश ही कहा जायेगा। अवर्णान्तर का प्रश्लेष के द्वारा उपदेश मानने से ही 'प्रत्ययान्तादामो मित्वे न विशेषः' इस रूप में 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (अ०– ७.१.५४) सूत्रस्थ भाष्य संगत हो पायेगा।

अन्यथा अवगल्भादि हलन्तप्रातिपदिक (गल्भादि धातुओं से निषन्न क्विबन्त) शब्दों में 'आम्' के मित्व और अमित्व का स्पष्ट ही अन्तर पड़ेगा। पर साथ में उसका यह भी आशय लेना होगा कि अन्य हलन्त शब्दों से तो आचार अर्थ में क्विप् नहीं होता।

भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः।।३.१.१२।।

भाष्यम्– हलो लोपसन्नियोगेनाऽयं क्यङ्विधीयते, तेन यत्रैव हलो लोपस्तत्रैव प्राप्नोति[१]।।

हलन्तशब्दों से लोप के संनियोग से इस क्यङ् का विधान किया जा रहा है। सो जहाँ हल् का लोप होगा, मात्र वही क्यङ् प्राप्त होता है। आक्षेप्ता का भाव है– आवृत्ति से हलः पद में विभक्ति विपरिणाम करके हल् के द्वारा भृशादियों को विशेषित किया जाता है– अर्थात् हलन्त भृशादियों से क्यङ् होता है और साथ में आवर्त्तित दूसरे 'हलः' का लोप से संबन्ध करके उसका लोप भी। इस प्रकार हलन्त शब्दों से ही क्यङ् और लोप हो सकेंगे।

आक्षेप भाष्य के इस उपर्युक्त भाष्य (व्याख्यान) से शिवरामेन्द्रसरस्वती सहमत नहीं हैं। उनका कहना है– सूत्र में 'भृशादिभ्यः०' ऐसा कहा है, सो यहाँ सूत्रस्थ भृश-शब्द के अदन्त होने से मूर्ख से मूर्ख के द्वारा भी 'हल्' के द्वारा भृशादियों को विशेषित किया जाता है– इसलिये 'क्यङ्लोप हलन्तों से ही संबद्ध हो सकते हैं'– ऐसा नहीं कहा जा सकता। अतः शङ्किता का यहाँ यह भाव है– 'कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च' इस पूर्वसूत्र में जैसे सलोप का प्राधान्य और 'क्यङ्' के अन्वाचयशिष्टत्व की आशङ्का की गयी तद्वत यहाँ भी हल् लोप का प्राधान्य और क्यङ् के अन्वाचयशिष्टत्व की आशङ्का उपस्थित होती है। भाष्य में 'हलो लोपसंनियोगेन' यहाँ लोप को हलः की अपेक्षा होते हुये भी संनियोग के साथ समास इस कारण हो गया है कि लोप एक संबन्धिशब्द है और संबन्धिशब्दों में सापेक्ष की भी वृत्ति हो जाती है।

पूर्ववत् एकवाक्यता को लेकर आशङ्का प्रस्तुत की गयी है और पूर्ववत् ही वाक्यभेद से इसका समाधान दिया जा रहा है–

भा०– नैष दोषः। प्रधानशिष्टः क्यङ्, अन्वाचयशिष्टो हलो लोपो, यत्र च[२] हलं पश्यसीति।।

नहीं! यह कोई दोष नहीं है। यहाँ क्यङ् प्रधानरूप से शिष्ट है और साथ में हल् का लोप भी गौण रूप से कह दिया गया है कि जहाँ कहीं हल् दिखायी दे अर्थात् हलन्त शब्द दिखायी दे, वहाँ हल् का लोप भी कर लेना चाहिये।

१. क्यङ् इति शेषः। २. हलन्तं पश्यसीत्यर्थः।

'भृशादिभ्य:' ऐसा पंचमीनिर्देश बल से क्यङ् ही प्रधानशिष्ट है– ऐसा किसी के द्वारा भी जाना जा सकता है, इसलिये हल् के लोप की प्रधानशिष्टतारूप आशङ्का अतिमन्द है। 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' इस पूर्वसूत्र में तो 'कर्त्तुः' इस पद की षष्ठ्यन्तता भी संभव है– इसलिये सलोप की प्रधानशिष्टता की जो आशङ्का की गयी थी वह कुछ जचती भी थी।

वा०– भृशादिष्वभूततद्भावग्रहणम्।।१।।

भाष्यम्– भृशादिष्वभूततद्भावग्रहणं कर्त्तव्यम्। इह मा भूत्– क्व दिवा भृशा भवन्तीति।

भृशादियों के विषय में अभूततद्भावग्रहण करना चाहिये। जिससे कि यहाँ क्यङ् न हो– क्व दिवा भृशा भवन्ति।

यहाँ इस उपर्युक्त वाक्य में 'रात्रौ' पद का अध्याहार करके अर्थ बनेगा– रात्रि काल में जो ये भृशा: (भृशालोका:) जगमगाते हुये नक्षत्रादि दिखायी पडते हैं, वे दिन में कहाँ होते हैं! यहाँ अभूततद्भाव अर्थ न होने से क्यङ् नहीं हुआ।

वा०– च्विप्रतिषेधानर्थक्यं च भवत्यर्थे क्यङ्वचनात्।।२।।

भा०– च्विप्रतिषेधश्चानर्थक:। किं कारणम्? 'भवत्यर्थे क्यङ्वचनात्'। भवत्यर्थे हि क्यङ् विधीयते।।

सूत्र में 'अच्वे:' के द्वारा अच्व्यन्त भृशादियों से क्यङ् होता है– ऐसा च्वि का प्रतिषेध करना अनर्थक है। क्या कारण है? क्यों अनर्थक है? भू-धातु के अर्थ में क्यङ् का विधान होने से। यह जो क्यङ् प्रत्यय का विधान किया जा रहा है यह 'भू' धातु के अर्थ में किया जा रहा है।

यद्यपि च्वि भवति के अर्थ में विधान नहीं किया गया है, बल्कि भवति के योग में किया गया है तो भी च्वि और भवति का एक प्रकार से नित्य संबन्ध हो जाता है। यही बात अग्रिम वार्त्तिक में कही जायेगा।

वा०– भवतियोगे च्विविधानम्।।३।।

भा०– भवतिना योगे च्विर्विधीयते। तत्र च्विनोक्त[१]त्वात्तस्याऽर्थस्य क्यङ् न भविष्यति।।

भवति के साथ योग होने पर च्वि का विधान किया गया है। सो च्विसहचरित भवति के द्वारा ही उस अर्थ के कह दिये जाने से (पुन:) क्यङ् नहीं होगा। 'उक्तार्थानामप्रयोग:' न्याय तो प्रसिद्ध है ही।

भा०- डाजन्तादपि तर्हि न प्राप्नोति– पटपटायते। डाजपि हि भवतिना योगे विधीयते, भवत्यर्थे क्यष्।।

---

१. च्विसहचरितेन भवतिनेत्यर्थ:।

तब तो इसी हेतु से 'पटपटायते' इत्यादि में डाजन्त से भी (क्यष्) नहीं प्राप्त हो सकता। क्योंकि 'डाच्' भी भवति के योग में विधान किया गया है और इधर भवत्यर्थ में ही क्यष्।

वा०– डाचि वचनप्रामाण्यम्।।४।।

भा०– डाचि वचनप्रामाण्याद् भविष्यति।। किं वचनप्रामाण्यम्? 'लोहितादिडाज्भ्य: क्यष्' (अं– ३.१.१३) इति।।

डाच् के विषय में उपर्युक्त समस्या उपस्थित नहीं होगी। क्योंकि वहाँ तो वचनप्रामाण्य से क्यष् हो जायेगा। जो कि आचार्य डाजन्त से क्यष् का विधान कर रहें हैं– उससे स्पष्ट पता चल रहा है कि डाच् करके और फिर भवत्यर्थ में क्यष् विधान किया जाता है।

कोई कह सकता है कि वचनप्रामाण्य के क्यष् की प्रवृत्ति में हेतु दिये जाने पर क्या क्यषन्त के साथ भवति का भी प्रयोग प्राप्त नहीं होने लगेगा जो कि अनिष्ट है? इसका यह उत्तर दिया जायेगा कि 'कृभ्वस्तियोगे०' (अ०– ५.४.५०) इसके द्वारा च्वि विधि में तो शब्दयोग अपेक्षित है और डाज्विधि (अ०– ५.४.५७) में अनुवर्त्तमान 'कृ-भू-अस्तियोगे' करके कृ-भू-अस् के अर्थ का योग अपेक्षित है, इस कारण 'भवति' इस शब्द के अप्रयुक्त रहते हुये ही भवत्यर्थविवक्षा में वचनप्रामाण्य से डाच् करके भवत्यर्थ में क्यष् किया जाता है। काशिकावृत्ति में जो यह कहा गया है कि 'कृभ्वस्तियोग इव क्यषाऽपि योगे डाज्भवतीति ज्ञाप्यते' उसका भी ठीक यही अभिप्राय है।

भा०– इह किंचिदक्रियमाणं चोद्यते किंचिच्च क्रियमाणं प्रत्याख्यायते। स सूत्रभेद: कृतो भवति।

यहाँ कुछ तो ऐसा है जैसे कि अभूततद्भावग्रहण– जो कि अक्रियमाण है अर्थात् सूत्र में उसका ग्रहण नहीं किया गया है, इसलिये उसके विषय में कहा गया कि ग्रहण करना चाहिये और दूसरी तरफ कुछ ऐसा भी है– जैसे कि 'अच्वे:' जो क्रियमाण है– ग्रहण किया हुआ है, पर उसका प्रत्याख्यान किया जा रहा है। इस प्रकार यह सूत्रभेद (सूत्र में व्यत्यास) होने लगता है। सूत्रभेद करके तो कुछ भी घटाया-बढ़ाया जा सकता है। सूत्रभेद न करते हुये ही कुछ समाधान खोजा जा सके तो वह अत्युत्तम होगा।

भा०– यथान्यासमेवाऽस्तु।।

चलो! यथान्यास (जैसे पाणिनि ने सूत्र बना दिया है) ही रहने दीजिये। समाधाता के द्वारा 'अच्वे:' पद में पर्युदास प्रतिषेध मानकर उपर्युक्त दोनों दोषों का परिहार अभी अनुपद ही किया जायेगा।

भा०– ननु चोक्तम्– इह कस्मान्न भवति 'क्व दिवा भृशा भवन्ती'ति?

यथान्यास ही सूत्र रखने पर, अभी जो ऊपर कहा गया कि 'क्व दिवा भृशा भवन्ति' यहाँ किस हेतु से क्यङ् नहीं होता?

महाभाष्य

भा०– 'नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः'। नञ्युक्तमिवयुक्तं वा यत्किंचिदिह दृश्यते तत्राऽन्यस्मिंस्तत्सदृशे कार्यं विज्ञायते, तथा ह्यर्थो गम्यते। 'अब्राह्मणमानये'त्युक्ते ब्राह्मणसदृश एवानीयते नासौ लोष्टमानीय कृती भवति। एवमिहापि अच्वेरिति च्विप्रतिषेधादन्यस्मिन्नच्व्यन्ते च्विसदृशे कार्यं विज्ञास्यते। किं चान्यदतोऽच्व्यन्तं च्विसदृशम्? अभूततद्भावः।

नञ्युक्त और इवयुक्त जो पद होते हैं, वे उनसे अन्य और उनके सदृश जो अधिकरण (आधार) होता है, उसी में अर्थ का बोध कराते हैं, वैसा करने से ही अभीष्ट अर्थ की संज्ञप्ति हो पाती है। भाष्यकार इस वचन की व्याख्या स्वयं ही करते हैं– नञ् से युक्त अथवा इव से युक्त जो कुछ यहाँ (वाग्व्यवहार में शब्दप्रयोग) दिखायी देता है वहाँ उससे अन्य भी हो पर साथ में उसके सदृश भी हो– उसमें ही कार्य जाना जाता है। वैसा करने से ही इष्ट अर्थ की गति हो पाती है। जैसे कि– किसी विशिष्ट कार्य के संदर्भ में कोई किसी से कहता है कि 'अब्राह्मण को ले आवो'। इस आदेश को सुनने के बाद लाने वाले के द्वारा ब्राह्मण सदृश को ही लाया जाता है, ब्राह्मण से भिन्न किसी भी मिट्टी आदि के ढेले को लाने मात्र से काम पूरा नहीं समझा जाता। इसी प्रकार यहाँ प्रस्तुत प्रसङ्ग में भी 'अच्वेः' इस प्रतिषेध के होने से च्व्यन्त से अन्य भी हो पर साथ में च्वि के (च्व्यन्त) सदृश भी हो उसी में कार्य जाना जाता है। और अच्व्यन्तपदवाक्य ऐसा क्या हो सकता है, जो च्व्यन्त से भिन्न भी हो और च्व्यन्त के सदृश भी? निश्चित ही वह है– अभूततद्भाव (अर्थ)।

भाष्य में 'नञिवयुक्तं०' इस न्याय को दर्शाते समय 'इवयुक्तम्' का ग्रहण दृष्टान्तार्थ किया है। 'अन्यस्मिंस्तत्सदृशे' कहते हुये भाष्यकार ने अभेद में भी सादृश्य होता है– ऐसा सूचित किया है।

भा०– इह काश्चित्प्रकृतयः सोपसर्गाः पठ्यन्ते– अभिमनस्, सुमनस्, उन्मनस्, दुर्मनस्। तत्र विचार्यते–भृशादिषूपसर्गः प्रत्ययार्थविशेषणं वा स्यात्– 'अभिभवतौ, सुभवतौ, उद्भवतौ, दुर्भवता'विति। प्रकृत्यर्थविशेषणं वा– 'अभिमनस्शब्दात्, सुमनस्शब्दात्, उन्मनस्शब्दात्, दुर्मनस्शब्दात्' इति।

यहाँ कुछ प्रकृतियाँ सोपसर्ग पढी गयी हैं। जैसे– आभिमनस्, सुमनस्, उन्मनस्, दुर्मनस्। तो उसमें यह विचार किया जाता है कि भृशादिशब्दों में (प्रकृति के साथ पठित अभि, सु इत्यादि को) प्रत्ययार्थ (भवति) का विशेषण माना जाये– अभिभवति, सुभवति, उद्भवति, दुर्भवति अर्थ में क्यङ् प्रत्यय होता है। अथवा प्रकृत्यर्थ विशेषण मानना ही उचित है– अभिमनस्, सुमनस्, उन्मनस्, दुर्मनस्– इन शब्दों से भवत्यर्थ में क्यङ् होता है।

जब मन: शब्द के साथ असमस्त[१] रूप से ही अभि, सु, उत्, दुर् पढ़े हुये हैं तो प्रत्ययार्थ विशेषण पक्ष बनता है। यहाँ विरोध होने से अभूततद्भाव अर्थ को तो अन्वित नहीं किया जायेगा। केवल भृशादि में ही उसका अन्वय होगा। इस पक्ष में मन:शब्द को वृत्तिविषय में तद्वान् अर्थ में विद्यमान मानना होगा। जैसे मनस्वी सुष्ठु भवति, दुर्भवति (दुष्ठु भवति), अभिभवति (आभिमुख्येन भवति)। दूसरे विद्वान् वृत्तिविषय में प्राप्त्यर्थक भू-धातु का ग्रहण स्वीकार करते हुये इसी प्रत्ययार्थविशेषणपक्ष में क्यङन्त का यह अर्थ करते हैं कि 'मन:[२] शोभनं कर्म प्राप्नोति'। और जब 'मन:' शब्द के साथ सु-इत्यादियों का बहुब्रीहि समास करके ग्रहण मानते हैं तो प्रकृत्यर्थविशेषणपक्ष बनता है। 'असुमना: सुमना: भवति'– यह अर्थकथन तो दोनों पक्षों में तात्पर्यकथनमात्र समझना चाहिये।

भा०– युक्तं[३] पुनरिदं विचारयितुम्। नन्वनेनाऽसन्दिग्धेन प्रकृत्यर्थविशेषणेन भवितव्यं यावता प्राक्प्रकृते:[४] पठ्यन्ते। यदि हि प्रत्ययार्थविशेषणं स्यु: प्राग्भवते: पठ्येरन्।

हाँ! यह विचार करना तो युक्त ही है। किन्तु क्या इसे असंदिग्धरूप से प्रकृत्यर्थविशेषण ही नहीं होना चाहिये? जबकि इनको प्रकृति के अवयव के रूप मे पूर्वभूत पढ़ा गया है। यदि ये प्रत्ययार्थविशेषण हुये होते तो भवति से पहिले पढ़े जाते।

भा०– नेमे शक्या: प्राग्भवते: पठितुम्। एवं विशिष्टे हि प्रत्ययार्थे भृशादिमात्रादुत्पत्ति: प्रसज्येत। तस्मान्नैवं शक्यं वक्तुम्। न चेदेवं जायते विचारणा।।

नहीं! प्रत्ययार्थविशेषण होने पर भी भवति से पहले तो इनका पढ़ा जाना मुमकिन नहीं है। अर्थात् अभि इत्यादि के भवति से पहले पढ़े जाने पर तो संभव नहीं है। क्योंकि वैसा करने पर उस-उस विशिष्ट प्रत्ययार्थ में (अर्थात् अभि भवति, सुभवति, उद्भवति, दुर्भवति अर्थ में) विनिगना के अभाव होने से भृशादिमात्र अर्थात् केवल भृशादियों से प्रत्ययोत्पत्ति होने लगेगी, सुमनस् इत्यादि सोपसर्गो से नहीं हो सकेगी इसलिये उस रूप में कथन करना शक्य नहीं है और जब वैसा नहीं किया जा सकता तो (समस्तत्व और असमस्तत्व के आधार पर) उक्त विचारणा का जन्म होना स्वाभाविक ही है।

---

१. समस्त न किये हुये ही।

२. इह 'मन:' इत्येतत्कर्तृरूपेण पठितमिति बोद्धव्यम्। (मन:– यह पद कर्तृरूप है।)

३. युक्तं पुन:– युक्तमेव इत्यर्थ:।

४. 'प्रकृते'रित्यवयवसंबन्धे षष्ठी। प्राक्त्वं चावयवान्तरापेक्षयेति भाव:। बहुव्रीहिविवक्षयैवमुक्तमित्यर्थ:। अर्थात् शोभनं मनो यस्येत्वेवंरूपं हि तद् 'सुमनस्' इत्यादि शब्दजातम्।

महाभाष्य

भा०– कश्चात्र विशेष: ?

अच्छा! इन दोनों पक्षो में क्या विशेष है ?

वा०– भृशादिषूपसर्ग: प्रत्ययार्थविशेषणमिति चेत्स्वरे दोष:।।५।।

भाष्यम्– भृशादिषूपसर्ग: प्रत्ययार्थविशेषणमिति चेत्स्वरे दोषो भवति। अभिमनायते। 'तिङ्ङतिङ:' (अं– ८.१.२८) इति निघात: प्रसज्येत।।

भृशादियों में पठित उपसर्गों को प्रत्ययार्थ का विशेषण माना जाये तो स्वर में दोष होता है। अभिमनायते– यहाँ 'तिङ्ङतिङ' से निघात होने लगेगा।

'मन:' शब्द से क्यङ् कर लेने पर 'मनायते' इस तिङन्त पद के अतिङन्त 'अभि', 'सु' इत्यादि पदों से उत्तर होने के कारण– 'तिङ्ङतिङ:' सूत्र की प्राप्ति हो जाती है। प्रकृत्यर्थविशेषणपक्ष में तो 'सुमनायते'– यह पूरा ही एक तिङन्त पद समझा जायेगा– इसलिये उससे अतिरिक्त पदान्तर के अभाव होने से उक्त निघात स्वर नहीं होगा।

भा०– अस्तु तर्हि प्रकृत्यर्थविशेषणम्।

अच्छा तो फिर प्रकृत्यर्थविशेषण ही रहने दो।

वा०– सोपसर्गादिति चेदटि दोष:।।६।।

भा०– सोपसर्गादिति चेदटि दोषो भवति। स्वमनायतेति।।

उपसर्गसहित मन: इत्यादि से क्यङ् किया जाता है तो लङादि में अट् के विषय में दोष आता है। 'स्वमनायत' ऐसा रूप चाहते हैं। और 'असुमनायत' ऐसा अनिष्ट रूप बनने लगेगा।

भा०– अत्यल्पमिदमुच्यते– 'अटि दोषो भवती'ति।

[1]अड्ल्यब्द्विर्वचनेष्विति वक्तव्यम्। अटि उदाहृतम्। ल्यपि-सुमनाय्य। द्विर्वचने- अभिमिमनायिषते।

प्रकृत्यर्थविशेषणपक्ष में जो यह अट् विषयक दोष दिया गया है यह बहुत ही कम कहा जा रहा है। यह कहना चाहिये कि सोपसर्ग मन: इत्यादि से क्यङ् करने पर अट्, ल्यप् और द्विर्वचन के विषय में अनिष्ट रूप प्राप्त होने लगेंगे। अट् का तो उदाहरण दे ही दिया। ल्यप्– सुमनाय्य। द्विर्वचन-अभिमिमनायिषते।

---

१. यहाँ 'अट्' ग्रहण 'आट्' का भी उपलक्षण है। अभ्यमनायत, उदमनायत आदि में आट् उपसर्ग से पहले होने लगेगा।

क्यङन्त शब्द में ही उपसर्ग के अनुप्रविष्ट हो जाने से अब क्त्वान्त के साथ किसका समास किया जाये– क्योंकि अनञ्पूर्ववाले अर्थात् नञ्भिन्न नञ्सदृश अव्ययपूर्ववाले समास में विद्यमान क्त्वा को ल्यप् होता है– इस अर्थ के अनुसार सु इत्यादि अव्यय पूर्व में मिलेंगे ही नहीं– इसलिये ल्यप् हो ही नहीं सकेगा और अट् की भाँति द्विर्वचन अनिष्ट देश में प्राप्त होने लगेगा। क्यङन्त से सन् कर लेने पर हलादि धातुओं में द्विर्वचन प्रथम एकाच् 'सु' इत्यादि उपसर्ग को ही और अजादि धातुओं में द्वितीय एकाच् (जैसे कि उपसर्ग के अवयव भि इत्यादि को) होने लगेगा।

भा०– नैष दोषः। अवश्यं संग्रामयते सोपसर्गादुत्पत्तिर्वक्तव्या- 'असंग्रामयत शूर' इत्येवमर्थम्। तन्नियमार्थं भविष्यति 'संग्रामयतेरेव सोपसर्गान्नान्यस्मात्सोपसर्गा'दिति।।

नहीं! (सोपसर्ग से क्यङ् करने पर जो अभी ऊपर अट्-ल्यप् और द्विर्वचनविषयक दोष उपस्थित किया गया) यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि 'असंग्रामयत शूरः' इस रूप में इष्ट प्रयोग सिद्धि के लिये अवश्य ही संग्राम धातु से, सोपसर्ग से (ही) णिच् प्रत्यय की उत्पत्ति कहनी चाहिये। संग्राम धातु से णिजुत्पत्ति का वह विधान नियमार्थ हो जायेगा– कहीं भी यहाँ शब्दशास्त्र में सोपसर्ग-समुदाय से प्रत्यय करना अभीष्ट हो तो वह केवलमात्र संग्राम-धातु से ही हो– अन्य किसी भी धातुभूत सोपसर्ग समुदाय से न हो।

ग्राम-शब्द ही युद्ध अर्थ में वर्त्तमान है– और सामान्यतोदृष्ट[१] अनुमान से 'सम्' यह शब्द क्रियाविशेष का द्योतक है। इस प्रकार ग्राम-युद्धे इतना ही कहना चाहिये– 'सं' शब्द उस अर्थ का द्योतक होता हुआ 'गण' में पाठ किये विना भी प्रयोग को देखने से प्राप्त हो जायेगा। जैसे कि धातुपाठ में ही 'इक्-स्मरणे', इङ-अध्ययने पढ़ा गया है पर प्रयोग में 'अधि' सहितो का ही व्यवहार होता है। फिर जो 'संग्राम' इस रूप में पाठ किया– वह नियमार्थ है– ऐसा जाना जाता है। जब 'संग्राम' इस पाठ की नियमार्थता स्वीकार कर ली जाती है तो इस स्थल से अन्यत्र कहीं भी प्रत्ययोत्पत्तिवेला में उपसर्ग पृथक् कर लिया जायेगा। इसलिये धातु में उन-उन उपसर्गों का अन्तर्भाव न होने से यथेष्ट अडादि की सिद्धि हो जायेगी। इसीलिये 'सुमनाय्य' इत्यादि में पुनः क्त्वान्त के साथ सु इत्यादि का समास होकर ल्यप् प्राप्त हो जाता है।

भा०– यदि नियमः क्रियते स्वरो न सिद्ध्यति।।

यदि नियम कर दिया जाता है तो क्यङ् प्रत्यय लाते समय 'सु' के मनस् से पृथक् हो जाने से 'सुमनायते' इत्यादि में 'सु' से उत्तर 'मनायते' को निघात होगा, जबकि इष्ट है 'सुमनायत' इस पूरे समुदाय को एक पद मानकर स्वरप्रवृत्त हो।

---

१. जैसे 'प्रतिष्ठते' यहाँ 'प्र' स्था की गति का द्योतक है तद्वत् ग्राम शब्द के अर्थान्तर की निवृत्ति करता हुआ 'सम्' शब्द 'युद्ध' रूप क्रियाविशेष का द्योतक है।

महाभाष्य

भा०– एवं तर्हि भृशादिषूपसर्गस्य पराङ्गवद्भावं वक्ष्यामि।।

अच्छा तो इस उपर्युक्त दोष से बचने के लिये ऐसा करेंगे भृशादियों में पठित उपसर्गों को पराङ्गवद्भाव का विधान कर देंगे। अर्थात् 'सु' इत्यादि 'मनायते' इत्यादियों के भाग के समान ही मान लिये जाते हैं– ऐसा कहूँगा।

'अभिभृशायते' इत्यादि में तो पराङ्गवद्भाव नहीं होगा– क्योंकि 'अभि' भृश के साथ पढ़ा हुआ नहीं है। 'देवदत्तः सुमनायते' इत्यादि में तो 'सु' को भी पराङ्गद्भाव होने से 'तिङ्ङतिङः' निघात हो ही जायेगा।

भा०– यदि पराङ्गवद्भाव उच्यतेऽड्ल्यब्द्विर्वचनानि न सिद्ध्यन्ति।।

यहाँ आक्षेप्ता पर शब्द से क्यङादि प्रकृति का ग्रहण कर रहा है। अर्थात्– 'सु' इत्यादि को 'मनाय' का भाग मानता हुआ दोष उपस्थित कर रहा है। यदि भृशादिपठित उपसर्ग को पराङ्गवद्भाव कहोगे तो अट्-ल्यप् और द्विर्वचन रूप विधियों में अनिष्ट प्राप्त होने लगेगा। क्योंकि 'सु' आदि को 'मनाय' आदि का ही भाग मान लेने पर 'सुमनाय' इस अङ्ग से पूर्व अडागम होकर 'असुमनायत' तथा पराङ्गवद्भाव हो जाने पर सु व मनाय का समास न होने से क्त्वा को ल्यप् न हो सकने के कारण सुमनायित्वा और सुमनाय से उत्तर सन् के परे रहते द्विर्वचनप्रसङ्ग में सुसुमनायिषते– इत्यादि अनिष्ट रूप बनने लगेंगे।

भा०– स्वरविधाविति वक्ष्यामि।।

समाधाता पराङ्गवद्भाव का सङ्कोच करता हुआ कहता है कि मैं पराङ्गवद्भाव को सार्वत्रिक न करके केवल स्वरविधि में ही कहूँगा। इस प्रकार अट्-ल्यप् और द्विर्वचन में कोई दोष नहीं आयेगा।

भा० एवं च कृत्वाऽस्तु प्रत्ययार्थविशेषणमपि।।

यदि पराङ्गवद्भाव ही कह रहे हो तब तो प्रत्ययार्थाविशेषणपक्ष भी दोषावह नहीं है। क्योंकि क्यङादि विधि तो अनुपसर्ग से समान ही है– इसलिये दोनों ही पक्ष युक्त हो जाते हैं।

भा०– ननु चोक्तं– 'भृशादिषूपसर्गः प्रत्ययार्थविशेषणमिति चेत् स्वरे दोष' इति।

किन्तु अभी तो कहा था कि भृशादिशब्दों में पठित उपसर्ग 'भवति' इस प्रत्ययार्थ का विशेषण होवे तो, अभिमनायते सुमनायते आदि में 'तिङ्ङतिङः' (८.१.२८) स्वरविधान में दोष आयेगा।

भा०– स्वरे पराङ्गवद्भावेन परिहृतम्।।

स्वर विषय में पराङ्गवद्भाव से उपस्थित दोष का परिहार कर दिया है।

भा०– अयं तर्हि प्रत्ययार्थविशेषणे सति दोषः– क्यङोक्तत्त्वात्तस्यार्थस्योपसर्गस्य प्रयोगो न प्राप्नोति।। किं कारणम्?

'उक्तार्थानामप्रयोग' इति। तद्यथा 'अपि काकः श्येनायत' इत्यत्र क्यङोक्तत्त्वादाचारार्थस्याऽङः प्रयोगो न भवति।।

अच्छा तो प्रत्ययार्थविशेषण होने पर यह एक दोष है। क्यङ् के द्वारा उस अर्थ के कह दिये जाने से 'मनः' इत्यादि से प्राक् प्रयुक्त होनेवाले सु-अभि इत्यादि उस-उस उपसर्ग का प्रयोग नहीं प्राप्त होता। क्यों, ऐसा क्या कारण है? कारण है– उक्तार्थानामप्रयोगः– जिस अर्थ का किसी अन्य शब्द के द्वारा कथन हो जाता है तो उस अर्थ को कहने के लिये फिर एक और शब्द का प्रयोग नहीं होता। जैसे कि 'अपि काकः श्येनायत'– यहाँ क्यङ् के द्वारा आचार अर्थ के कह दिये जाने पर 'आङ्' इस शब्द का प्रयोग नहीं होता।

भा०– अस्त्यत्र विशेषः। एकेनाऽत्र विशिष्टे प्रत्ययार्थे प्रत्यय उत्पद्यते, इह पुनरनेकेन। तत्र 'मनायत' इत्युक्ते संदेहः स्याद् अभिभवतौ सुभवतावुद्भवतौ दुर्भवताविति। तत्राऽसंदेहार्थमुपसर्गः प्रयुज्यते।।

यहाँ तो कुछ विशेष है। आपने जो सुमनायते-दुर्मनायते की तुलना में 'अपि काकः श्येनायते' यह दृष्टान्त दिया। इन दोनों प्रसङ्गों में समानता नहीं है। थोड़ा सा भेद है। 'श्येनायते' यहाँ जो प्रत्यय उत्पन्न होता है वह तो एक 'आङ्' उपसर्ग के द्वारा विशेषित किये गये आचार रूप प्रत्ययार्थ को कहने के लिये आता है। जब कि यहाँ प्रकृत में अनेक उपसर्गों के द्वारा विशेषित किये गये प्रत्ययार्थ को कहने के लिये प्रत्यय उत्पन्न होता है। तो ऐसी स्थिति में वक्ता यदि केवल 'मनायते' ऐसा प्रयोग कर देता है तो सुनने वाले के लिये संदेह खडा हो जाता है कि अभिभवति अर्थ में यह प्रत्यय किया है अथवा सुभवति में या दुर्भवति में या उद्भवति में? सो इस संदेह की निवृत्ति के लिये एक सुनिश्चित उपसर्ग का प्रयोग होता है।

भा०– यत्र तर्ह्येकेन- उत्पुच्छयते[१]?

यदि ऐसी बात है तो जहाँ कहीं– एक ही उपसर्ग के द्वारा विशेषित किये गये प्रत्ययार्थ को कहने के लिये प्रत्यय आता है– जैसे कि 'उत्पुच्छयते' वहाँ उस उपसर्ग का प्रयोग नहीं होना चाहिये– क्योंकि यहाँ तो संदेह जैसी कोई बात नहीं है।

भा०– अत्राप्यनेकेन। 'पुच्छादुदसने पुच्छाद्व्यसने पुच्छात्पर्यसने चे'ति।

यहाँ भी तो अनेक उपसर्गों के द्वारा विशेषित प्रत्ययार्थ है। जैसा कि वार्त्तिककार ने कहा है– 'पुच्छादुदसने' 'पुच्छाद्व्यसने' 'पुच्छात्पर्यसने' चे'ति, इसलिये 'अपि काकः श्येनायते' उदाहरण को पकड़कर यह नहीं कहा जा सकता कि जैसे यहाँ आङ् का प्रयोग नहीं होता है वैस ही 'सुमनायते' आदि में भी सु-इत्यादि का प्रयोग प्राप्त नहीं होता।

---

१. पुच्छभाण्डचीवराण्णिङ् (अं– ३.१.२०) इति पुच्छशब्दाद् णिङ्।

महाभाष्य

यद्यपि प्रत्ययार्थविशेषपक्ष में 'स्वरे पराङ्गवदभावं वक्ष्यामि'

इस कथन में 'स्वरे' नहीं कहना पड़ता– यह लाघव है तो भी उस पक्ष में बहुत सारी क्लिष्टकल्पना करनी पड़ती है, प्रकरणविरोध भी होता है– इसलिये प्रकृत्यर्थविशेषणपक्ष ही युक्त है। वृत्तिकारादि ने भी उसी का आश्रय लिया है। इस पक्ष में 'पराङ्गवद्भाव' यहाँ परशब्द से 'मनस्', इत्यादि क्यङादिप्रकृति ही ग्रहण की जाती है– औचित्य हेतु से।।१२।।

लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्।।३.१.१३।।

भा०– किमर्थः ककारः?

क्यष् प्रत्यय में ककार अनुबन्ध लगाने का क्या प्रयोजन है?

भा०– गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थः। 'क्ङिति च' (अ०– १.१.५) इति गुणवृद्धिप्रतिषेधो यथा स्यात्।।

ककार अनुबन्ध है– गुण और वृद्धि का प्रतिषेध करने के लिये। (प्रत्यय के कित् होने से) क्ङिति च (१.१.५) से गुण व वृद्धि का प्रतिषेध हो जायेगा।

'गणरत्न' में कुछ ऐसे शब्द भी लोहितादि में देखने को मिलते हैं जो इगन्त हैं– उनसे गुणप्राप्ति और उसके प्रतिषेध की सम्भावना प्रस्तुत की जा रही है।

भा०– नैतदस्ति प्रयोजनम्। सार्वधातुकार्धधातुकयोरङ्गस्य गुण उच्यते, धातोश्च विहितः प्रत्ययः शेष आर्धधातुकसंज्ञां लभते, न चायं धातोर्विधीयते। लोहितादीनि प्रातिपदिकानि।।

नहीं! यह तो कोई प्रयोजन नहीं है। सार्वधातुक व आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते अङ्ग को गुण कहा गया है। और जो प्रत्यय धातु से विहित होता है– ऐसा तिङ् व शित् से शेष प्रत्यय आर्धधातुक संज्ञा को प्राप्त करता है। यह क्यष् प्रत्यय तो धातु से विधान किया नहीं जा रहा है। क्योंकि लोहितादि तो स्पष्ट ही प्रातिपदिक हैं।

भा०– सामान्यग्रहणार्थस्तर्हि।। क्व सामान्यग्रहणार्थेनाऽर्थः? 'नः क्ये' (अ०– १.४.१५) इति।।

अच्छा तो सामान्य करके क्यष् का भी ग्रहण हो जाये– इस प्रयोजन के लिये है। ऐसा कौन सा स्थल है, जहाँ क्यष् का भी सामान्य करके ग्रहण करके प्रयोजन सिद्ध करना चाहते हैं? वह है– 'नः क्ये'– यह सूत्र।

भा०– नायं नान्ताद् विधीयते।।

'नः क्ये' सूत्र के द्वारा 'क्य' परे रहते नान्त शब्द की पदसंज्ञा विधान की गयी है, पर लोहितादि गण में तो ऐसा कोई नहीं है जो नान्त हो। 'नः क्ये' सूत्र में सामान्यग्रहणार्थ प्रयोजन तो तब बन पाये जब नान्त से क्यष् का विधान हो– लेकिन वैसा है नहीं इसलिये यह प्रयोजन भी नहीं है।

भा०– इह तर्हि– 'यस्य हलः' 'क्यस्य विभाषा' (अ०– ६.४.४९,५०) इति।।

अच्छा तो सामान्यग्रहणार्थ का ही एक और प्रसङ्ग प्रस्तुत करते हैं– 'यस्य हलः', 'क्यस्य विभाषा'। भाष्य में 'यस्य हलः' सूत्र का साथ में निर्देश अनुवृत्ति की दृष्टि से किया है।

भा०– नायं हलन्ताद् विधीयते।।

उक्त स्थल में भी तब उपयोग हो जब हलन्त से क्यष् का विधान हो। क्योंकि हल् से उत्तर क्य का विकल्प से लोप होता है– ऐसा कहा गया है। सो हल् से उत्तर क्यष् संभव ही नहीं हो पायेगा।

भा०– इह तर्हि– 'आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति' 'क्यच्व्योश्च' (६.४.१५१,१५२) इति।।

अच्छा तो 'आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति' 'क्यच्व्योश्च' यहाँ समझ लीजिये। यहाँ भी 'आपत्यस्य च०' यह सूत्रनिर्देश अनुवृत्ति दिखाने के लिये किया है।

भा०– नायमपत्याद् विधीयते।

'क्य' और 'च्वि' इन प्रत्ययों के परे रहते आपत्यसंबन्धी यकार का हल् से उत्तर लोप होता है– इस अर्थ के अनुसार 'क्यच्व्योश्च' सूत्र की प्रवृत्ति तब हो पाये जब वह अपत्य अर्थ में आये हुये यकार से परे 'क्यष्' उपलब्ध हो– पर वैसा मिलता नहीं– इसलिये यह स्थल भी सामान्यग्रहणार्थ का प्रयोजन नहीं बनेगा।

भा०– इह तर्हि 'क्याच्छन्दसी'ति। (अ०- ३.२.१७०)

अच्छा तो 'क्याच्छन्दसि' यहाँ है सामान्यग्रहणार्थ ककार का प्रयोजन।

भा०– 'याच्छन्दसी'त्येव वक्तव्यं चुरण्युस्तुरण्युर्भुरण्युरित्येवमर्थम्।

वह तो 'याच्छन्दसि' ऐसा ही कहना चाहिये। अर्थात् 'य' अन्तवाली धातु से छन्द में 'उ' प्रत्यय होता है। चुरण्यु-तुरण्यु-भुरण्यु इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि के लिये।

'चुरण्यु' आदि में 'कण्ड्वादिभ्यो यक्' (अ०– ३.१.२७) करके उक्त सूत्र से 'उ' प्रत्यय किया गया है। 'क्याच्छन्दसि' सूत्र न्यास में तो इन उदाहरणों में 'उ' प्रत्यय हो ही नहीं पायेगा। इसलिये 'याच्छन्दसि' न्याय ही अधिक लक्ष्यसंग्राहक होने से प्रशस्त है। और इस न्यास में तो सामान्यग्रहणार्थ की कोई बात ही नहीं है।

भा०– इदं तर्हि प्रयोजनम्- यत्तदकृद्यकार इति दीर्घत्वं तत्र 'क्ङिद्ग्रहणमनुवर्त्तते', तदिहापि यथा स्यात्-लोहितायते।।

अच्छा तो यह प्रयोजन है– जो वह कृद्भिन्न यकारादि प्रत्यय परे रहते दीर्घत्व कहा गया है, वहाँ क्ङिद्ग्रहण की अनुवृत्ति है। सो क्यष् को कित् करने से 'लोहितायति'–यहाँ भी दीर्घत्व हो जायेगा।

भा०– किं पुन: कारणं तत्र क्ङिद्ग्रहणमनुवर्त्तते?

ऐसा क्या कारण है, जो 'क्ङिद्ग्रहण' की अनुवृत्ति की गयी है?

भा०– इह मा भूद्- 'उरुया, धृष्णुये'ति।

वह (अनुवृत्ति) इसलिये है कि उरुया, धृष्णुया– यहाँ दीर्घत्व न हो। इन दोनों उदाहरणों में 'सुपां सुलुक्०' (अ०– ७.१.३९) सूत्र से तृतीया (टा) के स्थान में 'या' आदेश हुआ है।

भा०– यदि क्ङिद्ग्रणमनुवर्त्तते, पित्र्यमिति रीङ्भावो न प्राप्नोति।।

यदि वहाँ क्ङिद्ग्रहण की अनुवृत्ति है तो, वह आगे 'रीङ् ऋत:' (अ०– ७.४.२७) में भी अनुवर्त्तमान होगा। और फिर 'पित्र्यम्' यहाँ रीङ्भाव नहीं प्राप्त हो सकेगा। पितुरागतम् = पित्र्यम्– यहाँ 'तत आगत:' (४.३.७४) अर्थ में 'पितुर्यच्च' (४.३.७९) से यत् प्रत्यय होकर 'रीङ् ऋत:' से पितृशब्द के ऋकार को 'रीङ्' आदेश होकर 'पित्री+य' इस स्थिति में 'यस्येति च' (६.४.१४९) ईलोप होकर उक्त रूप सिद्ध होता है।

भा०– रीङ्भावे क्ङिद्ग्रहणं निवर्त्तिष्यते।

(अकृत्सार्वधातुक० ७.४.२५ में तो क्ङिद्ग्रहण आ रहा है) पर रीङ्भाव में अर्थात् 'रीङ्' आदेश करने वाले सूत्र में क्ङिद्ग्रहण की निवृत्ति कर देंगे।

भा०–यदि निवर्त्तते कथमसूया वसूया च यजामहे[१], इति?

यदि केवल रीङ्भाव में ही 'क्ङिद्ग्रहण' की निवृत्ति करेंगे न कि दीर्घविधि (७.४.२५) में भी, तो 'असु' 'वसु' शब्दों से तृतीया को 'या' आदेश कर लेने पर (अब इस 'या' के क्ङित् न होने के कारण, उसके परे रहते) असु-वसु को दीर्घ नहीं हो पायेगा। पर यहाँ दीर्घ देखा जाता है।

भा०– असूयतेरसूया वसूयतेर्वसूया।

कण्ड्वादियगन्त 'असूय' शब्द से 'अ प्रत्ययात्' (अ०– ३.३.१०२) 'अ'– होकर अप्रत्ययान्त से 'टाप्' (४.१.४) करके विभक्ति का छान्दस लुक् (सुपां सुलुक्०) करके 'असूया' शब्द सिद्ध होता है और इसी प्रक्रिया से 'वसूया'।

भा०– अथवा छान्दसमेतत्[२]। दृष्टानुविधिश्च छन्दसि भवति।।

अथवा यह असूयादि छान्दस हैं। और छन्द में (तो) दृष्टानुविधि होती है। (सो वर्णव्यत्यय से दीर्घ हो जायेगा)। इस पक्ष मे 'प्राणैर्वसुभिश्च यजामहे'– ऐसा श्रुति का अर्थ होगा।

भा०– यदि छान्दसत्वं हेतुर्नाऽर्थ: क्ङिद्ग्रहणेनाऽनुवर्त्तमानेन।। कस्मान्न भवति उरुया धृष्णुयेति? छान्दसत्वात्।

---

१. असु व वसु के द्वारा (प्राणों की इच्छा से और धन की इच्छा से) हम यजन कर रहें हैं।

२. असूयादिकम्० इत्यर्थ:।

यदि छान्दसत्व हेतु है तो, 'अकृत्सार्वधातु०' (७.४.२५) इस दीर्घविधि मे निश्शङ्क रूपेण क्ङिद्ग्रहण की अनुवृत्ति न हो (तो भी कोई हानि नहीं)। यदि यह पूछते हो कि फिर उरुया, धृष्णुया में क्यों दीर्घ नहीं हो रहा है, तो इसका भी यही उत्तर हो जायेगा कि छान्दसमेतत्– अर्थात् छान्दसप्रयोग होने से।

भा०– अथवाऽस्तु अत्र दीर्घत्वं, छान्दसं ह्रस्वत्वं भविष्यति। तद्यथा 'उपगायन्तु मां पत्नयो गर्भिण्यो युवतयः' इति।

अथवा यहाँ (उरुया-धृष्णुया में) दीर्घत्व होने दीजिये, पुनः छान्दस ह्रस्वत्व हो जायेगा। जैसे कि 'उपगायन्तु----०'। इस ऋचा में 'पत्नी' व 'गर्भिणी' के दीर्घ ईकार को ह्रस्व हो गया है।

(युवति जो गर्भिणी पत्नियाँ वे मेरा (पति का या परमेश्वर का) उपगायन करें– ऐसा उक्त श्रुति का अर्थ है।)

इस प्रकार भाष्यकार ने क्यष् के ककार का प्रत्याख्यान कर दिया। 'नाऽर्थः क्ङिद्ग्रहणानुवर्तमानेन' इस भाष्योक्ति पर नागेश अपना समर्थन प्रस्तुत करता हुआ कहता है– इसीलिये 'ज्यादादीयसः' (६.४.१६०) सूत्र से निकाला गया अङ्गवृत्तपरिभाषा (पारि० ८२) का ज्ञापक संगत होता है। नागेश का भाव है– 'ज्य+ईयस्' इस स्थिति में 'ईयस्' के ईकार का लोप करके 'ज्य' शब्द के अकार को 'अकृत्सार्वधातुक०' (७.४.२५) से विहित दीर्घ के द्वारा इष्ट सिद्धि होने पर जो 'ज्यादादीयसः' से आकारविधान किया गया वह उक्त परिभाषा होने में ज्ञापक है। यह ज्ञापक तभी संगत हो पायेगा जब अकृत्सार्वधातुक० दीर्घविधायक सूत्र में 'क्ङिद्ग्रहण' की अनुवृत्ति नहीं है– यदि क्ङिद् की अनुवृत्ति होगी तब तो 'ज्य+यस्' इस स्थिति में दीर्घत्व प्राप्त ही नहीं हो सकेगा– इस कारण ईयस् का लोप न करके आकारविधान के द्वारा ही उक्त रूप बनाना होग। प्रयोजन मिलने पर ज्ञापक नहीं हो सकता। 'सति प्रयोजने न ज्ञापकम्'– यह प्रसिद्ध ही है।

भा०– अथ किमर्थः षकारः?

अच्छा! अब हम यह जानना चाहते हैं– क्यष् का षकार किसलिये है?

भा०– विशेषणार्थः।। क्व विशेषणार्थेनाऽर्थः?

'वा क्यषः' (अ०– १.३.९०) इति।।

'क्यष्' का षकार है विशेषणार्थ। यदि हम यह पूछें– षकार को विशेषणार्थ मानकर कहाँ प्रयोजन सिद्ध करना चाहते हैं? 'वा क्यषः' यहाँ विशेषणार्थ षकार प्रयोजन है। क्योंकि 'वा याद्'–ऐसा सूत्र बनाने पर 'पाश्या' यहाँ भी (आत्मनेपद) होने लगेगा।

‘पाश्या’ यहाँ ‘तस्य समूहः’ (४.२.३६) अर्थ में ‘पाशादिभ्यो यः’ (४.२.४८) से ‘य’ प्रत्यय हुआ है। फिर तदन्त से ‘टाप्’ करके एकादेश के ‘अन्तादिवच्च’ (६.१.३) से पूर्व के प्रति अन्तवद्भाव होने से ‘पाश्या’ यह शब्द ‘य प्रत्यान्त’ है। ‘वा यात्’– वस्तुतः यह सूत्र नियमार्थ है पर यहाँ उसे विध्यर्थ (लकारस्थानिकपरस्मैपदविधान के लिये) मानते हुये अपनी बात कही जा रही है।

भा०– नैतदस्ति प्रयोजनम्- परस्मैपदमित्युच्यते न चाऽत्र परस्मैपदं पश्यामः।।

नहीं! यह तो कोई प्रयोजन नहीं है। (य से उत्तर) परस्मैपद होता है– ऐसा कहा जा रहा है। लेकिन यहाँ ‘पाश्या’ इत्यादि में तो न तो परस्मैपद और न हि आत्मनेपद देख पा रहे हैं। इसका भाव यह है– सामान्यविहित आत्मनेपद व परस्मैपद का नियम करने के लिये यह प्रकरण है, न कि इसके द्वारा अपूर्वविधान किया जाता है।

भा०– सामान्यग्रहणाविघातार्थस्तर्हि भविष्यति।। क्व सामान्यग्रहणाविघातार्थेनाऽर्थः? ‘क्याच्छन्दसी’ ति।।

अच्छा तो षकार अनुबन्ध इसलिये है कि सामान्यग्रहण का विघात न हो। ऐसा कौन सा स्थल है जहाँ सामान्यग्रहण के अविघात के द्वारा अपना इष्ट सिद्ध करना चाहते हैं? वह है– क्याच्छन्दसि (६.४.१७०) क्य प्रत्ययान्त से वेद में ‘उ’ प्रत्यय की सिद्धि हो जाये।

भा०– याच्छन्दसीत्येवं तद् वक्तव्यम्। चुरण्युः तुरण्युः भुरण्युरित्येवमर्थम्।।

वह तो ‘याच्छन्दसि’– ऐसा ही बनना चाहिये। चुरण्युः, तुरण्युः भुरण्युः इत्यादियों की सिद्धि के लिये।

इस प्रकार भाष्यकार ने षकार का भी प्रत्याख्यान कर दिया।

वा०– लोहितडाज्भ्यः क्यष्वचनम्।।१।।

भा०– लोहितडाज्भ्यः क्यष् वक्तव्यः। लोहितायति, लोहितायते। पटपटायति, पटपटायति।।

आदि शब्द का प्रत्याख्यान करने के लिये यह अधिक आरम्भ है। वार्तिककार का कहना है– लोहित शब्द से और डाच् प्रत्ययान्त शब्दों से क्यष् होता है– ऐसा कहना चाहिये। (न कि लोहितादियों से)। लोहितायति, लोहितायते। डाच्–पटपटायति, पटपटायते।

भा०– अथाऽन्यानि लोहितादीनि?

और अन्य जो ‘आदि’ पद से संग्रहीत लोहितादि हैं– उनका क्या किया जाये?

वा०– भृशादिष्वितराणि।।२।।

भा०– भृशादिष्वितराणि पठितव्यानि।। किं प्रयोजनम्?

‘ङित’ इति आत्मनेपदं यथा स्यात्।।१३।।

'लोहित' शब्द से इतर जो लोहितादि गण में पठित शब्द हैं, उनको भृशादि में पढ़ देना चाहिये। किस प्रयोजन के लिये ऐसा करना चाहिये? चूँकि भृशादियों से 'क्यङ्' प्रत्यय कहा गया है, सो ङित् कहकर 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' (१.३.१२) से विहित नित्य आत्मनेपद हो जाये– इसके लिये भृशादि गण में पढ़ना चाहिये। क्यष् करने से 'वा क्यषः' के नियम से विकल्पित आत्मनेपद प्राप्त होगा।

कोई कह सकता है कि, क्यङ् तो अभूततद्भाव अर्थ में है और क्यष् उसके अभाव में। सो अभूततद्भाव के अभाव में पदद्वय के लिये आदिग्रहण आवश्यक है, तो उसके लिये यही कहा जायेगा कि वैसा नहीं है। क्योंकि यहाँ भी 'अच्वेः' की अनुवृत्ति होने से अभूततद्भाव अर्थ में ही क्यष् का विधान है। इसीलिये नित्य आत्मनेपद के लिये भृशादिपाठ है– ऐसा भाष्यकार के द्वारा स्पष्ट ही कहा गया है। इससे यह भी समझ लेना चाहिये कि जो वृत्तिकार ने आदिशब्द को प्रकारवाची मानकर अपठित लोहितादि शब्दों के संग्राहक के रूप में व्याख्यान करते हुये चर्मायति, चर्मायते आदि की सिद्धि दर्शायी है– वह कम से कम भाष्यसम्मत तो नहीं कही जा सकती। भाष्यकार ने इसी सूत्र भाष्य में स्पष्ट शब्दों में यह भी कह दिया है कि– 'नायं हलन्ताद् विधीयते'। सो भाष्यवार्तिककार तो दोनों ही यहाँ एकमत हैं– और आदि कथन के विपक्ष में ही खड़े हैं। फिर पाणिनि ने 'आदि' पद क्यों रखा– यह विचारणीय है। ऐसा लगता है– पाणिनि के समय तो लोहितादिगणपठित नील-हरितादि शब्दों से उभयपद प्रयुक्त होता था, पर भाषा के विकास क्रम में कात्यायन व पतञ्जलि के समय एक ही आत्मनेपद रह गया– उसके अनुसार इन्होंने अपना उक्त वक्तव्य दे दिया। आदि शब्द को प्रकारवाची भी नहीं माना– क्योंकि उनके समय वैसे प्रयोग प्रकाश में नहीं थे।

कष्टाय क्रमणे।।३.१.१४।।

भा०– 'कष्टाये'ति किं निपात्यते?

'कष्टाय'– यहाँ क्या निपातन किया जा रहा है?

भा०– कष्टशब्दाच्चतुर्थीसमर्थात्क्रमणेऽनार्जवे क्यङ् निपात्यते।

कष्टाय कर्मणे क्रामति-कष्टायते।।

चतुर्थीसमर्थ कष्ट शब्द से अनार्जव अर्थ में अर्थात् अनृजुविषयक क्रमण अर्थ में क्यङ् प्रत्यय का निपातन किया जा रहा है। कष्टाय कर्मणे क्रामति-कष्टायते।।

इस सूत्र को यदि विधि-सूत्र मानते हैं तो सूत्र के शब्दों से इतना मात्र ही अर्थ प्राप्त हो सकेगा कि चतुर्थीसमर्थ कष्ट शब्द से क्रमण अर्थ में क्यङ् होता है– पर 'क्रमण' से क्या अर्थ ग्रहण करना है– यह कुछ पता नहीं चल पाता। चाहते यह है कि क्रमण शब्द का पादविहरणरूप सामान्य अर्थ न लिया जाकर

अनृजुविषयक क्रमणविशेष अर्थ लिया जाये– सो उसके लिये निपातन का आश्रय करना पड़ा। भाष्यकार ने व्याख्यान में 'क्रमणे' शब्द के पश्चात् अनार्जवे कहते हुये इसी बात की ओर संकेत किया है। यहाँ यह नहीं समझ लेना चाहिये कि क्रमण शब्द का अर्थ ही 'अनार्जव' ऐसा किया गया है, बल्कि अनृजुविषयक क्रमण अर्थ अभिप्रेत है। यहाँ स्वार्थिक अणन्त आर्जव शब्द के साथ नञ्तत्पुरुष समास है। इस प्रकार सूत्र का फलितार्थ इस रूप में समझना चाहिये– **'अनृजौ वर्त्तमानात् कष्टशब्दात् क्रमणेऽर्थे क्यङ्'**– अनृजु अर्थ में वर्त्तमान कष्टशब्द से क्रमण अर्थ में क्यङ् होता है। और 'कष्टाय कर्मणे क्रामति'–का अर्थ होगा **'कष्टं अनृजु कर्म कर्तुं गच्छति।'** अनृजु का यहाँ अर्थ है– पाप। सो निष्कर्ष यह निकला कि, पापार्थक कष्टशब्द से प्रत्यय हो– इस अर्थलाभ के लिये निपातन किया गया है। इसलिये दु:ख पर्यायवाची कष्टशब्द से प्रत्यय नहीं किया जायेगा। अर्थात् 'कष्टायते' शब्द का अर्थ 'कष्टं = दु:खम् अनुभवितुं क्रामति'– ऐसा नहीं होगा। इसी बात को ध्वनित करते हुये 'कष्टाय कर्मणे क्रामति' यहाँ 'कर्म' इस पद का प्रयोग हुआ है। इसीलिये सूत्रव्याख्यान के बाद 'अत्यल्पमिदमुच्यते कष्टाय क्रमण इति। सत्रादिभ्य: कण्वचिकीर्षायामिति वक्तव्यम्'। यह उत्तरभाष्य सङ्गत होता है। 'पापचिकीर्षायां गम्यमानायाम्'–ऐसा इसका अर्थ है।

भा०– अत्यल्पमिदमुच्यते– 'कष्टाय क्रमण' इति।

'कष्टाय क्रमणे'– यह इतना मात्र कथन तो बहुत थोड़ा है।

वा० सत्रकक्षकष्टकृच्छ्रगहनेभ्य: कण्वचिकीर्षायाम्।।१।।

भा०– सत्रकक्षकष्टकृच्छ्रगहनेभ्य: कण्वचिकीर्षायां वक्तव्यम्।

सत्र– सत्रायते। सत्र। कक्ष-कक्षायते कक्ष। कष्ट-कष्टायते कष्ट।

कृच्छ्र-कृच्छ्रायते कृच्छ्र। गहन-गहनायते गहन।

(यह कहना चाहिये कि) सत्र, कक्ष, कष्ट, कृच्छ्र व गहन प्रातिपदिकों से कण्वचिकीर्षा अर्थात् पापकरने की इच्छा गम्यमान होने पर क्यङ् होता है। यह प्रकृति-प्रत्यय समुदाय का अर्थनिर्देश है। सत्रादि पाप पर्यायवाची हैं और चिकीर्षा प्रत्ययार्थ है। इस पक्ष में चिकीर्षा के प्रति कर्म होने से सत्रादि द्वितीयान्तों से प्रत्यय होगा।

भा०– अपर आह– 'सत्रादिभ्यश्चतुर्थ्यन्तेभ्य: क्रमणेऽनार्जवे क्यङ् वक्तव्य:। तान्येवोदाहरणानि।।'

दूसरा आचार्य कहता है– सत्र इत्यादि चतुर्थ्यन्त प्रातिपदिकों से अनृजुविषयक क्रमण अर्थ में क्यङ् कहना चाहिये। उदाहरण पूर्वोक्त ही हैं। 'अपर आह' के द्वारा उपर्युक्त दोनों वाक्यों का परस्पर व्याख्येय-व्याख्यान भाव लक्षित हो रहा है। पूर्ववाक्य तो व्याख्येय है और प्रकृत वाक्य[१] व्याख्यान– ऐसा समझना चाहिये।

१. सत्रकक्षकष्टकृच्छ्रगहनेभ्य: कण्वचिकीर्षायाम्।

भा० – सत्रादिभ्य इति किमर्थम्?

'सत्रादिभ्य:'– ऐसा किसलिये कहा गया?

भा० – कुटिलायाऽनुवाकाय क्रामति।

यत: 'कुटिल' शब्द सत्रादि के अन्तर्गत नहीं आता– इसलिये उससे क्यङ् नहीं होगा। दुरध्येय होने के कारण अनुवाक का अनृजुत्व तो है ही।

भा०- चतुर्थ्यन्तेभ्य इति किमर्थम्? अज: कष्टं क्रामति

वार्त्तिक में 'चतुर्थ्यन्तेभ्य:'– ऐसा क्यों कहा? वह इसीलिये कहा– अज: कष्टं क्रामति– यहाँ द्वितीया समर्थ कष्ट शब्द से प्रत्यय न होवे। 'बकरा अनार्जवयुक्त अर्थात्' टेढे-मेढे रास्ते पर जा रहा है। यहाँ कष्टशब्द अनृजुविषयवाला तो है, पर चतुर्थीसमर्थ नहीं है।

भा० – तत्तर्हि वक्तव्यम्।।

तो फिर क्या 'सत्रादिभ्य:-----०' ऐसा कहना चाहिये?

भा० – न वक्तव्यम्। नैतत्प्रत्ययान्तनिपातनम्।। किं तर्हि? तादर्थ्ये एषा चतुर्थी। कष्टाय यत्प्रातिपदिकं, कष्टार्थे यत् प्रातिपदिकमिति।।१४।।

नहीं! कहने की आवश्यकता नहीं है। 'कष्टाय' यह क्यङ्प्रत्यान्त निपातन शब्द रूप नहीं, तो क्या है? 'कष्टाय' यह तो तादर्थ्य में चतुर्थी है– कष्ट के लिये जो (भी) प्रातिपदिक है– कष्ट के अर्थ में जो प्रातिपदिक वर्तमान है उससे क्यङ् होता है। 'कष्टाय यत्प्रातिपदिकं = कष्टार्थं यत्प्रातिपदिकम्'– का भाव है– कष्ट लक्षण अर्थ का प्रतिपादन करने के लिये जिस किसी प्रातिपदिक का प्रयोग होता है उससे क्रमण अर्थ में क्यङ् होता है, और अभिधान-शक्तिस्वभाव से क्रमण शब्द से अनृजुविषयक क्रमणविशेष अर्थ ही लिया जायेगा। तथा अनभिधान से पापादि शब्दों से अतिप्रसङ्ग नहीं होगा।

कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्त्तिचरो:।।३.१.१५।।

भा० – रोमन्थ इत्युच्यते, कोऽयं रोमन्थो नाम?

सूत्र में 'रोमन्थ' तथा 'तपस्' शब्दों से यथाक्रम 'वर्त्ति' तथा 'चर' अर्थ में क्यङ् प्रत्यय कहा गया है। सो 'रोमन्थ' शब्द के अस्पष्ट होने से शङ्किता पूछता है कि 'रोमन्थ' जो ऐसा कह रहे हैं, यह रोमन्थ किस अर्थवाला है?

भा०– उद्गीर्णस्याऽवगीर्णस्य वा मन्थो रोमन्थ इति।।

मुख में जो निगला हुआ है, उसका अथवा अपान प्रदेश से जो बाहर आया हुआ है– उसका मन्थ (मथना, बिलोडना) ही रोमन्थ है। समाधाता उत्तर देता है– उद्गीर्ण का तो चर्वण रूप मन्थन और अवगीर्ण का अशन = भोजन (भक्षण) रूप मन्थन यहाँ अभिप्रेत है।

भा०– यद्येवं, 'हनुचलन' इति वक्तव्यम्। इह मा भूद्–'कीटो रोमन्थं वर्त्तयती'ति।

यदि ऐसी बात है तो, आपको 'हनुचलने' ऐसा साथ में कहना चाहिये (जिससे कि) यहाँ (अतिप्रसङ्ग) न होवे– 'कीटो रोमन्थं वर्त्तयति'। कीट (एक प्रकार का विशेष कीडा) अपान प्रदेश से बाहर आये हुये मल आदि को खाता है अथवा वर्त्तुलाकार करता है (गोली बनाता है)। इसका भाव यह है– 'हनुचलने' ऐसा कहने से उद्गीर्ण विषय में ही उक्त प्रयोग निष्पन्न होगा, न कि अवगीर्ण विषय में। हनुचलन सहचरित जहाँ चर्वण होगा, उसको कहने के लिये ही क्यङ् प्रत्यय होता है।

भा०– तत् तर्हि वक्तव्यम्?।

तो फिर क्या 'हनुचलने' ऐसा कहना चाहिये?

भा०– न वक्तव्यम्।। कस्मान्न भवति-कीटो रोमन्थं वर्त्तयतीति? अनभिधानात्।।

नही! वैसा कहने की तो कोई आवश्यकता नहीं है। फिर, 'कीटो रोमन्थं वर्त्तयति'– इस कथन के अभाव में तो क्यङ् की प्रसक्ति होनी ही चाहिये? वह इसीलिये नहीं होता– 'रोमन्थायते' इस क्यङन्त पद के द्वारा लौकिक प्रयोग में चर्वित के चर्वण में ही अभिधान होता है, न कि अर्थान्तर का। इस प्रकार 'हनुचलने' से अन्यत्र उक्त प्रयोग का अभाव होने से उसकी निवृत्ति के लिये यत्न करने की क्या आवश्यकता नहीं!

वा०– तपसः परस्मैपदं च।।१।।

भाष्यम्– तपसः परस्मैपदं चेति वक्तव्यम्। तपश्चरति तपस्यति।।

'तपस्' शब्द से 'क्यङ्' के साथ परस्मैपद भी होता है, ऐसा कहना चाहिये। (जिससे ङित् मानकर आत्मनेपद न हो।) जैसे– तपश्चरति = तपस्यति।

भा०– कथं– 'तपस्यते लोकजिगीषुरग्नेः'?

तो (जब तपस् शब्द से क्यङ् प्रत्यय के साथ परस्मैपदविधान कर दिया तो) 'तपस्यते लोकजिगीषुरग्नेः'– यह प्रयोग कैसे सिद्ध होगा? (क्योंकि यहाँ तो आत्मनेपद हो रहा है।)

भा०– छान्दसत्वाद्भविष्यति।।१४।।

छान्दस हेतु से हो जायेगा। 'तपस्यते'– यह कहीं का आर्ष प्रयोग है।

बाष्पोष्मभ्यामुद्वमने।।३.१.१६।।

भा०– फेनाच्चेति वक्तव्यम्। फेनायते।।१६।।

'फेन' शब्द से भी 'क्यङ्' कहना चाहिये। 'बाष्प' और 'ऊष्मा' शब्दों से कहा हुआ, 'फेन' शब्द से प्राप्त नहीं हो पा रहा था। उसके लिये भाष्यकार ने पृथक् रूप से क्यङ् का विधान कर दिया।

फेनायते = समुद्र फेन बना रहा है।

शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे।।३.१.१७।।

भा०– अटाट्टाशीकाकोटापोटासोटापुष्टाप्लुष्टाग्रहणं कर्त्तव्यम्।

अटा– अटायते। अट्टा- अट्टायते। शीका- शीकायते। कोटा- कोटायते।

पोटा-पोटायते। सोटा-सोटायते। प्रुष्टा-प्रुष्टायते। प्लुष्टा-प्लुष्टायते।

अटा, अट्टा, शीका, कोटा, पोटा, सोटा, प्रुष्टा, प्लुष्टा– इनका भी क्यङ् प्रत्ययविधान में ग्रहण करना चाहिये।

अट-गतौ (भ्वा०– १९२) अटतीति-अटा पचाद्यच् ततष्टाप्। अटां करोति अटायते अट्ट-अतिक्रमणहिंसनयोः (भ्वा०- १५५), शीकृ-सेचने (भ्वा०- ६१) इन दोनों धातुओं से 'गुरोश्च हलः' (अ०– ३.३.१०३) से अकार प्रत्यय। पश्चात् 'अजाद्यतष्टाप्' से टाप्। अट्टतीति अट्टा, शीकते इति शीका, अट्टां करोति-अट्टायते। शीकां करोति-शीकायते। कुट-कौटिल्ये (तुदा०- ७५), पुट-संश्लेषणे (तुदा०- ७६), षुट्ट-अनादरे (चुरा०- ३१) इन धातुओं से पचाद्यच् पश्चात् टाप्। कुटतीति कोटा, पुटतीति पोटा, सोटयतीति सोटा। कोटां करोति-कोटायते। पोटां करोति-पोटायते। सोटां करोति-सोटायते। यहाँ क्रियाशब्दों के साहचर्य से 'पोटा' शब्द भी क्रियावाची ही लिया जाता है, न कि स्त्रीपुंसलक्षण (नपुंसक) अर्थ का वाचक। प्रुषु, प्लुषु-दाहे (भ्वा०- ४६७) इन धातुओं से कर्मकारक में कृत्-प्रत्यय, टाप्। प्रुष्यते, प्लुष्यते वा या सा प्रुष्टा, प्लुष्टा। प्रुष्टां करोति-प्रुष्टायते। प्लुष्टां करोति-प्लुष्टायते।

वा०– सुदिनदुर्दिनाभ्यां च।।१।।

भा०– सुदिनदुर्दिनाभ्यां चेति वक्तव्यम्। सुदिनायते, दुर्दिनायते।।

सुदिन और दुर्दिन शब्दों से भी क्यङ् प्रत्यय कहना चाहिये। सुदिनं करोतीति-सुदिनायते, दुर्दिनं करोति-दुर्दिनायते-देव इति शेषः। शीत ऋतु में मेघाच्छन्न दिन को 'दुर्दिन' कहते हैं। वही वर्षा ऋतु में मेघ-दिन को सुदिन कहते हैं।

वा०– नीहाराच्च।।२।।

भा०– नीहाराच्चेति वक्तव्यम्।। नीहारायते।।१७।।

नीहार शब्द से भी क्यङ् कहना चाहिये। नीहारं करोति-नीहारायते। नीहार = कोहरा। नीहारायते = मेघ कोहरा कर रहा है।

सुखादिभ्यः कर्तृवेदनायाम्।।३.१.१८।।

भा०– कर्तृवेदनायामिति किमर्थम्?

सुखादि शब्दों में कर्तृवेदना अर्थ में क्यङ् होता है। सो कर्तृवेदना ग्रहण करने का क्या प्रयोजन है? क्योंकि 'सुख' एक अनुभूति है और किसी भी अनुभूति के लिये कोई न कोई कर्त्ता तो होना ही चाहिये।

भा०– इह मा भूत्– सुखं वेदयते प्रसाधको देवदत्तस्य।

'सुखं वेदयते प्रसाधको देवदत्तस्य' यहाँ इस प्रयोग में सुख शब्द से क्यङ् न होवे। प्रसाधक (तैलादि से अभ्यङ्गमर्दन करने वाला कोई यज्ञदत्तादि) संप्रसाध्यमान देवदत्त के मुखप्रसादादि के द्वारा उसके सुख का अनुभव कर रहा है। यहाँ सुख देवदत्त को ही हो रहा है और उसका अनुभव प्रसाधक (यज्ञदत्त) कर रहा है। समाधाता का भाव यह है कि 'कर्तृवेदनायाम्' इस कथन से 'क्यङ्' प्रत्यय तब होता है, जब सुख का कर्त्ता और वेदना का कर्त्ता एक ही हो।

भा०– 'कर्तृवेदनाया'मित्युच्यमानेऽपि, अत्र प्राप्नोति।। किं कारणम्? 'कर्त्तु'रितीयं कर्त्तरि षष्ठी, 'वेदनाया'मिति चानो भावे। स यद्येवाऽऽत्मनो वेदयतेऽथापि परस्य, कर्तृवेदनैवाऽसौ भवति।।

(नहीं!) कर्त्तृवेदनायाम्- ऐसा कहदिये जाने पर भी उक्तप्रयोग में क्यङ् प्राप्त होता ही है। क्यों, ऐसा क्या कारण है? कारण यह है कि, 'कर्त्तुः' यह कर्त्ता में षष्ठी है और वेदनायाम् यहाँ जो 'अन' है[1], वह भाव में है। सो चाहे आत्मसंबन्धी (अपने से संबन्धित) सुख का अनुभव किया जा रहा हो, अथवा पर संबन्धी-कर्तृवेदना ही तो वह होती है।

शङ्किता (आक्षेप्ता) 'कर्तृवेदना' इस पद को 'कर्त्तुर्वेदना = कर्त्तृवेदना' इस रूप में समस्त पद मान रहा है। इसलिये उसका कहना है कि वेदना तो आत्मसंबन्धी (अनुभव = प्रत्यक्षतः ज्ञान) हो या परसंबन्धी 'वेदयिता' के विना संभव ही नहीं है, जिसको कि सूत्र में 'कर्तृ' पद से कहा गया है। सो इस प्रकार व्यभिचाराभाव होने से एक अर्थ में 'वेदना' का कर्तृविशेषता व्यर्थ सा हो जाता है।

---

१. विद-चेतनाख्यानिवासेषु (चुरा०–१७७) धातु से 'ण्यासश्रन्थो युच्' (३.३.१०७) से युच् प्रत्ययान्त।

भा० – न कर्तृग्रहणेन वेदनाऽभिसंबध्यते।। किं तर्हि?

सुखादीन्यभिसंबन्ध्यन्ते– 'कर्त्तुर्यानि सुखादीनी'ति।।१८।।

यद्यपि अन्तरङ्ग हेतु से कारकत्वेन वेदना में ही कर्तृपद का अन्वय न्याय्य है तथापि 'कर्त्तृग्रहण' सामर्थ्य से सुखादि के साथ वह (कर्त्ता) अन्वित हो रहा है। इस प्रकार समाधाता अपनी बात प्रस्तुत करता हुआ कहता है– यहाँ कर्तृग्रहण के साथ वेदना अभिसंबद्ध नहीं है। तो क्या है? सुखादि संबद्ध हो रहे हैं। कर्त्ता के संबन्धी जो सुखादि (ऐसा कहा जा रहा है) और संबन्ध को यहाँ इस प्रकार समझना होगा– आश्रयाऽऽश्रयिभावलक्षणसंबन्ध, न कि जन्यजन्कभावलक्षण। कर्त्ता (वेदयिता) आश्रय है और सुखादि आश्रयी। भाव यह है कि, यहाँ कर्त्तृपद 'सुपां सुलुक्०' (७.१.३९) से षष्ठी के लुक् के द्वारक निर्दिष्ट है न कि कर्तृपद का 'वेदना' के साथ षष्ठी समास करके। सो वेदयिता जब आत्मसंबन्धी सुखादि का अनुभव करता है तब क्यङ् प्रत्यय होता है, न कि (मुखप्रसादादि लिङ्ग के द्वारा) अन्यदीय सुखादि वेदना में।

नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्।।३.१.१९।।

वा० – नमसः क्यचि द्वितीयाऽनुपपत्तिः।।१।।

भाष्यम्– नमसः क्यचि द्वितीया नोपपद्यते– नमस्यति देवान् इति।।

किं कारणम्? नमः शब्देन योगे चतुर्थी विधीयते, सा प्राप्नोति।

'नमस्' शब्द से 'क्यच्' प्रत्यय करने पर, द्वितीया उपपन्न नहीं होती। जैसे कि– 'नमस्यति देवान्' अर्थात् देवान् नमस्करोति। ऐसा क्या कारण है, क्यों द्वितीया प्राप्त नहीं होती? कारण यह है कि, 'नमः' शब्द के योग में चतुर्थी विधान की गयी है, सो वही प्राप्त होगी। भाव यह है– 'नमःस्वस्तिस्वाहा०' (अ०– २.३.१६) सूत्र से 'नमः' शब्द के योग में चतुर्थी विहित होने से 'नमस्यति देवेभ्यः'– ऐसा प्राप्त होने लगता है। जबकि 'नमस्यति देवान्'– ऐसा चाहते हैं।

वा० – प्रकृत्यन्तरत्वात्सिद्धम्।।२।।

भा० – नमःशब्देन योगे चतुर्थी विधीयते, नमस्यतिशब्दश्चाऽयम्।।

प्रकृत्यन्तर होने से उक्त शङ्का का समाधान सिद्ध है। नमःशब्द के योग में चतुर्थी विधान की जाती है। क्यच् करने पर तो 'नमस्यति' ऐसा यह एक नवीन ही शब्द बन जाता है।

भा० – ननु च नमस्यतिशब्दे नमःशब्दोऽस्ति, तेन योगे प्राप्नोति।।

क्यों जी! 'नमस्यति' इस शब्द में भी 'नमः' शब्द तो है। उसके योग में चतुर्थी की प्राप्ति है ही।

भा०– नैष दोषः। अर्थवतो नमःशब्दस्य ग्रहणं, न च नमस्यतिशब्दे नमःशब्दोऽर्थवान्।।

नहीं! यह कोई दोष नहीं है। (नमःस्वस्ति० सूत्र में) अर्थवान् नमः शब्द ग्रहण है और नमस्यति शब्द में जो नमः शब्द है, वह अर्थवान् नहीं है। क्योंकि 'नमस्य' यह शब्दसमुदाय पूरा का पूरा ही एक अर्थ विशेष में सार्थक है, उसका अवयव 'नमः' शब्द तो अनर्थक ही है। अर्थात् 'जहत्स्वार्थ' वृत्ति में वर्त्तिपदों का अलग से कोई अर्थ नहीं होता।

भा०– अथवोपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसीति द्वितीया भविष्यति।।

अथवा 'उपपद विभक्ति से कारकविभक्ति बलवान् होती है' इस नियम के अनुसार (चतुर्थी को बाधकर) द्वितीया हो जायेगी।

इसका भाव यह है कि, 'नमस्यति देवान् = देवान् नमस्करोति' यहाँ नमस्यतिस्थित नमः शब्द को अभ्युपगम सिद्धान्त के अनुसार एक क्षण के लिये अर्थवान् मान भी लिया तो भी नमः शब्द के कारण तो 'देव' शब्द में चतुर्थी प्राप्त होती है जो कि व्याकरण की भाषा में उपपद विभक्ति कही जाती है। और 'नमस्यति' शब्द के क्रियावाची बन जाने के कारण 'कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म (अ०– १.४.४९) के नियम से कर्मसंज्ञा हो जाने से द्वितीया प्राप्त है। वैयाकरण कर्मादि में होने वाली विभक्ति को 'कारकविभक्ति' इस नाम से पुकारते हैं। और जहाँ कहीं एक ही साथ कारकविभक्ति और उपपदविभक्ति का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाए तो उपपदविभक्ति से कारकविभक्ति को बलवान् (बलीयसी) समझा जाता है। इस प्रकार चतुर्थी को बाधकर द्वितीया हो ही जायेगी। चतुर्थी को तो 'नमोऽस्तु देवेभ्यः' इत्यादि स्थलों में बहुत सारे अवकाश हैं ही।

वा०– क्यजादिषु प्रत्ययार्थनिर्देशः।।३।।

भा०– क्यजादिषु[१] प्रत्ययार्थनिर्देशः कर्त्तव्यः। नमसः पूजायाम्। वरिवसः परिचर्चायाम्। चित्रङ आश्चर्ये। भाण्डात्समाचयने। चीवरादर्जने परिधाने च। पुच्छादुदसने व्यसने पर्यसने चेति।। किं प्रयोजनम्? क्रियावचनता यथा स्यात्।।

क्यजादि प्रत्ययों के विधान में अर्थ का निर्देश करना चाहिये। यद्यपि 'शब्दवैरकलहाऽभ्र०' (अ०– ३.१.१७) से करण-ग्रहण की अनुवृत्ति तो है, और वह क्रियासामान्य अर्थ का बोधक होता हुआ भी प्रयोगवश क्रियाविशेष की प्रतीति कराने में समक्ष हो सकता है तो भी 'सुखादिभ्यः०' सूत्र में पठित वेदनाग्रहण से उसके (करण-ग्रहण के) व्यवच्छिन्न हो जाने के कारण, स्वार्थ में ही प्रत्यय का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। इसके लिये स्पष्ट रूप से कहना चाहिये कि–नमस् शब्द से पूजा अर्थ में, वरिवस् शब्द से सपर्या (सेवा) अर्थ में, चित्रङ् शब्द से आश्चर्य अर्थ में, भाण्ड से समाचयन (राशीकरण) अर्थ में, चीवर शब्द से अर्जन (द्रव्यलाभोपाय-याच्ञादि) व परिधान[२] अर्थ में, पुच्छशब्द से उदसन (ऊर्ध्व क्षेपण), व्यसन[३], पर्यसन[४] अर्थ में क्यच् व णिङ् प्रत्यय होते हैं। यदि यह पूछा जाये–

---

१. आदिशब्देन णिङ्णिचोर्ग्रहणम्। २. आच्छानम्। ३. विगतक्षेपण-नीचे दबाना। ४. परितः क्षेपणम्।

ऐसा करने से क्या लाभ होगा? तो समाधाता यक्षानुरूपबलिन्याय[1] से उत्तर देता है– इससे प्रत्ययान्त शब्दों की क्रियावचनता जानी जा सकेगी।

भा०– नैतदस्ति प्रयोजनम्। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति- 'क्रियावचनाः क्यजादय' इति, यदयं 'सनाद्यन्ता धातवः' (अ०– ३.१.३२) इति धातुसंज्ञां शास्ति।। कथं कृत्वा ज्ञापकम्? धातुसंज्ञावचन एतत्प्रयोजनं 'धातोः' (अ०– ३.१.९१) इति तव्यदादीनामुत्पत्तिर्यथा स्यात्। यदि चाऽत्र क्रियावचनता न स्याद्धातुसंज्ञावचनमनर्थकं स्यात्। सत्यामपि धातुसंज्ञायां तव्यदादयो न स्युः।। किं कारणम्? साधने तव्यदादयो विधीयन्ते, साधनं च क्रियायाः। क्रियाऽभावात् साधनाऽभावः। साधनाऽभावात्सत्यामपि धातुसंज्ञायां तव्यदादायो न स्युः। पश्यति त्वाचार्यः– 'क्रियावचनाः क्यजादयः' इति, ततः 'सनाद्यन्ता धातव' इति धातुसंज्ञां शास्ति।

प्रष्टा अपना किञ्चित् पाण्डित्य दर्शाता है– नहीं! यह कोई प्रयोजन नहीं है। आचार्य का व्यवहार इस बात में ज्ञापक है कि क्यजादि क्रियावाचक हैं। जो कि यह 'सनाद्यन्ता धातवः' से क्यजन्तादि प्रत्ययान्त समुदाय की धातुसंज्ञा कर रहे हैं। भला! किस प्रकार होगा यह ज्ञापक? देखिये! धातुसंज्ञा करने का यही तो प्रयोजन है कि 'धातोः' के अधिकार में धातु से तव्यदादि की उत्पत्ति हो जाया करे। यदि यहाँ क्रियावचनता न होवे तो धातुसंज्ञा का कथन करना ही व्यर्थ हो जायेगा। क्योंकि क्रियावचनता के अभाव में तो धातुसंज्ञा के होने पर भी तव्यदादि नहीं हो सकेंगे। क्यों, ऐसा क्या कारण है? कारण यह है– कर्म या कर्त्ता या भावरूप[2] या कोई अन्य करणादि साधन को कहने में तव्यदादि का विधान किया जाता है। और साधन होता है क्रिया का। क्रिया का अभाव होने से साधन का अभाव होता रहेगा। इस प्रकार साधन का अभाव रहने से धातुसंज्ञा होने पर भी तव्यदादि नहीं हो सकेंगे। लेकिन आचार्य देखते हैं कि क्यजादि (क्यजाद्यन्त शब्दसमुदाय) क्रियावाचक हैं– इसीलिये वे 'सनाद्यन्ता धातवः' यह सूत्र बनाकर उनकी धातुसंज्ञा का विधान कर रहें हैं। क्योंकि धातुसंज्ञा की सार्थकता तभी हो सकेगी जब धातु का क्रियारूप अर्थ के साथ अविनाभावसम्बन्ध हो सके।

---

१. जैसा यक्ष अर्थात् देवता है– उसके अनुरूप ही बलि दी जाती है। प्रकृत में शङ्किता के द्वारा 'अर्थनिर्देश' करने का प्रयोजन पूछना बहुत हल्का प्रश्न है– क्योंकि सभी जानते हैं– अर्थनिर्देश अर्थज्ञान के लिये ही होता है। फिर भी चूँकि पूछ ही लिया है तो उसी अंदाज में समाधाता उत्तर दे रहा है।

२. भाव के दो रूप हैं– साध्यरूप और सिद्धरूप। सो जो सिद्धरूप भाव है, वह किसी भी क्रिया का साधन बन जाता है।

भा०– ननु चेदं प्रयोजनं स्यात् परसाधने[१] तव्यदादीनामुत्पत्तिं वक्ष्यामीति।।

पूर्वपक्षी कहता है– क्यजादि की धातुसंज्ञा के द्वारा यह अनुमान निकालना कि वे क्रियावाचक हैं, अन्यथा उनकी धातुसंज्ञा का विधान करना व्यर्थ हो जाता है, ठीक नहीं है। ऐसा भी तो धातुसंज्ञा का प्रयोजन समझा जा सकता है कि परसाधन में अर्थात् स्वप्रकृति (क्यजाद्यन्तप्रकृति) से अन्य जो कोई क्रियावाची शब्द है उस के साधन में अर्थात् क्यजाद्यन्त से अन्यक्रिया के साधन में तव्यदादि की उत्पत्ति कह सकूँगा।

इसका भाव यह है कि अर्थनिर्देश के अभाव में 'अनिर्दिष्टा: प्रत्यया:-----०' (पारि० १०१) इस न्याय से क्यजादि प्रत्यय के स्वार्थिक होने से क्यजाद्यन्त नमस्य इत्यादि शब्दों के द्रव्यवाची (अक्रियावाची) होने पर भी शब्दान्तरवाच्यक्रिया के साधन (कारक) में तव्यदादि की उत्पत्ति हो जायेगी। जैसे कि 'वृक्षं पश्य' इत्यादि में 'वृक्ष' शब्द से कर्म में विधीयमान द्वितीया प्रातिपदिकार्थ के साधन में नहीं होती, क्योंकि प्रादिपदिक के तो अक्रियावाची होने से उसका तो कोई साधन बनेगा नहीं। किन्तु पश्यतिशब्दान्तरोपात्त क्रिया के कर्म को कहने में द्वितीया को कोई बाधा नहीं होती। तद्वत् क्यजाद्यन्त द्रव्यवाची (अक्रियावाची) शब्दान्तरोपात्त क्रिया के भाव या कर्म साधन में तव्यदादि हो जायेंगे।

भा०– न परसाधन उत्पत्या भवितव्यम्।। किं कारणम्? 'साधन'मिति संबन्धिशब्दोऽम्। संबन्धिशब्दाश्च पुनरेवमात्मका यदुत संबन्धिनमाक्षिपन्ति। तद्यथा– 'मातरि वर्त्तितव्यम्', 'पितरि शुश्रूषितव्य'मिति। न चोच्यते 'स्वस्यां मातरि', 'स्वस्मिन् पितरि'वेति, संबन्धाच्चैतद्गम्यते– 'या यस्य माता' 'यश्च यस्य पिते'ति। एवमिहाऽपि संबन्धाद्रेतद्गन्तव्यं– 'यस्य धातोर्यत्साधन'मिति।।

सिद्धान्ती उत्तर देता है– क्यजाद्यन्तों से परसाधन अर्थात् अन्य क्रिया के साधन में तव्यदादि की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये। क्यों-क्या कारण है? कारण यह है– 'साधन' यह संबन्धिशब्द है। और संबन्धिशब्दों का यह स्वभाव होता है कि जिसके वे संबन्धी होते हैं उस अपने संबन्धी का आक्षेप कर लेते हैं। जैसे कि 'मातरि वर्त्तितव्यम्' (माता के विषय में साधु वर्ताव करना चाहिये), पितरि शुश्रूषितव्यम् (पिता के समक्ष सुनने की इच्छा करनी चाहिये)। यह तो नहीं कहा जाता कि अपनी माता के विषय में या अपने पिता के विषय में, फिर भी सम्बन्ध से जान लिया जाता है कि जो जिसकी माता है और जो जिसका पिता है। इसी प्रकार प्रकृत में भी संबन्ध से ऐसा समझना चाहिये कि जिस धातु का जो साधन है– उसको कहने में तव्यदादि होते हैं। और जब अन्य क्रिया के साधन में तव्यदादि नहीं हो सकते तो 'सनाद्यन्ता धातव:' सूत्र निर्दिष्ट धातुसंज्ञा विधान ही इनके क्रियावाचकत्व में प्रमाण बन जाता है। अत: प्रत्ययार्थनिर्देश अनावश्यक है।

---

१. क्यजाद्यन्तादन्यस्या: क्रियाया: साधन इत्यर्थ:। यथा-नमसितव्यं करोति, नमसितव्यं विद्यते– ये प्रयोग सम्भावित हैं।

भाव यह है– द्वितीयादि विभक्तियाँ परसाधन में हो जाती हैं– यह कहना तो ठीक है– क्योंकि द्वितीयादि के प्रातिपदिक-विहित होने के कारण और उसके द्रव्यवाची होने से स्वप्रकृत्यर्थ के प्रति साधन की अप्रसिद्धि होने से वचनप्रामाण्य से परसाधन में उत्पत्ति हो जाती है। तव्यदादि की स्थिति भिन्न है, वे तो क्यजाद्यन्त से भिन्न जो क्रियावाची पठ् इत्यादि धातुशब्द हैं उनके अपने साधन में सावकाश हैं, इसलिये वे परसाधन में क्यों उत्पन्न होंगे?

अब यहाँ कुछ और भी विचार्य है– जहाँ स्वसाधन संभव है वहाँ तो स्वसाधन में ही प्रत्यय हो जायेगा– जैसे 'कर्त्तव्यम्' इत्यादि। पर जहाँ स्वसाधन में संभव ही नहीं है– वहाँ तो परसाधन में ही होगा– जैसे कि 'घटम्' इत्यादि में द्वितीयादि में तव्यदादि। इसलिये प्रकृत में संबन्धिशब्दत्व हेतु से कि 'जिस धातु का जो साधन' यह व्यवस्था बन पाना कठिन है, क्योंकि उस प्रकार के असम्भव स्थल में परसाधन में भी प्रत्ययोत्पत्ति सम्भावित है यह विचार कर भाष्यकार समाधानान्तर से प्रत्ययार्थ निर्देश का वैयर्थ्य उपस्थापित कर रहे हैं।

भा० – अथवा धातव[1] एव क्यजादयः[2]।

अथवा क्यजाद्यन्त (शब्द समुदाय) क्रियावाची ही हैं। अर्थात् अभिधानशक्तिस्वभावक हेतु से अर्थादेश के विना ही विशिष्टक्रियावचनता सिद्ध है। और जब क्रियावचनता स्वाभाविकी ही है तो उसके लिये अर्थनिर्देश करना व्यर्थ है।

भा० – न चैव ह्यर्था आदिश्यन्ते। क्रियावचनता च गम्यते।

क्यजाद्यन्त समुदायों को क्रियावाचक कैसे कह रहे हो– जब कि उन-उन क्रियारूप अर्थों का कथन तो किया ही नहीं गया है? यद्यपि आचार्य ने अर्थों का कथन नहीं किया, पर प्रयोग में तो क्रियावचनता गम्यमान हो रही है। उसी से जाना जाता है कि ये क्रियावाचक हैं।

भा० – कः खल्वपि पचादीनां क्रियावचनत्वे यत्नं करोति। येनैव खल्वपि हेतुना पचादयः क्रियावचनाः तेनैव क्यजादयोऽपि। एवमर्थं खल्वाचार्यश्चित्रयति[3]– 'क्वचिदर्थानादिशति, क्वचिन्ने'ति।

---

१. क्रियावचना एवेत्यर्थः २. क्यजाद्यन्ता इत्यर्थः।

३. 'चित्रीयति' इति चित्र-वैचित्र्यकरण इति चौरादिकस्य रूपम्, न तु क्यजन्तस्य।

और यह भी तो देखिये– पचादियों के क्रियावचनत्व को सिद्ध करने के लिये क्या कभी कोई यत्न करता है? जिस हेतु से पचादियों को क्रियावाचक मान लिया जाता है, उसी हेतु से क्यजाद्यन्तों को भी मान लिया जायेगा। निश्चय ही इसी कारण से तो आचार्य अनेक मार्गों का आश्रय ले रहें हैं– कहीं तो अर्थों का निर्देश कर दिया है– जैसे 'इच्छायाम्', 'आचारे' इत्यादि और कहीं (क्यच् या णिङ् के प्रसङ्ग में) अर्थ का निर्देश नहीं किया। तथा धातुपाठ में भी कहीं तो 'अव्' इत्यादि धातुओं में अनेक अर्थों का निर्देश किया है कहीं एक अर्थ का ही और कहीं वनु च नोच्यते इत्यादि में एक अर्थ का भी नहीं। प्रकृत भाष्य से ज्ञात होता है– पाणिनि ने पचादियों को अर्थरहित ही पढ़ा है– 'भ्वेध स्पर्द्ध' इस रूप में धातुपाठ की रचना की गयी थी। अर्थनिर्देश बाद का है। इसीलिये 'भूवादयो धातव:' (अ०– १.३.१.) सूत्र पर 'परिमाणग्रहणञ्च' ऐसा वार्त्तिककार का कथन सङ्गत होता है। भाष्यकार उक्त वार्त्तिक की व्यवस्था करते हुये कहते हैं– 'परिमाणग्रहणञ्च कर्त्तव्यम्– इयानवधिर्धातुसंज्ञो भवतीति वक्तव्यम्। कुतो ह्येतत्-भूत्शब्दो धातुसंज्ञो भविष्यति न पुनर् भ्वेध् शब्द इति।'

भा०– एवमपि अर्थादेशनं कर्त्तव्यं– 'कथमिमे अबुधा बुध्येरन्[1]' इति।

फिर भी, 'नमस:-पूजायाम्' इत्यादि रूप में अर्थनिर्देश तो करना ही चाहिये। अन्यथा ये अपक्वमति (बालमति) उन अर्थविशेषों को कैसे जान पायेंगे?

भा०– अथवा शक्यमेवर्थादेशनमकर्त्तुम्।। कथम्? 'करण' इति वर्त्तते। करणं च करोतेरर्थ:। करोतिश्च क्रियासामान्ये वर्त्तते।।१९।।

अथवा क्यजादि के विषय में अर्थादेशन न करना शक्य ही है। सो कैसे? 'करणे' इस पद की अनुवृत्ति ऊपर से आ रही है। 'करण' तो 'कृ' धातु का अर्थ है। और 'कृ' धातु क्रियासामान्य अर्थ में वर्तमान है। सामान्य के सभी विशेषों में विद्यमान होने से तद्-तद् विशिष्ट अर्थ गृहीत हो जायेगा। इस भाष्य से यह बात भी सिद्ध होती है– 'करोतिना सर्वधात्वर्थानुवाद: क्रियते'। इस प्रकार क्रियावचनतासिद्ध्यर्थ अर्थविशेषों का निर्देश करना चाहिये– ऐसा जो कहा, वह 'करणे' (३.१.१७) इसकी अनुवृत्ति के द्वारा ही सिद्ध कर दिया। 'सुखादिभ्य: कर्तृवेदनायाम्' (३.१.१८) सूत्रपठित वेदनाग्रहण से व्यवधान या विच्छेद होने की शङ्का तो नहीं करनी चाहिये– क्योंकि दोनों का विरोध न होने से 'वेदनारूपे करणे'– ऐसा अन्वय सम्भव है। इस प्रकार मण्डूक-प्लुति का आश्रयण भी नहीं करना पडता।।१९।।

---

१. क्वचित्तु 'बोध्येरन्नि'ति पाठ:। तत्र हि निवृत्तप्रेषणात्स्वार्थे णिच् बोद्धव्य:।

मुण्डमिश्रश्लक्ष्णलवणव्रतवस्त्रहलकलकृततूस्तेभ्यो णिच्।।३.१.२१।।

भा०– इमौ हलिकली स्त इकारान्तौ– हलिः, कलिः। अस्ति हलशब्दः कलशब्दश्चाकारान्तः। कयोरिदं ग्रहणम्?

ये हलि व कलि (अकारान्तों के साथ समानार्थक) इकारान्त भी हैं और हल व कल इस रूप में अकारान्त भी। प्रश्न होता है– यहाँ किनका ग्रहण होता है? अर्थात् इकारान्तों का कृतात्वों का ग्रहण है, या फिर सीधे अकारान्तों का ही ग्रहण है?

भा०– याविकारान्तौ, तयोरत्वं निपात्यते।।

जो इकारान्त हैं– उनको अत्व निपातन किया गया है।

भाव यह है– हल-कल शब्द अकारान्त हों या इकारान्त णिच् तो सामान्यरूप से प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे० (चुरादि गणसूत्र–३३७) से ही सिद्ध है। किन्तु इकारान्तों से णिच् चाहते नहीं हैं– इसके लिये अत्व निपातन कर दिया गया है।

भा०– किं प्रयोजनम्?

ऐसा क्या प्रयोजन है– जो इकारान्तों से णिच् नहीं चाहते? जिसके लिये अत्व निपातन करना पडा?

वा०– हलिकल्योरत्वनिपातनं सन्वद्भावप्रतिषेधार्थम्।।१।।

भा०– हलिकल्योरत्वनिपातनं क्रियते, सन्वद्भावो मा भूदिति। अजहलत्, अचकलत्।।

हलि-कलि इनको अत्वनिपातन किया जाता है– सन्वद्भाव न होवे। अजहलत्, अचकलत्– ये इष्टरूप तभी सिद्ध हो पायेंगे– जब सन्वद्भाव का प्रतिषेध हो जाये। अन्यथा अजीहलत्, अचीकलत् ऐसे अनिष्टरूप बनने लगेंगे।

भा०– नैतदस्ति प्रयोजनम्। इकारलोपे कृते'ऽग्लोपिनां ने'ति प्रतिषेधो भविष्यति।।

नहीं! हलि-कलि को अत्वनिपातन करने का यह तो कोई प्रयोजन नहीं। 'हलि+णिच्', 'कलि+णिच्' इस अवस्था में 'णाविष्ठवत्प्रातिपदिकस्य' (म० भा० ६.४.१५५) से णिच् को इष्ठन्वत् मान लेने पर 'टेः' (अ०– ६.४.१५५) सूत्र से हलि-कलि के इकार का लोप करने पर इकार के अक् प्रत्याहार में आ जाने से 'सन्वल्लघुनि०' (अ०– ७.४.९३) सूत्र में पठित अनग्लोपे (अग्लोपिनां न) प्रतिषेध के द्वारा अग्लोप अङ्ग होने से सन्वद्भाव का प्रतिषेध हो जायेगा।

भा०– वृद्धौ कृतायां लोपः, तन्नाऽग्लोप्यङ्गं भवति।। इदमिह संप्रधार्य- वृद्धिः क्रियतामग्लोप इति, किमत्र कर्त्तव्यम्? परत्वाद् वृद्धिः।। नित्यो लोपः। कृतायामपि वृद्धौ प्राप्नोत्यकृतायामपि प्राप्नोति।। वृद्धिरपि नित्या। कृतेऽपि लोपे प्राप्नोप्यकृतेऽपि प्राप्नोति।। अनित्यो लोपः। अन्यस्य कृतायां वृद्धौ प्राप्नोत्यन्यस्याऽकृतायाम्, 'शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन्विधिरनित्यो भवति'।। वृद्धिरप्यनित्या। अन्यस्य कृते लोपे प्राप्नोत्यन्यस्याऽकृते, 'शब्दान्तरस्य च प्राप्नुवन्विधिरनित्यो भवति।।' उभयोरनित्ययोः परत्वाद् वृद्धिः। वृद्धौ कृतायां लोपः, तन्नाऽग्लोप्यङ्गं भवति।।

अत्वे पुनः सति, वृद्धिः क्रियतां लोप इति, यद्यपि परत्वाद् वृद्धिर्वृद्धौ कृतायामप्यगेव लुप्यते। तस्मात्सुष्ठूच्यते- 'हलिकल्योरत्वनिपातनं सन्वद्भावप्रतिषेधार्थमि'ति।।२१।।

'हलि+णिच्' इस अवस्था में इकार का लोप हो जाये तब तो अग्लोपि अङ्ग बन सकता है। लेकिन वृद्धि कर लेने पर लोप होता है तो वह अग्लोपि अङ्ग नहीं होता।। अच्छा! पहिले यही निश्चय कर लेना चाहिये कि वृद्धि की जाये या लोप, एक साथ तो दोनों होंगे नहीं, पहिले कौन सा करना चाहिये? निश्चय ही परत्व[१] से वृद्धि को होना चाहिये।। किन्तु लोप नित्य है। कृताकृतविधि नित्य हुआ करती है। लोप वृद्धि कर लेने पर भी प्राप्त होता है और न करने पर भी। इस प्रकार पर से भी नित्य[२] के बलवान् होने से पहिले लोप होना चाहिये।।

सो तो वृद्धि भी नित्य है। लोप के कर लेने पर भी प्राप्त होती है, और न करने पर भी। किन्तु यहाँ लोप तो अनित्य ही है। क्योंकि 'हलि+णिच्' इस स्थिति में इकार को वृद्धि कर लेने पर तो अन्य (ऐकार) का पाता है, और वृद्धि न करने पर अन्य (इकार) का। 'शब्दान्तर को प्राप्त होती हुयी विधि अनित्य होती हैं'– (परि०– ४२) ऐसी परिभाषा है। अर्थात् लोप कृताकृतनियम से नित्य होते हुये भी उसका वाचनिक अनित्यत्व है।

इस प्रकार यदि (आप) देख रहें हैं, तब तो वृद्धि[३] भी अनित्य है। क्योंकि इकार का लोप कर लेने पर 'हल+णिच्' इस स्थिति में, 'अत उपधायाः' (७.२.११६) से प्राप्त वृद्धि अन्य (उपधा अकार) को प्राप्त[४] है, और लोप न करने पर 'अचो ञ्णिति' (७.२.११५) से अन्य (इकार) को। जब वृद्धि व लोप दोनों अनित्य हैं तो तुल्यबलविरोध होने से विप्रतिषेध बन जाता है। और विप्रतिषेध में परत्व से पहिले वृद्धि ही होगी। वृद्धि कर लेने पर 'पुनः प्रसङ्गविज्ञान०' (पारि०– ४०) से ऐकार का लोप होगा। और इस प्रकार वह अग्लोपि अङ्ग नहीं बनेगा।

---

१. 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (अं– १.४.२) सूत्रक्रम में जो पर है वह बलवान् होता है। लोपविधायक सूत्र– 'टेः' (६.४.१५५) से वृद्धिविधायक सूत्र 'अचो ञ्णिति' (७.२.११५) पर है।

२. 'पूर्वपरनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः' (पारि०– ३९) परिभाषा से पर से नित्य को बलवान् बताया गया है।

३. यद्यपि यहाँ लोप से पूर्व और पश्चात् प्राप्त होने वाली वृद्धि भिन्नलक्षणवाली और भिन्न स्वभाववाली हैं तो भी वृद्धित्वेन (वृद्धिशब्दवाच्यत्वेन) ऐक्य मानकर शब्दान्तरप्राप्ति- से वृद्धि का अनित्यत्व कहा है।

४. यहाँ कोई कह सकता है– अचः परस्मिन्० (१.१.५६) से टि-लोप (इकार) को स्थानिवत् होने से 'अत उपधायाः' से वृद्धि को कैसे प्राप्त दिखाया जा रहा है? इसका उत्तर है– प्राप्त होने पर ही तो स्थानिवद्भाव के द्वारा प्रतिबन्ध लगाया जा रहा है। अप्राप्ति में तो पूर्वविधि के अभाव होने से स्थानिवद्भाव ही नहीं होगा।

और इधर अत्वनिपातन कर देने पर 'हल+णिच्' इस स्थिति में वृद्धि की जाये या लोप– जब ऐसी सम्प्रधारणा उपस्थित होगी तो यद्यपि परत्व से वृद्धि ही होगी– लेकिन वृद्धि कर लेने पर भी 'अक्' (आकार) का ही लोप होगा, इसलिये अग्लोपि अङ्ग बन जायेगा। इस प्रकार यह सब विचार कर ठीक ही कहा गया है कि हलि व कलि का अत्वनिपातन सन्वद्भावप्रतिषेध के लिये है। अत्वनिपातन को सन्वद्भावप्रतिषेध का उपलक्षण मानते हुये 'दीर्घो लघो:' (७.४.६४) से विधीयमान दीर्घ का अभाव भी उसका फल है– क्योंकि 'सन्वल्लघुनि०' (७.४.९३) से 'दीर्घो लघो:' यहाँ भी 'अनग्लोपे' आ रहा है। इस प्रकार बलि-पटु इत्यादि णिच्, लुङ् में अबीबलत्, अपीपटत् रूप बनते हैं– न कि अबबलत्, अपपटत्।

यहाँ यह ध्यातव्य है– ''णौ चङ्युपधाया ह्रस्व:'' (अं– ७.४.१) सूत्रभाष्य में 'उपधाह्रस्वत्वे णेर्णिच्युपसंख्यानम्' (णिचाव्यवहितत्वात्) वार्तिक के व्याख्यानावसर में 'वादितवन्तं प्रयोजितवान् अवीवदत् वीणां परिवादकेन' उद्धृत उदाहरण के व्याख्यान प्रसङ्ग में 'वाद्+इ+चङ्+त्' इस स्थिति में चङ्परक णि के परे रहते 'णि' के व्यवधान होने से उपधाह्रस्व नहीं पाता। इसका उत्तर दिया गया है– णिलोप करने पर व्यवधान नहीं रहता। यदि यह कहो 'अच: परस्मिन्०'(१.१.५६) से स्थानिवद्भाव होने से व्यवधान बना ही रहेगा तो इसका उत्तर यह है– 'न पदान्तद्विर्वचनवरे०' (१.१.५७) सूत्रपठित 'चङ्परनिर्ह्रासे न स्थानिवत्' वार्तिक से चङ् परक णि के परे रहते उपधाह्रस्व करने में स्थानिवद्भाव का प्रतिषेध है। इस पर कहा गया– ''फिर भी 'नाग्लोपिशास्०' (७.४.२) सूत्र के कथनानुसार 'णिच्' का 'इकार' अक् प्रत्याहार में आ जाने से अग्लोपि अङ्ग को उपधाह्रस्व का प्रतिषेध प्राप्त होगा। इसका समाधान दिया गया 'णि' के परे रहते णि स्थानी को दो कार्य प्राप्त होते हैं– एक तो 'णेरनिटि' (अं– ६.४.५१) से णि का लोप और दूसरा उस 'णि' को अचो ञ्णिति (अं– ७.२.११५) से वृद्धि। वृद्धि करके यदि णिलोप किया जाये अर्थात् 'इ' को 'ऐ' बनाकर (स्थानिवद्भाव से उसे णि मानकर) लोप किया जाये तो वह अग्लोपि अङ्ग नहीं होता। वृद्धि और लोप इन दोनों की संप्रधारणा में दोनों के ही अनित्य होने से परत्व से पहिले वृद्धि होगी, वृद्धि कर लेने पर 'पुन:प्रसङ्गविज्ञान०' से लोप होगा– इस प्रकार वह अग्लोपि अङ्ग न होने से 'नाग्लोपिशास्०' निषेध प्रवृत्त न होकर अभीष्ट उपधाह्रस्व सिद्ध हो जायेगा। लेकिन उपर्युक्त दिशा से तो सर्वत्र अक् को वृद्धि करने पर ऐकार-औकार का ही लोप होगा न कि अक् का, तब तो 'अग्लोपिनां न'– ऐसा प्रतिषेध करना ही व्यर्थ हो जाता है। इस प्रकार 'अग्लोपिनां न'– ऐसा कहते हुये आचार्य यह जतलाते हैं कि– 'वृद्धेर्लोपो बलीयान्'। नहीं यह कोई ज्ञापक नहीं है। 'अग्लोपिनां न' इस कथन का प्रयोजन वहाँ सफल हो जायेगा, जहाँ वृद्धि कर लेने पर भी अक् का ही लोप होता है जैसे कि– 'राजानमतिक्रान्तवान् अत्यरराजत्'– यहा 'अतिराजन् +णिच्' इस स्थिति में 'अत उपधाया:' (७.२.११६) से वृद्धि कर लेने पर भी 'आन' भाग का हो रहा लोप अग्लोप प्राप्त हो रहा है। ठीक है– पर यह बताईये– फिर आचार्य ने 'अक्' इस प्रत्याहार का ग्रहण किसलिये किया। यदि इतना ही मात्र

प्रयोजन होता तो 'अलोपिनां न'– ऐसा कह देते। प्रत्याहारग्रहण से तो आचार्य का यही भाव झलकता है कि वे यह कहना चाहते हैं– वृद्धेर्लोपो बलीयान्। यदि कोई कहे प्रत्याहारग्रहण 'स्वामिनमाख्यत् असस्वामत्, गोमिनमाख्यत् अजुगोमत्' इत्यादि में वृद्धि के प्रसङ्ग का अभाव होने से 'टिलोप' होने पर ह्रस्वनिषेधार्थ चरितार्थ होने से ज्ञापक नहीं बन पायेगा तो उसका यही उत्तर दिया जायेगा– अनभिधान से इनका लुङ् में प्रयोग नहीं होता– ऐसा भाष्यकार का अभिप्राय है। किन्तु अब ज्ञापक से लोप का बलीयस्त्व स्वीकार कर लेने पर तो 'हलिकल्योरत्वनिपातनं सन्वद्भावप्रतिषेधार्थम्' यह कथन विरुद्ध हो जाता है। क्योंकि अत्वनिपातन न करने पर भी ज्ञापक से वृद्धि को बाधकर यदि इकार का ही लोप कर दिया जाता है तो, इकारलोप के अक् लोप हो जाने से सन्वद्भाव का कोई प्रसङ्ग ही उपस्थित नहीं होता। इस विरोध का परिहार यही है कि ज्ञापक का आनाश्रय करके निपातन किया गया है। जबकि हलि-कलि का अत्वनिपातन इस बात में ज्ञापक है कि 'लोपात्पूर्वं वृद्धिर्भवति।' इस प्रकार सूत्रभाष्यसंमतपक्षभेद से दोनों[१] ही बातें मान्य ठहरती हैं।

बस इतनी सी बात है कि लक्ष्यानुरोध से व्यवस्था करनी होगी। 'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे०' (चुरादि गणसूत्र– ३३७) से णिच् सिद्ध था, फिर यह सूत्र प्रपञ्चार्थ है। अथवा यह कहना चाहिये 'मुण्डं करोति माणवकम्' इत्यादि में सापेक्ष मुण्डादिकों से भी 'णिच्' हो जाये– इसके लिये है।।२१।।

धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्।।३.१.२२।।

भाष्यम्– 'समभिहार' इति कोऽयं[२] शब्दः?

भाव में और कर्त्ता से भिन्न कारक में घञ् का विधान होने से यहाँ समभिहार शब्द में घञ् किस साधनवाला है– इस आशय से पूछता है– 'समभिहार' यह शब्द किस अर्थवाला है? या फिर प्रश्नकर्त्ता का यहाँ यह आशय समझना होगा– लोक में समभिहार शब्द से जो अर्थ गृहीत होता है, वह यहाँ व्याकरण में संभव नहीं है। लोक में 'समभिहार' शब्द से अनेक कुसुमादि मूर्त्त चीजों का एककाल में एकत्रीकरण अर्थ लिया जाता है। जैसे कि 'फलादीनां समभिहारश्चौत्तराधर्यम्'। धातुवाच्य क्रिया तो एक ही होती है– सो एक धातु से युगपत् अनेक क्रियाओं का कथन असम्भव है। क्योंकि वह धातुवाच्य क्रिया साध्यस्वभाववाली होने से निवृत्तभेदवाली अर्थात् विषयभेद या कर्तृभेद से रहित ही धातु के द्वारा बोधित होती है। एक ही धातुवाच्य क्रिया के अधिश्रयणादि अवान्तरभेदों को भी कैसे ग्रहण किया जाये– क्योंकि उनके क्रमजन्य होने से उनका युगपदवस्थान संभव नहीं, इस प्रकार क्रियासमभिहार संभव नहीं है, यह सब मानते हुये प्रष्टा के द्वारा समभिहारविषयक प्रश्न उठाया जा रहा है।

---

१. लोपात्पूर्वं वृद्धिः। वृद्धिः पूर्वं लोपः।

२. कोऽयमित्यस्य किमर्थकोऽयम् इत्यर्थः।

भा०– समभिपूर्वाद्धरतेर्भावसाधनो घञ्, समभिहरणं समभिहार इति।। तद्यथा– पुष्पाभिहारः, उत्पलाभिहारः[१], मालाभिहार[१] इति।।

सम् व अभि पूर्वक 'हृ' धातु से भावसाधन घञ् करके 'समभिहार' शब्द सिद्ध होता है। जिसका अर्थ है– समभिहरणम्। जैसे कि 'उत्पलानाम् अभिहार औत्तराधर्येण समवस्थितिः समाहार इति यावत् उत्पलाभिहारः'। मालारूपोऽभिहारो मालाभिहारः। अभिमुखं ह्रियते प्राप्यत इति कर्मव्युत्पत्याऽभिहार 'उपदेति' भावः। षष्ठी समास में मालाओं का अभिहार (समुदाय) अर्थ लिया जायेगा। इस प्रकार समभिहार-अभिहार-समाहार शब्द पर्याय ठहरते हैं (उपदा=उपहार, भेंट)।

भा०– विषम उपन्यासः। बह्व्यो हीमाः सुमनसस्तत्र युक्तः समभिहारः। इह पुनरेका क्रिया।।

समभिहार शब्द के अर्थप्रदर्शनसंदर्भ में 'उत्पलाभिहारः' इत्यादि उदाहरण देना तो विषम ठहरता है। क्योंकि ये सुमनस् (फूल) तो बहुत सारे होते हैं। सो वहाँ तो समभिहार शब्द का अर्थ ठीक बैठ जाता है। किन्तु यहाँ कैसे करेंगे– ? यहाँ तो क्रिया एक ही है।

भा०– यद्यप्येका सामान्यक्रिया[२], अवयवक्रियास्तु बह्व्यः।

अधिश्रयणोदकाऽऽसेचनतण्डुलाऽऽवपनैधोऽपकर्षणक्रियाः।

ताः कश्चित्कात्स्न्र्येन करोति कश्चिदकात्स्न्र्येन। यः कात्स्न्र्येन करोति स उच्यते– पापच्यते इति।

पुनः पुनर्वा पचति पापच्यत इति।।

यद्यपि सामान्यक्रिया तो एक है। पर उस सामान्यक्रिया की ही अवयवभूत क्रियायें (अवान्तरक्रियायें) अनेक हो जाती हैं। जैसे 'पचन' एक सामान्य क्रिया है। पर उस (सामान्य) पचनक्रिया की ही भाग (हिस्सा) बनी हुयी अधिश्रयण (बटलोई को आग पर रखना), उदकासेचन (बटलोई में पानी डालाना), तण्डुलावपन (बटलोई में तण्डुल=चावल डालना), एधोपकर्षण (बीच-बीच में अग्नि के अधिक होने पर वापस खींचना) इत्यादि अनेक क्रियायें हो रही हैं। सो कोई तो उन क्रियाओं को संपूर्णता से करता है, और कोई असंपूर्णता से। जब कोई संपूर्णता से करता है तब प्रकृत सूत्र का विषय बन जाता है। अर्थात् क्रियासमभिहाररूप अर्थ का 'यङ्' प्रत्यय के द्वारा 'पापच्यते' इस रूप में अभिधान होता है।

---

२. उत्पलाभिहारे षष्ठीतत्पुरुषः। मालाभिहारे कर्मधारयोऽथवा षष्ठीतत्पुरुषः।

१. साधारणी समूहरूपा क्रिया धातुवाच्यप्रकृत्यर्थः। सर्वेषां क्षणानां साधारणी भूतेत्यर्थः।

'तथा च क्रियाया: कात्स्न्येंन करणमेव क्रियासमभिहार:; क्रियातिशय इत्युक्तप्रायम्।' अथवा किसी क्रिया को बार-बार करना भी क्रियासमभिहार है। पुन:-पुन: पचति पापच्यते। तथा च क्रियाया: पौन:पुन्यं वाऽतिशयेन वा करणं क्रियासमभिहार इति फलितम्।

भाव यह है मुख्य समभिहार अर्थ के यहाँ असंभव होने से गौण अर्थ का ग्रहण कर लिया जायेगा। अर्थात् अनेकसारी सभी अवयवक्रियाओं का बुद्धि में यौगपद्य बन जायेगा। तात्पर्य यह है– बुद्धि में युगपदवस्थान ही यहाँ समभिहार है– ऐसा जानना होगा। जैसा कि हरि ने भी कहा है–

गुणभूतैरवयवै: समूह: क्रमजन्मनाम्।

बुद्धया प्रकल्पिता भेद: क्रियेति व्यपदिश्यते।।[१] (वा० ३.८.४)

एक क्रम में उत्पन्न होने वाले एकफलोद्देश्य से प्रवृत्त हुये अधिश्रयणादि क्रियाक्षणों का बुद्धि के द्वारा प्रकल्पित जो अभेद है, तद्रूपसमूह उन्हीं गुणभूत अवयवों के साथ 'क्रिया' इस नाम से कहा जाता है।

भा०– अथ धातुग्रहणं किमर्थम्?

सूत्र में धातुग्रहण क्यों किया? समभिहारविशिष्टक्रियावाची कहने से स्वत: ही धातु का (ही) ग्रहण होगा।

भा०– इह मा भूत्– 'प्राटति भृशमि'ति।

यहाँ प्रत्यय न हो– प्राटति भृशम्। धातु-उपसर्ग समुदाय के क्रियाविशेषावगति का हेतु होने से यदि समुदाय से प्रत्यय हो जाये तो सोपसर्ग को द्विर्वजन होने लगेगा– जबकि उपसर्गरहित को द्विर्वचन चाहते हैं– प्राटाट्यते। यहाँ 'प्र' पूर्वक अट्-धातु से औपसंख्यानिक यङ् है। अजादेर्द्वितीयस्य (अं– ६.१.२) से 'ट्य' शब्द को द्विर्वचन, हलादि: शेष: दीर्घोऽकित:– ये सब प्रक्रिया होकर 'प्राटाट्यते' रूप सिद्ध है।

भा०– अत उत्तरं पठति।

उपर्युक्त स्थिति को सामने रख कर, आचार्य उत्तर पढते हैं–

वा०– यङ्विधौ धातुग्रहण उक्तम्।।१।।

भा०– यङ्विधौ धातुग्रहण उक्तम्।। किमुक्तम्? तत्र तावदुक्तम्- 'कर्मग्रहणात्सन्विधौ धातुग्रहणानर्थक्यं, सोपसर्गं कर्मेति चेत्कर्म- विशेषकत्वादुपसर्गस्यानुपसर्गं कर्म, सोपसर्गस्य हि कर्मत्वे धात्वधिकारेऽपि सनोऽविधानमकर्मकत्वा'दिति। एवमिहापि– 'क्रियासमभिहारग्रहणाद्यङ्विधौ धातुग्रहणानर्थक्यं, सोपसर्ग: क्रियासमाभिहार इति चेत्क्रियासमभिहारविशेषकत्वादुपसर्गस्यानुपसर्ग: क्रियासमभिहार:, सोपसर्गस्य हि क्रियासमभिहारत्वे धात्वधिकारेऽपि यङोऽविधानमक्रियासमभिहारत्वादि'ति।

---

१. गुणभूतैरवयवैरधिश्रयणादिभि: कृतो य: समूह: सा क्रिया। कीदृश: समूह:? क्रमेण जायमानानां बुद्धया प्रकल्पितो योऽभेदस्तदात्मक: समूहो गुणभूतावयवै: सह क्रियेत्यभिधीयते– इत्यर्थ:।

यङ्विधि में धातुग्रहण के प्रश्न को लेकर जो कहना चाहिये वह 'धातोः कर्मणः०' (अं– ३.२.७) सूत्र पर ही कह दिया गया है।। क्या कह दिया गया है? वहाँ यह कहा है– 'धातोः कर्मणः०' इस सन् विधायक सूत्र में कर्मग्रहण से अर्थात् 'कर्मणः' इस कथन के करने से धातुग्रहण करना व्यर्थ है। 'कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वासन् भवति' इतना ही कहने मात्र से केवलमात्र धातु से ही 'सन्' उत्पत्ति होगी, न कि धातु-उपसर्ग समुदाय से। यदि ऐसा कहा जाये कि सोपसर्ग ही कर्म है, क्योंकि पूरा धातु-उपसर्ग समुदाय ही क्रियाविशेषधर्माभिधायी है तो वह ठीक नहीं है। क्योंकि उपसर्ग तो कर्म का (अर्थात् क्रिया का) विशेषकमात्र (द्योतकमात्र) है। कर्म तो अनुपसर्ग ही है। अर्थात् 'कर्त्तुम्' (कृ मात्र) ही कर्म है। 'प्र' तो उसकी विशेषता बतला रहा है। यदि 'प्रकर्त्तुम् = प्रकृ' इत्यादि सोपसर्ग स्थलों में धातु-उपसर्ग समुदाय का ही कर्मत्व स्वीकार कर लिया जाये तो धातुग्रहण करने पर भी अवयव (कर्त्तुम् = कृ) के अकर्म होने से उससे सन् प्रत्यय नहीं हो पायेगा। तद्वत् प्रकृत में भी क्रियासमभिहारग्रहण से यङ् विधान सूत्र में धातुग्रहण करना व्यर्थ है। सोपसर्ग स्थल में सोपसर्गसमुदाय से क्रियासमभिहार अर्थ को कहा जाता है– ऐसा कहा जाये तो वह ठीक नहीं बैठेगा। क्योंकि उपसर्ग के क्रियासमभिहार अर्थ के विशेषक (द्योतक) होने से क्रियासमभिहार अर्थ तो अनुपसर्ग (उपसर्गरहित धातुमात्र) का ही है। सोपसर्ग स्थलों में सोपसर्ग का ही क्रियासमभिहार अर्थ है– ऐसा स्वीकार किया जायेगा तो सूत्र में धातुग्रहण करने पर भी (अवयव से) यङ् विधान नहीं हो पायेगा। क्योंकि सोपसर्गयुक्त वैसी परिस्थिति में (अवयव के) क्रियासमभिहारार्थक न होने से, पापच्यते– इत्यादि केवल धातुमात्र में ही सूत्र अपना काम किया करेगा। इस सब कथन का भाव यह है– धातु-उपसर्गसमुदाय को ही यदि क्रियासमभिहारार्थक मान लिया जाता है तो 'प्रपापच्यते' इत्यादि में धातुग्रहण करने पर भी 'प्रपच्' समुदाय से यङ् होगा, न कि 'प्रपच्' के अवयव 'पच्' से। जबकि इष्ट है धातु-उपसर्ग समुदाय स्थलों में भी उपसर्गरहित केवल धातुमात्र से यङ् हो– अन्यथा उपसर्ग को ही द्विर्वचन, और अडादि भी उपसर्ग से पूर्व ही होने लगेंगे जो कथमपि इष्ट नहीं है। इस समस्या का एक ही समाधान है– क्रियासमभिहार अर्थ केवल धातु का माना जाये, और सोपसर्ग स्थलों में उपसर्ग को उसका द्योतक।

वार्त्तिककार ने सन् सूत्रोक्त वस्तुस्थिति का यङ्विधि में अतिदेश किया है। सन्सूत्र में धातुग्रहण का एक प्रयोजन 'आर्धधातुक' संज्ञा भी मान्य हुआ है। तद्वत् यहाँ भी धातुग्रहण करने से यङ् की आर्धधातुकसंज्ञा सिद्ध हो जायेगी। जिसका फल होगा– 'सोसूच्यते' इत्यादि में णिलोप।

भा०– अथैकाज्झलादिग्रहणं किमर्थम्?

अब यह बताईये– सूत्र में 'एकाचः' तथा 'हलादेः' ग्रहण किस प्रयोजन से किया है?

भा०– इह मा भूत्– 'जागर्त्ति भृशम्। ईक्षते भृशमि'ति।

यहाँ (यङ्) न होवे– जागर्त्ति भृशम् (बहुत अधिक जागता है)। ईक्षते भृशम् (बहुत अधिक देखता है)। 'जागृ' धातु अनेकाच् है तथा 'ईक्ष' धातु अजादि है।

वा०– एकाज्झलादिग्रहणे च।।२।।

भाष्यम्– एकाज्झलादिग्रहणे चोक्तम्।। किमुक्तम्? तत्र तावदुक्तम्- 'कर्मसमानकर्त्तृग्रहणा नर्थक्यं चेच्छाभिधाने प्रत्ययविधानादकर्मणो ह्यसमानकर्तृकाद्वाऽनभिधान' मिति। इहापि– 'एकाज्झलादिग्रहणानर्थक्यं च क्रियासमभिहारे यङ्वचनादनेकाचो हलादेर्ह्यनभिधान'मिति।। तच्चावश्यमनभिधानमाश्रयणीयम्। क्रियमाणेऽपि ह्येकाज्झलादिग्रहणे यत्रैकाचो हलादेश्चोत्पद्यमानेन यङाऽर्थस्याऽभिधानं न भवति, न भवति तत्रोत्पत्तिः। यद्यथा-भृशं शोभते, भृशं रोचते। यत्र चाऽनेकाचोऽहलादेर्वोत्पद्यमानेन यङाऽर्थस्याभिधानं भवति, भवति तत्रोत्पत्तिः। तद्यथा-अटाट्यते, अरार्यते, अशाश्यते, सोसूच्यते, सोसूत्र्यते, मोमूत्र्यते।।

ऊपर एकाच् और हलादिग्रहण का जो प्रयोजन दिया गया था, उसको वार्त्तिककार निरस्त कर रहे हैं– एकाच् और हलादिग्रहण के विषय में भी कह दिया गया है। क्या कह दिया है? वहाँ 'धातोः कर्मणः०' (अ० ३.१.७) सूत्र में (ही) यह कहा है– सन्विधायक सूत्र में 'कर्मणः' व 'समानकर्तृकात्' ग्रहण करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है; 'इच्छा' को कहने के लिये प्रत्यय का विधान होने से। कर्मभिन्न से या असमानकर्तृक से उत्पद्यमान सन् के द्वारा इच्छा का अभिधान न होने से। इच्छा के अभिधेय होने पर सन् का विधान किया जा रहा है, लेकिन अकर्म व असमानकर्त्तृक से उत्पद्यमान सन् के द्वारा इच्छा का अभिधान हो नहीं सकता। इसीलिये अनभिधान से उससे सन् की उत्पत्ति नहीं होगी। तद्वत् यहाँ भी 'एकाचः' और 'हलादेः' ग्रहण करना अनर्थक है; क्रियासमभिहार अर्थ में यङ् का कथन किया जा रहा है– किन्तु अनेकाच् और अहलादि धातु से उत्पद्यमान यङ् के द्वारा क्रियासमभिहाररूप अर्थ का (लोक में) अभिधान होता नहीं– इसलिये अनभिधान से उस प्रकार की धातुओं से यङ् नहीं होगा। और उस अनभिधान का तो (अन्यप्रयोजन से भी) हमें अवश्य ही आश्रय करना पडेगा। एकाच् और हलादिग्रहण करने पर भी जहाँ एकाच् और हलादि धातु से उत्पद्यमान यङ् के द्वारा अर्थ का कथन नहीं होता– वहाँ यङ् की उत्पत्ति नहीं होगी। जैसे– भृशं शोभते, भृशं रोचते इत्यादि। और इसके विपरीत जहाँ अनेकाच् और अहलादि धातु से भी उत्पद्यमान यङ् के द्वारा यदि (क्रियासमभिहाररूप) अर्थ का अभिधान होता है (हो सकता है) तो वहाँ यङ् उत्पन्न हो ही जायेगा। जैसे– अटाट्यते[१]– (अट-गतौ), अरार्यते[२] (ऋ-गतौ), अशाश्यते[३] (अश-भोजने, अशूङ्-व्याप्तौ), सोसूच्यते[४] (सूच-पैशून्ये), सोसूत्र्यते (सूत्र-वेष्टने), मोमूत्र्यते (मूत्र-प्रस्रवणे)– इत्यादि।

---

१. अट पट-गतौ, अस्माद् यङ्, अजादेर्द्वितीयस्य (६.१.२) इति 'ट्यशब्दस्य द्विर्वचनम्। २. ऋ-गतौ-यङ्, ततः गुणोऽर्त्तिसंयोगाद्योः, यङि च' (अं– ७.४.२९) इति गुणः, 'न न्द्राः संयोगादयः' (६.१.३) इत्यत्र 'यकारपरस्य रेफस्य प्रतिषेधः' इति वचनाद् रेफस्य प्रतिषेधः।

३. अत्रापि 'अजादेर्द्वितीयस्य' इत्यनेन श्यशब्दस्य द्विर्वचनम्।

४. सोसूच्यते, इत्यादौ यङि 'णेरनिटि' (६.४.५१) इति णिलोपः।

वा०– ऊर्णोतेश्चोपसंख्यानम्।।३।।

भा०– ऊर्णोतेश्चोपसंख्यानं कर्त्तव्यम्। प्रोर्णोनूयते।

'ऊर्णु' धातु से भी यङ् का उपसंख्यान करना चाहिये। प्रोर्णोनूयते।[1] ऊर्णु धातु अजादि भी है और अनेकाच् भी, इसलिये यङ् अप्राप्त था।

भा०– अत्यल्पमिदमुच्यते– ऊर्णोतेरिति।

'ऊर्णोतेश्चोपसंख्यानम्'– यह जो कह रहे हैं, यह बहुत थोड़ा कह रहे हैं। साथ में यह भी कहना चाहिये–

✻ सूचिसूत्रिमूत्र्यट्यर्त्यशूर्णोतिग्रहणं यङ्विधावनेकाजहलाद्यर्थम्। ✻

भा०– सूचिसूत्रिमूत्र्यट्यर्त्यशूर्णोतिग्रहणं कर्त्तव्यम्।। किं प्रयोजनम्?

'यङ्विधावनेकाजहलाद्यर्थम्'। सोसूच्यते, सोसूत्र्यते, मोमूत्र्यते, अटाट्यते, अरार्यते, प्रोर्णोनूयते।।

सूचि, सूत्रि, मूत्रि इन णिजन्त धातुओं का तथा अट्, ऋ, अश् व ऊर्णु धातु का भी ग्रहण करना चाहिये। किस कारण से? यङ् विधि में अनेकाच् व अहलादि धातुओं से यङ् प्राप्त नहीं था। सोसूच्यते, सोसूत्र्यते, अटाट्यते, अरार्यते, प्रोर्णोनूयते।

भा०– ऊर्णोतेर्न वक्तव्यः।

ऊर्णु धातु को तो वचन के द्वारा यङ् विधान करने की कोई आवश्यकता नहीं है। कार्यान्तर सिद्धि के लिये अवश्य ही ''ऊर्णु'' को नुवद्भाव कहना चाहिये, उसी से यङ् भी सिद्ध हो जायेगा। जैसा कि कहा है–

भा०– वाच्य ऊर्णोणुवद्भावो यङ्प्रसिद्धिः प्रयोजनम्।

आमश्च प्रतिषेधार्थमेकाचश्चेड्डुपग्रहात्।।

'ऊर्णु' धातु को नुवद्भाव कहना चाहिये। जिससे यङ् तो हो जाये पर साथ में 'आम्' का प्रतिषेध भी हो जाये। और एकाच् मानकर इट् प्रतिषेध हेतु से भी नुवद् अतिदेश की प्रयोजकता है।

---

१. ऊर्णुञ्-आच्छादने। नोपधोऽयम् आष्टमिकं तु णत्वम्। तस्यापि असिद्धत्वान्नुशब्दस्य द्विर्वचनम्। 'पूर्वत्राऽसिद्धीयद्विर्वचने' इति तु न भवति– 'उभौ साभ्यासस्य' (अ०– ८.४.२०) इति लिङ्गात् तस्यानित्यत्वाद्; अन्यथा 'अनितेः' (८.४.१९) इति णत्वे कृते तस्य सिद्धत्वाण्णिशब्दस्य द्विर्वचने सति सिद्धं स्यात् 'प्राणिणिषति'। अभ्यासगुणः, अकृत्सार्वधातु० (७.४.२५) इति दीर्घेन 'प्रोर्णोनूयते' इति सिद्धम्।

नु धातु हलादि और एकाच् है। ऊर्णु को नुवद् मानने से यङ् तो हो जायेगा और अन्य दो कार्य नहीं होंगे। अर्थात् नुवद्भाव के द्वारा यङ् के विषय में तो भावातिदेश और आम् व इट् के विषय में अभावातिदेश[1] समझना चाहिये। इडुपग्रह का अर्थ है इट् प्रतिषेध; और 'विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्' (२.३.२५) से हेतु में पंचमी है। तीनों के क्रमश: उदाहरण हैं– प्रोर्णोनूयते। प्रोर्णुनाव। प्रोर्णुत:। प्रोर्णुतवान्।

'प्रोर्णुनाव' यहाँ लिट् में नुवद्भाव होने से 'इजादेश्च०' (अं– ३.१.३६) से प्राप्त आम्, नहीं हुआ। प्रोर्णुत:, प्रोर्णुतवान्-यहाँ श्र्युक: किति (७.२.११) से इट् प्रतिषेध हो गया।

वा०– क्रियासमभिहारे यङो विप्रतिषेधेन लोड्विधानम्।।४।।

भा०– क्रियासमभिहारे यङो लोड्भवति विप्रतिषेधेन। क्रियासमभिहारे यङ्भवतीत्यस्यावकाश: धातुर्य एकाज्झलादि: क्रियासमभिहारे वर्त्ततेऽधातुसंबन्ध:। लोलूयते, पोपूयते। लोटोऽवकाश:– धातुर्योऽनेकाजहलादि: क्रियासमभिहारे वर्त्तते धातुसंबन्ध:। 'स भवान् जागृहि जागृहीत्येवायं जागर्त्ति'। 'स भवानीहस्व ईहस्वेत्येवायमीहते'। धातुर्य एकाज्झलादि: क्रियासमभिहारे वर्त्तते धातुसंबन्धश्च तस्मादुभयं प्राप्नोति 'स भवाल्ँलुनीहि लुनीहीत्येवायं लुनाति।।'

लोड् भवति विप्रतिषेधेन।

क्रियासमभिहार अर्थ में यङ् के साथ लोट् की संप्रधारणा में विप्रतिषेध से लोट् होता है। क्रियासमभिहार अर्थ में यङ् होता है– इसका अवकाश है– जो धातु एकाच् और हलादि है तथा क्रियासमभिहार में वर्त्तमान है पर धातुसंबन्ध[2] नहीं है, जैसे– लोलूयते, पोपूयते। लोट् का अवकाश है– जो धातु अनेकाच् व अहलादि है और क्रियासमभिहार में वर्तमान है तथा धातुसंबन्ध भी है, जैसे– स भवान् जागृहि जागृहि इत्येवायं जागर्त्ति[3]। स भवानीहस्व ईहस्वेत्येवायमीहते[4]। जो धातु एकाच् व हलादि है–

---

१. उक्तं हि भाष्ये– काममतिदिश्यता वा सच्चासच्चापि नेह भारोऽस्ति। (अं– १.१.५६) कल्प्यो हि वाक्यशेषो वाक्यं वक्तर्यधीनं हि।।

२. एक धात्वर्थ का दूसरे धात्वर्थ के साथ संबन्ध = धातुसंबन्ध। प्रकृत में सामान्यविशेषभाव से क्रियाभेदाश्रित धातुसंबन्ध है। लोडन्तवाच्योऽर्थ: सामान्यम्, अनुप्रयुज्यवाच्यो विशेष:– तयो: संबन्धो धातुसंबन्ध:। 'जागर्ति' इति सामान्यम्, 'जागृहि जागृहि' इति क्रियासमभिहारो विशेष: (अन्नंभट्ट:)।

३. आप सदा जागते ही रहते हो।

४. आप को जब देखें कुछ न कुछ करते ही रहते हैं।

क्रियासमभिहार अर्थ में भी वर्त्तमान है और धातुसंबन्ध भी है– वहाँ दोनों[1] (यङ् और लोट्) प्राप्त होते हैं। विप्रतिषेध से लोट् होता है, जैसे– स भवाल्ँलुनीहि लुनीहीत्येवायं लुनाति[2]। यहाँ कैयट का कहना है– यङ् के द्वारा ही जहाँ क्रियासमभिहार अर्थ द्योतित हो जाता है वहाँ नित्यवीप्सयोः (अ० ८.१.४) से द्विर्वचन नहीं होता, जब भृशार्थ में भी पौनःपुन्य विवक्षित होता है, तब तो 'पापच्यते पापच्यते' इस रूप में 'नित्यवीप्सयोः' से द्विर्वचन होता ही है। इस स्थिति में मध्यस्थ कोई पूछता है–

भा०– न तर्हीदानीं भवति– स भवाँल्लोलूयस्व लोलूयस्वेत्येवायं लोलूयते।।

तो क्या यह प्रयोग नहीं होता– स भवाँल्लोलूयस्व लोलूयस्वेत्येवायं लोलूयते[3]।

भा०– भवति च।

भगवान् उत्तर देते हैं– हाँ! अवश्य ही होता है। 'लोलूयस्व लोलूयस्व'– यहाँ क्रियासमभिहारविशिष्ट जो धात्वर्थ था तद्द्योतकतया यङ्लोट् द्विर्वचन कर दिये गये हैं। प्रकृत प्रसङ्ग में शिवरामेन्द्रसरस्वती का कहना है– 'उक्तार्थानामप्रयोगः' (महा० भा० १.१.४३) यह न्याय द्योतकविषय में प्रवृत्त नहीं होता– यह बात इसी भाष्य से जानी जाती है।

किन्तु परत्व से यङ् को बाधकर लोट् होना चाहिये और फिर उपर्युक्त प्रयोग सिद्ध नहीं होगा। आचार्य वार्त्तिककार उक्त दोष का परिहार करता है–

वा०– न वा नानार्थत्वात्कर्तृकर्मणोर्हि लविधानं क्रियाविशेषे स्वार्थे यङ्।।५।।

भाष्यम्- न वाऽर्थो विप्रतिषेधेन।। किं कारणम्? 'नानार्थत्वात्।।'

का नानार्थता? 'कर्तृकर्मणोर्हि लविधानम्'। कर्तृकर्मणोर्हि लोड् विधीयते, क्रियाविशेषे स्वार्थे यङ्।

तत्रान्तरङ्गत्वाद्यङा भवितव्यम्।।

अथवा विप्रतिषेध की कोई आवश्यकता नहीं है। क्या कारण है? नानार्थता के कारण। कैसे है नानार्थता? नानार्थता इस प्रकार है– कर्त्ता व कर्म कारक में लोट् का विधान किया जाता है। क्रियाविशेष (क्रियासमभिहार रूप) स्वार्थ (धात्वर्थ) में यङ्। सो अन्तरङ्ग होने से, पहिले यङ् हो जायेगा। लोट् तो कर्त्ता कर्मादि अर्थों की और साथ में धातुसंबन्ध की भी अपेक्षा कर रहा है। इसलिये वह बहिरङ्ग है।

---

१. पुनः पुनर्लवनाऽभिन्नं वर्त्तमानं लवनमित्येवं विवक्षायां धातुसंबन्धस्य सत्वादुभयप्राप्तिः।

२. आप को जब देखे काटते ही रहते हैं।

३. आप सदा ही काटने में ही लगे रहते हैं।

भा०– न तर्हीदानीमिदं भवति– 'स भवाँल्लुनीहि लुनीहीत्येवायं लुनाति?'

यदि यङ् अन्तरङ्ग है, तो फिर क्या यह प्रयोग नहीं होता– स भवान् लुनीहि लुनीहीत्येवायं लुनाति।

भा०– भवति च। विभाषा यङ्, यदा न यङ् तदा लोट्।

हाँ! होता है। (क्योंकि) यङ् विभाषा है। 'धातो: कर्मण:०' (अ०– ३.१.७) से प्रकृत सूत्र में 'वा' की अनुवृत्ति आ रही है। सो जब यङ् नहीं होगा तब लोट् हो जायेगा।

वा०– उत्तरयोर्विग्रहणे विशेषाऽसंप्रत्ययान्नित्यग्रहणानर्थक्यम्।।६।।

भाष्यम्– उत्तरयोर्योगयोर्विग्रहेण विशेषस्याऽसंप्रत्ययान्नित्यग्रहणमनर्थकम्। न हि 'कुटिलं क्रामतीति' चङ्क्रम्यत इति गम्यते।।

'धातोरेकाचो०' (३.२.२२) सूत्र से उत्तर दो[1] सूत्रों में विग्रह के द्वारा विशेष अर्थ (अभिकांक्षित अर्थ) का बोध न होने से (अर्थात् वृत्ति और वाक्य के समानार्थक न होने से) नित्यग्रहण अनर्थक है। क्योंकि 'कुटिलं क्रामति' ऐसा कहने से 'चङ्क्रम्यते' ऐसा नहीं जाना जाता।

भाव यह है– 'कुटिलं क्रामति' ऐसे कहने से 'कुटिलं पन्थानं गच्छति'– कुटिलमार्ग, टेढे-मेढे मार्ग पर जा रहा है– यह प्रतीति होती है न कि गति का कौटिल्य। 'चङ्क्रम्यते'– का अर्थ है– रास्ता कैसा भी है, पर गति टेढी-मेढी है। सो प्रत्ययवाच्य विशेष अर्थ का विग्रह के द्वारा बोध न होने से वाक्य निवृत्ति के लिये नित्यग्रहण व्यर्थ है। तात्पर्य यह है– 'चङ्क्रम्यते' के विग्रहवाक्य 'कुटिलं क्रामति' से गतिमत 'कौटिल्य रूप' इष्ट अर्थ की प्राप्ति नहीं हो रही और अनिष्ट 'कुटिलं पन्थानं क्रामति' इस अर्थ की प्रसक्ति हो रही है– इसलिये नित्यग्रहण अनर्थक है। अब कोई प्रष्टा पूछता है–

भा०– अथैतेभ्य: क्रियासमभिहारे यङा भवितव्यम्?

अच्छा यह बताईये– इन दोनों[2] सूत्रों में निर्दिष्ट धातुओं से क्रियासमभिहार में यङ् प्रत्यय को होना चाहिये या नहीं?

वा०– क्रियासमभिहारे च नैतेभ्य:।।७।।

भा०– क्रियासमभिहारे च नैतेभ्यो यङा भवितव्यम्– भृशं जपति ब्राह्मण:, भृशं समिधो दहतीत्येव।।२२।।

क्रियासमभिहार अर्थ में इन धातुओं से यङ् को नहीं होना चाहिये– भृशं जपति ब्राह्मण: (यह ब्राह्मण बहुत जप करता है)। भृशं समिधो दहति (यह समिधाओं को बहुत जलाता है)। ऐसा ही प्रयोग होता है।

---

१. लुपसदचर० (३.२.२४) सूत्रेऽपि नित्यमित्येतदनुवर्त्तत इति भाव:।

२. नित्यं कौटिल्ये गतौ तथा लुपसदचर०।

यहाँ कैयट गत्यर्थादि धातुओं से तक्रकौण्डिन्यन्याय से क्रियासमभिहार में यङ् नहीं होता– ऐसा मानता है। जबकि नागेश का कहना है– 'मिदचोऽन्त्यात्पर:' (१.१.४६) सूत्रभाष्य प्रामाण्य से उत्सर्गापवादस्थल में ही उक्त दृष्टान्त को स्वीकार किया गया है। इसलिये तक्रकौण्डिन्यन्याय से नहीं बल्कि इस वार्तिक में पढ़े गये 'च' के द्वारा 'विशेषासंप्रत्ययात्' हेतु का आकर्षण करके यहाँ भी पूर्वहेतु को ही संबद्ध जानना चाहिये। अर्थात् 'भृशं जपति, भृशं दहति' से जो अर्थ जाना जाता है वह लोक में 'जञ्जप्यते' और 'दन्दह्यते' से गृहीत नहीं होता।

सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यो णिच्।।३.१.२५।।

भा०– 'सत्यापे'ति किं निपात्यते?

'सत्याप'– यहाँ क्या निपातन किया जा रहा है?

वा०– सत्यस्य कृञ्यापुक् च।।१।।

भा०– सत्यस्य कृञ्यापुक् च निपात्यते, णिच्च। सत्यं करोति सत्यापयति।

सत्य शब्द को कृञ् धातु के अर्थ में णिच् प्रत्यय होता है और णिच् के परे रहते आपुक् आगम। सत्यं करोति सत्यापयति। किसी चीज को सत्य सिद्ध कर रहा है।

भा०– अत्यल्पमिदमुच्यते।

यह जो सत्यशब्द को आपुक् आगम कर रहे हैं– यह बहुत थोड़ा कह रहे हैं।

वा०– णिविधावर्थवेदसत्यानामापुक् च।।२।।

भा०– णिविधावर्थवेदसत्यानामापुक् चेति वक्तव्यम्। अर्थापयति, वेदापयति, सत्यापयति।।

णिच् प्रत्यय की विधि में अर्थ, वेद और सत्य शब्दों को आपुक् आगम होता है–ऐसा कहना चाहिये। अर्थापयति, वेदापयति, सत्यापयति।

भा०– यदि आपुक् क्रियते टिलोप: प्राप्नोति।

यदि आपुक् किया जा रहा है तो टिलोप प्राप्त होने लगता है। 'णाविष्ठवत्प्रातिपदिकस्य' (वा०– ६.४.१५५) से, णि के परे रहते इष्ठवत् अतिदेश होने से 'टे:' (अ०– ६.४.१५५) से टिलोप प्राप्त होता है।

भा०– एवं तर्हि पुक् करिष्यते।

यदि ऐसा है तो पुक् कर दिया जायेगा।

भा०– एवपि टिलोप: प्राप्नोति।

फिर भी टिलोप तो प्राप्त होगा ही।

भा०– एवं तर्हि 'आक्' करिष्यते।

अच्छा तो 'आक्' कर देंगे।

भा०– एवमपि टिलोपः प्राप्नोति।।

फिर भी टिलोप प्राप्त होगा।

भा०– एव तर्ह्यक् करिष्यते।।

अच्छा तो अक् कर देते हैं। 'सत्य+णिच्' इस स्थिति में 'अक्' आगम करने पर 'सत्य अक्+इ'– अतो गुणे (अ०– ६.१.६४) से पररूप करने पर 'सत्य+इ'। पश्चात् 'अचोञ्णिति' से वृद्धि करने पर 'सत्या+इ'– इस स्थिति में 'अर्त्तिह्रीव्ली०' (७.४.३६) से णिच् परे 'पुक्' आगम करके 'सत्याप्+इ'= सत्यापि धातु से सत्यापयति बन जायेगा।

भा०– एवमप्यनाकारान्तत्वात् पुङ्न प्राप्नोति।।

अक् आगम में यह दूषण दिया जा रहा है। फिर भी आकारान्त न होने से पुक् नहीं पायेगा।

भाव यह है– 'अक्' आगम करने पर यदि वृद्धि हो जाये तो 'अक्' का विधान अनर्थक हो जायेगा। 'अक्' किये विना भी वह प्राप्त ही थी। इसलिये 'अक्' आगम उसको बाधने के लिये समझा जायेगा।

भा०– एवं तर्ह्याट् करिष्यते।।

अच्छा, तो (णिच् को) आट् कर देंगे। 'आट्' णिच् का भाग होने से टिलोप के द्वारा लोप को प्राप्त नहीं होगा।

भा०– एवमप्यनाङ्गत्वात्पुङ् न प्राप्नोति।।

'आट्' णिच् का भाग बन जाने पर आकारान्त अङ्ग न होने से 'अर्त्तिह्रीव्ली०' (७.३.३६) से पुक् नहीं हो सकेगा।

भा०–एवं तर्ह्यापुट् करिष्यते।।

अच्छा तो आपुट् कर देंगे। आपुट् के णिच् भक्त होने से 'सत्य+आप् णि'– इस स्थिति में पूर्व 'अकार' का टिलोप होने पर 'सत्यापयति' सिद्ध हो जायेगा।

भा०– अथवा पुनरस्त्वापुगेव।। ननु चोक्तं टिलोपः प्राप्नोतीति।। आपुक् वचनसामर्थ्यान्न भविष्यति।।

अथवा आपुक् ही रहने देते हैं। अभी तो कहा था ना जी– टिलोप प्राप्त हो जायेगा। वह तो आपुक् वचनसामर्थ्य से नहीं होगा। आपुक् करने पर भी यदि टिलोप हो जाये तो आपुक् करना ही व्यर्थ हो जायेगा।

भा०– अथवा पुनरस्तु पुगेव।। ननु चोक्तमेवमपि टिलोप: प्राप्नोतीति।। पुग्वचनसामर्थ्यान्न भविष्यति।।

अथवा पुक् आगम ही रहने देते हैं। अजी! अभी जो कहा– फिर भी टिलोप प्राप्त होता है– ऐसे? वह तो पुक् वचनसामर्थ्य से नहीं होगा। पुक् करने पर भी यदि टिलोप हो जाये तो पुक् करना ही व्यर्थ हो जायेगा।

भा०– अथवा पुनरस्त्वागेव। ननु चोक्तमेवमपि टिलोप: प्राप्नोतीति।।

आग्वचनसामर्थ्यान्न भविष्यति।

अथवा आक् आगम ही रहने देते हैं। किन्तु अभी तो कहा था कि 'टिलोप' प्राप्त होता है। आक् वचनसामर्थ्य से नहीं होगा। आक् करने पर भी यदि टिलोप हो जाये तो आक् करना ही व्यर्थ हो जायेगा।।

हेतुमति च।।३.१.२६।।

'हेतु' शब्द के दो अर्थ हैं– एक शास्त्रीय दूसरा लौकिक। यहाँ इस सूत्र में पारिभाषिक हेतु का ग्रहण है न कि लौकिक फलसाधनयोग्यपदार्थ का वाचक। शास्त्र में स्वतन्त्र कर्त्ता के प्रयोजक के लिये हेतु शब्द परिभाषित है[१]। किसी बाधककारण के अभाव में 'कृत्रिमाकृत्रिमयो: कृत्रिमस्यैव ग्रहणम्' (पारि०९) परिभाषा बल से कृत्रिम का ही ग्रहण करना युक्त है।

'हेतुरस्यास्तीति हेतुमत्'– हेतु का जो प्रवर्त्तनालक्षणव्यापार प्रेषण-अध्येषण-तत्समर्थाचरणलक्षणवाला[२], वह यहाँ 'हेतुमान्' शब्द से ग्रहण किया गया है। क्यों जी! सभी कारकों के द्वारा साध्य जो पाकादि हैं– उनकी अपेक्षा से प्रयोजन का हेतु शब्द से व्यपदेश होना चाहिये न कि पाकाद्यर्थ अवान्तरस्वसाध्य प्रेषणा- अध्येषणादि की अपेक्षा से। जैसे कि काष्ठ का पाकक्रिया की अपेक्षा से करणत्व होता है न कि ज्वलनापेक्ष। ज्वलन की अपेक्षा से तो काष्ठ का कर्तृत्व ही होता है। सो हेतुमत् शब्द से पाकादि का ही व्यपदेश होना चाहिये न कि प्रेषण-अध्येषणादि का। नहीं! ऐसा नहीं होगा। क्योंकि 'पाचयति' इत्यादि में णिच् की प्रकृति पचादि धातु के द्वारा ही उस पाकादि अर्थ के प्रकाशित हो जाने से अब उसी को कहने के लिये णिच् लाने की कोई आवश्यकता नहीं। 'पितृमान्' कहने से जैसे पुत्र को ग्रहण किया जाता है– तद्वत् प्रयोज्य की अपेक्षा से प्रयोजक होता है और प्रयोजक है हेतु। सो प्रयोज्य को हेतुमान होना चाहिये। पर वह द्रव्य होने से हेतुमत् शब्द से गृहीत नहीं होता। क्योंकि शब्दशक्तिस्वभाव से 'णिच्' क्रियावाची है, अथवा 'शब्दवैरकलहाभ्र०' (अ०– ३.१.१७) सूत्र से 'करणे' की अनुवृत्ति होने से प्रवर्तनालक्षणव्यापाररूप क्रिया को कहने के लिये ही णिच् होता है। इसलिये हेतुमान् शब्द से हेतु का व्यापार अर्थ ही लिया जाता है।

---

१. तत्प्रयोजको हेतुश्च। (अं– २.४.५५)

२. उत्कृष्ट के द्वारा भृत्यादि निकृष्ट की प्रवर्त्तना-प्रेषण है। निकृष्ट के द्वारा गुरु आदि उत्कृष्ट की प्रार्थना-अध्येषणा होती है। प्रयोज्य के व्यापार में जो समर्थ = अनुकूल व्यापार है– वह तत्समर्थाचरण है। जैसे– भिक्षा वासयति।

भा० – कथमिदं विज्ञायते– 'हेतुमत्यभिधेये णिज्भवती'ति, आहोस्वि'द्धेतुमति यो धातुर्वर्तत' इति ?

यहाँ सूत्रार्थ किस रूप में जाना जाता है– हेतुमान् अर्थ के अभिधेय होने पर (धातु से) णिच् होता है, अथवा हेतुमान् अर्थ में वर्तमान जो धातु उससे णिच् प्रत्यय होता है।

जब 'पचति' ऐसा कहने पर प्रयोज्यसाध्य ही व्यापार गम्यमान होता है न कि प्रयोजकसाध्य भी– तब 'करणे' पद के अधिकार से उपस्थापित जो प्रत्ययार्थ (करण = प्रवर्तनालक्षणव्यापार) उसका 'हेतुमति' विशेषण (परिच्छेदक) ठहरता है। अर्थात् इस स्थिति में णिच् प्रत्ययार्थ का वाचक होता है। लेकिन जब धातुओं की अनेकार्थता को लेकर अथवा जैसे तादर्थ्यन्याय[१] से अधिश्रयणादि को भी पाक का ही भाग मान लिया जाता है, तद्वत् प्रयोजकव्यापार भी तब पचतिवाच्य होता है, जैसे कि 'पञ्चभिर्हलैः कृषति' इत्यादि प्रयोग के संदर्भ में 'कृषति' ही 'कर्षयति' के अर्थ को कह देती है– तब प्रकृतिविशेषण (प्रकृत्यर्थ विशेषण = प्रकृति के अर्थ के द्वारा विशेषण) पक्ष होता है, अर्थात् इस विचारणा में णिच् प्रत्यय उस प्रकृतिनिष्ठ प्रवर्त्तनालक्षण अर्थ का द्योतक होता है।

भा० – युक्तं पुनरिदं विचारयितुम्। नन्वनेनाऽसंदिग्धेन प्रत्ययार्थविशेषणेन भवितव्यम्। यावता 'हेतुमती' -त्युच्यते। यदि हि प्रकृत्यर्थविशेषणं स्याद्धेतुमत इत्येव ब्रूयात्।।

यह प्रत्ययार्थविशेषण है अथवा प्रकृत्यर्थविशेषण– क्या इस रूप में विचार करना युक्त है ? क्या इसे असंदिग्धरूप में प्रत्ययार्थविशेषण ही नहीं होना चाहिये– जबकि 'हेतुमति च'– ऐसा सप्तम्यन्त से निर्देश कर रहे हैं। यदि यह प्रकृत्यर्थविशेषण के रूप में आचार्य को अभीष्ट होता तो 'हेतुमतः'[२] ऐसा पञ्चम्यन्त से निर्देश करते।

भा० – नैतदस्ति। भवन्ति हि विषयसप्तम्योऽपि। तद्यथा– 'प्रमाणे यत्प्रातिपदिकं वर्त्तते' 'स्त्रियां यत्प्रातिपदिकं वर्त्तत' इति।

एवमिहापि 'हेतुमत्यभिधेये णिज्भवति', 'हेतुमति वा यो धातुर्वर्तत' इति जायते विचारणा।।

नहीं! निर्देश[३] कोई महत्त्व नहीं रखता। शास्त्र में विषयसप्तमियाँ भी होती हैं। जैसे कि– प्रमाण अर्थ में जो प्रातिपदिक वर्त्तमान है (प्रमाणे द्वयसज्दघ्नच्० अ०– ५.२.३७), स्त्रीलिङ्ग में जो प्रातिपदिक वर्त्तमान है (स्त्रियाम्– अ०– ४.१.३)। इसी प्रकार यहाँ भी हेतुमान् के अभिधेय होने पर (धातु से) णिच् होता है अथवा हेतुमान अर्थ में जो धातु वर्त्तमान है उससे णिच् होता है। दोनों ही अर्थों की संभावना के कारण विचारणा तो उत्पन्न हो ही जाती है।

---

१. पाक (पचन) के लिये जो भी है, वह सब ही पचति के द्वारा कह दिया जाता है।

२. हेतुमदर्थाभिधायिनो धातोरित्यर्थः।

३. सप्तम्यन्तनिर्देश है या पञ्चम्यन्तनिर्देश– यह बात कोई महत्त्व नहीं रखती।

भा० – अत उत्तरं पठति।

इतनी भूमिका के बाद आचार्य वार्त्तिककार अपना उत्तर पढते हैं।

वा० – हेतुमतीति कारकोपादानं प्रत्ययार्थपरिग्रहार्थं यथा 'तनूकरणे तक्षः'।।१।।

भा० – हेतुमतीति कारकमुपादीयते।। किं प्रयोजनम्? 'प्रत्ययार्थपरिग्रहार्थम्'। एवं सति प्रत्ययार्थः सुपरिगृहीतो भवति। यथा 'तनूकरणे तक्षः' (अ०- ३.१.७६) इति तनूकरणमुपादीयते।।

(वा०)– 'हेतुमति' ऐसा जो कारकोपादान = सप्तम्यन्त का उपादान किया है, वह प्रत्यय के अर्थ का ग्रहण कराने के लिये किया गया है, जैसा कि 'तनूकरणे तक्षः' में किया है।

(भाष्यम्)– 'हेतुमति' यह (अधिकरण) कारक का उपादान किया गया है। किस प्रयोजन के लिये? प्रत्ययार्थ का ग्रहण करने के लिये। ऐसा होने से (ही अर्थात् ऐसा करने से ही) प्रत्ययार्थ सुपरिगृहीत होता है (या हो पाता है)। (प्रकृत्यर्थ तो 'हेतुमतः' ऐसा कहने से भी निदर्शित हो जाता)। जैसे कि 'तनूकरणे तक्षः' में (तक्ष का अर्थ बताने के लिये) सप्तम्यन्त तनूकरण शब्द का ग्रहण किया है।

इस भाष्य का कैयट द्वारा किया गया व्याख्यान बहुत क्लिष्ट हो गया है। हमने शिवरामेन्द्र सरस्वती की दिशा से व्याख्या की है।

भा० – यदि तर्हि तद्वत्प्रकृत्यर्थविशेषणमिदं भवति। प्रकृत्यर्थविशेषणं हि तत्तत्र विज्ञायते– 'तनूकरणक्रियायां तक्ष' इति।।

यदि यह निर्देश 'तनूकरणे' के समान है, तब तो 'हेतुमति' यह प्रकृत्यर्थविशेषण ही ठहरता है। क्योंकि प्रकृत्यर्थविशेषण के रूप में ही तनूकरण को वहाँ व्यवस्थापित किया गया है– तनूकरणक्रिया में जो तक्ष-धातु वर्त्तमान् है उससे------।

इस पर कोई माध्यस्थ कहता है–

भा० – अस्तु प्रकृत्यर्थविशेषणं, को दोषः?

ठीक है– प्रकृत्यर्थविशेषण ही मान लेते हैं। क्या दोष है?

अब वार्त्तिककार की ओर से भाष्यकार कहते है–

भा० – इह 'ह्युक्तः करोति', 'प्रेषितः करोति' इति णिच् प्राप्नोति।

प्रत्ययार्थविशेषणे पुनः सति नैष दोषः। स्वशब्देनोक्तत्वान्न भविष्यति।।

देखो! दोष यह है, यहाँ– उक्तः करोति, प्रेषितः करोति– इत्यादि में (कृ धातु से) णिच् प्राप्त होता है।

प्रकृतिविशेषणपक्ष में जैसे 'पाचयति' इत्यादि में प्रकृति के द्वारा अभिहित प्रयोजकव्यापार को ही कहने में णिच् होता है वैसे ही उक्त-प्रेषितादि शब्दों के द्वारा अभिहित होने पर भी 'उक्त:[१] कार्यते' ऐसा प्राप्त होगा। क्योंकि प्रकृतिविशेषणपक्ष में शब्दान्तर के द्वारा अभिहित अर्थ के द्योतन के लिये ही णिच् की प्रवृत्ति होती है। (लेकिन) प्रत्ययार्थविशेषण होने पर कोई दोष नहीं होता। क्योंकि उक्त-प्रेषितादि स्वशब्द (प्रयोजकव्यापार के संकेतक शब्द) के द्वारा अभिहित हो जाने से णिच् नहीं होगा ('उक्तार्थानामप्रयोग:' ऐसा न्याय है)।

भा॰– प्रकृत्यर्थविशेषणेऽपि सति नैष दोष:। यत्र नाऽन्तरेण शब्दमर्थस्य गतिर्भवति तत्र शब्द: प्रयुज्यते। यत्र ह्यन्तरेणाऽपि शब्दमर्थस्य गतिर्भवति न तत्र शब्द: प्रयुज्यते।।

प्रकृत्यर्थविशेषणपक्ष में भी कोई दोष नहीं है। जहाँ शब्द के विना अर्थ की गति (उपलब्धि) नहीं होती, वहीं शब्द का प्रयोग किया जाता है। जहाँ तो शब्द के विना भी अर्थ का बोध हो जाता है, वहाँ शब्दप्रयोग नहीं होता।

भाव यह है जिस अर्थ के द्योतन के लिये णिच् का विधान है वह अर्थ जब किसी वाचकशब्दान्तर से ही ज्ञात हो जाता है तो प्रयोजनाभाव या यह कहें द्योत्याभाव होने से णिच् नहीं होगा।

भा॰– इह तर्हि ' पाचयत्योदनं देवदत्तो यज्ञदत्तेने'त्युभयो: कर्त्रोर्लेनाऽभिधानं प्राप्नोति। प्रत्ययार्थविशेषणे सति पुनर्न दोष: 'प्रधानकर्तरि लादयो भवन्ती'ति प्रधानकर्त्ता लेनाऽभिधीयते, यश्चाऽत्राऽप्रधानं कर्त्ता, सिद्धा तत्र 'कर्त्तरि' इत्येव तृतीया।।

अच्छा तो, प्रकृत्यर्थविशेषणपक्ष में एक और दूषण यह है– यहाँ 'पाचयत्योदनं देवदत्तो यज्ञदत्तेन'– इस प्रयोग में प्रयोजक व प्रयोज्य दोनों कर्त्ताओं का 'ल' के द्वारा अभिधान प्राप्त होता है। क्योंकि धातुवाच्यव्यापार के कर्त्ता में लकार को उत्पन्न होना चाहिये। और जब पच्-धातु के द्वारा प्रयोज्य व प्रयोजक दोनों का ही व्यापार कहा जाता है तो णिच् प्रत्यय केवल स्वार्थिक होने से प्रयोजकव्यापार का द्योतक होगा तब धातुवाच्य व्यापार के साम्य होने से उन दोनों कर्त्ताओं का भी जो कि विशेष्य-विशेषण भाव को प्राप्त नहीं हुये– प्रधानत्व ही रहेगा– इस प्रकार दोनों का ही अभिधान होगा। तब 'ओदनं पाचयति देवदत्त: यज्ञदत्त:' या फिर 'पाचयतो देवदत्तयज्ञदत्तौ' ऐसा प्रयोग होने लगेगा। जबकि चाहते हैं– 'पाचयत्योदनं देवदत्त: यज्ञदत्तेन'।

यदि प्रत्ययार्थविशेषणपक्ष है तो कोई दोष नहीं है। (क्योंकि ण्यन्तस्थान में) प्रधानकर्त्ता (प्रयोजककर्त्ता) को कहने के लिये लादि होते हैं– इस हेतु से प्रधानकर्त्ता (ही) 'ल्' के द्वारा कहा जायेगा। और जो यहाँ पच्यर्थ का अप्रधान कर्त्ता (प्रयोज्यकर्त्ता) है– उसका 'ल' के द्वारा अभिधान न होने से उसमें 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' (अ॰– २.३.१८) से तृतीया सिद्ध हो जायेगी।

---

१. 'कार्यते'– यह णिजन्त से कर्मवाच्य में प्रयोग है। जैसे 'पाचयति' में प्रयोज्यकर्त्ता को कहने के लिये णिच् हुआ था, वैसे यहाँ, यत: 'उक्त:' कर्मवाच्य में है, अत: प्रयोज्यकर्म को कहने के लिये णिच् हो जायेगा।

भा०– इह च 'गमितो ग्रामं देवदत्तो यज्ञदत्तेने'त्यव्यतिरिक्तो गत्यर्थ इति कृत्वा 'गत्यर्थानां क्तः कर्त्तरि' इति कर्तरि क्तः प्राप्नोति।। इह च 'व्यतिभेदयन्ते', 'व्यतिच्छेदयन्त' इत्यव्यतिरिक्तो हिंसार्थ इति कृत्वा 'न गतिहिंसार्थेभ्यः' (अ०– १.३.१५) इति प्रतिषेधः प्राप्नोति।।

प्रकृत्यर्थविशेषणपक्ष में और भी दोष हैं– यहाँ 'गमितो ग्रामं देवदत्तो यज्ञदत्तेन' (देवदत्त,यज्ञदत्त के द्वारा गाँव को भेजा गया) इस प्रयोग में प्रयोजकव्यापार गत्यर्थ से अतिरिक्त (पृथग्भूत) नहीं है– बल्कि गत्यर्थ का ही एक भाग है– इस हेतु से गत्यर्थ धातुओं से संबन्धित 'क्त' का 'गत्यर्थाकर्मकश्लिष०' (अ०–३.४.७२) नियम से कर्त्ता में भी विधान प्राप्त होता है। यदि वैसा हो जाये तो 'गमितो ग्रामं देवदत्तं यज्ञदत्तः' ऐसा अनिष्ट रूप भी बनने लगेगा। 'गतिबुद्धि०' (अ०– १.४.५२) से अण्यन्त अवस्था का कर्त्ता (अर्थात् प्रयोज्यकर्त्ता) जब ण्यन्त में कर्मसंज्ञक हो जाता तो 'क्त' के द्वारा उसी का कथन करना अभीष्ट है। जैसा कि कहा है– अप्रधाने दुहादीनां ण्यन्ते कर्त्तुश्च कर्मणः। अर्थात् दुहादि धातुओं में तो अप्रधान कर्म को कहने के लिये लादि आते हैं तथा अण्यन्त में जो कर्त्ता ण्यन्त में कर्म बन जाता है तो लादि उस कर्म के वाचक होते हैं अर्थात् जो प्रयोज्यकर्त्ता कर्मसंज्ञक हो जाता है उसे कहने के लिये ल-क्त आदि होते हैं। किन्तु णिजर्थ (प्रेरणारूप अर्थ) के प्रकृत्यर्थ से (प्रकृत में गत्यर्थ से) अव्यतिरिक्त मान लेने पर गत्यर्थसम्बन्धी क्त के द्वारा कर्म का कथन न होकर कर्त्ता का कथन हुआ करेगा। णिच् को प्रयोजकव्यापार का वाचक मान लेने पर तो ण्यन्तकर्त्ता गत्यर्थकर्त्ता से भिन्न होगा– इसलिये उपर्युक्त दोष नहीं आयेगा।

और यहाँ व्यतिभेदयन्ते व्यतिच्छेदयन्ते इत्यादि प्रयोगों में प्रयोज्यव्यापार जो हिंसार्थ है– प्रयोजकव्यापार उससे अतिरिक्त नहीं है– इस हेतु से हिंसार्थक धातु मानकर 'न गतिहिंसार्थेभ्यः' (अ०– १.३.१५) ण्यन्तधातु से भी आत्मनेपद का प्रतिषेध होने लगेगा। प्रत्ययार्थविशेषणपक्ष में तो यह दोष नहीं– क्योंकि प्रकृत में प्रयोजकव्यापार का व्यतिहार कहा जा रहा है न कि प्रयोज्यव्यापार का। प्रयोज्यव्यापार ही तो हिंसार्थक धातु से अभिहित हो सकता है। प्रयोजकव्यापार तो प्रत्ययगत धर्म है। इसको संस्कृत वाक्य के द्वारा ऐसा समझ सकते हैं– देवदत्तादयो भिन्दन्ति (देवदत्तादि फूट डालते हैं।) तान् यज्ञदत्तादयो व्यतिप्रेरयन्तीति, यज्ञदत्तादयो व्यतिभेदयन्ते देवदत्तादिभिः (यज्ञदत्तादि देवदत्तादि के द्वारा फूट डलवा रहे हैं)।

भा०– अस्तु तर्हि प्रत्ययार्थविशेषणम्।।

अच्छा तो फिर प्रत्ययार्थविशेषणपक्ष ही स्वीकार लिया जाये।

भा०– यदि प्रत्ययार्थविशेषणं 'पाचयत्योदनं देवदत्तो यज्ञदत्तेने'ति प्रयोज्ये कर्त्तरि कर्मसंज्ञा प्राप्नोति। भवति हि तस्य तस्मिन् ईप्सा। इह च 'ग्रामं गमयति' 'ग्रामाय गमयती'ति व्यतिरिक्तो गत्यर्थ इति कृत्वा 'गत्यर्थकर्मणी'ति द्वितीयाचतुर्थ्यौ न प्राप्नुतः।। इह च– 'एधोदकस्योपस्कारयती'ति व्यतिरिक्तः करोत्यर्थ इति

कृत्वा 'कृञः प्रतियत्ने' (अ० – २.३.५३) इति षष्ठी न प्राप्नोति।। इह च 'भेदिका देवदत्तस्य यज्ञदत्तस्य काष्ठानामिति प्रयोज्ये कर्त्तरि षष्ठी न प्राप्नोति।।' इह चा'ऽभिषावयति' 'परिषावयती'ति व्यतिरिक्तः सुनोत्यर्थ इति 'कृत्वोपसर्गात्सुनोतिसुवती' त्यादिना षत्वं न प्राप्नोति।।

समस्यायें तो प्रत्ययार्थपक्ष में भी हैं। जैसे 'पाचयत्योदनं देवदत्तो यज्ञदत्तेन' इस प्रयोग में प्रयोज्यकर्त्ता में कर्मसंज्ञा प्राप्त होती है। क्योंकि णिजर्थ के प्रधान होने से उसके प्रवर्त्तनारूप व्यापार के द्वारा प्रयोज्य ईप्सिततम है। भाष्य में यही कहा है– तस्य=उस प्रयोजक की, तस्मिन्=उस प्रयोज्य में ईप्सा होती ही है। इस प्रकार 'पाचयत्योदनं देवदत्तो यज्ञदत्तम्' ऐसा अनिष्ट रूप बनने लगेगा। प्रकृत्यर्थविशेषणपक्ष में तो प्रयोज्य और प्रयोजकव्यापार दोनों की ही ण्यन्तप्रकृति एक ही धातु से वाच्य होने के कारण और धातुवाच्यव्यापार की अपेक्षा से दोनों के ही कर्त्ता होने के कारण 'ल' के द्वारा दोनों ही कर्त्ताओं का अभिधान प्राप्त होता है। इस रूप में दोष कहा है।

और यहाँ प्रत्ययार्थविशेषणपक्ष में 'ग्रामं गमयति, ग्रामाय गमयति' इस प्रयोग में ण्यर्थ के द्वारा गत्यर्थ व्यतिरिक्त हो गया अर्थात् गत्यर्थ से अतिरिक्त णिजर्थ भी उपस्थित हो गया है, इस हेतु से अब ण्यर्थ का ही ग्राम और प्रयोज्य (देवदत्तादि) कर्म है, सो गत्यर्थ धातु के कर्म में कही गयी द्वितीया-चतुर्थी (अ० – २.३.१२) ण्यर्थ धातु के कर्म में प्राप्त नहीं होती। प्रकृत्यर्थविशेषणपक्ष में यह दोष नहीं रहेगा। गत्यर्थ ण्यर्थ से अव्यतिरिक्त है, अतः गत्यर्थ का ही 'ग्राम' कर्म माना जायेगा।

और यहाँ 'एधोदकस्योपस्कारयति'[१] इस प्रयोग में करोत्यर्थ णिजर्थ से व्यतिरिक्त हो गया है– इस हेतु से प्रतियत्न[२] गम्यमान होने पर कृ धातु के योग में, कर्म की शेषत्व विवक्षा में कही गयी षष्ठी (२.३.५३) ण्यर्थ के कर्म में प्राप्त नहीं होती। प्रकृत्यर्थविशेषण में तो, यतः करोत्यर्थ ण्यर्थ से अव्यतिरिक्त है (ण्यर्थ करोत्यर्थ में ही समाहित है) इसलिये करोत्यर्थ का ही कर्म माना जायेगा।

यहाँ पदमञ्जरीकार का कहना है– एध और उदक को जातिरप्राणिनाम् (अ० – २.४.६) से एकवद्भाव हो रहा है। 'अग्निरेधोदकस्य उपस्कुरुते या यज्ञदत्त एधोदकस्योपस्कुरुते (अण्यन्तावस्था), देवदत्तोऽग्निनैधोदकस्योपस्कारयति, अथवा देवदत्तो यज्ञदत्तेनैधोदकस्योपस्कारयति (ण्यन्तावस्था)'। देवदत्त अग्नि के द्वारा (या यज्ञदत्त के द्वारा) इन्धन और जल के गुणों को बदलवा रहा है। अथवा 'एधस्' व 'दक' शब्द का उक्त समास हुआ-हुआ प्रयोग है। एधस्-इन्धन, दक=उदक।

---

१. उपात् प्रतियत्न० (६.१.१३४) से विहित सुट् तो कृधातुस्वरूपापेक्ष है न कि अर्थापेक्ष। इसलिये उसका विचार नहीं किया। णिच् होने पर भी कृ धातु का रूप तो रहता ही है।

२. सतो गुणान्तराधानम् प्रतियत्नः। जो कुछ विद्यमान है– उसको गुणान्तरों = दूसरे गुणों से युक्त करना ही प्रतियत्न कहाता है।

और यहाँ 'भेदिका देवदत्तस्य यज्ञदत्तस्य काष्ठानाम्' (देवदत्त की यज्ञदत्त के द्वारा काष्ठों को फडवाने की पर्याय है।) इस प्रयोग में प्रयोज्यकर्त्ता के (अप्रधान होने से) उसमें षष्ठी प्राप्त नहीं होती।

'भेदिका' शब्द णिजन्त भिद्-धातु से 'पर्यायार्ह०' (अ०– ३.३.१११) से ण्वुच् प्रत्ययान्त है। देवदत्त प्रयोजककर्त्ता है और यज्ञदत्त प्रयोज्य, 'काष्ठानाम्' कर्म है। 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' (अ०– २.३.६६) सूत्र पर 'अकाऽकारयोः स्त्रीप्रत्यययोः प्रयोगे नेति वक्तव्यम्' पठित वार्त्तिक के द्वारा सूत्रोक्त नियम का प्रतिषेध होकर 'कर्तृकर्मणोः कृति' (अ०– २.३.६५) सूत्र से कर्त्ता और कर्म दोनों में षष्ठी हो जाती है। समस्या यह है– प्रधानकर्त्ता जो कि प्रयोजककर्त्ता है उसमें तो षष्ठी हो जायेगी, पर प्रयोज्यकर्त्ता, यतः अप्रधानकर्त्ता है इसलिये उसमें षष्ठी प्राप्त नहीं होती। 'कर्त्तृकर्मणोः कृति' कृत् प्रत्यय की प्रकृति के अर्थ से संबन्धित जो कर्त्ता कर्म उसमें षष्ठी करता है। प्रकृत में कृत् की प्रकृति है ण्यन्त 'भेदि' धातु। इस प्रकार ण्यन्तार्थ के कर्त्ता में ही षष्ठी होगी, न कि णिच् की प्रकृति जो भिद् (मूलधातु है) उसके कर्त्ता में। कृत्प्रत्यय की जो प्रकृति उसके अर्थ को लेकर जिसका कर्त्तृत्व होगा– उसी की प्रधानता होगी, ऐसा तो प्रयोजक कर्त्ता ही होगा। प्रयोज्यकर्त्ता तो 'भेदि' इस णिजन्त धातु का न होकर भिद् धातु का होता है।

प्रकृत्यर्थविशेषणपक्ष में तो एक दृष्टि से 'भिद्' धातु के अर्थ के ही प्रयोजक व प्रयोज्य दोनों कर्त्ता हैं। अतः उनमें प्रधान-गौण भाव न होने से दोनों में ही षष्ठी सिद्ध हो जायेगी।

और प्रत्ययार्थविशेषणपक्ष में यहाँ 'अभिषावयति'– 'परिषावयति' प्रयोगों में सुनोत्यर्थ, णिजर्थ से व्यतिरिक्त है अर्थात् सुनोत्यर्थ के साथ णिजर्थ जुडकर एक नयी धातु बन गयी है– इसलिये उपसर्गस्थनिमित्त (इण् और कवर्ग) से उत्तर सुनोति को कहा गया षत्व (अ०– ८.३.६५) प्राप्त नहीं होता। क्योंकि प्रकृत में 'यत्क्रियायुक्ताः प्रादयः तं प्रति गत्युपसर्गसंज्ञे' (म. भा.१.४.६०) नियम से ण्यर्थ का उपसर्गविशेषक है न कि सुनोति का, अर्थात् ण्यर्थ के प्रति ही 'परि' इत्यादि की उपसर्गसंज्ञा है न कि सुनोति के प्रति। प्रकृत्यर्थविशेषणपक्ष में तो सुनोति ही दोनों अर्थों को कह रही है– शुद्ध धातु के मूल अर्थ को भी और ण्यर्थ को भी, अतः षत्व के होने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी।

अब प्रत्ययार्थविशेषणपक्ष में दिये गये दूषणों का क्रमशः परिहार करते हैं–

भा०– नैष दोषः। यत्तावदुच्यते– 'पाचयत्योदनं देवदत्तो यज्ञदत्तेनेति प्रयोज्ये कर्त्तरि कर्मसंज्ञा प्राप्नोती'ति, 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि' इत्येतन्नियमार्थं भविष्यति– 'एतेषामेव ण्यन्तानां यः कर्त्ता स णौ कर्मसंज्ञो भवति नान्येषा'मिति।

यदप्युच्यते– 'इह च ग्रामं गमयति, ग्रामाय गमयती'ति 'व्यतिरिक्तो गत्यर्थ' इति कृत्वा 'गत्यर्थकर्मणी'ति द्वितीयाचतुर्थ्यौ न प्राप्नुत' इति, नासावेवं प्रेष्यते 'गच्छ' ग्राममिति।। कथं तर्हि? साधनविशिष्टामसौ क्रियां प्रेष्यते- 'ग्रामं गच्छ' 'ग्रामाय गच्छे'ति।

यदप्युच्यते– 'इह च एधोदकस्योपस्कारयतीति व्यतिरिक्तः करोत्यर्थ इति कृत्वा' 'कृञः प्रतियत्ने' इति षष्ठी न प्राप्नोती'ति, नासावेवं प्रेष्यते– 'उपस्कुरुष्वैधोदकस्ये'ति।। कथं तर्हि? साधनविशिष्टामसौ क्रियां प्रेष्यते– 'एधोदकस्योपस्कुरुष्वे'ति।

यदप्युच्यते- 'इह च भेदिका देवदत्तस्य यज्ञदत्तस्य काष्ठानामिति प्रयोज्ये कर्तरि षष्ठी न प्राप्नोती'ति, उक्तं तत्र कृद्ग्रहणस्य प्रयोजनं 'कर्तृभूतपूर्वमात्रेऽपि षष्ठी यथा स्या'दिति।

यदप्युच्यते 'इह चाभिषावयति परिषावयतीति– व्यतिरिक्तः सुनोत्यर्थ इति कृत्वोपसर्गात्सुनोतीत्यादिना षत्वं न प्राप्नोति'ति, नासावेवं प्रेष्यते– 'सुनु-अभी'ति।। कथं तर्हि? उपसर्गविशिष्टामसौ क्रियां प्रेष्यते– 'अभिषुणु' इति।।

नहीं! यह कोई दोष नहीं है। जो यह कहा जाता है– 'पाचयत्योदनं देवदत्तो यज्ञदत्तेन' इस प्रयोग में प्रयोज्यकर्त्ता में कर्मसंज्ञा प्राप्त होने लगती है, क्योंकि प्रयोजक की प्रयोज्य में ईप्सा होती है, पर 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ०' (अ०– १.४.५२) यह सूत्र नियमार्थ हो जायेगा– इन्हीं ण्यन्तधातुओं का जो कर्त्ता (प्रयोज्यकर्त्ता) है वह ण्यन्त में कर्मसंज्ञक होता है, अन्यों का नहीं।

इसका भाव यह है– ण्यर्थ के प्रधान होने से उस ण्यर्थ के द्वारा प्रयोज्य के ईप्सिततम होने से कर्मसंज्ञा सिद्ध ही थी। फिर भी जो 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ०' यह सूत्र बनाया वह 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः' इस व्यवस्था से नियम के लिये समझा जायेगा। यह भी नहीं कह सकते कि स्वव्यापारापेक्षया स्वतन्त्र होने से परत्व से कर्त्तृसंज्ञा प्राप्त होती है– प्रयोज्यव्यापार के अप्रधान होने से प्रधानाऽप्रधानव्यापार सन्निधि में प्रधाननिमित्तक कार्य की ही युक्तता ठहरती है। किन्तु नियम के द्वारा प्रयोज्य की कर्मसंज्ञा की व्यावृत्ति होने पर गुणनिमित्तकर्म के सद्भाव होने से कर्त्तृत्व होता ही है। जैसा कि हरि ने भी कहा है–

गुणक्रियाायां स्वातन्त्र्यात्प्रेषणे कर्मतां गतः।

नियमात्कर्मसंज्ञायाः स्वातन्त्र्येणाभिधीयते।।

प्रेषणस्थलों में कर्मता को प्राप्त हुआ भी पदार्थ अर्थात् यद्यपि प्रयोजकव्यापार के द्वारा आप्यमान होने से प्रयोज्य प्रेषण में कर्मभाव को प्राप्त हो गया है तथापि 'गतिबुद्धि०' सूत्र के द्वारा कर्मसंज्ञा के नियम होने से 'पाचयत्योदनं देवदत्तो यज्ञदत्तेन' इत्यादि में कर्मत्व का अभाव होने से गुणक्रिया में अर्थात् स्वव्यापार में (प्रयोज्य के अपने व्यापार में) स्वातन्त्र्य के नष्ट न होने से या उस स्वातन्त्र्य के विद्यमान रहने से– उस स्वातन्त्र्य के आश्रय से उसका कर्तृत्वेन अभिधान किया जाता है। और वह लकार के द्वारा अनभिहित भी है– इसलिये 'कर्तृकरणयोः०' (अ०– २.३.१८) से तृतीया हो जाती है।

और जो यह कहा गया– 'ग्रामं गमयति-ग्रामाय गमयति' इस प्रयोग में ण्यर्थ से गत्यर्थ व्यतिरिक्त (पृथग्भूत) है– इस हेतु से 'गत्यर्थकर्मणि०' से विहित द्वितीया व चतुर्थी प्राप्त नहीं होती। सो उसका उत्तर यह है– (असौ) वह प्रयोज्य (प्रयोजक के द्वारा) इस रूप में क्रिया को नहीं (प्रेष्यते) प्राप्त कराया जा रहा है– 'गच्छ' ग्रामम्। तो किस प्रकार ? साधनविशिष्ट (ग्रामकर्मविशिष्ट) क्रिया को (असौ) वह तो (प्रेष्यते) प्राप्त कराया जा रहा है।

ग्राम, प्रकृत्यर्थ का अर्थात् गम्-धातु का कर्म है न कि ण्यर्थ का। जैसे कि देवदत्तो ग्रामं गच्छति-ग्रामाय गच्छति, ग्रामं गच्छन्तं ग्रामाय गच्छन्तं देवदत्तं यज्ञदत्तः प्रेरयतीति, यज्ञदत्तो देवदत्तं ग्रामं गमयति-ग्रामाय गमयति।यहाँ चतुर्थी-अप्राप्ति की आशङ्का इस हेतु से हुयी कि साधनविरहित केवल गमन प्रेरणा से णिच् उत्पन्न होकर 'गमयति यज्ञदत्तो देवदत्तम्' ऐसा बनने पर जब 'क्व (कहाँ)' इस रूप में कर्म की आकाङ्क्षा हुयी तो 'ग्रामम्' यह णिजन्त का कर्म बना। किन्तु जब पहिले ही ग्रामकर्मविशिष्ट गत्यर्थ को प्रेरणा से युक्त किया जाता है तो, णिच् आने से पहिले ही 'ग्राम' गत्यर्थ का कर्म बन जाता है इसलिये उससे चतुर्थी भी हो जाती है। उसके बाद गम् धातु से णिच् उत्पन्न होता है। 'साधनविशिष्टां क्रियाम् असौ प्रेष्यते' प्रयोजकेन इति शेषः। भाष्यपङ्क्ति का यही भाव है। यहाँ 'प्रेष्यते' 'प्र-पूर्वक इष् (प्राप्त्यर्थक) धातु का णिजन्त से कर्मवाच्य में प्रयोग है। 'नासावेवं प्रेष्यते' प्रयोजकेनेति शेषः। यहाँ भी इसी 'प्रेष्यते' का प्रयोग है। कर्तृवाच्य में यदि इन वाक्यों को रख जाये तो इस प्रकार कहा जायेगा– 'नामुम् (प्रयोज्यम्) एवं प्रेषयति' प्रयोजक इति शेषः।। कथं तर्हि ? साधनविशिष्टां क्रियाममुम् (प्रयोज्यम्) प्रेषयति प्रयोजक इति शेषः। यहाँ यह ध्यातव्य है कि प्राप्त्यर्थक प्र-पूर्वक इष्-धातु 'गतिबुद्धि' सूत्र से द्विकर्मक हो गयी है– तथा 'ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः' (म. भा. १.४.५१) इस व्यवस्था से प्रयोज्य कर्म में अण्यन्त का कर्त्ता जो ण्यन्त में कर्म बन गया है उसको कहने के लिये लकार हुआ है।

ग्रामकर्मिकां गमनक्रियां प्रयोज्यः प्रेष्यति (प्राप्नोतीत्यर्थः) तं प्रयोजकः प्रेरयतीति– 'ग्रामकर्मिकां गमनक्रियां प्रयोज्यं प्रेषयति (प्रापयति) प्रयोजक इति शेषः– इसी को कर्मवाच्य में '-----गमनक्रियां प्रयोज्यः प्रेष्यते (प्राप्यते) प्रयोजकेनेति शेषः'। इस रूप में कह दिया है।

और जो यह कहा गया है– यहाँ 'एधोदकस्योपस्कारयति' इस प्रयोग में ण्यर्थ से करोत्यर्थ व्यतिरिक्त (भिन्न) है– इस हेतु से प्रतियत्न गम्यमान होने पर कृ-धातु के योग में 'कृञः प्रतियत्ने' से कही गयी षष्ठी प्राप्त नहीं होती। सो वह प्रयोज्य भी प्रयोजक के द्वारा इस रूप में क्रिया को नहीं प्राप्त कराया जा रहा है कि 'उपस्कुरुष्वैधोदकस्य'। तो किस रूप में ? साधनविशिष्ट = कर्मकारक से विशिष्ट क्रिया 'एधोदकस्योपस्कुरुष्व' इस रूप में (प्रयोजक के द्वारा) प्रयोज्य को प्राप्त करायी जा रही है।

भाव यह है साधनविरहित उपस्कारक्रिया के लिये प्रयोज्य को नहीं प्रेरित किया जा रहा है बल्कि साधन-विशिष्ट उपस्कारक्रिया के लिये प्रयोज्य को प्रेरित किया जा रहा है। साधनविरहित उपस्कारक्रिया के लिये प्रेरणा देने पर वाक्यरचना होगी– उपस्कुरुते देवदत्तः, तं यज्ञदत्तः प्रेरयतीति यज्ञदत्तो देवदत्तं देवदत्तेन[१] वोपस्कारयति– 'कस्य' इस आकांक्षा में 'एधोदकस्य' कहा जाता है तो षष्ठी की अप्राप्ति रूप समस्या आती है। क्योंकि इस व्यवस्था में 'एधोदक' कर्म 'उपस्कृ' का न होकर णिजन्त 'उपस्कारि' का ठहरता है। लेकिन यदि साधनविशिष्ट उपस्कृ क्रिया ही प्रयोजक के द्वारा प्रयोज्य को प्राप्त करा दी जाये तो फिर कोई बाधा नहीं होगी। जैसे– देवदत्त एधोदकस्योपस्कुरुते, एधोदकस्योपस्कुर्वाणं तं देवदत्तं यज्ञदत्तः प्रेरयतीति यज्ञदत्तो देवदत्तं देवदत्तेन वैधोदकस्योपस्कुरुते।

और यह जो कहा गया है कि यहाँ 'भेदिका देवदत्तस्य यज्ञदत्तस्य काष्ठानाम्' इस प्रयोग में 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' (अ०– २.३.६६) सूत्रस्थ पठित 'अकाऽकारयोः स्त्रीप्रत्यययोः०' वार्त्तिक के द्वारा सूत्रोक्त नियम का प्रतिषेध कर दिये जाने पर 'कर्तृकर्मणोः कृति' सूत्र कृत् के प्रयोग में कर्त्ता व कर्म में विहित षष्ठी प्रयोजककर्त्ता के प्रधान होने से उसी में प्राप्त होगी– प्रयोज्य कर्त्ता में नहीं हो सकेगी। सो कोई दोष नहीं है– क्योंकि 'कर्त्तृकर्मणोः०' सूत्र में कृद्ग्रहण का प्रयोजन देते हुये कहा है– भूतपूर्वकर्त्ता में भी षष्ठी हो जाये।

भाष्यस्थ 'कर्त्तृभूतमात्रे' पद से प्रधानचर कर्त्ता अर्थ अभिप्रेत है। पहिले तो जो कर्त्ता प्रधान ही था पर अब अप्रधान हो गया है वहाँ भी षष्ठी हो जाये। 'भेदिका' यहाँ ण्वुच् जो कृत्प्रत्यय है उसकी प्रकृति 'भेदि' णिजन्त है उसका घटक जो भिद् है उस भिद् का जो कर्त्ता है उसमें भी षष्ठी हो जाये इसके लिये कृद्ग्रहण किया है। अभी 'भेदि' णिजन्त का प्रयोजक कर्त्ता है, वह प्रधान है और भिद् का कर्त्ता अप्रधान है।

और जो यह कहा गया है कि यहाँ 'अभिषावयति', 'परिषावयति' इन प्रयोगों में णिजर्थ से सुनोति का अर्थ व्यतिरिक्त (भिन्न) है, इस हेतु से 'उपसर्गात्सुनोति०' से उपसर्गस्थनिमित्त से उत्तर 'सु' धातु को कहा गया षत्व णिजन्त 'सावि' धातु को नहीं प्राप्त होता। वह भी कोई दोष नहीं है। क्योंकि वह प्रयोज्य (प्रयोजक के द्वारा) क्रिया के आभिमुख्य को इस रूप में नहीं प्राप्त कराया जा रहा है कि 'सुनु-अभि'। तो किस रूप में? वह तो उपसर्गविशिष्ट क्रिया के ही आभिमुख्य को प्राप्त कराया जा रहा है– अभिषुणु।

भाव यह है प्रयोजक व्यापार के आभिमुख्य को अभिशब्द के द्वारा द्योतित नहीं किया जा रहा है। अपितु प्रयोज्यव्यापार के ही आभिमुख्य को द्योतित किया जा रहा है। इस प्रकार अभि की कभी भी ण्यर्थविशेषणता नहीं होगी। अर्थात् णिजुत्पत्यनन्तर उपसर्गकार्य करने में संग्रामधातु के चुरादिगण में पाठसामर्थ्य से उद्दिष्ट[२] ज्ञापक के द्वारा उपसर्ग पृथक् कर लिया जायेगा।

---

१. 'हृक्रोरन्यतरस्याम्' (अ०– १.४.५३) इति प्रयोज्यस्य वैकल्पिककर्मसंज्ञापक्षे कर्त्तृसंज्ञत्वात् 'कर्तृकरणयो'रित्यनेन तृतीया।

२. सोपसर्गसमुदायात्प्रत्यये जातेऽड्द्विर्वचनादिकर्तव्ये उपसर्गाः पृथक् क्रियन्त इति ज्ञाप्यते।

इस सब का सार यह है कि यहाँ णिच् व उपसर्गसंबन्धी व्यवस्था इस रूप में नहीं है– देवदत्तः सुनोति, तं सुन्वन्तं देवदत्तं यज्ञदत्तः अभिप्रेरयति (आभिमुख्येन प्रेरयति) इति यज्ञदत्तो देवदत्तेनाऽभिषावयति। बल्कि इस रूप में है– देवदत्तोऽभिषुणोति, तं (अभिषुण्वन्तम्) यज्ञदत्तः प्रेरयतीति, यज्ञदत्तो देवदत्तेनाऽभिषावयति।

भाष्यम्– युक्तं पुनरिदं विचारयितुम्? नन्वनेनाऽसंदिग्धेन प्रत्ययार्थविशेषणेन भवितव्यं यावता व्यक्तमर्थान्तरं गम्यते– पचति पाचयतीति च।।

उपर्युक्त विचारणा पर प्रष्टा प्रकाररान्तर से आक्षेप करता है– क्या यह सब विचार करना कि 'हेतुमति' प्रत्ययार्थविशेण है या प्रकृत्यर्थविशेषणयुक्त है? क्या ऐसा नहीं है कि इसे असंदिग्धरूप से प्रत्ययार्थविशेषण ही होना चाहिये। जबकि ण्यन्त (पाचयति) और अण्यन्त (पचति) का एक दूसरे से स्पष्टरूपेण अर्थान्तर गम्यमान हो रहा है।

भाव यह है– प्रकृतिप्रत्ययसमुदाय से अर्थप्रतीति होने पर भी तदागमन्याय[१] से ही व्यवस्था समझनी होगी। प्रकृत में णिच् के उत्पन्न होने पर प्रेरणादि अर्थ की प्रतीति होने से और उसके अभाव में उस अर्थ की अप्रतीति होने से णिच् का ही प्रेरणा अर्थ समझना होगा। इस प्रकार प्रेरणा रूप अर्थ का प्रत्ययार्थत्व मान्य होने पर ही उपर्युक्त न्याय का अनुसरण हो पायेगा।

भा० – बाढं युक्तम्। इह पचेः कः प्रधानार्थः? याऽसौ तण्डुलानां विक्लित्तिः। अथेदानीं तदभिसंधिपूर्वकं प्रेषणमध्येषणं वा युक्तं यत्सर्वः पच्यर्थः स्यात्[२]।।

हाँ! फिर भी उपर्युक्त विचारणा (हेतुमति यहाँ प्रत्ययार्थविशेषण या प्रकृत्र्थविशेषण पर विचार करना) बिल्कुल ठीक है। सो कैसे? हम आपसे एक बात पूछते हैं– (आपके विचार में) यहाँ पच् धातु का प्रधानार्थ क्या है? जो वह तण्डुलों की विक्लित्ति (तण्डुलों का गलना रूप क्रिया) है, वही पच् का प्रधानार्थ है। और जो वह विक्लित्ति से पहिले इस समय (तदभिसन्धिपूर्वकम्[३]) विक्लित्यभिसंधिपूर्वक = विक्लित्ति को लक्ष्य करके प्रवृत्त हुयी, विक्लित्ति की विशेषणभूत क्रियायें = अग्निजलाना, बटलोई में पानी डालना, देवदत्तादि आदि के द्वारा अपने सेवक को चावल पकाने के लिये प्रेषण (प्रेरणा देना) या फिर देवदत्तादि के द्वारा अपनी माता को अध्येषणा=प्रवर्तना देना– इन सभी क्रियाओं को भी पच्यर्थ में ही समाविष्ट किया जाये, या नहीं? हाँ विक्लित्ति को उद्देश्य करके प्रवृत्त हुयी इन क्रियाओं का भी पच्यर्थ में समावेश किया जाना युक्त ही है। जैसे कि कहा भी है– अनन्तरं फलं यस्याः कल्प्यते तां क्रियां विदुः।

१. मीमांसा के चतुर्थ अध्याय प्रथमपाद के १५वें सूत्र में 'शब्दवत्तूपलभ्यते तदागमे हि तद् दृश्यते तस्य ज्ञानं हि यथाऽन्येषाम्' इस सूत्र से तदागमन्याय बोधित हुआ है। अन्वयव्यतिरेक भी शब्दान्तर से इसी बात को कह रहा है। किसी चीज के स्वाभाविक धर्म को जानने के लिये अन्वय-व्यतिरेक का प्रयोग किया जाता है।

२. प्रकृत में 'स्यात्' यह शब्द संभावना में लिङ् है, न कि संप्रधारणा में, अन्यथा विचार का हेतु संशय उपपादित नहीं हो सकेगा अर्थात् उस स्थिति में पक्षान्तर के न होने से विचार की अयुक्तता हो जायेगी।

३. तदभिसंधिपूर्वकमित्यस्य तद्विशेषणभूतम् इति शेषः।

जिस विक्लित्ति (गलना) क्रिया के अनन्तर (अव्यवहितोत्तर) फल (ओदन निष्पत्तिरूप फल) सिद्ध होता है या प्राप्त होता है उसे प्रकृत मैं पचिवाच्य क्रिया कहा गया है और वही यहाँ प्रधानभूत है। प्रधानभूतां तादर्थ्यादन्यासां तु तदाख्यता।। क्रिया समु० १५ और पूर्ववर्ती अन्य अधिश्रयणादि क्रियाओं को भी तादर्थ्य हेतु से– यत: वे सब उस विक्लित्ति रूप क्रिया के लिये प्रवृत्त हुयी हैं– इसलिये उनको भी 'क्रिया' इस शब्द से कह दिया जाता है। अत: जैसे अधिश्रयाणादि तादर्थ्य के कारण पचिवाच्य हैं वैसे ही प्रेषणादि भी हैं। लेकिन शब्दशक्ति स्वाभाव्य से प्रेषणादि को कहने के लिये द्योतक के रूप में णिच् की तो अपेक्षा होती ही है। तादर्थ्य हेतु से कारकों का तो पच्यर्थ से ग्रहण नहीं किया जा सकता– क्योंकि वे तो अक्रियारूप होते हैं और[1] धातु क्रियावाची होती है। भाष्य में विक्लित्ति फलाऽनन्तर व्यापार अर्थात् फल अव्यवहित पूर्ववर्ती व्यापार उपलक्षण है– 'इष्टका: पचन्ति' इत्यादि में भी पच् के क्रिया रूप अर्थ को समझ लेना चाहिये।

यहाँ भाष्यकार ने क्रिया के दो रूप बताये हैं– फल और व्यापार। फल (विक्लित्त) को उन्होंने प्रधान क्रिया कहा और व्यापार को अप्रधान। कारक के साथ रखकर क्रिया को देखते हैं तब तो क्रिया के दोनों ही रूप प्रधान होते हैं– क्योंकि क्रिया साध्य होती है और कारक साधन। लेकिन फल और व्यापार में फल साध्य है और व्यापार उसका साधन है। व्यापार फल का जनक है और फल व्यापार से जन्य है। व्यापार कारण है फल उसका कार्य है। यह क्रिया के आर्थ पक्ष का विश्लेषण है। लेकिन वाक्यप्रयोग में अर्थात् जब वाक्य में आख्यात का प्रयोग होता है तो व्यापार का ही प्रधान रूप से कथन किया जाता है। वैयाकरणभूषणसार के रचयिता कौण्डभट्ट ने फल और व्यापार में व्यापार का प्राधान्य स्वीकार करते हुये कहा है– 'फले प्रधानं व्यापार:'। शाब्दिक लोग इस विषय को इस रूप में समझते-समझाते हैं– 'क्रियाप्रधानमाख्यातम्' इस निरुक्त वचन से और 'भूवादयो धातव:' (१.३.१) सूत्रस्थ क्रियाप्राधान्यबोधकभाष्य से कर्त्राख्यात (कर्त्तृवाच्य) में या कर्माख्यात (कर्मवाच्य) में सब जगह ही व्यापारमुख्यविशेष्यकबोध है। इस प्रकार 'ओदनं पचति चैत्र:'– यहाँ ओदनाभिन्नकर्मनिष्ठविक्लित्यनुकूल व्यापार– ऐसा बोध प्राचीन वैयाकरण मानते है। लेकिन नव्यों का कहना है कर्त्तृवाच्य में व्यापारमुख्यविशेष्यक और कर्मवाच्य में फलमुख्य विशेष्यक[2] बोध होता है। क्योंकि कर्तृवाच्य में कर्ताप्रधान होने से कर्तृगत व्यापाररूप क्रिया को ही प्रधान माना जायेगा और कर्मवाच्य में कर्म के प्रधान होने से कर्मगत फलरूप क्रिया को ही प्रधान कहा जायेगा। 'फले प्रधानं व्यापार:' इस वचन के द्वारा व्यापार का प्राधान्यबोध तो कर्त्राख्यात (कर्त्तृवाच्य) के अभिप्राय से है।

---

१. चैत्राभिन्नकर्त्तृकव्यापारजन्या वर्त्तमानकालिका एकत्वावच्छिन्नौदनाऽभिन्नकर्मनिष्ठा विक्लित्ति:। जब 'फल' मुख्यरूपेण विशेष्य है तो व्यापार उसका विशेषण होगा। और जब व्यापार विशेष्य होगा तो 'फल' विशेषण। २. फल– प्रकृत में पकी हुयी ईंटे।

अथवा उस कारिका में प्रधानाप्रधानोभयपदच्छेद है कर्त्तृप्रत्ययसमभिव्याहारतात्पर्य से व्यापार प्रधान है और कर्मप्रत्ययसमभिव्याहारतात्पर्य से व्यापार अप्रधान है। ऐसा मानने से 'सुप आत्मन:०' सूत्रस्थ भाष्य भी संगत हो जाता है। वहाँ यह विचार किया गया है कि जैसे आत्मन: पुत्रमिच्छति-पुत्रीयति प्रयोग बनता है वैसे, क्या 'इष्यते पुत्र:' इस विवक्षा में भी पुत्रीयति बन जायेगा? तथा जैसे 'पुत्रम् ऐच्छत्' या 'पुत्रम् इष्टवान्' अपुत्रीयत् बन जाता है वैसे क्या 'इष्ट: पुत्र:'[१] इस विग्रह में भी बन जायेगा? इसका उत्तर वहाँ यह दिया गया कि 'इष्यते पुत्र:' या 'इष्ट: पुत्र:' इस विग्रह में पुत्रीयति या अपुत्रीयत् प्रयोग नहीं होंगे। क्योंकि 'इष्ट: पुत्र:' या 'इष्यते पुत्र:' इस विग्रह में फल का विशेष्यतया (प्रधानतया) कथन है जब कि पुत्रीयति इत्यादि में व्यापार का; इसलिये भिन्नार्थ होने से उस अर्थ में क्यच् नहीं होगा। कर्म में फल का (क्रियाफल का) विशेष्यत्व तो 'इष्ट: पुत्र:' इत्यादि में सामानाधिकरण्य के अनुरोध से अवश्य स्वीकार करना ही होगा।

थोड़ी अवान्तर चर्चा के बाद अब हम पुन: अपने प्रसङ्ग में आते हैं– यद्यपि विक्लित्ति और विक्लित्ति को लक्ष्य कर प्रवृत्त अधिश्रयणादि व्यापार और उस अधिश्रयणादि व्यापार को भी लक्ष्य कर प्रवृत्त प्रेषण-अध्येषणादि सभी का पच्यर्थत्व सिद्ध है (सर्व: पच्यर्थ: स्यादिति यदस्ति तद्युक्तम्) और इस प्रकार णिच् के प्रकृत्यर्थविशेषक (द्योतक) होने में कोई शास्त्रीय आपत्ति तो नहीं है– फिर भी वह पक्ष दुष्ट है, क्योंकि उस पक्ष में दोषों का परिहार नहीं दिया गया; जबकि प्रत्ययार्थविशेषणपक्ष में उपस्थित सभी दोषों का भाष्यकार ने निराकरण किया है।

कैयट ने प्रस्तुत भाष्य की एक और व्याख्या भी की है– यत: विक्लित्ति और विक्लित्यभिसंधिपूर्वक अधिश्रयणादि के समान ही प्रेषणादि का भी पच्यर्थ होना युक्त ही है। (सर्व: पच्यर्थ: स्यादिति यदस्ति तद्युक्तमेव) इसलिये प्रकृत्यर्थविशेषणपक्ष को भी भाष्यकार ने एक अर्थ में (Indirectly) मान ही लिया। रही बात दोषों के परिहार की– सो तो अतिसरल समझकर अध्येताओं पर छोड़ दिया है। जैसे कि– जो यह कहा कि– 'द्वयो: कर्त्रोलेनाभिधानं प्राप्नोति।' यह इसलिये दोष नहीं है– क्योंकि पाचयन्ति यहाँ प्रयोज्यव्यापार उपसर्जन है जिसका ऐसे प्रयोजकव्यापार का प्रकृति के द्वारा अभिधान होने से और णिच् के द्वारा उसी का द्योतन करने से प्रधानकर्त्ता में ही लकार होगा न कि अप्रधान में। लोक में प्रयोज्य को गुण और प्रयोजक को प्रधान समझा जाता है तो स्वाभाविक है उनके व्यापार को भी वैसा ही समझा जावे न कि फलानुकूलत्वेन दोनों को समकक्ष मान लिया लाये। शिवरामेन्द्रसरस्वती ने प्रयोज्य-प्रयोजक के समकक्ष न होने में एक युक्ति दी है कि विक्लित्तिरूप फल के प्रति प्रेषणादि प्रवृत्त नहीं होता। किन्तु फलानुकूल (फलजनक) जो अधिश्रयणादि व्यापार है उसके प्रति प्रवृत्त होता है।

---

१. अथवा अस्ति या भवति क्रिया के गम्यमान होने से 'पुत्र इष्टो भवति' यह भी 'इष्यते पुत्र:' के तुल्यार्थक ही है न कि 'अपुत्रीयत्' का भूतकालिक विग्रह।

इस प्रकार 'पचति' यहाँ तो विक्लित्यनुकूलव्यापारमात्र गम्यमान होता है क्योंकि प्रेषणांश के द्योतक का यहाँ अभाव है और 'पाचयति' यहाँ प्रेषणांश के द्योतक णिच् के विद्यमान होने से प्रेषणांश भी गम्यमान होता है। सो 'पचति' और 'पाचयति' में अर्थभेद होने पर भी यद्यपि पच् इस प्रकृति में भी हेतुमान् (प्रयोजकव्यापार) अर्थ की प्रकृत्यर्थता युक्त है। फिर भी पाचयति में प्रयोजक व्यापार की प्रधानता और प्रयोज्यव्यापार की अप्रधानता रहती है जबकि पचति में प्रयोज्यव्यापार की प्रधानता और प्रयोजकव्यापार की अप्रधानता है। तथा 'गमितो ग्रामं देवदत्तो यज्ञदत्तेन' उदाहरण में जो यह आपत्ति प्रस्तुत की गयी कि णिजन्त धातु को भी गत्यर्थ ही मानकर कर्त्ता में 'क्त' प्राप्त होगा– वह इसलिये नहीं होगा– क्योंकि द्योतक णिच् के द्वारा गत्यर्थत्व जो धातु का मूल था वह तो निवृत्त हो गया है और जब गमनारूप (गमनविषया प्रेषणारूप) जो प्रधान अर्थ है, उसका णिच् के द्वारा अभिधान होने लगा इसलिये ण्यन्त से प्रयोजककर्त्ता में क्त न आकर यथा प्राप्त 'तयोरेव कृत्यक्त०' (अ०–३.४.७०) नियम से कर्म में ही क्त आयेगा। इसी प्रकार 'व्यतिभेदयन्ते' इत्यादि में भी भिद् धातु से णिच् आने पर हिंसनालक्षण प्रधानधात्वर्थ है न कि हिंसारूप– इसलिये 'न गतिहिंसा०' से आत्मेपदनिषेध नहीं कर पायेगा। इस प्रकार वाचकता पक्ष के समान द्योतकता पक्ष में भी प्रयोज्यव्यापार और प्रयोजकव्यापार दोनों ही व्यापारों के गुण-प्रधान भाव से ही उपस्थित होने से सर्वेष्टसिद्धि हो जायेगी।

भाष्यम्– अथ हेतुमतीति को मत्वर्थ: ?

अच्छा– 'तदस्यास्त्यस्मिन्०' (अ०– ५.२.९४) सूत्र से संबन्धी को या अधिकरण को कहने के लिये मतुप् का विधान होने से मत्वर्थ स्पष्ट है, तथापि हेतु शब्द के अनेकार्थक होने से 'हेतुमति' यहाँ 'हेत्वर्थ' क्या है ?– ऐसा प्रश्न उत्पन्न हो जाता है।

आचार्य उत्तर देते हैं–

भा०– हेतु: कर्त्ताऽस्य स हेतुमान्, 'हेतुमती'ति।

'हेतु' का अर्थ है 'प्रयोजक'। प्रयोजकरूप कर्त्ता है जिसका (जिस प्रवर्त्तनारूप व्यापार का) वह 'प्रयोजकव्यापार' हेतुमान् है। भाष्य में प्रयुक्त 'कर्त्ता' इस शब्द से विशिष्टकर्त्ता अर्थ किया गया है। न कि कर्त्तृसामान्य। भाष्यकार का यह भाव है– हेतु शब्द के अनेकार्थक होते हुये भी यहाँ पारिभाषिक हेतु का ही ग्रहण है। महाभाष्यप्रदीपव्याख्याकार श्री नारायण का कहना है– 'प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूत:'– प्रकृति-प्रत्यय एक साथ मिलकर प्रत्यय के अर्थ को कहते हैं– इस रूप में सह अभिधान नियम के होने से प्रकृत्यर्थ जो विशेषण है उसके अपरिज्ञान में प्रत्ययार्थ भी, जो कि विशेष्य है नहीं जाना जा सकेगा– इस प्रकार 'हेतुमतीति को मत्वर्थ:' इस प्रत्ययार्थ विषयक प्रश्न के द्वारा प्रकृत्यर्थ ही पूछा जा रहा है।

वा० – हेतुनिर्देशश्च निमित्तमात्रे, भिक्षादिषु दर्शनात्।।२।।

भा० – हेतुनिर्देशश्च निमित्तमात्रे द्रष्टव्यः। यावद् ब्रूयात् निमित्तं कारणमिति तावद्धेतुरिति।। किं प्रयोजनम्? भिक्षादिषु दर्शनात्। भिक्षादिषु हि णिज् दृश्यते– 'भिक्षा वासयन्ति', 'कारीषोऽग्निरध्यापयती'ति।

(प्रयोजक की पारिभाषिक हेतुता स्वीकार कर लेने पर भी लक्ष्यानुरोध से) हेतुशब्द को निमित्तमात्र में देखना चाहिये। 'निमित्तम्' 'कारणम्' इन शब्दों में जो अर्थ ग्रहण किया जाता है– वही अर्थ 'हेतु' शब्द से भी ग्रहण करना चाहिये। किस प्रयोजन के लिये? भिक्षादि में भी (णिच् का प्रयोग) देखे जाने से। जैसे कि– भिक्षा वासयन्ति (संन्यासिनो विद्यार्थिनो वेति शेषः); भिक्षा वास करा (बसा) रही है (भिक्षा के कारण से वास कर रहा है।) कारीषोऽग्निध्यापयति; कण्डे की अग्नि पढ़ रही है अर्थात् कण्डे की अग्नि अध्ययन में निमित्त बन रही है।

आर्चा उत्तर देते हैं–

भा० – किं पुनः कारणं पारिभाषिके हेतौ न सिद्ध्यति?

ऐसा क्या कारण है जो पारिभाषिक हेतु में उपर्युक्त प्रयोग सिद्ध नहीं हो पा रहा है?

भा० – एवं मन्यते– चेतनावत एतद्भवति प्रेषणमध्येषणं चेति, भिक्षाश्चाऽचेतनाः।।

ऐसा समझा जा रहा है कि प्रेषण-अध्येषण रूप प्रवर्त्तना किसी चेतन (चेतनावान्) की ही हो सकती है। भिक्षा या अग्नि तो अचेतन हैं। वे किसी को कैसे प्रवृत्त कर सकती हैं?

भा० – नैष दोषः। नावश्यं स एव वासं प्रयोजयति य आह 'उष्यता'मिति।। किं तर्हि? तूष्णीमप्यासीनो यस्तत्समर्थान्याचरति[१] सोऽपि वासं प्रयोजयति। भिक्षाश्चापि प्रचुरा व्यञ्जनवत्यो लभ्यमाना वासं प्रयोजयन्ति। तथा कारीषोऽग्निर्निर्वाते एकान्ते सुप्रज्वलितोऽध्ययनं प्रयोजयति।।

नहीं! यह कोई दोष नहीं। पारिभाषिक हेतु में भी लक्ष्यसिद्धि हो ही जायेगी। यह कोई नियम नहीं है कि वही वास के लिये प्रेरित कर रहा है जो 'यहाँ रहियेगा' ऐसा बोलता है। तो क्या? जो चुप-चाप बैठा हुआ भी प्रयोज्य के अनुकूल आचरण करता है वह भी वास का प्रयोजक है। भिक्षायें भी जब प्रचुरमात्रा में और पुष्कलव्यजनों से युक्त प्राप्त होती हैं तो किसी (साधु-संन्यासी या ब्रह्मचारी) के वास का हेतु बन जाती हैं। तथा जो यह कण्डे की आग है– जब निर्वात एकान्त (शान्त) स्थान में अच्छी प्रकार जलती है तो यह भी एक अर्थ में किसी अध्ययनेच्छु को प्रेरणा देती है कि आओ भाई! मेरे पास आकर पढ़ो।

---

१. तत्समर्थाचारणम् = प्रयोज्यक्रियानुकूलाचरणम्। केवल प्रेषण-अध्येषण ही प्रयोजकव्यापार नहीं हैं बल्कि प्रयोज्य की क्रिया में जो अनुकूलाचरण है वह भी प्रयोजकव्यापार है, अतः वहाँ भी कृत्रिमहेतुता है ही।

भा०– इह कश्चित्कञ्चिदाह– 'पृच्छतु मा भवान् अनुयुङ्क्तां मा भवा'निति, अत्र णिच् कस्मान्न भवति ?

यहाँ कोई किसी से कहता है– 'मुझसे आप पूछिये' सो यहाँ णिच् किस हेतु से नहीं होता ?

भावी प्रष्टा प्रयोज्य है और इस समय जो उसका प्रेरक है, वह प्रयोजक हो जाता है, सो उसके व्यापार में णिच् क्यों नहीं होता– ऐसा प्रश्न है। जैसे– देवदत्त यज्ञदत्त से कहता है– 'मुझ (देवदत्त) से आप (यज्ञदत्त) कुछ पूछिये' यहाँ इस वाक्य को सुनकर, यज्ञदत्त देवदत्त से कुछ पूछेगा– सो वर्त्तमान में पूछने की प्रेरणा देने वाला अस्मत् शब्द से संकेतित, देवदत्त तो प्रयोजक हो गया। और इस प्रेरणा को पाकर बाद में पूछनेवाला भवच्छब्द से संकेतित यज्ञदत्त प्रयोज्य हो गया। इस प्रकार 'पृच्छतु मा भवान्' या 'अनुयुङ्क्तां मा भवान्' यहाँ प्रयुज्यमान लोडन्तशब्द में ही प्रयोजकव्यापार के होने से लोडन्तशब्द को णिच् सहित प्रयुक्त होना चाहिये। यह नागेश का मत है। कैयट के अनुसार 'प्रैषातिसर्ग०' (अ०– ३.२.१६३) सूत्र में चकार से समुच्चित 'लोट्' का प्रैष अर्थ में विधान होने से लोट् और णिच् के समानविषयक हो जाने से लोट् और णिच् का पर्याय प्राप्त होने लगेगा।

भा०– अकर्तृत्वात्। न ह्यसौ संप्रति पृच्छति। तूष्णीमास्ते।।

प्रष्टा के अकर्त्ता होने से णिच् नहीं होगा। क्योंकि स्वतन्त्र कर्त्ता के प्रयोजक की हेतु संज्ञा की गयी है। प्रयोज्य के कर्त्ता न होने से उसके प्रेरक (प्रयोजक) की हेतुसंज्ञा भी न हो सकेगी। णिच् का तो हेतु के व्यापार को कहने के लिये विधान किया गया है। वह (प्रयोज्य) कुछ भी तो नहीं पूछ रहा है। वह तो चुप-चाप बैठा है। ऐसी स्थिति में उस प्रयोज्य का तो कारकत्व भी नहीं है– कारकत्व के विशेषधर्म कर्तृत्व की तो बात ही क्या ? यह कहना चाहिये कि यहाँ उस (प्रयोज्य) के कर्तृत्व का विधानमात्र ही किया जा रहा है– 'प्रश्नक्रियाया: कर्त्ता त्वं भव'।

भा०– किं च भो:, वर्त्तमानकालाया एव क्रियाया: कर्त्ता भवितव्यम्, न भूतभविष्यत्कालाया: ?

क्यों जी ! क्या वर्त्तमानकाल सम्बन्धी क्रिया का ही कर्त्ता हो सकता है ? क्या ऐसा नहीं कि भूत-भविष्यत् काल वाली क्रिया का भी कर्त्ता हो जाता है ?

भा०– भूतभविष्यत्कालाया अपि भवितव्यम्। अभिसंबन्धस्तत्र क्रियते 'इमां क्रियामकार्षीदिमां क्रियां करिष्यतीति'।

हाँ ! अवश्य ही भूत-भविष्य कालवाली क्रिया का भी कर्त्ता हो सकता है। लेकिन उस भूतकालिक या भाविक्रिया के साथ कर्त्ता का बुद्धिकृत भूत या भावी अभिसंबन्ध का प्रतिपादन किया जाता है। जैसे– (स:)

इमां क्रियामकार्षीत् (उसने इस क्रिया को किया, अर्थात् भूतकाल में निष्पन्न हुयी इस क्रिया का वह कर्त्ता था।)----- करिष्यति (वह इस क्रिया को करेगा अर्थात् भविष्यत् में सम्पन्न होने वाली इस क्रिया का वह कर्त्ता बनेगा।) अभिसम्बन्ध (क्रिया के साथ कर्त्ता का)।

भा०– इह पुनर्न कश्चिदभिसंबन्धः क्रियते। न चाऽसौ संप्रति पृच्छति, न चाऽसौ प्रक्ष्यति। तूष्णीमास्ते।।

पर यहाँ 'पृचछतु मा भवान्' इस प्रयोज्य के प्रेरणाप्रसङ्ग में तो पूछने की क्रिया के साथ कर्त्ता का कोई भी वैसा अभिसंबन्ध स्थापित नहीं किया जा रहा। लोडन्तप्रयोग के द्वारा की गयी प्रेरणा के विना तो वह (प्रयोज्य) न तो अभी पूछ रहा है और न ही वह आगे पूछेगा। वह तो बस, चुप-चाप बैठा हुआ है।

भा०– यदि तर्हि कर्त्ता नास्ति कथं तर्हि कर्त्तृप्रत्ययेन लोटाऽभिधीयते?

आपने अभी यह स्थापना की कि जिसे (यज्ञदत्त को) हम प्रयोज्य कह रहे हैं वह पूछने की क्रिया का कर्त्ता नहीं है। लेकिन इस कथन पर यह आपत्ति है कि यदि वह कर्त्ता नहीं है तो 'लः कर्मणि च भावे०' (अ०– ३.४.६२) सूत्र द्वारा विहित कर्त्तृप्रत्यय लोट् के द्वारा उसका अभिधान कैसे हो रहा है?

भा०– अथ कथमस्मिन्नपृच्छत्ययं प्रच्छिर्वर्त्तते?

प्रतिबन्धि[१] के द्वारा उत्तर देने के लिये समाधाता आक्षेप्ता से ही उल्टा पूछता है। अच्छा हमें यह बता दो– कि जब वह पूछ ही नहीं रहा तो पूछने वाले के अभाव में तो प्रच्छधातु का प्रयोग ही असंभव है, सो यह 'प्रच्छ' धातु इस विषय में प्रयुक्त कैसे हो रही है? समाधाता यह कहना चाहता है कि जैसे पूछने वाला न होने पर भी प्रछ धातु का व्यवहार हो रहा है– वैसे ही पूछने की क्रिया का कर्त्ता न होने पर भी कर्त्तृप्रत्यय लोट् के द्वारा उसका अभिधान हो जायेगा।

आक्षेप्ता उत्तर देता है–

भा०– अभिसंबन्धस्तत्र क्रियते– 'इमां क्रियां कुर्विति'।

वहाँ तो पृच्छतिक्रिया के साथ (कर्त्ता का) अभिसंबन्ध किया जा रहा है कि– (तुम) इस (पूछने की) क्रिया को करो।

'बौद्धप्रतिभास एव शब्दार्थेः न तु वस्त्वर्थः' इस व्याकरण सिद्धान्त के अनुसार बाह्य वस्तुरूप में कोई चीज न हो तो भी शशविषाण खपुष्प आदि की भाँति बुद्धि के द्वारा विषय बनाकर शब्दप्रयोग हो जाता है। सो पूछने की क्रिया के बाह्यरूप में अविद्यमान होते हुये भी बुद्धि में ही उस क्रिया को मानते हुये उस क्रिया के साथ कर्त्ता का संबन्ध कर दिया गया है।

---

१. आक्षेप; ऐसा तर्क जो विपक्ष पर समान रूप से प्रभाव डाले। प्रतिपक्षी ने जो हेतु दिया, उसी हेतु को उसका मुँह बन्द करने के लिये जिस वाक्य में प्रयुक्त किया जाता है– उसे प्रतिबन्धी कहते हैं।

भा०– कर्त्राऽपि तर्ह्यभिसंबन्धः क्रियते।। कथम्? 'कर्त्ता चाऽस्याः क्रियाया भवे'ति।

समाधाता कहता है– यदि बौद्ध-सत्ता को लेकर ही संबन्ध स्थापित करने की बात है तब तो कर्त्ता के साथ भी क्रिया का संबन्ध कर दिया जाता है कि (तुम) इस क्रिया के कर्त्ता हो जाओं। इस प्रकार कर्तृप्रत्यय लोट् के द्वारा उसका अभिधान युक्त ही है। 'अकर्तृत्वात्' इस उपपादित हेतु का उपसंहार करते हैं–

भा०– एवं न च कर्त्ता, कर्तृप्रत्ययेन च लोटाऽभिधीयते।।

इस प्रकार (अभिसंबन्ध से पूर्व) कर्त्ता नहीं है, क्योंकि वही तो आधीयमान (विधीयमान) है, यहाँ कर्तृप्रत्यय लोट् के द्वारा अकर्त्तारूप (द्रव्यमात्र का ही) कथन किया जाता है।

भाव यह है– अन्यत्र लोट् प्रत्यय के कर्तृबोधक होने पर भी प्रकृत में कर्तृत्व के ही विधेय होने से लोट् के द्वारा कर्तृत्व का अभिधान नहीं किया जाता किन्तु कर्तृत्वरहित द्रव्यमात्र का ही प्रैष अभिहित होता है। जैसा कि हरि ने भी कहा है–

द्रव्यमात्रस्य तु प्रैषे पृच्छ्यादेर्लोड्विधीयते।

सक्रियस्य प्रयोगस्तु[1] यदा स विषयो णिचः।। (वा०प० सा० समु० १२६)

अर्थात् कर्तृत्वरहित द्रव्यमात्र के प्रैष का अभिधान करने में 'पृच्छि' इत्यादि धातुओं से लोट् का विधान किया जाता है। लेकिन जब प्रवृत्तक्रियावाले सक्रिय द्रव्य अर्थात् प्रयोज्यकर्त्ता के रूप में उपस्थित द्रव्य का प्रयोग (प्रयोज्य कर्त्ता को प्रैष) होता है, तब वह णिच् का विषय हो जाता है।

भा०– अथाऽपि कथंचित्कर्त्ता[2] स्यादेवमपि न दोषः। लोटोक्तत्वात्[3] प्रैषस्य णिज्न भविष्यति।

---

१. प्रयोगः = प्रैष इत्यर्थः।

२. प्रयोज्य इति शेषः।

३. लोटैवोक्तत्वादित्यर्थः– अयमभिप्रायः, यदा प्रयोज्यस्य लकारवाच्यतया प्राधान्यमभिधित्सितं तदा प्रयोजकस्य प्रैषे लोड्भवति। यथा हे बालक! त्वं पठ। प्रयोजकस्य तथा तदभिधित्सायां सत्यां तु प्रयोजकस्य प्रैषे णिज्भवतीति व्यवस्था। यथा हे देवदत्त! त्वं बालकं पाठय।

विधीयन्ते ह्येतेष्वर्थेषु प्रैषादिषु लोडादयः।

यत्र च द्वितीयः[१] प्रयोज्योऽर्थो भवति, भवति तत्र णिच्।[२] तद्यथा– आसय, शाययेति।।

एक क्षण के लिये इस प्रकार के (प्रयोज्य) कर्त्ता का भी जहाँ कि कर्त्तृत्व सिद्ध नहीं है बल्कि विधेय है, (जिसके कि कर्त्तृत्व का अभी-अभी विधान किया जा रहा है) उसका भी यदि हेतुसंज्ञासूत्र (अ०– १.४.५५) में तत्शब्द से ग्रहण मान लिया जाये तो भी कोई दोष नहीं है। क्योंकि प्रैष लोट् के द्वारा ही कह दिया गया है। सो 'उक्तार्थानामप्रयोगः' इस न्याय से उस प्रैष अर्थ को कहने के लिये पुनः णिच् नहीं होगा। इन प्रैषादि अर्थों में (प्रैषातिसर्ग० अ०– ३.३.१६३) इत्यादि सूत्रों से लोडादि का विधान तो किया ही गया है। किन्तु जहाँ दूसरा प्रयोज्य अर्थ होता है वहाँ तो णिच् हो ही जाता है। जैसे कि आसय, शायय इत्यादि में। अर्थात् प्रयोजक व्यापाररूप होता हुआ भी ण्यर्थ (प्रैष) जब अन्य लोडर्थक (प्रैष) की अपेक्षा से प्रयोज्य (प्रेर्यरूप अर्थ) बन जाता है तब णिच् और लोट् का समावेश हो जाता है।

सार यह है, कि प्रयोज्य बने हुये द्रव्यमात्र को प्रैष देने में लोट् होता है जैसे कि 'पठ'। और उस द्रव्यमात्र के प्रयोजक जो कि अब किसी अन्य प्रयोजक की दृष्टि में प्रयोज्य बन गया है। उस प्रयोजक के व्यापार को कहने में णिच् और उसका भी जो प्रयोजक उसके प्रैष को कहने के लिये लोट् हुआ करता है। जैसे कि, बालक को जब देवदत्त पढ़ने के लिये प्रेरित करता है, तो उस समय वह बालक पठन-क्रिया का कर्त्ता बना हुआ नहीं होता, अर्थात् उस समय वह एक कर्त्तृत्वरहित = द्रव्यमात्र होता है, उसे देवदत्त प्रैष देता है कि 'पढ़ो' (पठ)। सो इस प्रकार बालक का प्रयोजक बना हुआ जो देवदत्त उसका जो प्रैषभूत अर्थ है उसे कहने में यहाँ लोट् हो गया है। अब यदि देवदत्त (प्रयोजक) का भी प्रयोजक बन कर गुरु उपस्थित हो जाता है तो देवदत्त के व्यापार को कहने के लिये णिच् आ जाता है और वहीं गुरु के व्यापार को कहने के लिये लोट् भी आ जाता है। अर्थात् देवदत्त बालक को कह रहा है कि 'पठ' (पढो), और गुरु देवदत्त को कह रहा है कि 'पाठय' बालकम् (पढ़ाओ)।

---

१. द्वितीयप्रेरणारूपोऽर्थो यत्र प्रयोज्यो भवतीत्यर्थः। तत्र 'आस्स्वे'ति प्रथमा प्रेरणा, आसयेति द्वितीयेति भावः। 'आस्स्वे'ति प्रेरणां कुर्वन्नपि यदा प्रेर्यते, 'त्वं ह्यासितुं प्रेरये'ति त्वमासय (देवदत्तम्, इमान् वा)। 'शेष्वे'ति प्रेरणां कुर्वन्नपि यदा प्रेर्यते, 'त्वं शयितुं प्रेरये'ति शायय त्वं तं बालकम्।

२. प्रथमप्रयोजकव्यापार इति शेषः =प्रथमप्रयोजकव्यापारे णिज्भवति। प्रथमप्रयोजको (हे देवदत्त! त्वं पाठय) हि तत्र लेनाऽभिधीयते। तत्र द्वितीयप्रयोजकव्यापारे तु लोडेव भवति, तदाश्रयस्य (व्यापाराश्रयस्य गुरोः) लकारेणाऽनभिधानात्।

वा० – ❋ कृष्यादिषु चानुपपत्तिः ❋।।

भाष्यम्– कृष्यादिषु चानुपपत्तिर्वक्तव्या[१]। एकान्ते तूष्णीमासीन उच्यते– 'पञ्चभिर्हलैः कृषती'ति। तत्र भवितव्यं[२], 'पञ्चभिर्हलैः कर्षयती'ति।।

अब अतिप्रसङ्गपरिहार के लिये वार्त्तिककार कहते हैं– 'कृषि' इत्यादि धातुओं के प्रयोग में 'णिच्' की अनुत्पत्ति कहनी चाहिये। एकान्त में शान्त, चुप बैठे हुये व्यक्ति के लिये यह प्रयोग होता है– 'पञ्चभिर्हलैः कृषति'। जो व्यक्ति एकान्त में बैठा है उसका पांच हलों की तो बात ही क्या, एक हल के द्वारा भी भूमि जोतने (कर्षण) में कर्त्तृत्व के असम्भव होने से यही मानना पडेगा कि, वह पांच हलों के द्वारा कृषि करने के काम में प्रयोजक बना हुआ है, दूसरों से उस काम को करवा रहा है। किन्तु प्रयोग 'कर्षति' ही देखा जाता है। पर न्याय से 'कर्षयति' ऐसा प्राप्त होता है। सो न्यायप्राप्त णिच् का प्रतिषेध कहना चाहिये।

वा० – ❋ कृष्यादिषु चानुत्पत्तिर्नानाक्रियाणां कृष्यर्थत्वात् ❋।।३।।

कृष्यादिषु चानुत्पत्तिः सिद्धा।। कुतः? 'नानाक्रियाणां कृष्यर्थत्वात्'। नाना क्रियाः कृषेरर्थाः। नाऽवश्यं कृषिर्विलेखन एव वर्त्तते।। किं तर्हि? प्रतिविधानेऽपि वर्त्तते। यदसौ भक्तबीजबलीवर्दैः प्रतिविधानं करोति स कृष्यर्थः। आतश्च प्रतिविधानेऽपि वर्त्तते, यदहरेवाऽसौ न प्रतिविधत्ते तदहरेव तत्कर्म न प्रवर्त्तते।।

कृष्यादि धातुओं के प्रयोग में णिच् की अनुत्पत्ति सिद्ध है। कैसे? नाना क्रियाओं (अनेक क्रियाओं) के 'कृष्' धातु का अर्थ होने से। 'कृष्'–धातु के अर्थ अनेक क्रियायें हैं। कृष्-धातु केवल एक विलेखन अर्थ में ही वर्त्तमान नहीं है। तो क्या? प्रतिविधान[३] अर्थ में भी वर्त्तमान है। जो वह (स्वामी के रूप में बैठा हुआ व्यक्ति) भात-बीज और बलीवर्दों (बळद) के द्वारा प्रतिविधान (प्रबन्ध) करता है, वह भी कृष् धातु का अर्थ है। निश्चितरूप से प्रतिविधान में भी वर्त्तमान है। जिस दिन ही वह तत्समर्थाचरण (प्रयोज्यक्रिया के अनुकूल आचरण) भातादि का प्रबन्ध नहीं कर पाता, उसी दिन वह कर्म (कृष्यर्थफल = विलेखन) प्रवृत्त नहीं होता। जब 'कृष्' धातु शुद्ध विलेखन अर्थ में वर्त्तमान होती है तब तो 'पञ्चभिर्हलैः कर्षयति' ऐसा णिजन्त प्रयोग होता ही है।

वा० – यज्यादिषु चाऽविपर्यासः।

भा० – यज्यादिषु चाऽविपर्यासो वक्तव्यः। 'पुष्यमित्रो यजते, याजकाः याजयन्ति' इति। तत्र भवितव्यं– 'पुष्यमित्रो याजयते, याजकाः यजन्ति' इति।।

---

१. णिच् इति शेषः। २. तत्र भवितव्यं, पञ्चभिर्हलैः कर्षयतीति-प्रतिषेधाऽनारम्भ इति शेषः।

३. प्रतिविधानं तत्समर्थाचारणमिति प्रदीपपर्यालोचनया प्रतीयते।

उक्तं हि कैयटे– अनेकार्थत्वाद्धातूनां कृषिरेव प्रयोजकव्यापारे तत्समर्थाचरणलक्षणे वर्त्तत इति शेषः।

'यजि' इत्यादि धातुओं के प्रयोग में अविपर्यास (विपरीत प्रयोग का अभाव) कहना चाहिये। 'पुष्यमित्रो यजते, याजका याजयन्ति। यज् धातु प्रक्षेपविशेषवाची[१] है और प्रक्षेप में ऋत्विज् अर्थात् याजक कर्त्ता हुआ करता है, इसलिये अब यजमान के उन ऋत्विजों का प्रयोजक कर्त्ता होने से णिच् प्राप्त होता है– इस हेतु से; ऐसे प्रसङ्गों में इष्टप्रयोगसिद्धि के लिये, णिच् प्रसङ्ग वारण के लिये विपर्यास व्यावृत्ति परक कोई वचन बनाना चाहिये। यदि 'यजि' इत्यादि के विषय में अविपर्यास सिद्धि का हेतु उक्त वचन नहीं बनाया जायेगा तो 'पुष्यमित्रो याजयते याजका यजन्ति' ऐसा अनिष्ट प्रयोग प्राप्त होने लगेगा। या यह कहें– 'यजमानो (पुष्यमित्र:) याजकान् याजयति'– ऐसा अनिष्ट वाक्य बनने लगेगा।

वा०– * यज्यादिषु चाऽविपर्यासो नानाक्रियाणां यज्यर्थत्वात्।। *।।

भाष्यम्– यज्यादिषु चाऽविपर्यास: सिद्ध:।। कुत: ?।।४।।

'नानाक्रियाणां यज्यर्थत्वात्'। नानाक्रिया यजेरर्था:। नाऽवश्यं यजिर्हवि: प्रक्षेपण एव वर्त्तते।। किं तर्हि? त्यागेऽपि वर्त्तते। तद्यथा– 'अहो यजत' इत्युच्यते य: सुष्ठु त्यागं करोति। तं च पुष्यमित्र: करोति, याजका: प्रयोजयन्ति।।

'यजि' इत्यादियों में अविपर्यास सिद्ध है। कैसे? नाना क्रियायें यज् धातु का अर्थ होने से। अनेक क्रियायें यज् धातु के अर्थ हैं। यजि: (यज् धातु) एकान्तत: (अवश्य ही) हवि: प्रेक्षपण अर्थ में ही वर्त्तमान नहीं है। तो क्या? त्याग[२] अर्थ में भी वर्त्तमान है। जैसे कि 'अहो यजते'– ऐसा उस समय या उस व्यक्ति के लिये कहा जाता है जब कोई व्यक्ति अच्छी प्रकार से त्याग करता है। उस त्याग को यजमान बनकर पुष्यमित्र कर रहा है और याजक अर्थात् ऋत्विक् लोग (पुष्यमित्र से वह त्याग कराने में) प्रयोजक बने हुये हैं।

'नानाक्रिया यजेरर्था:'– इसका भाव यह है, त्यागार्थक यज् धातु के आश्रय से जो यजमानकर्त्तृक 'यजते' इस रूप में प्रयोग होता है, उससे विपरीत 'याजयते' इस रूप में प्रक्षेपवाची के आश्रय से जानना चाहिये। वार्त्तिकस्थ 'अविपर्यास' पद के द्वारा इष्ट प्रयोग सिद्धि मात्र अर्थ अभिप्रेत है, न कि विपरीतप्रयोगव्यावृत्ति भी।

वा०– * तत्करोतीत्युपसंख्यानं सूत्रयत्याद्यर्थम्।।५।। *

भाष्यम्– तत्करोतीत्युसंख्यानं कर्त्तव्यम्।। किं प्रयोजनम्?

'सूत्रयत्याद्यर्थम्'। सूत्रं करोति सूत्रयति।।

---

१. देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागपूर्वके-आहवनीये हवि: प्रक्षेपो यज्यर्थ:।

२. तथा च मुख्यत्यागवचनाश्रयणे यजमानस्य कर्त्तृत्वम्, ऋत्विजां च प्रयोजकत्वमिति न विपर्यासप्रसक्तिरिति भाव:।

वार्त्तिक में 'तत्' यह प्रातिपदिक का उपलक्षण है। और 'करोति' यह धात्वर्थ का। यह नागेश का मत है। काशिका के व्याख्याता न्यासकार व पदमञ्जरीकार 'तत्' इस पद को कर्मपरक निर्देश मानते हैं। उनके अनुसार कर्म प्रातिपदिक से 'करोति' इस अर्थ में 'णिच्' का उपसंख्यान करना चाहिये। नागेश के अनुसार प्रातिपदिकमात्र (चाहे वह कर्म-करण किसी भी रूप में प्रयुक्त हो रहा हो) से धात्वर्थमात्र में णिच् कहना चाहिये। नागेश के मत के अनुसार तेन अतिक्रामति (धातु० चु० ३४०) प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे (धातु० चु० ३३७) इत्यादि गणसूत्र तथा सूत्र व मूत्र धातु ये सब प्रक्षिप्त हैं।

किस प्रयोजन के लिये उपसंख्यान करना चाहिये? 'सूत्रयति' इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि के लिये। सूत्रं करोति सूत्रयति। (इसी प्रकार मूत्रं करोति मूत्रयति इत्यादि)

भाष्यम्– इह व्याकरणस्य सूत्रं करोति व्याकरणं सूत्रयति, इति वाक्ये षष्ठी, उत्पन्ने च प्रत्यये द्वितीया, केनैतदेवं भवति?

यहाँ 'व्याकरणस्य सूत्रं करोति, व्याकरणं सूत्रयति' (व्याकरणं करोतीत्यर्थः) इस प्रयोग में व्याकरण शब्द से वाक्य में तो षष्ठी सुनायी पड रही है और (णिच्) प्रत्यय से उत्पन्न होने पर द्वितीया हो जाती है। किस नियम से ऐसा होता है?

पस्पशा में बताया गया है– व्याकरण शब्द का अर्थ लक्ष्य[१] भी होता है और लक्षणसमुदाय[१] भी। ऐसी स्थिति में भेदनिबंधनाषष्ठी होने में कोई बाधा नहीं है। पर जब प्रतिसूत्र के लिये व्याकरण शब्द का व्यवहार होता है तो व्यपदेशिवद्भाव[२] से षष्ठी हो जायेगी। लेकिन जब व्यपदेशिवद्भाव का भी आश्रयण नहीं करेंगे तो 'व्याकरणं सूत्रं करोति' ऐसा सामानाधिकरण्य मानकर 'मुण्डयति माणवकम्' की भाँति 'व्याकरणं सूत्रयति'[३] यह भी हो जायेगा।

भा०– योऽसौ सूत्रव्याकरणयोरभिसंबन्धः स उत्पन्ने प्रत्यये निवर्तते, अस्ति च करोतेर्व्याकरणेन सामर्थ्यमिति कृत्वा द्वितीया भविष्यति।।

---

१. व्याकरणशब्द का जब लक्ष्य अर्थ है तो 'कृत्यल्युटो०' (अ०– ३.३.११३) से कर्मल्युडन्त मानना होगा– व्याक्रियते यत् तद् व्याकरणम्। किन्तु जब यह अष्टाध्यायी रूप लक्षणसमुदाय अर्थ का वाचक है तो 'करणाधिकरणयोश्च' (अ०– ३.३.११७) से करणल्युडन्त है– व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति।

२. व्यपदेशिवदेकस्मिन्। (पारि० ३१)

३. भवति हि गमकत्वे सापेक्षस्यापि वृत्तिः। (गमक होने पर सापेक्ष की भी वृत्ति हो जाया करती है।)

जो वह सूत्र और व्याकरण का (अवयवावयविभाव) अभिसंबन्ध है वह (णिच्) प्रत्यय के उत्पन्न होने पर निवृत्त हो जाता है और क्रिया-कारकसंबन्ध उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार करोत्यर्थ का व्याकरण के साथ सामर्थ्य[४] (संबन्ध) तो संबन्ध तो बना ही हुआ है। सो उस करोत्यर्थ की अपेक्षा से व्याकरण के कर्म से उसमें द्वितीया उपपन्न हो जायेगी।

इदं-तद् इत्यादि सर्वनामपरामर्शयोग्य वस्तु के सूत्रशब्द से अभिधान होने से वाक्य में व्याकरण और सूत्र के अभिसंबन्ध में षष्ठी युक्त है। लेकिन वृत्ति में तो सत्वाभाव (द्रव्यरूपता) का परित्याग हो जाने से सूत्रशब्द करोत्यर्थाभिधायी (करोत्यर्थ विशेषणीभूत साध्यावस्थ स्वार्थाभिधायी) संपन्न हो गया। जैसा कि कहा भी है– 'परार्थाभिधानं वृत्तिः' (पारि० १५४)- वृत्ति के द्वारा विग्रहवाक्य से पृथग्भूत एक अन्य ही अर्थ का अभिधान किया जाता है। यह सब कथन प्रक्रियागत विभाग का आश्रय लेकर हुआ है। नित्यशब्द दर्शन में तो 'सूत्रयति' यहाँ अवयवार्थ के अभाव होने से शङ्का ही नहीं है।

शिवरामेन्द्र सरस्वती ने प्रकृत भाष्य की कैयट की अपेक्षा कुछ सरल व्याख्या की है। उनका कहना है– व्याकरण और सूत्र का जो अवयवाऽवयविभाव संबन्ध है, वह प्रत्यय उत्पन्न होने पर निवृत्त हो जाता है। 'सूत्रयति' यहाँ सूत्रशब्दार्थ का परित्यागपूर्वक केवल णिजर्थमात्र (करोत्यर्थमात्र) ही विवक्षित रहता है। क्योंकि सूत्रशब्दार्थ की भी यदि विवक्षा रखी जायेगी तो (वह सूत्र किस का?) इस रूप में सापेक्ष हो जाने से उससे णिच् ही नहीं हो सकेगा। इसलिये उनके अनुसार 'व्याकरणं सूत्रयति' का अर्थ है 'व्याकरणं करोति।' वे अपनी बात की पुष्टि में, एक उदाहरण देते हैं कि जैसे 'आरोहयते हस्ती स्वयमेव' इस प्रयोग में णिच् के हेतुमान् अर्थ में किये जाने पर भी उक्त प्रयोग सौकर्यातिशय विवक्षा में धातु को निवृत्तप्रेषण मानकर हेतुमान् अर्थ की अविवक्षा में निष्पन्न होता है– तद्वत् 'व्याकरणं सूत्रयति' यहाँ प्रकृतिरूप सूत्र शब्दार्थ की अविवक्षा करने पर करोति के ही समानार्थक जो सूत्रयति प्रयोग बनता है उसके योग में 'व्याकरणं' में द्वितीया सिद्ध हो जायेगी।

वा०– ⁂ आख्यानात्कृतस्तदाचष्ट इति कृल्लुक्प्रकृतिप्रत्यापत्तिः प्रकृतिवच्च कारकम्।।६।। ⁂

भाष्यम्– आख्यानात्कृदन्ताण्णिज्वक्तव्यस्तदाचष्ट इत्येतस्मिन्नर्थे। कृल्लुक्प्रकृतिप्रत्यापत्तिः प्रकृतिवच्च कारकं भवतीति वक्तव्यम्। कंसवधमाचष्टे कंसं घातयति। बलिबन्धमाचष्टे बलिं बन्धयति।

'आख्यायत इत्याख्यानम्'– 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (अ०– ३.३.११३)

---

४. 'करोत्यर्थव्यापारजन्य-उत्पत्तिरूपफलाश्रयत्वम्' इत्यर्थः।

बहुलवचन से कर्म में ल्युट् है। भाव में ल्युट् मानेंगे तो 'आचष्टे' क्रिया का वह कर्म नहीं बन सकेगा। जिस किसी का भी आख्यान = व्याख्यान किया जाता है, वे सब 'राजागमनम्' इत्यादि, यहाँ आख्यान शब्द से अभिप्रेत हैं– न कि केवल कंसवध, नलोपाख्यान इत्यादि प्रसिद्ध संज्ञाभूत आख्यान ही। स्वामी दयानन्द के अनुसार जिस किसी का लोप-आगम-वर्णविकारत्वेन आख्यान किया जाता है– वह यहाँ यौगिक आख्यान शब्द हैं (लोप-आगम-वर्णविकारत्वेनाख्यायते = व्याख्यायते तदाख्यानं यौगिकम्)। 'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्' (पारि० २९) इस नियम से 'कंसवध-राजागमन-सूर्योद्गमन'- इत्यादि को भी कृदन्त ही माना जायेगा। आख्यानवाचियौगिककृदन्त प्रातिपदिक से तदाचष्टे (द्वितीया समर्थ से, आचष्टे इस अर्थ में) णिच् प्रत्यय होता है। कृत्प्रत्यय का लुक् हो जाता है। प्रकृतिप्रत्यापत्तिः = कृत् की जो प्रकृति है वह विकारभाव को छोड़कर अपने शुद्ध रूप को प्राप्त हो जाती है। प्रकृतिवच्च कारकम् = कृत्प्रत्यय की प्रकृति हन् आदि धातु का शुद्ध णिच् में जैसा कारक द्वितीयाद्यन्त और धातु में मिला हुआ न होकर धातु से पृथग्भूत रहता है वैसा ही इस ण्यन्त का भी होता है। जैसे– कंसस्य वधः, कंसवधः, तमाचष्टे कंसं घातयति। तथा बलेर्बन्धम् (बन्धनम्) आचष्टे बलिं बन्धयति। इन दोनों उदाहरणो में 'कर्तृकर्मणोः कृति' (अ०– २.३.६५) से कर्म में षष्ठी है। 'कृद्योगा च षष्ठी समस्यते' (म.भा.वा. २.२.८) इस वार्त्तिक से समास हो रहा है। 'वधः' यहाँ 'हनश्च वधः' (अ०– ३.३.७६) से अप् प्रत्यय और 'वध' आदेश हुआ है। 'कंसवध' से णिच् होने पर, कृत्प्रत्यय का लुक् हो गया। प्रकृति की प्रत्यापत्ति अर्थात् वधादेश का परित्याग करके 'हन्' रूप में अवस्थान हो गया। कृत्प्रत्यय की प्रकृति 'हन्' से शुद्ध णिच् करने पर जैसे धातु से पृथग्भूत व द्वितीया कारक का प्रयोग प्राप्त है, वही यहाँ भी हो गया। यद्यपि प्रकृतिप्रत्यापत्ति के विना भी 'संनियोगशिष्टानामन्यतराभावे उभयोरप्यभावः' (पारि० ७६) इस नियम से कृत् लुक् होने पर कृत् संनियोगशिष्ट वधादेश भी अपने आप निवृत्त हो जायेगा, तथापि 'नलपाकमाचष्टे, नलेन पाचयति, राजयोगमाचष्टे राज्ञा योजयति' इत्यादि में कुत्वादिनिवृत्ति के लिये प्रकृतिप्रत्यापत्तिवचन की सार्थकता है। क्योंकि यहाँ कुत्व संनियोगशिष्ट नहीं है। एक और उदाहरण लेते हैं– राज्ञ आगमनम्-राजागमनम्-तदाचष्टे राजानमागमयति। 'राज्ञः'– यहाँ 'कर्तृकर्मणोः कृति' से पूर्ववत् कर्त्ता में षष्ठी होकर षष्ठीसूत्रस्थ 'कृद्योगा च०' वार्त्तिक से आगमन के साथ समास हो गया है। यहाँ कृत् की प्रकृति 'गम्' धातु के प्रयोग में राजा कर्त्ता है, उसकी गम् धातु से शुद्ध णिच् में 'गतिबुद्धि०' (अ०– १.४.५२) सूत्र से कर्मसंज्ञा हो जाती है। सो इस औपसंख्यानिक णिच् में भी उसी प्रकार कर्मसंज्ञा हो जायेगी। यहाँ देवदत्तपाकमाचष्टे इस विवक्षा में देवदत्तपाकशब्द से णिच् करने पर 'देवदत्तेन पाचयति' ऐसा प्रयोग होता है। पच् धातु से शुद्ध णिच् में कर्मसंज्ञा नहीं है, क्योंकि 'गतिबुद्धि०' इत्यादि धातुओं के ही प्रयोज्यकर्त्ता की कर्मसंज्ञा का नियम किया हुआ है। इसलिये कर्तृसंज्ञा ही बने रहने से और 'ल' के द्वारा उसके अनभिहित भी होने से 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' (२.३.१८) से तृतीया हो जाती है।

वार्त्तिकस्थ 'प्रकृतिवच्च कारकम्' पद और भी विचार्य है। एक बात तो यह देखनी है कि प्रकृतिवत् यहाँ 'प्रकृत्या तुल्यं वर्त्तते' इस रूप में तृतीयान्त[1] से वति प्रत्यय है, या प्रकृताविव प्रकृतिवत् इस रूप में सप्तम्यन्त[2] से अथवा प्रकृतेरिव प्रकृतिवत्-षष्ठ्यन्त[2] से। तृतीयान्त से वति मानने पर अर्थ होगा– णिच् की जो प्रकृति कंसवधादि है उसकी आख्यानक्रिया में जो कारकता है उसके तुल्य ही कंसादि कारक होते हैं। इस व्याख्या में 'देवदत्तपाकमाचष्टे देवदत्तेन पाचयति' यह उदाहरण संग्रहीत नहीं हो पायेगा– क्योंकि आख्यानक्रिया की अपेक्षा से देवदत्तपाक का कर्मत्व है, सो णिज् करने पर देवदत्त का भी कर्मत्व ही प्राप्त होगा, जब कि यहाँ उसका कर्त्तृत्व चाहते हैं। इसका समाधान कैयट ने 'वत्करणात् स्वाश्रयमपि भवति' कहकर किया है। अर्थात् 'प्रकृतिवत्' यहाँ वत्करण से कहे स्वाश्रय कार्य भी हो जाया करेंगे। अतिदेशप्राप्त कर्मत्व को लक्ष्यानुसार कहीं मान लेंगे तो कहीं नहीं मानेंगे। इसके साथ 'प्रकृताविव प्रकृतिवत्' यह अतिदेश भी रखेंगे और यहाँ प्रकृतिशब्द से णिच् की प्रकृति लेकर कृत् की प्रकृति का ग्रहण करेंगे अर्थात् कृत् की प्रकृति में जैसे कंसादि का अनन्तर्भाव है तथैव कृदन्तप्रकृतिक णिजन्त में भी उसका अनन्तर्भाव रहेगा। अन्त में कैयट ने ''प्रकृत्या तुल्यं वर्त्तते प्रकृतिवत्'', तथा ''प्रकृतेरिव प्रकृतिवत्''– उभयथा अतिदेश का आश्रय करके लक्ष्यानुसार कहीं एक तो कहीं दूसरे का आश्रय लिया जायेगा– ऐसा निर्णय दिया। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने तो कैयट के व्याख्यान को दूषित किया ही है, नागेश ने भी दो अतिदेशों का आश्रय लेकर समाधान करने को गौरवदोष से दूषित कहा है। इस व्यवस्था में अर्थकृत वैरूप्य तो होगा ही, अर्थात् प्रकृतिवत् शब्द के दो अर्थ करने पडेंगे। इसलिये नागेश ने अपना सुझाव दिया कि– 'प्रकृतिवच्चेत्यस्य कृत्प्रकृतेर्हन्त्यादेर्ण्यन्तत्वे तथा कारकं द्वितीयाद्यन्तं धातावनन्तर्भूतं च तथेत्यर्थ उचित:'। नागेश का भाव है– 'प्रकृतेरिव प्रकृतिवत्' ऐसा एक ही अतिदेश पर्याप्त है। हाँ! बस इतना करना है कि लक्ष्यानुरोध से 'ण्यन्तत्वे' का अध्याहार कर लिया जायेगा अर्थात् कृत् की प्रकृति जो 'हन्' इत्यादि उसके ण्यन्त होने पर जो कारक द्वितीयाद्यन्त तथा धातु से अनन्तर्भूत (पृथग्भूत) होता है वैसा ही प्रकृति में भी होता है। 'प्रकृतिप्रत्यापत्ति:' यहाँ भी प्रकृतिशब्द से कृत् की प्रकृति अर्थ लिया गया है– इसलिये 'प्रकृतिवच्च कारकम्' के द्वारा भी वही अर्थ ग्रहण करना उचित है। पदमञ्जरीकार हरदत्तमिश्र और न्यासकार ने भी 'प्रकृतिवच्च कारकम्' का यही व्याख्यान किया है।

'प्रकृतिवच्च कारकम्' यहाँ 'च' को भिन्नक्रम मानकर 'प्रकृतिवत् कारकञ्च' च के द्वारा तद्वत् कार्य का भी अतिदेश किया जाता है। किञ्च ? कार्यञ्च। इसलिये 'घातयति' इत्यादि में कुत्व व तत्व (अ० - ७.३.५४- ७.३.३२) सिद्ध हो जायेंगे। अन्यथा 'धातो: कार्यमुच्यमानं०' (पारि० ७८) इस नियम से नहीं हो पायेंगे।

---

१. तेन तुल्यं क्रिया चेद्वति:। (अ०– ५.१.११४)

२. तत्र तस्येव (अ०– ५.१.११५)

वा०– आख्यानाच्च प्रतिषेधः।।७।।

भा०– आख्यानशब्दाच्च प्रतिषेधो वक्तव्यः। आख्यानमाचष्ट इति।

'आख्यानात्कृतस्तदाचष्टे' इस पूर्ववार्त्तिक की अतिव्याप्ति को रोकने के लिये यह वचन है। किसी आख्यान को बतानेवाला स्वयं आख्यानशब्द ही हो तो णिच् नहीं होता– ऐसा कहना चाहिये। जैसे– 'आख्यानमाचष्टे' इस विवक्षा में वाक्य ही रहेगा। यद्यपि भाष्य में 'आख्यानमाचष्टे' यह उदाहरण दिया है तथापि 'कंसाख्यानमाचष्टे' इत्यादि रूप में विवक्षा होने पर पूर्ववार्त्तिक से णिच् और उसके साथ विहित कृल्लुक् इत्यादि कार्य नहीं होंगे, ऐसा समझना चाहिये।

भा०– किं पुनर्यान्येतानि संज्ञाभूतान्याख्यानानि तत उत्पत्या भवितव्यम्, आहोस्वित्क्रियान्वाख्यानमात्रात्?

क्या जो ये संज्ञाभूत (कंसवध-नलोपाख्यानादिविशिष्ट संज्ञारूप से प्रसिद्ध) आख्यान हैं उनसे ही णिच् की उत्पत्ति होनी चाहिये अथवा क्रियाख्यानमात्र से?

भा०– किं चाऽतः?

इससे क्या कहना चाहते हैं?

भा०– यदि संज्ञाभूतेभ्यः, इह न प्राप्नोति-राजागमनमाचष्टे राजानमागमयतीति।।

यदि संज्ञाभूत प्रसिद्ध आख्यानों से ही णिजुत्पत्ति होती है, तब तो राजागमनमाचष्टे राजानमागमयति इत्यादि में णिच् प्राप्त नहीं होता।

भा०– अथ क्रियाख्यानमात्रात् (क्रियान्वाख्यानमात्रात्), न दोषो भवति। यथा न दोषस्तथाऽस्तु।।

और यदि राजागमन-देवदत्तपाक इत्यादि क्रियारूप किसी भी आख्यान से णिच् हो जाता है तब तो कोई दोष नहीं होता। अच्छा! फिर तो जिस प्रकार दोष नहीं होता वही पक्ष स्वीकार कर लेना चाहिये। जब हमें पता चल गया कि यह दोषपथ है तो उसे हम क्यों स्वीकार करें!

वा०– ❊ दृश्यर्थायां च प्रवृत्तौ।।८।। ❊

भाष्यम्– दृश्यर्थायां च प्रवृत्तौ कृदन्ताण्णिज्वक्तव्यस्तदाचष्ट इत्येतस्मिन्नर्थे कृल्लुक्प्रकृतिप्रत्यापत्तिः प्रकृतिवच्च कारकं भवतीति वक्तव्यम्। मृगरमणमाचष्टे मृगान् रमयतीति।।

दृश्यर्थायामिति किमर्थम्? यदा हि ग्रामे मृगरमणमाचष्टे मृगरमणमाचष्ट इत्येव तदा भवितव्यम्।।

'दृशि' यहाँ दृशिर्-प्रेक्षणे (धा.पा.भ्वादि० ७१४) से 'इक् कृष्यादिभ्यः' (म०भा०वा०– ३.३.१०९) से भाव में इक् प्रत्यय करके निर्देश है। दृशिः = दर्शनम्, अर्थः = प्रयोजनं यस्यास्तस्यां प्रवृत्तौ = व्यापार

इत्यर्थः। 'दृश्यर्थायाम्' यह प्रयोगानुसार मृगरमणादिविषय में ही समझना चाहिये। और प्रवृत्ति शब्द से आख्यानविषयवाली प्रवृत्ति ही ग्रहण करनी है। दर्शनार्थ प्रवृत्ति के गम्यमान होने पर कृदन्त से णिच् कहना चाहिये– 'तदाचष्टे' इस अर्थ में। तथा साथ में पूर्ववत् कृत् प्रत्यय का लुक्, प्रकृति की प्रत्यापत्ति अर्थात् जिस धातु से कृतसंज्ञक प्रत्यय किया है वह अपने स्वरूप को प्राप्त, और प्रकृतिवत् कारक अर्थात् उस धातु के अनुकूल कारक भी हो जाता है– यह भी कहना चाहिये। जैसे– मृगरमणमाचष्टे मृगान् रमयति। यहाँ मृगकारक और रमण कृदन्त शब्द हैं। उससे दर्शन अर्थ में णिच् प्रत्यय होने से, 'रमण' में जो रम धातु से ल्युट् प्रत्यय था उसका लुक् और रम धातु के अनुकूल मृग शब्द में द्वितीया विभक्ति होकर मृगान् रमयति यह प्रयोग बनता है। इस प्रकृत उदाहरण का अर्थ है– कोई आरण्यक पुरुष है उसने अरण्य में रमण करते हुये मृगों को देखा है, अब वह अपने परिचित व्यक्ति को उसी समय वहीं पर बता रहा है– 'महाराज! अमुष्मिन्नवकाशे एवंविधा मृगा रमन्ते' इस कथनरूप प्रवृत्ति का प्रयोजन है– महाराज को रममाण मृगों का जो कि बड़े ही दर्शनीय हैं साक्षाद् दर्शन हो जाये।

वार्त्तिक में 'दृश्यर्थायाम्'– ऐसा क्यों कहा? वह इसलिये कि जब कोई ग्राम में मृगों के रमणविषयक चर्चा करता है तो उस स्थिति में 'मृगरमणमाचष्टे'– ऐसा वाक्य ही रहता है। णिच् नहीं होता। कैयट का कहना है कि ग्राम में मृगों के असम्भव होने से वक्ता के द्वारा मृगों के रमण को लक्ष्य कर किया गया कथन दर्शनार्थ नहीं होता बल्कि वाणी द्वारा तद्विषयक वर्णन करनामात्र प्रयोजन होता है। श्रोता उसे सुनकर उसी समय देखने के लिये उत्सुक नहीं होता, क्योंकि वे वहाँ है ही नहीं। जब कि वनस्थ व्यक्ति के द्वारा वन में यह चर्चा करने का उद्देश्य श्रोता को उसी समय मृगरमण दर्शन के लिये प्रेरित करना है। शिवरामेन्द्र सरस्वती का कहना है– राजादि के द्वारा पालित मृग ग्राम में भी संभव तो हो सकते हैं पर वक्ता के द्वारा उनकी चर्चा का किया जाना दर्शनार्थ नहीं होता– इसलिये प्रत्युदाहरण बन जायेगा।

वा०– * आङ्लोपश्च कालात्यन्तसंयोगे मर्यादायाम्।।९।। *

भाष्यम्– कालात्यन्तसंयोगे मर्यादायां कृदन्ताण्णिज्वक्तव्यस्तदाचष्ट इत्येतस्मिन्नर्थे, आङ्लोपश्च। कृल्लुक्प्रकृतिप्रत्यापत्तिः प्रकृतिवच्च कारकं भवतीति वक्तव्यम्। आरात्रिविवासमाचष्टे रात्रिं विवासयतीति।।

अत्यन्तश्चासौ संयोगश्चेति = अत्यन्तसंयोगः। कालेनात्यन्तसंयोगः = कालात्यन्तसंयोगः। मर्यादा = परिमाण = इयत्ता। काल के साथ अत्यन्त संयोग तो क्रिया का ही हो सकता है। सो क्रिया के साथ मर्यादापूर्वक काल का अत्यन्तसंयोग हो तो आङ्पूर्वक द्वितीयासमर्थ कृदन्त शब्द से 'आचष्टे' (कथन करने) अर्थ में णिच् प्रत्यय, आङ् उपसर्ग का लोप, कृत्संज्ञकप्रत्यय का लुक्, प्रकृति = धातु अपने स्वरूप को प्राप्त और धातु के अनुकूल कारक भी हो। जैसे– आरात्रिविवासमाचष्टे, रात्रिं विवासयति। रात्रेर्विवासः = रात्रिविवासः,

षष्ठीतत्पुरुष। फिर आङ् का 'रात्रिविवास' के साथ 'आङ्मर्यादाभिविध्योः' (अ०– २.१.१३) से अव्ययीभाव समास। 'रात्रि' शब्द यहाँ रात्रिसहचरित क्रियाओं में वर्त्तमान है। वि-पूर्वक वस धातु का अतिक्रमण करना अर्थ है। इस प्रकार 'रात्रिं विवासयति' उदाहरण का अर्थ होगा– जब तक रात्रि अतिक्रान्त हुयी तब तक कथा की गयी = रात्रिसहचरितकथनरूप क्रिया का काल के साथ अत्यन्तसंयोग है। वस-धातु के अकर्मक होने से जैसे 'गतिबुद्धि०' सूत्र के नियम से 'रात्रि' का हेतुमत् णिच् में कर्मत्व हो जाता है, तद्वत् यहाँ भी जानना चाहिये– 'प्रकृतिवच्च कारकम्' का प्रकृत में यही फल है।

वा०– ※ चित्रीकरणे प्रापि।।१०।। ※

भाष्यम्– चित्रीकरणे प्राप्त्यर्थे कृदन्ताण्णिज्वक्तव्यः। कृल्लुक् प्रकृतिप्रत्यापत्तिः प्रकृतिवच्च कारकं भवतीति वक्तव्यम्। उज्जयिन्या प्रस्थितो माहिष्मत्यां सूर्योद्गमनं संभावयते सूर्यमुद्गमयति, इति।

'प्रापि' यहाँ 'संपदादिभ्यः क्विब् वा वक्तव्यः' (म.भा.वा. ३.३.१०८) प्र-पूर्वक आप्लृ-व्याप्तौ धातु से भाव में क्विप् करके सप्तमी से निर्देश है। चित्रीकरण = आश्चर्यकरण गम्यमान होने पर 'तत् प्राप्नोति' प्राप्ति होने इस अर्थ में 'प्राप्ति' का कर्म जो कृदन्त शब्द उससे णिच् कहना चाहिये। कृत्संज्ञकप्रत्यय का लुक्, प्रकृति = धातु अपने स्वरूप को प्राप्त और धातु के अनुकूल कारक भी हो। जैसे– उज्जयिन्याः प्रस्थितो माहिष्मत्यां सूर्योद्गमनं संभावयते। उज्जयिनी नगरी में सांयकाल प्रस्थान करके माहिष्मती नगरी में जाके सूर्योदय को प्राप्त होना– यह आश्चर्य दिखाना है। यहाँ उद्गमन कृदन्तशब्द से संपूर्वक 'भू– प्राप्तावात्मनेपदी' (धा०पा० चु० २७१) धातु से प्राप्त्यर्थ में णिच्, उत् पूर्वक गम्-धातु से जो कृत्संज्ञक ल्युट्प्रत्यय था, उसका लुक् और धातु के अनुसार होने से 'सूर्यमुद्गमयति' यह प्रयोग सिद्ध हुआ।

वा०– ※ नक्षत्रयोगे ज्ञि।।११।। ※

भाष्यम्– नक्षत्रयोगे जानात्यर्थे कृदन्ताण्णिज्वक्तव्यः। कृल्लुक् प्रकृतिप्रत्यापत्तिः, प्रकृतिवच्च कारकं भवतीति वक्तव्यम्। पुष्ययोगं जानाति, पुष्येण योजयति। मघाभिर्योजयतीति।।

'ज्ञि' यह, पूर्ववत् ज्ञा धातु से 'संपदादिभ्यः०' से भाव में क्विप् करके सप्तमी से निर्दिष्ट है। नक्षत्र का चन्द्रमा के साथ योग हो तो कृदन्त शब्द से जानने अर्थ में णिच्, कृत्संज्ञक प्रत्यय का लुक्, प्रकृति = धातु अपने स्वरूप को प्राप्त, प्रकृतिवत्-धातु के तुल्य कारक भी हो। जैसे– पुष्ययोगं जानाति, पुष्येण योजयति। यहाँ कृदन्त 'योग' शब्द से णिच्, योग शब्द में से युज् धातु से कृत्संज्ञक जो 'घञ्' था उसका लुक् और 'युज्' के अनुकूल पुष्य के प्रयोज्यकर्त्ता रूप कारक के रहने से और तिङ् के द्वारा उसके अनभिधान होने से 'कर्तृकरणयोः०' सूत्र से, 'पुष्य' से तृतीया हो गयी है। प्रकृत में 'पुष्ययोगम्' का अर्थ है– 'पुष्यकर्त्तृकं संबन्धम्'। 'पुष्यो हि चन्द्रमसा युङ्क्ते संबध्नाति। पुष्य नक्षत्र चन्द्रमा के साथ संबन्धित होता है। 'युज्' धातु के

गति-बुद्धि-इत्यादि धातुओं (अ०– १.४.५२) में अन्तर्भाव न होने से अण्यन्तावस्था का कर्त्ता जो पुष्य है, वह शुद्ध णिच् में जैसे कर्त्ता ही बना रहता है, तद्वत् इस णिच् में भी समझ लेना चाहिये।

भा०– तर्त्तर्हि इदं बहु वक्तव्यम्?

तो क्या, यह सब 'आख्यानात् कृतस्तदाचष्टे०' से लेकर 'नक्षत्रयोगे ज्ञि' तक इतना सारा कहना चाहिये?

वा०– ❋ न वा सामान्यकृतत्वाद्धेतुतो ह्यविशिष्टम्।।१२।।❋

भाष्यम्– न वा वक्तव्यम्।। किं कारणम्? 'सामान्यकृतत्वात्'। सामान्येनैवाऽत्र णिज्भविष्यति। 'हेतुमती'ति।। किं कारणम्? 'हेतुतो ह्यविशिष्टम्'। हेतुतो ह्यविशिष्टमेतद्भवति। तुल्या हि हेतुता देवदत्ते चादित्ये च।।

नहीं! वह सब कहने की आवश्यकता नहीं है।। क्यों? नहीं कहेंगे तो णिच् कैसे होगा? हेतुमति च इस सामान्य लक्षण के द्वारा ही कार्य सिद्धि हो जाने से। उपर्युक्त सभी उदाहरणों में सामान्य रूप से हेतुमति च के द्वारा ही णिच् हो जाएगा। क्यों– ऐसा क्या कारण है जो 'हेतुमति च' से ही णिच् हो जायेगा? कारण है– हेतुत्वेन ये सब के सब समान ही हैं। देवदत्त हो चाहे आदित्य, हेतुता में कोई भेद नहीं है। जैसे देवदत्त के विषय में यज्ञदत्त की हेतुता (प्रयोजकता) और देवदत्त की प्रयोज्यता है, वैसे ही आदित्य के विषय में भी यज्ञदत्तादि की हेतुता (प्रयोजकता) और आदित्य की प्रयोज्यता है।

भाष्यम्– न सिध्यति। 'स्वतन्त्रस्य प्रयोजको हेतुसंज्ञो भवतीत्युच्यते, न चाऽसावादित्यं प्रयोजयति।।

सामान्यलक्षण 'हेतुमति च' से सर्वत्र णिच् सिद्ध नहीं हो पायेगा। क्योंकि 'तत्प्रयोजको हेतुश्च' (अ०– १.४.५५) सूत्र में स्वतन्त्र कर्त्ता का जो प्रयोजक है वह हेतुसंज्ञक होता है– ऐसा कहा गया है। पर वह (पथिक) सूर्योद्गमन में सूर्य को तो प्रयोजित नहीं कर रहा है। कोई चेतन वस्तु किसी प्रयोजन से प्रेरित होकर प्रयोजक के अभिप्राय को सिद्ध कर सकती है? सूर्य तो जड़ है। यज्ञदत्तादि पथिक सूर्य को कैसे प्रेरणा दे सकते हैं कि तुम माहिष्मती में उदय हो जावो– मैं तुम्हें उदय हुये-हुये देखना चाहता हूँ।

वा– ❋ स्वतन्त्रप्रयोजकत्वादप्रयोजक[1] इति चेन्मुक्तसंशयेन[2] तुल्यम्।।१३।। ❋

भाष्यम्– यं भवान् स्वतन्त्रप्रयोजकं मुक्तसंशयं न्याय्यं मन्यते– 'पाचयत्योदनं देवदत्तो यज्ञदत्तेने'ति, तेनैतत्तुल्यम्[3]।।' कथम्?

---

१. स्वतन्त्रप्रयोजकस्य हि हेतुत्वम्। अयं च न तथेत्यप्रयोजको हेतुरिति चेदित्यर्थ:।

२. मुक्त: संशयो यत्र मुक्तसंशयम्, तेन।

३. यज्ञदत्तादिप्रयोजकदेवदत्तादिना सूर्यप्रयोजकविष्णुमित्रादिस्तुल्य इत्यर्थ:। 'एतत् तुल्यम्' इति सामान्येन नपुंसकनिर्देश:।

(वा०)– स्वतन्त्र के प्रयोजकत्व हेतु से (आदित्य) के (विषय में) प्रयोजक का अभाव है– यदि ऐसा कहो तो जहाँ संशय को कोई अवकाश नहीं है– यह भी उसके समान ही है।

(भाष्यम्)– जिसको आप संशयमुक्त होकर न्यायसंगत स्वतन्त्र का प्रयोजक स्वीकार करते हैं, जैसे कि– 'यज्ञदत्त ओदनं पचति, ओदनं पचन्तं तं यज्ञदत्तं देवदत्तः प्रेरयतीति– पाचयत्योदनं देवदत्तो यज्ञदत्तेन'। इस उदाहरण में यज्ञदत्त को प्रयोज्य और देवदत्त को प्रयोजक मानने में आपको कोई आपत्ति नहीं, तद्वत् यह आदित्य इत्यादि उसके तुल्य ही हैं। अर्थात् यहाँ भी देवदत्त इत्यादि (पथिक) आदित्य के प्रयोजक और आदित्य उसका प्रयोज्य बना हुवा है। सो कैसे? यही तो समझ में नहीं आ रहा!

वा०– ✲ प्रवृत्तिर्ह्युभयत्राऽनपेक्ष्य।।१४।। ✲

भाष्यम्– प्रवृत्तिर्ह्युभयत्रऽनपेक्ष्यैव किञ्चिद्भवति देवदत्ते चादित्ये च।

नेह कश्चित्परोऽनुग्रहीतव्य इति प्रवर्त्तते। सर्व इमे स्वभूत्यर्थं प्रवर्त्तन्ते। ये तावदेते गुरुशुश्रूषवो नाम तेऽपि स्वभूत्यर्थमेव प्रवर्त्तन्ते, पारलौकिकं च नो भविष्यतीह च नः प्रीतो गुरुरध्यापयिष्यतीति। तथा य एते दासाः कर्मकरा नाम तेऽपि स्वभूत्यर्थमेव प्रवर्त्तन्ते, भक्तं चैलं च लप्स्यामहे, परिभाषाश्च न नो भविष्यन्तीति। तथा य एते शिल्पिनो नाम तेऽपि स्वभूत्यर्थमेव प्रवर्त्तन्ते वेतनं च लप्स्यामहे मित्राणि च नो भविष्यन्तीति।।

क्योंकि, चाहे वह देवदत्त है या आदित्य, दोनों ही संदर्भों में (प्रयोज्य की) प्रवृत्ति कुछ भी अपेक्षा न करके, अर्थात् प्रयोजक के किसी अभिप्रेतमात्र अर्थ को लक्ष्य न करते हुये ही होती है। (प्रेरणा के होने पर भी) यहाँ इस संसार में कोई भी (प्रयोज्य) दूसरे पर (प्रयोजक पर) अनुग्रह करने के भाव से प्रवृत्त नहीं होता। बल्कि सब के सब अपने ही स्वार्थ को लेकर प्रवृत्त होते हैं। जो कि ये गुरुजनों की सेवा-शुश्रुषा में तत्पर होकर लगे हुये दिखायी दे रहे हैं– वे भी अपनी ही भूति (कल्याण या ऐश्वर्य) के लिये लगे हुये हैं (वे ऐसा सोचते हैं) पारलौकिक भी हमारे लिये सिद्ध होगा अर्थात् हमारा परलोक (दूसरा जन्म) भी सुधर जायेगा और यहाँ प्रसन्न हुये गुरुजी हमें पढा भी देंगे।

और जो ये दास बने हुये कर्मकर हैं, ये भी अपने ही लाभ को उद्देश्य कर प्रवृत्त हो रहे हैं = हमको भात और वस्त्र इत्यादि भी मिलेंगे तथा डाँट-फटकार भी हमें सुनने को नहीं मिलेगी।

और जो ये शिल्पी लोग हैं ये भी अपने ही लाभ को लक्ष्य कर प्रवृत्त हो रहे हैं = वेतन भी प्राप्त करेंगे साथ में जिनके यहाँ काम करेंगे, वे हमारे मित्र भी बन जायेंगे।

यहाँ तक कि वीतरागपुरुषों की दूसरों के कष्टों को देखकर करुणावश जो प्रवृत्ति होती है वह भी स्वार्थवश होती है। क्यों कि वहाँ परार्थसंपादन करते हुए स्वकष्ट विमोचन ही उनका स्वार्थ है। इस प्रकार सर्वत्र स्वेष्टसिद्धि होना ही प्रयोज्य की प्रवृत्ति का मुख्य हेतु है, न कि प्रयोजक पर अनुग्रह।

भा०– एवमेतेषु सर्वेषु स्वभूत्यर्थं प्रवर्तमानेषु–

इस प्रकार इन सब के ही स्वभूत्यर्थ प्रवर्तमान होने पर–

वा०– ❋ कुर्वतः प्रयोजक इति चेत्तुल्यम्।।१५।। ❋

भा०– यदि कश्चित्कुर्वतः प्रयोजको नाम भवति, तेनैतत्तुल्यम्।

जैसे कि– 'गुरुः शिष्यान् अध्ययने प्रवर्त्तयति' इत्यादि के प्रसङ्ग में प्रयोजकाभिप्रेत मात्रोद्देश्य के विना भी शिष्यादि के द्वारा स्वेष्ट उद्देश्य को लेकर स्वयं ही अध्ययन रूप कार्य ही करते हुये (प्रवृत्त हुये) शिष्य का जैसे गुरु प्रयोजक दिखायी देता है, तद्वत् सूर्य का भी हो जायेगा। भाव यह है– स्वयं करते हुये का यदि कोई प्रयोजक हो जाता है तो सूर्य भी उसके तुल्य ही ठहरता है। सूर्य भी स्वयं उदय होने की अपनी क्रिया कर रहा है– और इस स्थिति में देवदत्तादि उसका प्रयोजक बन गया है।

भाष्यम्– यदि तर्हि सर्व इमे स्वभूत्यर्थं प्रवर्त्तन्ते, कः प्रयोज्यार्थः?

यदि ऐसा है कि सब के सब प्रयोजकाभिप्राय को लक्ष्य न करके, अपने ही स्वार्थ के लिये प्रवृत्त हो रहे हैं तो फिर प्रयोज्यार्थ क्या है? अर्थात् प्रेरणाजन्यप्रवृत्ति का आश्रय प्रयोज्य होता है, लेकिन जब सभी स्वभूत्यर्थ ही प्रवृत्त हो रहे हैं तो उस स्थिति में प्रेरणा का क्या अर्थ है? प्रेरणा का क्या प्रयोजन है?

भाष्यम्– यदभिप्रायेषु सज्जन्ते[१]– ईदृशौ वर्ध्रौ (वर्ध्यौ) कुरु, ईदृशौ पुटकौ कुर्विति। आदित्यश्चास्याभिप्राये सज्जते। एष तस्याऽभिप्रायः– 'उज्जयिन्याः प्रस्थितो माहिष्मत्यां सूर्योद्गमनं संभावयेये'ति, तं चाऽस्याऽभिप्रायमादित्यो निर्वर्तयति।।

'कः प्रयोज्यार्थ?' समाधाता इस प्रश्न का उत्तर देता है– जो कि यह प्रयोज्य, प्रयोजक (प्रेरक) के अभिप्रायों में लग जाते हैं। प्रयोजक के अभिप्राय को जान कर जो ये प्रयोज्य उसे संपन्न करते हैं, बस! यही प्रयोज्य को दी गयी प्रेरणा का प्रयोजन है प्रयोजक ने प्रयोज्य से कहा कि ऐसे दो वध्र (या वर्ध्य) तथा दो पुटक बना दो। प्रयोज्य इस विषय को जानकर दो वध्र (वर्ध्य) या दो पुटक बना देता है। तब यह प्रयोग होगा– देवदत्तो यज्ञदत्तेन वध्रौ (वर्ध्यौ) पुटकौ वा कारयति। वध्र (वर्ध्य) और पुटक माताओं के आभूषण होते थे। 'वध्र' सोने की मजबूत माला के समान बनते थे और कण्ठ तथा कटि में पहने जाते थे। संभवतः कमल के आकार के आभुषण को पुटक कहते थे। हाँ, तो प्रकृत में– आदित्य भी इस विष्णुमित्रादि के अभिप्राय को सिद्ध करने में जुटा है। यहाँ उस जानेवाले पथिक का यह अभिप्राय है– कि उज्जयिनी नगरी से चला हुआ मैं, महिष्मती में सूर्य के उद्गमन (उदय) को प्राप्त करूँ, इस प्रयोजक (पथिक) के उस अभिप्राय को आदित्य निर्वृत्त कर रहा है। जैसा कि हरि ने भी इसी बात को अपने शब्दों में इस रूप में कहा–

१.अत्र भाष्यकारवचनादात्मनेपदम्। परस्मैपदी तु सज्जिः, ग्लुञ्चु षस्ज-गतौ।

निमित्तेभ्य: प्रवर्त्तन्ते सर्व एव स्वभूतये।
अभिप्रायानुरोधेऽपि स्वार्थस्यैव प्रसिद्धये।। (वा०प०सा०स० १२४)।।

चेतन आदि के निमित्त से भृत्यादि की प्रवृत्ति स्वार्थसंपादन के लिये ही होती है। प्रयोजक के अभिप्राय का अनुरोध भी प्रयोज्य के स्वार्थ की सिद्धि के लिये ही होता है।

भाष्यम्– भवेदिह वर्त्तमानकालता युक्ता स्यात्– 'उज्जयिन्या: प्रस्थितो माहिष्मत्यां सूर्योद्गमनं संभावयते सूर्यमुद्गमयती'ति, तत्रस्थस्य हि तस्यादित्य उदेति। इह तु कथं वर्त्तमानकालता– कंसं घातयति, बलिं बन्धयतीति, चिरहते कंसे चिरबद्धे च बलौ?

उपसंख्यानखण्डनपरक उपर्युक्त दिशा से एक समस्या यह आती है कि 'उज्जयिन्या: प्रस्थितो माहिष्मत्यां सूर्योद्गमनं संभावयते सूर्यमुद्गमयति' यहाँ या इस प्रकार के प्रयोगों में तो वर्त्तमानकालता बन भी जायेगी– क्योंकि उस विष्णुमित्रादि प्रयोजक का प्रयोज्य जो आदित्य है उसका वहाँ (माहिष्मती इत्यादि में) स्थित हुये का उदय होता है। पर यहाँ 'कंसं घातयति, बलिं बन्धयति' इत्यादि में अवर्त्तमान काल में जो कि बहुत पहिले कंस मारा गया था और इसी प्रकार बहुत पहिले बलि को बान्धा गया था कैसे वर्त्तमानकालता बन जायेगी? कंस और कृष्ण के वध्यघातक भाव के चिरकालपूर्वप्रवृत्त होने से उनके प्रयोजक व्यापार को भी चिरकालपूर्वप्रवृत्त ही होना चाहिये।

भाव यह है– माहिष्मत्यां सूर्यम् उद्गच्छति, विष्णुमित्रस्तमुद्गच्छन्तं सूर्यं प्रेरयतीति, विष्णुमित्रो माहिष्मत्यां सूर्यम् उद्गमयति– इस प्रयोग के तो 'हेतुमति च' सूत्र के द्वारा बनने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं, पर यहाँ 'कृष्ण: कंसं हन्ति, देवदत्त: कंसं घातयति कृष्णेन– चिरकालपूर्वघटित हुयी घटना का स्वतन्त्रकर्ता जो कृष्ण है उसका प्रयोजक, आज के दिन, देवदत्त को कैसे बनाया जाये। उपसंख्यान आरम्भ करने पर तो कोई दोष नहीं है, क्योंकि घटना चाहे भूतकाल की हो उसका आख्यान (कथन) तो वर्त्तमान में सर्वथा संभव है।

भाष्यम्– अत्रापि युक्ता।। कथम्? ये तावदेते शौभिका नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति, प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयन्तीति।।

यहाँ (देवदत्त: कंसं घातयति कृष्णेन) भी वर्त्तमानकालता युक्त ही है। सो कैसे? जो ये शौभिक[१] होते हैं– ये लोग कंस और कृष्ण का ऐसा रूप बनाते हैं जो कि सामाजिक लोगों (नाटक के दर्शकों) के द्वारा ठीक वही कंस और वही कृष्ण, कंसबुद्धि या कृष्णबुद्धि से गृहीत होता है। सो ये शौभिक उसी प्रकार के वासुदेव के द्वारा ठीक वैसे ही कंस को (इस समय भी) मरवाते हैं।

---

१. कंसादि का रूप-वेश व अभिनय करनेवाले नटों (नाटक के विभिन्न पात्रों) के व्याख्यानोपाध्याय (शिक्षक) शौभिक कहे जाते हैं। शोभां कुर्वन्ति शौभिका:।

भा०– चित्रेषु कथम्? चित्रेष्वपि उद्गूर्णा निपतिताश्च प्रहारा दृश्यन्ते कंसस्य कृष्णस्य च।

चित्रों में प्रयोजकव्यापार की वर्त्तमानकालता को कैसे संगत किया जाये? चित्रों में भी चित्रलेखकों के द्वारा कंस और कृष्ण की जो उठक (उद्गूर्णा: = उद्यता:-गुरी-उद्यमने) पठक (निपतिता:) दिखायी जाती है या जो कंस और कृष्ण के (परस्पर एक दूसरे के ऊपर) उठे हुये (उद्गूर्णा:) और गिरे हुये (निपतिता:) प्रहार दिखायी देते हैं, उनसे यही प्रतीत होता है कि चित्रलेखक चित्रस्थ कंस को वैसे ही कृष्ण के द्वारा अभी-अभी मरवा रहा है।

भा०– ग्रन्थिकेषु कथम्? यत्र शब्दग्रन्थगड्डमात्रं लक्ष्यते?

कथावाचकों के प्रसङ्ग में कैसे प्रयोजकव्यापार की वर्त्तमानकालता समझी जाये? जहाँ कि शब्द और ग्रन्थ का गड्ड-मड्डमात्र लक्षित होता है? 'ग्रन्थिक'– यहाँ 'इनिठनौ' (अ०– ५.२.११५) से ठन् प्रत्यय हुआ है।

भाष्यम्– तेऽपि हि तेषामुत्पत्तिप्रभृत्या विनाशात्तदृद्धीर्व्याचक्षाणा: सतो बुद्धिविषयान् प्रकाशयन्ति। आतश्च सतो व्यामिश्राश्च दृश्यन्ते। केचित्कंसभक्ता: भवन्ति केचिद्वासुदेवभक्ता:। 'वर्णान्यत्वं' खल्वपि लोके लक्ष्यते,– 'गच्छ हन्यते कंस:', 'गच्छ घानिष्यते कंस:' किं गतेन हत: कंस इति।।२६।।

वे कथावाचक भी उन कंसादि के जन्म से लेकर मृत्यु तक को (उत्पत्तिप्रभृत्याविनाशात्) उनकी समृद्धि-वैभव या चरितविशेषों को कहते हुये (तदृद्धीर्व्याचक्षाणा:) चिरकालातीत होने से प्रवचनसमय बाहर व्यवहार में घटित न होते हुये भी उनकी अपनी बुद्धि में आये हुये विषयों को अर्थात् अपनी बुद्धि में विद्यमान हुये कंसादि को (सतो बुद्धिविषयान्) शब्दों के द्वारा श्रोतृबुद्धि में प्रकाशित करते हैं (समर्पित करते हैं)। इस प्रकार के कथन (कथावाचक) श्रोतृबुद्धि में कंसादि आकार को उत्पन्न करते हुए बुद्धिस्थ वासुदेव के द्वारा बुद्धिस्थ कंस को मरवाते हैं। इस हेतु से प्रयोज्यप्रयोजकभाव के बुद्धि में आरोप होने से प्रयोग उपपन्न हो जायेगा। और देखो! निश्चित ही श्रोताओं की बुद्धि में वह विषय उपस्थित हो जाता है। तभी तो विरुद्धपक्षों का आश्रय (नानापक्षसमाश्रिता:) लिये हुये देखे जाते हैं। अतीतत्वबुद्धि में तो विरुद्धपक्षों का समाश्रय संभव ही नहीं। कुछ श्रोता कंस के भक्त होते हैं– कुछ वासुदेव के भक्त। इसके अतिरिक्त प्रयोजकव्यापार की वर्त्तमानकालता में एक और भी हेतु है– उस समय कंस के मर जाने पर स्वपक्ष के समान मुख का वर्ण भिन्न-भिन्न हो जाता है– वे श्रोता अपने-अपने पक्ष के अनुरूप अलग-अलग वर्ण को धारण कर लेते हैं– किन्हीं का मुख (कंस के भक्तों का) शोक से काला पड (कालमुखा:) जाता है और किन्हीं का (अर्थात् वासुदेव के भक्तों का) हर्ष से खिल उठता है (रक्तमुखा:)। और इस विषय में एक और भी युक्ति है– लोक में तीनों कालों से युक्त प्रयोग भी इस संदर्भ में देखे जाते हैं– कुछ लोग वैसे बातें कर रहें हैं– उनमें एक व्यक्ति दूसरे से कह रहा है– जाओ! अभी-अभी कंस मारा जा रहा

है। जाओं! कंस मारा जायेगा। श्रोता इस बात को कहीं से सुन चुका था कि कंसवध तो हो चुका है– इसलिये वह कहता है– अरे भाई! अब यहाँ जाकर क्या करना, कंस तो मारा गया। इस प्रकार बुद्धिविषयसत्ता से ही सब व्यवहार चलता रहता है। यह सब व्यवहार स्पष्ट ही प्रयोजकव्यापार की वर्त्तमानकालता को सिद्ध कर रहा है। हरि ने भी यही बात अपने शब्दों में बहुत स्पष्टता से कही है–

शब्दोपहितरूपांस्तु बुद्धेर्विषयतां गतान्।

प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते।। वा० प० सा० स०५।।

श्रोता कथक (कथावाचक) के द्वारा कहे गये शब्दों की सामर्थ्य से उत्पन्न हुये रूपविशेषों (अर्थविशेषों) को जो कि अपनी बुद्धि के विषय बन गये हैं– ऐसे उन कंसादि को कर्मादि कारकों के रूप में मानता है।

इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी ऊहा कर लेनी चाहिये– यो हि राजागमनमाचष्टे स राजानमागमयत्येव। यश्च रात्रिविवासं कथा: कथयति स: रात्रिं विवासयति = यापयति। यश्च मृगरमणमाचष्टे स मृगान् रमयति–इत्यादि।।

कण्ड्वादिभ्यो यक्।।३.१.१७।।

भाष्यम्– किमर्थ: ककार:?

कण्डवादियों का केवल प्रातिपदिकत्व स्वीकार करता हुआ 'सूत्रों में यक् प्रत्ययस्थ ककार किसलिये है' ऐसा प्रश्न कर रहा है? किस प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये है? कण्ड्वादियों की द्विविधता (धातुत्व व प्रातिपदिकत्व) दिखाने के लिये इस प्रकरण का उपन्यास है।

भा०– गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थ:। क्ङितीति गुणवृद्धिप्रतिषेधो यथा स्यात्।

कण्ड्वादि केवल प्रातिपदिक ही नहीं बल्कि धातु भी हैं– यह मानने वाला उत्तर देता है कि यक् का ककार गुण व वृद्धि का निषेध करने के लिये है। 'क्ङिति च' (अ०– १.१.५) से कहा गया गुणवृद्धि का प्रतिषेध हो जाया करें।

भा०– नैतदस्ति प्रयोजनम्। सार्वधातुकार्धधातुकयोरङ्गस्य गुण उच्यते। धातोश्च विहित: प्रत्यय: शेष आर्धधातुकसंज्ञां लभते, न चाऽयं धातोर्विधीयते, कण्ड्वादीनि प्रातिपदिकानि।।

लेकिन प्रष्टा, इनका प्रातिपदिकत्वमात्र मानता हुआ अपनी बात कहता है– नहीं! यह प्रयोजन नहीं हो सकता। कारण, सार्वधातुक-आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते अङ्ग को गुण (अ०– ७.३.८४) कहा गया है। और धातु से विहित प्रत्यय जो (तिङ् व शित् प्रत्ययों से) शेष (अ०– ३.४.११४) है, वह आर्धधातुक संज्ञा को प्राप्त करता है। यह यक् तो धातु से विहित है नहीं। क्योंकि कण्ड्वादिगणपठित शब्द प्रातिपदिक हैं।

वा० – ❋ कण्ड्वादिभ्यो वा वचनम्।।१।। ❋

भाष्यम्– कण्ड्वादिभ्यो[1] वेति वक्तव्यम्।।

द्वैविध्यवादी कहता है कि यदि आप कण्ड्वादि को केवल प्रातिपदिक मानते हो तो आपको 'कण्ड्वादि शब्दों से विकल्प से यक् होता है'– ऐसा कहना चाहिये जिसका अनन्त: तात्पर्य यही लेना होगा कि कण्ड्वादि धातु भी हैं और प्रातिपदिक भी।

वा० – ❋ अवचने हि नित्यप्रत्ययत्वम्।।२।। ❋

भा० – अक्रियमाणे हि वावचने नित्य: प्रत्ययविधि: प्रसज्येत।।

यदि आप वावचन नहीं करेंगे तो नित्य प्रत्ययविधि होने लगेगी।

ककार का प्रयोजन दिखाने के लिये 'कण्ड्वादिभ्यो वावचनम्' ऐसा वस्त्वन्तर का उपक्षेप है। इसका भाव है जब कण्ड्वादि प्रातिपदिक ही हैं तब 'वा' ऐसा कहना चाहिये। अन्यथा यक् का कित्त्व व्यर्थ हो जायेगा अर्थात् कण्ड्वादि को धातु भी मानने पर यक् के कित्त्व की सार्थकता है। केवल धातुपक्ष में तो वावचन करने पर भी 'कण्डवति'– ऐसा अनिष्ट प्रसङ्ग उपस्थित होने लगेगा तथा 'कण्ड्वौ' इत्यादि में चाहते तो यणादेश हैं और होने लगेगा 'अचि श्नुधातु०' से उवङादेश। द्वैविध्यपक्ष में तो कोई दोष नहीं– क्योंकि ककार वचन सामर्थ्य से धातुपक्ष में ही नित्य यक् होगा अधातुपक्ष में सर्वथा नहीं होगा।

भा० – तत्र को दोष: ?

केवल प्रातिपदिकत्व मानता हुआ द्वैविध्यवादी से पूछता है– अच्छा यह बताओ! नित्य प्रत्यय हो भी जाये तो क्या दोष है? फिर भी 'संपदादिभ्य: क्विब् वा०' (म०भा०वा० ३.३.१०८) से क्विप् करके 'कण्डू:' इत्यादि प्रयोग तो सिद्ध हो ही जायेंगे।

नित्यप्रत्यय होने पर 'कण्डूय' शब्द से क्विप् होकर, 'क्विप्' के अनुबन्धों का लोप होकर, 'व्' मात्र शेष रहने पर 'कण्डूय+व्' इस स्थिति में 'अतो लोप:' (अ०– ६.४.४८) से अकार लोप होकर, 'कण्डूय्+व्' यहाँ वलि लोप (अ०– ६.१.६४) और अपृक्त लोप (अ०– ६.१.६५) दोनों कार्यों के प्राप्त होने पर अपृक्त लोप से पूर्व वलि लोप के इष्ट होने से पहिले वलि लोप (यकारलोप) और फिर अपृक्तलोप (वकारलोप) होकर 'कण्डू:' इत्यादि सिद्ध हो जायेंगे।

---

१. वावचनस्य यत् प्रयोजनं तद् कण्ड्वादीनां द्वैविध्येन सिध्यतीति कित्त्वप्रयोजन एवाऽस्य पर्यवसानमित्यर्थ:।

वा०– ✲ तत्र धातुविधितुक्प्रतिषेधः।।३।। ✲

भा०– तत्र धातुविधेस्तुकश्च प्रतिषेधो वक्तव्यः स्यात्।

कण्ड्वौ कण्ड्वः 'अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' (अ०– ६.४.७७) इत्युवङादेशः प्रसज्येत।

इह च कण्ड्वा, कण्ड्वे 'नोङ्धात्वोः' (अ०– ६.१.१७५) इति विभक्तेरुदात्तत्वप्रतिषेधः प्रसज्येत।।

तुक्च प्रतिषेद्धव्यः– वल्गुः, मन्तुरिति। 'ह्रस्वस्य[1] पिति कृति तुक्' (अ०– ३.१.७१) इति तुक् प्राप्नोति।।

द्वैविध्यवादी उत्तर देता है संपदादि क्विप् के द्वारा यथेष्टरूप सिद्ध नहीं होंगे– यही दिखाने के लिये कहते हैं– यदि (यक्) प्रत्यय नित्य होगा और 'क्विप्' के द्वारा 'कण्डूः' इत्यादि सिद्ध करेंगे तो धातु संबन्धी विधि का तथा तुक् का प्रतिषेध कहना पडेगा। 'कण्ड्वौ' 'कण्ड्वः' इत्यादि में 'कण्डूय' शब्द से क्विप् करने पर यक् के अकार-यकार का लोप होने पर 'औ' तथा 'जस्' (अस्) के परे रहते 'अचिश्नुधातु०' से 'कण्डू' के ऊकार को उवङादेश प्राप्त होता है। 'अचः परस्मिन्०' (अ०– १.१.५६) से अकारलोप का स्थानिवत्त्व भी नहीं हो सकता, क्योंकि 'क्विलुगुपधात्व०' (म०भा०वा० १.१.५७) से क्वि के परे लुप्त हुये को स्थानिवद्भाव का प्रतिषेध है। कोई कहे, उवङ् हो भी जाये तो भी क्विप् को मानकर उवङ् के वकार को 'च्छ्वो शूड्' (अ०– ६.४.१९) से ऊठ् करके 'कण्डु+ऊ' इस स्थिति में दीर्घ एकादेश होकर 'कण्डू+औ' यहाँ यणादेश से रूप सिद्ध हो जायेगा। किन्तु ऐसा हो नहीं सकेगा, क्योंकि 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' (परि० ४४) परिभाषा बल से अन्तर्भूत क्विप् निमित्तक ऊठ् की अपेक्षा बहिर्भूत औ-जस् आदि विभक्तिनिमित्तक उवङ् के बहिरङ्ग होने से अन्तरङ्ग ऊठ् करते समय बहिरङ्ग उवङ् असिद्ध हो जायेगा। इस प्रकार यह दोष ही बना रहेगा।

दूसरा कण्ड्वा, कण्ड्वे यहाँ 'नोङ्धात्वोः'– ऊङ् और धातु का जो उदात्तयण् हल्पूर्ववाला उससे परे तृतीयादि विभक्ति उदात्त नहीं होती– इस नियम से विभक्ति को उदात्तत्व का प्रतिषेध पायेगा। क्योंकि 'क्विबन्तो धातुत्वं न जहाति' ऐसा वैयाकरणों को अभिमत है ही। यक् के विकल्पित होने पर तो यक् के अभाव पक्ष में प्रातिपदिक से औ-जस् आदि लाने पर कोई दोष नहीं होगा।

तीसरा यक् के नित्य होने पर 'तुक्' का भी प्रतिषेध करना पड़ेगा– वल्गुः, मन्तुः– यहाँ 'वल्गु+यक्+क्विप्' इस स्थिति में पूर्ववत् लोप होकर 'वल्गु' को 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (अ०– ६.१.६९) से पित् कृत् परे रहते तुक् होने लगेगा। जो कि अनिष्ट है। वल्गु आदि को प्रातिपदिक भी मानने पर तो यक् के विकल्पित होने से पूर्ववत् यगभाव पक्ष में प्रातिपदिक से सीधी स्वाद्युत्पत्ति होकर इष्टरूप सिद्ध हो जायेंगे। यक् के कित्त्व की चरितार्थता तो इनके धातुत्व से ही हो पायेगी– यह हम कह चुके हैं।

---

१. ह्रस्वोच्चारणसामर्थ्याद् दीर्घाभावं मन्यते। अकृत्सार्वधातु० (अ० ७.४.२५) इति हि तत् प्राप्नोति।

वा०– ह्रस्वयलोपौ च।।४।।

भाष्यम्– ह्रस्वयलोपौ च वक्तव्यौ स्याताम्। ह्रस्वः- वल्गुः, मन्तुरिति।।

किमर्थमिदं, न ह्रस्व एवायम्? अन्तरङ्गत्वाद् 'अकृद्यकार' इति दीर्घत्वं प्राप्नोति। ह्रस्वः।। यलोपः– यलोपश्च वक्तव्यः। कण्डूः, मन्तुः, वल्गुरिति।। किमर्थमिदं, न वलीत्येव सिद्धम्?।। वलीत्युच्यते, न चाऽत्र वलादिं पश्यामः।। ननु च क्विब्वलादिः।। क्विब्लोपे कृते वलाद्यभावान्न प्राप्नोति।। इदमिह संप्रधार्यं– क्विब्लोपःक्रियतां वलिलोपः इति, किमत्र कर्त्तव्यम्? परत्वात्क्विब् लोपः। नित्यः खल्वपि क्विब्लोपः। कृतेऽपि यलोपे प्राप्नोति अकृतेऽपि प्राप्नोति। नित्यत्वात्परत्वाच्च क्विब्लोपे कृते वलाद्यभावान्न प्राप्नोति।। एवं तर्हि प्रत्ययलक्षणेन भविष्यति।। वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम्।।

द्वैविध्यवादी और भी दोष दे रहा है– यदि यक् प्रत्यय को नित्य माना जाये और फिर क्विप् के द्वारा वल्गुः, मन्तुः इत्यादि सुबन्तों की सिद्धि की जाये तो यह भी एक दोष होगा कि ह्रस्व और यलोप कहने होंगे। जैसे कि– वल्गुः, मन्तुः यहाँ ह्रस्व कहना होगा। यह क्या कहा– क्या ये स्वतः ही ह्रस्व नहीं है? ह्रस्व तो हैं, पर अन्तरङ्गता के कारण 'अकृत्सार्वधातुक०' (अ०– ७.४.२५) से, यक् के परे रहते दीर्घत्व प्राप्त होता है। और यलोप भी कहना होगा– कण्डूः, वल्गुः, मन्तुः इत्यादि सभी उदाहरणों में।

यह भी किसलिये कहना चाहिये– क्या क्विप् के वकारमात्र शेष रहने पर उसके परे रहते 'लोपो व्योर्वलि०' (अ०– ६.१.६४) से सिद्ध नहीं हो जायेगा? देखो, वल् के परे रहते कहा है, यहाँ तो कोई वल् दिखायी ही नहीं दे रहा! क्यों जी, क्या क्विप् (का वकारमात्र) वलादि नहीं है? क्विप् का लोप कर लेने पर– अब वलादि परे न होने से (यलोप) प्राप्त नहीं होगा।

अब हमें यहाँ यह निश्चय करना चाहिये कि क्विप् लोप किया जाये या वलिलोप। इन दोनों कार्यों में से (पहिले) कौनसा करना चाहिये? सूत्रक्रम की दृष्टि से पर होने से 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (१.४.२) से पहिले 'वेरपृक्तस्य' (अ०– ६.१.६५) से क्विब्लोप होना चाहिये। और पर ही नहीं, क्विब्लोप नित्य भी तो है, क्योंकि यलोप के कर लेने पर भी प्राप्त होता है और न करने पर भी। उधर क्विब्लोप कर लेने पर यलोप प्राप्त नहीं होता; इसलिये वह अनित्य है। सो नित्यत्व से भी और परत्व से भी क्विब्लोप कर लेने पर वलादि के अभाव होने से अब यलोप प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार नित्य प्रत्ययपक्ष में यलोप कहना ही पड़ेगा।

फिर भी यलोप कहने की आवश्यकता नहीं है– क्विब्लोप पहिले होने पर भी प्रत्ययलक्षण से यलोप हो जायेगा।

किन्तु वर्णाश्रिय कार्य में तो प्रत्ययलक्षण होता नहीं (पारि० २२) इस हेतु से यलोप कहना ही पड़ेगा। वलिलोप में 'वल्' रूप वर्ण का आश्रय करके वकार-यकार का लोप किया गया है, न कि प्रत्यय का आश्रय करके। प्रत्यय आश्रय कार्य में ही प्रत्ययलक्षण हो सकता है।

भा०– अथ क्रियमाणेऽपि वावचने यदा यगन्तात् क्विप् तदैते दोषाः कस्मान्न भवन्ति?

अच्छा! वावचन कर दिये जाने पर भी जब यगन्त से क्विप् होगा, तब ये सब (उपर्युक्त) दोष किस हेतु से नहीं होते?

भा०– नैतेभ्यस्तदा क्विब्द्रक्ष्यते।। किं कारणम्? 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (अ०– ३.२.१७८) इत्युच्यते, न चैतेभ्यस्तदा क्विब् दृश्यते।।

तब इन यगन्त शब्दों से क्विप् उत्पन्न ही नहीं होता। ऐसा क्या कारण है? तब 'क्विप्' क्यों नहीं उत्पन्न होता? कारण यह है कि 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते०' इस क्विप्विधायक सूत्र में 'दृश्यते' ऐसा कहा गया है। सो तब, अनभिधान होने से इनसे क्विप् देखा ही नहीं जाता।

इसका भाव यह है– 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' से क्विप् कर्त्ता में कहा गया है। और 'कण्डूः' ऐसा कहने पर क्रियामात्र प्रतीति होती है। न कि कर्त्ता। क्रियामात्र की प्रतीति तो यगभाव पक्ष में स्वतः ही (क्विप् के विना ही) उससे हो जाती है।

भाष्यम्– यथैव तर्हि क्रियमाणेऽपि वावचनेऽन्येभ्योऽपि दृश्यत इत्येवमत्र क्विब् न भवत्येवमक्रियमाणेऽपि वावचने न भविष्यति।।

अच्छा तो जैसे वावचन करने पर 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' के कारण, यहाँ क्विप् नहीं होता। तद्वत् वावचन न करने पर भी नहीं होगा।

भा०– अवश्यमेतेभ्यस्तदा क्विबेषितव्यः।। किं प्रयोजनम्? एतानि रूपाणि यथा स्युरिति।।

अवश्य ही इन (यगन्तों) से क्विप् तो लाना ही चाहिये। किन्तु संपदादि (म०भा०वा० ३.३.१०८) को आकृतिगण मानकर भाव में लाना इष्ट है। इसलिये वेदनामात्र (क्रियामात्र) प्रतिपादन करने में भी 'कण्डूः' इत्यादि सिद्ध हैं। अच्छा, यह बतायें– किस प्रयोजन के लिये क्विप् लाना ही चाहिये? प्रयोजन यह है कि 'कण्डूः' इत्यादि दीर्घान्त प्रथमा एकवचनान्त शब्दरूप हैं– ये सिद्ध हो जायें।

भा०– तत्तर्हि वावचनं कर्त्तव्यम्।।

तो फिर क्या वावचन करना ही चाहिये?

भा०– न कर्त्तव्यम्। उभयं[1] कण्ड्वादीनि, धातवश्चैव प्रातिपदिकानि च।।

आतश्चोभयं, कण्डूयतीति हि क्रियां कुर्वाणे प्रयुज्यते, 'अस्ति में कण्डू' रिति वेदनामात्रस्य[2] सांनिध्ये।।

---

१. उभयथेत्यर्थे उभयमित्ययम्। द्विप्रकाराणीत्यर्थः। २. कण्डूज्ञानमात्रसांनिध्य इत्यर्थः।

नहीं, वावचन करने की तो कोई आवश्यकता नहीं है। वह अर्थ हमें दूसरे मार्ग से प्राप्त हो जायेगा। कण्ड्वादि दोनों प्रकार के हैं– धातु भी हैं और प्रातिपदिक भी। हाँ! निश्चितरूप से दोनों प्रकार के हैं। और इसमें प्रमाण यह है– क्रिया करते हुये के लिये 'कण्डूयति'– ऐसा प्रयोग होता है। तथा वेदनामात्र के सांनिध्य में वक्ता ऐसा बोलता है– मुझे 'कण्डू' हो रही है। वेदना तो स्पष्ट ही लिङ्ग व संख्या से युक्त होने के कारण सत्वरूप (द्रव्यरूप) ही प्रतीत होती है न कि साध्यरूप। भाष्यकार के 'अस्ति मे कण्डूरिति वेदनामात्रस्य सांनिध्ये'– इस उपर्युक्त कथन से यह भी पता चल रहा है कि भावक्विबन्त से 'कण्डू' इत्यादि की सिद्धि नहीं है। क्योंकि भावक्विबन्त में तो प्रकृति के द्वारा साध्यरूपता की भी प्रतीति होने लगेगी– जबकि यहाँ वैसा नहीं है। इसलिये यही कहना होगा कि इन कण्डू आदि से भाव में क्विप् है ही नहीं।

भाष्यम्– अपर आह– धातुप्रकरणाद्धातुः कस्य चासञ्जनादपि।
आह चायमिमं[1] दीर्घं मन्ये धातुर्विभाषितः।। इति।।२७।।

कण्ड्वादि का जो द्वैविध्य कहा गया– वह सूत्रकार ने ही हम को जतला दिया है– इस आशय से कहते हैं–

'हेतुमति च' (अ०– ३.१.२६) इस पूर्वसूत्र में 'धातोरेकाचो०' (अ०– ३.१.२२) सूत्र से 'धातोः' पद की अनुवृत्ति होती हुयी यहाँ इस सूत्र में भी है– इसलिये इनका धातुत्व सिद्ध है। इस प्रकार धातुओं से ही स्वार्थ में नित्य यक् होता है। अर्थात् 'वा' ग्रहण की अनुवृत्ति मानकर पक्ष में 'कण्डवति' इत्यादि नहीं होते। प्रातिपदिकों से तो स्वाद्युत्पत्ति होकर 'कण्डूः' इत्यादि सिद्ध हो जाते हैं।

कण्ड्वादि के धातुत्व में दूसरा हेतु यह है– 'यक्' यहाँ गुणनिषेधार्थ ककारानुबन्ध करने से भी इनका धातुत्व सिद्ध होता है। क्योंकि, धातुशब्द का उच्चारण करके विहित प्रत्यय की ही आर्धधातुक संज्ञा होती है। और उस आर्धधातुसंज्ञक प्रत्यय को मानकर जब गुण प्राप्त हो तो 'क्ङिति च' (अ०– १.१.५) से निषेध होता है। यदि कण्ड्वादि धातु नहीं हैं, तो उनसे आये यक् की आर्धधातुक संज्ञा भी नहीं होगी। और जब आर्धधातुकसंज्ञा नहीं तो गुण की प्राप्ति नहीं, गुण की प्राप्ति नहीं तो उसको निषेध करने के लिये 'यक्' को कित् करना व्यर्थ हो जाता है। इस प्रकार 'यक्' के ककारानुबन्ध से कण्ड्वादि का धातुत्व का अनुमान किया जाता है। किन्तु यह आचार्य कण्डूञ् प्रभृति कुछ शब्दों को दीर्घान्त भी पढ़ रहे है। उससे मैं (श्लोकवार्त्तिककार की ओर से यह कथन है) ऐसा मानता हूँ कि इनका धातुत्व विकल्पित (विभाषित) है। अर्थात् ये प्रातिपदिक भी हैं। यदि केवल धातु ही होते तो 'कण्डुञ्' ऐसा ह्रस्वान्त रूप में ही पढ देते और 'अकृत्सार्वधातुक०' से दीर्घ तो हो ही जाता।

१. 'इमम्' इति दीर्घान्तस्योपलक्षणम्।।

वल्गु, मन्तु आदि का ह्रस्वपाठ प्रातिपदिक विषय में चरितार्थ है– इसलिये धातुपक्ष में उनको भी दीर्घ होता है– वल्गूयति-मन्तूयति इत्यादि।।

कमेर्णिङ्।।३.१.३०।।

भाष्यम्– किमर्थोऽयं णकार:?

कमु-कान्तौ धातु से णिङ् प्रत्यय होता है। यहाँ णिङ् में णकार का क्या प्रयोजन है?

भा०– वृद्ध्यर्थ:। ञ्णितीति वृद्धिर्यथा स्याद् इति।

णिङ् का णकार है– वृद्धि करने के लिये। ञित्, णित् प्रत्ययों के परे रहते 'अत उपधाया:' (अ०– ७.२.११६) से उपधा अकार को कही गयी वृद्धि 'कामयते' यहाँ भी हो जाये।

भा०– क्रियमाणेऽपि वै णकारे वृद्धिर्न प्राप्नोति।। किं कारणम्?

'क्ङिति चे'ति (अ०– १.१.५) प्रतिषेधात्।।

किन्तु वह वृद्धि तो णकार करने पर भी प्राप्त नहीं होगी। क्यों, ऐसा क्या कारण है? णिङ् ङित् भी तो है– इसलिये 'क्ङिति च' से प्रतिषेध प्राप्त हो जायेगा। यह कथन उस व्यक्ति का है जो यह नहीं जानता कि 'क्ङिति च' सूत्र तो इग्लक्षण गुण वृद्धि का ही प्रतिषेध करता है। प्रकृत में तो उपधा अकार लक्षणा वृद्धि है, न कि इग्लक्षणा।

भा०– णित्करणसामर्थ्याद् भविष्यति।।

णित्करणसामर्थ्य से वृद्धि हो जायेगी। अन्यथा णित्करण व्यर्थ हो जायेगा।

भा०– अत उत्तरं पठति।

इतनी भूमिका के बाद वार्त्तिककार अपनी बात कहता है–

वा०– * णिङि णित्करणस्य सावकाशत्वाद् वृद्धिप्रतिषेधप्रसङ्ग:।।१।। *

भाष्यम्– णिङि णित्करणं सावकाशम्।। कोऽवकाश:?

सामान्यग्रहणार्थो णकार:।। क्व सामान्यग्रहणार्थेन णकारेणाऽर्थ: ?णेरनिटि (अ०– ६.४.५१) इति।

णिङि णित्करणस्य सावकाशत्वाद् वृद्धे: प्रतिषेध: प्राप्नोति।।

णिङ् प्रत्यय में णित्करण (णकारानुबन्धकरण) के सावकाश होने से वृद्धिप्रतिषेध का प्रसङ्ग उपस्थित होने लगता है। णिङ् प्रत्यय में णित्करण सावकाश है। कहाँ है भला, वह अवकाश? णिङ् का णकार सामान्यग्रहणार्थ है। सामान्यग्रहणार्थ णकार से कहाँ प्रयोजन है? णेरनिटि– सूत्र में पठित 'णि' के द्वारा णिच्

और णिङ् इन दोनों का सामान्यग्रहण चाहते हैं। यदि यहाँ णकार नहीं रखेंगे तो, 'णेरनिटि' में इस 'णि' का ग्रहण नहीं हो पायेगा। इस प्रकार णिङ् में णित्करण के सावकाश होने से ङित् करण से वृद्धि का प्रतिषेध पायेगा।

भा०– ङित्करणमपि सावकाशम्।। कोऽवकाशः? सामान्यग्रहणाऽविघातार्थो ङकारः।। क्व सामान्यग्रहणाऽविघाताऽर्थेनाऽर्थः? अत्रैव।।

सो तो ङित्करण (ङकारानुबन्धकरण) भी सावकाश है। ङित्करण का अवकाश कौन है? सामान्यग्रहण के विघात को बचाने के लिये है ङकार, अर्थात् सामान्यग्रहणार्थ का विघात (नाश) न हो जाये– इसके लिये है ङकार। सामान्यग्रहण के विघात को बचाना कहाँ पर अभीष्ट है? यहीं पर अर्थात् 'णेरनिटि' सूत्र में ही। णिङ् में ङकारानुबन्ध के अभाव में 'णेरनिटि' में इसी णि का ग्रहण हुआ करेगा न कि णिच् का भी।

भा०– शक्योऽत्र सामान्यग्रहणाऽविघातार्थोऽन्योऽनुबन्ध आसङ्क्तुम्।

तत्र ङकारानुरोधाद् वृद्धिप्रतिषेधः प्राप्नोति।।

सामान्यग्रहण के अविघात के लिये तो कोई और भी अनुबन्ध लगाया जाना संभव था, उसके लिये आचार्य ङकार को ही क्यों पकडते। इसलिये ङकारानुबन्ध से तो वृद्धि प्रतिषेध ही प्राप्त होता है।

भा०– अवश्यमत्रात्मनेपदार्थो ङकारोऽनुबन्ध आसंक्तव्यो ङित इत्यात्मनेपदं यथा स्यात्।।

फिर भी वृद्धिप्रतिषेध नहीं होगा। क्योंकि आत्मनेपद करने के लिये अवश्य ही ङकारानुबन्ध चाहियेगा। 'अनुदात्तङितः०' (अ०– १.३.१२) से ङित् से उत्तर आत्मनेपद हो जाये।

भा०– एवमप्युभयोः सावकाशयोः प्रतिषेधबलीयस्त्वात्प्रतिषेधः प्राप्नोति।।

फिर भी, अर्थात् णित् और ङित् दोनों के सावकाश[1] होने पर भी प्रतिषेध के बलवान् होने से वृद्धिप्रतिषेध ही प्राप्त होता है। 'प्रतिषेधबलीयस्त्वाद्' हेतु का भाव यह है– प्रसक्त जो अनभिनिर्वृत्त (अनिष्पन्न) है उसका प्रतिषेध हुआ करता है। इस प्रकार णकार के द्वारा प्रसक्त वृद्धि का ङकार के द्वारा प्रतिषेध पाता है। यह उपर्युक्त बात सामान्यरूप से कही गयी है। वस्तुतः 'प्रतिषेध है' इतने मात्र से प्रतिषेध सामान्य का विधि सामान्य की अपेक्षा से बलीयस्त्व नहीं कहा जा सकता। किन्तु विधिविशेष की अपेक्षा से जो प्रतिषेध विशेष निरवकाश है, उसीका बलीयस्त्व कहना चाहिये। प्रकृत में तो णकारप्रयुक्त वृद्धि के निरवकाश होने से वृद्धि विधिविशेष है और ङकारप्रयुक्त निषेध के सावकाश होने से वह निषेध प्रतिषेध सामान्य है अतः प्रतिषेध प्रवृत्त नही होता। इस सब को मन में रखकर 'न्यायसिद्धेऽर्थे लिङ्गदर्शनम्' इस न्याय से भाष्यकार आगे अपनी बात कह रहे हैं–

---

१. 'णेरनिटि' यहाँ सामान्यग्रहणार्थ णकार की सावकाशता है और मुख्य रूप से तो आत्मनेपद करने के लिये तथा साथ में सामान्यग्रहणाविघात के लिये भी ङित् सावकाश है।

भाष्यम्– एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति– 'न कमेर्वृद्धिप्रतिषेधो भवती'ति यदयं 'न कम्यमिचमा'मिति मित्संज्ञायाः प्रतिषेधं शास्ति।।

अच्छा तो आचार्य का व्यवहार जतलाता है कि– कम् धातु को (णिङ् ङित्व को लेकर) वृद्धिप्रतिषेध नहीं होता। जो यह 'न कम्यमिचमाम्' (धा०पा०भ्वादि० ५६३) इस धातुगणसूत्र के द्वारा 'कम्' धातु की मित्संज्ञा का प्रतिषेध कर रहे हैं।

इसका भाव यह है– मित्संज्ञा का प्रयोजन है 'मितां ह्रस्वः' (अ०– ६.४.९२) से मित् अङ्ग को ह्रस्व हो जाये। और मित्त्वनिषेध का फल क्या है, यदि यह पूछा जाये तो कहना होगा– ह्रस्व का अभाव रहे अर्थात् वृद्धियुक्त रूप का श्रवण हो। 'कम्' धातु को यदि वृद्धि न हो तो वहाँ स्वतः ही ह्रस्व के विद्यमान होने से मित्त्वनिषेध करना व्यर्थ हो जाता है। उसकी सार्थकता तो तभी है, जब वृद्धि प्राप्त हो जाये अर्थात् उसका श्रवण हो। क्योंकि वृद्धि हो जाने पर यदि मित्त्वनिषेध नहीं किया जायेगा तो 'मितां ह्रस्वः' से ह्रस्व होने लगेगा अर्थात् वृद्धि का श्रवण नहीं हो सकेगा। इस प्रकार मित्संज्ञा का प्रतिषेध वृद्धिसत्ता को ज्ञापित करता है।

वा०– ❋ मित्प्रतिषेधस्य चाऽर्थवत्त्वात्।।२।। ❋

भा०– मित्प्रतिषेधस्य चार्थवत्त्वाद् वृद्धिप्रतिषेधः प्राप्नोति।

अर्थवान् मित्प्रतिषेधः।। कोऽर्थः? णिङन्तस्य णिचि या वृद्धिस्तस्या ह्रस्वत्वं मा भूदिति।।

मित्प्रतिषेध के अर्थवान् (सार्थक) होने से वृद्धिप्रतिषेध पाता ही है। मित् प्रतिषेध अर्थवान् है। और जब अर्थवान् है तो वह मित् प्रतिषेध 'कम्-धातु को वृद्धि प्रतिषेध नहीं होता'– इस बात में ज्ञापक नहीं बनेगा। अच्छा, जरा यह तो बतायें, मित् प्रतिषेध करने का कौन सा प्रयोजन है? प्रयोजन है– देवदत्तः कामयते, 'तं कामयमानं देवदत्तं प्रयुङ्क्ते' इस विवक्षा में जब णिङन्त से 'हेतुमति च' (अ०– ३.१.२६) से णिच् किया जाये तो उसके परे रहते जो वृद्धि प्राप्त है उसको ह्रस्व न होवे।

'काम्+णिङ्+णिच्' इस स्थिति में जो वृद्धि है– मित्त्वनिषेध करने से उस वृद्धि को 'मितां ह्रस्वः' से ह्रस्व न होना (अर्थात् वृद्धि बने रहना) मित्त्वनिषेध की सार्थकता है।

मित्तनिषेध जब सार्थक है तो 'न कमेर्वृद्धिप्रतिषेधो भवति' इस बात में वह ज्ञापक नहीं बनेगा। और जब ज्ञापक नहीं होगा तो णिङ् के ङित्त्व को लेकर वृद्धिप्रतिषेध प्राप्त होगा ही। जो कि इष्ट नहीं है।

भा०– ननु तस्या अपि 'क्ङिति चे'ति प्रतिषेधेन भवितव्यम्।।

क्यों जी! णिङन्त से णिच् परे रहते जो वृद्धि प्राप्त होगी उसका भी 'क्ङिति च' से प्रतिषेध हो जायेगा।

भा०– न भवितव्यम्। उक्तमेतत्– 'क्ङिति प्रतिषेधे तन्निमित्तग्रहणमुपधारोरवीत्यर्थ'मिति।।

नहीं! ऐसा नहीं होगा। 'क्ङिति च' सूत्र में यह कहा गया है कि क्ङित् परे जो गुणवृद्धि प्रतिषेध है इस विषय में तन्निमित्तग्रहण करना चाहिये। जिससे (भिद्+क्त इत्यादि में) उपधा को गुण निषेध तथा 'रोरु+(यङ्) ईति इत्यादि में गुण की सिद्धि हो जाये।'

तन्निमित्तग्रहण करने से क्ङित् निमित्तक जो गुणवृद्धि वे नहीं होते– ऐसा अर्थ होगा। अर्थात् क्ङिति परसप्तमी नहीं है बल्कि निमित्तसप्तमी है– ऐसा अर्थ समझा जाये। इससे 'भिद्+क्त' यहाँ उपधा को भी गुणप्रतिषेध हो जायेगा। यदि पर सप्तमी मान्य होती तो केवल 'चि+क्त' इत्यादि में ही निषेध हो पाता। तथा तन्निमित्तग्रहण का दूसरा प्रयोजन यह है कि, रोरु+(यङ्)+ईति इस स्थिति में तिप् प्रत्यय को मानकर 'सार्वधातुकार्ध०' (अ०– ७.३.८४) से जो गुण प्राप्त है उसका यङ् के ङित् के कारण प्रतिषेध नहीं होगा, क्यों कि यह गुण तिप् निमित्तक है, न कि ङित् (यङ्) निमित्तक। सो तद्वत् 'काम्+णिङ्+णिच्' यहाँ भी णिच् को मानकर प्राप्त हुयी वृद्धि का णिङ् के ङित् से 'क्ङिति च' से प्रतिषेध नहीं होगा। क्योंकि यहाँ जो वृद्धि है, वह ङित् प्रत्ययनिमित्तक नहीं है।

भा०– एवं तर्हि न णिङन्तस्य णिचि या वृद्धिस्तस्या ह्रस्वत्वं न प्राप्नोति।। किं कारणम्? णिङा व्यवहितत्वात्?।।

अच्छा तो ऐसा समझिये कि 'कम्+णिङ्+णिच्' इस स्थिति में णिङन्त को णिच् परे रहते जो वृद्धि है, उस वृद्धि को 'मितां ह्रस्वंः' से ह्रस्व प्राप्त ही नहीं होता।। क्यों, क्या कारण है? णिङ् के द्वारा व्यवधान हो जाने से। इसका भाव यह है– णिङन्त को णिच् परे रहते ह्रस्ववारणरूप मित्प्रतिषेध का जो फल दर्शाया है– वह ठीक नहीं हैं, क्योंकि णिङ् के बीच में उपस्थित रहने से मित् अङ्ग से णिच् सीधा परे नहीं मिलता। इस प्रकार मित् प्रतिषेध ह्रस्ववारणार्थ है– ऐसा नहीं कहा जा सकता। और जब ऐसा नहीं कहा जा सकता तो मित् प्रतिषेध का वृद्धिप्रतिषेधाभावज्ञापकत्व सुस्थिर बना रहता है।

भा०– लोपे कृते नास्ति व्यवधानम्।।

किन्तु णिङ् का तो णिच् परे रहते णेरनिटि (अ०– ६.४.५१) से लोप हो जायेगा और लोप होने पर मित् अङ्ग तथा णिच् के बीच कोई व्यवधान नहीं रहता। तब 'मितां ह्रस्वः' से प्राप्त ह्रस्वत्व को रोकने में मित् प्रतिषेध की सार्थकता है। मित् प्रतिषेध सार्थक है तो ज्ञापक नहीं है। ज्ञापक नहीं है तो णिङ् के ङित् के कारण वृद्धिप्रतिषेध प्राप्त होगा ही।

भा०– स्थानिवद्भावाद् व्यवधानमेव।।

ज्ञापकसमर्थनवादी कहता है– 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' से णिङ् = लोप के स्थानिवद्भाव होने से व्यवधान ही रहेगा। व्यवधान होने से 'मितां ह्रस्वंः' प्रवृत्त नहीं हो सकेगा। और जब वह प्राप्त ही नहीं तो उसको

रोकने के लिये मित् प्रतिषेध करना भी व्यर्थ है। इस प्रकार व्यर्थ होकर मित् प्रतिषेध इस बात में ज्ञापक बन जाता है कि 'कम्' धातु को णिङ् प्रत्यय में वृद्धिप्रतिषेध नहीं होता।

भा०– णिङ्येव तर्हि मा भूदिति।।

अब ज्ञापकखण्डनवादी कहता है– अच्छा तो णिच् को मानकर प्रवृत्त हुयी जो वृद्धि है उसका णिङ् निमित्तक ह्रस्वत्व न हो– इसके लिये मित् प्रतिषेध की सार्थकता हो सकती है।

खण्डनवादी ऐसा मान रहा है– णिङ्निमित्ता वृद्धि का 'क्ङिति च' से प्रतिषेध होने पर भी णिज्निमित्ता वृद्धि तो हो ही जायेगी। अब यदि उसके मित्त्व का प्रतिषेध नहीं होगा तो णिङ् को मानकर 'मितां ह्रस्वः' होने लगेगा। इस प्रकार मित्त्व प्रतिषेध के चरितार्थ हो जाने से वह वृद्धिप्रतिषेध के अभाव में ज्ञापक नहीं बन सकेगा।

भा०– णिङि च न प्राप्नोति।। किं कारणम्? 'असिद्धं बहिरङ्गलक्षणमन्तरङ्गलक्षण' इति।।

किन्तु णिङ् में तो 'मितां ह्रस्वः' से ह्रस्वत्व प्राप्त ही नहीं होता।। क्यों! ऐसा क्या कारण है– जो प्राप्त ही नहीं होता? कारण है– असिद्धं बहिरङ्गलक्षणमन्तरङ्गलक्षणे (पारि० ४५) इस परिभाषाबल से अन्तरङ्गलक्षण ह्रस्व करते समय बहिरङ्गलक्षणा वृद्धि असिद्ध हो जाएगी। वृद्धि के असिद्ध हो जाने पर ह्रस्व को ह्रस्व करने पर कोई प्रयोजन नहीं, इसलिये 'मितां ह्रस्वः' के अप्रवृत्त रहने से ज्ञापक स्थित ही रहेगा।

'काम्+णिङ्+णिच्'– इस स्थिति में णिज्निमित्ता वृद्धि का बहिरङ्गत्व इसलिये है कि वह बहिर्भूतप्रत्ययनिमित्ता है, और इसके विपरीत 'मितां ह्रस्वः' का अन्तरङ्गत्व अन्तर्भूतप्रत्यय णिङ् को मानकर प्राप्त होने से है।

भा०– नैव वा पुनर्णिङन्तस्य णिचि वृद्धिः प्राप्नोति।। किं कारणम्?

णिङा व्यवहितत्वात्।। लोपे कृते नास्ति व्यवधानम्।। स्थानिवद्भावाद् व्यवधानमेव।।

अब ज्ञापकसमर्थकवादी ज्ञापकत्वसाधक युक्त्यन्तर प्रस्तुत करता है– अथवा णिङन्त को णिच् के परे रहते वृद्धि की बात ही कैसे सोची जा रही है, वह तो प्राप्त ही नहीं। क्या कारण है– क्यों प्राप्त नहीं? कारण है, णिङ् के बीच में आ जाने से उपधा में 'कम्' का अकार मिलेगा ही नहीं। यदि यह कहते हो कि णिङ् का लोप कर लेने पर कोई व्यवधान नहीं है तो इस पर कहना होगा कि 'अचः परस्मिन्०' से उस लुप्त हुये णिङ् के स्थानिवद्भाव हो जाने से वह वहाँ रहता ही है, अर्थात् व्यवधान है।

'क्विलुगुपधात्व०' (म०भा०वा० १.१.५७) उपधाविधि में स्थानिवत्त्व का निषेध प्रत्ययविधि में ही है, जैसा कि वहीं 'पारिखीय' इत्यादि दिये गये उदाहरणों से यह बात स्पष्ट है। इस प्रकार जब यह निश्चित

हो गया कि 'कम्+णिङ्+णिच्' इस स्थिति में णिच् को मानकर 'कम्' को वृद्धि प्राप्त ही नहीं तो 'न कम्यमिचमाम्' (भ्वा०ग०सू० ५६३) से कम् की मित् संज्ञा का प्रतिषेध करके आचार्य क्या प्रयोजन सिद्ध करना चाहते हैं? क्योंकि मित्त्वप्रतिषेध की सार्थकता तो तभी है कि जब पहिले 'कम्' को वृद्धि हो– फिर उसे 'मितां ह्रस्वः' ह्रस्व पाये और तब कहीं जाकर यह कहना बने कि 'कम्' की मित्संज्ञा का प्रतिषेध हो जाने से ह्रस्व नहीं होगा। जैसा की अभी ऊपर दर्शाया, णिच् के परे रहते तो 'कम्' को वृद्धि होगी नहीं, अब बात आ जाती है णिङ् पर, यदि णिङ् के ङित्त्व के कारण उसमें भी वृद्धि न हो तो 'कम्' के मित्त्वनिषेध की क्या गति? स्पष्ट है, ऐसी स्थिति में उसकी कोई आवश्यकता नहीं। पर फिर भी आचार्य ने मित्त्वप्रतिषेध किया है। उससे उनका यही भाव झलकता है कि, णिङ् का ङित्व 'कम्' की वृद्धि में बाधक नहीं बनता (न कमेर्वृद्धिप्रतिषेधो भवतीति) इस ज्ञापक की छाया में तो मित्त्वप्रतिषेध करना ही पडेगा। अन्यथा वृद्धि होकर 'मितां ह्रस्वंः' से ह्रस्व हो जायेगा। इष्ट है 'कामयते'– बनने लगेगा– कमयते।

भाष्यम्– इदं तर्हि प्रयोजनं यत्त'च्चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम्' (अ०– ६.४.९३) इति दीर्घत्वं शास्ति, तत्कमेर्णिङि मा भूदिति।।

ज्ञापकखण्डनवादी कहता है– अच्छा, मित्संज्ञा प्रतिषेध का यह प्रयोजन है कि जो ये 'चिण्णमुलोदीर्घो०' सूत्र से चिण् व णमुल् परक णि के परे रहते मित् अङ्ग को विकल्प से दीर्घ शासन कर रहे हैं, वह कम्-धातु को णिङ् परे रहते न हो। अर्थात् मित्त्वनिषेध का पाक्षिक दीर्घाभाव प्रयोजन है, न कि णिङ् में वृद्धिज्ञापकत्व अर्थात् वृद्धि के प्रतिषेध का प्रतिषेध। शम् के समान अशमि– अशामि दो रूप न बनें, बल्कि अकमि एक ही रूप बने– यह मित्त्वनिषेध का प्रयोजन है।

भा०– किं पुनः कारणं तत्र 'दीर्घोऽन्यतरस्यामि'त्युच्यते न 'ह्रस्वोऽन्यतरस्यामित्येवोच्येत'? यथाप्राप्तं चापि कमेर्ह्रस्वत्वमेव। तत्रायमप्यर्थो ह्रस्वग्रहणं न कर्त्तव्यं भवति, प्रकृतमनुवर्त्तते।। क्व प्रकृतम्? 'मितां ह्रस्वः' (अ०– ६.४.९२) इति।।

ज्ञापकवादी खण्डनवादी से पूछता है– मुझे यह बताओ कि क्या कारण है, जो वहाँ उस सूत्र में 'दीर्घोऽन्यतरस्याम्' ऐसा कहा जा रहा है क्यों न 'ह्रस्वोऽन्यतरस्याम्' यही कह दिया जाये। यथाप्राप्त 'कम्' धातु को ह्रस्वत्व ही है। उससे यह भी लाभ होगा कि ह्रस्वग्रहण नहीं करना पडेगा, जो ऊपर सूत्र में प्रस्तुत (प्रकृत) है, उसी की अनुवृत्ति हो जायेगी। ऊपर कहाँ प्रस्तुत है? 'मितां ह्रस्वः' यहाँ। इस 'ह्रस्वोऽन्यतरस्याम्' कहने में कुछ न कुछ लाघव ही है। अर्थात् गौरवदोष से बचने के लिये यदि आप 'ह्रस्वोऽन्यतरस्याम्' न कहकर दीर्घोऽन्यतरस्याम् कह रहे हो– तो वैसा भी नहीं है।

इसका भाव यह है– 'चिण्णमुलोर्दीर्घो०' सूत्र में दीर्घोऽन्यतरस्याम् कहने से मित्त्वनिषेध का पाक्षिकदीर्घाभाव

(नित्य दीर्घत्व) प्रयोजन दिया जा सकता है। यदि उस सूत्र में 'ह्रस्वोऽन्यतरस्याम्' कहा जाये, तब तो 'न कम्यमिचमाम्' से मित्त्वनिषेध वृद्धिप्रतिषेध के अभाव का अर्थात् वृद्धि का ही ज्ञापक बनेगा। सो कैसे? 'कम्+णिङ्+चिण्' या 'कम्+णिङ्+णमुल्' इस स्थिति में मान लेते हैं कि आपके अनुसार 'क्ङिति च' से वृद्धिप्रतिषेध हो गया। इधर 'चिण्णमुलोर्दीर्घो०' सूत्र में 'दीर्घोऽन्यतरस्याम्' के स्थान में 'ह्रस्वोऽन्यतरस्याम्' रखते हुये यह कह रहे हैं कि मित् अङ्ग को चिण् व णमुल् परक णि के परे रहते विकल्प से ह्रस्व होता है। उधर 'न कम्यमिचमाम्' से कम् को मित्त्वप्रतिषेध कर रहे हैं। अब यह विचारणीय है कि उपर्युक्त परिस्थिति में 'कम्' के मित्त्वनिषेध के द्वारा क्या लाभ लेना चाहते हैं। स्पष्ट है 'चिण्णमुलो:०' सूत्र के संदर्भ में दीर्घ के स्थान में 'ह्रस्वोऽन्यतरस्याम्' कहने पर यदि मित्त्वफल ह्रस्वविकल्प करना है तो मित्त्वनिषेध का फल होगा 'चिण्णमुलो:०' सूत्रोक्त ह्रस्वविकल्प का अभाव। किन्तु मित्त्वनिषेध के द्वारा ह्रस्वविकल्प के अभाव का कथन करना तो तभी सार्थक है जब कम् को वृद्धि हो जाये। अर्थात् णिङ् का ङकार उसमें बाधक न बने। यदि ङकार के द्वारा वृद्धि का प्रतिषेध हो जाता है, तब तो 'कम्' में नित्य ह्रस्वत्व ही अवस्थित मिलेगा। उस स्थिति में मित् प्रतिषेध के द्वारा ह्रस्वविकल्प के अभाव करने का क्या औचित्य? फिर भी आचार्य मित्प्रतिषेध कर रहे हैं, तो उसका यही अर्थ निकलता है कि 'कम्' को वृद्धि हो ही जाती है। अब वृद्धि होने पर यदि मित् प्रतिषेध न किया जाये तो 'चिण्णमुलो:०' सूत्र से ह्रस्वविकल्प होकर अकमि-अकामि; कमं कमम्, कामं-कामम्; दो रूप बनने लगेंगे जबकि अकामि व कामं कामम् एक ही रूप चाहते हैं।

भा०– का रूपसिद्धि:? अशमि, अशामि। शमं शमम्, शामं शामम्।।

आक्षेप्ता पूछता है– 'चिण्णमुलो:०' (६.४.९३) सूत्र में 'ह्रस्वोऽन्यतरस्याम्' कहकर ह्रस्व विकल्प करने से क्या हमारे इष्टरूप सिद्ध हो जायेंगे– हम तो अशमि, अशामि। शमं शमम्, शामं-शामम्– ऐसी रूपसिद्धि चाहते हैं। दीर्घविकल्प करने पर तो पक्ष में यथाप्राप्त (मितां ह्रस्व:) ह्रस्व हो जाता है।

भा०– वृद्ध्या सिद्धम्।।

समाधाता कहता है– हाँ! अत उपधाया: (अ०– ७.२.११६) से वृद्धि होकर रूप सिद्ध हो जायेंगे।

'शम् णिच् चिण्' या 'शम् णिच् णमुल्' इस स्थिति में 'चिण्णमुलो:०' सूत्र विकल्प से ह्रस्व विधान करेगा। ह्रस्वाभाव पक्ष में यथाप्राप्त वृद्धि होगी।

भा०– न सिद्ध्यति। नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमे: (अ०– ७.३.३४) इति वृद्धिप्रतिषेध: प्राप्नोति।।

जो यह कह रहे हो– वृद्धि के द्वारा इष्टरूपसिद्धि हो जायेगी– सो वह नहीं हो सकेगी। क्योंकि 'अत उपधाया:' प्राप्त वृद्धि का 'नोदात्तोपदेशस्य०' (अ०– ७.३.३४) सूत्र से प्रतिषेध पाता है।

भा०– नैष दोष:। चिण्कृतो: स वृद्धिप्रतिषेधो, न णिचि।।

नहीं! यह कोई दोष नहीं है। आचामिवर्जित उदात्तोपदेश मान्त अङ्ग को जो वृद्धिनिषेध कहा है वह तो चिण् व ञित्-णित् कृत् परे रहते करता है, न कि णिच् परे रहते।

भा०– इह तर्हि– अजनि, अजानि; जनं जनम्, जानं जानम्।

'जनिवध्योश्च' (अ०– ७.३.३५) इति प्रतिषेध: प्राप्नोति।।

अच्छा, तो यहाँ अजनि अजानि; जनं जनम्, जानं जानम् इन प्रयोगों में 'जनिवध्योश्च' से वृद्धि प्रतिषेध प्राप्त होता है।

भा०– सोऽपि चिण्कृतोरेव, न णिचि।।

वह प्रतिषेध भी चिण् तथा ञ्णित् कृत् के परे रहते ही प्रवृत्त होता है, न कि णिच् के परे रहते।

भा०– णिज्व्यवहितेषु तर्हि यङ्लोपे चोपसंख्यानं कर्त्तव्यं स्यात्। शमयन्तं प्रयोजितवान्– अशमि अशामि, शमं शमम्, शामं शामम्। शंशमयते:– अशंशमि अशंशामि, शंशमं शंशमम्, शंशामं शंशामम्।। किं पुन: कारणं न सिद्ध्यति? 'चिण्णमुल्परे णौ मितामङ्गानां ह्रस्वो भवती'त्युच्यते, यश्चात्र णिश्चिण्णमुल्परो, न तस्मिन्मिदङ्गं, यस्मिंश्च मिदङ्गं नाऽसौ णिश्चिण्णमुल्पर:।। णिलोपे तर्हि कृते चिण्णमुल्पर:।। स्थानिवद्भावान्न चिण्णमुल्पर:।।

अब 'चिण्णमुलो:०' (६.४.९३) इस ह्रस्वघटित न्यास में वास्तविक दोष दिया जा रहा है– अच्छा तो, णिज्व्यवहितों में अर्थात् जब शमिप्रभृति णिजन्तों से दूसरा णिच् किया जाता है तब और यङ्लोप में अर्थात् शमिप्रभृति यङन्तों से णिच् करने पर अल्लोप (अतो लोप:, ६.४.४८) और यलोप (यस्य हल:, ६.४.४९) करने पर पाक्षिकवृद्धिप्राप्त्यर्थ अर्थात् वृद्धि के वैकल्पिकत्त्व के लिये "वृद्धिर्वा भवति" इस रूप में उपसंख्यान करना पड़ेगा। दीर्घविधान में तो कृतह्रस्व को दीर्घविधान करने से सिद्ध ही हो जाता है। जैसे 'देवदत्त: शाम्यति, तं प्रेरयति शमयति, तं शमयन्तं प्रयोजितवान् अशमि, अशामि'। शमं शमम्, शामं शामम्। इसी प्रकार भृशं शाम्यति शंशम्यते, तं शंशम्यमानं प्रयोजितवान् अशंशमि अशंशामि। शंशमं शंशमम्, शंशामं शंशामम्।

ऐसा क्या कारण है जो कि सिद्ध नहीं होता? कारण यह है कि 'शम्+णिच्+णिच्+चिण्' व 'शम्+णिच्+णिच्+णमुल्' अथवा 'शंशम्+यङ् णिच्+चिण्' व 'शंशम्+यङ्+णिच्+णमुल्' इस स्थिति में चिण् व णमुल् परक णि के परे रहते मित् अङ्गों को ह्रस्व होता है– ऐसा कह रहे हैं। जो यहाँ चिण्-णमुल् परक णि है उसके परे रहते मित् अङ्ग नहीं है, बीच में णि और यङ् का व्यवधान आ गया है। और जिस णि के परे मित् अङ्ग है वह णि, चिण् या णमुल् नहीं है। इस प्रकार सूत्र का अर्थ ठीक-ठीक घट नहीं पा रहा। 'णेरनिटि' (६.४.५२)

से अनिडादि आर्धधातुक परे रहते णिलोप कर लेने पर और आर्धधातुक परे यङ् का भी अल्लोप, यलोप कर लेने पर णि अथवा यङ् व्यवधायक नहीं होंगे और 'चिण्णमुल् परक जो णि' यह अर्थ ठीक से घट जायेगा। इस प्रकार हमारी इष्टसिद्धि हो जायेगी।

अचः परस्मिन् पूर्वविधौ (अ० – १.१.५६) परनिमित्तक अजादेश (प्रकृत में णिलोप व अल्लोप) पूर्वविधि करने में स्थानिवत् होते हैं– स्थानिवद्भाव हो जाने से चिण्-णमुल् परक णि के परे जो मित् अङ्ग– यह अर्थ उदाहरणों में प्राप्त नहीं हो सकेगा। अतः दोष ही बना रहेगा।

भा० – अथ 'दीर्घोऽन्यतरस्या'मित्युच्यमाने यावता स्थानिवद्भावः कथमेवैतत्सिद्ध्यति ?

अच्छा, यह बताओ– 'चिण्णमुलोः०' सूत्र में 'ह्रस्वोऽन्यतरस्याम्' न कहकर जब 'दीर्घोऽन्यतरस्याम्' ही रख लेते हैं तो स्थानिवद्भाव तो तब भी है, फिर उस अवस्था में 'दीर्घोऽन्यतरस्याम्' से कैसे हमारा अभीष्ट सिद्ध हो जाता है ?

भा० – एतदिदानीं दीर्घग्रहणस्य प्रयोजनम्– 'दीर्घविधिं प्रत्यजादेशो न स्थानिव'दिति स्थानिवद्भावप्रतिषेधः सिद्धो भवति।।

हाँ! यही तो है दीर्घग्रहण का प्रयोजन– जो कि, 'अचः परस्मिन्०' से प्राप्त हो रहे स्थानिवद्भाव का 'न पदान्तद्विर्वचन०' (अ० – १.१.५७) सूत्र से दीर्घविधि के प्रति अजादेश स्थानिवत् नहीं होता– इस कारण स्थानिवत्त्व का प्रतिषेध सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार 'चिण्णमुलोः०' सूत्र में शमिप्रभृति धातुओं से णिजन्त से णिज् करने पर चिण् व णमुल् में अशमि, अशामि; शमं शमम्, शामं, शामम् इत्यादि इष्ट रूपों की सिद्धि के लिये 'दीर्घोऽन्यतरस्याम्' कहना ही पड़ेगा। और जब 'दीर्घोऽन्यतरस्याम्' कहेंगे तो कम् धातु से णिजन्त से कर्मवाच्य लुङ् में कम् णिच् चिण् त = 'अकामि' यहाँ पाक्षिकदीर्घनिवृत्ति में मित् प्रतिषेध के चरितार्थ होने से 'न कम्यमिचमाम्' से कहा गया वह मित् प्रतिषेध 'न कमेर्वृद्धिप्रतिषेधो भवति' इस बात में ज्ञापक नहीं बनेगा।

भाष्यम्– यदा खल्वप्यायादय आर्धधातुके वा भवन्ति तदा णिचि णिङ्नास्ति, तदर्थं च मित्प्रतिषेधः स्यात्।। तस्मात् प्रतिषेधः प्राप्नोति।।

और एक बात यह भी है– 'आयादय आर्धधातुके वा' (अ० – ३.१.३१) नियम से णिच् आर्धधातुक के विषय में जब णिङ् विकल्प से होगा तो अर्थात् अणिङन्त कम् धातु से जब णिच् किया जायेगा तो तब 'मितां ह्रस्वः' (अ० – ६.४.९२) से प्राप्त ह्रस्व की निवृत्ति के लिये 'न कम्यमिचमाम्' मित् प्रतिषेध की चरितार्थता है, इस प्रकार चरितार्थ हुआ मित् प्रतिषेध, वृद्धि प्रतिषेध के अभाव में अर्थात् वृद्धि की प्राप्ति में

ज्ञापक नहीं बनेगा, अत: णिङ् के ङकार को लेकर 'क्ङिति च' प्रतिषेध प्राप्त होता ही है।

वा०-* उक्तं वा।।३।। *

भा०- किमुक्तम्? 'तद्धितकाम्योरिक्प्रकरणा'दिति[१]।।३०।।

ठीक है, उपरि वर्णित दिशा से णिङ् के ङित् होने के कारण 'क्ङिति च' से निषेध प्राप्त होता है। पर इस समस्या के समाधान में जो कुछ कहना चाहिये, वह 'क्ङिति च' सूत्र पर वार्त्तिककार के द्वारा कह ही दिया गया है। क्या कह दिया है? यह कह दिया है कि 'लैगवायन' इत्यादि में 'लिगु' शब्द से फक् जो तद्धितप्रत्यय है, तत्संबन्धी कित्त्व को लेकर और 'कामयते' में 'कम्' धातु से विहित णिङ् प्रत्यय के ङित्त्व को लेकर 'क्ङिति च' प्रतिषेध इस कारण प्रवृत्त नहीं होता- क्योंकि 'क्ङिति च' सूत्र इग्लक्षणा गुणवृद्धि का ही प्रतिषेध करता है। 'इक:'- ऐसा उच्चारण करके जो गुण-वृद्धि प्राप्त होते हैं- केवलमात्र उन्हीं का निषेध होता है। 'कामयते' में कम्-धातु को जो वृद्धि प्राप्त है, वह इग्लक्षणा नहीं है।।३०।।

आयादय आर्धधातुके वा।।३.१.३१।।

भाष्यम्- कथमिदं विज्ञायते- 'आयादिभ्यो यदार्धधातुकं तस्मिन्नवस्थिते वाऽऽयादीनां निवृत्तिर्भवतीति, आहोस्विदायादिप्रकृतेर्यदार्द्धधातुकं तस्मिन्नवस्थिते वाऽऽयादीनामुत्पत्तिर्भवती'ति?

'आर्धधातुके' इस पद में परसप्तमी का आश्रय करके, दो प्रकार के सूत्रार्थ संभव है। पर दोनों में ही दोष हैं- ऐसा मानकर भाष्यकार विचार कर रहे हैं- यह कैसे जाना जाता है- आयादियों से[२] जो आर्धधातुक उसके पर में अवस्थित होने पर आयादि प्रत्ययों की विकल्प से निवृत्ति होती है, अथवा आयादि प्रत्ययों की (जो गुपूधूपादि) प्रकृति उससे विहित जो आर्धधातुक उसके परे रहते आयादियों की विकल्प से उत्पत्ति होती है। भाव यह है- आयादियों के विषय में निवृत्तिविकल्प समझा जावे या उत्पत्ति विकल्प। अर्थात् एक बार तो आयादि सामान्यरूप से उत्पन्न हो जाते हैं, पर बाद में उनकी निवृत्ति विकल्प से हो जाती है अथवा वे उत्पन्न ही विकल्प से होते हैं।

भा०- किं गतमेतदियता सूत्रेण, आहोस्विदन्यतरस्मिन्पक्षे भूय: सूत्रं कर्त्तव्यम्?

क्या इसी सूत्र से ही दोनों अर्थ प्राप्त हो रहे हैं अथवा किसी एक पक्ष में सूत्र को थोडा कुछ अधिक करना पडेगा?

---

१. अतोऽग्रे 'इग्लक्षणयोर्गुणवृद्ध्यो: प्रतिषेधो: न चैषा इग्लक्षणा वृद्धिरित्यधिकं पठ्यते क्वचित्।।

२. आयादिप्रत्यय तीन हैं- आय, ईयङ् और णिङ्।

भा०– गतमित्याह।। कथम्? यदा तावदायादिभ्यो यदार्द्धधातुकं तस्मिन्नवस्थिते वाऽऽयादीनां निवृत्तिर्भवतीति तदाऽविशेषण सर्वमायादिप्रकरणमनुक्रम्य 'आयादय आर्द्धधातुके वे'त्युच्यते। यदाऽप्यायादिप्रकृतेर्यदार्द्धधातुकं तस्मिन्नवस्थिते वाऽऽयादीनामुत्पत्तिर्भवतीति, तदैकं वाक्यं, तच्चेदं च। गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आय: (अ०– ३.१.२८) 'आर्धधातुके वा'। ऋतेरीयङ् (३.१.२९) 'आर्धधातुके वा'। कमेर्णिङ् (३.१.३०) 'आर्धधातुकेवे'ति।।

नहीं! किसी भी पक्ष में सूत्र को बढाने की तो आवश्यकता नहीं पडेगी। दोनों ही पक्ष इसी सूत्र से सिद्ध हो रहे हैं। सो कैसे? देखिये! जब यह पक्ष है कि, 'आयादियों से जो आर्द्धधातुक उस के पर में अवस्थित होने पर आयादियों की विकल्प से निवृत्ति होती है'– तो तब सामान्यरूप से संपूर्ण आयादि प्रकरण का अनुक्रमण करके (अर्थात् आयादि प्रत्ययों का तत्तत् सूत्र के द्वारा स्वतन्त्र रूपेण विधान करके) बाद में 'आयादय आर्द्धधातुके वा'– आर्द्धधातुक परे रहते विकल्प से आयादि होते हैं– ऐसा कहा जा रहा है। यत: आयादि का विधान तो पहिले ही हो चुका है, इसलिये अब जो यह कहा जा रहा है कि आयादि विकल्प से होते हैं– इसका यही अर्थ समझा जायेगा कि उत्पन्न हुवों की निवृत्ति विकल्प से होती है।

ओर जब यह पक्ष है कि आयादि प्रत्ययों की जो गुपू इत्यादि प्रकृति उससे, आर्धधातुक के परे रहते आयादियों की विकल्प से उत्पत्ति होती है तो, तब वह[1] और यह[2] एक ही वाक्य हो जाते हैं। इस पक्ष में 'आयादय:' इस पद के उपादानसामर्थ्य से 'आर्धधातुके वा'– यह तीनों सूत्रों का शेष समझा जायेगा। अन्यथा वह अव्यवहित 'कमेर्णिङ्' का ही शेष बन पाता। इसलिये सूत्रार्थ होगा– गुपू इत्यादिभ्य आर्द्धधातुके विकल्पेन आय उत्पद्यते। ऋतेरार्धधातुके विकल्पेनेयङ् उत्पद्यते। कमेरार्धधातुके विकल्पेन णिङ् उत्पद्यते।

अब प्रश्न हो जाता है– ऊपर तीनों सूत्रों के साथ यदि 'आर्धधातुके वा' की एकवाक्यता है तो, ये तीनों ही सूत्र आर्धधातुक में ही आयादि को विकल्प से उत्पन्न कर पायेंगे, सार्वधातुक में आयादि हो ही नहीं सकेंगे– जब कि सार्वधातुक में तो आयादि का विधान नित्य ही चाहते हैं। इसका उत्तर यह है कि 'आयादय आर्धधातुके वा'– ऐसा पृथक्पाठसामर्थ्य से भिन्नवाक्यता और एकवाक्यता दोनों प्रकार से सूत्रार्थ किया जाएगा। यदि आचार्य को केवल एकवाक्यता मात्र ही अभीष्ट होती तो 'गुपूधूप०' सूत्र में ही 'आर्धधातुके वा' को पढ़ते, और फिर अगले दोनों सूत्रों में 'आर्द्धधातुके वा' की अनुवृत्ति हो जाती। ऐसा न करके जो 'आयादय आर्धधातुके वा' ऐसा पृथक् सूत्र बनाया, उसका यही अर्थ लिया जायेगा कि सार्वधातुक में तो नित्य ही होते हैं।

भा०– कश्चाऽत्र विशेष:?

---

१. गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आय:; ऋतेरीयङ्; कमेर्णिङ्।

२. आयादय आर्द्धधातुके वा।

भा०– ॐ आयादिभ्यो यदार्द्धधातुकमायादिप्रकृतेर्यदार्द्धधातुकमिति चोभयथाऽनिष्टप्रसङ्गः।।१।। ॐ

भाष्यम्– आयादिभ्यो यदार्द्धधातुकमायादिप्रकृतेर्यदार्धधातुकमिति चोभयथाऽनिष्टं प्राप्नोति। यदि विज्ञायते– 'आयादिभ्यो यदार्धधातुकं तस्मिन्नवस्थिते वाऽऽयादीनां निवृत्तिर्भवती'ति, गुप्तिः, जुगोपेति चेष्टं न सिद्ध्यति, इदं चानिष्टं प्राप्नोति– गोपाञ्चकार, गोपेति च। इदं तावदिष्टं सिद्धं भवति गोपायाञ्चकार गोपायेति।।

'आयादिभ्यो यदार्द्धधातुकम्'– चाहे तो आयादियों से जो आर्द्धधातुक उसके परे रहते आयादियों की विकल्प से निवृत्ति होती है– यह पक्ष ग्रहण करें और चाहे आयादि की जो गुपादिप्रकृति उससे विहित आर्धधातुक प्रत्यय के परे रहते आयादियों की उत्पत्ति विकल्प से होती है– यह पक्ष, दोनों ही पक्षों में अनिष्ट से पीछा नहीं छूटता।

यदि ऐसा जाना जाता है कि आर्धधातुक परे रहते आयादियों की निवृत्ति विकल्प से होती है, तो 'गुप्तिः' और 'जुगोप' ये इष्टप्रयोग सिद्ध नहीं होते। क्योंकि इस पक्ष में गोपाय शब्द के प्रत्ययान्त होने से 'अ प्रत्ययात्' (अ०– ३.३.१०२) से विहित 'अ' प्रत्यय के द्वारा 'स्त्रियां क्तिन्' (अ०– ३.३.९४) से विहित 'क्तिन्' की बाधा प्राप्त है। इसी प्रकार 'आम्' के परे रहते 'आय' की पाक्षिकी निवृत्ति होने पर 'जुगोप' सिद्ध नहीं होगा। 'आम्' आने से पहिले ही लिट् आर्धधातुक परे रहते ही आयादि की निवृत्ति की जाये तो भी प्रत्ययलक्षण से प्रत्ययान्त होने से आम् प्राप्त होता ही है। भाष्यकार ने उपलक्षण के रूप में ये दोष दिये हैं।

यह समझिये कि 'गुप्तः'[१] यह भी सिद्ध न होगा। इस पक्ष में, साथ में यह भी दोष रहेगा कि गोपाञ्चकार और गोपा ऐसे अनिष्ट रूप पाने लगेंगे। हाँ! गोपायाञ्चकार व गोपाया ये इष्ट रूप अवश्य ही सिद्ध हो जायेंगे।

भाष्यम्– अथ विज्ञायते– 'आयादिप्रकृतेर्यदार्द्धधातुकं तस्मिन्नवस्थिते वाऽऽयादीनामुत्पत्तिर्भवती'ति, गुप्तिर्जुगोपेति चेष्टं सिद्धं भवति। इदं चानिष्टं न प्राप्नोति-गोपाञ्चकार गोपेति। इदं त्विष्टं न सिद्ध्यति– गोपायाञ्चकार, गोपायेति।।

और उत्पत्तिविकल्परूप द्वितीयपक्ष का आश्रय लिया जाता है तो गुप्तिः[२] जुगोप– ये तो इष्टरूप सिद्ध हो जाते हैं। और गोपाञ्चकार–गोपा ये प्रथमपक्ष में पा रहे अनिष्ट रूप भी यहाँ नहीं प्राप्त होते। लेकिन इस पक्ष में, गोपायाञ्चकार-गोपाया-ये इष्ट सिद्ध नहीं होंगे।

भा०– इदं तावदिष्टं सिद्ध्यति– गोपायाञ्चकारेति।। कथम्?

---

१. क्तप्रत्यय के परे रहते 'आय' की निवृत्ति होने पर प्रत्ययलक्षण से गुण होकर 'गोप्तः' ऐसा रूप बनने लगेगा। 'प्रत्ययलोपे०' सूत्र में और लोपसंज्ञा (अ०– १.१.५९) सूत्र में तद्भावित ग्रहण का आश्रय न होने से प्रत्ययलक्षण होने में कोई बाधा न होगी।

२. आम् के वैकल्पिक होने से उसके अभावपक्ष में सिद्ध हो जाते हैं।

अस्त्वत्रायादिप्रकृतेर्यदार्द्धधातुकं लिट्, तस्मिन्नवस्थिते वाऽऽयादयः, आम्मध्ये पतिष्यति यथा विकरणास्तद्वत्।।

जो यह 'गोपायाञ्चकार' अभीष्ट रूप है यह तो इस द्वितीय पक्ष में सिद्ध हो जायेगा। कैसे? आयादि की प्रकृति गुपू-इत्यादि से विहित जो आर्धधातुक लिट् है उसके परे रहते आयादि को विकल्प से उत्पन्न होने दें। जैसे शबादि विकरण बीच में आकर बैठ जाते हैं तद्वत् आम् मध्य में आकर बैठ जायेगा।

भा०– इदं तर्हीष्टं न सिद्ध्यति– गोपायेति।।

अच्छा तो यह 'गोपाया' इष्ट रूप सिद्ध नहीं होता। गुप् धातु के प्रत्ययान्त न होने से 'अ' नहीं हो सकेगा। सामान्यविहित क्तिन् प्राप्त होगा और क्तिन् करने पर 'आय' को विकल्प से उत्पन्न करेंगे तो 'गोपायति' ऐसा अनिष्ट भी प्राप्त होने लगेगा।

वा०– ✻ सिद्धं तु सार्वधातुके नित्यवचनादनाश्रित्य वाविधानम्।।२।। ✻

भाष्यम्– सिद्धमेतत्।। कथम्? अविशेषेणाऽऽयादीनां वाविधिमुक्त्वा 'सार्वधातुके नित्य'मिति वक्ष्यामि।।

वार्त्तिककार न्यासान्तर से समाधान प्रस्तुत करते हैं– ऊपर दिये गये दोषों का परिहार सिद्ध है। कैसे? किसी भी प्रत्यय का परत्वेन आश्रय न करके सामान्यरूप से आयादियों की वाविधि (विकल्पविधि) कहकर 'सार्वधातुके नित्यम्'– ऐसा कहूँगा।

वा०– ✻ स्यादिबलीयस्त्वं तु विप्रतिषेधेन तुल्यनिमित्तत्वात्।।३।। ✻

भाष्यम्– स्यादिभिस्त्वायादीनां बाधनं प्राप्नोति।। किं कारणम्? 'तुल्यनिमित्तत्वात्'। तुल्यं हि निमित्तं स्यादीनामायादीनां च। स्यादीनामवकाशः– करिष्यति, हरिष्यति। आयादीनामवकाशः– गोपायति धूपायति।

इहोभयं प्राप्नोति-गोपायिष्यति, धूपायिष्यतीति। परत्वात्स्यादयः प्राप्नुवन्ति।।

(वा०)– तुल्यनिमित्त होने से विप्रतिषेध से (आयादियों के साथ संप्रधारणा में) स्यादियों का बलीयस्त्व प्राप्त होता है।

(भा०)– किन्तु स्यादि[1] के द्वारा आयादि का बाधन प्राप्त होता है। क्या कारण है? विप्रतिषेध के द्वारा तुल्यनिमित्त होने से। क्योंकि आयादि का और स्यादि का निमित्त तुल्य है। जिस (सार्वधातुक) को निमित्त मानकर आयादि पाते हैं उसी को मानकर स्यादि भी पाते हैं। जैसे कि– स्यादियों का अवकाश है– करिष्यति, हरिष्यति, यहाँ 'ति' को मानकर 'स्य' हो गया। आयादि को अवकाश है– गोपायति, धूपायति। यहाँ भी 'ति' को मानकर 'आय' हो गया।

१. लादेश होने के बाद स्य व तासि होते हैं– इस पक्ष में यह कथन है। ऐसा मानने पर ही तुल्य निमित्त बन पायेगा। वार्त्तिककार के द्वारा प्रस्तावित 'सार्वधातुके नित्यम्' यह तो सार्वधातुक परे रहते नित्य आयादि को प्राप्त करायेगा, और उधर लादेशप्रवृत्त्युत्तर तिबादि के परे रहते स्यादि भी प्राप्त होंगे।

यहाँ 'गोपायिष्यति' 'धूपायिष्यति' में स्यादि (स्य) और अयादि (आय) दोनों भी प्राप्त होते हैं। दोनों के सावकाश होने से परत्व से स्यादि प्राप्त होते हैं। प्रकृत में 'आय' को बाधकर 'सकृद्गति न्याय' से यदि केवलमात्र 'स्य' ही हो जाये तो गोपायिष्यति रूप नहीं बनेगा।

यहाँ गोपायति, धूपायति के विषय में पूछा जा सकता है कि आयादि का अवकाश कैसे दर्शा दिया गया जबकि यहाँ तो 'कर्त्तरि शप्' (अ०– ३.१.६८) से विहित शप् के द्वारा आयादि का अवकाश रुद्ध हो जायेगा। इसका उत्तर यह है– प्रकृत में शप् करने या न करने से कोई अन्तर नहीं पड़ता– इस हेतु से शप् को उत्पन्न ही नहीं किया जायेगा, इस प्रकार आयादि का अवकाश बन जायेगा।

यहाँ ऐसा समझना होगा– 'आयादयो वा' यह तो सामान्यसूत्र है और 'सार्वधातुके नित्यम्' है इसका अपवाद। इसलिये ऐसा कहना ठीक नहीं होगा कि 'सार्वधातुके नित्यम्' को स्यादि के द्वारा परत्व से बाध लेने पर भी सामान्यसूत्र से वैकल्पिक आय हो जायेगा। और कोई यह कहे कि सामान्यसूत्र से साथ स्यादि का विप्रतिषेध भी नहीं हो सकता, क्योंकि सामान्यसूत्र के अनैमित्तिक होने से वह अन्तरङ्ग है तो यह भी ठीक नहीं है– क्योंकि अपवाद विषय में उत्सर्ग की अप्रवृत्ति[१] रहने से प्रकृत में सार्वधातुकरूप विशेष विषय में सामान्यसूत्र (आयादयो वा) कथमपि प्रवृत्त नहीं हो सकेगा।

वा०– न वाऽऽयादिविधानस्यानवकाशत्वात्[२] ।।४।।

भाष्यम्– न वैष दोषः।। किं कारणम्? 'आयादिविधानस्याऽनवकशत्वात्'।

अनवकाशा आयादयः, उच्यन्ते च ते वचनाद्भविष्यन्ति।।

नहीं! यह कोई दोष नहीं है। क्या कारण है? आयादि विधान के अनवकाश होने से। आयादि अनवकाश हैं। जब वे कहे जा रहें हैं तो वचनसामर्थ्य से हो जायेंगे।

भा०– ननु चेदानीमेवाऽवकाशः प्रक्लृप्तः– गोपायति, धूपायतीति?

क्यों जी! अभी-अभी ही तो आयादि का गोपायति-धूपायति इत्यादि में अवकाश दिखाया था। फिर अनवकाश हेतु से स्यादि के बलीयस्त्व को कैसे निरस्त कर रहे हो?

भा०– अत्रापि शप्स्यादिर्भवति।।

---

१. न चापवादविषय उत्सर्गोऽभिनिविशते। पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते पश्चादुत्सर्गाः। प्रकल्प्य चापवादविषयमुत्सर्गः प्रवर्त्तते। (परि०– ५५,५६,५७)

२. पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्या विशेषाऽभावेऽपि शपः प्रवर्त्तनादिति भावः। सार्वधातुक परे रहते सर्वत्र कहीं स्यादि तो कहीं शप् जब होंगे तो आयादि कहाँ होंगे? फिर तो उनका विधान ही व्यर्थ हो जायेगा।

यहाँ गोपायति, धूपायति इत्यादि में भी शप्-स्यादि के समान ही है। पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्ति मानकर जैसे स्यादि अपने विषय में प्रवृत्त होते हैं, तद्वत् शप् को भी यहाँ प्रवृत्त होना ही चाहिये। जब यहाँ भी शप् होगा तो, वही प्रश्न फिर उपस्थित होता है कि, आयादि कहाँ होंगे? अत: सार्वधातुक परे रहते आयादि विधान व्यर्थ न हो– इस कारण शप् या स्यादि के द्वारा उनकी बाधा नहीं होगी।

भा०– यद्यप्यत्राऽपि शप्स्यादिर्भवति न त्वत्रास्ति विशेष: सति वा शप्यसति वा।।

यद्यपि उपर्युक्त विचारसरणि से यहाँ भी शप् वैसा ही हो जाता है जैसा कि स्यादि है। तथापि गोपायति इत्यादि में शप् कर दें या न करें– कुछ भेद तो नहीं पड़ता।

शास्त्र को कुछ परिवर्त्तन करना ही चाहिये। जहाँ ऐसा नहीं है तो वहाँ शास्त्र प्रवृत्त ही नहीं होता– ऐसा समझते हुये वादी ने अपनी बात कही।

भा०– अन्यादिदानीमेतद्यदुच्यते 'नास्ति विशेष' इति, यत्तु तदुक्तम् 'आयादीनां स्यादिभिरव्याप्तोऽवकाश' इति, स नाऽस्त्यवकाश:।। अवश्यं खल्वप्यत्र 'शप्स्यादिरेषितव्य:'।। किं प्रयोजनम्? गोपायन्ती धूपायन्तीति, 'शप्श्यनोर्नित्यम्' (अ०– ७.१.८१) इति नित्यो नुम् यथा स्यादिति।।

प्रतिवादी कहता है– अब एक अन्य बात कह डाली– जो यह कह रहे हो कि 'नास्ति विशेष: सति वा शप्यसति वा' शप् होने या न होने में कुछ अन्तर नहीं पड़ता– इसलिये शप् नहीं होगा। जो आपने पहिले यह कहा था कि स्यादियों के द्वारा अव्याप्त स्थल (गोपायति, धूपायति जहाँ कि स्यादि प्रत्यय नहीं होते किन्तु शप् होता है) वह आयादि का अवकाश है, वह स्थल भी अब अवकाश नहीं है जबकि शप्-स्यादि हैं। और विशेष-अविशेष की बात भी 'गुपूधूप०' सूत्र से ही संबद्ध है। 'कामयते' यहाँ 'कमेर्णिङ्' के विषय में तो विशेष भी है– शप् के विना यह रूप ही सिद्ध नहीं होगा। इसलिये शप् को बीच से नहीं हटाया जा सकता। वह तो करना ही पडेगा। और 'गोपाय' इत्यादि धातुओं से भी एक विशेष हेतु से अवश्य ही शप् (स्यादि की भाँति ही) चाहने योग्य हैं। किस प्रयोजन के लिये? प्रयोजन है– गोपायन्ती, धूपायन्ती इत्यादि में गोपाय धातु से स्त्रीलिङ्ग शतृप्रत्यय में 'शप्श्यनोर्नित्यम्' से शप्-संबन्धी शतृ को शी व नदी के परे रहते नित्य नुम् चाहते हैं। शप् न करने पर 'आच्छीनद्योर्नुम्' (७.१.८०) से विकल्पित नुम् होगा जो कि अनिष्ट है।

भा०– यदि तर्ह्यनवकाशा आयादय:, आयादिभि: स्यादीनां बाधनं प्राप्नोति।।

अभी ऊपर प्रस्तुत किये गये विचार के अनुसार यदि आयादि अनवकाश ठहरते हैं, तो अब समस्या विपरीत घूम जाती है। पहिले समस्या थी आयादि की, अब वह बन जायेगी स्यादि के लिये। अनवकाश आयादि के द्वारा स्यादि का बाधन प्राप्त होता है। जिससे कि 'गोपायिष्यति' इत्यादि रूप सिद्ध नहीं हो पायेंगे।

भा०– यथा पुनरयं सूत्रभेदेन परिहारो यदि पुनः 'शपि नित्य'मित्युच्येत।।

वार्त्तिककार ने जैसे 'सार्वधातुके नित्यवचनात्' ऐसा सूत्रभेद करते हुये परिहार दिया, किन्तु सब दोषों का परिहार फिर भी नहीं हुआ। जब सूत्रभेद करना ही है तो 'शपि नित्यम्' ऐसा सूत्र बना देना चाहिये, जिसमें कोई भी दोष नहीं होगा, सब दोषों का परिहार हो जायेगा।

'गुपूधूपविच्छि०' यहाँ विच्छ धातु के तौदादिक होने से 'शप्' का अपवाद 'श' होगा। इसलिये 'शपि नित्यम्' को न्यास भेद का उपलक्षण समझना चाहिये– भाव यह है 'शिति नित्यम्'– ऐसा न्यास करना चाहिये।

भा०– सिद्ध्यति। सूत्रं तर्हि भिद्यते।।

हाँ! सिद्ध तो अवश्य हो जाता है, पर सूत्र भिन्न हो जाता है। यह कोई अच्छा ढंग नहीं है कि सूत्रों में तोड़-फोड की जाये।

भा०– यथान्यासमेवाऽस्तु।।

अच्छा तो जैसा पाणिनीय न्यास है, वही रहने दो। उसी से अपना प्रयोजन सिद्ध करेंगे।

भा०– ननु चोक्त'मायादिभ्यो यदार्द्धधातुकमायादिप्रकृतेर्यदार्द्धधातुकमिति चोभयथाऽनिष्टप्रसङ्ग' इति।।

किन्तु यथान्यासपक्ष में अभी तो कहा गया है कि चाहे तो आयादियों से विहित जो आर्धधातुक उसके परे रहते आयादियों की विकल्प से निवृत्ति होती है– ऐसा अर्थ किया जाये और चाहे आयादियों की जो प्रकृति गुपू-इत्यादि उस से आर्धधातुक परे रहते विकल्प से आयादियों की उत्पत्ति होती है– यह अर्थ किया जाये– दोनों ही प्रकार से अनिष्ट प्रसङ्ग उपस्थित होता है।

भा०– नैष दोषः। 'आर्द्धधातुक' इति नैषा परसप्तमी।। का तर्हि? विषयसप्तमी। 'आर्द्धधातुकविषय' इति। तत्राऽऽर्धधातुकविषय आयादिप्रकृतेरायादिषु कृतेषु यो यतः प्रत्ययः प्राप्नोति, स ततो भविष्यति।।३१।।

नहीं! यह कोई दोष नहीं है। सूत्रस्थ 'आर्धधातुके' पद में परसप्तमी नहीं है। तो क्या है? विषयसप्तमी। 'आर्धधातुक विषय में'[१] ऐसा अर्थ है सो आर्द्धधातुक विषय में आयादि की प्रकृति गुपू इत्यादि से आयादि कर लेने पर, जो प्रत्यय जिससे प्राप्त होता है वह उससे हो जायेगा।

शिवरामेन्द्रसरस्वती ने परसप्तमी को सत्सप्तमी तथा विषयसप्तमी को अधिकरणसप्तमी (वैषयिक अधिकरण) कहकर व्याख्या की है।

---

१. आर्धधातुकमिहोत्पादयिष्यामीति बुद्धौ सत्यामित्यर्थः।

नित्यप्रत्यय के प्रसङ्ग में आर्धधातुकविषय में आयादि प्रत्यय विकल्प से होते हैं– ऐसा कह दिया। इसलिये अब 'गोपाय' बनने पर– लिट् में 'आम्' और स्त्रीलिङ्ग में 'अ' प्रत्यय होकर गोपायाञ्चकार और गोपाया इत्यादि इष्टरूप सिद्ध हो जायेंगे और जब आयादि नहीं होंगे तो 'गुप्' मात्र से होकर 'गुप्तिः' और 'जुगोप' आदि बनते रहेंगे।।३१।।

सनाद्यन्ता धातवः।।३.१.३२।।

भाष्यम्– अन्तग्रहणं किमर्थं न 'सनादयो धातव' इत्येवोच्येत?

सनादि प्रत्यय अन्त में हैं जिसके उस समुदाय की धातुसंज्ञा होती है। इस पर शङ्किता प्रश्न करता है कि अन्तग्रहण किसलिये है? 'सनादयो धातवः' इतना मात्र ही क्यों न कह दिया जाये?

भाष्यम्– केनेदानीं तदन्तानां भविष्यति?

यदि 'सनादयो धातवः' इतना मात्र ही सूत्र होगा तो तब तदन्त समुदायों की धातुसंज्ञा किस प्रकार हो पायेगी?

भा०– तदन्तविधिना।

'प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स प्रत्ययो विहितस्तदादेस्तदन्तस्य च ग्रहणं भवति' (पारि० २४) इस परिभाषा से तदन्तविधि होकर तदन्त समुदाय की धातुसंज्ञा हो जाया करेगी। इस परिभाषा का भाव यह है– जहाँ प्रत्यय का ग्रहण होता है, वहाँ वह प्रत्यय, जिस प्रकृति से किया गया है– उस तदादि-तदन्त समुदाय का ग्रहण होता है। सो सनादि प्रत्यय जिन प्रकृतियों से किये जायेंगे, उन प्रकृतियों को लेकर सनाद्यन्त समुदायों का ग्रहण होता है। इसलिये प्रश्न उठता है– आचार्य ने यहाँ अन्तग्रहण क्यों किया है?

भा०– उत्तरं पठति–

(अतः) इस समस्या को सामने रखकर आचार्य वार्त्तिककार अपना उत्तर पढ़ते हैं–

वा०– * सनादिष्वन्तग्रहण उक्तम्।।१।। *

भाष्यम्– किमुक्तम्? पदसंज्ञायामन्तवचनमन्यत्र संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिप्रतिषेधार्थ'मिति। इदं चापि प्रत्ययग्रहणमयं चाऽपि संज्ञाविधिः।।

(वा०) 'सनाद्यन्ता धावतः' यहाँ सूत्रपठित अन्तग्रहण को लेकर जो कुछ कहना चाहिये, वह कह दिया है।

(भा०) क्या कह दिया है? 'सुप्तिङन्तं पदम्' (अ०– १.४.१४) सूत्र में यह कहा है कि पदसंज्ञाविधायक

सूत्र में अन्तवचन का यह प्रयोजन है कि इस सूत्र से अन्यत्र कहीं भी अष्टाध्यायी में संज्ञाविधि हो और प्रत्ययग्रहण हो तो वहाँ तदन्तविधि नहीं होगी। प्रकृत सूत्र में भी दोनों बातें हैं– प्रत्ययग्रहण भी है और संज्ञाविधि भी है। इसलिये 'संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिर्न' (पारि० २८) इस परिभाषा से तदन्तविधि नहीं हो सकती, इसलिये 'सनाद्यन्ता०' यहाँ सूत्र में ही अन्त पढ दिया है।

भा०– किमर्थं पुनरिदमुच्यते०, न 'भूवादयो धातवः' (अ०– १.३.१) इत्येव सिद्धम्?

यह सूत्र किसलिये बनाया जा रहा है? क्या 'भूवादयो धातवः' से ही सिद्ध नहीं हो जायेगा?

शङ्किता यह कहना चाहता है– वदन्तीति वादयः। भवनं भूः, भुवो वादयः (भ्वर्थवाचकाः, क्रियावाचिन इति यावत्) इस रूप में सूत्रार्थ का आश्रयण करने से सनाद्यन्त समुदायों के भी क्रियावाची होने से 'भूवादयो धातवः' से ही धातुसंज्ञा सिद्ध हो जायेगी।

भा०– न सिद्ध्यति। पाठेन धातुसंज्ञा क्रियते। न चैते तत्र पठ्यन्ते।।

नहीं सिद्ध होगी। 'भूवादयो धातवः' के द्वारा तो पाठ से धातुसंज्ञा की गयी है। ये शब्दरूप तो वहाँ पढे नहीं गये हैं।

आदि शब्द का प्रत्येक[१] के साथ संबन्ध होने से अर्थ और पाठ दोनों दृष्टियों को लेकर धातुसंज्ञा का विधान किया गया है। इसलिये 'आणवति' इत्यादि जो पाठ से बहिर्भूत है और 'या' इत्यादि सर्वनामशब्द जो आकार में पाठ के समान प्रतीत होते हुये भी क्रियारूप अर्थ से रहित हैं– वे धातुसंज्ञा से हटा दिये जाते हैं।

भाष्यम्– कथं तर्ह्यन्येषामपठ्यमानानां धातुसंज्ञा भवति अस्तेर्भूः, ब्रुवो वचिः, चक्षिङः ख्याञ् (अ०– २.४.५२,५३,५४) इति?

सनाद्यन्त समुदाय में भी स्थानिवद्भाव से धातुसंज्ञा सिद्धि कहूँगा– ऐसा मानकर एकदेशी पूछता है– यदि पाठ से ही धातुसंज्ञा मानते हो तो जो पाठ से अन्य बहुत सारे शब्दरूप हैं– जैसे कि 'अस्' के स्थान में आया हुआ भू, इसी प्रकार ब्रू को आदेश हुआ वचि और चक्षिङ् के स्थान में आदिष्ट हुआ ख्याञ्– इन अपठ्यमान शब्दों की धातुसंज्ञा कैसे हो जाती है?

भा०– यद्यप्येते तत्र न पठ्यन्ते, प्रकृतयस्त्वेषां तत्र पठ्यन्ते। तत्र स्थानिवद्भावात्सिद्धम्।।

---

१. भूश्च वाश्च भूवौ। पुनः व्यवस्था और प्रकारवाची आदिशब्द का एकशेष करके भूवौ आदी येषाम् भूवादयः। भू इत्यादि वाप्रकारवाले– ऐसा अर्थ होगा।

यद्यपि, ये भू-वचि-ख्याञ् तो वहाँ नहीं पढे गये हैं। किन्तु इनकी प्रकृतियाँ (अस्-ब्रू-चक्षिङ्) तो वहाँ पढी गयी हैं। तो इस स्थिति में स्थानिवद्भाव से उनकी भी धातुसंज्ञा सिद्ध हो जायेगी।

भा०– न सिद्ध्यति। आदेशाः स्थानिवदित्युच्यते। न चेमे आदेशाः[१]।

नहीं सिद्ध होगी। आदेश स्थानिवत् होता है– ऐसा कहा जा रहा है। ये सनादि तो ओदश है नहीं।

इसका भाव यह है– स्थानिवत् सूत्र में रूढि भूत[१] ओदश शब्द का ग्रहण होने से जिनका स्थानिवृत्ति से अर्थात् स्थानषष्ठी निर्देश से आदेशत्व प्रसिद्ध है उन्हीं का वहाँ ग्रहण है।

भा०– इमेऽप्यादेशाः।। कथम्? आदिश्यते यः स आदेशः, इमे चाऽप्यादिश्यन्ते।।

ये सनाद्यन्त समुदाय भी आदेश ही हैं। कैसे? आदेश शब्द रूढ नहीं है, बल्कि क्रियानिमित्तक (यौगिक) है। जो आदिष्ट किया जाये वह आदेश। ये सनाद्यन्त समुदाय भी किन्हीं विशिष्ट अर्थों में आदिष्ट किये जा रहे हैं।

यहाँ भाष्यकार का यह भाव है– 'कर्त्तुमिच्छति' यहाँ करण अङ्ग (भाग) है जिसका ऐसी 'इष्' धातु के अर्थ में वर्त्तमान इष् के प्रसङ्ग में 'सर्वे सर्वपदादेशाः' (म०भा० १.१.१९) इस न्याय से सन्नन्त चिकीर्ष शब्द आदिष्ट हो जाता है। इसी प्रकार समभिहारविशिष्ट लवनक्रियावाची लू शब्द के प्रयोग प्रसङ्ग में लोलूय शब्द का आदेश होता है। गुप् के प्रसङ्ग में गोपाय शब्द आदिष्ट होता है।

भा०– एवमपि षष्ठीनिर्दिष्टस्यादेशाः स्थानिवद्भवन्तीत्युच्यते, न चेमे षष्ठीनिर्दिष्टस्यादेशाः।।

फिर भी 'सिद्धं तु षष्ठीनिर्दिष्टस्य स्थानिवद्वचनात्' (म०भा०वा० १.१.५५) स्थानिवत् सूत्र में वार्त्तिककार इस वचनप्रामाण्य से षष्ठीनिर्दिष्ट को आदेश स्थानिवत् होते हैं– ऐसा कहा जा रहा है। ये सनाद्यन्त समुदाय (चिकीर्ष इत्यादि) तो षष्ठीनिर्दिष्ट को आदिष्ट किये नहीं जा रहे।

भा०– षष्ठीग्रहणं निवर्त्तिष्यते।।

स्थानिवत् सूत्र (अ०– १.१.५५) में षष्ठीग्रहण को निवृत्त कर दिया जायेगा। यह कोई ईश्वराज्ञा या धर्मशास्त्रकार का विधान थोडे ही है कि जिसे टाला न जा सके।

भा०– यदि निवर्त्तते, अपवाद उत्सर्गकृतं प्राप्नोति। 'कर्मण्यण्' (अ०– ३.२.१) 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३.२.३) इति केऽप्यण्कृतं प्राप्नोति।।

---

१. यस्य शब्दस्य प्रसङ्गे यो विहितः स तस्यादेशः।

यदि षष्ठीग्रहण को निवृत्त करते हैं तो प्रकृत में तो जैसे-तैसे अपना काम सिद्ध कर लोगे पर दूसरी एक और नयी समस्या खडी हो जायेगी। 'कर्मण्यण्'– कर्म उपपद रहते धातुमात्र से कहा गया अण् उत्सर्ग है। और 'आतोऽनुपसर्गे क:' उपसर्गरहित आकारान्त धातु से विहित 'क' उसका अपवाद है।

षष्ठी की निवृत्ति कर देने पर यहाँ भी एक के स्थान में (प्रसङ्ग में) दूसरे का आदेश (कथन) होने से स्थानिवद्भाव प्राप्त होने लगेगा। उत्सर्ग स्थानिरूप है और अपवाद आदेशरूप। सो अपवाद भूत 'क' में अण्कृत कार्य (णित्त्वप्रयुक्त कार्य) प्राप्त होने लगता है। जो कि अनिष्ट है।

भाष्यम्– नैष दोष:। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति– 'नापवाद उत्सर्गकृतं भवती'ति, यदयं श्यन्नादीन् कांश्चिच्छित: करोति– श्यन् श्नम् श्ना श्नुरिति।।३२।।

नहीं! यह कोई दोष नहीं है। आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापित करती है– अपवाद में उत्सर्गकृत कार्य नहीं होते। जो यह आचार्य शप् के अपवाद किन्हीं श्यनादि को शित् कर रहे है, जैसे कि श्यन्, श्नम्, श्ना, श्नु इत्यादि। यदि श्यनादि अपवादों में उत्सर्ग शप् संबन्धी शित्त्वप्रयुक्त कार्य हो जाते तो श्यनादि को शित् करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। इसी प्रकार प्रकृत में भी अपवादभूत 'क' में अण् उत्सर्ग का णित्त्वप्रयुक्त कार्य नहीं होगा। और जब वैसा है तो षष्ठीग्रहण के निवृत्त होने पर भी कोई अनिष्ट प्रसङ्ग नहीं होगा। और साथ में सनाद्यन्त समुदायों में भी स्थानिवद्भाव से ही धातुसंज्ञारूप इष्ट सिद्धि हो जायेगी– इस सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं।

वस्तुत: स्थानिवत् सूत्र में रूढ आदेश शब्द का ग्रहण होने से यह सूत्र स्थित ही है। आदेश शब्द को यौगिक क्रियाशब्द भी मान ले तो भी प्रकृत में स्थान्यादेश भाव अत्यन्त क्लिष्ट कल्पना से बन पाता है, इसलिये सूत्र तो स्थिर ही है– यही भाष्यकार को अभिमत है। 'इमेऽपि तर्हि यद्यपि' इत्यादि भाष्यग्रन्थ को एकदेशी की उक्ति-प्रयुक्ति के रूप में प्रौढिवाद ही समझना चाहिये।।३२।।

स्यतासी लृलुटो:।।३.१.३।।

भाष्यम्– इमे विकरणा: पठ्यन्ते तत्र न ज्ञायते क उत्सर्ग: कोऽपवाद इति। तत्र वक्तव्यमयमुत्सर्गोऽयमपवाद इति।

शङ्किता विकरणप्रत्ययों के उत्सर्ग-अपवाद रूप धर्मज्ञान के लिये पूछ रहा है– ये विकरण तो (इस प्रकरण में) पढ दिये गये हैं। पर उसमें यह नहीं पता चलता कि कौन तो उत्सर्ग है और कौन अपवाद। इसके लिये स्पष्ट रूप से यह कहना चाहिये कि यह तो उत्सर्ग है, और यह अपवाद।

भा०– इमे ब्रूम:[१] यगुत्सर्ग:, अपवादा: शबादय: स्यादयश्च।।

---

१. इमे वयं ब्रूम:, इत्यर्थ:।

समाधाता कहता है– ये हम लोग ऐसे कहते हैं कि, यक् तो उत्सर्ग है और शबादि तथा स्यादि उसके अपवाद हैं।

सार्वधातुके यक् (अ०– ३.१.६७) सूत्र में ऊपर से 'भावकर्मणो:' पद की अनुवृत्ति न लाकर सार्वधातुकमात्र से यक् का विधान है– ऐसा मानते हुये यक् को उत्सर्ग बनाया जा रहा है।

भा०– यदि यगुत्सर्ग:, अपवाद: शबादि: स्यादयश्च-

यदि यक् उत्सर्ग है और शबादि तथा स्यादि उसके अपवाद हैं तो-

वा०– ❋ अपवादविप्रतिषेधाच्छबादिबाधनम्।।१।। ❋

भाष्यम्– अपवादविप्रतिषेधाच्छबादिभि: स्यादीनां बाधनं प्राप्नोति।

शबादीनामवकाश:- पचति, यजति। स्यादीनामवकाश:- पक्ष्यते, यक्ष्यते। इहोभयं प्राप्नोति–पक्ष्यति, यक्ष्यति। परत्वाच्छबादय: प्राप्नुवन्ति।।

अपवादों के विप्रतिषेध से शबादि के द्वारा स्यादि का बाधन प्राप्त होता है। जैसे कि शबादि का अवकाश है– पचति, पठति। स्यादियों का अवकाश है– पक्ष्यते, यक्ष्यते[1]। यहाँ दोनों प्राप्त होते हैं– पक्ष्यति, यक्ष्यति। परत्व से शबादि प्राप्त होते हैं। यक् के अपवाद जो शबादि और स्यादि हैं इन दोनों के विप्रतिषेध होने पर परत्व से शबादि ही होने लगेंगे। किन्तु ऐसा तो हम चाहते नहीं हैं।

वा०– ❋ अपवादो नामानेकलक्षणप्रसङ्ग:[2]।।२।। ❋

भाष्यम्– अपवादो[3] नाम स भवति यत्राऽनेकलक्षणप्रसङ्ग:। अत्र च भावकर्मणोर्यग्विधीयते कर्त्तरि शप् क: प्रसङ्गो यद्भावकर्मणोर्यकं कर्त्तरि शबादयो बाधेरन्।

शबादि की अपेक्षा से यक् का उत्सर्गत्व अयुक्त है, यक् विधि में 'भावकर्मणो:' की अनुवृत्ति होने से– इस आशय से एक अन्य व्यक्ति कहता है– अपवाद (अपवाद विषय) वह होता है जहाँ (सामान्य विशेष रूप) अनेक लक्षणों का प्रसङ्ग हो, यहाँ तो भाव व कर्म में तो यक् का विधान है और कर्त्ता में शप् का। क्या प्रसङ्ग है जो भाव व कर्म में विहित यक् को कर्त्ता में विहित शबादि बाध सकें।

---

१. यह भाव या कर्म में लृट् में प्रयोग है। कर्मादि में शप् की अप्राप्ति है, इसलिये स्यादि का अवकाश है।

२. अनेकस्य सामान्यविशेषणरूपस्य लक्षणस्य प्रसङ्ग: प्राप्तिर्यत्र स इत्यर्थ:। (व्यधिकरणे बहुव्रीहि:।)

३. अपवादशब्दस्तद्विषयपर:।

जहाँ कहीं उत्सर्गलक्षण और अपवादलक्षण दोनों का प्रसङ्ग उपस्थित हो, वहीं अपवादव्यवहार होता है। यक्‌विधि में तो भाव व कर्म ग्रहण की अनुवृत्ति होने से कर्त्ता में यक् का प्रसङ्ग ही नहीं, इसलिये यक् का शप् अपवाद नहीं बनेगा।

भा०– एवं तर्हि यक्‌शपावुत्सर्गौ, अपवादाः श्यनादयः स्यादयश्च।।

अच्छा तो यक् व शप् तो उत्सर्ग हैं और श्यनादि तथा स्यादि उन यक् व शप् के अपवाद।

भा०– एवमपि–

भा०– अपवादविप्रतिषेधाच्छ्यनादिबाधनम्।।३।।

भाष्यम्– अपवादविप्रतिषेधाच्छ्यनादिभिः स्यादीनां बाधनं प्राप्नोति।

श्यनादीनामवकाशः– दीव्यति, सीव्यति। स्यादीनामवकाशः-पक्ष्यति, यक्ष्यति।

इहोभयं प्राप्नोति- देविष्यति, सेविष्यति। परत्वाच्छ्यनादयः प्राप्नुवन्ति।।

अपवाद-अपवाद के (तुल्यबलविरोध के कारण) परस्पर विप्रतिषेध से श्यनादि के द्वारा स्यादि का बाधन प्राप्त होता है। श्यनादि का अवकाश है– दीव्यति, सीव्यति। और स्यादि का अवकाश है– पक्ष्यति, यक्ष्यति। यहाँ दोनों (श्यन् और स्य) प्राप्तः होते हैं– देविष्यति, सेविष्यति। परत्व से श्यनादि को ही होना चाहिये। जब कि इष्ट हैं स्यादि।

भा०– नैष दोषः। शबादेशाः श्यनादयः करिष्यन्ते, शप् च स्यादिभिर्बाध्यते, तत्र दिवादिभ्यः स्यादिविषये शबेव नास्ति कुतः श्यनादयः?

नहीं! यह कोई दोष नहीं है। श्यनादियों को शबादेश (शप् के स्थान में आदेश) कर दिया जायेगा। और शप् स्यादियों के द्वारा बाध लिया जाता है। तो वहाँ दिवादि धातुओं से स्यादि के विषय में शप् ही नहीं है तो श्यनादि कहाँ से हो जायेगें?

भा०– तत्तर्हि शपो ग्रहणं कर्त्तव्यम्।।

तो फिर श्यनादि को शबादेश करने पर अर्थात् शबादेश मानने पर 'दिवादिभ्यः श्यन्' (अ०– ३.२.६९) सूत्र में षष्ठ्यन्त 'शपः' पद का ग्रहण करना चाहिये। तभी यह सूत्रार्थ बन सकेगा कि दिवादि धातुओं से उत्तर शप् के स्थान में श्यन् होता है।

भा०– न कर्त्तव्यम्। प्रकृतमनुवर्त्तते।। क्व प्रकृतम्? 'कर्त्तरि शप्' इति।

नहीं! शप् के ग्रहण करने की तो कोई आवश्यकता नहीं। ऊपर जो प्रकृत (प्रस्तुत) है, उसी की

अनुवृत्ति कर ली जायेगी। कहाँ प्रकृत है? 'कर्त्तरि शप्' (अ०– ३.१.६८) यहाँ है।

भा०– तद्वै प्रथमानिर्दिष्टं षष्ठीनिर्दिष्टेन चेहार्थ:।।

वहाँ तो वह प्रथमानिर्दिष्ट है। हमें यहाँ चाहिये षष्ठीनिर्दिष्ट।।

भा०– नैष दोष:। दिवादिभ्य: इत्येषा पञ्चमी 'श'बिति प्रथमाया: षष्ठीं प्रकल्पयिष्यति। 'तस्मादित्युत्तरस्य' (अ०– १.१.६७) इति।

नहीं! यह तो कुछ भी दोष नहीं है। 'दिवादिभ्य:'– यह जो पञ्चमी है, 'तस्मादित्युत्तरस्य' के नियम से 'शप्' इस प्रथमा को षष्ठी में बदल डालेगी।

भा०– प्रत्ययविधिरयं, न च प्रत्ययविधौ पञ्चम्य: प्रकल्पिका भवन्ति।

देखो! ऐसा नहीं हो सकेगा। यह है प्रत्ययविधि। और प्रत्ययविधि में जो पञ्चमियाँ हैं, वे उत्तर को षष्ठी में प्रकल्पित करनेवाली (बदलनेवाली) नहीं होती हैं।

भा०– नाऽयं प्रत्ययविधि:। विहित: प्रत्यय:, प्रकृतश्चानुवर्तते।।

नहीं! यह प्रत्ययविधि नहीं है। प्रत्यय तो वहीं 'कर्त्तरि शप्' पर ही विहित हो चुका हैं। और फिर विहित हुये-हुये की अनुवृत्ति की जा रही है।

भा०– अथवाऽनुवृत्ति: करिष्यते।। 'सार्वधातुके यक्' (अ०– ३.१.६७) स्यतासी लृलुटो:, च्लि लुङि, च्ले: सिज्भवति। 'कर्त्तरि शप्' (अ०– ६८) स्यतासी लृलुटो: च्लि लुङि, च्ले: सिज्भवति। च्लि लुङि, च्ले: सिज्भवति। 'दिवादिभ्य: श्यन्' (६९) स्यतासी लृलुटो:, च्लि लुङि, च्ले: सिज्भवति।।

अथवा अनुवृत्ति कर ली जायेगी– 'सार्वधातुके यक्' सूत्र में स्यतासी लृलुटो:, च्लि: लुङि, च्ले: सिच् इत्यादि सूत्रों की वैसे की वैसे अनुवृत्ति ले आयेंगे। इसी प्रकार 'कर्त्तरि शप्' और 'दिवादिभ्य: श्यन्' इत्यादि सभी सूत्रों में भी पूरे के पूरे सूत्रों की अनुवृत्ति की जायेगी। इसके यक् और स्यादि अथवा 'शप्' और स्यादियों या श्यन् और स्यादियों के बीच परस्पर बाध्यबाधक भाव नहीं होगा। क्योंकि प्रत्येक सूत्र में, जितने भी सूत्रों की अनुवृत्ति होगी, उतने ही पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र वाक्य होंगे। जैसे– भावकर्मणो: सार्वधातुके यग् भवति, लृलुटोस्तु भावकर्मणो: सार्वधातुके स्यतासी भवत:, भावकर्मणोर्लुङि च्लिर्भवति, भावकर्मणोर्लुङि च्ले: सिज्भवति। इसी प्रकार कर्त्तरि सार्वधातुके शब्भवति, लुलृटोस्तु कर्त्तरि सार्वधातुके स्यतासी भवत:, कर्त्तरि लुङि सार्वधातुके च्लिर्भवति, लुङि कर्त्तरि सार्वधातुके च्ले: सिज्भवति। कर्त्तरि लुङि शल इगुपधादनिट: क्सो भवति-----इत्यादि। तथा–दिवादिभ्य: श्यन् भवति कर्त्तरि सार्वधातुके, लृलुटोस्तु स्यतासी भवतो दिवादिभ्य:, लुङि च्लिर्भवति दिवादिभ्य:, लुङि च्ले: सिज्भवति दिवादिभ्य:------इत्यादि।

भाष्यम्– अथवाऽन्तरङ्गाः स्यादयः। काऽन्तरङ्गता? लावस्थायामेव स्यादयः, सर्वाधातुके श्यनादयः।।३३।।

उपायान्तर भी संभव है– इस भाव से कहते हैं– अथवा स्यादि अन्तरङ्ग हैं। क्या अन्तरङ्गता है स्यादि की?अन्तरङ्गता यह है कि स्यादि (स्य-तासि-च्लि-सिच्-क्स इत्यादि) तो ल् अवस्था (लृट्-लुट्-लुङ्) में ही विहित हैं। जबकि श्यनादि लादेश होने पर सार्वधातुक परे रहते होते हैं।

भाष्य में 'लावस्थायां स्यादयः'– ऐसा जो कहा है वह प्रसक्तिमात्र को लेकर कहा है। वस्तुतः स्यादि या श्यनादि से भी पहिले परत्व व अन्तरङ्ग दोनों भी हेतुओ से लादेश होंगे[1]। अब लादेश कर लेने पर स्यादि और श्यनादि की सम्प्रधारणा में, अल्प अपेक्षा रखने से स्यादि अन्तरङ्ग हैं, क्योंकि स्यादि को तो केवल लृट्-लुट् या लुङ् मात्र की अपेक्षा है। स्यादिविधि में शब्द से साक्षात् सार्वधातुकत्व या अर्थ विशेष कर्त्रादि का तो आश्रय किया नहीं गया है जबकि श्यनादि को कर्त्र्थसहित सार्वधातुक की अपेक्षा है इसलिये वह बहिरङ्ग है। इस प्रकार अन्तरङ्ग स्यादि बहिरङ्ग श्यनादि को बाध लेंगे।

'लादेश कर लेने पर (न कि लावस्था में ही) स्यादि किये जाते हैं'– इस बात को एक अन्य दृष्टि से भी अवश्य ही स्वीकार करना चाहिये। यदि ऐसा स्वीकार नहीं करेंगे तो 'अनुदात्तं पदमेकर्जम्' (अ०– ६.१.१५२) सूत्रभाष्य में जो यह प्रसङ्ग उठाया गया कि यदि सतिशिष्ट स्वर का बलीयस्त्व कहते हो तो चिनुतः, सुनुतः इत्यादि में स्यादि स्वर[2] सार्वधातुकस्वर को बाधने लगेगा– जबकि इन प्रसङ्गों में चाहते हैं सार्वधातुकस्वर ही, वह सब व्यर्थ हो जायेगा। यदि पूछते हैं कैसे? तो सुनिये– वार्त्तिककार ने इस समस्या का समाधान दिया– **''स्यादिस्वराऽप्रसङ्गश्च तासेः परस्यानुदात्तवचनात्''**। उपर्युक्त चिनुतः इत्यादि में स्यादिस्वर नहीं होगा, बल्कि सार्वधातुक स्वर ही होगा। कैसे? तासि से पर अनुदात्त कथन से। जो यह आचार्य तासि से परे लसार्वधातु को 'तास्यनुदात्तेन्ङिददुप०' (अ०– ६.१.१८०) से अनुदात्तत्व का शासन कर रहे हैं– उससे यह जतलाते हैं कि 'सतिशिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते'। अर्थात् सतिशिष्ट होता हुआ भी विकरण का स्वर लसार्वधातुक स्वर को नहीं बाधता। यदि लावस्था में ही तासि स्वर कर लिया जाये और उसके बाद सार्वधातुक (लादेश) तो ऐसी स्थिति में लसार्वधातुक ही सतिशिष्ट होगा, तब चिनुतः या कर्त्तारौ इत्यादि में लसार्वधातुक के सतिशिष्ट होने से प्रत्ययस्वर (अ०– ३.१.३) से उसको उदात्तत्व की प्राप्ति होने पर, अप्राप्त अनुदात्त के लिये सूत्र ही चरितार्थता होने से ज्ञापकत्व नहीं बनेगा। क्योंकि 'सति प्रयोजने न ज्ञापकम्'–

---

१. लादेश अनित्य है, क्योंकि यदि विकरण पहिले हो जाये तो उनके द्वारा व्यवधान होने से धातु से परे लादेश प्राप्त नहीं हो सकेंगे– ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। कारण तृतीय अध्याय समाप्ति पर्यन्त धात्वधिकार होने पर भी 'धातोर्विहितस्य लस्य' इस रूप में विहित विशेषण का आश्रय कर लेने से स्यादि के व्यवधान में भी लादेशों के होने में कोई बाधा नहीं होगी। २. स्यादिस्वर विकरणस्वर का उपलक्षण है।

प्रयोजन के रहते ज्ञापक नहीं बनता। सूत्र जब व्यर्थ होने लगता है, तभी आचार्य का कोई गुप्त भाव निकाला जाता है– जिसे ज्ञापक कहते हैं। प्रकृत में जब यह माना जाता है कि विकरण पश्चात् होते हैं और लादेश पहिले तभी भाष्यकार के द्वारा प्रदत्त 'सतिशिष्टोऽपि विकरणस्वरो०' यह ज्ञापक संगत हो पायेगा। जो यह कहते हैं– संख्याविधानवाक्य (बहुषु बहुवचनम्, द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने) और आत्मनेपद-परस्मैपदप्रकरण के साथ लादेशविधानवाक्य (लस्य, तिप्तस्झि०) की एकवाक्यता होने पर लादेश बहिरङ्ग है और लावस्था में ही विधान होने से स्यादि अन्तरङ्ग हैं– इसलिये स्यादि पहिले हो जाते हैं उनके मत में तासि से परे लसार्वधातुक को अनुदात्तविधान के सप्रयोजन होने से पूर्वोक्त अर्थ का ज्ञापकत्व असमर्थित रहेगा। लादेशोत्तर स्यादि की प्रवृत्ति होने पर तो सतिशिष्ट विकरण को प्रत्ययस्वर से आद्युदात्त होने पर 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' से शेषनिघात के द्वारा लसार्वधातुक को अनुदात्तत्व स्वत: ही सिद्ध है, फिर भी जो लसार्वधातुक को अनुदात्तविधान किया जा रहा है– वह पूर्वोक्त अर्थ का ज्ञापक हो जायेगा। अब जब हमारे पास यह वचन है कि, 'सतिशिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते' तो अवश्य ही 'तास्यनुदात्तेत्०' सूत्र से लसार्वधातुक को अनुदात्तविधान करना पडेगा। क्योंकि इधर तो विकरणस्वर लसार्वधातुकस्वर को बाधेगा नहीं और उधर लसार्वधातुक को अनुदात्तविधान करेंगे नहीं तो प्रत्ययस्वर से उस लसार्वधातुक को उदात्त होने लगेगा।' जो अनिष्ट है।

हमने यह सब उपर्युक्त व्याख्यान कैयट के अनुसार किया है। नागेश इससे सहमत नहीं है। नागेश का कहना है– कैयटोक्त जो अर्थापेक्ष तथा सार्वधातुकादि संज्ञापेक्ष बहिरङ्गत्व है– वह युक्त नहीं है, क्योंकि उस प्रकार से अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग भाव का शास्त्र में आश्रयण नहीं किया गया है। वे कहते हैं– अल्पापेक्ष होने से तिबादियों से पहिले ही स्यादि हो जायेंगे– यही मानना अधिक युक्त जान पड़ता है। किन्तु ऐसा मानने पर लसार्वधातुकस्वर के साथ संप्रधारणा में विकरणस्वर का दुर्बलत्व ज्ञापकसिद्ध न होकर वाचनिक ही स्वीकार करना होगा।

इस प्रकार वार्त्तिकोक्त पूर्वपक्ष के संदर्भ में, वार्त्तिककार के मतानुसार दो समाधान देकर, अन्तिम तीसरा समाधान[१] भाष्यकार ने अपना ही दिया है।।३३।।

सिब्बहुलं लेटि।।३.१.३४।।

वा०– ※ सिबुत्सर्गश्छन्दसि।।१।। ※

भाष्यम्– सिबुत्सर्गश्छन्दसि कर्त्तव्य:।।

छन्द में 'सिप्' इस विकरणप्रत्यय को उत्सर्ग[२] करना चाहिये।

---

१. अथवाऽन्तरङ्गा: स्यादय:– ऐसा जो अन्त में कहा था।

२. उत्सर्गशब्द: सामान्यवचन:। परनिमित्तानुपादानं च सामान्यत्वम्।

वा०– ❋ सनाद्यन्ते नेषत्वाद्यर्थ:।।२।। ❋

भा०– सनाद्यन्ताधिकारे[1]च कर्त्तव्य:।। किं प्रयोजनम्? 'नेषत्वाद्यर्थ:'।

इन्द्रो नस्तेन नेषतु[2]। गावो नेष्टादिति[3]।

और सनाद्यन्त[4] अधिकार में (अर्थात् सनादिवर्ग में) करना चाहिये। किस प्रयोजन के लिये? 'नेषतु' इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि के लिये। इन्द्रो नस्तेन नेषतु। गावो नेष्टात् इति।

छन्द में लोट् में भी सिप् देखे जाने से, सूत्रस्थ 'लेटि' पद को हटाकर सामान्यरूप से धातु से सिप् प्रत्यय करना चाहिये। और साथ में तदन्त की (सिप् प्रत्ययान्त की) धातुसंज्ञासिद्धि के लिये 'सनाद्यन्ता धातव:' (अ०– ३.१.३२) से पहिले यह सूत्र करना चाहिये। ऐसा वार्त्तिक का भाव है। ऐसा करने से 'नेषतु' इस प्रयोग में सिप् और शप् का समावेश सिद्ध हो जायेगा। सिप् को विकरण मानने पर वह सिद्ध नहीं होगा। 'लेट्' होने से 'लेटोडाटौ' (अ०– ३.४.९४) से विहित अट्-आट् भी नहीं हो पायेंगे।

वा– ❋ प्रकृत्यन्तरत्वात्सिद्धम्।।३।। ❋

भा०– प्रकृत्यन्तरत्वात्सिद्धमेतत्। प्रकृत्यन्तरं नेषति:।।

प्रकृत्यन्तर से (उक्तप्रयोग) सिद्ध है। 'नेष्' धातु एक अन्य ही प्रकृति है। जो कि णेषृ, एषृ, प्रेषृ-गतौ (भ्वादि- ४१२) इस रूप में पढा है।

वा०– ❋ नेषतु[5] नेष्टादिति दर्शनात्।।४।। ❋

यदि यह पूछते हो कि कैसे मानें कि 'नेष्' धातु प्रकृत्यन्तर है, तो इसका उत्तर है– नेषतु, नेष्टात् ऐसे प्रयोग देखे जाते हैं।

---

१. सनाद्यन्तेति येषामधिकारो बुद्धिस्थता तेषु कर्त्तव्य इत्यर्थ:।

२. 'नस्तेन नेषतु' इति पा०भे० (कीलहार्न)।

३. गा वो-----इति पा०भे० (झज्झर)।

४. सनादिविधानस्य अन्ते = समाप्तौ, 'आयादय आर्धधातुके वा' (अ०– ३.१.३१) इत्यस्याऽनन्तरं कर्त्तव्यम्। सनाद्यन्ते सनादिमध्य इत्यर्थ:।

५. 'नेषतु नेषतादि दृश्यते'। इति भाष्ये पाठ:। 'लोकेऽपि' इति शेष:। 'नेष्टादिति दृश्यते' इति लेखकप्रमाद:। अन्यथा प्रकृत्यन्तरावश्यकत्वं न दर्शितं स्यात्– नागेश:।

यहाँ 'उत्सर्गः कर्त्तव्यः, स च सनाद्यन्ते कर्त्तव्यः' इस प्रकार दो पूर्वपक्ष रखे गये। उनमें अन्त्य का तो खण्डन कर दिया। उत्सर्गता तो 'अवयासिसीष्ठाः[1]' इत्यादि के लिये रखनी ही पडेगी। अर्थात् लिङ् में सिप् की सिद्धि के लिये तो उत्सर्ग (लेटि पदरहित) करना ही चाहिये। भाष्य में 'इति[2]' शब्द से नेषतु का संकेत है। सनादिवर्ग में सिप् को रखने पर 'नेष्टाद्' यह रूप सिद्ध नहीं होगा। यहाँ करने पर 'नेषतु' सिद्ध नहीं होता। प्रकृत्यन्तरत्व मानने पर तो 'नेष्टात्' यह रूप 'नी' धातु से 'सिप्' में सिद्ध हो जायेगा। अर्थात् सूत्र तो यहीं (स्यतासी० के अनन्तर) रख लिया जाये, पर 'लेटि' पदरहित हो, अथवा 'नेष्टाद्' यहाँ विकरणव्यत्यय से शप् का लुक् बना लेना चाहिये।

भा०–अथ किमर्थः पकारः?

अच्छा! सिप् में पकार का क्या प्रयोजन है?

भा०– स्वरार्थः। 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (अ०– ३.१.४) इत्येषः स्वरो यथा स्यादिति।।

सिप् में 'पकार' स्वर करने के लिये है। जिससे कि 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' यह स्वर हो जाये।

वा०– पित्करणानर्थक्यं चाऽनच्कत्वात।।५।।

भा०– पित्करणं चानर्थकम्।। किं कारणम्? 'अनच्कत्वात्'। अनच्कोऽयं, तत्र नार्थः स्वरार्थेन पकारेणानुबन्धेन।

पित्करण तो अनर्थक ही है। कैसे? अच् रहित होने से। यह 'सिप्' अनुबन्धलोप होने पर अच् रहित हो जाता है। सो स्वरार्थ अनुबन्ध पकार से कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध हो सकेगा। अनुदात्त तो अच् को ही तो हो सकता है और वह यहाँ है नहीं।

भा०– इटि कृते साच्को भविष्यति।।

इट् आगम कर लेने पर (सिप्) अच् सहित हो जायेगा।

वा०– इटोऽनुदात्तार्थमिति चेदागमानुदात्त्वासित्सद्धम्।।६।।

भाष्यम्– आगमानुदात्तत्वेनेटोऽनुदात्तत्वं भविष्यति।।

'इट् को अनुदात्त करने के लिये सिप् का पकार अनुबन्ध है– यदि ऐसा कहते हो तो 'आगमानुदात्ता भवन्ति' (पारि० १११) इस नियम से ही 'इट्' अनुदात्त हो जायेगा।

---

१. अव पूर्वाद् 'या' धातोराशीर्लिङि थासि, सुटि सीयुटि सिपि इटि रूपमेतत्।

२. ''भाष्ये 'इति हि''' इति नागेशो मन्यते।

नागेश ने 'आगमानुदात्तत्वात्' का यह अभिप्राय प्रकट किया है– 'तारिषत्' इत्यादि में धातुस्वरप्रयुक्त शेषनिघात से 'इट्' को अनुदात्त हो जायेगा।

भा० – एवं तर्हि सबयं कर्त्तव्यः।। किं प्रयोजनम्[1] ? यदवयासिसीष्ठाः (ऋग्वेदे– ४.२.४)। एकाज्लक्षण इट्प्रतिषेधो मा भूदिति।।

अच्छा तो (लेटि पदरहित सूत्र) चाहे सनादिमध्य में कहें और चाहे यहीं, पर सिप् न कहकर 'सप्' कहना चाहिये। किस प्रयोजन के लिये ? यदवयासिसीष्ठाः– इस उदाहरण में एकाज्लक्षण (एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्) का इट् प्रतिषेध न होवे।

सप् का अकार निरनुनासिक होने से इत्संज्ञक नहीं है। इस प्रकार सप् के साच्क होने से पित्त्व अनुदात्त करने में चरितार्थ हो जायेगा। लिङ् में अव+या+सप्+सीयुट्+सुट्+थास्' इस स्थिति में सबन्त[2] अङ्ग के अनेकाच् होने से सीयुडादि प्रत्यय को इडागम होता है। यदि सिप् करते हैं तो अवश्य ही इकार को उच्चारणार्थ मानना होगा, अन्यथा उसका श्रवण होने लगेगा। 'सप्' का अकार तो 'अतो लोपः' (अ०– ६.४.४८) से लोप हो जाता है। सो अब सबन्त अङ्ग के एकाच् होने से इट् प्रतिषेध होने लगेगा।

कोई कह सकता है कि सिप् पक्ष में भी 'एकाच उपदेशे:०', इट् प्रतिषेध नहीं कर सकेगा। क्योंकि जो यहाँ धातु उपदेश में अनुदात्त है, या शब्द उससे परे आर्धधातुक नहीं है, सिप् बीच में बैठा हुआ है। और जिस सिबन्त से परे आर्धधातुक है वह उपदेश में अनुदात्त नहीं है। अर्थात् सिबन्त समुदाय शास्त्र में उपदिष्ट नहीं है।

हाँ! यह बात सत्य है कि, यहीं सिप् को पढने पर तो उपर्युक्त उदाहरण में 'एकाच उपदेशे०' इट् प्रतिषेध नहीं होगा। किन्तु जब सनादिवर्ग में पढते हैं और सूत्रार्थ किया जाता है– 'धातवः सनाद्यवयका[3] भवन्ति' तो सिप् के या धातु का अवयव होने से या के ग्रहण से ही उसका ग्रहण होने से इट् प्रतिषेधप्रसङ्ग उपस्थित होने लगेगा। 'सप्' करने पर तो सनादिवर्ग में पढें चाहे यहाँ पढें कोई दोष नहीं होगा। क्योंकि अकारोच्चारणसामर्थ्य से उपदेश में अनुदात्तघटित एकाच् अङ्ग से उत्तर इट् नहीं होता– ऐसा उस सूत्र का अर्थ होगा। सप् करने पर एकाच् अङ्ग नहीं रहता बल्कि अनेकाच् हो जाता है।

---

१. किं प्रयोजनमित्यकारविषयः प्रश्नः।

२. 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तादित्यत्र' 'एकाचः' इत्यङ्गस्यैव विशेषणम्। उपदेशे इति चानुदात्तेनैव सम्बध्यते। उपदेशे योऽनुदात्तस्तद्घटिताद् एकाचोऽङ्गादिति हि तदर्थः।

३. सनादयोऽवयवा येषां ते सनाद्यवयवकाः। सनादयः (धातोः) अवयवा आगमवद् धातुग्रहणेन गृह्यन्त इति यावत्।

भा०– क्वायमकार: श्रुयते?

यह 'सप्' का अकार कहाँ सुनाई देता है?

भा०– न क्वचिच्छ्रूयते। लोपोऽस्य भविष्यत्यतो लोप आर्धधातुक इति।

सुनायी तो कहीं नहीं देता। यों तो आर्धधातुक विषय में 'अतो लोप:' से इसका लोप ही हो जाता है।

भा०– यदि न क्वचिच्छ्रूयते नार्थ: स्वरार्थेन पकारेणाऽनुबन्धेन।।

यदि कहीं भी नहीं सुनाई देता तो फिर स्वरार्थ पकार अनुबन्ध लगाने से कोई प्रयोजन नहीं है।

भा०– एवमपि कर्त्तव्य एव।। किं प्रयोजनम्? अनुदात्तस्य लोपो यथा स्यादुदात्तस्य मा भूदिति।। किं च स्यात्? उदात्तनिवृत्तिस्वर: प्रसज्येत।।

नहीं! फिर भी करना चाहिये ही। क्या प्रयोजन है? 'अतो लोप:' से जब उसका लोप हो, तब वह लोप अनुदात्त का हो, उदात्त का न हो। उदात्त का लोप हो जाने से, ऐसा कौन सा अनिष्ट हो जायेगा? 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोप:' (अ०– ६.१.१५५) सूत्रविहित उदात्तनिवृत्तिस्वर[१] होने लगेगा।

'अनुदात्तस्य लोपो यथा स्यात्' ऐसा जो कहा गया है– यह सप् का सनादिवर्ग में पाठ मानने पर 'धातो:' (अ०– ६.१.५६) अन्तोदात्त स्वर का अनाश्रय करके कहा गया है। अथवा इसी प्रदेश में पाठ के आश्रय से इस भाष्य को समझना चाहिये। यदि 'सप्' को 'पित्' नहीं करेंगे तो 'छन्दस्युभयथा' (अ०– ३.४.११७) से छन्द में आशीर्लिङ् के भी सार्वधातुक होने से 'तास्यनुदात्तेत्०' से अदुपदेश से उत्तर लसार्वधातुक को अनुदात्त होने पर प्रत्ययस्वर या धातुस्वर से 'स' शब्द के अकार को उदात्त होने से शेष निघात से इट् आदि अचों को अनुदात्त होकर 'इट्' अनुदात्त के परे रहते उदात्तनिवृत्तिस्वर होने लगेगा। पकार के होने पर तो यद्यपि इट् तो अब भी अनुदात्त ही है फिर भी पित्करणसामर्थ्य से ही 'स' शब्द के अकार को धातुस्वर नहीं होगा। अथवा यदि यहीं पाठ मानते हैं तब तो धातुस्वर की प्राप्ति ही नहीं, इस प्रकार 'या' शब्द को ही धातुस्वर होगा। 'अव' से उत्तर 'तिङ्ङतिङ:' (अ०– ८.१.२८) से जो निघात है वह 'यत्'[२] के योग में 'निपातैर्यद्यदिहन्त०' (अ०– ८.१.३०) से प्रतिषिद्ध है। 'अव' शब्द को तो 'तिङि चोदात्तवति' (अ०– ८.१.७१) से निघात हो जायेगा।

यहाँ इस सब का सार यह है– 'लेटि' पदरहित पाठ यहीं (न कि सनादिवर्ग में) करना चाहिये। सिप् के स्थान में सप् पाठ तो लसार्वधातुकानुदात्तत्त्व के लिये और उक्त रीति से इट्प्रतिषेधाऽभाव के लिये आवश्यक है। उदात्तनिवृत्तिस्वरवारण के लिये पकार भी करना चाहिये। अन्तरङ्ग हेतु से लादेश से पहिले ही 'सप्' होने पर फिर विकरणव्यधान में भी लादेश होंगे। इसलिये आर्धधातुक उपदेश में अकारान्त होने से 'अतो लोप:' से लोप सिद्ध हो जायेगा।

---

१. जिस अनुदात्त के परे रहते उदात्त का लोप हो– उसी अनुदात्त का आदि उदात्त हो जाता है।

२. यदवयासिंसीष्ठा:।

वा०– सिब्बहुलं छन्दसि णित्।।७।।

भाष्यम्– सिब्बहुलं छन्दसि णिद्वक्तव्य:। सविता धर्मं साविषत् प्रण आयूँषि तारिषत्[1] ।।३४।।

'सिप्' को बहुल करके वेद में णित् कहना चाहिये। सविता धर्मं साविषत् प्र ण आयूँषि तारिषत्।

षू–प्रेरणे धातु से (भवादि० धा०सू०– ११७) लेट् में यह रूप है। सिप् के णित् होने से 'सू' को वृद्धि होकर आवादेश हो गया है। तृ-प्लवन-संतरणयो: (धा० भ्वादि० ६९६) से तारिषत् रूप है।।३४।।

कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि।।३.१.३५।।

वा०– ✻ कास्ग्रहणे चकास उपसंख्यानम्।।१।। ✻

भाष्यम्– कास्ग्रहणे चकास उपसंख्यानम् कर्त्तव्यम्।। चकासाञ्चकार।।

सूत्र में कासृ-शब्दकुत्सायम् (भ्वादि०धा० ४१४) धातु का ग्रहण किया है। चकासृ-दीप्तौ (धा० अदादि- ६७) से भी आम् प्रत्यय का उपसंख्यान करना चाहिये।

भा०– न कर्त्तव्यम्। 'चकास्प्रत्यया'दिति वक्ष्यामि।।

नहीं! चकास् से उपसंख्यान करने की आवश्यकयता नहीं है। 'चकास्प्रत्ययात्०' ऐसा सूत्र बना देंगे।

भा०– चकास् ग्रहणे कास उपसंख्यानं कर्त्तव्यम्। कासाञ्चक्रे।

यदि चकास् का ग्रहण करते हैं तो फिर कास् से उपसंख्यान करना चाहिये।

भा०– सूत्रं च भिद्यते।।

और सूत्र भी भिन्न हो जाता है। हम यह भी चाहते हैं कि पाणिनीयक्रम भङ्ग न हो।

भा०– यथान्यासमेवाऽस्तु।।

अच्छा तो जैसा भी हमारे पास सूत्र है– वही रहने दीजिये।

भा०– ननु चोक्तम् 'कास्ग्रहणे चकास अपसंख्यान'मिति।।

किन्तु अभी जो कहा– कास् के ग्रहण में चकास् से आम् का उपसंख्यान करना चाहिये। यथान्यास में वह समस्या कैसे हल होगी?

भा०– नैष दोष:। चकास् शब्दे कास्शब्दोऽस्ति, तत्र 'कास्प्रत्ययादित्येव सिद्धम्'।।

१. ऋग्वेदे– १.२५.१२।

नहीं! यह कोई दोष नहीं। चकास् शब्द में कास्शब्द तो है ही, सो 'कास्प्रत्ययात्' इस कथन से ही कास् से भी आम् हो जायेगा और चकास् से भी।

भा०– न सिद्ध्यति।। किं कारणम्? अर्थवतः कास्शब्दस्य ग्रहणं, न च चकास्शब्दे कास्शब्दोऽर्थवान्।।

नहीं हो पायेगा। क्यों? ऐसा क्या कारण है? कारण है अर्थवान् कास् शब्द का ग्रहण है। लेकिन चकास् शब्द में कास् शब्द अर्थवान् है नहीं।

वार्त्तिक (कास्ग्रहणे चकास उपसंख्यानम्) यह अत्यल्प विषयवाला है– इस आशय से अन्य कहता है–

भा०– एवं तर्हि– 'कास्यनेकाच' इति वक्तव्यम्[१]।। किं प्रयोजनम्? चुलुम्पाद्यर्थम्। चुलुम्पाञ्चकार दरिद्राञ्चकार।।३५।।

अच्छा तो, कास् प्रत्ययात् के स्थान में 'कास्यनेकाचः'– ऐसा कहना चाहिये– अर्थात् प्रत्ययग्रहण को हटाकर 'अनेकाचः' ग्रहण करना चाहिये। क्या प्रयोजन है? चुलुम्पादि के लिये ऐसा कहना आवश्यक है। चुलुम्पांचकार[२] दरिद्राञ्चकार।

हमने जो ऊपर का भाष्य जिसको कि पाठभेद में वार्त्तिक के रूप में स्वीकृत है उसका अर्थ हरदत्तादि के अनुसार किया है। नागेश ने तो अपनी ऊहा से अर्थ किया है– कासिपदमनेकाज्धातुमात्रस्य यथा भवति तथा व्याख्येयमित्यर्थः। तथा हि– 'एकाचो धातोश्चेत् कास एव इति नियमपरतया व्याख्येयमिति। एवञ्च चकास उपसंख्यानामिति वार्त्तिकं, सूत्रस्थम्प्रत्ययग्रहणं च न कार्यमिति भाष्यतात्पर्यम्'।।३५।।

इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः।।३.२.३६।।

वा०– गुरुमत आम्विधाने लिण्निमित्तात्प्रतिषेधः।।१।।

भाष्यम्– गुरुमत आम्विधाने लिण्निमित्ताद्गुरुमतः प्रतिषेधो वक्तव्यः।

इयेष, उवोष। गुणे कृते 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छ' इत्याम्प्रसज्यते।।

गुरुमान् धातु से 'आम्' का विधान करने में, लिट् के निमित्त से जो धातु गुरुमान् बन गया हो उससे आम् का प्रतिषेध करना चाहिये। जैसे इयेष, उवोष। यहाँ इष् व उष् धातुओं से लिट्, तिप्, णल् करने पर लघूपध गुण हो जाने के पश्चात् 'एष्+अ, ओष्+अ' इस स्थिति में धातु के इजादि गुरुमान् उपलब्ध होने से आम् प्राप्त होने लगेगा।

---

१. पाठभेद में इसको 'कास्यनेकाचश्चुलुम्पाद्यर्थम्' इस प्रकार वार्त्तिक के रूप में स्वीकारा गया है।

२. चुलुम्पतिर्वार्त्तिककारवचनात्साधुः।

यद्यपि 'उष्' धातु से 'उषविद०' (अ०– ३.१.३८) सूत्रविहित वैकल्पिक आम् ही होना चाहिये, तो भी द्विवचन, बहुवचन के कित् होने से गुणाभाव होने से गुरुमत्त्व के अभाव के कारण वहाँ विकल्प सावकाश है– इसलिये 'णल्' प्रत्यय में जहाँ गुण हो जाता है वहाँ नित्य ही आम् प्राप्त होने लगेगा। भाष्यकार ने यह उपन्यास, 'विप्रतिषेधे परं०' (अ०– १.४.२) तथा प्रतिपदविधि के बलवत्त्व का अनाश्रय करके प्रस्तुत किया है– ऐसा समझना चाहिये। प्रतिपदविधि के बलवान् मान लिये जाने पर तो उष्विहित आम् को विकल्प से ही होना होगा।

भा०– गुरुमद्वचनमिदानीं किमर्थं स्यात्?

यदि लिट् निमित्तक गुरुमत्ता को लेकर भी 'आम्' होने लगेगा तो गुरुमत्त्व का व्यावर्त्य कुछ भी रहेगा नहीं। क्योंकि 'ईषतु: ईषु:' इत्यादि में भी, इष्+इष्+अतुस् = इ+इष्+अतुस्– इस स्थिति में सवर्णदीर्घ होने पर गुरुमत्त्व हो जाने से इजादि धातु से सर्वत्र ही आम् प्राप्त है, इसलिये गुरुमद्वचनसामर्थ्य से उपदेश अवस्था में जो गुरुमान् ऐसा अर्थ ग्रहण किया जायेगा। और जब ऐसा है तो लिट् निमित्तक गुरुमान् से प्रतिषेध करना अनर्थक है।

वा०– गुरुमद्वचनं किमर्थमिति चेण्णल्युत्तमे यजादिप्रतिषधार्थम्।।२।।

भा०– गुरुमद्वचनं किमर्थमिति चेण्णल्युत्तमे यजादीनां मा भूदिति। इयजाऽहम्, उवपाऽहम्।।

यदि लिट् निमित्तक गुरुमान् से भी आम् हो जाये तो फिर गुरुमद्वचन का क्या प्रयोजन रह जाता है– यदि ऐसा पूछते हो तो, उसका प्रयोजन यह है कि, यज्-वप् इत्यादि धातुओं में उत्तम पुरुष के णल् में आम् न होवे। जैसे कि 'इयजाऽहम्' उवप अहम्।

णल् का यहाँ उपलक्षण के रूप में ग्रहण किया गया है। इससे थल् का भी ग्रहण हो जायेगा– इयजिथ। लिट् में 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' से संप्रसारण कर लेने पर यजादि धातुएँ, इजादि तो हो जाती हैं पर वे गुरुमान् नहीं होती। 'गुरुमत:' ग्रहण इन प्रसङ्गों की व्यावृत्ति के लिये समझा जायेगा।

वा०– ✻ उपदेशवचनात्सिद्धम्[१] ।।३।। ✻

भाष्यम्– उपदेशे गुरुमत इति वक्तव्यम्।

(वा०) उपदेशवचन से उक्त दोष का निरास सिद्ध है।

---

१. उपदेश उच्यतेऽनेन = एवंभूतेन व्याख्यानेनेत्यर्थ:।

(भा०) उपदेश में जो गुरुमान् धातु, उससे आम् होता है– ऐसा कहना चाहिये। यहाँ कैयट का कहना है– 'गुरुमत:' इस पद में 'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने०' (अ०– म०भा० ५.२.९२) इस नियम के अनुसार नित्ययोग में मतुप् है। नित्यगुरु अक्षरवाली धातु तो वही होगी जो उपदेशावस्था में गुरु है। शिवरामेन्द्र सरस्वती 'नित्यं कौटिल्ये०' (अ०– ३.१.२३) से मण्डूकप्लुति से 'नित्यम्' पद की अनुवृत्ति के द्वारा उक्त अर्थ साधित करता है। इसलिये 'ईह' इत्यादि नित्य गुरुमान् धातु ही गृहीत होंगी।

भा०– यद्युपदेशग्रहणं[२] क्रियते उच्छेराम्वक्तव्य:। व्युच्छाञ्चकारेति।।

यदि उपदेशग्रहण किया जाता है तो 'उछी-विवासे' (धा०भ्वा० १२१) धातु से आम् कहना चाहिये। जैसा कि 'व्युच्छाञ्चकार' यहाँ 'आम्' इष्ट है। उछी-विवासे धातु उपदेश में गुरु न पढने से यह नित्य गुरु से युक्त नहीं है।

वा०– ऋच्छिप्रतिषेधो ज्ञापक उच्छेराम्भावस्य।।४।।

भाष्यम्– यदयमनृच्छ इति प्रतिषेधं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यस्तुङ्निमित्ता यस्य गुरुमत्ता, भवति तस्मादामिति।।

'इजादेश्च०' इस सूत्र में ही जो ये आचार्य 'अनृच्छ:' कहकर 'ऋच्छ' धातु से आम् का प्रतिषेध कर रहे हैं, उससे ज्ञापित करते हैं– तुक् आगम के कारण जिसकी गुरुमत्ता है, उससे आम् हो ही जाता है। तुग् ग्रहण यहाँ आगम मात्र का उपलक्षण है, अर्थात् सामान्यापेक्ष ज्ञापक है। इसलिये 'इङ्खाञ्चकार' आदि में, जहाँ नुम् निमित्तक गुरुमत्ता होगी, वहाँ भी आम् हो जायेगा।

भा०– स तर्हि ज्ञापकार्थ ऋच्छिप्रतिषेधो वक्तव्य: ?

तो फिर क्या वह ज्ञापक के लिये 'अनृच्छ:'– ऐसा कहना चाहिये ?

भा०– ननु चाऽवश्यं प्राप्त्यर्थोऽपि वक्तव्य:।।

क्यों जी प्रतिषेधप्राप्ति के लिये भी तो कहना चाहिये। 'तुङ् निमित्ता यस्य गुरुमत्ता, भवति तस्मादाम्'– इस अर्थ के ज्ञापित होने पर– 'ऋच्छ' से भी आम् प्राप्त होने लगेगा, लेकिन 'ऋच्छ' से आम् अभीष्ट नहीं है। सो ऋच्छ् से आम् के प्रतिषेध करने के लिये भी 'अनृच्छ:' ऐसा कहना होगा। अर्थात् उच्छादि से आम्प्राप्ति ही 'अनृच्छ:' इस प्रतिषेध का प्रयोजन नहीं है बल्कि स्वयम् ऋच्छ् से आम् न हो इसके लिये भी तो 'अनृच्छ:' यह प्रतिषेध है।

---

२. उपदेशो गृह्यतेऽनेन = एवंभूतेन व्याख्यानेनेव्यर्थ:।

भा०– नाऽर्थ: प्राप्त्यर्थेन। 'ऋच्छत्यृताम्' (अ०– ७.४.११) इति ऋच्छेर्लिटि गुणवचनं ज्ञापकं 'नर्च्छेर्लिट्याम्भवती'ति।।

नहीं! प्रतिषेधप्राप्ति (ऋच्छ् से आम् प्रतिषेध) के लिये तो 'अनृच्छ:' ऐसा कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। 'ऋच्छत्यृताम्' से ऋच्छ् धातु को लिट् परे रहते गुणविधान ज्ञापक हो जायेगा कि लिट् के परे रहते ऋच्छ् धातु से आम् नहीं होता। क्योंकि आम् होने पर तो लिट् के परे रहते अव्यवहित पूर्व में ऋच्छ् धातु मिल ही नहीं सकेगी– इस प्रकार ऋच्छ् का गुणविधान व्यर्थ हो जायेगा।

इसका भाव यह है– 'अनृच्छ:' के द्वारा 'तुङ् निमित्ता यस्य गुरुमत्ता, भवति तस्मादाम्' इस अर्थ के ज्ञापित कर दिये जाने पर भी इस ज्ञापक की स्वार्थ में चरितार्थता या सार्थकता सिद्ध कर पाना कठिन है। ज्ञापक के दो प्रयोजन होते हैं– एक तो स्वार्थ में एक अन्यत्र। जब 'ऋच्छ्' से आम् का अभाव प्रकारान्तर से ही सिद्ध है तो उक्त ज्ञापक का स्वार्थ में कुछ भी फल दिखाया नहीं जा सकता। स्वार्थ में कोई फल न होने से उक्त ज्ञापक का ज्ञापकत्व ही खटाई में पड जाता है।

भा०– नैतदस्ति, ज्ञापकम्। अर्त्यर्थमेतत्स्यात्।।

नहीं! 'ऋच्छ्' धातु से आम् के प्रतिषेध में 'ऋच्छत्यृताम्' के द्वारा विहित गुण, कोई ज्ञापक नहीं है। प्रयोजन न होने पर ज्ञापक होता है। वह गुणविधान तो 'ऋ' धातु के लिये सप्रयोजन हो सकता है।

भा०– कथं पुनर्ऋच्छेर्लिटि गुण उच्यमानोऽर्त्यर्थ: शक्यो विज्ञातुम्?

किन्तु 'ऋच्छ्' धातु को लिट् में कहा गया गुण 'ऋ' धातु के लिये कैसे समझा जा सकता है?

भा०– सामर्थ्यात्। ऋच्छिर्लिटि नास्तीति कृत्वा प्रकृत्यर्थं[1] विज्ञायते। तद्यथा– 'तिष्ठतेरित्' (अ०– ७.४.५) जिघ्रतेर्वा (६) इति चङि तिष्ठतिजिघ्रती न स्त इति कृत्वा प्रकृत्यर्थं[1] विज्ञायते।।

सामर्थ्य से। सामर्थ्य यह है– लिट् में तो 'ऋच्छ्' है ही नहीं– क्योंकि शित् प्रत्यय परे रहते ऋच्छादेश का विधान है। और स्वतन्त्र जो 'ऋच्छ्' है उससे 'आम्' के द्वारा व्यवधान होने से लिट्परता नहीं हैं। इस कारण 'ऋच्छत्यृताम्' सूत्र में वह श्रूयमाण 'ऋच्छरुप' उसकी अपनी प्रकृति 'ऋ' के लिये जाना जायेगा। जैसे कि 'तिष्ठतेरित्', 'जिघ्रतेर्वा' इत्यादि सूत्रों में चङ् के परे रहते कहा गया कार्य 'स्था' व 'घ्रा' को होता है, न कि 'तिष्ठ' और 'जिघ्र' को, क्योंकि चङ् में तिष्ठ और जिघ्र रूप उपलब्ध ही नहीं। स्था और घ्रा को शित् परे रहते ही 'तिष्ठ' और 'जिघ्र' आदेश कहा हुआ है। इस प्रकार भाव यह है, जैसे तिष्ठति और जिघ्रति से तिष्ठ और जिघ्र की प्रकृति स्था व घ्रा का ग्रहण किया जाता है, तद्वत् प्रकृत में भी 'ऋच्छत्यृताम्' सूत्र में ऋच्छति से 'ऋच्छ्' की प्रकृति 'ऋ' का ग्रहण किया जायेगा।

---

१. पाठभेद:– प्रकृत्यर्थो।

भा०– किं पुनरर्त्तेर्लिटि गुणवचने प्रयोजनम्?

अच्छा, हमें यह बतायें– लिट् में 'ऋ' धातु को गुण करने में क्या प्रयोजन सिद्ध करना चाहते हैं?

भा०– आरतु:, आरु:– एतद्रूपं यथा स्यात्।।

आरतु:, आरु:– ये रूप सिद्ध हो जायें, यही प्रयोजन हैं।

भा०– किं पुन: कारणं न सिद्ध्यति?

ऐसा क्या कारण है, जो ये रूप सिद्ध नहीं होतें?

भा०– द्विर्वचने कृते सवर्णदीर्घत्वे च यदि तावद्धातुग्रहणेन ग्रहणमृकारान्तानां लिटि गुणो भवतीति गुणे कृते रपरत्वे च अरतु: अरुरित्येतद्रूपं प्रसज्येत। अथाऽभ्यासग्रहणेन ग्रहणम् उरत्वं[1] रपरत्वं, हलादि: शेष: अत आदे: (अ०– ७.४.७०) इति दीर्घत्वम्, आतो लोप इटि च (अ०– ६.४.६४) इत्याकारलोप:– अतु: उरिति वचनमेव श्रूयेत गुणे पुन: सति, गुणे कृते रपरत्वे च द्विर्वचनं हलादि: शेषोऽत आदेरिति दीर्घत्वं तत: सिद्धं भवति (आरतुरारुरिति[2])। यथा आटतु: आटुरिति।।

'ऋ अतुस्' यहाँ यणादेश और द्विर्वचन की संप्रधारणा में पूर्वविप्रतिषेध[3] से द्विर्वचन करने पर 'ऋ+ऋ+अतुस्' इस स्थिति में सवर्णदीर्घत्व भी कर लेने पर 'ॠ +अतुस्' यहाँ यदि अन्तादिवद्भाव[4] से अथवा स्थानिवद्भाव[5] से एकादेश हुये 'ॠ' का धातुग्रहण से ग्रहण माना जाये तो ॠ कारान्तों को लिट् परे रहते गुण होता है (अ०– ७.४.११) इस नियम से गुण व रपरत्व (उरण् रपर:– १.१.५०) करने पर 'अरतु: अरु:'–

---

१. 'उरदत्त्वे रपरत्त्वं' इति पा० भे०। २. कोष्ठान्तर्गत: पाठोऽसार्वत्रिक:।

३. द्विर्वचनं यणयवायावादेशाल्लोपोपधालोपणिलोपकिकिनोरुत्वेभ्य: (म०भा०वा० ६.१.१२/९) क्यों जी द्विर्वचन अनित्य है और यण् नित्य है– सो इन दोनों का विप्रतिषेध कैसे बनेगा? 'द्विर्वचनेऽचि' के अभाव में द्विर्वचन अनित्य हो सकता है, किन्तु उसके होने पर तो (अर्थात् प्रकृत में उसका उपयोग करने पर तो) वह भी नित्य ही है, इस प्रकार विप्रतिषेध बन जायेगा। किन्तु 'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र ही बनाना चाहिये, विप्रतिषेध नहीं पढ़ना चाहिये– ऐसा उसी सूत्र में कहा गया है। और जब वैसा है तो स्थानिवद्भावशास्त्र में विप्रतिषेध का अभाव होने से पूर्वविप्रतिषेध के द्वारा द्विर्वचन का पूर्वभावित्व उपपन्न नहीं होगा या फिर विप्रतिषेधपक्ष में 'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र के अभाव होने से कैसे द्विर्वचन का नित्यत्व होगा– इसका उत्तर यह है: जैसे 'नी+उस्' इस स्थिति में परत्व से इयङ् और बाद में द्विर्वचन करने पर 'निन्यु:' रूप सिद्ध नहीं होता– यणादि मध्य में इयङ् का पाठ न होने से पूर्वविप्रतिषेध तो यहाँ है नहीं। इसलिये ऐसा कहना होता है कि, यत: द्विर्वचन होने पर 'एरनेकाचो०' (अ०– ६.४.८२) यण् इयङ् का अपवाद बन जाता है, इसलिये इयङ् पहिले ही प्रवृत्त नहीं होता– क्योंकि, अपवाद विषय को छोड़कर ही उत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है। (पारि०– ५५,५६)। तद्वत यहाँ भी द्विर्वचन होने पर यण् का अपवाद दीर्घ होना चाहिये, इसलिये पहिले भी यण् की प्रवृत्ति नहीं होती। अथवा यण् यदि हो भी जाता है तो चूँकि सिद्धान्त में विप्रतिषेध के स्थान में 'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र ही स्वीकार किया गया है, इसलिये हुये-हुये यण् को स्थानिवद्भाव होकर द्विर्वचन होगा। अब 'ऋ ऋ अतुस्' इस प्रकार द्विर्वचन होने पर यणादेश से परत्व से सवर्णदीर्घत्व हो जायेगा– ऐसा भाष्यकार का अभिप्राय है।

४. 'यो ह्युभयोरादेश: सोऽन्यतरतो व्यपदेशं लभते' (म० भा० १.१.५६) इति न्यायादित्यर्थ:।

५. स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ (अ०– १.१.५५)।

ऐसे रूप बनने लगेंगे। और यदि एकादेश हुये 'ऋ' का अभ्यासग्रहण से ग्रहण मानते हैं तो उरत् (अ०– ७.४.६६) से 'ऋ' को अत्व कर लेने पर रपरत्वं (उरण् रपरः) और हलादिः शेषः (अ०– ७.४.६०) से अर् के रेफलोप होकर 'अ' शेष बचने पर उसे 'अत आदेः' (अ०– ७.४.७०) से दीर्घ होकर 'आतो लोप इटि च' (अ०– ६.४.६४) से आकारलोप होने पर ' अतुः, उः'– ऐसा वचनरूप प्रत्ययमात्र ही (न कि प्रकृतिविशिष्टप्रत्यय) सुनायी पड़ने लगेगा।

लेकिन 'ऋ+अतुस् ' इस स्थिति में पहिले गुण हो जाता है तो गुण करने पर रपरत्व होकर 'अर्+अतुस् यहाँ' 'अर्+अर्+अतुस्' ऐसा द्विर्वचन करके, 'हलादिः शेषः' व 'अत आदेः' अभ्यासदीर्घत्व करने पर आरतुः आरुः ये प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। जैसे कि आटतुः, आटुः सिद्ध होते हैं।

यहाँ भाष्यकार ने द्विर्वचन से परत्व से गुण करके 'अर्+अतुस्' इस स्थिति में सीधे 'अर्' को ही द्विर्वचन करके दिखा दिया। द्विर्वचनेऽचि (अ०– १.१.५८) से जो रूपातिदेश होता है, उसे बीच में लाकर 'ऋ' को द्विर्वचन नहीं किया– वह इस आशय से कहा है कि जहाँ आदेश करलेने पर एकाच्त्वादि के व्याघात हो जाने से द्वित्व की अप्राप्ति होने लगती है, वहीं 'द्विर्वचनेऽचि' अतिदेश की प्रवृत्ति होती है। प्रकृत में वैसा कुछ न होने से रूपातिदेश न करके सीधा द्विर्वचन करके दिखा दिया है।

भा०– किं पुनः कारणं सवर्णदीर्घत्वं तावद्भवति न पुनरुरत्वम्? परत्त्वादुरत्वेन भवितव्यम्।।

ऐसा क्या कारण है जो 'ऋ+ऋ+अतुस्' इस स्थिति में सवर्णदीर्घत्त्व तो हो जाता है न कि 'उरत्' से अभ्यास को विहित अत्व। परत्व से तो (अभ्यास ऋकार को अकार) ही होना चाहिये।

भा०– अन्तरङ्गत्वात् सवर्णदीर्घत्वं प्राप्नोति। अन्तरङ्गं सवर्णदीर्घत्वम्, बहिरङ्गमुरत्वम्।। काऽन्तरङ्गता? वर्णावाश्रित्य सवर्णदीर्घत्वम्, अङ्गस्योरत्वम्।।

अन्तरङ्गता के कारण सवर्णदीर्घत्व प्राप्त होता है। सवर्णदीर्घत्व अन्तरङ्ग है। और उरत्व (उः अत्व = ऋ के स्थान में अत्व) बहिरङ्ग है। सवर्णदीर्घ की अन्तरङ्गता का क्या क्या आधार है? सवर्णदीर्घ मात्र दो वर्णों के बीच होता है। और उरत्व के लिये अङ्ग की अपेक्षा है। अङ्ग की अपेक्षा का अर्थ है, प्रकृति-प्रत्यय की अपेक्षा, क्योंकि प्रत्यय के परे रहते ही पूर्व की अङ्ग संज्ञा कही गयी है। अर्थात् सवर्णदीर्घ का निमित्त अन्तर्भूत है और उरत्व का बहिर्भूत या सवर्णदीर्घ अल्पापेक्ष है और उरत्व बह्वपेक्ष।

यहाँ भाष्यकार 'वार्णादाङ्गं बलीयः०' (पारि० ५०) परिभाषा को बीच में नहीं लाये हैं। कारण, समानाश्रय आङ्ग व वार्ण विषय में ही वह परिभाषा कार्य करती है। जैसे कि 'कृ+अक्', 'चि+अन' इत्यादि में अङ्ग कार्य वृद्धि या गुण पाते हैं और वर्णकार्य यणादेश। आङ्ग कार्य के बलवान् होने से वृद्धि-गुण ही होते हैं।

भा०– उरत्वमप्यन्तरङ्गम्।। कथम्? वक्ष्यत्येतत्– 'प्रागभ्यासविकारेभ्योऽङ्गाधिकार' इति। उभयोरन्तरङ्गयो: परत्वादुरत्वम्। उरत्वे च कृते रपरत्वं, हलादि: शेषोऽत आदेरिति दीर्घत्वं परस्य रूपस्य यणादेश:, सिद्धं भवति– आरतु: आरुरिति।।

उरत्व भी अन्तरङ्ग है। जैसे? अङ्गाधिकार अभ्यासविकारों से पहिले-पहिले है– ऐसा आचार्य वार्त्तिककार कहेंगे। इस प्रकार दोनों के अन्तरङ्ग अर्थात् समाननिमित्तक होने से परत्व से उरत्व ही होगा। उरत्व कर लेने पर 'उरण् रपर:' से रपरत्व और 'हलादि: शेष:' से उस रेफ का लोप, 'अत आदे:' से अभ्यास में शेष बचे हुये उस अकार को दीर्घ और उत्तरखण्ड को यणादेश होकर आरतु:, आरु:– ऐसा सिद्ध हो जाता है।

भा०– अथाऽपि कथंचिदर्त्तेर्लिटि गुणेनाऽर्थ: स्यात्, एवमपि न दोष:। ऋच्छत्यृतामित्यृकारोऽप्यत्र निर्दिश्यते।। कथम्? प्रश्लिष्टनिर्देशोऽयम्। ऋच्छति ऋ ॠताम्, ऋछत्यृतामिति।।

और यदि किसी रूप में 'ऋ' धातु को लिट् में गुण करने का कोई प्रयोजन हो भी, तो भी कोई दोष नहीं है। अर्थात् 'वव्रश्च[१]' इत्यादि रूप सिद्धि के लिये सप्तम अध्याय परिसमाप्ति तक अङ्गाधिकार माना जाने के कारण उरत्व को अन्तरङ्ग न बनाया जा सके और इसलिये आरतु:, आरु: इत्यादि रूपों की सिद्धि के लिये गुणविधान करना आवश्यक हो जाये तो भी कोई दोष नहीं है। क्योंकि 'ऋच्छत्यॄताम्' यहाँ इस सूत्र में ऋकार भी निर्दिष्ट है। कैसे? प्रश्लिष्टनिर्देश है– ऋच्छति+ऋ+ॠताम् = ऋच्छत्यॄताम्। 'ऋ+ॠताम्' यहाँ एकादेश हो रहा है। सूत्र में बहुवचन निर्देश इस बात में लिङ्ग भी बन रहा है।

भा०– इहापि तर्हि प्राप्नोति– चक्रतुश्चक्रुरिति।।

यदि 'ऋच्छत्यॄताम्' सूत्र में ऋकार का प्रश्लेष है तो चक्रतु: चक्रु: यहाँ भी गुण प्राप्त होता है। क्योंकि 'ऋ' के वर्णग्रहण होने से 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च०' (म०भा०वा० १.१.७२) 'वर्णग्रहणं च सर्वत्र' (म०भा०वा० १.१.७१/२७) इन नियमों से तदन्तविधि हो जायेगी।

भा०– संयोगादिग्रहणं नियमार्थं भविष्यति– 'संयोगादेरेवाऽकेवलस्य नाऽन्यस्याऽकेवलस्ये'ति।।

---

१. 'व्रश्च् व्रश्च् णल्' इस स्थिति में 'संप्रसारणं तदाश्रयं कार्यञ्च बलीय:' (परि०- १०७) इस परिभाषा से 'हलादि: शेष:' से पहिले रेफ को संप्रसारण करने पर 'वृश्च् व्रश्च्+अ', अब 'हलादि: शेष:' होकर 'वृ+व्रश्च् अ' 'उरत्' से अभ्यासऋकार को अत्व, 'वर्+व्रश्च्+अ' पुन: हलादि: शेष होकर 'व+व्रश्च्+अ' इस स्थिति में 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' (अ०– ६.१.१७) से अभ्यास वकार को संप्रसारण प्राप्त हुआ। अब यहाँ उरत्व के अङ्ग के द्वारा आक्षिप्त परनिमित्तक होने से 'न संप्रसारणे संप्रसारणम्' (अ०– ६.१.३६) वकार को संप्रसारण निषेध करने में 'अच: परस्मिन् पूर्वविधौ' (अ०– १.१.५६) से स्थानिवद् भाव सिद्ध हो जाता है।

'ऋतश्च संयोगादेर्गुण:' (अ० – ७.४.१०) यहाँ संयोगादिग्रहण नियमार्थ हो जायेगा– 'ऋच्छत्यॄताम्' से जो ऋकारान्तों को गुणविधान किया गया है उसी से संयोगादि ऋकारान्तों को भी सिद्ध ही है, फिर भी जो संयोगादियों को पुन: गुण का विधान कर रहे हैं, वह नियम करने के लिये होगा– अकेवल अर्थात् वर्णान्तरसहित किसी धातु को गुण हो तो वह संयोगादि को ही हो– अन्य किसी अकेवल को न हो। 'नियमसूत्राणां निषेधे तात्पर्यम्' इस न्याय से उक्तनियम के द्वारा सभी कृ-हृ इत्यादि धातुयें निवृत्त हो जायेंगी। अर्थात् 'ऋच्छत्यॄताम्' सूत्र में 'ऋ' से तदन्तविधि गृहीत नहीं होगी। बल्कि 'ऋ-गतौ' यही एक धातु ली जायेगी।

भा० – तदेतदन्तरेणाऽर्त्तेर्लिटि[1] गुणवचनं रूपं सिद्धं भवति, अन्तरेण चर्च्छिग्रहणमर्त्तेर्लिटि गुण: सिद्ध:। स एषोऽनन्यार्थ[2] ऋच्छिप्रतिषेधो वक्तव्य उच्छेर्वाऽऽम्वक्तव्य:।।

इस प्रकार वह यह लिट् में ऋ धातु के गुणवचन के विना[3] ही रूप सिद्ध हो जाता है। और 'ऋच्छत्यॄताम्' सूत्र में 'ॠ' ऐसा प्रश्लिष्टनिर्देश होने से ऋच्छि से 'ऋ' का ग्रहण किये विना ही 'ऋ' धातु को लिट् में गुण सिद्ध है। सो वह यह 'ऋच्छिप्रतिषेध' अनन्यार्थ अर्थात् तुक् इत्यादि आगम के निमित्त से जो धातु गुरुमान् हो जाती हैं उनके लिये अर्थात् उनसे आम् विधान करने के लिये कहना चाहिये। अथवा (अर्थात् वह ऋच्छिप्रतिषेध नहीं कहते हो तो) उच्छ् (इत्यादि धातुओं से) आम् कहना चाहिये। 'अनृच्छ:' कहने पर तो 'उच्छ्' इत्यादि से आम् स्वत: ही हो जायेगा। कारण 'अनृच्छ:' यहाँ पर्युदास का आश्रयण करने से इसके द्वारा 'ऋच्छभिन्न' 'ऋच्छसदृश' (जिन धातुओं में आगमनिमित्तक गुरुमत्ता है) ऐसी धातुओं का ग्रहण होगा। इसलिये 'उच्छ' धातु के 'ऋच्छ' के सदृश होने से उससे आम् हो जायेगा।

यदि यह पूछा जाये कि, 'ऋच्छत्यॄताम्' से 'ऋच्छ्' को गुण का विधान होने से उससे तो आम् की प्रसक्ति ही नहीं है– इसलिये 'अनृच्छ:' यह प्रतिषेध ही अयुक्त है, फिर उसका ज्ञापकत्व बनना कैसे संभव है? इसको इस रूप में समझना चाहिये कि, 'अनृच्छ:' यह प्रतिषेध इस प्रकार की धातुओं से आम् प्राप्ति की संभावना मात्र को लेकर किया जाता हुआ यथोक्त अर्थ का ज्ञापक हो जाता है।

यहाँ 'अन्तरेण च ऋच्छिग्रहणमर्त्तेर्लिटि गुण: सिद्ध:'– इस बात को इस भाव से कहा है कि 'ऋ ऋ अतुस्' यहाँ उरत्व और सवर्णदीर्घ– इन दो कार्यों की संप्रधारणा में अन्तरङ्ग सवर्णदीर्घत्व को वार्णपरिभाषा[4] से बाध भी लिया जाये तो 'हलादि: शेष:' और 'अत आदे:' अभ्यासदीर्घ कर लेने पर 'आ ऋ अतुस्' इस स्थिति में परखण्ड में यणादेश को बाधकर परत्व से 'आद् गुण:' प्राप्त होने लगेगा।

१.वार्णापरिभाषयैवेति भाव:। सा समानाश्रयविषयैवेति तु न मानाभावादिति भाव:।

२. ज्ञापकार्थ: न तु ऋच्छेराम्प्रतिषेधार्थ:।

३. वार्णपरिभाषयैवेति भाव:। सा समानाश्रविषयैवेति तु न मानाभावादिति भाव:।

४. वार्णादाङ्गं बलीयो भवति। (पारि० ५०) यह परिभाषा समानाश्रय में ही प्रवृत्त होती है– इसमें कोई प्रमाण नहीं है।

इसके लिये 'ऋ' को गुण तो अवश्य ही करना होगा– किन्तु उसके लिये 'ऋच्छत्यृताम्' सूत्र में ऋच्छति के द्वारा 'ऋ' को पकडने की कोई आवश्यकता नहीं ('अन्तरेण च ऋच्छिग्रहणम्' के द्वारा यही बात कही गयी है) बल्कि 'ऋ' को प्रश्लिष्ट समझना चाहिये। 'अथापि कथंचित्-----' भाष्य का भी यही आशय है– अर्थात् आरतु:, आरु:-बनाने के लिये गुण तो करना ही पडेगा, अन्यथा उपर्युक्त दिशा से उत्तरखण्ड में यण् को अभ्यासगत 'आ' से उत्तर 'आद् गुण:' बाधने लगेगा। फिर भी वह गुण सूत्रपठित 'ऋच्छति' के द्वारा न करके प्रश्लिष्ट हुये 'ऋ' के द्वारा किया जायेगा।

भा०– उभयं न वक्तव्यम्। उपदेशग्रहणं न करिष्यते।।

न तो 'अनृच्छ:' कहने की आवश्यकता है, और न ही उच्छ् से आम्। बस! उपदेशग्रहण नहीं करेंगे, अर्थात् 'उपदेश' इस अर्थ का व्याख्यान नहीं करेंगे। 'इजादेश्च गुरुमत:'– यहाँ मतुप् को नित्ययोग में न मानकर आश्रयमात्र अर्थ का वाचक मानेंगे। अर्थात् 'गुरुरस्याऽस्मिन् वा विद्यते स गुरुमान्' चाहे वह उपदेश में है या उत्तरकालिक है। 'अनृच्छ:' न कहने पर भी 'ऋच्छ्' से 'आम्' का वारण 'ऋच्छत्यृताम्' से गुणविधान सामर्थ्य से हो जायेगा।

भा०– कस्मान्न भवति-इयेष उवोषेति?

किन्तु इयेष-उवोष इन उदाहरणों में 'आम्' क्यों नहीं होता? उत्तरकाल में भी यदि गुरुमान् होने पर आम् हो जाता है तो 'इष्+णल्' 'उष्+णल्' यहाँ भी लघूपधगुण होने पर आम् होने लगेगा।

वा०– ✼ उक्तं वा।।५।। ✼

भाष्यम्– किमुक्तम्? सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्ये'ति[१]।

इस समस्या का समाधान कर दिया गया है। सन्निपातलक्षण निमित्त है जिसका ऐसी विधि सन्निपात के नाश करने वाले का निमित्त नहीं होती। प्रकृत में 'इष्+णल्' 'उष्+णल्' इस स्थिति में लिट् के सन्निपात (सन्नियोग) से गुण प्राप्त हुआ। वह गुण सन्निपात का विघात करने वाला जो आम् है उसका निमित्त नहीं बनेगा। आम् होने से इष् और णल् (लिट्) का जो संनियोग है, वह 'आम:' (अ०– २.४.८१) लि का लुक् होने से नष्ट हो जायेगा। और इष् णल् के बीच जो अव्यवधान है उसका भी विघात हो जायेगा।

१. तं विहन्तीति तद्विघातस्तस्य। (द्रष्टव्य– पारि० ७५)

वा– ※ ऊर्णोतेश्चोपसंख्यानम्।।६।। ※

भाष्यम्– ऊर्णोतेश्चोपसंख्यानं कर्त्तव्यम्। प्रोर्णुनाव।।

'ऊर्णुञ्'– आच्छादने धातु से आम् नहीं होता– प्रतिषेध में उपसंख्यान करना चाहिये। 'प्रोर्णुनाव'–ऐसा रूप चाहते हैं।

भा०– न कर्त्तव्यम्। वाच्य ऊर्णोर्णुद्भावो यङ्प्रसिद्धिः प्रयोजनम्।

आमश्च प्रतिषेधार्थमेकाचश्चेडुपग्रहात्।।

अथवोकारोऽप्यत्र निर्दिश्यते।। कथम्? अविभक्तिको निर्देशः,– अनृच्छ उ = अनृच्छो 'दयायासश्च' (अ०– ३.१.३७) इति।।३६।।

नहीं करना चाहिये। 'ऊर्णु' से आम् के प्रतिषेध करने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्यों? इसलिये आवश्यकता नहीं है– 'ऊर्णु को' नुवद्भाव कहना चाहिये। जिससे 'धातोरेकाचो हलादेः०' (अ०– ३.१.२२) सूत्र से यङ् हो जाये (प्रोर्णोनूयते)। प्रकृत सूत्र से आम् न हो (प्रोर्णुनाव) और एकाच् मानकर इडुपग्रह (इट् प्रतिषेध) हेतु से भी णुवद्भाव अभीष्ट है (प्रोर्णुतः, प्रोर्णुतवान्)।

यहाँ णुवद् के द्वारा यङ् के विषय में भावातिदेश समझना चाहिये और आम् व इट् के विषय में अभावातिदेश।

अथवा यथाश्रुत सूत्राक्षरों के आश्रय से भी ऊर्णु से आम् निषेध सिद्ध किया जा सकता है। कारण, 'इजादेश्च०' यहाँ सूत्र में ही उकार भी निर्दिष्ट है। कैसे? अविभक्तिक निर्देश है, तथा संहिता से सूत्रपाठ है। जैसे कि– अनृच्छ उ = अनृच्छो दयायासश्च। इस प्रकार सूत्रार्थ होगा– उकारान्त[1] ऊर्णु से आम् नहीं होता।।

उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम्।।३.१.३८।।

वा०– ※ विदेराम्कित्।।१।। ※

भाष्यम्– विदेराम् किद्वक्तव्यः। विदाञ्चकार।।

विद् धातु से आम् को कित् कहना चाहिये। जिससे कि गुण न हो– विदाञ्चकार।

यहाँ 'उष' और 'जागृ' के साहचर्य से परस्मैपदी विद् का ही ग्रहण है और वह है– विद-ज्ञाने (धा०अदा०–५७)

भा०– न वक्तव्यः। विदिरकारान्तः।।

'आम्' को कित् कहने की आवश्यकता नहीं है। सूत्र में आचार्य ने विद को अकारान्त निपातन से निर्देश किया है। जिसका कि आम् परे रहते 'अतो लोपः' (अ०– ६.४.४८) से लोप हो जाता है। गुण करते समय वह 'अचः परस्मिन्०' (अ०– १.१.५६) से स्थानिवत् हो जायेगा।

१.वर्णग्रहणे तदन्तविधिसद्भावात्। (म०भा०वा० १.१.७१/२७)

भा०– यद्यकारान्तो 'वेत्ति' इति गुणो न सिद्ध्यति।।

शङ्किता धातुपाठ में ही अकारान्त निपातन किया है– यह समझता हुआ कहता है– यदि अकारान्त निपातन है तो 'वेत्ति' यहाँ 'विद' के लघूपधत्व के अभाव होने से गुण नहीं सिद्ध होगा। और फिर आर्धधातुक परे न होने से अल्लोप भी नहीं होगा। 'विदति' ऐसा अनिष्ट रूप बनने लगेगा।

भा०– लिट् सन्नियोगेन।।

लिट् के सन्नियोग से अकारान्त निपातन है। 'वेत्ति' यह तो लट् का प्रयोग है।

भा०– एवमपि 'विवेदे'ति न सिद्ध्यति।।

फिर भी 'विवेद' यह रूप सिद्ध नहीं होगा।

भा०– एवं तर्ह्याम् सन्नियोगेन।।

अच्छा तो इसे ऐसे समझिये कि आम् के सन्नियोग से अकारान्त निपातन है।

भा०– भारद्वाजीया: पठन्ति– 'विदेराम् किन्निपातनाद्वाऽगुणत्वम्' इति।।

जैसा कि भारद्वाज परंपरा में भी पढते हैं– 'विद' से आम् जो होता है वह कित्वत् होता है। अथवा निपातन से अदन्तत्व समझना चाहिये। निपातनात् का अर्थ है– सूत्र में अदन्तत्व निपातन से है।

भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च।।३.१.३९।।

भा०– श्लुवदतिदेशे किं प्रयोजनम्?

वा– श्लुवदतिदेशे प्रयोजनं द्वित्वेत्वे[१]।। बिभराञ्चकार।। ३६।।

भी, ह्री, भृ और हु धातुओं से लिट् परे रहते आम् होता है और वह श्लुवत् होता है। शङ्किता पूछता है– श्लुवत् अतिदेश करने में क्या प्रयोजन है? क्यों न सीधा द्विर्वचन ही विधान कर दिया जाये?

श्लुवत् अतिदेश का प्रयोजन है– द्विर्वचन करना और इत्व करना। श्लुवत् अतिदेश करने से 'श्लौ' (अ०– ६.१.१०) से द्विर्वचन और 'भृञामित्' (अ०– ७.४.७६) से अभ्यास को इत्व सिद्ध हो जाते हैं।

कोई कहने लगे कि श्लुवत् कहने से 'न लुमताङ्गस्य' (अ०– १.१.६२) गुण प्रतिषेध भी होना चाहिये। सो नहीं होगा, क्योंकि वह निषेध 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (अ०– १.१.६१) का है– लुमत् शब्द के द्वारा प्रत्यय का लोप होने पर प्रत्ययलक्षण से अङ्गकार्य नहीं होता।

---

१. भाष्यमिदमिति केचित्।

कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि।।३.१.४०।।

भाष्यम्– किमर्थमिदमुच्यते?

यह सूत्र क्यों बना रहे है? सूत्रारम्भ के विना भी काल, साधन (कारक) संख्या और प्रत्यक्त्वादि (पुरुषादि) का प्रतिपादन करने के लिये लिट् परक कृञ् का अनुप्रयोग सिद्ध ही है। 'ईक्षाम्' इत्यादि आमन्तशब्दरूप से क्रियाविशेष का ही निश्चय हो पाता है न कि अन्य कारकादि अर्थों का। सो उसमें आपत्ति हो सकती है कि कहीं समानार्थक या एकदम भिन्नार्थक धातुओं का अनुप्रयोग न होने लगे। सो वैसा तो इसलिये नहीं होगा कि 'ओषामुवोष' यदि ऐसा प्रयोग होवे तो 'उवोष' ही जब सब अभीष्ट अर्थों (क्रिया-कारक-काल-संख्या-पुरुष) को कहने में समर्थ है तो 'ओषाम्' का प्रयोग अनर्थक होने लगेगा। और 'ईहांपपाच' इस रूप में भिन्नार्थक का प्रयोग करें तो आमन्त से संबद्ध साधनादि का बोध नहीं हो पायेगा। कृ-तो क्रियासामान्यवाची है– इसलिये उसके प्रयोग होने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। क्योंकि सामान्यविशेषवाचियों का प्रयोग अर्थविशेष का प्रतिपादन करने में अनुकूल ही होता है। इस प्रकार सामान्य का भी विशेष में पर्यवसान होने से सामान्यवाची से उत्पन्न तिबादियों के द्वारा भी विशेषवाची से संबन्धित जो साधनादि होंगे उनका बोध हो जायेगा। इसलिये इस सूत्र के विना ही अनुप्रयोग हो जायेगा– ऐसा पूर्वपक्ष है।

भा०– अनुप्रयोगो यथा स्यात्।।

यद्यपि आमन्त से संपूर्ण साधनादि अर्थों की अभिव्यक्ति नहीं होती, तथापि प्रकरणादि के अनुसार तो होगी ही, इसलिये इस सूत्र के विना कहे, अनुप्रयोग हो नहीं पायेगा। सो अनुप्रयोगसिद्ध्यर्थ यह सूत्र कहना ही चाहिये।

भा०– नैतदस्ति प्रयोजनम्। आमन्तमव्यक्तपदार्थकं, तेनाऽपरिसमाप्तोऽर्थ इति कृत्वाऽनुप्रयोगो भविष्यति।।

नहीं! यह कोई प्रयोजन नहीं है। आमन्तशब्दरूप अव्यक्तपदार्थवाला है, मात्र उतने शब्द के द्वारा संपूर्ण अर्थ अभिहित नहीं हो पाता इस हेतु से अनुप्रयोग हो जायेगा।

साधन-काल-पुरुष-संख्यादि पूर्वोक्त अर्थों का प्रकरणादिवश अशक्ति से बोध हो पाता है, इसलिये उन अर्थों का अभिधान करने के लिये अनुप्रयोग स्वत: ही सिद्ध है।

भा०– अत उत्तरं पठति–

इस भूमिका के परिप्रेक्ष्य में आचार्य वार्त्तिककार उत्तर पढते हैं–

वा०– कृञोऽनुप्रयोगवचनमस्तिभूप्रतिषेधार्थम्।।१।।

भाष्यम्– कृञोऽनुप्रयोगवचनं क्रियते, 'अस्तिभूप्रतिषेधार्थम्'। अस्तिभुवोरनुप्रयोगो मा भूदिति।।

'कृञ्' धातु का अनुप्रयोगवचन 'अस्' तथा 'भू' धातु का प्रतिषेध करने के लिये किया गया है। अस् और भू धातुओं का अनुप्रयोग न होवे।

इस सूत्र के अभाव में भू-अस् के भी क्रियासामान्यवाची होने से तीनों धातुओं का ही अनुप्रयोग होने लगेगा। इसके बनाने पर तो यह सूत्र नियमार्थ समझा जायेगा कि क्रियासामान्यवाची किसी धातु का अनुप्रयोग हो तो, कृ का ही हो अन्य का न हो। सो इस नियम से भू-अस् हट जायेंगी।

वा०– * आत्मनेपदविध्यर्थं च।।२।। *

भाष्यम्– आत्मनेपदविध्यर्थं च कृञोऽनुप्रयोगवचनं क्रियते। आत्मनेपदं यथा स्यात्।।

आत्मनेपद की विधि के लिये भी कृञ् का अनुप्रयोग किया जा रहा है। अनुप्रयुक्त 'कृञ्' से आत्मनेपद हो जाये। कृञ् का अनुप्रयोग सिद्ध होने पर जो पुनर्वचन होगा वह 'अनुगत एव प्रयुज्यते नानुगतः' इस रूप में पूर्वनियम के साथ-साथ नियमान्तर (इस एक और नियम) का भी आश्रयण होने से 'एधाञ्चक्रे' इत्यादि में आत्मनेपदविशिष्ट ही, 'उदुम्भाञ्चकार' इत्यादि में परस्मैपद विशिष्ट ही 'पाचयाञ्चक्रे, पाचयाञ्चकार' इत्यादि में तदन्यतरविशिष्ट का ही प्रयोग होता है– ऐसा समझा जायेगा, इससे यह लाभ होगा कि 'आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य' (अ०– १.३.६३) यह सूत्र नहीं बनाना पडेगा।

भा०– उच्यमानेऽप्येतस्मिन्नवश्यमात्मनेपदार्थो यत्नः कर्त्तव्यः।।

इस सूत्र के बनने पर भी अवश्य ही आत्मनेपद के लिये तो यत्न करना ही पडेगा। अन्यथा परस्मैपद के द्वारा भी कर्त्रर्थ के बोध होने से उसी का अनुप्रयोग होने लगेगा।

भा०– अस्तिभूप्रतिषेधार्थेन चाऽपि नाऽर्थः।।

यह जो कहा कि अस् और भू के अनुप्रयोग को हटाने के लिये यह सूत्र है– वह भी ठीक नहीं। क्योंकि;

वा०– * इष्टः सर्वानुप्रयोगः।।३।। *

भा०– सर्वेषामेव कृभ्वस्तीनामनुप्रयोग इष्यते।।

सभी का ही कृ-भू व अस् का अनुप्रयोग इष्ट है।

भा०– किमिष्यत एवाऽहोस्वित्प्राप्नोत्यपि?

क्या इष्ट ही है अथवा प्राप्त भी होता है?

भा०– इष्यते च प्राप्नोति च।। कथम्? 'कृ'ञिति नेदं धातुग्रहणं।। किं तर्हि? प्रत्याहारग्रहणम्।। क्व संनिविष्टानां प्रत्याहार:? 'कृभ्वस्तियोग' इत्यत: प्रभृत्या कृञो ञकारात्।।

इष्ट भी है और प्राप्त भी हो रहा है। कैसे? 'कृञ्' यह यहाँ धातुग्रहण नहीं है। तो क्या है? प्रत्याहारग्रहण है। कहाँ पर संनिविष्ट हुवों-हुवों का प्रत्याहार है? कृभ्वस्तियोगे० (अ०– ५.४.५०) यहाँ से लेकर 'कृञो द्वितीयतृतीय०' (अ०– ५.४.५८) यहाँ के 'कृञ्' के ञकार तक।

प्रकृतसूत्र में 'कृञ्' यह प्रत्याहारग्रहण है– इसमें लिङ्ग है– 'आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य' (अ०– १.३.६३) सूत्र में कृञ् ग्रहण। यदि यहाँ प्रकृतसूत्र में 'कृञ्' पद से मात्र कृञ् धातु का ही ग्रहण होता तो 'आम्प्रत्ययवत्०' सूत्र में आचार्य कृञ् ग्रहण क्यों करते? फिर भी जो कृञ् ग्रहण कर रहे हैं उससे पता लगता है, अनुप्रयोगविधायक सूत्र में 'कृञ्' पद प्रत्याहार ग्रहण है। अब यहाँ आत्मनेपदविधायक सूत्र में यदि कृञ् ग्रहण नहीं करेंगे तो कृ-भू-अस् तीनों से ही आत्मनेपद होने लगेगा। 'कृञ्चानुप्रयुज्यते०' (अ०– ३.१.४०) यहाँ इस सूत्र में प्रत्याहारग्रहण होने पर तो 'आम्प्रत्ययवत्०' सूत्र में कृञ् ग्रहण भू-अस् की निवृत्ति के लिये सार्थक हो जाता है। प्रत्याहारान्तर्गत होते हुये भी 'संपद्' का प्रकृत्यर्थ के साथ (आम् प्रत्यय की प्रकृति के अर्थ के साथ) अनन्वितार्थक होने से अनुप्रयोग नहीं होगा। क्योंकि वह यहाँ अभूतप्रादुर्भाव विशेष में वर्त्तमान होने से सामान्यवाची नहीं रही।

वा०– ✻ सर्वानुप्रयोग इति चेदशिष्यमर्थाऽभावात्।।४।। ✻

भाष्यम्– सर्वानुप्रयोग इति चेदशिष्यं कृञोऽनुप्रयोगवचनम्।। किं कारणम्? 'अर्थाऽभावात्'। आमन्तमव्यक्तपदार्थकं तेनाऽपरिसमाप्तोऽर्थ इति कृत्वाऽनुप्रयोगो भविष्यति।।

यदि यह कहते हो कि कृ-भू-अस् सभी का अनुप्रयोग होता है तो (कृञ्) के अनुप्रयोगवचन शासन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्या कारण है? अर्थ (प्रयोजन) का अभाव होने से। आमन्तशब्दरूप अव्यक्तपदार्थवाला है, उसके द्वारा अपरिसमाप्त (अधूरा) अर्थ का कथन किया जाता है– इस हेतु से अर्थ को पूरा करने के लिये स्वत: ही अनुप्रयोग हो जायेगा।

कोई कहे 'विद-सत्तायाम्' के सामान्यवाची होने से उसकी निवृत्ति के लिये प्रकृत सूत्र है– वह भी ठीक नहीं, क्योंकि व्याकरणशास्त्र तो प्रयुक्त शब्दों का अन्वाख्यान मात्र करता है और 'विद्' का कहीं अनुप्रयोग देखा नहीं जाता।

भा०– इदं तर्हि प्रयोजनं– 'कृभ्वस्तीनामेवाऽनुप्रयोगो यथा स्यात् पचादीनां मा भू'दिति।।

अच्छा तो यह प्रयोजन है– कृ-भू और अस् का ही अनुप्रयोग हो पचादियों का न हो।

भा०– एतदपि नास्ति प्रयोजनम्।।

यह भी प्रयोजन नहीं है, क्योंकि–

वा०–अर्थाऽभावाच्चान्यस्य सिद्धमेतत्।। कुत: ? कृभ्वस्तय: क्रियासामान्यवाचिन:, क्रियाविशेषवाचिन: पचादय:। न च सामान्यवाचिनोरेव विशेषवाचिनोरेव वा प्रयोगो भवति। तत्र विशेषवाचिन उत्पत्ति: सामान्यवाचिनोऽनुप्रयोक्ष्यन्ते।।

कृ-भू-अस् ये हैं क्रियासामान्यवाची और पचादि हैं क्रियाविशेषवाची। आम् विषयक एकार्थक दो धातुओं का एक साथ प्रयोग का अभाव होने से न तो दो सामान्यवाचियों का प्रयोग होगा और न ही दो विशेषवाचियों का। सो ऐसी स्थिति में विशेषवाची से आम् की उत्पत्ति होगी और सामान्यवाचियों का अनुप्रयोग कर दिया जायेगा।

'अर्थाभावाच्चाऽन्यस्य सिद्धम्' वार्त्तिक का भाव यह है– 'एधाम्' इत्यादि के साथ पचादि के अन्वय की योग्यता नहीं है, इसलिये पचादि के अनुप्रयोग के द्वारा कोई प्रयोजन सिद्ध न होने से कृ-भू-अस् से व्यतिरिक्त किसी भी धातु का अप्रयोग स्वत: ही सिद्ध है।

भाष्य में 'न च सामान्यवाचिनोरेव०' यह बात इस दृष्टि से कही गयी है कि कृ-भू-अस् से आम् की प्राप्ति का अभाव होने से ही उस विषय में अनुप्रयोग नहीं होता। और आम् विषयक 'पाचयाम्' या 'एधाम्' इत्यादि विशेषवाची से आगे फिर उसी धातु का अनुप्रयोग भी असंभव है, क्योंकि वहाँ भी आम् की प्राप्ति होने लगेगी। इस प्रकार दो सामान्यवाचियों और दो विशेषवाचियों का एक साथ प्रयोग होगा ही नहीं।

वा०– लिट्परार्थं वा।।६।।

भाष्यम्– लिट्परार्थं तर्हि कृञोऽनुप्रयोगवचनं क्रियते। लिट्परस्यैवाऽनुप्रयोगो यथा स्यादन्यपरस्य मा भूदिति।। किं परस्य पुन: प्राप्नोति? लट्परस्य।।

अच्छा तो कृञ् का अनुप्रयोगवचन इस हेतु से है कि लिट् परक कृञ् का ही अनुप्रयोग होवे। अन्य परक का ना हो।। अच्छा हमें यह बताईए– किस अन्यपरक का प्रयोग प्राप्त होता है? क्या ऐसा नहीं है कि, लिट् से अन्यपरक का तो प्रयोग पाता ही नहीं है? लट् परक का प्राप्त होता है। यद्यपि आमन्त के द्वारा भूतविशेष का प्रतिपादन है तो भी उस भूत की भूतपूर्व वर्तमान को लेकर लट् का प्रयोग होने लगेगा।

भा०– न लट्परस्याऽनुप्रयोगेण भूतकालो विशेषित: स्यात्।।

लेकिन लट्परक के अनुप्रयोग के द्वारा तो भूतकाल विशेषित नहीं हो सकेगा। क्योंकि अनुप्रयोग आमन्तार्थ की अभिव्यक्ति के लिये होता है– इस हेतु से विरुद्धकालाभिधायी लट् का अनुप्रयोग नहीं होगा। वर्त्तमानसामीप्यक (अ०– ३.३.१३१) लट् में भी विवक्षित मुख्यभूतत्व की प्रतीति नहीं हो पायेगी।

भा०– निष्ठापरस्य तर्हि मा भूत्।।

अच्छा तो निष्ठापरक का अनुप्रयोग न हो–इसके लिये प्रकृतवचन है।

भा०– न निष्ठापरस्याऽनुप्रयोगेण पुरुषोपग्रहौ विशेषितौ स्याताम्।।

निष्ठापरक के अनुप्रयोग से पुरुष व उपग्रह (आत्मनेपद व परस्मैपद) विशेषित नहीं हो पायेंगे, इसलिये निष्ठापरक की व्यावृत्ति भी प्रयोजन नहीं है।

भा०– लुङ्परस्य तर्हि मा भूत्।।

अच्छा तो लुङ्परक का अनुप्रयोग न हो, इसके लिये यह वचन है।

भा०– न लुङ्परस्याऽनुप्रयोगेणाऽनद्यतन भूतकालो विशेषितः स्यात्।।

लुङ् सामान्यभूतकाल में विहित है, इसलिये लुङ्परक के अनुप्रयोग के द्वारा अनद्यतन भूतकाल विशेषित नहीं हो पायेगा।

भा०– लङ्परस्य तर्हि मा भूत्।।

तो फिर लङ्परक का अनुप्रयोग न हो– इसके लिये सूत्र बनाना चाहिये।

भा०– न लङ्परस्याऽनुप्रयोगेणाऽनद्यतनः परोक्षो विशेषितः स्यात्।।

लङ्परक के अनुप्रयोग के द्वारा अनद्यतन परोक्ष काल विशेषित नहीं हो पायेगा।

भा०– अयं तर्हि भूते परोक्षेऽनद्यतने लङ् विधीयते, 'हशश्वतोर्लङ् च' (अ०– ३.२.११६) इति, तत्परस्य मा भूदिति।।

अच्छा तो यह जो 'हशश्वतोर्लङ् च' सूत्र से 'ह' और 'शश्वत्' उपपद रहते परोक्ष अनद्यतन भूतकाल में लङ् का विधान किया गया है, यदि प्रकृतवचन नहीं होगा तो तत्परक का अनुप्रयोग होने लगेगा।

भा०– एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। 'एकस्या आकृतेश्चरितः प्रयोगो द्वितीयस्यास्तृतीयस्याश्च न भवति'। तद्यथा– गोषु स्वाम्यश्वेषु चे'ति। न च भवति 'गोषु वा अश्वानां च स्वामी'ति।।

यह भी प्रयोजन नहीं है। जब एक शब्दस्वरूप का प्रयोग कर दिया जाता है तो उससे भिन्नस्वरूप का प्रयोग उसी अर्थ में नहीं होता है[१]। जैसे कि 'गोषु स्वामी अश्वेषु च'। यहाँ 'गोषु च अश्वानां च स्वामी' इस रूप में प्रयोग नहीं होता। सो प्रकृति में भी आमन्त प्रयोग के लिट् के द्वारा उपक्रम होने से उसकी समाप्ति भी लिट् से ही करनी चाहिये, न कि लङ् से।

१. एकाकृतिसंबन्धित्वेन कृतः प्रयोग इत्यर्थः। तथा चामन्तं लिट्परं प्रयुक्तमिति तदन्तादनुप्रयुज्यमानमपि लिट्परमेव प्रयोक्तुमुचितमिति भावः।

'एकस्या आकृतेश्चरित:०' यह वेद व लोक में प्रसिद्धन्याय है। जैसे कि 'खादिरे[1] बध्नाति पालाशे[1] बध्नाति' इत्यादि में साधनों के विकल्पित होने पर जिस साधन के द्वारा क्रिया का उपक्रम किया गया उसी से उसका निर्वाह किया जाता है। वहाँ यदि कभी खदिर का भ्रंश हो जाता है तो तत्सदृश बर्बुर सादृश्य को लेकर खदिरबुद्धि से उसका खदिर प्रतिनिधि बना लिया जाता है न कि पलाश का ग्रहण करते हैं। क्योंकि वैसा होने पर साधनभेद से क्रिया के अन्य हो जाने से उपक्रान्त की गयी क्रिया का निर्वाह नहीं हो सकेगा। लोक में भी जब स्वस्वामिभाव प्रतिपादन के लिये 'गवां स्वामी' इस रूप में षष्ठी का उपक्रम किया जाता है तो 'अश्वानां च' यहाँ पर भी उस संबन्ध को बताने के लिये षष्ठी का ही ग्रहण उपयुक्त माना जाता है। अन्यथा 'अश्वेषु च' ऐसा कहने पर अधिकरण अर्थ की प्रतिपत्ति भी संभव होने से 'अश्वेषु च तिष्ठति'- ऐसा अर्थ भी गृहीत हो सकता है। इसलिये जो अर्थ जिस शब्दाकृति से प्रतिपादन करने के लिये उपक्रान्त हुआ है– उसी से उसका निर्वाह होना चाहिये, न कि अन्यथा। ऐसा करने से ही प्रतिपत्तिलाघव होता है।

वा०– अर्थसमाप्तेर्वाऽनुप्रयोगो न स्यात्।।७।।

भाष्यम्– अर्थसमाप्तेस्तर्ह्यनुप्रयोगो न स्यात्। आमन्तेन च परिसमाप्तोऽर्थ इति कृत्वाऽनुप्रयोगो न स्यात्।।

अच्छा, इस सूत्र के अभाव में आमन्तपद जितने अर्थ को कहने में समर्थ है उतना अर्थ उसी आमन्त में ही परिसमाप्त हो जाता है– इस हेतु से अनुप्रयोग ही नहीं होगा। सूत्र के होने पर तो उसके सामर्थ्य से अनुप्रयोग करना ही होगा। इसलिये सूत्र बनाना ही चाहिये।

भा०–एतदपि नास्ति प्रयोजनम्।। इदानीमेव ह्युक्तमामन्तमव्यक्तपदार्थकं तेनाऽपरिसमाप्तोऽर्थ इति कृत्वाऽनुप्रयोगो भविष्यतीति।।

यह भी प्रयोजन नहीं है। अभी-अभी तो कहा था कि 'अशिष्यमर्थाभावात्' अर्थात् आमन्त अव्यक्तपदार्थवाला है, उसके द्वारा संपूर्णतया विवक्षित अर्थ नहीं कहा जा पा रहा– इस हेतु से स्वत: ही अनुप्रयोग हो जायेगा।

वा०– विपर्यासनिवृत्त्यर्थं वा।।८।।

भाष्यम्– विपर्यासनिवृत्त्यर्थं तर्हि कृञोऽनुप्रयोगवचनं क्रियते। ईहाञ्चक्रे। चक्र ईहामिति मा भूत्।।

अच्छा, तो विपर्यासनिवृत्ति के लिये कृञ् का अनुप्रयोग किया जा रहा है। 'ईहाञ्चक्रे'– ऐसा प्रयोग हो। चक्र ईहाम्– ऐसा न हो।

---

१. खदिरविकारे यूपे, पलाशविकारे यूप-इत्यर्थ:।

आमन्त अव्यक्तपदार्थवाला होने से अभीष्ट अर्थ को पूरा करने के लिये कृञ् का अनुप्रयोग तो स्वत: ही सिद्ध था, फिर यह वचन देशनियमार्थ समझा जायेगा। चूँकि अनु शब्द पश्चात् अर्थवाला है– इसलिये आमन्त के पश्चात् ही कृञ् का प्रयोग होता है, न कि पूर्व मे ऐसा नियम होगा। यद्यपि वा शब्द विकल्पार्थक है, पर पूर्व प्रयोजनों के खण्डित हो जाने से भाष्यकार ने इसे 'तर्हि' अर्थ में व्याख्यान किया है।

वा०– व्यवहितनिवृत्त्यर्थं च।।९।।

भाष्यम्– व्यवहितनिवृत्त्यर्थं च कृञोऽनुप्रयोगवचनं क्रियते। अन्वेव चाऽनुप्रयोगो यथा स्यात्। ईहाञ्चक्रे। व्यवहितस्य मा भूत्। ईहां देवदत्तश्चक्र इति।।४०।।

व्यवहित निवृत्ति के लिये भी कृञ् का अनुप्रयोगवचन किया जा रहा है। पश्चात् ही कृञ् का अनुप्रयोग हो– इहांचक्रे।

'ईहां देवदत्तश्चक्रे'– इस रूप में व्यवहित का प्रयोग न हो।।४०।।

च्लि लुङि।।३.१.४३।।

भाष्यम्– क्वाऽयं च्लि: श्रूयते?

यह 'च्लि' कहाँ सुनाई पड़ता है? आदेशों के द्वारा सर्वत्र बाधित हो जाने से, न तो इसका प्रयोग ही प्रयोज्य है और न ही क्विबादि की भाँति इसकी कार्यार्थता दिखायी देती है– इसलिये एक अर्थ में इसका विधान अनर्थक ही हो जाता है।

भा०– न क्वचिच्छ्रूयते। एतस्य सिजादय आदेशा उच्यन्ते।।

नहीं! सुनाई तो नहीं देता। इसको सिच्-क्स-अङ्-चिण् इत्यादि आदेश कहे गये हैं। वे हो जाते हैं।

भा०– यदि न क्वचिच्छ्रूयते, किमर्थस्तर्हि च्लिरुत्सर्ग: क्रियते, न सिजुत्सर्ग एव कर्त्तव्य:। तस्य क्सादयोऽपवादा भविष्यन्ति।।

यदि कहीं भी नहीं सुनाई देता तो 'च्लि' को उत्सर्ग किसलिये किया जा रहा है? क्यों न सिच् को ही उत्सर्ग कर दिया जाये। उसको 'क्स' इत्यादि अपवाद हो जायेंगे।

'च्लिरुत्सर्ग:[१]'– यहाँ 'उत्सर्ग' यह पद स्थानी इस अर्थ का बोधक है, क्योंकि स्थानी को आदेश के द्वारा हटा दिया जाता है। 'सिजुत्सर्ग:'– यहाँ तो उत्सर्गशब्द से 'सामान्यविधि' रूप प्रचलित अर्थ ही लिया गया है।

---

१. उत्सृज्यत आदेशेन त्यज्यत अपसार्यत इति कर्मव्युत्पत्त्या यौगिक उत्सर्गशब्द: स्थानिवचन इह गृह्यते, न तु सामान्यविधौ रूढ इत्यर्थ:।

भा०– अत उत्तरं पठति।

इस उपर्युक्त भूमिका को दृष्टिगत रखते हुये आचार्य वार्त्तिककार उत्तर पढते हैं–

वा०– ※ च्ल्युत्सर्गः सामान्यग्रहणार्थः।।१।। ※

भाष्यम्– च्लिरुत्सर्गः क्रियते सामान्यग्रहणार्थः।। क्व सामान्यग्रहणार्थेनाऽर्थः? 'मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृच्कृगमिजनिभ्यो लेः' (अ०– २.४.८०) इति। तत्राऽवरतस्त्रयाणां ग्रहणं कर्त्तव्यं स्यात्। चङङोः सिचश्चेति।।

'च्लि' को उत्सर्ग किया जा रहा है। किस प्रयोजन के लिये? सामान्यग्रहणार्थ। सामान्यग्रहणार्थ च्लि से आचार्य कहाँ पर क्या प्रयोजन सिद्ध करना चाहते हैं? 'मन्त्रे घसह्वर०' सूत्र में च्लि के स्थान में होने वाले आदेश अङ्-चङ् और सिच् तीनों का भी 'लिग्रहण' से लुक् हो जाये– यह च्लिकरण का प्रयोजन है। अन्यथा वहाँ अवरतः (अन्ततः) तीन का ग्रहण करना पडेगा– चङ्, अङ् और सिच् का। सिच् की ऊपर से अनुवृत्ति लाकर यदि सिच् मात्र का लुक् किया जाता है तो चङ् और अङ् में दोष आयेगा। इस हेतु से 'चङङोश्च' ऐसा कहना होगा, अर्थात् 'च' के द्वारा सिच् का अनुकर्षण करके पदत्रय का ग्रहण करना होगा– ऐसा भाव है।

'च्ल्युत्सर्गः' यहाँ वार्त्तिक में पठित उत्सर्ग शब्द कर्मसाधन घञन्त न होकर भावसाधन है, और फिर षष्ठीसमास कर दिया गया है। स्थानिवचन कर्मसाधन घञन्त उत्सर्ग शब्द के साथ च्लि का विशेषण समास किया जाये तो उत्सर्ग शब्द के विशेषण होने से पूर्वनिपात होने लगेगा। च्लि का उत्सर्जन यही है कि सामान्यरूप से धातुमात्र से उसका विधान है। भाष्य में पठित 'तत्रावरतः' का भाव यह है– सिच्-चङ् और अङ् का तो अवश्य ही ग्रहण करना चाहिये, जन धातु से 'त' शब्द परे रहते 'दीपजनबुध०' (अ०– ३.१.६१) विहित चिण् का यदि मन्त्र में लुक् दिखायी देता है तो चतुर्थ चिण् का भी ग्रहण करना चाहिये। उपर्युक्त विवरण को संक्षेप में इस रूप में प्रकट किया जा सकता है– धेट्[1] धातु के आकारांत होने से उससे परे चङ् व सिच् का, घस्-नश् व गम् इन से परे अङ् का और अन्य शेष बची धातुओं से परे सिच् का लुक् करने के लिये अन्ततः चङ्-अङ् व सिच् का ग्रहण करना होगा।

वा०– ※ क्सविधाने चानिड्वचने च्लिसंप्रत्ययार्थः।।२।। ※

भाष्यम्– क्सविधाने चाऽनिड्वचनेच्लिसंप्रत्ययार्थः च्लिरुत्सर्गः क्रियते।

च्लेरनिटः क्सः सिद्धो भवति।।

---

१. आकारान्तेषु धेटोऽन्तर्भावात् तस्य च 'विभाषा धेट्श्व्योः' (३.१.४९) इति विकल्पेन चङ् विधानात् तदर्थं चङ्ग्रहणम्। घसेर्गमेश्च लृदित्त्वान्नशेश्च पुषादित्वादङ्।

'शल इगुपधादनिट: क्स:' (अ०– ३.१.४५) इस क्सविधायक सूत्र में 'अनिट:' इस कथन के प्रति च्लि का विशेष्यत्वेन सम्प्रत्यय (बोध) हो– इसके लिये भी च्लि को उत्सर्ग रखा गया है। अनिट् च्लि को 'क्स' सिद्ध हो जाता है। अर्थात् 'अनिट:' यह पद 'च्लि' का विशेषण बनकर अर्थ का उपस्कार करेगा। यदि इसके द्वारा 'अनिट् धातु से उत्तर' इस रूप में धातु को विशेषित किया जाता है तो 'गुहू-संवरणे (धा०पा० भ्वा० ६३७) इसके' उदित् होने से वैकल्पिक इट्त्व के कारण, जिस पक्ष में अनिट् होगी उस अनिट्त्व पक्ष में नित्य ही क्स होकर 'अधुक्षत्' ऐसा एक ही रूप बनेगा (बन पायेगा)। 'अगूहीत्' यह रूपान्तर नहीं बन सकेगा।

वा०– ✲ घस्लृभावे च।।३।। ✲

भा०– घस्लृभावे च च्लावेव कृते 'लृदित' इत्यङ् सिद्धो भवति।।

च्लि को उत्सर्ग रखने में यह भी एक प्रयोजन है कि 'लुङ्सनोर्घस्लृ' (अं– २.४.३७) यहाँ 'आर्धधातुके' पद की अनुवृत्ति होने से लुङ् के परे रहते जो आर्धधातुक उसके परे अद् को घस्लादेश कहा जाता हुआ अर्थापत्ति से सिच् के परे रहते समझा जायेगा, और इस प्रकार एक बार प्रवृत्त हुये उत्सर्ग की अपवाद के द्वारा निवृत्ति करना असंभव होने से सिच् का श्रवण होने लगेगा। च्लि को उत्सर्ग बनाने पर तो उसके परे घस्लादेश होकर उसके लृदित् होने से अङ् होकर 'अघसत्' यह इष्टरूप सिद्ध हो जाता है।

कोई कह सकता है 'च्लि' नहीं करना चाहिये। चङ् और क्सादि जो अभी 'च्लि' के स्थान में किये जाते हैं, उन्हें सीधे सिच् को ही कर देना चाहिये, अर्थात् 'च्ले:' के स्थान में 'सिच:' ऐसा पढ देना चाहिये। 'मन्त्रे घस०' (२.४.८०) इस सूत्र में च्ले: (ले:) नहीं करना चाहिये, 'गातिस्थाघु०' (२.४.७७) सूत्र से 'सिच:' पद की अनुवृत्ति ले आनी चाहिये। ऐसा करने से उपर्युक्त दोष नहीं होंगे। किन्तु यह प्रक्रिया भी निर्दोष नहीं हो सकेगी– सिच् के स्थान में अङ् इत्यादि आदेश करने पर 'अपुषन्' इत्यादि में 'पुष् सिच् झि' इस स्थिति में 'पुष्+अङ्+झि' इस रूप में अङादेश करने पर स्थानिवद्भाव से 'सिजभ्यस्त०' (अ०– ३.४.१०९) झि को अनिष्ट जुस् भाव पाने लगेगा। तथा मन्त्रविषय में जब 'मन्त्रे घस०' सिच् का लुक् करेंगे तो 'आदि: सिचोऽन्यतरस्याम्' (अ०– ६.१.१८१) यह स्वर होने लगेगा। यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'लुमति प्रतिषेध एकपदस्वरस्योपसंख्यानम्' (भा० वा० १.१.६३/१) से प्रत्ययलक्षण का प्रतिषेध होने से स्वरप्राप्त नहीं होगा। वहीं 'सर्वामन्त्रितसिज्लुक्स्वरवर्जम्' (भा०वा० १.१.६३/२) इस रूप में उक्त प्रतिषेध का भी प्रतिषेध किया हुआ है।

भा०– अथ चित्करणं किमर्थम्?

अच्छा, यह बतायें– च्लि में चित्करण किसलिये है?

वा०– ※ च्लेश्चित्करणं विशेषणार्थम्।।४।। ※

भाष्यम्– च्लेश्चित्करणं क्रियते विशेषणार्थम्।। क्व विशेषणार्थेनाऽर्थ: ? चले: सिच् (अ०– ३.१.४४) इति। 'ले: सि'जित्युच्यमाने लिङ्लिटोरपि प्रसज्येत।।

च्लि का चित्करण किया जा रहा है, विशेषित करने के लिये (विशेषणार्थ)। विशेषणार्थ चित्करण से कहाँ लाभ मिलेगा? 'च्ले: सिच्' में। 'ले: सिच्' इतना कहे जाने पर लिङ् और लिट् को भी होने लगेगा।

भा०– नैतदस्ति प्रयोजनम्। 'लुङी'त्युच्यते, न च लुङि लिङ्लिटौ स्त:।

नहीं! यह तो कोई प्रयोजन नहीं है। 'लि' को सिजादेश लुङ् के परे रहते कहा जा रहा है, अर्थात् सिजादेश विधायक अग्रिम सूत्र में 'लुङि' पद की अनुवृत्ति है। सो लुङ् के परे रहते तो लिङ् और लिट् होते ही नहीं।

भा०– अथेदित्करणं किमर्थम्?

अच्छा, यह 'च्लि' में इदित्करण किसलिये है? अर्थात् इकारानुबन्ध का क्या प्रयोजन है?

वा०– ※ इदित्करणं सामान्यग्रहणार्थम्।।५।। ※

भाष्यम्– इदित्करणं क्रियते सामान्यग्रहणार्थम्।। क्व सामान्यग्रहणार्थेनाऽर्थ: ? 'मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृच्कृगमिजनिभ्यो ले:' (२.४.८०) इति, 'आम:' (२.४.८१) इति च।।

इदित्करण सामान्यग्रहणार्थ है।

इदित्करण किया जा रहा है। किसलिये? सामान्यग्रहण समझा जाये, इसलिये। इकार को सामान्यग्रहणार्थ रखकर, क्या प्रयोजन सिद्ध करना चाहते हैं? प्रयोजन है– 'मन्त्रे घसह्वर०' सूत्र में तो 'च्लि' का लि समझा जाये और 'आम:' सूत्र में अनुवर्त्तमान 'ले:' इस पद से 'लिट्' के 'लि' का ग्रहण होवे।

भा०– इकारे चेदानीं सामान्यग्रहणार्थे क्रियमाणेऽवश्यं सामान्यग्रहणाविघातार्थश्चकार: कर्त्तव्य:।। क्व सामान्यग्रहणाविघातार्थेनाऽर्थश्चकारेण? अत्रैव।।

अब जबकि इकार को सामान्यग्रहणार्थ मान लिया गया, तो सामान्यग्रहण के विधात को बचाने के लिये अवश्य ही चकार भी करना चाहिये। ऐसा कौन सा स्थल है जहाँ सामान्यग्रहणाविघातार्थ चकार की आवश्यकता पडेगी? यहीं (आम:, २.४.८१) इस सूत्र में ही। अन्यथा तदनुबन्ध परिभाषा (पारि० ७२) से इसी 'लि' का ग्रहण होगा न कि लिट् का और फिर 'आम:' सूत्र में लिट् का लुक् नहीं हो पायेगा। अर्थात् आम् से परे इकारमात्रानुबन्धक 'लि' के असंभव होने से, वह सूत्र अयुक्तार्थक हो जायेगा– ऐसा मान रहे हैं। वस्तुत: 'आम:' सूत्र में 'ले:' की अनुवृत्ति लाने की कोई आवश्यकता नहीं है, लिट् से अन्य किसी और

प्रत्यय के असंभव होने से। कोई कह सकता है– 'पचतितरामियती' यहाँ 'आम:' से परे 'इयती' प्रत्ययमात्र है, लिट् से अन्य है, 'ले:' की अनुवृत्ति न लाने पर यहाँ अतिव्याप्ति होने लगेगी– किन्तु 'पचतितरामियती' यहाँ 'आम:' सूत्र की प्रवृत्ति इसलिये नहीं होगी कि अनुबन्धग्रहणपरिभाषा (पारि० ७१) से 'आम:' सूत्र में उकारानुबन्ध विशिष्ट 'आम्' का ग्रहण नहीं है। 'पचतितराम्' में तो 'आमु' प्रत्यय है।

इस प्रकार 'च्लि' को उत्सर्ग मानते हुये सूत्रकार के आशय का वर्णन करके अब च्लि को उत्सर्ग न मानने पर जो गौरव आ रहा है उसका निराकरण करते हैं।

भा०– यत्तावदुच्यते– 'च्ल्युत्सर्ग: सामान्यग्रहणार्थ' इति क्रियमाणेऽपि वै च्ल्युत्सर्गे तान्येव त्रीणि ग्रहणानि भवन्ति– 'च्लि लुङि' 'च्ले: सिच्' 'ले:' इति।।

जो यह कहा जा रहा है कि 'च्लि' का उत्सर्ग सामान्यग्रहणार्थ है, किन्तु च्लि को उत्सर्ग कर लेने पर भी वे ही तीन पद ग्रहण करने होते हैं– च्लि, च्ले: और ले:। सिच् और लुङि तो दूसरे पक्षवाले को भी करने ही होंगे। अर्थात् च्लि, च्ले: और ले: न कहकर, 'मन्त्रे घसह्वर०' यहाँ चङ्, अङ् और सिच् का ग्रहण करना होगा, सो वो ही तीन ग्रहण इस पक्ष में करने होते हैं। बस इतना विशेष है कि इस पक्ष में 'च्लि लुङि' 'च्ले: सिच्'-सूत्रों के स्थान में 'सिच् लुङि' सूत्र होगा। इस प्रकार यहाँ 'च्लि लुङि' 'च्ले: सिच्' और मन्त्रे घसह्वर० सूत्रस्थ 'ले:' ये कुल पाँच ग्रहण होते हुये भी, 'तीन ग्रहण' इस अभिप्राय को लेकर कहे गये हैं कि, 'सिच्' और 'लुङि' इनका ग्रहण तो दोनों ही पक्षों में समानरूप से करना पडता है।

भा०– यदेत'ल्ले'रिति, तत्परार्थं भविष्यति।। कथम्? यदेतद् 'गातिस्थाघुपाभूभ्य: सिच: परस्मैपदेषु' (अ०– २.४.७७) इत्यत्र सिचो ग्रहणमेतल्लेरिति वक्ष्यामि।।

च्ल्युत्सर्गवादी कहता है– 'मन्त्रे घसह्वर०' यहाँ जो 'ले:' पढा हुआ है, वह परार्थ हो जायेगा। कैसे? जो यह 'गातिस्था०' सूत्र में 'सिच:' ऐसा ग्रहण है, यह 'ले:' ऐसा कहूँगा। अर्थात् 'गातिस्था०' सूत्र में 'सिच:' के स्थान में 'ले:' पढूँगा। और वही 'मन्त्रे घसह्वर०' यहाँ अनुवृत्ति से उपस्थित हो जायेगा। इस प्रकार इस पक्ष में दूसरे पक्ष की तुलना में लाघव होगा।

यहाँ यह ध्यातव्य है– 'गातिस्था०' सूत्र में ही 'ले:' ग्रहण करने पर यदि 'अन्तरङ्गानपि०' (पारि० ४७) न्याय से च्लि अवस्था में ही लुक् हो जाये तो 'अगु:' इत्यादि में 'सिजभ्यस्त०' (अ०– ३.४.१०९) से 'जुस्' नहीं होगा। तथा 'मा हि गाताम्' इत्यादि में 'आदि० सिचोऽन्यतरस्यांम्' (६.१.१८१) यह स्वर भी नहीं होगा। इसलिये 'अन्तरङ्गानपि०' न्याय का अनाश्रयण करके आदेश कर लेने पर स्थानिवद्भाव से लिट् मानकर लुक् एषितव्य है।

भा०– यदि लेरित्युच्यते धेटश्चातु:शब्द्यं प्राप्नोति। अदधत्, अधात्, अधासीत्। अदधादित्येतदपि प्राप्नोति।।

'गातिस्था०' (अ०– २.४.७७) सूत्र में यदि 'सिच:' न कहकर 'ले:'– ऐसा कहा जाता है तो 'विभाषा घ्राधेट्०' (२.४.७८) यहाँ भी 'ले:' की अनुवृत्ति होने पर 'धेट्' धातु के चार शब्द प्राप्त होते हैं। अदधत्, अधात्, अधासीत्– तो इष्ट हैं ही; साथ में 'अदधात्' यह भी प्राप्त होने लगता है।

'धेटश्चातुश्शब्द्यम्' का यह भाव है– 'गातिस्था०' इस सूत्र में सिच् ग्रहण होने पर 'विभाषा धेट्श्व्यो:' (अ०- ३.१.४९) सूत्र से च्लि को विकल्प से चङ् होकर– चङ्पक्ष में 'अदधत्' रूप; चङ् के अभाव पक्ष में सामान्य 'च्ले: सिच्' से सिच् होकर– 'विभाषा घ्राधेट्०' से विकल्प से सिज्लुक् होने पर अधात् और सिज्लुक् अभावपक्ष में 'यमरमनमातां' (७.२.७३) से, सक् इट् होने पर अधासीत्– तीन रूप होते हैं। 'गातिस्था०' सूत्र में सिच् को हटाकर लिग्रहण करने पर तो 'लि' के स्थान में लुक् को बाधकर परत्त्व से 'विभाषा धेट्श्व्यो:' से आदेश हुये 'चङ्' का भी स्थानिवद्भाव से (सिच् के समान) 'विभाषा घ्राधेट्०' से लुक होने पर 'सन्यङो:' (अ०– ६.१.९) सन्नत व यङन्त के समान चङन्त को भी 'चङि' (६.१.११) द्विर्वचन होने पर 'अदधात्' यह चतुर्थ अनिष्ट रूप भी बनेगा। 'अदधात्' यहाँ 'चङ्' को मानकर 'आतो लोप इटि च' (अ०– ६.४.६४) आकारलोप तो 'न लुमताङ्गस्य' (१.१.६२) प्रत्ययलक्षणकार्य के प्रतिषेध होने से नहीं होगा।

वा०– ❊ न चङो लुकि द्विर्वचनम्[१] ।।६।। ❊

भाष्यम्– न चङो लुकि द्विर्वचनेन भाष्यम्।। किं कारणम्? 'चङि' (अ०– ६.१.११) इत्युच्यते, न चाऽत्र चङं पश्याम:।। प्रत्ययलक्षणेन।। 'न लुमता तस्मिन्नि' ति प्रत्ययलक्षणप्रतिषेध:।।

उपर्युक्त दोष का परिहार देते हैं– चङ् के लुक् होने पर द्विर्वचन नहीं होगा। क्या कारण है? चङ् के परे रहते द्विर्वचन कह रहे हैं। यहाँ तो चङ् को देख ही नहीं रहे हैं। प्रत्ययलक्षण से यदि चङ् को उपस्थित करते हो तो 'न लुमता तस्मिन्०' न्यास से प्रत्ययलक्षण का प्रतिषेध हो जायेगा। इसका भाव यह है– 'सन्यङो:' इसके षष्ठ्यन्त होने से वहाँ तो प्रत्ययलक्षण से तदन्त को द्विर्वचन होता है। किन्तु 'चङि' इसके सत् सप्तमी से निर्देश होने के कारण उसके परे रहते ही पूर्व को द्विर्वचन होगा। और वैसा होने पर 'न लुमताङ्गस्य' (अ०– १.१.६२) प्रत्ययलक्षणकार्य का प्रतिषेध होने से द्विर्वचन नहीं होगा। यदि यह कहते हो कि द्वित्त्व तो अङ्गकार्य नहीं है, इसलिये 'न लुमताङ्गस्य' प्रत्ययलक्षण प्रतिषेध नही कर पाएगा। इसका उत्तर यह है 'न लुमताङ्गस्य' सूत्र के विषय में भाष्यवार्त्तिककार ने यह निर्णय दिया है कि 'अङ्गस्य' यह पद अङ्गाधिकार को सङ्केत नहीं कर रहा है, यह तो अङ्गसंज्ञा की ओर निर्देश कर रहा है कि 'लुमान्' (लुक्-श्लु-लुप्) शब्द के द्वारा प्रत्यय का लोप (अदर्शन) होने पर उस प्रत्यय के परे रहते जो अङ्ग उसे प्रत्ययलक्षणकार्य नहीं होता, फिर वह कार्य चाहे आङ्ग (अङ्गाधिकार संबन्धी) हो या अनाङ्ग (अङ्गाधिकार से बहिर्भूत)। इस प्रकार 'न लुमताङ्गस्य' भी 'न लुमता तस्मिन्' के समानफलक ही ठहरता है।

१. नेदं सर्वत्रोपलभ्यते।

भा०– बहुवचने तर्हि चातु:शब्द्यं प्राप्नोति। अदधन्, अधु:, अधासिषु:। अधानित्यपि प्राप्नोति।।

अच्छा तो बहुवचन में चतुश्शब्दता प्राप्त होती है– अदधन्, अधु:, अधासिषु:। इन इष्ट रूपों के साथ अधान् यह भी प्राप्त होता है जो कि सर्वथा अनिष्ट है। चङ् में अदधन्; सिच् का लुक् होने पर 'आत:' (अ०– ३.४.११०) से झि को जुस् होकर, धा के आकार व उस के उकार को उस्यपदान्तात् (अ०- ६.१.९) से पररूप होकर 'अधु:' और अलुक् पक्ष में 'यमरम०' से सक्-इट् होकर 'अधासिषु:' इन तीनों रूपों के साथ चङ् का लुक् होने पर उपर्युक्त दिशा से प्रत्ययलक्षण का अभाव होने पर 'द्विर्वचन' और 'आतो लोप:०' के अभाव होने से अधान् यह भी प्राप्त होता है।

भा०– नैष दोष:। आत: (अ०– ३.४.११०) इति जुस् भावो भविष्यति।।

नहीं, यह कोई दोष नहीं है। 'आत:' इस सूत्र से जुस् भाव हो जायेगा। अर्थात् चङ् के लुक् विषय को लक्ष्यकर 'आत:' यह सूत्र विध्यर्थ हो जायेगा न कि नियमार्थ। सिच् की अनुवृत्ति आने पर ही वह सूत्र नियमार्थ होगा। सिजनुवृत्ति न होने पर तो वह विध्यर्थ ही रहेगा।

भा०– न सिद्ध्यति। सिज्ग्रहणं तत्राऽनुवर्त्तते।।

नहीं सिद्ध होता। वहाँ 'आत:' इस सूत्र में 'सिजभ्यस्त०' (अ०– ३.४.१०८) इस सूत्र से सिज्ग्रहण अनुवर्त्तमान है। सो उस स्थिति में झि का आकार से परत्त्व और सिच् से परत्त्व युगपत् संभव नहीं है– इस हेतु से सिच् का ही लुक् मानकर, फिर प्रत्ययलक्षण से सिच् से झि का परत्त्व स्वीकार करना होगा। और वैसा मानने पर 'आत:' सूत्र नियमार्थ ही होगा न कि विध्यर्थ। इस प्रकार चङ् का लुक् होने पर जुस् भाव नहीं प्राप्त होता।

भा०– सिज्ग्रहणं तत्र निवर्तिष्यते।

सिज्ग्रहण को 'आत:' इस सूत्र में 'सिजभ्यस्त०' (अ०– ३.४.१०८) सूत्र से जो कि अनुवर्त्तमान हो रहा है, निवृत्ति कर देंगे। उसको निवृत्त कर देने पर वह सूत्र विध्यर्थ हो जायेगा। इस प्रकार 'अधु:' यहाँ चङ्लुक् होने पर भी 'आत:' से जुस् भाव हो जायेगा।

भा०– यदि निवर्त्तते 'अभूव'न्निति प्रत्ययलक्षणेन जुस् भाव: प्राप्नोति।

यदि सिज् ग्रहण को 'आत:' सूत्र में से निवृत्त कर देते हैं तो, चङ्लुक् स्थल में 'आत:' सूत्र के विध्यर्थत्व संभव होने से 'विधिनियमसंभवे विधिरेव ज्यायान्' (पारि० १४४) इस नियम से उसका नियमार्थत्व नहीं बन सकेगा और फिर 'अभूवन्' यहाँ प्रत्ययलक्षण से 'सिजभ्यस्त०' से अनिष्ट जुस् भाव प्राप्त होने लगेगा। सिच् की अनुवृत्ति होने पर तो नियम का स्वरूप होगा– सिज् लुक् होने पर कहीं झि को जुस् हो तो

आकारान्त से ही हो। 'अभूवन्' यहाँ 'भू' के आदन्त न होने से जुस् नहीं होगा।

भा०– एवं तर्हि लुक् सिजपवादो विज्ञास्यते।।

अच्छा तो, लुक् को सिज् का अपवाद समझ लिया जायेगा। सिजादेश के अनन्तर (पश्चात्) जब उसका लुक् किया जाता है तो ही उपर्युक्त दोष आता है। च्ल्यादेशों के प्राप्त होने पर आदेशों को बाधकर उनका अपवाद 'लि' का ही लुक् कर दिया जायेगा। उससे 'अभूवन्' यहाँ जुस् नहीं होगा। और उस स्थिति में नियम के असंभव होने से 'अधुः' इत्यादि की सिद्धि के लिये 'आतः' यह विध्यर्थ ही हो जायेगा।

भा०– यदि लुक्सिजपवादो विज्ञायते 'मा हि दाताम्', 'मा हि धाताम्' इत्यत्र 'आदिस्सिचोऽन्यतरस्याम्' (अ०– ६.१.१८७) इत्येष स्वरो न प्राप्नोति। तस्मान्नैतच्छक्यं वक्तुं– 'लुक्सिजपवाद' इति।

यदि लुक् को सिच् का अपवाद जाना जाता है तो 'मा हि दाताम्' 'मा हि धाताम्' यहाँ 'आदिः सिचः०' यह स्वर नहीं प्राप्त होगा। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि लुक् सिच् का अपवाद है। अर्थात् स्वरसिद्धि के लिये सिजादेश कर लेने पर ही लुक् करना चाहिये।

भा०– न चेदुच्यते[1]– अभूवन्निति प्रत्ययलक्षणेन जुस्भावः प्राप्नोति। तस्मा'दात' इत्यत्र सिज्ग्रहणमनुवर्त्यं, तस्मिंश्चानुवर्त्तमाने धेटश्चातुःशब्द्यं प्राप्नोति। तस्माद्गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेष्वित्यत्र सिज्ग्रहणं कर्त्तव्यम्, तस्मिंश्च क्रियमाणे तान्येव त्रीणि ग्रहणानि भवन्ति 'च्लि लुङि, च्लेः सिच् ले'रिति।।

यदि लुक् को सिच् का अपवाद नहीं कहा जा सकता तो 'अभूवन्' यहाँ प्रत्ययलक्षण से जुस् भाव प्राप्त होता है। इस हेतु से, अर्थात् 'अभूवन्' यहाँ जुस् भाव की व्यावृत्ति के लिये 'आतः' यहाँ सिज्ग्रहण की अनुवृत्ति करनी चाहिये। इस प्रकार 'आतः' सूत्र में सिज् ग्रहण के अनुवर्त्तमान होने पर, धेट् से चतुःशब्दता प्राप्त होती ही है। इसलिये ''गातिस्था० यहाँ इस सूत्र में सिज्ग्रहण करना ही चाहिये। और जब उस सूत्र में सिज् ग्रहण करना ही होगा तो, वे ही तीन ग्रहण हो जाते हैं– 'च्लि लुङि, च्लेः सिच् और लेः'। इस प्रकार 'च्लि' को उत्सर्ग न मानने पर भी प्रथमगौरवदोष का परिहार कर दिया गया। अब द्वितीय गौरव का परिहार किया जा रहा है–

भा०– यदप्युच्यते– 'क्सविधाने चानिड्वचने च्लिसंप्रत्ययार्थ' इति, धातुमेवाऽत्राऽनिट्त्वेन विशेषयिष्यामो– 'धातोरनिट' इति।। कथं पुनर्धातुर्नामाऽनिट् स्यात्? धातुरेवाऽनिट्।। कथम्? अनिमित्तं वा इटः,– अनिट्। न वा तस्मादिडस्ति सोऽयमनिडिति।।

---

१. 'न चेदेवमुच्यते०' इति पा०भे०।

और जो यह कहा जाता है– '''शल इगुपधात्०' यहाँ क्स प्रत्यय के विधान में 'अनिट:' यह पद (च्ले: इस पद का) विशेषण समझा जाये, जिससे अनिट् च्लि को क्स सिद्ध हो जावे।'' सो वहाँ च्लि को उत्सर्ग = स्थानी के रूप में न भी रखा जाये तो भी कोई समस्या नहीं। यहाँ धातु को ही अनिट्त्व के द्वारा विशेषित कर देंगे– अनिट् धातु से उत्तर (धातोरनिट इति) क्स होता है– ऐसा अर्थ बन जायेगा। किन्तु समस्या यह है– धातु अनिट् कैसे हो सकता है? इट् का होना न होना तो प्रत्यय से संबद्ध है, धातु को अनिट् कैसे कहें? नहीं! ऐसा नहीं है– धातु ही अनिट् होता है। सो कैसे? धातु और इट के मध्य में निमित्तनिमित्तिभावसंबन्ध है, इसलिये षष्ठ्यर्थ में बहुव्रीहि के उपपन्न होने में कोई बाधा नहीं है– न विद्यते इट् (निमित्ति = कार्यम्) यस्य (धातो:) 'अनिमित्तं वा इटोऽनिट्'– भाष्य का यही अभिप्राय है। अथवा 'अनिट:' इस वचनसामर्थ्य से पञ्चम्यर्थ में बहुव्रीहि का आश्रयण कर लेना चाहिये– न विद्यते इट् यस्माद् (धातो:)। 'न वा तस्मादस्ति सोऽयमनिट्' कहते हुये भाष्यकार ने पक्षान्तर (पञ्चम्यन्तार्थरूप अन्यपदार्थ में बहुव्रीहि) दर्शाया है।

भा०– अथ धातौ विशेष्यमाणो क्व योऽनिडिति विशेषयिष्यते? किञ्चाऽत:? यदि विज्ञायते– 'निष्ठायामनिट' इति, भूयिष्ठेभ्य: प्राप्नोति। भूयिष्ठा हि शलन्ता इगुपधा निष्ठायामनिट:। अथ विज्ञायते– 'लिटि योऽनि'डिति, न कुतश्चित्प्राप्नोति, सर्वे हि शलन्ता इगुपधा: लिटि सेट:।

अच्छा, हमें यह बतायें– अनिट् के द्वारा धातु को विशेषित किये जाने पर, जो धातु है वह वहाँ पर अनिट्-ऐसा (किसको) विशेषित करोगे? यदि यह समझ रहे हो कि निष्ठा में अनिट् तो बहुत सारी धातुओं से (क्स) प्राप्त होने लगेगा। क्योंकि इगुपध शलन्त धातुयें बहुत हैं जो निष्ठा में अनिट् हैं।

इसका भाव यह है– च्लि विधान के न होने पर 'क्स' विकरण अनिट्त्व के आश्रय से होगा। सो इस लुङ् रूप विषय में तो अनिट्त्व का अव्यभिचार होने से इट् की प्राप्ति कथमपि संभव ही नहीं– इस हेतु से अनिट्त्व को देखने के लिये किसी प्रत्ययान्तर की ही अपेक्षा करनी होगी। यदि वह प्रत्ययान्तर आर्धधातुकसामान्य ही ग्रहण कर लिया जाता है तो 'गुहू' इत्यादि ऊदिद् धातुओं से क्स नहीं हो पायेगा, क्योंकि आर्द्धधातुक तासादि विषय में ये धातुयें पक्ष में सेट् हैं इसलिये निष्ठा का आश्रयण किया गया। और निष्ठा का आश्रयण करने पर गुहादियों से नित्य क्स होने लगेगा, क्योंकि 'यस्य विभाषा' (अ०- ७.२.१५) से वे धातुयें निष्ठा में अनिट् हो जाती हैं। जबकि इष्ट यह है कि गुहादियों से विकल्प से क्स हो। और 'निष्ठा में जो अनिट्' ऐसा कहने से इषु-रिषु-रुष्-श्रिषु-प्रुषु इत्यादि उदिद्[१] धातुएँ जो निष्ठा में अनिट् हैं– उनसे भी क्स प्राप्त होने लगेगा।

(भाष्य) और यदि ऐसा जान रहे हैं कि लिट् में जो अनिट् तो किसी से भी प्राप्त नहीं होगा। क्योंकि सब कि सब शलन्त इगुपध धातुयें लिट् में सेट् हैं।

---

१. 'उदितो वा' (अं– ७.२.५६) इति विकल्पनात् 'यस्य विभाषा' (अ०– ७.२.१५) इति निष्ठायामनिट्त्वम्।

भा०– किं पुनः कारणं धातौ विशेष्यमाण एतयोर्विशेषयोर्विशेषयिष्यते न पुनर्यत्र सामान्येनेटो विधिप्रतिषेधौ? क्व सामान्येन? वलादावार्द्धधातुके।।

ऐसा क्या कारण है जो 'अनिटः' के द्वारा धातु को विशेषित किये जाने पर 'निष्ठा में जो अनिट्' अथवा 'लिट् में जो अनिट्' इन्हीं विशेषों में (एतयोर्विशेषयोः) विशेषित करने की बात कही जा रही है। क्यों न जहाँ सामान्य करके इट् का विधिप्रतिषेध है– उसी को ग्रहण कर लिया जाये। कहाँ सामान्य करके? वलादि आर्द्धधातुक में।

'अनिट् धातु से'– ऐसा कहने पर जब कहाँ (क्व) ऐसी विषयविशेष की आकांक्षा होगी तो लुङ्परक वलादि आर्द्धधातुक में जब जो अनिट् होती है– इस रूप में (लक्ष्यानुरोध से) कालविशेष से युक्त विषयविशेष ग्रहण कर लिया जायेगा। इस प्रकार गुहादि धातुयें जो विकल्पित इट् हैं, वे इट् के भाव और अभाव से दो प्रकार की हो जाती हैं तो, वहाँ जो सेट् हैं उनसे सिच् हो जायेगा और जो अनिट् हैं, उनसे क्स– इस प्रकार कोई दोष नहीं होगा।

भा०– यदप्युच्यते 'घस्लृभावे चे'ति। आर्द्धधातुकीयाः सामान्येन[1] भवन्त्यनवस्थितेषु प्रत्ययेषु। तत्राऽर्द्धधातुकसामान्ये घस्लृभावे कृते 'लृदित' इत्यङ् भविष्यति।।४३।।

अब च्लि को उत्सर्ग = स्थानी के रूप में निर्देश न करने पर तृतीय गौरवदोष का परिहार कर रहें है– और जो यह कहा गया है कि, च्लि के परे रहते ही घस्लृ भाव (घस्लादेश) कर लेने पर लृदित् मानकर च्लि को अङ् सिद्ध होता है, वह भी कोई दोष नहीं– क्योंकि 'आर्धधातुके' (अ०– २.४.३५) अधिकार में कहे गये सभी आदेश सामान्य करके प्रत्ययों के परे अवस्थित होने से पहले ही सामान्य करके हो जाते हैं। तो वहाँ आर्धधातुकसामान्य[2] में घस्लृ भाव कर लेने पर 'लृदित्' (अ०–३.१.५५) से उत्तर अङ् हो जायेगा। इस प्रकार 'च्लि' को उत्सर्ग न माना जाये तो भी कोई अनिष्ट प्राप्त नहीं होता।।४३।।

च्लेः सिच्।।३.१.४४।।

भाष्यम्– किमर्थश्चकारः? विशेषणार्थः।। क्व विशेषणार्थेनाऽर्थः?

'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' (अ०– ७.२.१) इति। 'सौ वृद्धि'रितीयत्युच्यमानेऽग्निर्वायुरित्यत्रापि प्रसज्येत।।

'सिच्' में चकार का क्या प्रयोजन है? विशेषणार्थ। विशेषणार्थ चकार से कहाँ लाभ मिलेगा? 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु'– यहाँ पर। 'सौ वृद्धि०' ऐसा कहा जाने पर 'अग्निः, वायुः'– यहाँ भी वृद्धि होने लगेगी।

१. 'आर्धधातुके' इति विषयसप्तमीति भावः। २. आर्धधातुकविषय इति भावः।

'सौ' यह सि और सु का तन्त्रन्याय से साधारण निर्देश समझा जायेगा। अथवा आगन्तु इकार के द्वारा सकार मात्र के निर्देश में तात्पर्य समझा जायेगा। 'सौ च परस्मैपदेषु च' इस रूप में समुच्चय होगा– इस हेतु से अग्निः वायुः यहाँ भी वृद्धि प्राप्त होने लगेगी। ऐसा मानते हुये उक्त कथन है।

भा०– नैतदस्ति प्रयोजनम्। परस्मैपदेष्वि'त्युच्यते, न चाऽत्र परस्मैपदं पश्यामः।

नहीं! यह कोई प्रयोजन नहीं। 'परस्मैपदेषु' ऐसा कहा जा रहा है। अग्निः, वायुः– यहाँ तो परस्मैपद देख ही नहीं रहे हैं।

लक्ष्यानुसार सौ और परस्मैपदेषु के बीच विशेषणविशेष्य भाव या अङ्गाङ्गीभाव का ही आश्रय किया जायेगा न कि समुच्चय। अन्यथा 'सिपरस्मैपदयोः'– ऐसा ही कह देते।

भा०– स्वरार्थस्तर्हि। 'चितोऽन्त उदात्तो भवती'त्यन्तोदात्तत्वं यथा स्यात्।।

अच्छा तो स्वरार्थ है। चित् का अन्त उदात्त होता है– इस रूप में अन्तोदात्तत्व हो जाया करें।

'सिच्' के अच् रहित होने पर भी 'चितस्सप्रकृतेः' (भा०वा० ६.१.१५७) इस वचन से 'मा हि कार्ष्टाम्' इत्यादि में लादेशनिमित्तक स्वर से धातु को निघात होने पर पुनः उदात्तार्थ चित्करण है।

भा०– एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। अनच्कोऽयं, तत्र नार्थः स्वरार्थेन चकारेणाऽनुबन्धेन।।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं है। यह इकारानुबन्धक सिच् अच् रहित है। सो इस स्थिति में स्वरार्थ चकारानुबन्ध से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो पायेगा। रही बात 'मा हि कार्ष्टाम्' इत्यादि में चित्स्वर से धातु को उदात्त करने की– वहाँ भी 'आदिः सिच०' (अ०– ६.१.१८१) से धातु को पाक्षिक उदात्त होगा– इस हेतु से चित्स्वर का वह विषय ही नहीं है। आद्युदात्तत्व के अभावपक्ष में वहाँ प्रत्ययस्वर (अ०– ३.१.३) ही होना चाहिये।

भा०– इटि कृते साच्को भविष्यति।।

सेट् धातुओं से इट् करने पर उसके द्वारा साच्क हो जायेगा। इस प्रकार 'मा हि लावीत्' इत्यादि में 'चितः' (अ०– ६.१.१५७) अन्तोदात्त सिद्ध हो जाता है।

भा०– तत्र प्रत्ययाद्युदात्तत्वेनेट उदात्तत्वं भविष्यति।।

उस स्थिति में तो अर्थात् इट् कर लेने पर तो प्रत्ययाद्युदात्तत्व से 'इट्' को उदात्त हो जायेगा। सिच् विधान वेला में उपस्थित हुआ 'आद्युदात्तश्च' शास्त्र सिच् के अनच्क होने से उस समय तो वह व्यर्थ है– इसलिये तदुत्तरकाल इट् होने पर उसका कार्य होगा।

भा०– न सिद्ध्यति। 'आगमा अनुदात्ता भवन्ती'त्यनुदात्तत्वं प्राप्नोति।।

नहीं सिद्ध होता। क्योंकि इट् एक आगम है और आगमों के विषय में एक अलग ही व्यवस्था है कि 'आगम अनुदात्त होते हैं' सो इस व्यवस्था से इट् को अनुदात्तत्त्व ही प्राप्त होता है। और चाहते यह हैं कि, वह उदात्त हो– सो 'आगमा: अनुदात्ता:' इस व्यवस्था को बाधकर उदात्त करने के लिये चित्व सार्थक है।

भा०– अत उत्तरं पठति-

इस उपर्युक्त भूमिका के बाद आचार्य वार्त्तिककार अपना कथ्य पढते हैं–

वा०– ✲ सिचश्चित्करणानर्थक्यं स्थानिवत्त्वात्।।१।। ✲

भा०– सिचश्चित्करणमनर्थकम्।। किं कारणम्? 'स्थानिवत्त्वात्'।।

चितोऽयमादेश: स्थानिवद्भावाच्चिद्भविष्यति।।

सिच् का चित्करण अनर्थक है। क्या कारण है– क्यों अनर्थक है? स्थानिवत्त्व के हो जाने से। 'च्लि' को जो चित् है– उसके स्थान मे हुवा-हुआ यह आदेश, स्थानिवद्भाव से चित् हो जायेगा।

वा०– ✲ अर्थवत्तु चित्करणसामर्थ्याद्धीट उदात्तत्वम्।।२।। ✲

भाष्यम्– नैष दोष:[१]। अर्थवत्तु सिचश्चित्करणम्।। कोऽर्थ: ? चित्करणसामर्थ्याद्धीट उदात्तत्वं भविष्यति। नाऽप्राप्ते प्रत्ययस्वरे आगमानुदात्तत्वमारभ्यते, तद्यथैव प्रत्ययस्वरं बाधते एवं स्थानिवद्भावादपि या प्राप्तिस्तामपि बाधेत।।

नहीं, यह कोई दोष नहीं है। सिच् का चित्करण अर्थवत् है। प्रयोजनवान् है। क्या प्रयोजन है? सिच् के चित्करणसामर्थ्य से इट् को उदात्तत्व हो जायेगा। प्रत्ययस्वर की अवश्यप्राप्ति में आगमानुदात्तत्व का आरम्भ किया जा रहा है, सो वह आगमानुदात्तत्व जैसे प्रत्ययस्वर को बाधता है, उसी प्रकार स्थानिवद्भाव से भी जो प्राप्ति है– उसको भी बाधेगा।

वा०– ✲ तस्माच्चित्करणम्।।३।। ✲

भाष्यम्– तस्माच्चकार: कर्त्तव्य:।।

---

१. सिचश्चित्करणानर्थक्यमिति य उक्तस्स नास्तीत्यर्थ:।

इस कारण (उपर्युक्त हेतु से) चकार करना ही चाहिये। च्लि के चित्करण के सामान्यग्रहणाविघातार्थ होने से 'मा हि लावीत्' इत्यादि में स्थानिवद्भावप्राप्त स्वर को आगमानुदात्तत्व बाधने लगेगा। इस कारण अन्तोदात्त करने के लिये सिच् का चित्त्व है। बाध्यसामान्यचिन्तया आगमानुदात्तत्व के द्वारा सामान्यरूपेण सभी स्वर (जो जो भी प्राप्त है, वह सब स्वरमात्र) बाधने योग्य है। अर्थात् आगमानुदात्तत्व के द्वारा जैसे प्रत्ययस्वर बाधा जाता है तद्वत् स्थानिवद्भावप्राप्त चित्स्वर भी बाधा जायेगा। इसलिये अब उस आगमानुदात्तत्व को बाधने के लिये चित्त्व करना चाहिये। यहाँ नागेश– 'आगमानुदात्तेन चाविशेषात् सर्वः स्वरो बाध्यः।' ऐसा कैयट की इस उक्ति का खण्डन करता हुआ कहता है– 'लवितव्यम्' इत्यादि में 'तव्य' को प्रत्ययसंनियोग से आद्युदात्त कर लेने पर पश्चात् इट् होता हुआ, स्वररहित होने लगेगा– इसलिये सामान्यतः स्वरप्राप्ति विषय में आगमानुदात्तत्व की चरितार्थता होने से बाधकत्व उक्ति चिन्त्य है। यदि ऐसे प्रसङ्गों में शेषनिघात से अनुदात्तत्वसिद्धि कही जाती है, तब तो 'आगमा अनुदात्ता भवन्ति' यह वचन ही व्यर्थ हो जाता है। उस परिस्थिति में वह वचन है ही नहीं– ऐसा 'आद्युदात्तश्च' (अ० – ३.१.३) सूत्र भाष्य में ध्वनित भी हुआ है। प्रकृत में चित्त्व तो धातुस्वर के साथ अथवा प्रत्ययस्वर के साथ एकवाक्यता हुये शेषनिघात से प्रत्ययानुदात्तत्व को बाधने के लिये करना ही चाहिये।

भा० – अथेदित्करणं किमर्थम्?

अच्छा, यह 'सिच्' में इदित्करण का क्या प्रयोजन है?

वा० – ⁕ इदित्करणं नकारलोपाभावार्थम्।।४।। ⁕

भाष्यम्– इदित्करणं क्रियते। नकारलोपो मा भूदिति। अमंस्त, अमंस्थाः 'अनिदितां हल उपधायाःक्ङिति' (अ० – ६.४.२८) इति।।

इदित्करण किया जाता है। नकारलोप न होवे। अमंस्त, अमंस्थाः यहाँ त और थास् प्रत्यय के ङित् (ङित्वत् अ० – १.२.४) होने से 'अ+मन्स्+त' इस स्थिति में उपधाभूत नकार का अनिदितां० सूत्र से लोप प्राप्त होता है। इदित् अङ्ग होने से नहीं होगा।

वा० – ⁕ न वा हन्तेः सिचः कित्करणं ज्ञापकं नकारलोपाऽभावस्य।।५।। ⁕

भाष्यम्– न वैतत्प्रयोजनमस्ति।। किं कारणम्? यदयं 'हनः' सिच्' (अ० – १.२.१४) इति हन्तेः सिचः कित्त्वं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यो 'न सिजन्तस्य नकारलोपो भवती'ति।।

नहीं! यह तो कोई प्रयोजन नहीं है। क्या कारण है? जो यह आचार्य 'हनः सिच्' सूत्र के द्वारा हन् धातु से उत्तर सिच् का कित्त्व शासन कर रहे हैं, उससे यह ज्ञापित करते हैं– (अन्यत्र) सिजन्त का नकारलोप नहीं

होता है। यदि 'आहन्+स्+त' इस स्थिति में 'त' को मानकर उपधाभूत नकार का लोप हो जाता तो 'हन: सिच्' से सिच् को कित् करने की आवश्यकता नहीं थी।

भा०– नैतदस्ति ज्ञापकम्। अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम्।।

किम्? सिच्येव कारलोपो यथा स्यात् परस्मिन्निमित्ते मा भूदिति।।

नहीं! यह कोई ज्ञापक नहीं है। ज्ञापक तो तब बनता है जब कोई भी अन्य प्रयोजन न हो। यहाँ तो इसके कथन में अन्य प्रयोजन मिल रहा है। क्या? कौन सा प्रयोजन मिल रहा है? सिच् के परे रहते ही[१] नकारलोप होवे, सिच् से परे जो त-थास् इत्यादि सार्वधातुक है, उसको निमित्त मानकर नलोप न होवे।

भा०– क: पुनरत्र विशेष:– सिचि वा नलोपे सति परस्मिन्वा निमित्ते?

इसमें क्या विशेष है? चाहे सिच् को मानकर नलोप कर लिया जाये या सिच् से परभूत 'त' इत्यादि को मानकर।

भा०– अयमस्ति विशेष:– सिचि नलोपे सति नलोपस्याऽसिद्धत्वादकारलोपो न भवति।

परस्मिन्पुनर्निमित्ते सति नकारलोपे कृते अकारलोप: प्रसज्यते। समानाश्रयमसिद्धम्। व्याश्रयं तु सिद्धमेव। व्याश्रयं चेदम्।।

यह है विशेष– सिच् के परे रहते नलोप होने पर 'असिद्धवदत्राऽभात्' (अ०– ६.४.२२) से नलोप के असिद्ध होने से 'आहन् स्+त = आह+स्+त' यहाँ 'अतो लोप:' (अ०– ६.४.४८) से अकारलोप नहीं होता। परभूत 'त' के निमित्त से नलोप किया जायेगा तो उसके असिद्ध न होने से अकारलोप होने लगेगा। क्यों कि 'असिद्धवदत्राऽभात्' सूत्र में, यह बात कही गयी है कि[२] समानाश्रय शास्त्र ही असिद्ध होता है। व्याश्रय तो सिद्ध ही रहता है। नकारलोप के आत्मनेपद (त) निमित्तक होने पर 'अतो लोप:' शास्त्र व्याश्रय हो जाता है। क्योंकि नलोप का आश्रय 'त' होगा और अकारलोप का सिच्। जब 'सिच्' को मानकर नलोप किया जायेगा और उसी सिच् को मानकर अकारलोप की प्राप्ति होगी तो दोनों शास्त्रों के समानाश्रय होने से नकारलोप के असिद्ध होने से अकारलोप नहीं होगा। यह विशेष है।

भा०– ननु च परस्मिन्नपि निमित्ते नकारलोपे सत्यकारलोपो न भवति।।

कथम्? 'असिद्धं बहिरङ्गलक्षणमन्तरङ्गलक्षण इति'।

---

१. अनुदात्तोपदेश० (अ०- ६.४.३७) से झलादि क्ङित् परे अनुनासिकान्त अङ्ग का लोप कहा है।

२. समान आश्रयो यस्य तत् शास्त्रम्।

क्यों जी! पर (त-थास् इत्यादि) को भी निमित्त मानकर नकारलोप होने पर अकार लोप नहीं होगा। कैसे? 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' (पारि० ४४) इस परिभाषा बल से वहाँ बाह्य सार्वधातुकाश्रय नलोप के बहिरङ्ग होने से असिद्धत्व ही है।

भाष्यम्– तदेतद्धन्तेः सिचः कित्करणं ज्ञापकमेव 'न सिजन्तस्य लोपो भवतीति।।'

सो इस प्रकार यह हन् धातु से उत्तर सिच् का कित्करण ज्ञापक ही है कि– 'मन् स्+त्' इत्यादि में सिजन्त को 'अनिदितां हलः०' (अ०– ६.४.२४) से (उपधाभूत) नकार का लोप नहीं होता।

वा०– * इदिद्वा स्थानिवत्त्वात्।।६।। *

भाष्यम्– अथाऽप्यनेनेदिताऽर्थः स्यात्, इदितोऽयमादेशः स्थानिवद्भावादिदिद्भविष्यति।।

और यदि इस इदित् के द्वारा कुछ प्रयोजन सिद्ध करना भी है तो भी सिच् को इदित् करने की आवश्यकता नहीं है। च्लि को इदित् है– उसके स्थान में हुआ यह आदेश स्थानिवद्भाव से इदित् हो जायेगा।

वा०– * स्पृशमृशकृषतृपदृपां सिज्वा।।७।। *

भाष्यम्– स्पृशमृशकृषतृपदृपां सिज्वेति वक्तव्यम्। स्पृश-अस्पृक्षत् अस्प्राक्षीत्। स्पृश।। मृश-अमृक्षत्, अम्राक्षीत्। मृश।। कृष- अकृक्षत्। अक्राक्षीत्। कृष।। तृप-अतृपत्, अत्राप्सीत्। तृप।। दृप-अदृपत्, अद्राप्सीत्।। किं प्रयोजनम्? सिज् यथा स्यात्।।

स्पृश-संस्पर्शने (धा०तु०– १३१), मृश-आमर्शने (धा०तु० १३४) कृष-विलेखने (धा०तु– ६) तृप-प्रीणने, दृप-हर्षमोहनयोः (धा०दि० ८४,८५) इन धातुओं से संबन्धित च्लि को विकल्प से सिच् कहना चाहिये। सारे उदाहरण भाष्य में हैं। किस प्रयोजन के लिये विकल्प से सिच् कहना चाहिये? प्रयोजन यही है कि सिच् हो जाये। स्पृश, मृश, कृष– इन से क्स की प्राप्ति में और तृप-दृप से पुषाद्यङ् की प्राप्ति में पक्ष में सिच् विधान किया जा रहा है।

अब प्रष्टा पूछता है–

भा०– अथ क्सः सिद्धः?

और क्या क्स सिद्ध है?

भाष्यम्– सिद्धः 'शल इगुपधादनिट क्सः' (अ०– ३.१.४५) इत्येव।।

हाँ, क्स तो– 'शल इगुपधा०' इस क्स विधायक सूत्र से ही सिद्ध है।

भा०– सिजपि सिद्धः।। कथम्? च्लेश्चित्करणं[1] प्रत्याख्यायते, तत्र च्लावेव झल्लक्षणेऽमागमे कृते विहतनिमित्तत्वात् क्सो न भविष्यति।।

क्स सिद्ध है तो सिच् भी सिद्ध है। सो कैसे? च्लि के चित्करण (चकारानुबन्धत्व) का प्रयोजनाभाव होने से प्रत्याख्यान किया जा रहा है। स्वरसिद्धि तो सिच् के चित्त्व से ही हो जायेगी। सो उस स्थिति में चकार प्रत्ययावयव ही ठहरता है। इस प्रकार च्लि के परे रहते हुये ही नित्य व अन्तरङ्ग झलादिलक्षण अम् आगम (अनुदात्तस्य चर्दुपध० अ०– ६.१.५८) कर लेने पर क्स का जो निमित्त इगुपधत्व है उसके नष्ट हो जाने से, अम् पक्ष में क्स नहीं होगा। बल्कि सामान्य सिच् ही होगा। अम् के अभाव पक्ष में तो क्स भी हो जायेगा– इस प्रकार स्पृश-मृश-कृष इन तीनों के ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है।

भा०– यद्येवमन्त्यस्य सिजादयः प्राप्नुवन्ति।।

यदि ऐसी बात है– अर्थात् च्लि के चकार का प्रत्ययावयवत्व स्वीकार किया जा रहा है तो सिजादि 'अलोऽन्त्यस्य' के नियम से च्लि के अन्त्य वर्ण को प्राप्त होने लगेंगे।

भाष्य में अन्त्यग्रहण उपलक्षण के रूप में है। चङ् व अङ् 'आदेः परस्य' के तहत आदि को होने लगेंगे।

वा०– ※ सिद्धं तु सिचो यादित्वात्[2] ।।७।। ※

भा०– सिद्धमेतत्।। कथम्? यादिः सिच्करिष्यते, सो'ऽनेकाल्शित्सर्वस्य' (अ०– १.१.५५) इति सर्वादेशो भविष्यति।। किं पुनर्न श्रूयते यकारः? लुप्तनिर्दिष्टो यकारः।।

यह तो सिद्ध है। अर्थात् च्लि के चकार की इत्संज्ञा न करने पर भी कोई दोष नहीं होगा। सो कैसे? (सिच् के) यादि होने के कारण। सिच् को यादि कर देंगे। वह फिर अनेकाल् हो जायेगा।

अनेकाल् होने से 'अनेकाल्शित्०' से सर्वादिश हो जायेगा। तो फिर यकार सुनायी क्यों नहीं देता? यकार को आचार्य ने पढा तो है, पर 'लोपो व्योर्वलि' (अ०– ६.१.६४) से उसका लोप हो रहा है।

भा०–चङङोः कथम्?

चङ् और अङ् का समाधान कैसे होगा? वे च्लि के आदि में बैठने लगेंगे।

---

१. चित्करणम् = चकारेत्करणं प्रत्याख्यायत = इत्संज्ञा प्रत्याख्यायत इत्यर्थः।

'चुटू' (अं– १.३.७) इत्यस्यानित्यत्त्वात् न चस्येत्संज्ञानियम इति भावः।।

२. भाष्यमिदमिति केचित्। कीलहार्न पाठ में यह वार्त्तिक रूप में नहीं है।

वा०– ✻ चङङो: प्रश्लिष्टनिर्देशात्सिद्धम्[१] ।। ८ ।। ✻

भा०– चङङोरपि सिद्धम्।। कथम्? प्रश्लिष्टनिर्देशात्। प्रश्लिष्टनिर्देशोऽयम्। च अङ् = चङ्, अ अङ् = अङ्। सोऽनेकाल्शित्सर्वस्येति सर्वादेशो भविष्यति।।

चङ् और अङ् में प्रश्लिष्टनिर्देश से सिद्ध हो जायेगा। चङ् और अङ् का भी प्रश्लिष्टनिर्देश किया है। च अङ् = चङ् अ अङ् = अङ्। वह प्रश्लिष्टनिर्देश से अनेकाल् होने के कारण पूर्ववत् 'अनेकाल्शित्०' के नियम से सर्वादेश हो जायेगा।

भा०– चिण: कथम्?

चिण् में कैसे करेंगे?

वा०– ✻ चिणोऽनित्त्वात्[१] ।।९ ।। ✻

भा०– चिणश्चकारस्याऽनित्त्वात्सिद्धम्।। किमिदमनित्त्वादिति?

अन्त्यस्याऽयं स्थाने भवन्न प्रत्यय: स्यात्। असत्यां प्रत्ययसंज्ञायामित्संज्ञा न। असत्यामित्संज्ञायां लोपो न। असति लोपेऽनेकाल्। यदाऽनेकाल्तदा सर्वादेश:। यदा सर्वादेशस्तदा प्रत्यय:। यदा प्रत्ययस्तदेत्संज्ञा। यदेत्संज्ञा तदा लोप:।

चिण् के चकार की इत्संज्ञा न होने से सिद्ध है। यह जो 'अनित्त्वात्' कहा– इससे आपका क्या अभिप्राय है? इसका अभिप्राय है– चिण् च्लि के अन्त्य के स्थान में होता हुआ प्रत्ययसंज्ञक नहीं हो सकेगा। प्रत्ययसंज्ञा के न होने पर उसके चकार की 'चुटू' (१.३.७) से इत्संज्ञा नहीं होगी– क्योंकि प्रत्यय के आदिभूत चवर्ग की इत्संज्ञा कही गयी है। इत्संज्ञा के न होने पर उसका लोप नहीं होगा। जब लोप नहीं होगा तो, वह अनेकाल् बना रहेगा। जब अनेकाल् होगा तो सर्वादेश (संपूर्ण च्लि के स्थान में) हो जायेगा। जब सर्वादेश होगा तभी प्रत्ययसंज्ञा होगी। जब प्रत्ययसंज्ञा होगी तो ही इत्संज्ञा होगी। और जब इत्संज्ञा होगी तब लोप होगा। इस प्रकार चिण् च्लि के अन्त्य को न होकर अनेकाल्त्व हेतु से संपूर्ण के स्थान में ही होगा।

भाष्य में जो यह कहा– 'अन्त्यस्यायं स्थाने भवन्न प्रत्यय: स्यात्'। इसका भाव यह है– 'प्रत्ययाधिकार में पाठ होने पर भी प्रत्याययति बोधयत्यर्थमिति प्रत्यय:' इस अन्वर्थसंज्ञालभ्य अर्थ का अभाव होने से एकदेश में होता हुआ वह प्रत्यय नहीं हो पायेगा। क्योंकि प्रत्यय का अवयव प्रत्यय के अर्थवाला नहीं हो सकता।

---

१. कीलहार्न में यह वार्त्तिक रूप में नहीं है।

'चिण् भावकर्मणो:' (अ०– ३.१.६६) यहाँ भावकर्मवाची प्रत्यय का धातु के साथ अव्यभिचार होने से, वहाँ 'धातो:' पद की अपेक्षा नहीं है। 'भावकर्मवाची त शब्द के परे रहते च्लि को चिण् होता है'– ऐसा सूत्रार्थ होने से 'आदे: परस्य' (अ०– १.१.५३) परिभाषा का विषय ही नहीं बनता– 'अलोऽन्त्यस्य' ही उपस्थित होगी। 'चिण् ते पद:' और 'दीपजनबुध०' (अ०– ३.१.६०,६१) यहाँ यद्यपि पंचमी निर्देश होने से 'आदे: परस्य' उपस्थित होना चाहिये तो भी विहितविशेषण[1] होने से वहाँ भी 'अलोऽन्त्यस्य' ही उपस्थित होगी। यदि 'आदे: परस्य' प्रवृत्त हो जाये तब तो प्रत्ययादि मानकर इत्त्वसिद्धि (इत्संज्ञा सिद्धि) होने से प्रकृत भाष्य अनुपपन्न हो जायेगा।

भा०– एवं च[2] तत्र वार्त्तिकारस्य निर्णय: सप्रयोजनं चित्करणमिति।।

वहाँ 'च्लि लुङि' (अ०– ३.१.४३) सूत्र में वार्त्तिककार का यही निर्णय हुआ है कि चित्करण सप्रयोजन है। च्लि के चकार को वहाँ 'मन्त्रे घसह्वर०' सूत्रस्थ ले: पद के लिये सामान्यग्रहणाविघातार्थ माना गया है। प्रयोजन के होने पर अवश्य ही चकार की तो इत्संज्ञा होनी ही चाहिये। और अब शेष बचा हुआ लकार झल् नहीं होता– इसलिये 'अनुदात्तस्य चर्दुप०' (६.१.५८) से अम् न होने से क्स ही प्रसक्त होने लगेगा। सिच् नहीं हो पायेगा।

भा०– अपि च त्रैशब्द्यं न प्रकल्पते– अस्पृक्षत्, अस्प्राक्षीत्।
अस्पार्क्षीदिति न सिद्ध्यति। सिचि पुन: सति विभाषा सिच्।
सिच्यपि झल्लक्षणोऽमागमो विभाषा।।

कथंचित् च्लि में ही झलादिलक्षण अम् भी कहते हैं तो भी दो ही रूप बन पायेंगे। अस्पार्क्षीत् रूप तो तब भी असिद्ध ही रह जायेगा। इसलिये त्रैशब्द्य सिद्धि के लिये स्पृश-मृश-कृष का वार्त्तिक में ग्रहण करना ही पडेगा। सिच् के होने पर तो सिच् भी विभाषा है और सिच् में झल्लक्षण अमागम भी विभाषा है– इस हेतु से सिच् में दो रूप और एक क्स का रूप, कुल मिलाकर अभीष्ट तीन रूप सिद्ध हो जाते हैं।

भा०– यस्य खल्वप्यमा (अङो[3]) निमित्तं न विहन्यते स स्यादेव।
तस्मात्सुष्ठूच्यते– 'स्पृशमृशकृषतृपदृपां सिज्वे'ति।।४४।।

---

१. पदादिभ्यो विहितो यश्च्लिस्तस्य चिणादेश इत्यर्थ:। एवं च 'तस्मादित्युत्तरस्य' इत्यतस्तस्मादित्यस्यानुपस्थानम्। तदनुपस्थाने च 'आदे: परस्य' इत्येतस्याप्यनुपस्थितिरिति बोध्यम्।

२. 'एष च' इति पाठभेद:।

३. इदं क्वचिन्न। (कीलहार्न में नहीं है।)

वार्त्तिक में तृप और दृप के ग्रहण का फल भाष्य में दर्शा रहे हैं– और जिस अङ् का (यस्य अङः) 'अनुदात्तस्य चर्दुप०' से किये गये अम् के द्वारा निमित्त नष्ट नहीं होता– क्योंकि वह पुषाद्यङ् तो तृप-दृप के पुषादि होने के कारण अमागम कर लेने पर भी हो ही जायेगा, वहाँ सिच् नहीं हो सकेगा– सो उसके लिये भी सिच् का विकल्प से विधान करना चाहिये। इस कारण वार्त्तिककार के द्वारा ठीक ही कहा जा रहा है कि– 'स्पृशमृशकृषतृपदृपां सिज्वा'।।४४।।

शल इगुपधादनिटः क्सः।।३.१.४५।।

वा०– ✻ क्सविधान इगुपधाभावश्च्लेर्गुणनिमित्तत्वात्।।१।। ✻

भाष्यम्– क्सविधान इगुपधस्याऽभावः।। किं कारणम्? 'च्लेर्गुणनिमित्तत्वात्'। च्लिर्गुणनिमित्तम्[१], तत्र च्लावेव गुणे कृते 'इगुपधा'दिति क्सो न प्राप्नोति।।

अतिव्याप्ति-अव्याप्ति-असंभवदोषशून्यत्वं हि लक्षणस्य लक्षणत्वम्। सो वार्त्तिककार लक्षण में असंभवरूपदोष की उद्‌भावना करते हैं कि च्लि को क्स आदेश के विधान में इगुपधत्व का अभाव रहता है। क्या कारण है? 'च्लि' के गुण का निमित्त होने से। 'लिह् च्लि तिप्' इस स्थिति में च्लि गुण का निमित्त उपस्थित है। सो च्लि में ही लघूपध गुण कर लेने पर 'इगुपधात्' इगुपध कहकर कहा गया 'क्स' प्राप्त नहीं होता। भूतपूर्व गति का आश्रय करके अथवा विहित विशेषण का आश्रय करके क्स प्राप्त करा भी दें, तो सर्वत्र गुणश्रवण होने से इष्ट लक्ष्य की असिद्धि ही रहेगी।

वा०–✻ न वा क्सस्याऽनवकाशत्वादपवादो गुणस्य।।२।। ✻

भा०– न वैष दोषः।। किं कारणम्? 'क्सस्याऽनवकाशत्वात्'। अनवकाशः क्सो गुणं बाधिष्यते।।

नहीं! यह कोई दोष नहीं है। क्या कारण है? क्यों दोष नहीं है? क्स के अनवकाश होने से। क्स अनवकाश है, वह गुण को बाध लेगा। भूतपूर्व गति का आश्रयण करने पर कित्त्व अनर्थक हो जायेगा– इस हेतु से सानुबन्धक रूप के अनवकाश होने से, वह गुण का अपवाद होता हुआ गुण को बाध ही लगेगा।

वा०– ✻ अनिड्वचनमविशेषणं च्लेर्नित्याऽऽदिष्टत्वात्।।३।। ✻

भा०– अनिड्वचनमविशेषणम्।। किं कारणम्? 'च्लेर्नित्यादिष्टत्वात्'। नित्यादिष्टश्च्लिर्न क्वचिच्छ्रूयते, तत्र 'च्लेरनिट' इति क्सो न प्राप्नोति।।

१. च्लिर्गुणस्य निमित्तमिति- पा० भे०।

सूत्र में पठित 'अनिट:' यह वचन च्लि का विशेषण नहीं बन सकता। च्लि के नित्यादिष्ट[१] होने से। च्लि नित्यादिष्ट है– सर्वत्र ही आदेश के द्वारा अपहृत कर लिया जाता है। कहीं भी सुनायी नहीं देता। सो ऐसी स्थिति में अनिट् च्लि को कहा गया 'क्स' प्राप्त नहीं होता।

च्ल्युत्सर्गपक्ष में यह विचार किया जा रहा है– 'अनिट:' यह 'च्ले:' इस पद का विशेषण समझा जाये– इसके लिये 'च्लि' को स्थानी रूप में पढा गया है– यह बात 'च्लि लुङि' (अ०– ३.१.४३) सूत्र पर कही गयी है, किन्तु समस्या यह है कि आदेशान्तर के अभाव में इस च्लि को नित्य ही सिच् हो जाने के कारण इसका इडभावोपलक्षित रूप तो कहीं भी विद्यमान ही नहीं होता– इस हेतु से 'च्ले:' पद का 'अनिट:' यह विशेषण नहीं बन पायेगा।

वा०– ※ न वा क्सस्य सिजपवादत्वात्तस्य चानिडाश्रयत्वादनिटि[२] प्रसिद्धे क्सविधि:।।४।। ※

भा०– न वैष दोष:।। किं कारणम्? 'क्सस्य सिजपवादत्वात्'।

सिजपवाद: क्स:, स चाऽनिडाश्रय:। 'न चापवादविषय उत्सर्गोऽभिनिविशते'। 'पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते पश्चादुत्सर्गा:'। 'प्रकल्प्य वाऽपवादविषयम् उत्सर्गोऽभिनिविशते'। तन्न तावदत्र कदाचित् सिज् भवति, अपवादं क्सं प्रतीक्षते। क्सस्य सिजपवादत्वात्तस्य चानिडाश्रयत्वादनिट्त्वं प्रसिद्धम्। 'अनिटि प्रसिद्धे क्सविधि:'। अनिटि प्रसिद्धे क्सो भविष्यति।।

नहीं! यह कोई दोष नहीं है। क्या कारण है? क्स के सिच् का अपवाद होने से। क्स, सिच् का अपवाद है। और वह (क्स) अनिट्त्व के आश्रय से होता है। और यह भी नियम है कि उत्सर्ग-अपवाद के विषय में प्रवृत्त नहीं होता। बल्कि यह कहना चाहिये कि पहिले अपवाद प्रवृत्त होते हैं और पश्चादुत्सर्ग। अथवा अपवाद विषय को छोडकर उत्सर्ग प्रवृत्त होता है। सो यहाँ कभी भी सिच् नहीं होता, वह तो अपने अपवादभूत क्स की प्रतीक्षा करता रहता है। इस प्रकार क्स के सिच् का अपवाद होने से और उस क्स के अनिट्त्व का आश्रय लेने से (च्लि का) अनिट्त्व प्रसिद्ध हो जायेगा। च्लि के 'अनिट्' इस विशेषण के सिद्ध हो जाने पर क्स हो जायेगा।

१.आदिष्टम् = आदेश:, नित्यम् आदिष्टं सिज्रूपं यस्य स:।

२. वार्त्तिके अनिडाश्रयत्वादित्यत्र अनिडिति भावप्रधानम् अनिट्त्वमित्यर्थ:। अनिट् (अनिट्त्वम्) आश्रयो यस्य तत् तथोक्तम्।

भा०– सिजिदानीं क्व भविष्यति?

वा०– * शेषे सिज्विधानम्।।४।। *

भा०– शेषे सिज्विधानं भविष्यति। अकोषीत्, अमोषीत्।।४५।।

अब यह पूछा जाये कि सिच् कहाँ होगा? तो–

शेष में, जहाँ कि 'आर्धधातुकस्येड्०' (अ०– ७.२.३५) से प्राप्त इट् का 'एकाच उपदेशे०' (अ०– ७.२.१०) से निषेध नहीं है वहाँ सिच् हो जायेगा, जैसे कि, अकोषीत्-अमोषीत्।

इस सब का भाव यह है– 'लिह्+च्लि (ल्)+त' इस स्थिति में क्स का विषय होने के कारण सिच् नहीं होगा। क्स भी तब तक नहीं हो सकता जब तक कि इसका अनिट्त्व नहीं जान लिया जाता। तो वहाँ च्लि के लकार को ही 'आर्धधातुकस्येड्०' से इट् की प्राप्ति होने पर 'एकाच उपदेशे०' से उसका निषेध हो जाने से अनिट्त्व सिद्ध हो गया। अत: 'क्स' होकर 'अलिक्षत्' रूप बन गया। जहाँ तो इट् का प्रतिषेध नहीं है वहाँ सिच् ही हो जाता है। जैसे– अकोषीत्, अमोषीत्।।४५।।

श्लिष आलिङ्गने।।३.१.४६

भाष्यम्– किमर्थमिदमुच्यते?

किसलिये यह सूत्र बनाया जा रहा है? प्रश्न का यह आशय है– 'श्लिष-आलिङ्गने' (धा०दि० ७५) यह धातु दिवाद्यन्तर्गत पुषादिगण में पठित होने से पुषाद्यङ् (अ०– ३.१.५५) की प्राप्ति में उसे बाधने के लिये विध्यर्थ है अथवा 'शल इगुपधा०' इस पूर्व सूत्र से ही क्स सिद्ध होने पर नियमार्थ है?

भा०– नियमार्थम्। श्लिष आलिङ्गन एव क्सो यथा स्यात्। इह मा भूत्– 'उपाश्लिषज्जतु च काष्ठं च'। 'समाश्लिषद्ब्राह्मणकुलम्' इति।।

समाधाता वक्ष्यमाण योगविभाग को मन में करके उत्तर देता है– नियमार्थ है। अन्यथा विधित्व के संभव होने पर नियमार्थत्व उत्पन्न नहीं हो पायेगा[१]। श्लिष्-धातु से आलिङ्गन अर्थ में ही क्स हुआ करे। यहाँ जहाँ कि– उपाश्लिषत् जतु च काष्ठं च, समाश्लिषत् ब्राह्मणकुलम् इत्यादि में प्रत्यासत्ति (सामीप्यमात्र = संबन्धमात्र) विवक्षित है न कि आलिङ्गन– वहाँ 'क्स' न होवे– पुषादि अङ् ही होवे।

भा०– अत उत्तरं पठति–

इस उपर्युक्त परिस्थिति में वार्त्तिककार अपना उत्तर पढते हैं–

---

१. विधिनियमसंभवे विधिरेव ज्यायान्। (पारि० १४४)

वा॰– ॐ श्लिष आलिङ्गने नियमानुपपत्तिर्विधेयभावात्।।१।। ॐ

भाष्यम्– श्लिष आलिङ्गन इति नियमस्यानुपपत्तिः।। किं कारणम्? 'विधेयभावात्'। कैमर्थक्यान्नियमो भवति? 'विधेयं नास्ती'ति कृत्वा।। इह चास्ति विधेयम्।। किम्? पुषादिपाठादङ्प्राप्तः, तद्बाधनार्थः क्सो विधेयः। तत्राऽपूर्वो विधिरस्तु नियमो वेत्यपूर्व एव विधिः स्यान्न नियमः।।

'श्लिष आलिङ्गने' इस सूत्र से नियम की उपपत्ति नहीं हो सकती। क्या कारण है– क्यों नहीं हो सकती? विधेय के उपलब्ध होने से। क्योंकि जब यह पूछा जाता है कि किस हेतु से नियम हुआ करता है, तो उसका उत्तर यही दिया जाता है कि 'विधेय नहीं है– इस हेतु से'।

प्रकृत में तो विधेय है। क्या? पुषादिपाठ से अङ् प्राप्त[१] हुआ उसको बाधने के लिये क्स विधान करना चाहिये।

सो अब उपर्युक्त परिस्थिति में अपूर्व विधि हो या नियम ऐसा द्वैत उपस्थित होने पर अपूर्व विधि ही होगी न कि नियम।

भा॰– किं च स्याद्यदायं नियमो न स्यात्? आत्मनेपदेष्वालिङ्गने चाऽनालिङ्गने च क्सः प्रसज्येत।।

अच्छा, हम यह पूछना चाहते हैं– 'श्लिष आलिङ्गने' इस सूत्र से नियम न बन पाये तो क्या अनिष्ट हो जायेगा? अनिष्ट यह होगा कि आत्मनेपद में आलिङ्गन हो चाहे अनालिङ्गन क्स होने लगेगा। आलिङ्गन में तो इष्ट ही है पर अन्यत्र आपत्ति है। कर्म में या कर्मव्यतिहार में 'आताम्' इत्यादि प्रत्ययों में अनालिङ्गन में क्स इष्ट नहीं है।

भा॰– यथैव च क्सोऽङं बाधत एवं चिणमपि बाधेत– 'उपाश्लेषि कन्या देवदत्तेने'ति।।

'श्लिष आलिङ्गने' सूत्र को विध्यर्थ मानने पर एक यह भी दोष होगा कि, बाध्यसामान्यचिन्ता (द्रष्ट॰ पारि॰५१) से वह विधि परस्मैपद-आत्मनेपद दोनों पदों से संबन्धित हो जायेगी– फिर जैसे क्स, अङ् को बाधता है, तद्वत् चिण् (अ॰– ३.१.६६) को भी बाधने लगेगा। और फिर 'उपाश्लेषि कन्या देवदत्तेन'– यह प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेगा।

वा॰– ॐ सिद्धं तु श्लिष आलिङ्गनेऽचिण्विषये।।२।। ॐ

भाष्यम्– सिद्धमेतत्। कथम्? 'श्लिष आलिङ्गनेऽचिण्विषये क्सो भवती'ति वक्तव्यम्।।

यह तो सिद्ध है– ऊपर प्रस्तुत की गयी कोई समस्या नहीं है। कैसे? पूर्व से ही क्स तो सिद्ध ही था, फिर यह वचन 'अचिण्विषये श्लिष आलिङ्गन एव' इस रूप में नियमार्थ समझना होगा, अर्थात् चिण्विषय को छोडकर श्लिष से आलिङ्गन अर्थ में क्स होता है– ऐसा कहना चाहिये।

---

१. श्लिष् से अङ् की अवश्यप्राप्ति में 'क्स' का आरम्भ होने से 'क्स' अङ् का बाधक होगा।

वार्त्तिक में पठित 'अचिण्विषये' शब्द के द्वारा भाव व कर्म अर्थवाले 'त' शब्द से भिन्न आत्मनेपद लिया गया है, अन्यथा चिण् को बाधने के लिये उसके विषय में प्रकृतवचन विध्यर्थ हो जायेगा न कि नियमार्थ।

वा०– ✻ अङ्विधाने च श्लिषोऽनालिङ्गने।।३।। ✻

भाष्यम्– अङ्विधाने च श्लिषोऽनालिङ्गन इति वक्तव्यम्।।

और साथ में अङ्विधायक सूत्र में 'श्लिषोऽनालिङ्गने' यह भी कहना चाहिये। ऐसा करने से अर्थात् आलिङ्गन में अङ् का प्रतिषेध होने से 'श्लिष आलिङ्गनेऽचिण्विषये' यह वचन नियमार्थ हो जाता है, अन्यथा वह विध्यर्थ ही रह जाता।

भा०– सिद्ध्यति। सूत्रं तर्हि भिद्यते।।

खैर! ऐसा करने से सिद्ध तो हो जायेगा, पर सूत्र भिन्न हो जाता है।

भा०– यथान्यासमेवाऽस्तु।।

ठीक है, यथान्यास ही रहने देते हैं।

भा०– ननु चोक्तं 'श्लिष आलिङ्गने नियमानुपपत्तिर्विधेयभावा'दिति।

क्यों जी, अभी तो कहा था कि 'श्लिष आलिङ्गने' सूत्र से नियम नहीं बन पाता, विधेय के उपस्थित होने से (विधेय न हो तब नियम बनता है– यहाँ तो विधेय है।)

भा०– नैष दोषः।

नहीं! यह कोई दोष नहीं है।

वा०– ✻ योगविभागात्सिद्धम्।।४।। ✻

भाष्यम्– योगविभागः करिष्यते। 'श्लिषः'। श्लिषः क्सो भवति।।

किमर्थमिदम्? पुषादिपाठादङ् प्राप्नोति तद्बाधनार्थम्। तत 'आलिङ्गने'।

आलिङ्गने च श्लिषः क्सो भवति।। इदमिदानीं किमर्थं स्यात्?

नियमार्थम्। 'श्लिष आलिङ्गन एव'।। क्व मा भूत्? उपाश्लिषज्जतु च काष्ठं च। समाश्लिषत् ब्राह्मणकुलमिति।।

योगविभाग कर लेंगे। 'श्लिष आलिङ्गने' सूत्र का एक भाग होना 'श्लिषः'– श्लिष-धातु से क्स होता है। किस प्रयोजन से ऐसा किया? श्लिष धातु का पुषादिगण में पाठ होने से अङ् प्राप्त हो रहा था, उसको बाधने के लिये। उसके पश्चात् सूत्र होगा– 'आलिङ्गने', आलिङ्गन अर्थ में भी 'श्लिष' से क्स होता है। अब

यह किस प्रयोजन के लिये होगा? नियम करने के लिये। और उस श्लिष धातु से भी क्स हो तो वह आलिङ्गन अर्थ में ही हो। कहाँ पर न हो? उपाश्लिषज्जतु च काष्ठं च (लाख और काष्ठ चिपक गये)। समाश्लिषद् ब्राह्मणकुलम् (ब्राह्मणकुल मानसिक रूप से किसी राजादि से जुड़ गया या देवदत्तादि ब्राह्मणकुल के साथ जुड़ गया)।

'श्लिष:' यहाँ 'अनिट:' पद की ऊपर से अनुवृत्ति होने से दाहार्थक सेट् श्लिषु (धा०भ्वादि० ४६७) का ग्रहण नहीं होगा, अथवा दाहार्थक श्लिषु, उकारानुबन्धविशिष्ट है– इसलिये भी उसका ग्रहण नहीं होगा– (द्रष्ट०पा०– ७१-७२)।

भा०– यदप्युच्यते– यथैव क्सोऽङं बाधत एवं चिणमपि बाधेतेति, 'पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्' इत्येवं क्सोडङं बाधिष्यते, चिणं न बाधिष्यते। अथवा तत्र वक्ष्यति चिण् ग्रहणस्य प्रयोजनम्– 'चिणेव यथा स्यात् यदन्यत्प्राप्नोति तन्मा भूदिति'।।४६।।

और जो यह कहा जा रहा है कि जैसे क्स अङ् को बाधता है वैसे ही चिण् को भी बाधने लगेगा– उसका उत्तर यह है कि बाध्यविशेषचिन्ता स्वीकार कर 'पुरस्तादपवादा०' (पारि०–५२) इस परिभाषा बल से, क्स अङ् को तो बाध लेगा पर चिण् को नहीं बाधेगा। अथवा 'चिण् भावकर्मणो:' (अ०– ३.१.६६) सूत्र में आचार्य कहेंगे कि 'चिण् ते पद:' (अ०– ३.१.६०) से चिण् की अनुवृत्ति होते हुये भी पुन: जो चिण् ग्रहण किया है, उसका यह प्रयोजन है कि, चिण् ही हो, जो कोई अन्य क्स इत्यादि प्राप्त होता है वह न हो।।४६।।

णिश्रिद्रुस्रुभ्य: कर्त्तरि चङ्।।३.१.४८।।

वा०– ❋ णिश्रिद्रुस्रुषु कमेरुपसंख्यानम्।।१।। ❋

भाष्यम्– णिश्रिद्रुस्रुषु कमेरुपसंख्यानं कर्त्तव्यम्।

नाकमिष्टसुखं यान्ति सुयुक्तैर्वडवारथै:।
अथ पत्काषिणो[1] यान्ति येऽचीकमतभाषिण:।। इति।

णि-श्रि-द्रु-स्रु इन धातुओं में कमु-कान्तौ (धा० भ्वादि– ३०२) धातु का भी उपसंख्यान करना चाहिये। जिससे कि 'कम्' धातु का लुङ् लकार में 'अचकमत' रूप सिद्ध हो जाये।

नाक = स्वर्ग जो इष्टसुख है। कम् धातु का लुङ् में क्या रूप बनता है– ऐसा पूछने पर जिन्होंने तो 'अचकमत' ऐसा प्रत्युतर दिया वे तो सुयुक्त = अच्छी प्रकार जुडे हुये वडवा = घोडियों के रथों से नाक = स्वर्ग जो इष्टसुख है, उसको प्राप्त होते हैं। और जिन्होंने 'अचीकमत' ऐसा उत्तर दे दिया, वे पैरों से घसीटते हुये पैदल-पैदल जाते हैं।

---

१. 'हिमकाषिहतिषु च' (अ०– ६.३.५३) इति पादस्य पद् भाव:। पादाभ्यां कषन्तो गच्छन्ति। न तु रथादियानैरिति। अथवा पादौ कषन्ति ये ते सन्त इत्यर्थ:।

'कम्'- धातु से आर्धधातुक में विकल्प से णिङ् का विधान होने[1] से अणिङ् पक्ष में सिच् प्राप्त होने पर यह वचन है। चङ् परक णि परे रहते अभ्यास को सन्वद्भाव (अ०– ७.४.९३) का विधान होने से और यहाँ केवल चङ् ही परे मिलने से 'अचकमत' रूप बनता है। णिङ् पक्ष में तो प्रकृत सूत्र से चङ् होकर, सन्वद्भाव होने से 'अचीकमत' बनता है। उक्त श्लोक के द्वारा लक्षण का स्मरण न होने से, उक्त विशिष्ट प्रयोग न कर पा सकने के कारण लक्षणस्मरण को आदर देने के लिये निन्दारूप अर्थवाद का कथन हुआ है।

वा०– * कर्मकर्त्तरि च।।२।। *

भाष्यम्– कर्मकर्त्तरि चोपसंख्यानं कर्त्तव्यम्। कारयति कटं देवदत्तः, अचीकरत कटः स्वयमेव। उच्छ्रयति कटं देवदत्तः, उदशिश्रियत कटः स्वयमेव।।

और कर्मकर्त्ता में भी चङ् का उपसंख्यान करना चाहिये। कारयति कटं देवदत्तः-अचीकरत कटः स्वयमेव (चटाई अपने आप बनवा दी गयी)। उच्छ्रयति कटं देवदत्तः-उदशिश्रियत कटः स्वयमेवेति (देवदत्त चटाई को ऊपर (ऊँचा) उठाता है– कट अपने आप ऊपर उठ गयी)।

कर्त्ता में कहा गया चङ् कर्मकर्त्ता में नहीं प्राप्त होता, क्योंकि यह मुख्य कर्त्ता नहीं है। इसके लिये उपसंख्यान किया जा रहा है। शिवरामेन्द्र सरस्वती का कहना है– कर्मवदतिदेश से कर्म में चिण् की प्राप्ति होने पर यह वचन है।

वा०– * न वा कर्मण्यविधानात्कर्तृत्वाच्च कर्मकर्त्तुः सिद्धम्।।३।। *

भा०– न वा कर्त्तव्यम्।। किं कारणम्? कर्मण्यविधानात्। न हि कश्चित्कर्मणि विधीयते यश्चङ् बाधेत। कर्तृत्वाच्च कर्मकर्त्तुः सिद्धम्। अस्ति च कर्मकर्त्तरि कर्तृत्वमिति कृत्वा चङ् भविष्यति।

नहीं! कर्मकर्त्ता में चङ् के उपसंख्यान करने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्या कारण है? कर्म में विधान न होने से। 'कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः' (अ०– ३.१.८७) से विहित कर्मद्भाव के द्वारा अतिदिष्ट ऐसा कोई प्रत्यय नहीं है जो चङ् को बाध लेवे। और कर्मकर्त्ता का कर्त्तृत्व तो है ही, सो उस कर्तृत्त्व के आश्रय से प्रकृत सूत्र से ही चङ् हो जायेगा।

भा०– ननु चाऽयं कर्मणि विधीयते– 'चिण् भावकर्मणोः' (अ०– ३.१.६६) इति।।

क्यों जी! कर्मवदतिदेश होने पर 'चिण् भावकर्मणोः' से विहित, चिण् कर्म में विधान किया तो गया है। फिर यह कैसे कह रहे हो कि 'न हि कश्चित्कर्मणि विधीयते यश्चङं बाधेत'।

१. कमेर्णिङ्, आयादय आर्धधातुके वा। (अ०– ३.१.३०,३१)

भा०– प्रतिषिध्येते तत्र यक्चिणौ– 'यक्चिणोः प्रतिषेधे हेतुमण्णिश्रिब्रूञामुसंख्यान' मिति।।

यह इसलिये कह रहे हैं क्योंकि, वहाँ वार्त्तिककार ने हेतुमत् णि-श्रि और ब्रू से यक् चिण् का प्रतिषेध किया है।

भा०– यस्तर्ह्यहेतुमण्णिच्– उदपुपुच्छत गौः स्वयमेव।। अत्रापि यथा भारद्वाजीयाः पठन्ति तथा भवितव्यं प्रतिषेधेन। 'यक्चिणोः प्रतिषेधे णिश्रन्थिग्रन्थिब्रूञात्मनेपदाऽकर्मकाणामुपसंख्यान'मिति।।४८।।

अच्छा, जो हेतुमत् णिच् नहीं है– जैसे कि 'उदपुपुच्छत गौः स्वयमेव' (गाय ने अपने आप अपनी पूँछ ऊपर उठायी)। यहाँ हेतुमत् णिच् न होने से, उपर्युक्त वार्त्तिक से तो प्रतिषेध होगा नहीं, फिर 'चिण् भावकर्मणोः' से चिण् होने लगेगा– इसके लिये 'कर्मकर्त्तरि च' ऐसा उपसंख्यान करना ही पडेगा।

पुच्छमुदस्यति– उत्पुच्छयते गौः, 'पुच्छभाण्डचीवराण्णिङ्' (अ०– ३.१.२०) से णिङ् होकर 'अन्तर्भावितण्यर्थ' इस हेतु से जब इसका सकर्मकत्व होता है तब 'कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म' (अ०– १.४.४९) से 'गो' की कर्मसंज्ञा होकर 'उत्पुच्छयते गाम्'– ऐसा प्रयोग होता है। पुनः जब गो की कर्मसंज्ञा होकर 'उत्पुच्छयते गाम्'– ऐसा प्रयोग होता है। पुनः जब गो का ही सौकर्यातिशयविवक्षा में कर्त्तृत्व विवक्षित होता है और साथ में भूतकाल भी तब यह उक्त उदाहरण है।

इसका भी समाधान करते हुये भाष्यकार कहते है– यहाँ भी जैसा कि भारद्वाज आचार्य संबन्धी संप्रदाय में जो वचन पढा जाता है, उसके अनुसार 'चिण्' का प्रतिषेध होना ही चाहिये– उन्होंने हेतुमत् णि न पढकर केवल 'णि' मात्र पढा है। णि से णिङ् का ग्रहण तो हो ही जायेगा। उनका कहना है– यक्, चिण् के प्रतिषेध में, णि-श्रन्थि-ग्रन्थि-ब्रूञ् और आत्मनेपदविधि में जो धातु अकर्मक हैं– इन सबका उपसंख्यान करना चाहिये।

भाष्यकार के इस वक्तव्य से यह भी सूचित होता है कि केवल पाणिनीय लक्षण ही मान्य नहीं है, बल्कि व्याकरणान्तर लक्षण भी मान्य है।।४८।।

अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्।।३.१.५२।।

भा०– अस्यतिग्रहणं किमर्थम्? सूत्र में 'अस्' धातु का ग्रहण किसलिये किया है?

वा०– ✻ अस्यतिग्रहणमात्मनेपदार्थम् (पुषादित्वात्[१])।।१।। ✻

भाष्यम्– अस्यतिग्रहणमात्मनेपदार्थं द्रष्टव्यम्।। किमुच्यते आत्मनेपदार्थमिति, न पुनः परस्मैपदार्थमपि स्यात्? 'पुषादितवात्'। पुषादिपाठात्परस्मैपदेष्वङ् भविष्यति।।

१. नेदं सर्वत्र

'अस्' धातु का ग्रहण आत्मनेपद के लिये जानना चाहिये। यह क्या बात कह दी कि आत्मनेपद के लिये– क्या परस्मैपद के लिये भी नहीं चाहिये। परस्मैपद में तो पुषादिगण में आ जाने से 'पुषादिद्युताद्यॢदितः०' (अ०– ३.१.५५) सूत्र से ही अङ् हो जायेगा। भाव यह है मध्य में पढा गया वृत्-करण तो रधादि गण की परिसमाप्ति के लिये है– पुषादि तो आगणान्त है।

वा०– ✻ कर्मकर्त्तरि च।।२।। ✻

भाष्यम्– कर्मकर्त्तरि चोपसंख्यानं कर्त्तव्यम्। पर्यास्थेतां कुण्डले स्वयमेव[1]।।

और कर्मकर्त्ता में भी अङ् का उपसंख्यान करना चाहिये। पर्यास्थेतां कुण्डले स्वयमेव– दो कुण्डल अपने आप फिंक गये। 'आताम्' प्रत्यय में अङ् के परे रहते 'अस्यतेस्थुक्' (अ०– ७.४.१७) से थुक् आगम हो गया है।

भा०– अत्रापि– 'न वा कर्मण्यविधानात्कर्त्तृत्वाच्च कर्मकर्त्तुः सिद्धम्' इत्येव।।५२।।

यहाँ भी पूर्व समाधान ही समझना चाहिये। भाव यह है इस सूत्र में 'णिश्रिद्रुस्रु०' से 'कर्त्तरि' पद की अनुवृत्ति आ रही है।

'णिश्रिद्रुस्रु०' (३.१.४८) सूत्र में जो कहा गया था– वही ज्यों का त्यों कर्मकर्त्ता में अस्-धातु से अङ् को उपसंख्यान के संदर्भ में भी समझ लेना चाहिये। 'उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वा वचनम्' (का० वा० १.३.२९-३) इस वार्त्तिक से आत्मनेपदाकर्मकत्व हेतु से कर्मकर्त्ता में पूर्ववत् यक्-चिण् के प्रतिषेध होने से 'अस्यतिवक्ति०' इस प्रकृत सूत्र से ही अङ् हो जायेगा– ऐसा भाव है। कैयट ने इस भाष्य की संगति इस प्रकार लगायी है– आतिदेशिक किसी कर्मकार्य के यहाँ विहित न होने से और स्वाश्रय (कर्त्राश्रय) कार्य में किसी प्रतिबन्धक के अभाव होने से स्वाश्रय चङ् हो ही जाता है।। ५२।।

जॄस्तम्भुम्रुचुम्लुचुग्रुचुग्लुचुग्लुञ्चुश्विभ्यश्च।।३.१.५८।।

भाष्यम्– इदं ग्लुचिग्रहणं ग्लुञ्चिग्रहणं च क्रियते। अन्यतरच्छक्यमकर्त्तुम्।। कथम्? यदि तावद्ग्लुचिग्रहणं क्रियते ग्लुञ्चिग्रहणं न करिष्यते। तेनैव सिद्धं– न्यग्लुचत्, न्यग्लोचीत्। इदमिदानीं ग्लुञ्चे रूपं - न्यग्लुञ्चीत्।

अथ ग्लुञ्चिग्रहणं क्रियते ग्लुचिग्रहणं न करिष्यते, तेनैव सिद्धं– न्यग्लुचत्, न्यग्लुञ्चीत्। इदमिदानीं ग्लुचे रूपं न्यग्लोचीदिति।।५८।।

---

१. देवदत्तः कुण्डले पर्यस्यति। सौकर्यात्ते स्वयमेव पर्यास्थेतामित्यर्थः।

यहाँ 'जृस्तम्भु०' सूत्र में ग्लुचिग्रहण और ग्लुञ्चिग्रहण किया जा रहा है। इनमें से एक को हटाया जा सकता है। यदि ग्लुचि ग्रहण करते हो तो ग्लुञ्चिग्रहण नहीं करेंगे। उसी ग्लुचि से ही न्यग्लुचत् (अङ् में) और न्यग्लोचीत् (सिच् में) दो रूप सिद्ध हो जायेंगे। और ग्लुञ्चि से न्यायप्राप्त सिच् में न्यग्लुञ्चीत् ऐसा बन ही जायेगा।

और यदि प्रकृत सूत्र में ग्लुञ्चिग्रहण करते हैं, तो ग्लुचिग्रहण नहीं करेंगे। उसी से अङ् में 'अनिदितां हल०' (अ०– ६.४.२४) उपधानकार का लोप होकर न्यग्लुचत् और सिच् में न्यग्लुञ्चीत् ये दो रूप बन जायेंगे। और यह जो ग्लुचि धातु है उससे सिच् में न्यायप्राप्त न्यग्लोचीत् रूप बन जायेगा।

कोई कह सकता है 'ग्लुचु-स्तेयकरणे' (धा०भ्वादि० ११७) है और 'ग्लुञ्चु-गतौ' (धा०भ्वादि० ११८) इस रूप में दो धातुओं के होने से प्रकृत सूत्र में दोनों का ही पढना आवश्यक होगा। इसका उत्तर यह है– 'अनेकार्था अपि धातवो भवन्ति' इस प्रसिद्ध नियम के होने से उभयोपादान करने में अर्थभेद हेतु अकिञ्चित्कर है।।५८।।

चिण् ते पदः।।३.१.६०।।

भाष्यम्– अयं तशब्दोऽस्त्येवात्मनेपदम्, अस्ति परस्मैपदम्, अस्त्येवैकवचनम्, अस्ति बहुवचनम्। कस्येदं ग्रहणम्?

यह 'त' शब्द एक तो आत्मनेपद में है प्रथमपुरुष एकवचन और एक दूसरा परस्मैपद में भी है– मध्यमपुरुष बहुवचन। यहाँ किसका ग्रहण है?

भा०– यः पदेरस्ति।। कश्च पदेरस्ति? पदिरयमात्मनेपदी।।६०।।

उसी का है जो 'पद' धातु से संबन्धित है। कौन है, जो 'पद' धातु से संबन्धित? पद-धातु आत्मनेपदी है। इसलिये आत्मनेपद में प्रथमपुरुष एकवचनवाला है।।६०।।

चिण् भावकर्मणोः।।३.१.६६।।

भाष्यम्– चिणिति वर्त्तमाने पुनश्चिण् ग्रहणं किमर्थम्?

'चिण् ते पदः' (३.१.६०) से चिण् की अनुवृत्ति होते हुये भी पुनः चिण् ग्रहण किसलिये किया है?

भा०– नेत्येवं तदभूद्विध्यर्थमिदम्।।

'न रुधः' (अ०– ३.१.६४) सूत्र में आकर वह चिण् 'न' के साथ संबद्ध हो गया था। अब उस चिण् को लायेंगे तो 'न' भी साथ आयेगा। चाहते यह हैं कि यह विधान ही रहे, इसके लिये पुनः एक और चिण् ग्रहण करना पडा।

भा०– अथवा वेत्येवं तदभून्नित्यार्थमिदम्।।

निषेध तो सदैव प्राप्ति पूर्वक होता है। प्राप्ति का यहाँ अभाव होने से 'न' की अपेक्षा नहीं की जायेगी– इसके लिये दूसरा समाधान देते हैं– वह चिण् 'दीपजनबुध०' (अ०– ३.२.६१) सूत्र में 'वा' से संबद्ध हो गया था– उसको लाते तो 'वा' भी साथ आता और यह नित्यविधि चाहते हैं। इसके लिये पुन: चिण् ग्रहण करना पडा।

भा०– अथवा चिणिति वर्त्तमाने पुनश्चिण्ग्रहणस्यैतत्प्रयोजनं– 'चिणेव यथा स्याद्यदन्यत्प्राप्नोति तन्माभू' दिति।।६६।।

विकल्प भी पहिले ही 'न रुध:' निषेध के द्वारा निवृत्त होने से उसकी भी यहाँ अपेक्षा नहीं करेंगे– इसलिये एक और समाधान दे रहे हैं– अथवा चिण् की अनुवृत्ति होते हुये भी पुन: चिण् ग्रहण का यह प्रयोजन है कि भावकर्मवाची 'त' शब्द के परे रहते 'चिण्' ही हो, जो कोई अन्य कार्य प्राप्त होता है वह न हो। इस व्यवस्था के होने से 'उपाश्लेषि' यहाँ 'श्लिष आलिङ्गने' (३.१.४६) सूत्र से क्स नहीं होगा।।६६।।

सार्वधातुके यक्।।३.१.६७।।

भाष्यम्– इह पश्याम: कर्मणि द्विवचनबहुवचनान्युदाह्रियन्ते– 'पच्येते ओदनौ', 'पच्यन्ते ओदना' इति। भावे पुनरेकवचनमेव– 'आस्यते भवता, आस्यते भवद्भ्याम्, आस्यते भवद्भिरिति'। केनैतदेवं भवति?

यहाँ हम यह विचार कर रहे हैं– कर्मवाच्य में 'पच्येते ओदनौ, पच्यन्त ओदना:, इत्यादि स्थलों में द्विवचन-बहुवचन-उदाहृत होते हैं। और भाववाच्य में एकवचन ही होता है– जैसे कि 'आस्यते भवता, आस्यते भवद्भ्याम्, आस्यते भवद्भि:।' ऐसा किस हेतु से होता है?

इसका भाव यह है– यहाँ आख्यात को क्रियाप्रधान माना गया है और वह क्रिया साध्यरूप होने से निवृत्त भेदवाली, अर्थात् 'अविज्ञायमान है लिङ्गपुरुष व वचनरूप विशेष जिसमें' ऐसी हुआ करती हैं। सो अब इस परिस्थिति में 'पच्येते' इत्यादि में द्विवचनादि कैसे हो जाते हैं? जैसा कि भर्तृहरि ने भी कहा है–

निवृत्तभेदा सर्वैव क्रियाऽऽख्यायतेऽभिधीयते। श्रुतेरशक्या[1] भेदानां प्रविभागप्रकल्पना।।

अब उपर्युक्त समस्या का यदि यह समाधान किया जाता है कि साधनभेद से अर्थात् साधनभेदकृत भेद के आरोप होने से कर्तृकर्माभिधायी लकार में द्विवचन-बहुवचन हो जायेंगे तो तद्वत् भावाभिधायी में भी कर्तृरूप साधनभेद से 'भवद्भ्यामास्येते, भवद्भिरास्यन्ते' इस रूप में द्विवचन-बहुवचन प्राप्त होते हैं। और यदि यह कहा जाता है कि वहाँ कर्तृकर्माभिधायी लकार में तो शब्दशक्ति स्वभाव से 'पच्येते' इत्यादि जो एक-एक पद हैं तद्वाच्य साधन की संख्या के आश्रय से द्विवचन-बहुवचन हो जाते हैं, अर्थात् कर्तृकर्मलकार में आख्यात के द्वारा ही साधन कहा जाता है–

१. साधनादि भेदाद्भिन्नत्वेऽपि श्रुतेराख्यातशब्दात् भेदावगमरूपा प्रकल्पनाऽशक्येत्यर्थ:। आख्यातश्रवणात् क्रियाभेदो न प्रतीयते इत्यर्थ:।

इसलिये तद्गत द्वित्वादि के अभिधान के लिये द्विवचनादि युक्त हैं– भावलकार के द्वारा तो साधन नहीं कहा जाता– वहाँ तो साधन का कथन है भवद्भ्यां, भवद्भि: इत्यादि पदान्तर के द्वारा होता है, इसलिये वहाँ आस्येते-आस्यन्ते इत्यादि रूप में द्विवचनादि नहीं होंगे। यह तो ठीक है, किन्तु इस विचार के अनुसार पाकौ, पाका: इत्यादि में द्विवचन-बहुवचन नहीं प्राप्त हो सकेंगे, क्योंकि यहाँ 'घञ्' के द्वारा साधन का अभिधान हो ही नहीं रहा। सो इन सब समस्याओं को हृद्गत करके पूछा जा रहा है कि- ऐसा किस हेतु से हो रहा है?

भा०– कर्माऽनेकम्[१] तस्याऽनेकत्वाद्द्विवचनबहुवचनानि भवन्ति। भाव पुनरेक एव।।

हेतु यह है कि कर्म तो अनेक हैं, उनके अनेक होने से तदाश्रित द्विवचन-बहुवचन हो जाते हैं, किन्तु भाव (धात्वर्थ) तो एक ही है।

धात्वर्थ स्वरूप से अनेकात्मक नहीं होता– क्योंकि मूर्त्तिमान् घटादि की भाँति उसकी प्रतीति नहीं होती। इस हेतु से औत्सर्गिक एकवचन ही हो जाता है।

'कर्माऽनेकम्' का भाव यह है– कर्मशक्ति के आधार जो द्रव्य हैं, वे अनेक हैं। शक्ति और शक्तिमान् का भेद शब्द से प्रतिपादन नहीं किया जाता– इस हेतु से आख्यात के शक्त्यभिधायी होने पर भी 'ओदन: पच्यते' इत्यादि में शक्तिमद्द्रव्यवाची ओदन शब्द के साथ समानाधिकरण हो जाता है। अर्थात् कर्म में शक्ति और शक्तिमान् के अभेदोपचार होने से और शक्तिमान् का संख्या के साथ योग होने में कोई बाधा न होने से द्विवचनादि हो जाते हैं।

भा०– कथं तर्हीह द्विवचनबहुवचनानि भवन्ति– पाकौ, पाका इति?

तो फिर यहाँ– पाकौ, पाका:– इत्यादि में द्विवचन-बहुवचन कैसे हो जाते हैं? जब भाव एक है तो, एकवचन ही होना चाहिये।

भा०– आश्रयभेदात्। यदसौ द्रव्यं श्रितो भवति भावस्तस्य भेदाद् द्विवचनबहुवचनानि भवन्ति।।

आश्रयभेद से हो जाते हैं। जो यह भाव है, वह जिस द्रव्य के आश्रित होता है उसके भेद से द्विवचन-बहुवचन हो जायेंगे। आश्रय = द्रव्य, आश्रित (आश्रयी)= भाव। भाव यह है– गुड, तिल, ओदनादि आश्रयों के भेद से आश्रित जो पाक है वह भी भिन्न हो जाता है। अर्थात् आश्रयभेद से वहाँ पाकविषय में भी भेद का निश्चय कर लिया जाता है।

भाष्यम्– इहापि तर्हि यावन्तस्ते तां क्रियां कुर्वन्ति, सर्वे ते तस्या आश्रयभूता भवन्ति, तद्भेदाद् द्विवचनबहुवचनानि प्राप्नुवन्ति।।

---

१. अनेकशब्दो बह्वर्थकोऽप्येकवचनान्त एव प्रयुज्यते।

फिर तो यहाँ– भवद्भिरास्यते, भवद्भ्यामास्यते इत्यादि तिङन्त स्थलों में भी, जितने वे उस क्रिया को करते हैं, सब के सब ही तो वे उस क्रिया के आश्रयभूत होते हैं, उनके भेद से द्विवचनबहुवचन प्राप्त होते हैं?

भाष्यम्– एवं तर्हीदं तावदयं प्रष्टव्यः 'किमभिसमीक्ष्यैतत्प्रयुज्यते– पाकौ पाका इति? यदि तावत्पाकविशेषानभिसमीक्ष्य, यश्चौदनस्य पाकः, यश्च गुडस्य, यश्च तिलानां बहवस्ते शब्दाः सरूपाश्च तत्र युक्तं बहुवचनमेकशेषश्च। तिङभिहिते चाऽपि तदा भावे बहुवचनं श्रूयते।' तद्यथा– 'उष्ट्रासिका आस्यन्ते,' 'हतशायिकाः शय्यन्त' इति।

अथ कालविशेषानभिसमीक्ष्य, यश्चाद्यतनः पाकः, यश्च ह्यस्तनः यश्च श्वस्तनस्तेऽपि बहवः शब्दाः सरूपाश्च तत्र युक्तं बहुवचनमेकशेषश्च। तिङभिहिते चापि तदा भावेऽसारूप्यादेकशेषो न भवति– आसि आस्यते आसिष्यते।।

अच्छा तो इस दोषोद्भावन करने वाले से, यह बात पूछ लेनी चाहिये कि किसको लक्ष्य करके पाकौ, पाकाः यह प्रयोग किया जाता है। यदि यह मानते हो कि पाकविशेषों[१] का विचार करके उक्त प्रयोग है, तब तो कोई आपत्ति नहीं– क्योंकि जो यह ओदन का पाक और जो गुड का पाक और जो तिलों का पाक हैं, वे समानरूपवाले उपाधिभेद से भिन्न-भिन्न बहुत सारे पाक-शब्द हो गये। सो वहाँ बहुवचन और एकशेष का होना युक्त ही है। इस रूप में तो तब तिङभिहित भाव में भी बहुवचन सुनायी देता है और वह भी युक्त ही है। जैसे कि 'उष्ट्रासिका[२] आस्यन्ते' (यवनैरिति शेषः)।

हतशायिकाः[३] शय्यन्ते। अर्थात् जैसे पाकप्रकारों को लक्ष्य करके पाकौ, पाकाः द्विवचन-बहुवचनादि हो जाते हैं तद्वत् आसन या शयन प्रकारों को लक्ष्य कर तिङभिहित भाव में भी बहुवचन उपपन्न हो जायेगा।

और यदि यह कहते हो कि कालविशेषों को दृष्टिगत करके जो आज का पाक, बीते हुये कल का पाक और आनेवाले कल का पाक इस रूप में पाकौ, पाकाः इत्यादि प्रयोग हैं तो तब भी वे कालभेद से भिन्न-भिन्न समानरूपवाले अनेक पाकशब्द हो गये–

१.पचनं पाकः- भावे घञ्। आश्रयप्रकारादि भेद से भिन्न-भिन्न जो पाकविशेष हैं। अथवा पच्यन्ते इति पाकाः 'अकर्त्तरि च कारके०' (३.३.१९) यहाँ 'संज्ञायाम्' इसके प्रत्याख्यान होने से असंज्ञा में भी कर्म में घञ् हो गया। 'पक्तव्यविशेष'– ऐसा अर्थ होगा।

२. उष्ट्रकर्तृकासनसदृशानि यवनकर्त्तृकाण्यासनानीत्यर्थः। केचित्तु गोदोहः सुप्यते इतिवत् 'उष्ट्रासिका आस्यन्ते' इति कर्मणि लकार इत्याहुः। तत्तु प्रकृतभाष्याननुगुणम्। कर्मणि तत्र लकारसंभवेऽपि भावे लकारमादायैव प्रकृतभाष्यस्योपपादनीयत्वात्।

३. हतानां शायिका इव शायिका (शयनप्रकारं) येषां ते तथा।

हेतु से पूर्ववत् 'सरूपाणामेकशेष०' (अ०– १.२.६४) न्याय्य एकशेष और बहुवचन हो जायेगा। किन्तु तिङभिहित भाव में तो तब असारूप्य हेतु से एकशेष और उस एकशेष का फल बहुवचन नहीं हो पाता है। क्योंकि एक ही तिङन्त अनेककाल सम्बन्धी भाव के प्रत्यायन में समर्थ नहीं है– इस हेतु से भिन्न काल में होने वाली आसनक्रिया को बोध कराने के लिये भिन्न ही शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं। जैसे कि भूतकाल की आसनक्रिया के लिये 'आसि'[१] वर्त्तमान काल की आसनक्रिया के लिये 'आस्यते' और भविष्यत् काल की आसन क्रिया के लिये 'आसिष्यते'। हाँ, 'उष्ट्रासिका आस्यन्ते' इस भाष्यकार द्वारा प्रदत्त दिशा से जैसे वर्त्तमान आसन क्रियाओं के अनेकत्व में बहुवचन हो रहा है तद्वत् भूतकालिक आसन क्रियाओं के द्वित्व-बहुत्व में आसिषाताम्-आसिषत और भविष्यत्कालिक आसनक्रियाओं के द्वित्वबहुत्व में आसिष्येते-आसिष्यन्ते इत्यादि प्रयोग होते ही हैं। किन्तु यह बात विशेषरूप से ध्यातव्य है कि भावभेद को लेकर इस प्रकार के प्रयोग शब्दशक्तिस्वाभाव्य से क्वचित् ही होते हैं। 'भवद्भिरास्यन्ते विविधान्यासनानि'– इस कथन को भी इस रूप में न कहकर 'भवद्भिरास्यते विविधैरासनैः'– इस रूप में भी कहते हैं।

इस प्रकार भूत-भविष्यद्-वर्तमान क्रियाओं का कृदन्त 'पाक' इत्यादि के द्वारा सामान्यरूप से निर्देश संभव है जैसे कि अस्मभ्यं देवदत्तस्य पाका रुच्यन्ते किन्तु तिङन्त से ऐसा संभव नहीं है– इस रूप में कृदन्त व तिङन्तस्थल का वैषम्य प्रतिपादन करके अब भाष्यकार और भी वैषम्यान्तर प्रस्तुत करते हैं–

भाष्यम्– अस्ति खल्वपि विशेषः कृदभिहितस्य भावस्य तिङभिहितस्य च। कृदभिहितो भावो द्रव्यवद्भवति।। किमिदं 'द्रव्यव'दिति ? द्रव्यं क्रियया समवायं गच्छति।। कं समवायं गच्छति ?द्रव्यं क्रियाभिनिवृत्तौ साधनत्वमुपैति। तद्वच्चाऽस्य भावस्य कृदभिहितस्य भवति– 'पाको वर्त्तत' इति। क्रियावन्न भवति।। किमिदं 'क्रियाव'दिति ? क्रिया क्रियया समवायं न गच्छति-पचति पठतीति। तद्वच्चाऽस्य कृदभिहितस्य न भवति– 'पाको वर्त्तत' इति।।

तिङभिहित भाव का और कृदभिहित भाव का और भी भेद है– जो जानना चाहिये– कृदभिहित भाव द्रव्यवत् होता है अर्थात् द्रव्यत्वेन अभिमत जो घटादि हैं तद्वत् (यह भी लिङ्ग-संख्या-साधन-सम्बन्ध प्रतिपत्ति से युक्त) होता है। यह 'द्रव्यवत्' क्या है ? द्रव्य क्रिया के साथ समवाय (संबन्ध) को प्राप्त हो जाता है। किस संबन्ध को प्राप्त हो जाता है। द्रव्य क्रिया की अभिनिर्वृत्ति में– क्रिया को संपन्न करने में साधनत्व (साधनभाव) को प्राप्त हो जाता है। इस कृदभिहित भाव का भी तद्वत् ही अर्थात् द्रव्यवत् ही क्रिया के साधन के रूप में प्रयोग होता है। जैसे कि 'घटो वर्त्तते'–

१. आस् धातोर्लुङि त-शब्दे चिणि रूपम्, तत्र 'चिणो लुक्' (६.४.१०४) इति तशब्दस्य लुक्।

यहाँ इस विवक्षा में 'घट' 'वर्त्तते' क्रिया का साधन बन रहा है, अर्थात् घटनिष्ठ कर्तृत्व वर्त्तन क्रिया को सम्पन्न कर रहा है, तद्वत् 'पाको वर्त्तते' यहाँ 'पाक' यह भाववाची कृदन्त शब्द वर्त्तन क्रिया का साधन बन रहा है, अर्थात् पाकनिष्ठ कर्तृत्व के द्वारा वर्त्तन क्रिया संपन्न हो रही है। और यह कृदभिहित भाव क्रियावत् नहीं होता। यह 'क्रियावत्' क्या है? क्रिया, क्रिया के साथ समवाय (संबन्ध) को प्राप्त नहीं होती। जैसे 'पाचक: पठति' प्रयोग हो जाता है वैसे 'पचति पठति' प्रयोग नहीं होता। उसके (तिङन्त के) समान कृदभिहित भाव का (क्रियासमवायाऽभाव) नहीं होता– अर्थात् कृदभिहित भाव का तो क्रिया के साथ समवाय हो ही जाता है। जैसे 'पाको वर्त्तते' (पाक क्रिया हो रही है) प्रयोग होता है जबकि 'पचति वर्त्तते' इस रूप में प्रयोग नहीं होता।

यहाँ कैयट ने एक शंका उठायी कि 'भवति पचति' (पाक कर्त्तृक भवन क्रिया) यहाँ तो 'पचति' क्रिया कर्त्तृभाव से भवति क्रिया के साथ संबद्ध हो रही है और इसी प्रकार 'पश्य मृगो धावति' (मृग-कर्तृक, धावन-कर्मक दर्शन क्रिया) यहाँ धावति क्रिया, कर्मभाव से 'पश्य' क्रिया में अन्वित हो रही है। और समाधान इसका यह दिया कि 'क्रिया क्रियया समवायं न गच्छति भाष्यकार के इस कथन का यह अभिप्राय है कि; क्रिया, कर्त्तृकर्मभाव से तो क्रिया के साथ समवाय को प्राप्त हो सकती है, करणादिरूप से समवाय को प्राप्त नहीं होती। शिवरामेन्द्र सरस्वती कैयट के उपयुक्त कथन का खण्डन करते हुये कहता है– 'क्रिया क्रियया समवायं न गच्छति'– इस भाष्यवचन को 'करणादिरूपेण समवायं न गच्छति'– इस रूप में संकुचित करने में कोई प्रमाण नहीं है। शिवरामेन्द्र सरस्वती का कहना है– 'भवति पचति' यहाँ तो, जिस प्रकार 'द्वावपूपावानय' इत्यादि प्रयोगों में अपूपौ के द्वारा कह दी गयी द्वित्संख्या का ही 'द्वौ' के द्वारा अनुवाद मात्र किया जाता है, तद्वत् 'पचति' के द्वारा उक्त हुये भवनकर्त्तृत्व का भवति के द्वारा अनुवादमात्र है– इसलिये तिङर्थ की धात्वर्थ में कर्त्तृत्वेन अन्वय की कोई बात ही नहीं है। उनका यह मानना है कि सर्वत्र तिङन्तस्थल में धात्वर्थ का प्राधान्य मानने के कारण ही कैयट या भर्तृहरि ने भी इस प्रकार की गडबड की है। वह बार-बार इस बात को दोहराते हैं कि तिङन्त में तिङर्थ की ही प्रधानता है न कि धात्वर्थ की। 'पश्य मृगो धावति'– यहाँ के लिये उनका कहना है कि, जैसे 'घटोऽस्तिआनय'- यहाँ 'तम्' पद का अध्याहार करके अर्थ को पूरा किया जाता है तद्वत् 'पश्य मृगो-----' इस में भी वाक्यभेद स्वीकार करना ही उचित है।

भाष्यम्– अस्ति खल्वपि विशेष: कृदभिहितस्य भावस्य, तिङभिहितस्य च। तिङभिहितेन भावेन कालपुरुषोपग्रहा अभिव्यज्यन्ते, कृदभिहितेन पुनर्न व्यज्यन्ते।

कृदभिहित भाव और तिङभिहित भाव का एक और भी भेद (वैषम्य) है– तिङभिहित भाव के द्वारा भूत-भविष्यत्-वर्तमान रूप काल; प्रथम, मध्यम और उत्तम पुरुष और उपग्रह व्यक्त होते हैं। जैसे कि 'यजते यजमान:' इत्यादि में प्रधान जो क्रियाफल स्वर्गादि हैं, उनके कर्त्तृगामित्व की प्रतीति होने से स्वार्थता आत्मनेपद

से प्रतीत होती है, 'पचन्ति भक्तकरा:, यजन्ति याजका:' इत्यादि में भक्तकरादि को भृतिमात्र फल मिलने से स्पष्ट ही प्रधानफल कर्तृगामी नहीं है इस रूप में परस्मैपद से परार्थता अभिव्यक्त होती है, इसी प्रकार कर्मादि साधन पच्यते, गम्यते इत्यादि में आत्मनेपद के द्वारा व्यङ्ग्य हैं। एधते याति इत्यादि में कर्ता अर्थ लादेशव्यङ्ग्य है। आस्यते-शय्यते में भाव आत्मनेपद अभिव्यङ्ग्य है। व्यक्तवाक्त्व कर्तृविशेषण होते हुये भी आत्मनेपदव्यङ्ग्य है (संप्रवदन्ते ब्राह्मणा:) गन्धनादि क्रियाविशेष धातुवाच्य होते हुये भी आत्मनेपद के विना अनभिव्यक्त हैं इसलिये वे भी उपग्रहशब्द वाच्य हैं– उत्कुरुते, अवकुरुते। व्यतिहार तो क्रियाविशेषण है, जो कि आत्मनेपदाभिव्यङ्ग्य है– व्यतिलुनते, व्यतिपुनते। इस प्रकार तिङभिहित भाव के द्वारा ये सब विषय अभिव्यक्त होते हैं, जबकि कृदभिहित भाव के द्वारा व्यक्त नहीं होते हैं।

भाष्यम्– अस्ति खल्वपि विशेष: कृदभिहितस्य भावस्य, तिङभिहितस्य च। तिङभिहितो भाव: कर्त्रा संप्रयुज्यते, कृदभिहित: पुनर्न संप्रयुज्यते। यावता किंचिच्च सामान्यं कश्चिच्च विशेषो युक्तं यदयमपि विशेष: स्याल्लिङ्गकृत: संख्याकृतश्चेति।।

कृदभिहित भाव और तिङभिहित भाव का एक और भी विशेष (भेद) है– तिङभिहित भाव (तिङन्तवाच्य भाव) सदा ही कर्त्ता के साथ संयुक्त होता है– नियम से कर्त्ता की आकांक्षा रखता है। कृदभिहित भाव को नियम से कर्त्ता की आकांक्षा नहीं होती। क्योंकि 'पाक:, राग:' इतना कहने पर नियम से 'किसका?' (कस्य) यह आकाङ्क्षा नहीं दिखायी देती। और न ही नियम से उसका प्रयोग ही देखा जाता है। नागेश का कहना है यही ध्वनित करने के लिये 'सम्प्रयुज्यते' इसमें 'सम्' और 'प्र' दो उपसर्गों का ग्रहण किया है। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने 'कर्त्रा संप्रयुज्यते' का अर्थ किया है– कर्त्रा-परमप्राधान्येन विशेष्यनैराकांक्ष्येणेति यावत्। कृदभिहित: भाव: पुनर्न संप्रयुज्यते– 'पाको वर्त्तते' इत्यादौ विशेष्यान्वयदर्शनादिति शेष:। उनका भाव यह है कि– तिङभिहित भाव कर्त्ता के साथ परमप्रधानता से किसी विशेष्य की आकाङ्क्षा से रहित ही संप्रयुक्त होता है, जबकि कृदभिहित भाव का उस रूप में प्रयोग नहीं होता। 'पाको वर्त्तते' इत्यादि में स्पष्ट ही 'वर्त्तते' इस विशेष्य में 'पाक:' का अन्वय देखा जाता है– जबकि 'पचति' इत्यादि को किसी भी विशेष्य की आकांक्षा नहीं है।

जबकि दोनों में ही भावो में कुछ सामान्य है और कुछ विशेष। अर्थात् क्रियात्व तो चाहे तिङभिहित भाव हो या कृदभिहित दोनों जगह सामान्य है और साध्यत्व सिद्धत्वकृत पूर्वोक्त विशेष भी देखा जाता है। सो उस विशेष के साथ यह भी एक और विशेष समझ लेना चाहिये कि तिङर्थभाव की लिङ्गकृत अयोग्यता तथा बाह्यसाधनकृतसंख्यादि की अयोग्यता है और कृदर्थ भाव की लिङ्गकृत और संख्याकृत योग्यता है। इस प्रकार 'भवद्भिरास्यते' और पाकौ-पाका: इन दोनों भावों के साम्य और वैषम्य को लेकर यह विचार पूरा हुआ।

भाष्यम्– इदं विचार्यते– भावकर्मकर्त्तार: सार्वधातुकार्था वा स्युर्विकरणार्था वेति? कथं च सार्वधातुकार्था स्यु: कथं वा विकरणार्था:? 'भावकर्मवाचिनि सार्वधातुके यग्भवति, कर्त्तृवाचिनि सार्वधातुके शब्भवती'ति सार्वधातुकार्था:। 'भावकर्मणोर्यग्भवति सार्वधातुके 'कर्त्तरि शब्भवति सार्वधातुक' इति विकरणार्था:।।

(अब) यह विचार किया जाता है; भाव-कर्म-कर्त्ता रूप अर्थों को सार्वधातुक[१] का अर्थ होना चाहिये या विकरण का। पहिले हमें यह बताओं कि किस प्रकार तो ये सार्वधातुकार्थ होंगे और किस प्रकार विकरणार्थ? यदि 'सार्वधातुके यक्' (अ०–३.१.६७) 'कर्त्तरि शप्' (अ०– ३.१.६८) इत्यादि सूत्रों का यह अर्थ किया जाता है कि भावकर्मवाची सार्वधातुक परे रहते धातु से यक् होता है, कर्त्तृवाची सार्वधातुक परे रहते शप् होता है, तब तो सार्वधातुकार्थ ठहरते हैं। और यदि उन सूत्रों का अर्थ इस रूप में किया जाता है कि सार्वधातुक परे रहते धातु से भाव व कर्म में यक् होता है, सार्वधातुक परे रहते कर्त्ता में शप् होता है, तो फिर वे विकरणार्थ होते हैं।

भा०– कश्चात्र विशेष:?

यहाँ इन दोनों पक्षों में क्या भेद है?

वा०– ✲ भावकर्मकर्त्तार: सार्वधातुकार्थाश्चेदेकद्विबहुषु नियमानुपपत्तिरतदर्थत्वात्[२] ।।१।। ✲

भाष्यम्– भावकर्मकर्त्तार: सार्वधातुकार्थाश्चेदेकद्विबहुषु नियमस्यानुपपत्ति:।। किं कारणम्? 'अतदर्थत्त्वात्'। न हि तदानीमेकत्वादय एव विभक्त्यर्था:।। किं तर्हि? भावकर्मकर्तारोऽपि।।

भाव-कर्म-कर्त्ता यदि सार्वधातुकार्थ है' तो 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' व 'बहुषु बहुवचनम्' (अ०– १.४.२२,२१) इत्यादि सूत्रों में जो वहाँ 'एकत्व एकवचनं नार्थान्तरे, द्वित्व एव द्विवचनं नार्थान्तरे बहुत्व एव बहुवचनं एव बहुवचनं नार्थान्तरे'– इस रूप में प्रत्ययनियम किया गया है, वह उपपन्न नहीं होगा। क्या कारण है– क्यों उपपन्न नहीं होगा? वही 'मात्र' अर्थ के अभाव होने से। क्योंकि इस व्यवस्था में तिङ्रूप विभक्ति के अर्थ केवल एकत्वादि ही नहीं रहते। और क्या? भाव-कर्म-कर्त्ता भी साथ में संयुक्त रहते हैं।

भा०– सन्तु तर्हि विकरणार्था:।।

अच्छा तो ये विकरणों के अर्थ हैं।

---

१. यहाँ सार्वधातुक पद तिङ् का उपलक्षक है।

२. सामर्थ्यादत्रावधारणमाश्रीयते– न तानि (एकत्वादीनि) एवाऽर्थो यस्य (अपि तु कर्त्रादयोऽपीत्यर्थ:) तन्मात्रार्थत्वाभावादित्यर्थ इति तात्पर्यम्।

वा० – ※ विकरणार्था इति चेत्कृता[1]ऽभिहिते विकरणाऽभावः।।२।। ※

भा० – विकरणार्था इति चेत्कृताऽभिहिते विकरणो न प्राप्नोति- धारयः पारय इति।।

यदि भाव-कर्म-कर्त्ता इन अर्थों को विकरणों का अर्थ मान लेते हैं तो कृत् प्रत्यय के द्वारा 'कर्त्ता' आदि अर्थ कह दिये जाने पर विकरण नहीं प्राप्त होगा। जैसे कि; धारयतीति धारयः, पारयतीति पारयः, यहाँ धारि-पारि ण्यन्त धातुओं से 'श'[2] प्रत्यय करने पर– अब कृत्संज्ञक इस 'श' के ही द्वारा कर्त्तृत्व अर्थ के कह दिये जाने से तदभिधायी विकरण नहीं प्राप्त होगा। फिर विकरण शप् के न होने पर धारि-पारि को गुण नहीं हो सकेगा। क्योंकि 'श' तो 'सार्वधातुकमपित्' (अ० – १.२.४) से ङित्वत् है। पुनः 'धारि' को इयङ् होकर 'धारियः' ऐसा अनिष्ट रूप बनने लगेगा।

इसका भाव यह है– कृत्प्रत्ययों के परे रहते क्वचित् ही विकरण विधान किया गया है न कि सर्वत्र– इस हेतु से जब विकरण न हो कृत् ही हो तब कृत् का ही 'कर्तरि कृत्' (अ० – ३.४.६७) कर्त्ता-अर्थ निर्दिष्ट है– यह मानना पडेगा। और जब वैसा माना जायेगा तो कृत् के द्वारा ही कर्त्ता– अर्थ के कह दिये जाने से कर्त्ता-अर्थ का अभिधायक विकरण नहीं प्राप्त हो सकेगा।

भा० – किमुच्यते 'कृताभिहित' इति न लेनाऽप्यभिधानं भवति?

सार्वधातुकार्थवादी का पक्षधर सार्वधातुकार्थवादी को अपना सुझाव देता है 'कृताऽभिहिते' की भाँति 'लःकर्मणि च०' (अ० – ३.४.६६) इस वचन से लादेशों (तिङो) के द्वारा भी तो कर्त्तादि का अभिधान होता है– सो लादेशों के द्वारा कर्त्तादि के अभिहित हो जाने पर विकरणाऽप्राप्ति रूप दोष तो वहाँ भी रहेगा।' और तब 'लः कर्मणि०' इस वचन के कारण कर्त्तादि का विकरणार्थत्व संभव ही नहीं है, वे तो फिर स्पष्ट ही लादेशों (तिङो = सार्वधातुक) के ही अर्थ ठहरते हैं।

भा० – अशक्यं लेनाऽभिधानमाश्रयितुम्। पक्षान्तरमिदमास्थितं[3] 'भावकर्मकर्त्तारः सार्वधातुकार्था वा स्युर्विकरणार्था वे'ति, यदि च लेनाऽप्यभिधानं स्यान्नेदं पक्षान्तरं स्यात्।।

---

१. 'कर्त्तरि कृत्' (अ० – ३.४.६७) इत्युक्तत्वात् कृता कर्तुरभिधानं भवति।

२. 'अनुपसर्गाल्लिम्पविन्द०' इत्यनेन।

३. आस्थितम् = प्रतिज्ञातम्।

विकरणार्थवादी उत्तर देता है– 'ल' के द्वारा (लादेशों के द्वारा) कर्त्तादि के अभिधान का आश्रय करना अशक्य है, संभव नहीं है। क्योंकि इस चर्चा के प्रारम्भ में ही इसे एक पक्षान्तर (भिन्न पक्ष) मान लिया गया कि भाव-कर्म-कर्त्ता सार्वधातुक के अर्थ हैं या विकरण के अर्थ हैं। और यदि 'ल्' के द्वारा ही कर्तादि का अभिधान मानते हुए इस कथन को हेतु रूप में उपस्थित कर दिया जाये तब तो पक्षान्तर (भिन्न-पक्ष) का विचार ही नहीं उठेगा। क्योंकि यह तो प्रतिज्ञा को ही हेतु के रूप में उपस्थापित कर दिया गया। इसलिये आप (सार्वधातुकार्थवादी) 'लेनाप्यभिधानं भवति' ऐसा कहकर मेरे (विकरणार्थवादी के) पक्ष का खण्डन नहीं कर सकते।

भाष्यम्– कथमशक्यं, यदा भवानेवाह– 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' (अ०– ३.४.६६) इति?

सार्वधातुकार्थवादी कहता है– अशक्य कैसे है, पक्षान्तर भले ही न बने तो भी 'ल्' के द्वारा कर्त्तादि का अभिधान आश्रयण करना तो अशक्य नहीं है। जबकि भगवान् पाणिनि तो कह रहे हैं– 'लः कर्मणि च भावे०' अर्थात् सकर्मक धातुओं से लकार कर्म में और कर्त्ता में होते हैं और अकर्मक धातुओं से भाव में और कर्त्ता में। इस प्रकार 'लः कर्मणि०' इस वचन (शब्दप्रमाण) के रहते कर्तादि का विकरणार्थत्व संभव नहीं है। इसीलिये आगे कहा जायेगा कि आशीर्लिङ् और लिट् में, जहाँ विकरण नहीं होता– वहाँ भी कर्त्तादि अर्थों का बोध होता है।

भा०–एवं वक्ष्यामि– 'लः कर्मणो भावाच्चाऽकर्मकेभ्य' इति।।

विकरणार्थवादी कहता है– उस सूत्र का तो ऐसा व्याख्यान करेंगे; कर्मणि, भावे और कर्त्तरि इन पदों में पञ्चम्यर्थ में सप्तमी स्वीकार कर, ये पद तद्वाच्य विकरण के लक्षक होंगे– इस प्रकार सूत्रार्थ होगा– सकर्मक धातुओं से कर्म व कर्तृवाचक विकरण से परे लकार साधु होते हैं। इस व्यवस्था में 'सार्वधातुके यक्' 'कर्त्तरि शप्' इत्यादि विकरणविधायक सूत्रों में 'सार्वधातुके' 'कर्त्तरि आदि पदों में विषयसप्तमी जाननी होगी। और वैसा समझने पर 'लः कर्मणि च०' इस सूत्र की प्रवृत्ति के बाद ही लादेश होने पर भी' कोई दोष नहीं होगा।

भा०– यस्मिंस्तर्हि ले विकरणा न श्रूयन्ते कस्तत्र भावकर्मकर्तृनभिधास्यति? क्व च न श्रूयन्ते? य एते लुग्विकरणाः श्लुविकरणाश्च।।

सार्वधातुकार्थवादी कहता है– अच्छा, जिस लकार में विकरण सुनायी नहीं पडते, उपर्युक्त सूत्रार्थ के अनुसार वहाँ कौन भाव-कर्म व कर्त्ता अर्थों को कहेगा? कहाँ नहीं सुनायी पडते? जो ये लुग्विकरण, श्लुविकरण हैं।

भा०– अत्राप्युक्ते कर्त्तृत्वे लुग्भविष्यति।।

विकरणार्थवादी का कहना है– यहाँ भी कर्त्तृत्व के उक्त होने पर लुक् (या श्लु) हो जायेगा। और फिर 'य: शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी' इस न्याय के अनुसार प्रकृति ही कर्त्ता अर्थ कहने वाली हो जायेगी।

भा०– यस्मिंस्तर्हि ले विकरणा नैवोत्पद्यन्ते कस्तत्र भावकर्मकर्त्तृनभिधास्यति? क्व च नैवोत्पद्यन्ते? लिङ्लिटो:। तस्मान्नैतच्छक्यं वक्तुं 'न लेनाप्यभिधानं भवती'ति। भवति चेदभिहिते विकरणाभाव इत्येव।।

सार्वधातुकार्थवादी कहता है– फिर भी वह पक्ष नहीं बनेगा। क्योंकि जिस लकार में विकरण उत्पन्न ही नहीं होते– आपके मतानुसार वहाँ कौन भाव-कर्म-कर्त्ता को कहेगा। कहाँ उत्पन्न नहीं होते? लिङ् और लिट् में। अन्त में अपने साधित अर्थ का उपसंहार करता हुआ कहता है– इसलिये ऐसा कहना संभव नहीं है कि 'ल: कर्मणो भावाच्चाऽकर्मकेभ्य:' इस रूप में उस सूत्र का व्याख्यान कर लेंगे। अर्थात् इसे हटा नहीं सकते कि 'ल्' के द्वारा कर्त्ता आदि अर्थों का अभिधान होता है। और जब 'ल्' के द्वारा अभिधान होता है तो विकरणार्थत्व पक्ष में, अभिहित हुये कर्त्तादि को कहने में विकरणों की प्राप्ति न होने पर विकरणविधायक शास्त्र की व्यर्थता हो जायेगी। इस प्रकार यही निश्चित होता है कि विकरणार्थ पक्ष अनुपपन्न ही है।

भा०– एवं तर्हीदं स्यात्– यदा भावकर्मणोर्लस्तदा कर्त्तरि विकरणा:, यदा कर्त्तरि लस्तदा भावकर्मणोर्विकरणा:।।

विकरणार्थवादी पलायन करता हुआ भी शङ्का करता है– ठीक है, 'ल: कर्मणि०' सूत्र का अर्थ तो वही रखते हैं जो आपको अभिमत है, किन्तु फिर भी 'भावादि विकरणार्थ हैं' यह पक्ष संभव है– ऐसा हो सकता है कि जब भाव व कर्म में लकार होगा तो कर्त्ता में विकरण हो जायेंगे और जब कर्त्ता में लकार होगा तो भाव-कर्म में विकरण हो जायेंगे। जैसे कि 'देवदत्तो ग्रामं गच्छति' यहाँ गमिक्रिया के कर्त्ता-कर्म साधन हैं। सो वहाँ कर्त्ता में लकार हो जाता है और कर्म में द्वितीया– वैसे ही यहाँ भी एक अर्थ में 'ल्' = लादेश (तिङ् = सार्वधातुक) और दूसरे अर्थ में विकरण हो जायेगा।

भाष्यम्– इदमस्य[१] यद्येव स्वाभाविकमथापि वाचनिकं 'प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्यार्थं सह ब्रूत' इति न चास्ति संभवो यदेकस्या: प्रकृतेर्द्वयोर्नानार्थयोर्युगपदनुसहायीभाव: स्यात्। एवं च कृत्वैकपक्षी[२] भूतमेवेदं भवति– 'सार्वधातुकार्था एवे'ति।।

---

१. इदं शब्देन 'प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूत: इत्यस्य परामर्श:। अस्य = आचार्यस्य। स्वाभाविकं = लोकव्युत्पत्तिसिद्धम्। वाचनिकं = व्याकरणान्तर इव। प्रत्ययार्थं सह = प्रतीयमानार्थं सह। ब्रूत: = एकोपस्थितिविषयीकुरुत:। लोके तथैव व्युत्पत्तेरिति भाव:।'

२. पूर्वं विकरणार्थ: कश्चित्, कश्चिच्च सार्वधातुकार्थ इति पक्षभेद उक्त:। अनेकपक्ष एकपक्ष: संपन्न इति च्विनिर्देश:।

देखो! आचार्य का जो यह नियम है– 'प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूत:'– प्रकृति, प्रत्यय मिलकर प्रत्यय के अर्थ को एक साथ कहते हैं, चाहे तो इसे स्वाभाविक मानें या वाचनिक। यह कदापि संभव नहीं हो पायेगा कि एक प्रकृति के संबन्धी दो भिन्न अर्थवाले प्रत्ययों का एक साथ अनुसहायीभाव हो जाये। अर्थात् उक्त विधा से विकरण और सार्वधातुक का भिन्नार्थत्व होने पर सह वचन का भङ्ग उपस्थित होने से यह प्रकार भी युक्त नहीं है। इस हेतु से 'कर्मादि सार्वधातुकार्थ हैं' यह एक पक्ष ही स्थित रहता है।

इसका भाव यह है– जहाँ कर्त्ता व कर्म रूप साधन दो भिन्न पदों के वाच्यभूत हैं वहाँ तो विरोधाभाव होने से तदाश्रित कार्यभेद की युक्तता समझ ली जायेगी। किन्तु एकपद में ही विरूद्ध अर्थवाले विकरण और सार्वधातुक का प्रकृति के विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन करने में सहायत्व न होने से अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय का परस्पर अनुपकार होने से अप्रयोग ही होने लगेगा। जैसा कि 'पचति' के द्वारा क्रियाविशिष्ट कर्त्ता कहा जाता है, और 'पच्यते' के द्वारा क्रियाविशिष्ट कर्म। पर एक ही धातु के द्वारा क्रियाविशिष्ट दोनों साधनों का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता।

और भी देखिये– 'पचन्-पचमान:' इत्यादि में प्रत्ययार्थ प्रधान है– इस सामान्यनियम से दोनों भी प्रत्ययार्थों का प्राधान्य होने पर, एक प्रत्ययार्थ में विशेषणतया अन्वित प्रकृति का दूसरे प्रत्ययार्थ में वैसा संबन्ध व्युत्पत्तिविरुद्ध है और यह कहें कि प्रकृति के अर्थ से अनालिङ्गित ही प्रत्ययार्थ का भान होता रहेगा– यह भी व्युत्पत्तिविरुद्ध ही है, इसलिये यह पक्ष असंगत है।

भाष्यम्– ननु चोक्तं– 'भावकर्मकर्त्तार: सार्वधातुकार्थाश्चेदेकद्विबहुषु नियमानुपपत्तिरतदर्थत्वा'दिति ?

क्यों जी! भाव-कर्म-कर्त्ता को सार्वधातुकार्थ मानने पर अभी एक समस्या रखी तो थी कि; 'द्व्येकयो:०', 'बहुषु बहुवचनम्'– उन सूत्रों में, एकवचन-द्विवचन-बहुवचनसंज्ञक जो तिप्-तस्-झि आदि प्रत्यय हैं, उनका नियम नहीं बन पायेगा, क्योंकि अब इस समय कर्त्तादि भी उन प्रत्ययों के अर्थ हैं, जबकि नियम ऐसा है कि एकत्व में ही एकवचन, द्वित्व में ही द्विवचन और बहुत्व में ही बहुवचन होता है, यहाँ एकत्वादि के साथ कर्त्तादि अर्थों के भी विद्यमान होने से एकवचन-द्विवचन-बहुवचन के विधान होने में प्रतिबन्ध लग जायेगा।

भा०– नैष दोष:।

नहीं! यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि–

वा०– ※ सुपां कर्मादयोऽप्यर्था: संख्या चैव तथा तिङाम्।। ※

भा०– सुपां तिङां च संख्या चैवार्थ: कर्मादयश्च।

वा०– ※ प्रसिद्धो नियमस्तत्र[1]।। ※

भा०– प्रसिद्धस्तत्र नियमः।

वा०– ※ नियमः प्रकृतेषु वा।। ※

भा०– अथवा प्रकृतानर्थानपेक्ष्य नियमः।। के च प्रकृताः? एकत्वादयः। 'एकस्मिनेवैकवचनं, न द्वयोर्न बहुषु'। 'द्वयोरेव द्विवचनं नैकस्मिन्न बहुषु'। 'बहुष्वेव बहुवचनं, नैकस्मिन्न द्वयो'रिति।।

(अनभिहिताधिकार के प्रत्याख्यान कर दिये जाने से) सुप् और तिङ् दोनों के ही संख्या (एकत्व-द्वित्व-बहुत्व) अर्थ भी होता है और कर्मादि भी। सुपों के कर्त्ता-कर्म-करण-संप्रदान-अपादान इत्यादि और तिङो के कर्त्ता-कर्म व भाव।

सो उस स्थिति में अर्थ नियम प्रसिद्ध है। इसमें हेतु यही है कि अर्थनियम का उपपादन करना सहज है और यह सुबोध भी है। क्योंकि जब सुप् और तिङों के दो अर्थ दिखायी दे रहे हैं तो प्रत्ययनियम तो अपने आप ही संभव नहीं। अर्थ नियम मानने पर, उन सूत्रों का अर्थ होगा– एकत्व एकवचनमेव, द्वित्वे द्विवचनमेव-बहुत्वे बहुवचनमेव / अर्थनियम में एकत्वादि अर्थ का नियमन किया जा रहा है, न कि प्रत्यय का, एकत्वादि अर्थ एकवचनादि प्रत्यय से अन्यत्र नहीं जायेंगे। एकत्वादि अर्थ एकवचनादि संज्ञकप्रत्यय के साथ बन्ध गये। एकवचनादि प्रत्यय तो खुले हैं, वे मात्र एकत्वादि अर्थ के साथ ही प्रतिबद्ध नहीं हैं। अतः एकत्वादि के साथ कर्मादि अर्थ भी भले ही रहें तो भी वे एकवचनादिसंज्ञक प्रत्यय हो ही जायेंगे।

अथवा प्रत्ययनियम माने, तो भी उक्त दोष नहीं है। क्योंकि जहाँ कहीं भी नियम होता है, वहाँ नियम के द्वारा तुल्यजातीय की व्यावृत्ति होती है। किन्तु व्याप्ति न्याय को लक्ष्य कर तुल्यजातीयत्व देखेंगे तो हमारा इष्ट सिद्ध नहीं होगा। दोष देने वाले ने यही तो किया 'एकत्व एकवचनं नार्थान्तरे' इस रूप में नियम के व्यावर्त्त्य को बहुत व्यापक कर दिया। हम प्रत्यासत्तिन्याय से केवल प्रकृत अर्थों की अपेक्षा करके नियम करेंगे। यदि यह पूछते हो– कौन हैं प्रकृत अर्थ? तो यहाँ तो एकत्वादि ही प्रकृत अर्थ हैं। एकत्व में ही एकवचन होता है न द्वित्व में और न बहुत्व में। इस नियम से द्वित्व और बहुत्व संख्यान्तर को ही व्यावृत्त किया जायेगा न कि कर्मादि अर्थों को। इसी प्रकार द्वित्व में ही द्विवचन होता है न एकत्व में और न बहुत्व में तथा बहुत्व में ही बहुवचन होता है न एकत्व में और न द्वित्व में। और जो यहाँ तुल्यजातीय संख्यामात्र को ही नियम से व्यावृत्त किया जा रहा है, उसमें तिङो का कर्मादिरूप अर्थ का विधान करना ही कारण है। यदि ऐसा नहीं करेंगे तो तिङो के जो कर्मादि रूप अर्थ का विधान किया है, उसका करना ही व्यर्थ हो जायेगा। सो कर्माद्यर्थविधान सामर्थ्य से यह प्रत्ययनियम सामान्यापेक्ष न होकर विशेषापेक्ष होगा।

१. तत्र = तथा सति।

वा०– ※ भावकर्मणोर्यग्विधाने कर्मकर्त्तर्युपसंख्यानम्।।३।। ※

भा०– भावकर्मणोर्यग्विधाने कर्मकर्त्तर्युपसंख्यानं कर्त्तव्यम्। पच्यते ओदनः स्वयमेव। पठ्यते विद्या स्वयमेव।। किं पुनः कारणं न सिद्ध्यति?

वा०– ※ विप्रतिषेधाद्धि शपो बलीयस्त्वम्।।४।। ※

भाष्यम्– विप्रतिषेधाद्धि शपो बलीयस्त्वं प्राप्नोति। शपोऽवकाशः– पचति, पठति। यकोऽवकाशः- पच्यते ओदनो देवदत्तेन, पठ्यते विद्या देवदत्तेन। इहोभयं प्राप्नोति-पच्यते ओदनः स्वयमेव, पठ्यते विद्या स्वयमेव। परत्वाच्छप्प्राप्नोति।।

(वा०- ३,४)– भावकर्मवाची सार्वधातुक परे रहते जो यक् विधान है, उसका कर्मकर्त्ता में उपसंख्यान करना चाहिये। (क्योंकि) विप्रतिषेध से 'शप्' का बलीयस्त्व प्राप्त होता है।

(भाष्य)– भाव व कर्म में आया हुआ सार्वधातुक, उसके परे रहते जो यक् का विधान है, वहाँ कर्मकर्त्ता में भी उपसंख्यान करना चाहिये। पच्यते ओदनः स्वयमेव, पठ्यते विद्या स्वयमेव।

क्या कारण है, जो सिद्ध नहीं हो रहा? विप्रतिषेध से शप् का बलीयस्त्व प्राप्त होता है। शप् का अवकाश है– पचति, पठति। यक् का अवकाश है– पच्यत ओदनो देवदत्तेन, पठ्यते विद्या देवदत्तेन। यहाँ दोनों प्राप्त होते हैं– पच्यत ओदनः स्वयमेव, पठ्यते विद्या स्वयमेव। परत्व से शप् प्राप्त होता है।

'कर्मवत्कर्मणा०' (अ०– ३.१.८७) से कर्मत्व का व्यपदेश हो जाने पर भी स्वाश्रय कार्य का बोध होने से परत्व से कर्त्राश्रय 'शप्' प्राप्त होता है, इसके लिये यह वचन है। फिर तो अतिदेश करना अचरितार्थ ही हो जायेगा– यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि आत्मनेपदादि अन्य कार्यों से उसकी सार्थकता है। अतिदेश सूत्रों के विषय में शास्त्रातिदेशपक्ष स्वीकार करें या 'कार्यातिदेश, अतिदिश्यमान कार्यों का उत्पत्ति देश ही देश होता है– ऐसा प्रत्ययलक्षण सूत्र में ध्वनित हुआ है।' तदनुसार परत्व से यक् की अपेक्षा शप् बलवान् है।

वा०– ※ योगविभागात्सिद्धम्।।५।। ※

भाष्यम्– योगविभागः करिष्यते। 'चिण्भावकर्मणोः'। ततः 'सार्वधातुके यक्'। सार्वधातुके यग्भावकर्मणोः। ततः 'कर्त्तरि'। कर्त्तरि च यग्भवति भावकर्मणोः।।

योगविभाग कर लेंगे। पहले 'चिण् भावकर्मणोः' सूत्र है। उसके पश्चात् 'सार्वधातुके यक्' इसमें 'भावकर्मणोः' की अनुवृत्ति आ रही है। फिर 'कर्त्तरि शप्' सूत्र है; उसके दो भाग कर लेंगे। एक 'कर्त्तरि', जिसमें ऊपर से 'भावकर्मणोः' और 'यक्' की अनुवृत्ति लायेंगे, अर्थ होगा– भावकर्त्ता और कर्मकर्त्ता में भी यक् होता है।

भा०– यद्येवं तर्हि कर्मणि कर्त्तरि यग्भवत्येवं भावे कर्त्तरि प्राप्नोति 'एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि[१]'। नाऽस्य किञ्चिद्रुजति रोग इति[२]।।

इस व्यवस्था में एक समस्या उत्पन्न हो जायेगी जैसे कर्मकर्त्ता में यक् होता है वैसे ही जहाँ भाव-कर्त्ता मिलेगा वहाँ भी 'यक्' होने लगेगा। जैसे कि 'एति जीवन्तम्०' इस वाक्य में 'एति' क्रिया का 'आनन्द' भाववाची कर्त्ता है– सो 'एति' रूप न बनकर 'ईयते' बनने लगेगा, और इसी प्रकार 'नास्य किंचिद्०' इस वाक्य में 'रुजति' क्रिया का 'रोग' भाव-कर्त्ता है– यहाँ भी रुजति के स्थान पर 'रुज्यते' बनने लगेगा। जो कि अनिष्ट हैं।

भा०– द्वितीयो योगविभागः करिष्यते। 'चिण्भावे'। ततः 'कर्मणि'। कर्मणि च चिण्भवतीति। ततः 'सार्वधातुके यक्'। सार्वधातुके यक् भवति भावे च कर्मणि च। ततः 'कर्त्तरि'। कर्त्तरि च यग्भवति। 'कर्मणी'त्यनुवर्त्तते, 'भाव' इति निवृत्तम्। ततः 'शप्'। शप् च भवति 'कर्त्तरी'त्येव। 'कर्मणी'त्यपि निवृत्तम्।।

दूसरा, एक और योगविभाग कर लेंगे। 'चिण् भावकर्मणोः' इस सूत्र में 'भावकर्मणोः' पद को विभक्त करके दो वाक्य बनायेंगे। लुङ् लकार में भाववाची 'त' शब्द परे रहते चिण् होता है और कर्मवाची 'त' शब्द परे रहते भी चिण् होता है। उसके बाद 'सार्वधातुके यक्' (अ०– ३.१.६६) सूत्र में ऊपर से भावे और कर्मणि दोनों पदों की अनुवृत्ति लायेंगे– भाववाची व कर्मवाची सार्वधातुक परे रहते यक् होता है। उसके पश्चात् 'कर्त्तरि शप्' का विभाग करके 'कर्त्तरि' सूत्र में 'कर्मणि' और 'यक्' की अनुवृत्ति लायेंगे, भावे को निवृत्त कर देंगे[३]। फिर 'शप्' इस सूत्र में 'कर्त्तरि' की अनुवृत्ति लायेंगे 'कर्मणि' को निवृत्त कर देंगे[४]।

भा०– एवमप्युपसंख्यानं कर्त्तव्यम्।

फिर भी (कर्मकर्त्ता में) उपसंख्यान करना ही चाहिये–

भा०- (वा०– ✻ विप्रतिषेधाद्धि श्यनो बलीयस्त्वम्[५]।। ✻)

विप्रतिषेधाद्धि श्यनो बलीयस्त्वं प्राप्नोति। श्यनोऽवकाशः– दीव्यति, सीव्याति। यकोऽवकाशः– पच्यत ओदनो देवदत्तेन, पठ्यते विद्या देवदत्तेन। इहोभयं प्राप्नोति–दीव्यते स्वयमेव, सीव्यते स्वयमेव। परतवाच्छ्यन् प्राप्नोति।।

---

१. सौ वर्ष से आगे तक भी जीते हुये मनुष्य को आनन्द प्राप्त होता है।

२. 'रोग' इस व्यक्ति को कुछ भी कष्ट नहीं दे रहा। 'रूजार्थानां०' (२.३.५४) सूत्र से 'अस्य' यहाँ कर्म में षष्ठी हुयी है।

३. धातु से कर्मकर्त्ता में यक् होता है।

४. कर्त्तावाची सार्वधातुक परे रहते शप् होता है। ५. इदं वार्त्तिकं लुप्तं प्रायः।

विप्रतिषेध से 'श्यन्' का बलीयस्त्व प्राप्त होने लगेगा। श्यन् का अवकाश है– दीव्यति, सीव्यति। और यक् का अवकाश है– पच्यत ओदनो देवदत्तेन, पठ्यते विद्या देवदत्तेन। और यहाँ श्यन् और यक् दोनों प्राप्त होते हैं– दीव्यते स्वयमेव, सीव्यते स्वयमेव। परत्व से 'दिवादिभ्य: श्यन्' (अ०– ३.१.६९) से श्यन् ही पाता है। श्यन् और यक् के स्वर में विशेष है।

भा०– ननु चैतदपि योगविभागेनैव सिद्धम्।।

क्यों जी, यह भी अभी-अभी प्रदर्शित योगविभाग से ही सिद्ध नहीं हो जायेगा? बाध्यसामान्यचिन्ता (पारि०- ५२) से सभी प्राप्तियों को ही योगविभाग से बाध लिया जायेगा।।

भा०– न सिद्ध्यति। अनन्तरा या प्राप्ति: सा योगविभागेन शक्या बाधितुम्।। कुत एतत्? 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वे'ति। परा प्राप्तिरप्रतिषिद्धा तया श्यन् प्राप्नोति।।

नहीं सिद्ध होगा। अनन्तर (निकटस्थ) जो, 'कर्त्तरि शप्' है– इससे जो (शप्) प्राप्ति है वही योगविभाग सम्पादित यक् के द्वारा निवारित की जा सकती है। ऐसा क्यों? विधि और प्रतिषेध अनन्तर को ही हुआ करते हैं (पारि- ५४) इस न्याय से। 'दिवादिभ्य: श्यन्' (३.१.६९) से पर जो (श्यन्) प्राप्ति है, वह तो अप्रतिषिद्धा (=अबाधिता) ही है, सो उससे श्यन् प्राप्त होगा ही।

भा०– ननु चेयं प्राप्ति: परां प्राप्तिं बाधते।।

क्यों जी, जो यह योगविभाग के द्वारा यक् की प्राप्ति करायी जा रही है यही पूर्वविप्रतिषेध से (श्यन् की भी) बाधिका नहीं हो पायेगी?

भा०– नोत्सहते प्रतिषिद्धा सती बाधितुम्।।

'अनन्तरस्य०' (पा० ५५) इस न्याय ने योगविभाग द्वारा साधित यक् की प्राप्ति को सीमित कर दिया है, जब यह (यक्प्राप्ति) उधर (श्यन् को) देख ही नहीं सकती तो एक अर्थ में यह प्रतिषिद्ध ही हो गयी है। सो ऐसी स्थिति में यह कैसे बाध सकती है?! यहाँ तो न्याय्य जो परविप्रतिषेध है उसी का आश्रयण किया जायेगा। पूर्वविप्रतिषेध कल्पना में कोई मान नहीं है।

भा०– एवं तर्हि शबादेशा: श्यन्नादय: करिष्यन्ते, शप् च यका बाध्यते, तत्र दिवादिभ्यो यग्विषये शबेव नास्ति कुत: श्यन्नादय:?

अच्छा तो श्यनादि शबादेश कर लेंगे। और शप्, यक् के द्वारा बाध ही लिया जाता है– उसमें तो कोई समस्या है ही नहीं। सो दिवादियों से यक् के विषय में शप् ही नहीं है (क्योंकि उसको यक् ने बाध लिया है) तो श्यनादि कहाँ से हो जायेंगे?

भा०– तत्तर्हि शपो ग्रहणं कर्त्तव्यम्?

तो फिर श्यनादि को शबादेश करने के लिये 'दिवादिभ्य: श्यन्' इत्यादि सूत्रों में 'शप्' का ग्रहण करना चाहिये।

भा०– न कर्त्तव्यम्। प्रकृतमनुवर्त्तते।। क्व प्रकृतम्? 'कर्त्तरि शप्' (अ०– ३.१.६८) इति।।

नहीं करना चाहिये। ऊपर वाले सूत्र में ग्रहण किया हुआ है, उसी की अनुवृत्ति आ रही है। कहाँ ग्रहण किया हुआ है? 'कर्त्तरि शप्'– यहाँ।

भा०– तद्वै प्रथमानिर्दिष्टं, षष्ठीनिर्दिष्टेन चेहार्थ:।।

वह तो प्रथमानिर्दिष्ट है, यहाँ हमें चाहिये– षष्ठीनिर्दिष्ट।

भा०– 'दिवादिभ्य' इत्येषा पञ्चमी 'श'बिति प्रथमाया: षष्ठीं प्रकल्पयिष्यति 'तस्मादित्युत्तरस्य' (अ०– १.१.६७) इति।।

'दिवादिभ्य:' यह जो पञ्चमी है– यह 'शप्' इस प्रथमा को षष्ठी में बदल देगी– 'तस्मादित्युत्तरस्य' के नियम से।

'तस्मादित्युत्तरस्य' यह एक परिभाषा सूत्र है। 'लिङ्गवती परिभाषा भवति' इस नियम से परिभाषा सूत्रों के दो भाग होते हैं– एक लिङ्ग भाग और दूसरा उस लिङ्ग को देखकर कार्यकारी भाग (Executive part) 'तस्मादित्युत्तरस्य' इस परिभाषा का लिङ्गभाग है– 'तस्मादिति निर्दिष्टे' (निर्दिष्टे पद की ऊपर से अनुवृत्ति आ रही है।) और 'उत्तरस्य' यह कार्यकारी भाग है। सो जहाँ कहीं भी अष्टाध्यायीगत विधिसूत्रों में पञ्चमी विभक्ति से निर्देश मिलेगा वहीं 'उत्तरस्य' यह पद उपस्थित हो जायेगा। 'दिवादिभ्य: श्यन्' सूत्र में 'उत्तरस्य' उपस्थित होकर 'शप्' के साथ समानाधिकरण विशेषण के रूप में अन्वित होगा। समानाधिकरण विशेषण विशेष्य में, यत: समान विभक्ति होती हैं, अत: 'उत्तरस्य' के अनुरोध से 'शप्' की प्रथमा भी षष्ठी में बदल जायेगी।

भा०–प्रत्ययविधिरयं, न च प्रत्ययविधौ पञ्चम्य: प्रकल्पिका भवन्ति।

किन्तु 'दिवादिभ्य: श्यन्' यह तो प्रत्ययविधि है। प्रत्ययविधि में जो पञ्चमियाँ हैं, वे तो षष्ठी की प्रकल्पिका नहीं होती हैं।

भा०– नाऽयं प्रत्ययविधि:। विहित: प्रत्यय:, प्रकृतश्चाऽनुवर्तते।।

नहीं! यह प्रत्ययविधि नहीं है, प्रत्यय तो 'कर्त्तरि शप्' यहीं विहित हो चुका है। विहित हुये-हुये की फिर यहाँ अनुवृत्ति हो रही है।

भा०– अथवा– वा०–✻ भावकर्मणोरित्यनुवृत्त्यैव सिद्धे सत्यनुवृत्तिर्यको भावाय।। ✻

भा०– इह सार्वधातुके यगित्यन्तरेण भावकर्मणोरित्यनुवृत्तिं सिद्धम्। सोऽयमेवं सिद्धे सति यद्भावकर्मणोरित्यनुवर्त्तयति तस्यैतत्प्रयोजनं कर्मकर्त्तर्यपि यग्यथा स्यादिति।।

अथवा यहाँ 'सार्वधातुके यक्' इस सूत्र में 'भावकर्मणो:' इस पद की ऊपर से अनुवृत्ति लाये विना भी भाव-कर्म में ही यक् सिद्ध है। वह इसलिये कि जब 'सार्वधातुके यक्' इस सूत्र में 'भावकर्मणो:' की अनुवृत्ति नहीं लायेंगे तो, यह सामान्य सूत्र होगा और 'कर्त्तरि शप्' 'दिवादिभ्य: श्यन्' इत्यादि इसके अपवाद। अब 'अपवाद विषय को छोडकर उत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है'– इस न्याय से कर्त्ता अर्थ को छोडकर शेष बचे भाव व कर्म अर्थ में ही यक् होगा। इस प्रकार भाव-कर्म अर्थ में ही यक् के सिद्ध होने पर भी जो यह आचार्य यहाँ भावकर्मग्रहण की अनुवृत्ति रूप जो अधिक यत्न कर रहा है, उसका यह प्रयोजन है कि 'पच्यते स्वयमेव' इत्यादि कर्मकर्त्ता में भी शबादि को बाधकर यक् ही हुआ करे।

वा०– ✻ कर्त्तरीति च योगविभाग: श्यन: पूर्वविप्रतिषेधाऽवचनाय।। ✻

भाष्यम्– कर्त्तरीति च योगविभाग: कर्त्तव्य:। श्यन: पूर्वविप्रतिषेधं मा वोचमिति।।

इस उपर्युक्त व्याख्यान में भी 'कर्त्तरि शप्' सूत्र का ऊपर जो योगविभाग दर्शाया है– वह करना ही चाहिये। अन्यथा भावकर्म की अनुवृत्ति रूप यत्न से अनन्तर 'शप्' की ही बाधा हो पायेगी न कि दूरस्थ श्यनादि की। योगविभाग से वे भी बाध लिये जायेंगे।

आचार्य कहता है– इससे मुझे यक् और श्यनादि की संप्रधारणा में पूर्वविप्रतिषेध से यक् होता है ऐसा नहीं कहना पडेगा। 'पूर्वविप्रतिषेधं मा वोचमिति' इस कथन से यह सूचित किया जा रहा है कि प्रकृत में पूर्वविप्रतिषेध अपूर्ववचनसाध्य ही है। अर्थात् यदि योगविभाग नहीं करेंगे तो यक् के द्वारा श्यन् को बाधने के लिये कोई अपूर्ववचन बनाना ही होगा।

भा०– अथवा कर्मवद्भाववचनसामर्थ्याद् यग्भविष्यति।।

अथवा कर्मवद् भाववचनसामर्थ्य से यक् हो जायेगा।

भा०– अस्त्यन्यत्कर्मवद्भाववचने प्रयोजनम्।। किम्? आत्मनेपदं यथा स्यात्।

किन्तु कर्मवद् भाव के वचन में तो अन्य प्रयोजन है। क्या? आत्मनेपद हो जाये।

भा०– वचनादात्मनेपदं भविष्यति।।

नहीं! कर्मवद्भाव का केवल आत्मनेपद करना ही प्रयोजन हो तो वह तो वचन से ही उपपन्न हो जायेगा। यदि पूछते हो कैसे, तो सुनिये 'कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे' (अ०– १.३.१४) सूत्र में 'कर्त्तरि' यह

योगविभाग करेंगे और उसमें ऊपर से कर्मग्रहण ही अनुवृत्ति लायेंगे, इस प्रकार विना ही अतिदेश के आत्मनेपद सिद्ध हो जायेगा।

भा०– चिण् तर्हि यथा स्यात्।।

तो फिर 'चिण्' कर्मवद्भाव करने का प्रयोजन है– चिण् हो जाये। चिण् जब प्रयोज्य है तो कर्मवद्भाववचनसामर्थ्य से यक् हो जायेगा– ऐसा नहीं कहा जा सकता।

भा०– चिणपि वचनाद्भविष्यति।।

चिण् भी कर्मवद्भाव से नहीं, बल्कि वचन से ही हो जायेगा। 'चिण् भावकर्मणोः' सूत्र में 'चिण् ते पदः' सूत्र से चिण् की अनुवृत्ति संभव थी, फिर भी जो चिण् ग्रहण किया वह अधिक विधान के लिये है, इस हेतु से कर्मकर्त्ता में भी चिण् ही होगा।

भा०– चिण्वद्भावस्तर्हि यथा स्यात्।।

अच्छा तो कर्मवद्भाव करने का यह प्रयोजन है कि 'स्यसिच्सीयुट्---- भावकर्मणो०' (अ०– ६.४.६५) से, स्यादिविषय में चिण्वद्भाव हो जाये। तब वह प्रयोजन है, तो कर्मवद्भाववचनसामर्थ्य से यक् की बात नहीं कही जा सकती।

भा०– नैकं प्रयोजनं योगारम्भं प्रयोजयति। कर्मवद्भाववचनसामर्थ्याद्यग्भविष्यति।।

एक प्रयोजन योगारम्भ (कर्मवत्कर्मणा० इस अतिदेशविधान का) प्रयोजक नहीं हो सकता। यदि इतनी सी बात होती तो यहाँ अतिदेश सूत्र न बनाकर आचार्य 'स्यासिच्सीयुट्०' इस सूत्र के साथ ही 'कर्मणा तुल्यक्रिये कर्त्तरि' या 'कर्मकर्त्तरि च' इस रूप में सूत्ररचना करते। उसमें बहुत प्रतिपत्तिलाघव था। फिर भी जो यहाँ अतिदेशसूत्र रखा– उसका यही प्रयोजन है कि यक् और श्यनादि के उभयप्राप्ति प्रसङ्ग में 'अनन्तरस्य विधिर्वा०' न्याय का आश्रय नहीं किया जायेगा बल्कि बाध्यसामान्यचिन्ता ही मान्य होगी।

भा०– अथवाऽऽचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति– 'भवति कर्मकर्त्तरि य'गिति, यदयं 'न दुहस्नुनमां यक्चिणौ' (अ०– ३.१.८९) इति यक्चिणोः प्रतिषेधं शास्ति।।६७।।

अथवा आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापित करती है कि कर्मकर्त्ता में यक् होता है। जो यह आचार्य 'न दुहस्नुनमां०' सूत्र से यक् और चिण् का प्रतिषेध कर रहे हैं। प्रतिषेध तो विधिपूर्वक ही होता है। इसलिये उसको देखकर विधि का अनुमान हो जाता है।।६७।।

यसोऽनुपसर्गात्।।३.१.७१।।

भाष्यम्– अनुपसर्गादिति किमर्थम्?

अनुपसर्ग 'यस्' धातु से कर्त्तावाची सार्वधातुक परे रहते विकल्प से श्यन् (विकरण) होता है। यहाँ आक्षेप्ता पूछ रहा है– अनुपसर्गात्- ऐसे किसलिये कहा है?

भा०– आयस्यति, प्रयस्यति।।

समाधाता उत्तर देता है– आङ् प्र इत्यादि पूर्वक यस् से नित्य ही श्यन् होवे।

भा०– अनुपसर्गादिति शक्यमकर्त्तुम्।। कथमायस्यति प्रयस्यति? 'संयसश्च' (अ०– ३.१.७२) इत्येतन्नियमार्थं भविष्यति। 'संपूर्वादेव यसो नान्यपूर्वा'दिति।।७१।।

किन्तु 'अनुपसर्गात्' इसका ग्रहण न किया जाये, तो भी हमारा इष्ट सिद्ध हो सकता है। यदि यह पूछते हो कि 'अनुपसर्गात्' ग्रहण न करने पर आयस्यति, प्रयस्यति इत्यादि में नित्य श्यन् कैसे हो पायेगा? फिर तो पक्ष में शप् भी होने लगेगा? तो इसका यह उत्तर दिया जायेगा कि 'संयसश्च' यह सूत्र नियमार्थ हो जायेगा– सोपसर्ग यस-धातु से विकल्प से श्यन् हो तो सम्पूर्वक से ही हो, अन्यपूर्वक से न हो। वहाँ तो 'दिवादिभ्य: श्यन्' से यथाप्राप्त नित्य ही श्यन् हो।

'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थ:'– इस व्यवस्था के अनुसार 'यस:' इस सूत्र से ही सामान्यरूप से उपसर्ग, अनुपसर्ग सर्वत्र विकल्प से श्यन् सिद्ध होने पर 'संयसश्च' यह नियमार्थ समझा जायेगा– उपसर्गपूर्वक यस् से विकल्प से श्यन् हो तो सम्पूर्वक से ही हो। 'नियमसूत्राणां निषेधे तात्पर्यम्' के अनुसार उक्त नियम अन्य उपसर्गों को श्यन्-विकल्प से हटा देगा। अर्थात् अन्य उपसर्गों में तो 'दिवादिभ्य: श्यन्' से न्यायप्राप्त नित्य श्यन् ही होगा।।७१।।

रुधादिभ्य: श्नम्।।३.१.७८।।

भाष्यम्– किमर्थ: शकार:?

'श्नम्' प्रत्यय में शकार किस प्रयोजन के लिये है?

भा०– सार्वधातुकार्थ:।। शित्सार्वधातुकमिति सार्वधातुकसंज्ञा, 'सार्वधातुकमपि'दिति ङित्त्वं, 'ङिती'ति गुणप्रतिषेधो यथा स्यात्, भिनत्ति-छिनत्तीति।।

'श्नम्' को सार्वधातुक बनाने के लिये। 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' (अ०– ३.४.११३) से सार्वधातुकसंज्ञा हो जाये। फिर सार्वधातुक होने से 'सार्वधातुकमपित्' (अ०– १.२.४) से ङित्वत् हो जाये।

जिससे कि 'भिनत्ति-छिनत्ति' इत्यादि में भि-छि शब्दों को 'श्नम्' के परे रहते 'सार्वधातुकार्ध०' (७.३.८४) से प्राप्त गुण का प्रतिषेध हो जाये– इसके लिये शित्त्व किया है।

भा०– नैतदस्ति प्रयोजनम्। सार्वधातुकार्धधातुकयोरङ्गस्य गुण उच्यते, यस्माच्च प्रत्ययविधिस्तदादि-प्रत्ययेऽङ्गसंज्ञं भवति, यस्माच्चात्र प्रत्ययविधिर्न तत्प्रत्यये परतो, यच्च प्रत्यये परतो न तस्मात्प्रत्ययविधिः।

नहीं! यह कोई प्रयोजन नहीं है। सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय के परे रहते अङ्ग को गुण कहा है। और यह अङ्गसंज्ञा जिस प्रकृति से प्रत्ययविधि की जाये उस प्रत्यय के परे रहते तदादि[1] समुदाय की हुआ करती है। प्रकृत में जिस भिद् से प्रत्ययविधि है वह भिद् (प्रकृति के रूप में) प्रत्यय के परे रहते नहीं है (क्योंकि श्नम् तो उसके बीच में आकर बैठ गया है)। और प्रत्यय श्नम् के परे जो 'भि-छि' इस रूप में उपलब्ध है, उससे प्रत्ययविधि नहीं है, अर्थात् 'भि-छि' से प्रत्यय नहीं हुआ, वह तो भिद् से हुआ है।

भा०– इदं तर्हि प्रयोजनम्– आर्द्धधातुकसंज्ञा मा भूदिति।। किं च स्यात्? वलादिलक्षण इट् प्रसज्येत।।

अच्छा, तो शित् करने का यह प्रयोजन है कि आर्धधातुकसंज्ञा न हो। आर्द्धधातुकसंज्ञा हो भी जाये, तो इससे क्या हो जायेगा? 'आर्द्धधातुकस्येड्वलादेः' से वलादिलक्षण इट् होने लगेगा।

भा०– एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। वलादेरार्द्धधातुकस्याऽङ्गस्येडुच्यते, यस्माच्च प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गसंज्ञं भवति, यस्माच्चाऽत्र प्रत्ययविधिर्न तत्प्रत्यये परतो, यच्च प्रत्यये परतो, न तस्मात्प्रत्ययविधिः।।

नहीं! यह भी कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि यहाँ भी अङ्गसंज्ञानिमित्त जो वलादि आर्धधातुक है, उसको इट् कहा है। और अङ्गसंज्ञा जिस प्रकृति (धातु या प्रातिपदिक) से प्रत्ययविधि की जाये, उस प्रत्यय के परे रहते तदादि समुदाय की हुआ करती है। प्रकृत में, जिस भिद् से प्रत्ययविधि है, वह भिद् (प्रकृति के रूप में) श्नम् प्रत्यय के परे रहते नहीं है। और प्रत्यय के परे रहते जो है (भि-छि-यह रूप) उससे प्रत्यय का विधान नहीं हुआ है। इस प्रकार यहाँ 'श्नम्' के अङ्गसंज्ञा का निमित्त न बन सकने से 'श्नम्' की आर्धधातुकसंज्ञा हो भी जाये, तो भी उसको इट् नहीं होगा।

भा०– अत उत्तरं पठति–

इस उपर्युक्त भूमिका को लक्ष्य कर आचार्य वार्त्तिककार अपना उत्तर पढते हैं–

---

१. 'तदादि' में दो प्रकार का समास है। दोनों समासों से प्रकारभेद से एक ही बात कही गयी है। तत्प्रकृतिरूपादिर्यस्य स तदादि-बहुव्रीहि। अथवा तस्यादिस्तदादिः, तदादिरादिर्यस्य सोऽपि तदादि-तत्पुरुषगर्भ-उत्तरपदलोपिबहुव्रीहिः। जैसे कि भिद् प्रकृति का आदि अक्षर 'भ्' वह आदि में है जिसके ऐसा समुदाय-प्रकृत में 'भिनद्' है, न कि 'भि'।

वा०– ✻ श्नमि शित्करणं प्वादिह्रस्वार्थम्।।१।। ✻

भाष्यम्– श्नमि शित्करणं क्रियते। प्वादीनां शिति ह्रस्वत्वं यथा स्यात्। पृणति, मृणतीति।।

'श्नम्' का शित्करण प्वादिह्रस्व के लिये किया गया है। पृणति, मृणति-इत्यादि में प्वादियों को शित् परे रहते ह्रस्व हो जाये।

पृ-पालनपूरणयो: और मृ-हिंसायाम्- ये क्र्यादिगणान्तर्गत प्वादिगण में पढी हैं, उनसे व्यत्यय से 'श्नम्' हुआ है।

वा०– ✻ न वा धात्वन्तरत्वात्।।२।। ✻

भा०– न वा कर्त्तव्यम्।। किं कारणम्? 'धात्त्वन्तरत्वात्'। धात्त्वन्तरं पृणिमृणी।

पृणति, मृणति-प्रयोगों की सिद्धि के लिये ही श्नम् को शित् कर रहे हो, तब तो 'श्नम्' को शित् करने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्यों, क्या कारण है? क्यों आवश्यकता नहीं है? पृण-प्रीतौ और मृण-हिंसायाम्; ये धात्वन्तर हैं जो तुदादिगण में पढी हैं, उन्हीं से उक्त प्रयोग सिद्ध हो जायेंगे।

भा०– यर्त्तर्हि न धात्वन्तरं, यत्र भूम्यां वृणसे।

अच्छा तो जो धात्वन्तर नही है– जैसे कि 'यत्र भूम्यां वृणसे' उसके लिये 'श्नम्' को शित् करना चाहिये। वृ-वरणे-क्रैय्यादिक है, यद्यपि यह वहाँ परस्मैपदी पढी है फिर भी व्यत्यय से श्नम् और थास् हो गया है।

भा०– नैष श्नम्। श्न एवैतद्ध्रस्वत्वम्।।

कौन कहता है यह श्नम् का रूप है। यहाँ तो 'श्ना' को ही छान्दस ह्रस्व हो रहा है।

भा०– यदि श्नो ह्रस्वत्वं स्वरो न सिद्ध्यति– वृण॒से॑। 'अदुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तं भवतीत्येष स्वरो न प्राप्नोति।।' तस्माच्छ्नमेष:।।

यदि 'वृणसे' यहाँ श्ना को ह्रस्वत्व मानते हो तो स्वर नहीं सिद्ध होगा। अकारान्तोपदेश से उत्तर लसार्वधातुक को अनुदात्त होता है– ऐसा जो कहा है, यह (उक्त) स्वर नहीं प्राप्त होगा। क्योंकि 'श्ना' तो उपदेश में आकारान्त है न कि अकारान्त।

भा०– यदि श्नम् 'श्नसोरल्लोप:' (अ०– ६.४.१११) इति लोप: प्राप्नोति।।

यदि 'श्नम्' ही है तब तो 'श्नसोरल्लोप:' से, 'श्नम्' के तो अकार का लोप होने लगेगा, जो अभीष्ट नहीं है।

भा०– 'उपधायाः' इति वर्त्ततेऽनुपधत्ववान्न भविष्यति।।

नहीं! 'श्नसोरल्लोपः' लोप तो नहीं होगा, क्योंकि 'उपधायाः[१]' ऊपर से अनुवर्त्तमान है। और यहाँ उपधा मिल नहीं रही। इस प्रकार अनुपधात्व हेतु से लोप नहीं होगा।

भा०– न स शक्य उपधाया इति विज्ञातुम्। इह हि दोषः स्यात्-अङ्क्तः अञ्जन्तीति। तस्माच्छ्न एवैतद् ह्रस्वत्वम्।

'श्नसोरल्लोपः' लोप को उपधालोप नहीं जाना जा सकता। यहाँ 'अङ्क्तः', 'अञ्जन्ति' में दोष आने लगेगा। इसलिये यही मानना पडेगा कि, यह तो श्ना को ही ह्रस्वत्व है।

अञ्जू-व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु (धा०रु० २०) धातु से लट् तस् व झि में 'अङ्क्तः' 'अञ्जन्ति' रूप हैं। 'अ श्नम् ञ्ज्+तस्-अनञ्ज्+तस्' इस स्थिति में 'श्नान्नलोपः' (अ०– ६.४.२३) से हुये नलोप के 'असिद्धवदत्रा०' (अ०– ६.४.२२) से असिद्ध हो जाने से उपधा अकार नहीं मिलता।

भा०– यद्येवं स्वरः कथम्?

अच्छा तो ठीक है– श्ना को ही ह्रस्व मान लेते हैं, पर फिर 'अदुपदेशाल्लसार्वधातुकं०' यह स्वर कैसे होगा?

वा०– ※ बहुलं पित्सार्वधातुकं च्छन्दसि।।३।। ※

भा०– सार्वधातुकस्य बहुलं छन्दसि पित्त्वं वक्तव्यम्। पितश्चापित्त्वं दृश्यतेऽपितश्च पित्त्वम्। पितस्तावदपित्त्वं-मातरं प्रमिणीमि जनित्रीम्। अपितः पित्त्वं– श्रृणोत ग्रावाणः।।

सार्वधातुक को छन्द में बहुल करके पित् कहना चाहिये। क्योंकि पित् का अपित्त्व और अपित् का पित्त्व दोनों ही देखे जाते हैं। 'मातरं प्रमिणीमि जनित्रीम्' इस उदाहरण में पित् का अपित्त्व देखा जा रहा है। और 'श्रृणोत ग्रावाणः' इसमें अपित् का पित्त्व।

'प्रमिणीमि' यह 'मीञ्-हिंसायाम्' का श्नाविकरण में रूप है। 'मीनातेर्निगमे' (अ०– ७.३.८१) से ह्रस्व हो रहा है।

मिप् को अपित् होने से 'सार्वधातुकमपित्' से ङित्वत् होकर 'ई हल्यघोः' (अ०– ६.४.११३) से क्ङित् सार्वधातुक परे रहते ईत्व हो गया है। 'श्रृणोत' यहाँ मध्यमपुरुष बहुवचन में अपित् को पित्त्व होने से 'श्नु' को गुण हो गया है। बस! इसी तरह 'यत्र भूम्यां वृणसे' यहाँ भी 'थासस्से' (अ०– ३.४.८०) से हुये 'से' को जो कि यद्यपि अपित् है, पर पित् मान लिया जायेगा और फिर 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (अ०– ३.१.४) से उसको अनुदात्त हो जायेगा।

---

१. 'ऊदुपधाया गोहः' (अ०– ६.४.८६)।

भा०– तर्त्तर्हि श्नो ह्रस्वत्वं वक्तव्यम्?

तो फिर 'श्ना' का ह्रस्वत्व कहना चाहिये?

भा०– अवश्यं छन्दसि ह्रस्वत्वं वक्तव्यम्– 'उपगायन्तु मां पत्नयो गर्भिणयो युवतय' इत्येवमर्थम्।।

हाँ! श्ना को ह्रस्व कहना तो चाहिये, पर श्ना को ही क्या! छन्द में ह्रस्वत्व तो और भी कितने ही इष्ट प्रयोगों की सिद्धि के लिये करना ही होगा। जैसे– 'उपगायन्तु---- युवतय:' यहाँ पत्नी व गर्भिणी को ह्रस्व होकर पत्नि और गर्भिणि हो गया है।

इस प्रकार यहाँ तक की चर्चा में 'श्नम्' के शित्करण का कोई प्रयोजन ढूँढ नहीं पाये, इसलिये भाष्यकार आगे अन्य प्रयोजन दे रहे हैं–

भा०– विशेषणार्थस्तर्हि।। क्व विशेषणार्थेनाऽर्थ: ? 'श्नान्नलोप:' (अ०– ६.४.२३) इति। 'नान्नलोप' इतीयत्युच्यमाने, 'यज्ञानाम्' यत्नानामित्यत्रापि प्रसज्येत।

अच्छा तो 'श्नम्' में शकार विशेषणार्थ रखना चाहिये। विशेषणार्थ शकार से कहाँ है प्रयोजन? 'श्नान्नलोप:' इस सूत्र में। शकारविशिष्ट 'न' से उत्तर ही उस सूत्र से विहित नलोप रूप कार्य हो। विशेषणार्थ शकार नहीं रखेंगे तो उस सूत्र का स्वरूप होगा– 'नान्नलोप:'। नान्नलोप: कहने पर वह सामान्यनिर्देश हो जायेगा। उस स्थिति में उस सूत्र का अर्थ होगा– नकार से उत्तर 'न्' का लोप होता है। अब इस सूत्रार्थ के अनुसार तो 'यज्ञानाम्' और यत्नानाम्- यहाँ भी लोप होने लगेगा, जो कि सर्वथा अनिष्ट है।

भा०– दीर्घत्वे कृते न भविष्यति।।

'यज्ञ+नाम्', 'यत्न+नाम्'– इस स्थिति में 'नामि' (अ०– ६.४.३) से अजन्त अङ्ग को दीर्घ कर लेने पर अब 'न' से उत्तर 'न्' न मिलने के कारण नलोप नहीं होगा।

भा०– इदमिह संप्रधार्यं दीर्घत्वं क्रियतां नलोप इति, किमत्र कर्त्तव्यम्? परत्वान्नलोप: स्यात्। तस्मात् शकार: कर्त्तव्य:।।

अच्छा! यहाँ यह विचार (निश्चय) कर लेना चाहिये– पहले दीर्घ किया जाये या (नान्नलोप: से) नलोप। क्या करना चाहिये? परत्व से नलोप ही होगा। इसलिये फिर तो शकार करना ही चाहिये।

'यज्ञ+नाम्'– यहाँ 'सुपि च' (७.३.१०२) दीर्घत्व तो सन्निपातलक्षण परिभाषा (पारि० ७५) के कारण नहीं प्रवृत्त हो सकेगा। 'कष्टाय क्रमणे' निर्देश से उस परिभाषा का अनित्यत्व माने भी तो भी चूँकि 'नामि-नाम् के परे रहते दीर्घत्व विधान कर रहा है, इसलिये ऐसे प्रसङ्गों में तो इसे ही होना चाहिये। चाहे निश्शङ्क रूप से फल में भेद न हो।'

भा० – अथ क्रियमाणेऽपि शकार इह कस्मान्न भवति– विश्नानाम्, प्रश्नानामिति ? 'लक्षणप्रतिपदोक्तयो: प्रतिपदोक्तस्यैवे'ति।।७८।।

अच्छा, विशेषणार्थ शकार को कर देने पर भी विश्नानाम्, प्रश्नानाम् यहाँ 'श्न' से उत्तर नलोप क्यों नहीं होता ?

'लक्षणप्रतिपदोक्तयो: प्रतिपदोक्तस्यैव'। विश्नानाम्, प्रश्नानाम् यहाँ इसलिये नलोप नहीं होता– क्यों कि 'विश्' धातु के साथ 'न' प्रत्यय जुडकर, जो विश्न, प्रश्न बने हैं और अब जो 'श्न' दिखाई दे रहा है यह लाक्षणिक (लक्षण से निष्पादित) रूप हो गया। उधर 'श्नम्' प्रत्यय का जो 'श्नम्' है, वह प्रतिपदोक्त (प्रतिपद उच्चारित) है। लाक्षणिक रूप तो स्पष्ट ही अनुमीयमान ही होगा जबकि प्रतिपदोक्त होगा प्रत्यक्ष। सो जब कहीं दोनों ही रूपों का प्रसङ्ग उपस्थित हो रहा हो तो प्रत्यक्ष के बलवान् होने से प्रतिपदोक्त अर्थ का ही ग्रहण किया जायेगा। (द्रष्ट-पारि०- ८२)।

तनादिकृञ्भ्य उ:।।३.१.७९।।

भाष्यम्– किमर्थं करोते: पृथग्ग्रहणं क्रियते, न 'तनादिभ्य' इत्येवोच्येत ?

कृञ्-धातु का पृथग्ग्रहण क्यों कर रहे है? वह भी तो तनादि के अन्तर्गत ही पठित है– इसलिये 'तनादिभ्य उ:' इतना ही सूत्र क्यों नहीं कर देते ?

भा०– अन्यानि तनोत्यादिकार्याणि मा भूवन्निति।। कानि ? अनुनासिकलोपादीनि।।

अन्य तनोत्यादिकार्य न होवें। कौन से हैं, वे अन्य (तनोत्यादि) कार्य ? अनुनासिकलोप इत्यादि।

भा०– दैवरक्ता: किंशुका:। अनुनासिकाऽभावादेवानुनासिकलोपो न भविष्यति।।

ओहो! किंशुक फूलों में जो रक्तत्व है वह कोई मनुष्यसाध्य नहीं है। वह तो दैवकृत ही है– स्वारसिक ही है। तथैव कृञ् में अनुनासिक श्रवणाभाव के स्वत: सिद्ध होने से अनुनासिक लोप करने की कोई बात ही उपस्थित नहीं होगी।

भा०– इदं तर्हि– तनादिकार्यं मा भू'त्तनादिभ्यस्तथासो:' (अ०– २.४.७९) इति।।

अच्छा तो यह वाला तनादिकार्य न होवे जो कि त और थास् के परे रहते तनादियों से उत्तर सिच् का लुक् कहा है।

भा०– ननु च भवत्येवात्र 'ह्रस्वादङ्गात्' (अ०– ८.२.२७) इति।।

क्यों जी! यहाँ तो 'ह्रस्वादङ्गात्' सूत्र से सकारलोप होता ही है, जैसे– अकृत, अकृथा:।

भा०– तेनैव[1] यथा स्याद्' अनेन[2] मा भूदिति।।

उसी से होवे, इससे (सलोप) न होवे। अन्यथा उसके असिद्ध होने से इसी के द्वारा हुआ करेगा।

भा०– कश्चाऽत्र विशेषस्तेन वा सत्यनेन वा?

क्यों जी, उससे (सलोप) हो, अथवा इससे हो– इसमें क्या भेद पड़ता है?

भा०– तेन सति सिज्लोपस्याऽसिद्धत्वाच्चिण्वद्भावः सिद्धो भवति। अनेन पुनः सति चिण्वद्भावो न स्यात्।।

उसके द्वारा लोप होने पर सिज्लोप के असिद्ध होने से 'स्यसिच्सीयुट्०' (अ०– ६.४.६२) से कर्म में चिण्वद्भाव सिद्ध हो जाता है। किन्तु इससे यदि लुक् होता है तो चिण्वद्भाव नहीं हो सकेगा।

भा०– अनेनाऽपि सति चिण्वद्भावः सिद्धः।। कथम्? विभाषा लुक्। यदा न लुक्तदा तेन लोपः। तत्र सिज्लोपस्यासिद्धत्वाच्चिण्वद्भावः सिद्धो भवति।।

इससे भी लुक् होने पर चिण्वद्भाव सिद्ध है। कैसे? लुक् विभाषा है। जब लुक् नहीं है, तब 'ह्रस्वादङ्गात्' से सिज्लोप है। सो सिज्लोप पक्ष में उस सिज्लोप के असिद्ध होने से विकल्प से चिण्वद्भाव हो जायेगा।

यदि यहाँ यह कहा जाये कि जब 'येन नाप्राप्तिन्याय[3]' (द्रष्ट-पारि– ५२) लुक् के द्वारा 'ह्रस्वादङ्गात्' लोप बाध लिया गया तो पुनः कैसे लुगभावपक्ष में लोप होगा? इसका उत्तर यह है कि यहाँ उत्सर्गलोप की पुनः प्रवृत्ति होने पर भी अपवाद लुक् की व्यर्थता तो नहीं हो रही है। जिस उत्सर्ग की प्रवृत्ति होने पर विकल्प व्यर्थ हो रहा हो केवल वहीं 'उत्सर्ग'-अपवाद के अभावपक्ष में प्रवृत्त नहीं होता[4] अन्यत्र तो प्रवृत्त हो ही जायेगा।

भा०– तनादित्वात्कृञः सिद्धं सिज्लोपे च न दुष्यति।

चिण्वद्भावेन दोषः स्यात्सोऽपि[5] प्रोक्तो विभाषया।।

---

१. ह्रस्वादङ्गात्।

२. तनादिभ्यस्तथासोः।

३. यदीदं न स्यात् तदा स्यादेव ह्रस्वादङ्गात् इत्यस्य प्राप्तिरित्येवमवलोकनीयोऽत्र येन नाप्राप्तिन्यायः।

४. जैसे कि 'नृ च' (अ०– ६.४.६) की अप्रवृत्ति पक्ष में 'नामि' की प्रवृत्ति नहीं होती।

५. लुक्– चिण्वद्भावश्चेत्यर्थः।

तनादित्व हेतु से ही कृञ्-धातु से 'उ' प्रत्यय का विधान सिद्ध है। 'अकृत' इत्यादि रूप के सिद्ध हो जाने से सिज्लोप में भी दोष नहीं आता। अकृथा:, अकारि यहाँ चिण्वद्भाव में भी दोष नहीं आयेगा। क्योंकि 'तनादिभ्यस्तथासो:' इससे सिज्लुक् का भी विकल्प है। और चिण्वद्भाव का भी। सो जिस पक्ष में लुक् नहीं होगा, उस पक्ष में जैसे ही 'ह्रस्वादङ्गात्'- लोप होने लगेगा– उसी समय 'स्यसिच्०' की दृष्टि में उसके असिद्ध हो जाने से चिण्वद्भाव हो जायेगा। इस प्रकार सूत्र में कृञ् ग्रहण का प्रत्याख्यान हो गया।।७९।।

धिन्विकृण्व्योर च।।३.१.८०।।

भाष्यम्– क्वायमकार: श्रूयते?

धिन्वि और कृण्वि धातु से 'उ' प्रत्यय (विकरण) होता है और धिन्व् व कृण्व् को अकार अन्तादेश भी होता है। सो अकार विषय में आक्षेप्ता पूछ रहा है– सूत्र के द्वारा किया गया अकारादेश कहाँ सुनायी देता है?

भा०– न क्वचिच्छ्रूयते, लोपोऽस्य भवत्यतो लोप आर्धधातुक इति।

सुनायी तो कहीं नहीं पड़ता। आर्धधातुक परे रहते 'अतो लोप:' (अ०– ६.४.४८) से इसका लोप हो जायेगा।

भा०– यदि न क्वचिच्छ्रूयते, किमर्थमयमुच्यते, न लोप इत्येवोच्येत।।

यदि कहीं सुनायी ही नहीं पड़ता, तो इसका कथन ही क्यों किया जा रहा है? फिर तो 'धिन्व्-कृण्व्' के अन्तिम वकार का सीधा लोप ही क्यों न कह दिया जाये?

भा०– नैवं शक्यम्, लोपे हि सति गुण: प्रसज्येत। अत्वे पुन: सत्यकारलोपस्य स्थानिवद्भावाद् गुणो न भवति।।

नहीं! ऐसा कर पाना संभव नहीं। लोप होने पर 'पुगन्तलघू०' (अ०– ७.३.८६) से गुण होने लगेगा। अत्व होने पर तो अकारलोप के 'अच परस्मिन्०' (अ०– १.१.५६) से स्थानिवद्भाव होने से गुण नहीं होगा।

भा०– ननु च लोपेऽपि सति 'न धातुलोप आर्धधातुके' (अ०– १.१.४) इति प्रतिषेधो भविष्यति?

क्यों जी, क्या लोप होने पर भी 'न धातुलोप०' सूत्र से गुणप्रतिषेध नहीं हो जायेगा?

भा०– आर्धधातुकनिमित्ते लोपे स प्रतिषेधो, न चैष आर्द्धधातुकनिमित्तो लोप:। अपि च प्रत्याख्यायते स योग:। तस्मिन्प्रत्याख्याते गुण: स्यादेव। तस्मादत्त्वं वक्तव्यम्।।

नहीं! 'न धातुलोपे०' सूत्र से गुणप्रतिषेध नहीं पायेगा। क्योंकि धातुलोपे पद में बहुव्रीहि समास का समाश्रयण होने से आर्धधातुक निमित्तक लोप में ही वह प्रतिषेध प्रवृत्त होता है। इस प्रक्रिया में अर्थात् 'उ' प्रत्यय के सन्नियोग से लोप विधान करने में वह लोप आर्धधातुक निमित्तक नहीं बन पाता। और एक यह भी बात है कि उस सूत्र का तो प्रत्याख्यान भी[१] कर दिया गया है। सो इस कारण भी गुण वारण करने का कोई उपाय नहीं है। इसलिये अत्व करना ही चाहिये।

भा०– अथ किमर्थं नुमनुषक्तयोर्ग्रहणं क्रियते, न 'धिविकृव्यो'रित्येवोच्येत?

अच्छा, यह 'धिन्वि', 'कृण्वि' का नुमनुषक्त पाठ किसलिये किया जा रहा है? 'धिविकृव्योः' ऐसा ही क्यों नहीं पढ देते?

भा०– 'धिविकृव्यो'रित्युच्यमानेऽत्वे कृतेऽनिष्टे नुम् प्रसज्येत।।

'धिविकृव्योः' ऐसा कहेंगे तो अत्व करलेने पर अनिष्ट देश में, अर्थात् अकार से परे, नुम् बैठने लगेगा।

भा०– इदमिह संप्रधार्यमत्वं क्रियतां नुमिति, किमत्र कर्त्तव्यम्? परत्वान्नुमागमः।।

अच्छा, अब यहाँ यह निश्चय कर लेना चाहिये, कि, पहिले नुम् किया जाये या अत्व। क्या करना चाहिये? परत्व से नुमागम ही होना चाहिये।

भा०– अन्तरङ्गमत्वम्।। कान्तरङ्गता? प्रत्ययोत्पत्तिसंनियोगेनाऽत्वमुच्यते, उत्पन्ने प्रत्यये प्रकृतिप्रत्ययावाश्रित्याऽङ्गस्य नुमागमः।।

किन्तु अत्व अन्तरङ्ग है। अत्व की ऐसी क्या अन्तरङ्गता है? प्रत्ययोत्पत्ति संनियोग से अत्व कहा जा रहा है– प्रत्ययविधान वेला में ही इसका भी विधान है। जबकि प्रत्यय उत्पन्न होने पर, क्योंकि नुम् विधि (अ०– ७.१.५८) में अङ्गाधिकार है– प्रकृति, प्रत्यय को आश्रय करके अङ्ग को नुमागम है।

भा०– नुमप्यन्तरङ्गः।। कथम्? वक्ष्यत्येत'नुम्विधावुपदेशिवद्वचनं प्रत्ययविध्यर्थ'मिति। उभयोरन्तरङ्गयोः परत्वान्नुमागमः। तस्माद्धिविकृव्योरिति वक्तव्यम्।।८०।।

---

१. इह शिवरामेन्द्रसरस्वती आह– प्रत्याख्यायतेऽपि स योगः। अपिशब्दान्न प्रत्याख्यायते इति लभ्यते। तथा च लोलुवाद्युदाहरणापेक्षया तु न प्रत्याख्यायते इति प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानयोर्व्यवस्था ज्ञेया।

'नुम्' भी अन्तरङ्ग है। कैसे ? आचार्य वार्त्तिककार ऐसा कहेंगे कि 'नुम्विधि में उपदेशिवद्भाव अर्थात् ''उपदेशावस्था में ही नुम् हो जाता है'' ऐसा कहना चाहिये, जिससे कि उपदेशावस्था में नुम् कर लेने पर कुण्डा-हुण्डा-इत्यादि में इष्ट प्रत्ययविधि हो जाये। यदि पहले नुम् न कर प्रत्ययविधान करने लगेंगे तो नकार रहित कुड्, हुड-धातु से स्त्रियां क्तिन्' (अ०– ३.३.९४) पायेगा– इष्ट है 'गुरोश्च हल:' (३.३.१०३) से 'अ'। सो उपदेशिवद्भाव के कारण नुम् भी अन्तरङ्ग ही है। नुम् और अत्व, दोनों ही जब अन्तरङ्ग हैं तो नुम् और अत्व दो कार्यों की प्रसङ्ग वेला में परत्व से नुम् होगा। इसलिये 'धिविकृव्यो:'– ऐसा कहने में भी कोई आपत्ति नहीं है।।८०।।

हलः श्नः शानज्झौ।।३.१.८३।।

भाष्यम्– किमर्थः शकारः?

यहाँ 'शानच्' में शकार किसलिये है?

भा०– 'शित्सार्वधातुक'मिति सार्वधातुकसंज्ञा, 'सार्वधातुकमपि'दिति ङित्त्वं, ङितीति प्रतिषेधो[1] यथा स्यात्-कुषाण पुषाणेति।।

शानच् का शकार है– सार्वधातुकसंज्ञा के लिये– 'शित्सार्वधातुकम्' (अ०– ३.४.११३) से सार्वधातुकसंज्ञा हो जाये। जिससे कि 'सार्वधातुकमपित्' (१.२.४) से शानच् को ङित् मान लिया जाये, और फिर ङित् होने से 'कुषाण-पुषाण' इत्यादि उदाहरणों में 'क्ङिति च' (१.१.५) से गुणप्रतिषेध हो जाये।

भा०– अत उत्तरं पठति।

इस उपर्युक्त भूमिका को ध्यान में रखते हुये आचार्य वार्त्तिककार अपना उत्तर पढते हैं–

वा०– * श्नाविकारस्य शित्करणानर्थक्यं स्थानिवत्त्वात्।।१।। *

भाष्यम्– श्नाविकारस्य शित्करणमनर्थकम्।। किं कारणम्? 'स्थानिवत्त्वात्'। शितोऽयमादेशः स्थानिवद्भावाच्छिद्भवति।।

'श्ना' विकरणसंबन्धी शानच् का शित्करण अनर्थक है। क्या कारण है? क्यों अनर्थक है? कारण है– स्थानिवद्भाव। श्ना जो शित् है ही उसके स्थान में हुआ यह आदेश शानच् भी स्थानिवद्भाव से शित् हो जायेगा।

वा०– * अर्थवत्तु ज्ञापकं सार्वधातुकादेशेऽनुबन्धाऽस्थानिवत्त्वस्य।।२।। *

भा०– अर्थवत्तु श्नाविकारस्य शित्करणम्।। कोऽर्थः? 'ज्ञापकार्थम्'।। किं ज्ञाप्यम्? एतज्ज्ञापयत्याचार्यः– 'सार्वधातुकादेशेऽनुबन्धा न स्थानिवद्भवन्ती'ति।।

स्थानिवद्भाव से ही श्ना का विकार (आदेश) जो 'शानच्' उसका शित्त्व सिद्ध था, फिर भी जो शित् किया है, वह व्यर्थ नहीं है– बल्कि किसी अर्थविशेष को ध्वनित करने के लिये है– प्रयोजनवान् है। क्या प्रयोजन है? ज्ञापन करना प्रयोजन है। क्या ज्ञापित किया जाता है? आचार्य यह ज्ञापित करता है कि– सार्वधातुक को हुये आदेश में अनुबन्ध स्थानिवत् नहीं होते, अर्थात् स्थानिगत अनुबन्ध आदेश में संक्रान्त नहीं होते।

---

१. 'क्ङितीति गुणप्रतिषेधो०' इति पा० भे०।

भा०– किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्?

इस अर्थ के ज्ञापन में आचार्य का क्या प्रयोजन है?

वा०– ❊ प्रयोजनं हितातङोरपित्त्वम्।।३।। ❊

भाष्यम्– हे: पित्त्वं न प्रतिषेध्यम्। पितोऽयमादेश:, स्थानिवद्भावात् पित्स्यात्। सार्वधातुकादेशेऽनुबन्धा न स्थानिवद्भवन्तीति नायं पिद्भविष्यति। तातङि च ङकारो नोच्चार्यो भवति। पितोऽयमादेश: स्थानिवद्भावात्पित्स्यात्। सार्वधातुकादेशेऽनुबन्धा न स्थानिवद् भवन्तीति नायं पिद्भविष्यति।

(भाष्यम्)– प्रयोजन है– हि और तातङ् का अपित्त्व। 'सेर्ह्यपिच्च' (अ०– ३.४.८७) सूत्र में अपित् ग्रहण नहीं करना चाहिये। क्योंकि, इस हेतु से ही तो उस सूत्र में अपित् ग्रहण किया है कि, सिप् जो पित् है, उसके स्थान में हुआ यह आदेश स्थानिवद्भाव से पित् हो जाता। पर जब यह ज्ञापक हमारे सामने है कि सार्वधातुकादेश में अनुबन्ध स्थानिवत् नहीं होते, तो यह 'हि' आदेश पित् नहीं होगा।

और तातङ् में ङकार उच्चारण नहीं करना पडता– यह भी ज्ञापक का प्रयोजन है। क्योंकि पित् को हुआ यह आदेश स्थानिवद् भाव से पित् हो जाता, किन्तु अब जबकि यह मान लिया जा रहा है कि, सार्वधातुकादेश में अनुबन्ध स्थानिवत् नहीं होते– यह तातङ् पित् नहीं होगा। पित् नहीं होगा तो अपने आप 'सार्वधातुकमपित्' से ङित् हो जायेगा।

वा०– ❊ तबादिषु चाऽङित्त्वम्।।४।। ❊

भाष्यम्– तबादिषु[१] चाऽङित्त्वं प्रयोजनम्। शृणोत ग्रावाण:। ङित इम आदेशा: स्थानिवद्भावान्ङित: स्यु:। सार्वधातुकादेशेऽनुबन्धा न स्थानिवद्भवन्तीति नेमे ङितो भवन्ति।।

उपर्युक्त ज्ञापक का यह भी एक प्रयोजन है कि 'तप्तनप्तनथनाश्च' (अ०– ७.१.४५) तबादियों में तप्-तनप् को ङित्त्व प्रतिषेध करने के लिये जो पित्त्व किया है, वह नहीं करना चाहिये। इसी हेतु से तो, तप्-तनप् को पित् किया है कि परस्मैपद-मध्यमपुरुष बहुवचन में जिस 'त' को ये आदेश किये जा रहे हैं, वह 'सार्वधातुकमपित्' से ङित् था, ङित् के स्थान में ये आदेश भी स्थानिवद्भाव से ङित् हो जाते। अब जबकि सार्वधातुकादेशों में अनुबन्ध स्थानिवत् नहीं होते– यह मान लिया गया तो ये तप्-इत्यादि ङित् नहीं होंगे और तबादि को विना ही पित् किये 'शृणोत[२] ग्रावाण:' इत्यादि इष्ट रूप सिद्ध हो जायेंगे।

---

१. तबादिषु च ङित्त्वं न प्रतिषेध्यमिति भाष्ये ङित्त्वप्रतिषेधाय पित्त्वं न कार्यमिति भाव:। तबादिष्विति निर्धारणे सप्तमी।

२. 'शृणोत' यहाँ अङित् 'त' के परे गुण हो गया है।

वा०– ✻ तस्य दोषो मिप ओदशे पिदभाव:।।५।। ✻

भा०– तस्यैतस्य, लक्षणस्य दोषो मिप आदेशे पितोऽभाव:। अचिनवम् असुनवम्, अकरवम्। पितोऽयमादेश: स्थानिवद्भावात् पिद्भवति। सार्वधातुकादेशेऽनुबन्धा न स्थानिवद्भवन्तीति नाऽयं पित्स्यात्।। अत्यल्पमिदमुच्यते– 'मिप आदेश' इति। तिप्सिप्मिपामादेशा इति वक्तव्यम्। वेद, वेत्थ।।

उस इस शानच् के शित्करण से ज्ञाप्य लक्षण का यह दोष है कि मिप् के स्थान में हुये आदेश में स्थानिवद् भाव से, पित् धर्म नहीं आ सकेगा। जैसे कि अचिनवम्– यहाँ मिप् प्रत्यय जो कि पित् है उसके स्थान में अम् आदेश स्थानिवद्भाव से पित् हो जाता है। सार्वधातुकादेश में अनुबन्ध स्थानिवत् नहीं होते– इस नियम से यह 'अम्' आदेश पित् नहीं हो पायेगा तो फिर, 'चिनु+अम्' यहाँ गुण नहीं हो सकेगा। यह तो बहुत थोडा कह रहे हो कि मिप् के स्थान में आदेश। यह कहना चाहिए– तिप्, सिप्, मिप् के स्थान में जो आदेश हैं, वे सब उक्त ज्ञापक की उपस्थिति में पित् नहीं हो पायेंगे। और फिर वेद, वेत्थ यहाँ भी गुण नहीं हो सकेगा।

वा०– ✻ विदेर्वसो: शित्त्वम्।।६।। ✻

भाष्यम्– विदेरुत्तरस्य वसो: शित्त्वं वक्तव्यम्। शितोऽयमादेश: स्थानिवद्भावाच्छिद्भवति। सार्वधातुकादेशेऽनुबन्धा न स्थानिवद्भवन्तीति नाऽयं शित्स्यात्।।

और उक्त ज्ञापक के ज्ञाप्य विषय को मानने पर यह भी एक दोष होगा कि विद् धातु से उत्तर शतृ के स्थान में जो 'विदे: शतुर्वसु:' (अ०– ७.१.३६) से 'वसु' आदेश होता है उसको शित् कहना पडेगा। अभी तो शित् के स्थान में यह आदेश होता है, वह स्थानिवद्भाव से शित् हो जाता है। किन्तु 'सार्वधातुकादेश में अनुबन्ध स्थानिवत् नहीं होता'– जब यह नियम है तो यह शित् नहीं हो सकेगा। और फिर आर्धधातुक संज्ञा होने से 'विद्वान्' यहाँ 'विद्' को अनिष्ट-गुण प्रसक्त होने लगेगा।

वा०– ✻ कित्करणाद्वा सिद्धम्।।७।। ✻

भाष्यम्– अथवाऽवश्यमत्र सामान्यग्रहणाविघातार्थ: ककारोऽनुबन्ध: कर्त्तव्य:।। क्व सामान्यग्रहणाविघातार्थेनाऽर्थ: ? वसो: संप्रसारणम् (अ०– ६.४.१३१) इति। तेनैव यत्नेन गुणो न भविष्यति।।

अस्य ज्ञापकस्य सन्ति दोषा: सन्ति च प्रयोजनानि। समा दोषा भूयांसो वा। तस्मान्नाऽर्थोऽनेन ज्ञापकेन।।

अथवा यहाँ तो फिर भी एक दूसरे मार्ग से भी काम चलेगा। और वह यह है कि, अवश्य ही यहाँ 'वसु' में सामान्यग्रहणाविघातार्थ ककारानुबन्ध लगाना चाहिए। सामान्यग्रहणाविघातार्थ से कहाँ है प्रयोजन? 'वसो:

संप्रसारणम्'– में। यद्यपि 'वसु' का उकार इत्संज्ञक है तो भी, वह सामान्यग्रहणार्थ है या तदनुब[1]न्धकपरिभाषाप्रवृत्ति के लिये है, यह संदेह उत्पन्न हो जायेगा। इस सन्देह को हटाने के लिये 'वसु' को 'क्वसु' रूप में पढना चाहिये। सो उसी यत्न से 'विद्वान्' यहाँ गुण का भी वारण कर लिया जायेगा। 'विदेर्वसोः शित्त्वम्' इस पूर्व वार्त्तिक से जो वसु को शित्त्व करने का प्रस्ताव रखा था, प्रकृत वार्त्तिक के द्वारा आचार्य ने स्वयं ही उसका परिहार प्रस्तुत किया है कि ककार अनुबन्ध का 'वसु' के साथ प्रयोग कर दो काम निकालेंगे।

'सार्वधातुकादेशेऽनुबन्धा न स्थानिवद्भवन्ति'– इस ज्ञापक (ज्ञाप्य) के साथ दोष भी जुडे हुये हैं और प्रयोजन भी हैं। दोष प्रयोजनों के बराबर हैं, बल्कि अधिक ही हैं– इस हेतु से इससे कोई लाभ नहीं है– इसे रहने ही देते हैं।

भाष्यम्– कथं यानि प्रयोजनानि?

चलो! ज्ञापक को तो रहने देते हैं, पर जो प्रयोजन दिये थे– उनकी क्या गति होगी?

भा०– तानि क्रियन्ते न्यास एव।।

यह कोई समस्या नहीं है; वे तो सब आचार्य के द्वारा न्यास में ही पढ रखें हैं।

भा०– एवमपि[2] भवेत्पित्करणसामर्थ्यात्पित्कृतं स्यान्ङित्करणसामर्थ्यान्ङित्कृतम्। यत्तु खलु पिति ङित्कृतं प्राप्नोति, ङिति च पित्कृतं, केन तन्न स्यात्? तस्माद्वक्तव्यं– 'पिन्न ङिद्भवती'ति, 'ङिच्च न पिद्भवती'ति।।

फिर भी– यह तो ठीक है कि पित् करणसामर्थ्य से 'करोति' इत्यादि में 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (अ०– ३.१.४) अनुदात्तत्व, और इसी प्रकार 'ब्रवीति' इत्यादि में 'ब्रुव ईट्' (अ०– ७.३.९३) से ईट् और ङित्करणसामर्थ्य से 'विश्न' इत्यादि में गुणनिषेधादि हो जायेंगे। किन्तु, जो पित् में ङित्कृत[3] प्राप्त होता है, जैसे कि चिनवाव, चिनवाम[4] इत्यादि में गुणनिषेध और ङित् में पित्कृत प्राप्त होता है, जैसे कि 'ब्रूतात्' इत्यादि में अनुदात्तत्व और ईडागम वह सब किस हेतु से नहीं होगा? इसलिये यह कहना ही चाहिये कि पित्-ङित् नहीं होता और ङित्, पित् नहीं होता।

---

१. (दृष्ट०-पारि० ७२) तदनुबन्धकग्रहणे नातदनुबन्धकस्य ग्रहणं भवति।

२. भाष्ये एवमपीत्यस्य केन तन्न स्यादित्यनेनान्वयः।

३. प्रकृत में लोट् के 'लोटो लङ्वत्' (अ०– ३.४.८५) होने से ङित्कृत प्राप्त है। अथवा 'अवेत्' इत्यादि में लङ् तिप् में अनुदात्तत्व तो हो जाये, पर स्थानिवद्भाव से ङित्त्व के कारण गुणनिषेध प्राप्त होता है।

४. लोटि उत्तमे द्विवचने बहुचने च रूपे इमे– 'आडुत्तमस्य पिच्च' (अ०– ३.४.९२) इत्याडागमः।

भा०– न वक्तव्यम्। एवं वक्ष्यामि– सार्वधातुकं ङिद् भवति पिन्न। एवं तावत्पितो ङित्त्वं प्रतिषिद्धम्। ततः–असंयोगाल्लिट्किद्भवतीति। ङिच्च पिन्न भवति। एवं ङितः पित्त्वं प्रतिषिद्धम्।।८३।।

नहीं! वह सब कहने की अवश्यकता नहीं है। 'सार्वधातुकमपित्' (अ०– १.२.४) सूत्र में पठित 'अपित्' पद में प्रसज्य[1] प्रतिषेध का आश्रयण करने से उपर्युक्त अभीप्सित अर्थ सम्प्राप्त हो जायेगा। जैसे कि 'सार्वधातुकं ङिद् भवति, पिद् ङित् न भवति' अर्थात् 'सार्वधातुकं पिद् भवन् ङिन्न भवति'। इस रूप में सूत्रार्थ करने से पित् का ङित्त्व प्रतिषिद्ध हो गया[2]। उसके पश्चात् 'असंयोगाल्लिट् कित्' (अ०– १.२.५) सूत्र में अपित् और ङित् दोनों पदों की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ होगा– 'असंयोगाल्लिट् किद् भवति, ङिच्च पिन्न भवति।' ङित् भवन् पिन्न भवति। इस प्रकार, इस अर्थ के अनुसार ङित् का पित्त्व प्रतिषिद्ध हो गया। इससे 'तातङ्' का स्थानिवद्भावप्राप्त पित्त्व प्रतिषिद्ध हो जायेगा। इसीलिये 'ब्रूतात्' यहाँ अनुदात्त और ईट् नहीं होंगे।।

छन्दसि शायजपि।।३.१.८४।।

वा०– ✻ शायच् छन्दसि सर्वत्र।।१।। ✻

भाष्यम्– शायच् छन्दसि सर्वत्रेति वक्तव्यम्।। क्व सर्वत्र? हौ चाऽहौ च।। किं प्रयोजनम्? मही अस्कभायत् यो अस्कभायत् उद्गृभायत उन्मथायतेत्येवम्।।८४।।

वेद में 'ही' के परे रहते 'श्ना' के स्थान में शायच् भी हो जाता है (और शानच् भी)। वार्त्तिककार, शायच् आदेश का क्षेत्र भी और व्यापक कर रहे हैं– ''शायच् आदेश छन्द में सर्वत्र ही हो जाता है''– ऐसा कहना चाहिये। कहाँ सर्वत्र-सर्वत्र से क्या अभिप्राय? 'हि' के परे रहते भी और 'हि' से भिन्न अन्य भी किसी प्रत्यय के परे रहते। क्या प्रयोजन है? 'मही अस्कभायत् यो अस्कभायद्[3] उद्गृभायत उन्मथायत' इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि हो जाये।।८४।।

---

१. प्रसज्य प्रतिषेध में 'न' का अन्वय उत्तरपद के साथ न होकर क्रिया के साथ होता है।

२. पित् का ङित्त्व प्रतिषिद्ध हो जाने से 'अचिनवम्' यहाँ लङ् के ङित् धर्म को लेकर स्थानिवद्भाव से 'अम्' को ङित् नहीं माना जायेगा।

३. 'स्कन्भुः' सौत्रो धातुः, लङि तिप्, श्नः शायच्, लुङ्लङ्लृङ्क्ष्विति अडागमः, तस्य शायचो ङित्त्वात् 'अनिदितां हल०' (अ०– ६.४.२४) इति नलोपः।

व्यत्ययो बहुलम्।।३.१.८५।।

वा०– ❊ योगविभाग: कर्त्तव्य:।।१।। ❊

भा०– 'व्यत्यय:'। व्यत्ययो भवति स्यादीनामिति। आण्डा शुष्णस्य भेदति[1], भिनत्तीति प्राप्ते। स च न मरति, म्रियत इति प्राप्ते।।

वेद में बहुल करके विकरणव्यत्यय हो जाता है। वार्त्तिककार, योगविभाग के द्वारा विकरणविषय से अन्यत्र भी व्यत्यय का विधान करना चाह रहे हैं। कीलहार्न के अनुसार 'योगविभाग: कर्त्तव्य:' वार्त्तिक न होकर भाष्यवचन ही है।

योगविभाग करना चाहिये। व्यत्यय:। स्य-तासि प्रभृति विकरणों का व्यत्यय[2] हो जाता है। जैसे– आण्डा शुष्णस्य भेदति [(वह इन्द्र) शुष्ण = शोषक असुर की, आण्डा = आण्डानि-सन्तानों को तोड-फोड देता है, नष्ट कर देता है।] स च न मरति[3] (वह नहीं मरता है।) इन उदाहरणों में क्रमश: भिनत्ति (श्नम्), म्रियते (श्यन्) विकरणों की प्राप्ति में 'शप्' हो रहा है।

भाष्यम् – ततो 'बहुलम्'। बहुलं च्छन्दसि विषये सर्वे विधयो भवन्तीति। सुपां व्यत्यय:, तिङां व्यत्यय:, वर्णव्यत्यय:, लिङ्गव्यत्यय:, कालव्यत्यय:, पुरुषव्यत्यय:, आत्मनेपदव्यत्यय:, परस्मैपदव्यत्यय इति।

इसके पश्चात् दूसरा सूत्र होगा– बहुलम्। वेद विषय में सभी विधियाँ बहुल करके होतीं हैं। जैसे– सुपों का व्यत्यय, तिङों का व्यत्यय, वर्णव्यत्यय, लिङ्गव्यत्यय, कालव्यत्यय, पुरूषव्यत्यय, आत्मनेपदव्यत्यय, परस्मैपदव्यत्यय इत्यादि।

भा०– सुपां व्यत्यय:– युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणाया:। दक्षिणायामिति प्राप्ते।। तिङां व्यत्यय:– चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति। तक्षन्तीति प्राप्ते।। वर्णव्यत्यय:– त्रिष्टुभौज: शुभितमुग्रवीरम्। सुहितमिति प्राप्ते।। लिङ्गव्यत्यय:– मधोर्गृह्णामि। मधोस्तृप्ता इवासते। मधुन इति प्राप्ते।। कालव्यत्यय:– श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन। श्व: सोमेन यक्ष्यमाणेन। आधात यष्टेत्येवं प्राप्ते।। पुरुषव्यत्यय:– अधा स वीरैर्दशभिर्वियूया:। वियूयादिति प्राप्ते।। आत्मनेपदव्यत्यय:– ब्रह्मचारिणमिच्छते। इच्छतीति प्राप्ते।। परस्मैपदव्यत्यय:– प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति। युध्यत इति प्राप्ते।।

---

१. ऋग्– ८.४०.११।

२. व्यत्यय का अर्थ है– व्यतिगमन, अथवा शुधितम् परस्पर अदल-बदल, एक नियम की जगह दूसरा नियम प्रवृत्त हो जाना।

३. ताश्चिन्नु न मरन्ति (ऋग्०- १.१९१.१२) पाठ उपलभ्यते।

अब एक-एक व्यत्यय पर सोदाहरण विचार किया जा रहा है– सुपों का व्यत्यय– युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणायाः (ऋग्– १.१६४.९) यहाँ 'दक्षिणायाम्' के अर्थ में 'दक्षिणायाः' हुआ है। दक्षिणायाम् धुरि माता (पृथिवी) युक्ता आसीत्।। तिङों का व्यत्यय- चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति है। (ऋग्– १.१६२.६, तै० सं०- ४.६.८.६)। यहाँ तक्षन्ति के अर्थ में तक्षति है।। वर्ण का व्यत्यय– त्रिष्टुभौजः शुभितम् ('शुधितम्' पाठभेद) उग्रवीरम्। (तै० सं०– ४.४.१२.४)। सुहितम् के अर्थ में शुभितम् अथवा शुधितम् है। स् को श् और ह् को भ् हो गया हैं। **'लिङ्ग का व्यत्यय–'** मधोर्गृह्णमि, मधोस्तृप्ता इवासते। 'मधुनः' इस प्रकार नपुंसक निर्देश प्राप्त था, उसके स्थान में 'मधोः' पुल्लिङ्ग पाठ है। कालव्यत्यय– काल का व्यत्यय तो परमप्रभु के लिये भी अशक्य है– इसलिये कालव्यत्यय से अभिप्राय है– कालविहितप्रत्यय का व्यत्यय। 'श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन,' 'श्वः सोमेन यक्ष्यमाणेन' (तै०ब्रा०– १.१.९) श्व आधाता, श्व यष्टा– ऐसा 'अनद्यतने लुट्' (अ०– ३.३.१५) प्राप्त था। **पुरुष का व्यत्यय–** अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः (ऋग्- ७.१०४.१५) वह अपने दस वीर पुत्रों से जुदा हो जाये जो मुझपर झूठा आरोप लगा रहा है। यहाँ वियूयात् के अर्थ में वियूयाः है। आत्मनेपद का व्यत्यय– ब्रह्मचारिणमिच्छते (अथर्व० ११.५.१७) इच्छति के अर्थ में इच्छते है। परस्मैपद का व्यत्यय-प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति। (मैं० सं०– ४.१.१) यहाँ युध्यते के अर्थ में युध्यति है। एक अन्य ऊर्मि (=तरङ्ग) विपरीत युद्ध कर रही है।

भा०– सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिद्ध्यति बाहुलकेन।।

सुप्, तिङ्, उपग्रह (लादेशव्यङ्ग्य क्रियासाधनविशेष स्वार्थत्वपरार्थत्व-व्यक्तवाक्त्वादिक प्रकृत में उस लादेशव्यङ्ग्य स्वार्थत्वादि की प्रतीति के निमित्त परस्मैपद– आत्मनेपद लक्षण से उपग्रह शब्द से कहे जा रहे हैं), लिङ्ग (स्त्री, पुन्नपुंसक), नर (प्रथम-मध्यम-उत्तम पुरुष) काल (कालविहित प्रत्यय), हल्, अच्[1],स्वर[2] (उदात्तानुदात्त स्वरित), कर्तृ[3] (यह कारकोपलक्षण है = कारकों का व्यत्यय), यङ् (यह प्रत्याहारग्रहण है– 'सार्वधातुके यक्' के यकार से आरम्भ कर लिङ्याशिष्यङ् के ङकार तक, अर्थात् यगादि अङ् पर्यन्त प्रत्यय) शास्त्रकृत् आचार्य पाणिनि उपर्युक्त सुबादि का व्यत्यय चाहता है।

---

१. उपगायन्ति मा पत्नयो गर्भिणयो युवतयः। यहाँ दीर्घ ईकार को ह्रस्व इकार हो गया है। पत्न्यः, गर्भिण्यः के लिये 'पत्नयो गर्भिणयः' ऐसा प्रयोग हुआ है।

२. स्वरव्यत्यय परादिश्छन्दसि बहुलम् (अ०– ६.२.१९८) आदि में कहा गया है।

३. कर्तृव्यत्यय एक अर्थ में विभक्ति व्यत्यय है, जैसे 'आसादयद्भिरूभयोर्वेदाः' यहाँ 'आसादयद्भ्यः' संप्रदान के अर्थ में करण हो गया।

वह भी तथाविध व्यत्यय बाहुलक से सिद्ध हो जाता है। बहुलस्य भावो बाहुलकम्– यहाँ 'मनोज्ञादि०' (अ०– ५.१.२३२) से 'वुञ्' हो रहा है। बहुल शब्द का बह्वर्थादानरूप[1] जो प्रकृत्तिनिमित्त है, वही यहाँ बाहुलक शब्द से कहा जा रहा है। 'च' शब्द हेतु में है– यस्मादेवमुक्तप्रकारो व्यत्ययो बहुलग्रहणेनैव सिद्ध्यति, तस्माद् बहुलग्रहणं कृतमित्यर्थ:।

शास्त्रकार ने आपने शास्त्र का प्रवचन बहुधा प्रयुक्त वैदिक एवं लौकिक प्रयोगों की दृष्टि से उत्सर्ग एवं अपवाद नियमों के आधार पर किया है। 'य एव लौकिकास्त एव वैदिका:'– मीमांसा शास्त्र का यह न्याय लौकिक-वैदिक शब्दों के साधारणत्व का ही बोध करा रहा है। इस प्रकार विशाल शब्दराशी को देखकर आचार्य ने उनमें प्रकृति-प्रत्यय-आगम-आदेश की कल्पना करके सामान्य नियमों के द्वारा जितने शब्द संगृहीत हो सकते थे उनका संग्रह कर दिया। शेष बचे हुये शब्दों के लिये अपवादनियम बना दिये। उनसे भी जो बच गये ऐसे लौकिक प्रयोगों की सिद्धि के लिये 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (अ०– ६.३.१०८) बना दिया। किसी एक या अनेक शब्दों को जब लोक भाषा में ही विशेषरूप से प्रयुक्त होते हुये देखा तो, उनके लिये 'भाषायाम्' ऐसा कह दिया। विशिष्ट वैदिक शब्दों के साधुत्व का बोध कराने के लिये, ब्राह्मणे-छन्दसि-निगमे इत्यादि संकेत दे दिये। फिर भी, यत: शब्दों का प्रयोगक्षेत्र सुविस्तृत है– विशेषकर वैदिक भाषा में प्रयुक्त जो शब्द थे, वे सामान्य और अपवाद नियमों से भी जब संकलित नहीं हो पा रहे थे, तो उनके लिये 'व्यत्ययो बहुलम्', 'उणादयो बहुलम्', 'बहुलं छन्दसि'– ऐसा कह दिया। इनसे भी असंगृहीत वैदिक पदों के प्रयोगों को सिद्ध करने के लिये 'व्यत्ययो बहुलम्' सूत्र का 'बहुलम्' यह योगविभाग किया। ठीक ऐसा ही एक योगविभाग आचार्य ने 'षष्ठीयुक्तँछन्दसि वा' (अ०– १.४.९) सूत्र में 'वा' के द्वारा भी दर्शाया है। 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' (म०भा०– ६.१.२२३) न्याय के अनुसार किसी बात को अध्येताओं के मन में दृढतापूर्वक बिठाने के लिये, आचार्य ने एक ही बात को कई-कई जगह समझाया है– भाष्यकार का यह प्रकार सुविदित ही है। 'सर्वेविधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते' इस परिभाषा का मूल उपर्युक्त योगविभाग ही है। शब्द और उनके अर्थो का बोध कराने के लिये व्याकरण तो मात्र एक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया से अनभिज्ञ कुछ लोग ऐसा प्रश्न पूछ बैठते हैं कि, जब 'वेद' परमात्मा की वाणी है, तो परमात्मा के समान ही इसे भी पूर्ण होना चाहिये। फिर इसमें यह अपूर्णता क्यों है– जो हमें व्यत्यय करना पडता है? ठीक वही शब्द (जैसे कि दक्षिणाया के स्थान में दक्षिणायाम्) क्यों न उच्चारित कर दिया गया जिनको कि अब व्यत्यय के द्वारा प्राप्त किया जा रहा है?

---

१. बह्वर्थ आदानरूप------।

इस समस्या का एक उत्तर तो भाष्यकार ने स्वयं ही 'अच: परस्मिन् पूर्वविधौ' (अ०– १.१.५७) सूत्रभाष्य के व्याख्यान में इस प्रकार दिया है– ''प्रातिपदिकनिर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति न कांचित् प्राधान्येन विभक्तिमाश्रयन्ति। तत्र प्रातिपदिकार्थे निर्दिष्टे यां यां विभक्तिमाश्रयितुं बुद्धिरुपजायते सा साश्रयितव्या।'' प्रातिपदिकों के निर्देश के द्वारा कुछ अर्थ का कथन करना मात्र अभीष्ट होता है। किसी भी एक विभक्ति का, जो कि उनके साथ जुडी हुयी है, वे प्रधानता से उसका आश्रयण नहीं करते। वह-वह विभक्ति तो उस-उस प्रातिपदिक के अर्थ का निर्देश मात्र करने के लिये है। जब प्रातिपदिक-संबद्ध विभक्ति के द्वारा प्रातिपदिकार्थ निर्दिष्ट हो गया तो, अब उस विभक्ति का काम तो पूरा हो गया– किन्तु यदि किसी दूसरी विभक्ति का भी अर्थ चाहिये तो, उसका आश्रयण नि:संकोच कर लिया जायेगा। इस प्रकार अर्थविस्तार के कारण ऐसा होता है।

दूसरी एक बात यह है कि, शब्द नित्य हैं और उनके अर्थ भी नित्य है। और शब्द व अर्थ का परस्पर संबन्ध भी नित्य है। व्याकरण, शब्दों को बनाता नहीं है, यह तो बने हुये शब्दों में ही एक-एक भाग का कुछ-कुछ नाम रखकर अर्थ बोधन कराने का साधनमात्र है। उन शब्दों में एक-एक हिस्से के जो प्रकृति प्रत्ययादि नाम रखे गये हैं वे साधारण धर्म के आधार पर रखे गये हैं और कुछ विशेष धर्मों को भी साथ में ले लिया गया है। फिर भी शब्दराशि इतनी विशाल है कि समस्त शब्दों में साकल्येन सभी प्रकृतियों और सभी प्रत्ययों का नाम लेकर परिगणन करना और फिर अर्थ बताना असंभव ही है। भाष्यकार ने स्वयं ''समर्थ: पदविधि:'' सूत्र भाष्य में किसी प्रसङ्ग में यह बात स्वीकार की है– ''असंभव: खल्वप्यर्थादेशनस्य। को हि नाम समर्थो धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामर्थानादेष्टुम्।'' सो इस व्यत्ययसंबन्धी व्यवस्था को इस रूप में ग्रहण करना चाहिये कि सभी शब्द ही सभी विभक्तियों में सभी अर्थों को कहने में सक्षम है। अभियुक्तों के द्वारा यह उक्ति प्रचलित भी है कि– 'सति तात्पर्ये सर्वे सर्वार्थवाचका:।'' सो 'दक्षिणाया:' भी 'दक्षिणायाम्' के अर्थ को कहने में सक्षम है। या यों कहें कि जैसे किसी-किसी शब्द के किसी एक ही विभक्ति में अथवा पृथक्-पृथक् विभक्तियों में भी एकाधिक रूप उपलब्ध होते हैं, पर चूँकि वे उस रूप में पुन: पुन: प्रयुक्त होते हैं, इसलिये उनका अर्थ समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। जैसे 'मति' शब्द का मत्या: और मते: रूप हमारे सामने आता है तो प्रसङ्गानुसार पञ्चमी या षष्ठी का अर्थ ग्रहण करने में हमें कोई असुविधा नहीं होगी– पर कहीं मतौ शब्द आ जाये और अर्थ पञ्चमी का अभीष्ट हो तो हमारा मन अभ्यस्त न होने से पीछे हटने लगता है और वैदिक भाषा में यह अपूर्णता क्यों है– ऐसी चिन्ता व्यक्त करने लगता है। यदि कहीं 'मतौ' इस प्रयोग से पंचमी का अर्थ ही निकल रहा हो तो वैयाकरण इसका व्यत्यय के द्वारा समाधान कर तो देंगे– पर गहराई से देखेंगे कि 'यह व्यत्यय है क्या ?' तो पता चलेगा कि पंचमी में भी 'मतौ' रूप बनता है, जिसका कि आचार्य ने अल्प प्रयोग होने के कारण सामान्य और विशेष नियम (उत्सर्ग-अपवाद) के अन्तर्गत अन्वाख्यान नहीं किया। व्यत्यय कहकर अध्येताओं को एक दिशा दे दी कि इसको इस रूप में समझ लेना चाहिये। यह तो हुयी सुप्

व्यत्यय की बात। इसी प्रकार तिङ्व्यत्यय को भी इसी दिशा से समझा जा सकता है। जैसे कि तक्षन्ति के लिये 'तक्षति' प्रयोग हो गया। यहाँ यह जानना चाहिये कि बहुवचन में तक्षन्ति और तक्षति दोनों भी बनते हैं– जैसे कि 'या' धातु का लङ् प्रथम पुरुष बहुवचन में 'अयु:' 'अयान्'– ऐसे दो रूप बनते हैं। और देखिये; केनोपनिषत् का एक प्रसिद्ध वाक्य है–

''यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।'' यहाँ यही समझना होगा कि 'पश्यति' और 'पश्यन्ति' दोनों रूप बहुवचन में बनते हैं। कोई कहे कि बहुवचन में 'अन्ति' दिखायी देना चाहिये। हाँ! कठिनाई इस 'चाहिये' के कारण ही तो है। 'चाहिए' की उत्पत्ति तो हमारी अपनी दृष्टि के कारण हो गयी है। और देखो 'ददति' इत्यादि में कभी भी हम 'अन्ति' का आग्रह नहीं करते। आचार्य ने तो सुहृत् होकर सामान्यरूप से अर्थबोध करने का एक ढँग बताया। अब हम उसी से चिपक गये। आचार्य व्यत्यय के द्वारा हमारी उस संकीर्ण दृष्टि को ही तोडना चाहते हैं।

इसी प्रकार 'इच्छति' के लिये 'इच्छते' इस प्रयोग को भी समझा जा सकता है। इच्छति और इच्छते, प्रथमपुरुष एकवचन में ये दो प्रयोग हैं, मुण्डकोपनिषद् के प्रसिद्ध वाक्य 'सत्यमेव जयते नानृतम्' में भी यही समझना होगा।

लिङ्ग के विषय में तो प्रसिद्ध ही है– 'लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य'। कालविहित प्रत्ययों के व्यत्यय के विषय में भी समझा जा सकता है, वैदिक भाषा में, वह प्रयोग भी उस काल के लिये प्रयुक्त होता है। हल् व्यत्यय; जैसे 'गृह्णामि' के लिये 'गृभ्णामि' प्रयोग हो रहा है। यहाँ, यह समझना होगा कि कहीं 'ग्रह् तो कहीं 'गृह्' तो फिर कहीं 'गृभ्' एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, जैसे कि 'यजन' में 'यज्' और 'इष्ट:' में 'इष्'– एक ही अर्थ में प्रयुक्त हो रहे हैं।

विकरण व्यत्ययों के विषय में यह समझा जा सकता है कि आचार्य यह दर्शा रहे हैं कि एक ही धातु कई सारे गणों में पढी हुयी हैं। कहीं-कहीं द्विविकरणता और त्रिविकरणता भी उपलब्ध होती है, वह पाणिनीय व्याकरण के परिप्रेक्ष्य में केवल उस-उस प्रयोग को समझने का सौकर्यमात्र है। जैसे नेषतु में दो विकरण हैं– सिप् और शप्। यह केवल एक समझने का ढँग है। इसके लिये ही यदि एक स्वतन्त्र सूत्र बना देते कि 'नी' धातु से 'स' विकरण होता है, तो 'अटपटा' नहीं लगता। इसी प्रकार त्रिविकरणता के प्रसङ्ग में भी समझ लेना चाहिये। सो भाषा की क्या पूर्णता और क्या अपूर्णता। भाषा तो भाषा है। जो है उसको ग्रहण कर किसी भी उपाय से उसका संकेत अर्थ जान लेना चाहिये।

इस व्यत्यय के ही ढँग की एक बात पिंगल छन्दशास्त्र में भी कही गयी है– वहाँ तृतीयाध्याय का दूसरा ही सूत्र है 'इयादिपूरण:'। अर्थात् वेदमन्त्रों के प्रत्येक पाद में अक्षरों की संख्या नियत होती है। यदि किसी पाद

में एक-दो अक्षरों की न्यूनता हो तो, वहाँ 'इय्-उव्' इत्यादि के द्वारा पाद पूर्त्ति कर लेनी चाहिये। जैसे– तत् सवितुर्वरेण्यं-----इस गायत्री छन्द में २४ अक्षरों की अपेक्षा २३ अक्षर हैं। २४ वाँ अक्षर पूरा करने के लिये 'वरेण्यम्' पद में 'इय्' के द्वारा 'ण्य' को 'णिय' करके 'वरेणियम्' कर देने से ८-८ अक्षर के तीन पाद हो जाते हैं। इसी भाँति 'दिवं गच्छ स्वः पत----- इस मन्त्र में 'स्व' पद में 'उव्' के द्वारा सुवः कर देने से ८ अक्षर पूरे हो जाते हैं।

यहाँ कोई कहे कि इससे तो वैदिकभाषा की अपूर्णता सिद्ध होती है, तो यह उसका आक्षेप ठीक नहीं होगा। क्यों कि भाषा का काम तो इतना ही है कि, भाषा, श्रोता या वक्ता या दोनों को ही अर्थ का अभिव्यञ्जन करती हुयी भावलोक में पहुँचा दे। यहाँ तो केवल छन्दशास्त्र के आचार्य ने उच्चारण सौकर्य की दृष्टि से ऐसा निर्देश कर लिया है। हम देखते भी हैं कि अनपढ लोग जब इस मन्त्र को बोलते हैं तो सहज रूप से उनके मुख से 'वरेणियम्' ही निकलता है। 'इयादिपूरणः' के द्वारा आचार्य ने मुख से निकलते सहज प्रवाह का समर्थन कर दिया है।।८५।।

लिङ्याशिष्यङ्।।३.१.८६।।

भाष्यम्– अयमाशिष्यङ् विधीयते। तस्य किं प्रयोजनम्?

आशीर्विषय में यह अङ् विकरण विधान किया जा रहा है– उसका क्या प्रयोजन है?

वा०– ✲ आशिष्यङः प्रयोजनं स्थागागमिवचिविदयः।।१।। ✲

भा०– स्था उपस्थेषं वृषभं तुग्रियाणाम्। स्था।। गा– अञ्जसा सत्यमुपगेषम्। गा।। गमि– यज्ञेन प्रतिष्ठां गमेयम्। गमि।। वचिमन्त्रं वोचेमाग्नये। वचि।। विदि-विदेयमेनां मनसि प्रविष्टाम्।। शकिरुहोश्चेति वक्तव्यम्– शकेम त्वा समिधम्। अस्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये।।

आशीर्विषय में अङ् करने का प्रयोजन है– स्था, गा , गम्, वच् और विद् इन धातुओं के रूप सिद्ध हो जायें। जैसे 'उप' पूर्वक स्था धातु से आशीर्विषय में लिङ्, अङ्, यासुट् मिप् (=अम्) उप+स्था+अ+यास् अम् इस स्थिति में 'छन्दस्युभयथा' (अ०– ३.४.११७) से सार्वधातुक-आर्धधातुक उभयसंज्ञा होने से, सार्वधातुकसंज्ञा मानकर 'अतो येयः' (अ०– ७.२.८०) से या-मात्र को 'इय्' आदेश, आर्धधातुकत्व के आश्रय से सकारलोपाभाव, 'आतो लोप इटि च' (अ०– ६.४.६४), स्था के 'आ' लोप, 'लोपो व्योर्वलि' (अ०– ६.१.६४) से 'इय्' के यलोप, 'अङ्' के अकार और 'इय्' के इकार को 'आद् गुणः' (६.१.८४) से गुणैका देश, तथा 'आदेशप्रत्यययोः' (८.३.५९) से सकार को षत्त्व होकर, 'उपस्थेषम्' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'उपगेषम्'– यहाँ, गै-शब्दे धातु से अङ्। 'गा+अङ्+यास् अम्' इस स्थिति में 'या' को इयादेश, आर्धधातुकत्वाश्रयेण सलोपाभाव, यलोप, षत्व, आकारलोप और गुण करने पर 'उपगेषम्' सिद्ध हुआ। गमेयम्– गम्+अङ्+यास् अम्– यहाँ सकार का भी लोप होने पर 'गम्+अ+या अम्'। पूर्ववत् 'इय्' आदेश और गुण होकर– गमेयम्।

वोचेम– वच्+लिङ्, मस्-सलोप 'नित्यं ङितः' (३.४.९९) यासुट्, अङ्, 'वच उम्' (७.४.२०) से 'उम्' आगम, इय्, यलोप = 'व उम् च्+अ यास् मस् = व उच्+अ+इय् म = वोचेम। विदेयम् = विद्+अङ् +यास् मिप् = विद्+आ+इय् अम् =विदेयम्। शकेम् = शक्+अङ्+यास् मस् = शक्+अ+इय् म = शकेम। आ रुहेम = आ+रुह्+अङ्+यास् मस् = आरुह्+अ+इय् म = आरुहेम।'

वा०– ✻ दृशेरक् पितरं च दृशेयं मातरं च।।२।। ✻

भाष्यम्– दृशेरग्वक्तव्यः। 'पितरं च दृशेयं मातरं च दृशेयमित्येवमर्थम्।'

'दृश्' धातु से अङ् न कहकर 'अक्' कहना चाहिये। अङ् यदि करेंगे तो 'ऋदृशोऽङि गुणः' (अ०– ७.४.१६) गुण होने लगेगा। 'अक्' में 'क्ङिति च' से गुणनिषेध हो जायेगा। दृश्+अक्+यास्+मिप् = दृश्+अ+इय्+अम् = दृशेयम्।

भा०– इह उपस्थेयामेत्यत्राडपि[१] वक्तव्यः। न ह्यङैव सिद्ध्यति।।

यहाँ– 'उपस्थेयाम' में 'मस्' के 'म' को 'आट्' भी कहना चाहिये। केवल अङ् करने मात्र से उक्त रूप सिद्ध नहीं हो पायेगा। अन्यथा यलोप होकर 'वोचेम' की भाँति 'उपस्थेम' बनने लगेगा। 'उप+स्था+अङ्+यास् आट्+मस् = उप+स्था+अ+इय् आ म = उप स्थ्+एयाम = उपस्थेयाम।'

भा०– न वक्तव्यः। सार्वधातुकत्वात्सलोपः, आर्धधातुकत्वादेत्वम्। तत्रोभयलिङ्गात्सिद्धम्।।८६।।

'उपस्थेयाम' बनाने के लिये जो 'मस्' के 'म' को आट् करने के लिये कहा गया, अब उसके विना भी 'उपस्थेयाम' सिद्ध किया जा रहा है– उपस्था+यास् मस्– इस स्थिति में सार्वधातुक होने से 'यासुट्' का सकारलोप और उसी यासुट् के आर्धधातुक होने से 'एर्लिङि' 'वाऽन्यस्य संयोगादेः' (अ०– ६.४.६७,६८) से आकार को एत्व, इस प्रकार 'उपस्थेयाम' सिद्ध हो जाता है। इस पक्ष में 'अङ्' भी नहीं कहना पडता है। बस, इतना ध्यान देना होगा कि 'छन्दस्युभयथा' (अ०– ३.४.११७) से अब यहाँ 'लिङ्' उभयलिङ्ग अर्थात् सार्वधातुक-आर्धधातुक उभयसंज्ञक है।।८६।।

---

१. मस्येति शेषः।

कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः।।३.१.८७।।

भाष्यम्– वत्करणं किमर्थम्?

'कर्मणा तुल्यं वर्त्तते' इति कर्मवत्। यहाँ 'तेन तुल्यं क्रिया०' (अ०– ५.१.११४) से वति है। न कि 'तत्र तस्येव' (५.१.११५) से, 'तुल्यक्रियः (कर्ता) इस उपमेय में या उपमान के प्रतियोगी में प्रथमा देखे जाने से। क्योंकि जहाँ षष्ठीसमर्थ या सप्तमीसमर्थ से 'वति' होता है वहाँ उस उपमान या प्रतियोगी जो उपमेय होता है उसमें भी वही विभक्ति देखी जाती है, जैसे– 'विप्रस्येव देवदत्तस्य शीलम्, मथुरायामिव पाटलीपुत्रे प्राकारः'। किन्तु तुल्यार्थयोग में जो तृतीया होती है, वह उपमान से ही होती है, न कि उपमेय से– कारण कि तुल्यशब्द वहाँ उपमेयनिष्ठ होता है। जैसे– चन्द्रेण तुल्यं मुखम् = चन्द्रवत् मुखम्।

'कर्मणा' यहाँ पारिभाषिक कर्म (कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म) लिया गया है, न कि लौकिक क्रियारूप कर्म, क्योंकि, वैसा ग्रहण करने पर 'क्रिया के साथ तुल्य क्रिया है जिस कर्त्ता की'– ऐसा कुछ भी उद्‌दिष्ट अर्थ प्राप्त नहीं होता। कर्म शब्द को साधन-कर्मवाची मान लेने पर भी, कर्म का क्रिया के साथ सादृश्य तो फिर भी नहीं बन पायेगा, क्योंकि क्रिया साध्यस्वभावा होती है और साधन होता है सिद्धरूप, इसलिये इन दोनों का भिन्नस्वभाव होने से 'कर्मणा' यह पद 'तुल्यक्रियः' इसका विशेषण नहीं बन सकेगा। इस कारण 'कर्म' शब्द तात्स्योपाधि से 'कर्मस्थ क्रिया' का बोधक है, जैसे– मञ्चाः क्रोशन्ति। तुल्या क्रियाऽस्य (कर्त्तुः), केन तुल्यक्रियः? कर्मणा = कर्मस्थया क्रियया। सापेक्ष होने पर भी गमक होने से, 'तुल्यक्रियः' यहाँ समास हो गया है। 'तुल्य' शब्द साधारणवाची भी है। जैसे– 'एतौ तुल्यधनौ'[१] इन दोनों का (गायरूप) धन एक ही है। और सादृश्यवाची भी है। अयं देवदत्तेन तुल्यः। यहाँ व्याख्यान से, सादृश्यवाची तुल्यशब्द का ही ग्रहण किया गया है।

अब यहाँ आक्षेप्ता का प्रश्न यह है कि वत्करण का क्या प्रयोजन है? वत्करण के न करने पर भी 'अन्तरेणापि वतिमतिदेशो गम्यते' (म०भा० १.२.१) इस न्याय से जैसे लोक में 'सिंहो माणवकः' ऐसा कहने पर, माणवक को सिंह समान समझा जाता है, तथा शास्त्र में भी 'ञित्-णित्-भिन्न प्रत्यय को ङित् और लिडादि को कित् कहने से, ङित्वत्-कित्वत् अर्थ ग्रहण कर लिया जाता है, तद्वत् प्रकृत में भी कर्मस्थ क्रिया के साथ तुल्यक्रिया वाले कर्त्ता को जब 'कर्म' कहा जायेगा तो उसका अर्थ भी 'कर्मवत्' ऐसा ही गृहीत होगा। इसलिये अब यह प्रश्न होता है कि– आचार्य ने वति सहित निर्देश क्यों किया?

भा०– [२]स्वाश्रयमपि यथा स्यात्। भिद्यते कुसूलेनेति। अकर्मकाणां भावे लो भवतीति भावे लो यथा स्यात्।।

१.तुल्यास्यप्रयत्नम् (अ०– १.१.९) यहाँ भी तुल्यशब्द एक अर्थवाला है।

२. स्वम् = अकर्म तदाश्रयमपीत्यर्थः।

वत् करण का प्रयोजन है– स्वाश्रय कार्य भी हो जाये। वत्करणसामर्थ्य से, उसका अकर्मत्व भी सिद्ध रहेगा। अकर्मत्व के स्थित रहने से 'ल: कर्मणि च०' (अ०– ३.४.६९) सूत्र के नियम से, अकर्मक धातुओं से संबन्धित भाव में लकार सिद्ध हो जायेगा। भाव में लकार होने से 'भिद्यते कुसूलेन'– यहाँ 'कुसूल' अनभिहित कर्त्ता से तृतीया हो जायेगी।

वत्करण न करने पर 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' (अ०– १.४.४६) की भाँति प्रकृत में कर्त्ता की कर्म संज्ञा समझी जाने लगेगी। जिससे 'अकर्मक' इस व्यपदेश के अभाव होने से भाव में लकार नहीं होगा। क्यों कि धातु या तो सकर्मक होगी या फिर अकर्मक। एतच्छास्त्रीयकर्मसंज्ञकाऽन्वयित्व ही तो सकर्मकत्व है। सो अब सकर्मक इस व्यपदेश के रहते हुये 'अकर्मक' यह व्यपदेश नहीं हो सकेगा।

भा०– कर्मणेति किमर्थम्?

सूत्र में 'कर्मणा' ऐसा क्यों कहा? धातुवाच्य क्रिया कर्ता अथवा कर्म में ही समवेत होती है, सो कर्त्तृस्थ क्रिया के साथ तो तुल्यक्रियावाला कर्त्ता संभव नहीं। इसलिये कर्मस्थक्रिया का ही आश्रयण कर लिया जायेगा। प्रत्यासत्ति से धातुवाच्य क्रिया की अपेक्षा से ही तुल्यक्रियत्व का ग्रहण कर लेंगे– ऐसा प्रश्नकर्त्ता का भाव है।

भा०– करणाधिकरणाभ्यां तुल्यक्रिय: कर्त्ता य: स कर्मवन्मा भूद्– साध्वसिश्छिनत्ति, साधु स्थाली पचति।।

'कर्मणा' इस निर्देश के अभाव में कहीं करण– अधिकरण के साथ तुल्यक्रियावाला कर्त्ता कर्मवद्भाव को प्राप्त न होने लग जाये– इसके लिये 'कर्मणा'– ऐसा कहा है। जैसे– देवदत्तोऽसिना साधु छिनत्ति। (देवदत्त) तलवार से बहुत अच्छा छेदन करता है। किन्तु 'असि' इत्यादि के तीक्ष्णत्वादि की जब अतिशय विवक्षा होती है, तब उसी का कर्त्तृत्व के रूप में अभिधान हो जाता है, जैसे– यह तलवार तो बहुत अच्छा छेदन करती है। इसी प्रकार 'देवदत्त: स्थाल्याम् (ओदनं) साधु पचति।' देवदत्त बटलोई में ओदन बहुत अच्छा पकाता है। इस कथन को जब स्थाली पात्र के प्राशस्त्य द्योतन में प्रयुक्त किया जाता है, जैसे कि आजकल 'प्रेशर कुक्कर' की प्रशंसा में प्राय: ऐसी भाषा का प्रयोग सुनने में आता है, तो यही कहेंगे कि 'यह बटलोई तो बहुत शीघ्र और अच्छे चावल पका देती है। सो कर्मग्रहण के अभाव में उपर्युक्त प्रसङ्गो में भी कर्मवद् होने लगेगा। क्योंकि जैसी 'असि' की करणावस्था में छेदनक्रिया है वैसी ही कर्त्ता बनने पर भी है और इसी प्रकार जैसी स्थाली की अधिकरणावस्था में धारणसंभवनादिरूप क्रिया है, ठीक वैसी ही क्रिया कर्त्ता बनने पर है।

भा०– 'तुल्यक्रिय' इति किमर्थम्?

सूत्र में 'तुल्यक्रिय:' क्यों पढा? प्रश्नकर्त्ता का भाव यह है कि, 'कर्मणा' इस तृतीया के द्वारा 'तुल्य' शब्द का अध्याहार करके व्याख्यान कर लिया जायेगा। अर्थात् कर्म के तुल्य[1] (समान) यदि कर्त्ता हो। किन्तु कर्म व कर्त्ता तो पृथक्-पृथक् साधनरूप होने से, अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं– सो उनका तुल्यत्व कैसे होगा? सामर्थ्य से कर्म व कर्त्ता की तुल्यता 'क्रिया' के द्वारा देखी जायेगी– जो कर्म की क्रिया हो वही कर्त्ता की भी हो। इस प्रकार कर्त्ता की कर्म के साथ तुल्यता बन जायेगी, अथवा तुल्यक्रिय ग्रहण करने पर भी अतिप्रसङ्ग रूप वक्ष्यमाण अभिप्राय को हृद्गत करके आक्षेप्ता की ओर से उक्त प्रश्न है। क्योंकि वह अभी 'तुल्य' शब्द के अभिलषित वाच्यार्थ को ग्रहण नहीं कर रहा है।

भा०– पचत्योदनं देवदत्त:।

'कर्मवत्कर्मणा' इतना ही सूत्र रखेंगे तो 'वृद्धो यूना०' (अ०– १.२.६५) की भाँति 'कर्मणा' यह सहार्थ में तृतीया समझकर कर्म के साथ कर्त्ता का प्रतिपादन किया जा रहा हो तो, वह कर्त्ता 'कर्मवत्' हो जाता है– यह अर्थ भी संभव होने लगेगा। अत: 'पचत्योदनं देवदत्त:' इस उदाहरण में भी अतिव्याप्ति होने लगेगी।

इस सूत्रार्थ में कोई पूछे कि 'कर्मणा' इसका व्यावृत्तस्थल क्या होगा, तो 'आस्ते', 'शेते' इत्यादि अकर्मक निवृत्ति के लिये वह समझा जायेगा। एक और अन्य दृष्टि से भी इस प्रसङ्ग की व्याख्या की जा सकती है। प्रश्नकर्त्ता ने पूछा कि सूत्र में 'तुल्यक्रिय:' पढने का क्या प्रयोजन है? समाधाता ने 'पचत्योदनं देवदत्त:' यह उदाहरण प्रस्तुत किया कि यहाँ कर्म में स्थित क्रिया के साथ तुल्यक्रियावाला कर्त्ता नहीं है, वहाँ कर्मवद्भाव न हो। क्योंकि यहाँ 'ओदन' कर्म में तो विक्लित्तिरूप क्रिया है और 'देवदत्त' कर्त्ता में व्यापाररूप क्रिया है। सो यहाँ कर्मस्थक्रिया और कर्त्तृस्थक्रिया भिन्न-भिन्न हो गयी। इस प्रकार 'तुल्यक्रिय:' इस पद के ग्रहण करने से उक्त स्थल में अतिव्याप्ति रुक गयी।

उपर्युक्त आशय को न जानकर आक्षेप्ता पुन: शङ्का करता है–

भा०– 'तुल्यक्रिय' इत्युच्यमानेऽत्र प्राप्नोति। अत्रापि हि कर्मणा तुल्यक्रिय: कर्त्ता।।

क्यों जी! 'तुल्यक्रिय:' ऐसा कह देने पर भी उक्त उदाहरण में कर्मवद्भाव पाता ही है। क्योंकि यहाँ भी तो कर्म के साथ तुल्यक्रियावाला कर्त्ता है।

---

१. 'कर्मणा' यहाँ तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां०' (अ०– २.३.७२) से षष्ठ्यर्थ में तृतीया समझनी है।

आक्षेप्ता यह मान रहा है कि तुल्यशब्द साधारणवाची है– जैसे कि जब यह कहा जाता है कि 'देवदत्तयज्ञदत्तौ तुल्यधनौ' तो उसका अर्थ यही होगा कि, दोनों का कोई एक साझा धन है। 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्'– यहाँ भी 'तुल्य' शब्द का ऐसा ही अर्थ है कि स्थान और प्रयत्न दो वर्णों के एक ही हों तो वे परस्पर सवर्ण होते हैं। प्रकृत में भी कर्त्ता व कर्म दोनों से जन्य होने के कारण, दोनों की साधारण भूत एक ही क्रिया है। इसलिये अब यह प्रश्न बन रहा है कि 'तुल्यक्रिय:' यह कथन 'पचत्योदनं देवदत्त:' इस प्रसङ्ग को कैसे व्यावृत्त करेगा?

भा० –न तुल्यक्रियग्रहणेन समानक्रियत्वमभिधीयते[१]।। किं तर्हि? यस्मिन्कर्मणि कर्त्तृभूतेऽपि[२] तद्वत्क्रिया लक्ष्यते, यथा कर्मणि, स कर्मणा तुल्यक्रिय: कर्त्ता[३] कर्मवद्भवतीति।।

समाधाता उपर्युक्त सापेक्ष का उत्तर देता है– तुल्यक्रियग्रहण के समानक्रियत्व[४] (साधारणक्रियत्व = एक क्रियत्व) अर्थ नहीं कहा जा रहा है। तो क्या? जिस कर्म के कर्त्ता बन जाने पर भी तद्वत् क्रिया लक्षित हो रही हो जैसी की कर्म में, वहाँ कर्मस्थक्रिया के साथ तुल्यक्रियावाला कर्त्ता कर्मवद् होता है– यह कहा जा रहा है।

सामाधाता का भाव यह है कि 'तुल्यक्रियग्रहण' सामर्थ्य से तुल्यशब्द 'साधारणवाची' न लिया जाकर सादृश्यवाची लिया जायेगा। यदि तुल्यशब्द से 'साधारण' यह अर्थ ग्रहण करना ही अभीष्ट होता तो 'कर्मवत्कर्मणा' इतना ही कह देते। 'तुल्यक्रिय:' ऐसे कहने की क्या आवश्यकता थी? किन्तु कर्मस्थक्रिया के साथ तुल्य (सदृश) क्रियावाला कर्त्ता कर्मवद् होता है– ऐसा अर्थ स्वीकार करने पर 'पचत्योदनं०' यहाँ कर्त्तृसंबद्ध[४] धात्वर्थ और कर्मसंबद्ध[५] धात्वर्थ के अत्यन्त भिन्न होने से और इसलिये सादृश्य के अभाव होने से कर्मवद्भाव नहीं होता। 'लूयते केदार: स्वयमेव' इत्यादि विवक्षा में तो केदार की द्विधाभवनलक्षणरूप जैसी क्रिया कर्मावस्था में होती है, वैसी ही अब कर्त्रवस्था में भी हो रही है–

---

१. समानशब्द-एकपर्याय है, जैसा कि 'समानकर्त्तृकयो:' (अ०– ३.४.२१) सूत्र में भी 'एक' अर्थ में समान शब्द का प्रयोग हुआ है।

२. च्वेर्विकल्पेन विधानादत्राऽभाव:। यथा 'उपाद्यम: स्वकरणे' (अ०– १.३.५६) उक्तं हि तत्र भाष्ये यद्येवं 'स्वीकरणे' इति प्राप्नोति। विचित्रास्तद्धितवृत्तय:। नाऽतस्तद्धित उत्पद्यते। अथवा भू प्राप्तावित्यस्याधृषाद्वेति णिचो विकल्पनाद्रूपमेतत्। तेन कर्त्तृत्वं प्राप्त इत्यर्थ:। वृत्तिविषये कर्त्तृशब्द: कर्त्तृत्वे वर्त्तते।

३. 'कर्त्तरि शप्' इत्यतोऽनुवृत्तस्य कर्त्तरीत्यस्य प्रथमया विपरिणाम इत्यर्थ:।

४. 'कर्त्तृसंबद्ध धात्वर्थ व्यापाररूप है– अग्नि जलाना, स्थाली में पानी चढाना, ओदन डालना, बार-बार उसका निरीक्षण करना इत्यादि।'

५. कर्मसंबद्ध धात्वर्थ फलरूप है– ओदन की विक्लित्ति (गलना)।

इसलिये कर्मवद्भाव हो जाता है। यहाँ एक बात पूछी जा सकती है कि; जब कर्मावस्था में भी द्विधाभवनलक्षण क्रिया है और वह कर्म जब कर्त्ता बन जाता है, तब भी वही द्विधाभवनलक्षण क्रिया है तो भेदनिबन्धनसादृश्य की उपपत्ति कैसी होगी? इसका उत्तर यह है: कर्तृ-कर्म अवस्था भेद से एक ही क्रिया को तुलना करके देखा जा रहा है। जैसी क्रियाव्यक्ति कर्म अवस्था में है वैसी ही कर्तृ-अवस्था में इस रूप में सादृश्य उपपन्न हो जायेगा।

वा०— * कर्मवदकर्मकस्य कर्त्ता।।१।। *

भाष्यम्— अकर्मकस्य कर्त्ता कर्मद्भवतीति वक्तव्यम्।। किं प्रयोजनम्? सकर्मकस्य कर्त्ता कर्मवन्मा भूदिति। भिद्यमान: कुसूल: पात्राणि भिनत्तीति।।

अकर्मक धातु का कर्त्ता कर्मवद् होता है— ऐसा कहना चाहिये। क्या प्रयोजन है? सकर्मक का कर्त्ता कर्मवत् न हो। जैसे[1] भिद्यमान: कुसूल: पात्राणि भिनत्ति।

सूत्र में कहा गया है कि जैसी क्रिया कर्म में लक्षित हो रही हो वैसी ही यदि कर्त्ता में भी— तो उस कर्त्ता को कर्मवत् कार्य हो जाते हैं। प्रकृत उदाहरण में भिद् धातु के कर्म पात्रों में जो द्विधाभवन क्रिया है, वही उस क्रिया के कर्त्ता कुसूल में भी है, अर्थात् पात्रों का भी (जो कि यहाँ कर्म बने हुये हैं) द्विधाभवन है और कुसूल (जो कि कर्त्ता के रूप में प्रयुक्त हो रहा है) उसका भी द्विधाभवन है— इस हेतु से कर्मवद्भाव पाता है। अत: उसका निषेध करना चाहिये।

'भिद्यमान: कुसूल: पात्राणि भिनत्ति' पर शिवरामेन्द्र सरस्वती की टिप्पणी द्रष्टव्य है— भिद्यमान इति कर्मकर्तृत्त्वं कुसूलस्यास्तीति प्रतिपादितमनेन विशेषणेन। एवमेव हि 'णेरणौ०' इति सूत्रे 'आरोहयमाणो हस्ती' इत्युक्तम्। एतेन 'पात्राणामपि द्विधाभवनं कुसूलस्यापीति प्राप्नोति कर्मवद्भाव' इति निरस्तम्। कुसूलस्य कर्मावस्थायां यो व्यापार: स एवात्र कर्तृत्वदशायामिति प्राप्नोति कर्मवद्भाव इत्येव तत्रातिप्रसङ्गोपपादनस्योचितत्वात्। अन्यथा 'यस्मिन् कर्मणि कर्त्तृभूतेऽपि तद्वत् क्रिया लक्ष्यते' इत्यादि-पूर्वभाष्यविरोधापत्तेश्च।

भा०— तथा—

वा०— * कर्म दृष्टश्चेत्समानधातौ।।२।। *

भा०— कर्म दृष्टश्चेत्समानधाताविति वक्तव्यम्। इह मा भूत्-पचत्योदनं देवदत्त:। राध्यत्योदन: स्वयमेवेति।।

---

१. 'भिद्यमान:' यहाँ तो कुसूल के कर्मकर्तृत्व के कारण यगात्मनेपद हो गया है, जैसा कि 'णेरणौ०' (१.३.६७) सूत्र भाष्य में भी 'आरोहयमाणो हस्ती'— ऐसा कहा गया है।

'कर्मवदकर्मकस्य कर्त्ता कर्मवद्भवति' इस उपर्युक्त वार्तिक के साथ में यह भी कहना चाहिये कि समानधातु में (एक धातु में) कर्त्ता कर्म रूप से दृष्ट होता है, तब ही कर्मवद्भाव होता है, जब तो अन्य धातु में तो कर्म और किसी अन्य धातु में कर्त्ता होता है– तब कर्मवद्भाव नहीं होता। जैसे कि यहाँ नहीं होगा– पचत्योदनं देवदत्तः। [१]राध्यत्योदनः स्वयमेव (ओदन स्वयं पक रहा है)।

यहाँ (पूर्ववाक्य में) जैसी ओदन के कर्मत्व में विक्लित्तिरूपक्रिया लक्षित हो रही है, वैसी ही उत्तरवाक्य में कर्त्तृत्व में भी, पर धातु भिन्न हो गयी है। इसलिये कर्मवद्भाव नहीं होगा। यहाँ, यह बात विशेषरूप से ध्यातव्य है कि मात्र कर्मस्थक्रिया के साथ तुल्यक्रियत्व का प्रतिपादन करने के लिये दो भिन्न वाक्यों का प्रयोग करके दिखाया गया है, एक साथ इस रूप में प्रयोग कभी भी नहीं होता। अर्थात् पूर्ववाक्य के साथ इस विवक्षा में उत्तर वाक्य का प्रयोग नहीं होता है। अथवा यों कहे कि, उत्तरवाक्यवाली विवक्षा में उसके साथ इस पूर्ववाक्य का प्रयोग नहीं होता। सो इसे केवल प्रक्रिया मात्र का प्रदर्शन समझना चाहिये। प्रक्रियाकाल में भी यदि उपर्युक्त प्रयोग को स्वीकार नहीं करेंगे तो, 'ओदनं पचति, पच्यते ओदनः स्वयमेव' इन दो वाक्यों से तुल्यक्रियत्व का प्रतिपादन नहीं हो सकेगा। क्योंकि प्रयोग में तो केवल एक ही वाक्य बोला जाता है– पच्यते ओदनः स्वयमेव।'

यदि ऐसी बात है कि जिस धातु में कर्म हो, उसी धातु में कर्त्ता हो, तभी कर्मवत् अतिदेश होता है, तो 'लुनाति केदारं देवदत्तः' यहाँ अण्यन्त 'लू' धातु के प्रयोग में 'केदार' का कर्मत्व देखा गया, वही 'लावयते केदारः स्वयमेव' यहाँ ण्यन्त 'लावि' धातु के प्रयोग में कर्त्तृत्व को प्राप्त हो गया, सो अब उसे धातुभेद होने से कर्मवद्भाव नहीं हो सकेगा। इस समस्या का वैयाकरण दो प्रकार से समाधान करते हैं– कुछ के अनुसार 'लू' और 'लावि' में अत्यन्त धातुभेद नहीं है– इतना भेद सहन कर लिया जायेगा। अर्थात् 'लू' और 'लावि' को समान धातु ही मान लिया जायेगा। जहाँ अत्यन्त धातुभेद होता है, वहाँ कर्मवद्भाव निवृत्ति के लिये वार्त्तिककार ने समानधातुग्रहण का प्रस्ताव रखा है न कि कथंचिद् अभेद में भी। और अन्य कुछ वैयाकरण निवृत्तप्रेषणपक्ष का आश्रयण करते हुये कहते है कि 'लावि' धातु में ही 'केदार' का कर्मत्व है और 'लावि' में ही कर्त्तृत्व है, इसलिये कोई दोष नहीं है। उनका भाव है– 'लू' धातु द्विधाभवनोपसर्जन द्विधाभावन अर्थ में वर्त्तमान है– 'लुनाति देवदत्तः' केदारं, द्विधाभवन्तं द्विधाभावयति।' सो केवल[२] द्विधाभवन अर्थ में वर्त्तमान 'लू' धातु से देवदत्तव्यापार में णिच् उत्पन्न होता है तब जो अर्थ 'लुनाति केदारं देवदत्तः' का है वही 'लावयति केदारं देवदत्तः' का होता है। अब सौकर्यातिशय विवक्षा में 'देवदत्त' कर्त्ता को हटाकर 'केदार' को ही कर्त्ता बनाकर जब अभिधान किया जाता है तो 'लूयते केदारः स्वयमेव' से जो अर्थ कहा जाता है, वही 'लावयते केदारः स्वयमेव' से कहा जाता है।

---

१. राधोऽकर्मकाद् वृद्धावेव (धा० दि० ६९) राधधातु के अकर्मक होने से 'राध्यत्योदनं देवदत्तः' इस रूप में प्रयोग नहीं होता– 'राध्यति ओदनः' अथवा 'राध्यत्योदनः स्वयमेव' ऐसा ही प्रयोग होता है।

२. केवल द्विधाभवन भी लू धातु का अर्थ है–शब्दशक्ति स्वभाव से।

इस प्रकार 'लावयति' में ही 'केदार' कर्म है और 'लावयति' में ही कर्त्ता। लावयते केदार: स्वयमेव– यहाँ कर्मवद् भाव फल केवल आत्मनेपद ही है। यक्, चिण् का तो 'णिश्रन्थिग्रन्थि०' (म०भा०वा० ३.१.८६) से प्रतिषेध हो जाता है। 'णिचश्च' (अ०– १.३.७४) से तो आत्मनेपद की सिद्धि नहीं हो सकती थी। कारण कि, क्रियोद्देश्य फल के कर्त्तृगामी न होने से।

भा० तथा–

वा०–✻ कर्मस्थभावकानां कर्मस्थक्रियाणां च।।३।। ✻

भा०– कर्मस्थभावकानां कर्मस्थक्रियाणां वा कर्त्ता कर्मवद्भवतीति वक्तव्यम्। कर्त्तृस्थभावकानां कर्त्तृस्थक्रियाणां वा कर्त्ता कर्मवन्मा भूदिति। कर्मस्थभावकानाम्– आसयति देवदत्तं, शाययति देवदत्तम्, स्थापयति देवदत्तम्।। कर्मस्थक्रियाणाम्– गामवरुणद्धि, करोति कटम्।। कर्त्तृस्थभावकानाम्-चिन्तयति, मन्त्रयते।। कर्त्तृस्थक्रियाणाम् गच्छति, धावति, हसति।।

तथा, उपर्युक्त दोनों वार्त्तिकों के साथ यह भी कहना चाहिये कि कर्मस्थभावक और कर्मस्थक्रियक धातुओं का कर्त्ता (ही) कर्मवत् होता है। जिससे कि कर्त्तृस्थभावक और कर्त्तृस्थक्रियक धातुओं का कर्त्ता कर्मवत् न होवें। इनके क्रमश: उदाहरण हैं– जैसे कर्मस्थभावक- आसयति, शाययति, स्थापयति-देवदत्तम्। यहाँ सर्वत्र कर्मवद्भाव होने से आत्मनेपद हो जायेगा– आसयते देवदत्त: स्वयमेव, इत्यादि। कर्मवद्भाव से प्राप्त 'यक्' व 'णिच्' का तो 'णिश्रन्थि०' वार्त्तिक से प्रतिषेध हो जायेगा। कर्मस्थक्रियक– गामवरुणद्धि, करोति कटम्। अवरुध्यते गौ: स्वयमेव, क्रियते कट: स्वयमेव। रुध् व कृ धातु के कर्मवद्भाव होने से यक् व आत्मनेपद हो गया है। 'रुध्' से 'न रुध:' (अ०– ३.१.६४) से प्रतिषेध होने से, चिण् तो नहीं होगा। कर्त्तृस्थभावक-चिन्तयति, मन्त्रयते। कर्त्तृस्थक्रियक-गच्छति, धावति, हसति। कर्त्तृस्थक्रियक और कर्त्तृस्थभावक धातुओं का कर्त्ता कर्मवत् न होने से 'पश्यति राजा स्वयमेव, आरोहति हस्ती स्वयमेव' इत्यादि प्रयोगो में यक् आत्मनेपदादि नहीं होंगे।

'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' (अ०– २.३.३७) 'लक्षणहेत्वो: क्रियाया:' (अ०– ३.२.१२६) इत्यादि में भाव व क्रिया का एक ही अर्थ में प्रयोग हुआ है। किन्तु यहाँ भाव का अर्थ है– अपरिस्पन्दनरूप साधन से साध्य धात्वर्थ। तथा क्रिया का अर्थ है– सपरिस्पन्दनसाधनसाध्य धात्वर्थ। 'भावे घञ्' (अ०– ३.३.१८) इत्यादि में तो सिद्धावस्थापन्न धात्वर्थ भाव है। भर्त्तृहरि ने कर्त्तृस्थभावकत्व और कर्मस्थभावकत्व को कैसे जाना जाये– इसके लिये एक व्यवस्था दी है–

विशेषदर्शनं यत्र क्रिया तत्र व्यवस्थिता।

क्रिया व्यवस्था त्वन्येषां[१] शब्दैरेव[२] प्रकल्पिता।। (वा०प०सा० ६६)

यत्र = जिस कर्त्ता या कर्म में क्रियाकृतविशेष दिखायी देता है, उसी में क्रिया को व्यवस्थित माना जायेगा। जैसे कि 'लू' व 'भिदादि' के कर्म में क्रियाकृत विशेष देखा जाता है– इसलिये ये क्रियायें कर्मस्थ कही जायेंगी। और पश्यति इत्यादि में राजादि के दर्शनकर्त्ता में हर्षादिलक्षण विशेष देखा जाता है, अत: इस प्रकार की क्रियायें कर्त्तृस्थ कही जायेंगी। किन्तु इस व्यवस्था में जो कर्मस्थभावक पच्यादि हैं, वहाँ कर्त्ता में भी परिश्रमादिविशेष देखे जाने से, उन्हें भी कर्त्तृस्थ क्रियक कहा जाने लगेगा, जो कि अनिष्ट है। इसलिये अन्यों का यह मत है कि शब्दों (धातुओं) के द्वारा ही जहाँ भी (कर्त्ता में या कर्म में) क्रिया की विशेष रूपेण अवस्थिति प्रकाशित (प्रतिपादित) की जाये, वहीं क्रिया स्थित है– ऐसा मानना चाहिये। अर्थात् जिसे धातु की वाच्य फलांशरूप[३] क्रिया (कर्त्तृगत भी होती हुयी) संबन्धविशेष[४] के द्वारा शब्द अर्थात् धातु से जानी जाती है, तब तो वह कर्त्तृस्थक्रियक होती है, और जिस धातु का वाच्य वह फलांश कर्मस्थ ही हो न कि किसी भी प्रकार से कर्त्तृस्थ– वह धातु कर्मस्थक्रियक होगी।

अब हम 'क्रियाव्यवस्था त्वन्येषां शब्दैरेव प्रकाशते'– इस पङ्क्ति की हेलाराजकृत व्याख्या प्रस्तुत करते हैं– 'शब्दप्रमाणकानां हि शब्द एव यथा यथाऽर्थमभिधत्ते, तथैव तस्याभिधानमुपपन्नम्, न तु वस्तुमुखप्रेक्षितया।' शब्दश्च 'पश्यति घटम्' इत्यादौ दृशिक्रियाविषयम् अविशिष्टमेव (विशेषरहितमेव = दृष्टेऽदृष्टे वा घटे विशेषाऽनुपलम्भात्) प्रत्याययति (बोधयति), 'काष्ठं भिनत्ती'त्यादौ तु भिदिक्रियाविषयं काष्ठं सविशेषम् (द्वैधीभावरूपविशेषयुक्तम्) अभिधत्त इति तद्वशेनैव = (अभिधीयमानाऽनभिधीयमानविशेषवशेनैव, न तु दृश्यमानाऽदृश्यमानविशेषवशेन) कर्त्तृस्थभावकत्वं कर्मस्थभावकत्वं चाभिधानीयम् (वक्तव्यम्)।

भाष्यम्– यत्तावदुच्यते– अकर्मकस्य कर्त्ता कर्मवद्भवतीति वक्तव्यमिति, न वक्तव्यम्। वक्ष्यत्येतत्– 'सकर्मकाणां प्रतिषेधोऽन्योन्यमाश्लिष्यत' इति।।

जो यह कहा जा रहा है कि अकर्मक का कर्त्ता कर्मवत् होता है– ऐसा कहना चाहिये; नहीं! कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। आचार्य वार्त्तिककार इसी सूत्र के व्याख्यान में आगे कहेंगे– सकर्मकों का प्रतिषेध करना चाहिये। जैसे 'अन्योन्यम् आश्लिष्यत:'– सो उसी से यह विषय भी सिद्ध हो जायेगा।

---

१. 'मत' इति शेष:। २. धात्वर्थ के दो अंश होते हैं। व्यापारांश व फलांश। यहाँ फलांश के विषय में कहा गया है। क्योंकि व्यापारांश तो सर्वत्र कर्त्तृनिष्ठ ही होता है। फलांश ही कहीं कर्त्तृनिष्ठ होता है कहीं कर्मनिष्ठ।

३. धातुभिरित्यर्थ:। ४. संयोग या समवाय सम्बन्ध अथवा विषयतासम्बन्ध।

इसका भाव यह है कि कालादि से भिन्न जो कोई कर्म है उसके आधार पर ही यहाँ पाणिनीयशास्त्र में अकर्मक व्यवहार होता है अर्थात् कालादि कर्म के होने पर भी धातु को अकर्मक ही माना जाता है– सो, 'मासं पचत्योदनः स्वयमेव' इत्यादि स्थल में 'कर्मवदकर्मस्य' इस उपर्युक्त वार्त्तिक से, कर्मवद्भाव प्राप्त होगा ही– इस कारण से 'सकर्मकाणां प्रतिषेधः' यह वचन आवश्यक है। अन्यथा एक वचन के द्वारा दूसरे वचन के प्रत्याख्यान में कोई लाघव नहीं है।

'अन्योऽन्यमाश्लिष्यतः' यह उदाहरणमात्र है। इसे देखकर, इस भ्रम में नहीं पडना चाहिये कि, व्यतिहारविशिष्टक्रियाविषयक जो कर्मवद्भाव है उसके प्रतिषेध के प्रतिपादन करने के लिये ही यह वचन है। सर्वत्र सकर्मक में प्रतिषेध इष्ट है।

भा०– यदप्युच्यते– 'कर्म दृष्टश्चेत्समानधाताविति वक्तव्य'मिति, न वक्तव्यम्। धातोरिति वर्त्तते। धातोः कर्मणः कर्त्तुरयं कर्मवद्भावोऽतिदिश्यते। तत्र संबन्धादेतद्गन्तव्यं 'यस्य धातोर्यत्कर्म तस्य चेत् कर्त्ता स्या'दिति। तद्यथा– 'धातोः कर्मण्यण् भवति' इति। तत्र संबन्धादेतद्गम्यत– 'यस्य धातोर्यत्कर्मे'ति। इह मा भूत् 'आहर कुम्भम्' 'करोति कट'मिति।।

और जो यह कहा गया कि समानधातु (एकधातु) में ही कर्त्ता जब कर्मत्वेन दृष्ट होता है तभी कर्मवद्भाव होता है– ऐसा कहना चाहिये, जब तो अन्य धातु में कर्म और अन्य धातु में कर्त्ता होता है तो कर्मवद्भाव नहीं होता। यह भी कहने की आवश्यकता नहीं है। 'धातोः' पद की अनुवृत्ति आ रही है। 'धातोः कर्मणः कर्त्तुः' (कर्मत्वेन दृष्टस्य कर्त्तुः अथवा कर्मणः सतः कर्त्तुः) धातु का कर्म रूप में देखा गया जो कर्त्ता, उसे कर्मवद्भाव कहा जा रहा है। सो अब संबन्ध से यह बात जान लेनी चाहिए कि जिस धातु का जो कर्म है, उसी का यदि वह कर्त्ता बन रहा हो जैसे कि 'कर्मण्यण्' सूत्र में हम देखते हैं– कर्म उपपद रहते धातु से अण् होता है, सो वहाँ संबन्ध से यह बात जान ली जाती है कि जिस धातु का संबन्धी जो कर्म है। इसलिये उस सूत्र से– 'आहर कुम्भं, करोति कटम्'– यहाँ अण् नहीं होता।

प्रकृत सूत्र में 'कर्मणा' इस पद के ग्रहण होने से प्रत्यासत्ति के द्वारा उक्त अर्थ प्राप्त हो जाता है– 'यस्य धातोर्यत्कर्म तत्स्थया क्रियया तुल्यक्रियः कर्त्ता तस्यैव धातोर्यदि भवति, ततः कर्मवद् भवति। यद्यपि समर्थपरिभाषा (समर्थः पदविधिः– अ०– २.१.१) से भी यह अर्थलाभ हो सकता था, तथाऽपि इस प्रकार से जो सिद्ध हो सकता है– इस रूप में उपायान्तर दर्शा दिया है।

भाष्यम्– यदप्युच्यते– 'कर्मस्थभावकानां कर्मस्थक्रियाणां वा कर्त्ता कर्मवद्भवतीति वक्तव्यम्, कर्त्तृस्थभावकानां कर्त्तृस्थक्रियाणां वा कर्त्ता कर्मवन्मा भू'दिति, न वक्तव्यम्। कर्मस्थया क्रिययाऽयं कर्त्तारमुपमिमीते, न च कर्त्तृस्थभावकानां कर्त्तृस्थक्रियाणां वा कर्मणि क्रियायाः प्रवृत्तिरस्ति।।

और जो यह कहा गया कि कर्मस्थभावक और कर्मस्थक्रियक धातुओं का कर्त्ता कर्मवत् होता है– ऐसा कहना चाहिये, जिससे कि कर्त्तृस्थभावक और कर्त्तृस्थक्रियक धातुओं का कर्त्ता कर्मवत् न हो। वह भी नहीं कहना चाहिये। क्योंकि कर्मस्थक्रिया के साथ यह आचार्य कर्त्ता को (कर्त्तृस्थ क्रिया को) उपमित कर रहा है। किन्तु कर्त्तृस्थभावक अथवा कर्त्तृस्थक्रियक धातुओं की तो कर्म में (कर्ममात्र में) क्रिया की प्रवृत्ति ही नहीं है। अर्थात् उन धातुओं की वाच्यभूता जो फलरूप क्रिया है उसकी कर्ममात्र में (केवल कर्म में) प्रवृत्ति नहीं है। जैसे 'देवदत्तः ग्रामं गच्छति या राजानं पश्यति'– यहाँ 'गमन' अथवा 'दर्शन' कर्त्तृनिष्ठ है न कि कर्मनिष्ठ। विषयता संबन्ध से राजा में भी 'दर्शन' क्रिया मानें और इसी प्रकार संयोगसंबन्ध से 'ग्राम' कर्म में भी 'गमन' क्रिया मानें तो भी केवल-कर्म में वह-वह क्रिया नहीं हो सकती।

सूत्र में 'कर्मणा' पद के द्वारा जो करणादि के साथ तुल्य क्रिया वाला कर्त्ता कर्मवत् न हो– ऐसा प्रयोजन दिया गया था, वह तो प्रत्यासत्ति से धातुवाच्य[१] क्रिया के द्वारा ही तुल्यक्रियत्व की विवक्षा से सिद्ध हो जायेगा, तब सूत्रार्थ होगा– ''यस्य धातोर्यत्कर्म तत्रत्यक्रियया तस्यैव धातोः कर्त्ता यदि तुल्यक्रियः''। उस स्थिति में 'कर्मणा' इसके उपादान सामर्थ्य से कर्ममात्रनिष्ठ फलरूपकर्मस्थक्रिया लक्षित होगी न कि कर्त्तृ-कर्म उभयनिष्ठ।

क्या इस सूत्र के द्वारा कर्म व्यपदेश के अतिदिष्ट कर दिये जाने पर कर्त्तृव्यपदेश बाधित हो जाता है वा नहीं– इस भाव से अब पूछ रहे हैं–

भाष्यम्– किं पुनः कर्मकर्त्तरि कर्माश्रयमेव भवत्याहोस्वित्कर्त्राश्रयमपि ? किं चाऽतः ? यदि कर्माश्रयमेव, चङ्शप्कृद्विधयो न सिद्ध्यन्ति।

चङ् अचीकरत कटः स्वयमेव। शप्– नमते दण्डः स्वयमेव। कृद्विधिः– भिदुरं काष्ठं स्वयमेव।। अथ कर्त्राश्रयमपि सिद्धमेतद् भवति। किं तर्हीति।।

यद्यपि 'स्वाश्रयमपि यथा स्यात्' ऐसा निर्णय कर चुके हैं, तथापि दोषान्तरोद्भावन के लिये, पुनर्विचार कर रहे हैं।

---

१. धातुवाच्य क्रिया का सीधा संबन्ध तो कर्त्ता अथवा कर्म से ही होता है, न कि करणादि के साथ।

अच्छा, यह बतायें– कर्मकर्त्ता में कर्माश्रय (कार्य) ही होता है, अथवा कर्त्राश्रय भी? इससे आप क्या कहना चाहते हैं? कहना यह चाहते हैं– यदि कर्माश्रय कार्य ही होता है– तो, चङ्-शप् और कृद्विधि सिद्ध नहीं होतीं। जैसे चङ्-अचीकरत कटः स्वयमेव। यक्-चिण् का प्रतिषेध[२] हो जाने पर भी स्वाश्रय 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः०' (अ०– ३.१.४८) और 'कर्त्तरि शप्' (अ०– ३.१.६८) से, 'चङ्' व 'शप्'प्राप्त नहीं होते। शप्-नमते दण्डः स्वयमेव'– यहाँ 'न दुहस्नुनमां०' (अ०– ३.१.८९) से यक् का प्रतिषेध है। कृद्विधि– 'भिदुरं काष्ठं स्वयमेव'। 'कर्त्तरि कृत्' (३.४.६७) से कर्त्ता में 'विदिभिदिच्छिदेः कुरच्' (अ०– ३.२.१६२) से विहित 'कुरच्' प्राप्त नहीं होता। क्योंकि 'लान्तस्य कर्त्ता कर्मवत्' इसे सुस्थापित नहीं किया गया, इस कारण कृद्विधि की असिद्धि उक्त हुयी है। हाँ यदि कर्त्राश्रय कार्य भी हो जाते हैं तो कोई दोष नहीं है। क्या बस इतनी ही बात है, या कुछ और भी कहना चाहते हो? उत्तर देते हैं–

वा०– ✲ आत्मनेपदशबादिविधिप्रतिषेधः।।४।। ✲

भा०– आत्मनेपदं विधेयं शबादीनां च प्रतिषेधो वक्तव्यः।।

आत्मनेपदेन सहिताः शबादय = आत्मनेपदशबादयः, विधिसहितः प्रतिषेधः विधिप्रतिषेधः। आत्मनेपदशबादीनां विधिप्रतिषेधः स तथा। आत्मनेपद का विधान करना चहिए और शबादि का प्रतिषेध करना चाहिए।

भा०– उभयं क्रियते न्यास एव।।

उभयम्– आत्मनेपदविधि और शबादिप्रतिषेध दोनों भी सूत्रन्यास में ही कर दिये गये हैं। अर्थात् वचन के विना ही दोनों सिद्ध हो जायेंगे।

'शेषात् कर्त्तरि०' (अ०– १.३.७८) सूत्र में 'कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे' (अ०– १.३.१४) सूत्र से 'कर्त्तरि' पद की अनुवृत्ति होने से 'कर्त्तैव यः कर्त्ता तत्र परस्मैपदम्'– ऐसा अर्थ बनेगा, अतः कर्मकर्त्ता में परस्मैपद न होने से सामान्यविहित 'भावकर्मणोः' (१.३.१३) से आत्मनेपद हो जाता है। तथा 'कर्त्तरि शप्' सूत्र में 'कर्त्तरि' इस योगविभाग के द्वारा शबादियों की यक् के द्वारा बाधा हो जाती है– 'सार्वधातुके यक्' सूत्र पर इसका विस्तृत निरूपण कर आये हैं।

अथवा अतिदेश के कई प्रकार हैं। जैसे– रूपातिदेश, निमित्तातिदेश, तादात्म्यातिदेश, व्यपदेशातिदेश, शास्त्रातिदेश, कार्यातिदेश। प्रारम्भ के तीन तो प्रकृत में सर्वथा असंभव ही है। व्यपदेशातिदेश संज्ञापक्ष से भिन्न नहीं है, उसका भी वत्करण से निरास कर दिया है–

---

२. 'यक्चिणोः प्रतिषेधे हेतुमण्णि०' (म०भा०वा०- ३.१.८८-१) इति वार्त्तिकेन यक्चिणोः प्रतिषेधः।

कर्मसंज्ञा ही यदि हो जायेगी तो कर्त्तृसंज्ञा नहीं रहेगी– और फिर 'भिद्यते कुसूलेन'– यहाँ भाव में लकार नहीं हो सकेगा। शास्त्रातिदेश में उपर्युक्त समाधान दे ही दिया है। अब बच गया– कार्यातिदेश। कार्यातिदेश में वे सबके सब अतिदिष्ट कार्य प्रकृत सूत्र के द्वारा ही संपन्न किये जायेंगे। इस प्रकार परत्व से आत्मनेपदविधि और शब्बाधा सिद्ध हो जायेगी। कोई कहे– इससे तो स्वाश्रयनिवृत्ति ही हो गयी– तो इसमें यह कहना होगा कि अतिदेश से जो अविरुद्ध स्वाश्रय कार्य है वही हो पाता है, जो विरुद्ध है जैसे कि शबादि और परस्मैपद– वह नहीं होगा। सो 'नमते दण्ड: स्वयमेव' और 'अचीकरत कट: स्वयमेव' इत्यादि में यक्-चिण् के अभाव में चङ् व शप् हो जाते हैं किन्तु इससे अन्यत्र नहीं होते हैं। इस प्रकार कार्यातिदेश में भी कोई अनुपपत्ति नहीं है।

भाष्यम्– किमर्थं पुनरिदमुच्यते?

कर्म का तो कर्त्तृत्व संभव नहीं है, फिर यह सूत्र किस प्रयोजन के लिये बनाया गया है?

वा०–✻ कर्मकर्त्तरि कर्त्तृत्वं स्वातन्त्र्यस्य विवक्षितत्वात्।।५।। ✻

भाष्यम्– कर्मकर्त्तरि[१] कर्त्तृत्वमस्ति।। कुत:? 'स्वातन्त्र्यस्य विवक्षितत्वात्'। स्वातन्त्र्येणैवाऽत्र कर्त्ता विवक्षित:।।

कर्मकर्त्ता में कर्त्तृत्व है। बल्कि यह कहना चाहिये कि वही है, न कि कर्मत्व- इस कारण से यह अतिदेश आरम्भ है। कैसे? 'स्वातन्त्र्य के विवक्षित होने से'। स्वातन्त्र्य के कारण ही यहाँ कर्त्ता विवक्षित है। 'पच्यत ओदन: स्वयमेव' यहाँ विक्लित्तिमात्रवाची 'पच्' धातु है और इस दृष्टि से तो ओदन का कर्त्तृत्व ही है। इसी प्रकार 'लूयते केदार:' यहाँ भी 'लू' धातु द्विधाभवन अर्थ में वर्त्तमान है (न कि द्विधाभवनोपसर्जनद्विधाभावन में) और उसमें 'केदार' का कर्त्तृत्व ही है। भर्तृहरि ने भी अपने शब्दों में इसे स्वीकार किया है–

वस्तुतस्तदनिर्देश्यं न हि वस्तु व्यवस्थितम्।

स्थाल्या पच्यत इत्येषा विवक्षा दृश्यते यत:।। (सा० समु० ९१)

अर्थात्– कर्त्ता, कर्म, करणादि का स्थायी रूप से निर्देश नहीं किया जा सकता, कि किसी की एक बार अधिकरण संज्ञा हो गयी तो वह सदा अधिकरण ही रहेगा। कर्म है तो बस अब कर्म ही रहेगा। क्यों कि 'स्थाल्या पच्यते' इस रूप में भी प्रायोक्त्री विवक्षा देखी जाती है। जहाँ वक्ता 'स्थाल्यां पचति' ऐसा प्रयोग करता है, वहाँ 'स्थाली[२] पचति' या 'स्थाल्या पच्यते' इस रूप में भी प्रयोग करता हुआ देखा जाता है।

---

१. पूर्वं कर्म पश्चात् कर्त्तेति कर्मकर्त्ता– तस्मिन्।

२. स्थाली पचति– स्थाल्या पच्यते (ओदनो देवदत्तेन) यहाँ 'स्थाली' क्रमश: कर्त्ता व करण के रूप में प्रयुक्त हैं।

भाष्यम्– किं पुन: सत: स्वातन्त्र्यस्य विवक्षा, आहोस्विद्विवक्षामात्रम्? 'सत:' इत्याह।। कथं ज्ञायते? इह भिद्यते कुसूलेनेति, न चाऽन्य: कर्त्ता दृश्यते क्रिया चोपलभ्यते।।

अच्छा! यह जो स्वातन्त्र्य की विवक्षा है– यह विद्यमान स्वातन्त्र्य की विवक्षा है, अथवा विवक्षामात्र है? हमारे पूज्यजन ऐसा बताते विद्यमान की ही है। कैसे जाना है? देखो! यहाँ 'भिद्यते कुसूलेन' ऐसा बोला जा रहा है। कुसूल से अन्य तो यहाँ कुछ कर्त्ता के रूप में दिखायी नहीं दे रहा, और विशरणक्रिया उपलब्ध हो रही है, सो यही कहा जायेगा कि विशरणक्रिया का कर्त्ता यहाँ पर कुसूल है।

भाष्यम्– किं च भो: विग्रहवतैव क्रियाया: कर्त्ता भवितव्यं, न पुनर्वातातपकाला अपि कर्त्तार: स्यु:।।

क्यों जी! क्या क्रिया के कर्त्ता को सदा शरीरधारी चेतन पदार्थ ही होना चाहिये? क्या वात, आतप (धूप) और काल ये सब भी कर्त्ता नहीं हो सकते?

भा०– भवेत्सिद्धं यदि वातातपकालानामन्यतम: कर्त्ता स्यात्। यस्तु खलु निवाते निरभिवर्षेऽचिरकालकृत: कुसूल: स्वयमेव भिद्यते तस्य नाऽन्य: कर्त्ता भवत्यन्यदत: कुसूलात्।।

हाँ! आपकी यह आपत्ति सर्वथा समीचीन हो सकती है– यदि वात, आतप या काल इनमें से कोई भी एक कर्त्ता होवे। किन्तु जो यह वर्षारहित[1] निवात स्थान में रखा हुआ कुसूल, और वह भी सद्य: निर्मित, जब अपने आप फट (तिड़त) रहा है तो स्पष्ट ही उसका कुसूल से अन्य और कोई कर्त्ता नहीं होता है।

भाष्यम्– यद्यपि तावदत्रैतच्छक्यते वक्तुं यत्राऽन्य: कर्त्ता नाऽस्ति, इह तु कथं न स्यात्–लूयते केदार: स्वयमेवेति, यत्रासौ देवदत्तो दात्रहस्त: समन्ततो विपरिपतन् दृश्यते?

यद्यपि ऐसे स्थलों में तो यह बात कही जा सकती है, जहाँ अन्य कर्त्ता नहीं होता है। किन्तु 'लूयते केदार: स्वयमेव' यहाँ कैसे करोगे– जो कि, वह देवदत्त दाँती हाथ में लिये हुये स्पष्ट ही चारों ओर से (केदार पर) गिरता हुआ (अर्थात् केदार को काटता हुआ) दिखायी दे रहा है।

भा०– अत्राऽपि याऽसौ सुकरता[2] नाम तस्या नाऽन्य: कर्त्ता भवत्यन्यदत: केदारात्।।

यहाँ पर जो वह क्रियागत सुकरात (सहजक्रिया) द्विधाभवनरूप है, उसका केदार से अन्य और कोई कर्त्ता नहीं होता है।

---

१. निरभिवर्षे- अनातप इत्यर्थ:। 'अभिवर्ष' पद आतप का भी उपलक्षक है।

२. सुकरता विषयवाली– द्विधाभवनलक्षणयुक्त क्रिया को 'सुकरता' शब्द से कह दिया है। यदि ऐसा न हो तो 'देवदत्त पर्वत को भी काट सकने में समर्थ हो जावे। कर्मगत सौकर्य को देखकर ही तो देवदत्तादि का कर्त्तृत्व है।'

इसका भाव यह है– जब कोई क्रिया विना ही कर्त्ता के आयास के, विना ही थकाने वाले श्रम के, बहुत सहजरूप से संपन्न हो रही होती है तो, कर्त्ता उस क्रिया को कर रहा है– ऐसा न कहकर, क्रिया अपने आप हो रही है– ऐसा कहा जाने लगता है। जैसे 'देवदत्त क्षेत्र का लवन करता है', पर जब वह लवनक्रिया इतनी सहजता से निष्पन्न हो रही हो कि; देवदत्त पर कोई श्रम ही न पड रहा हो तो, उस वाक्य से 'देवदत्त' कर्त्ता को हटा दिया जाता है और उसके स्थान पर कर्म को ही कर्त्ता के रूप में प्रयुक्त कर दिया जाता है। सो इस परिस्थिति में केदार ही उस क्रिया का कर्त्ता हो जाता है। तब इस रूप में इसका प्रयोग करते हैं– अरे भाई! देवदत्त केदार को क्या काट रहा है, यह तो केदार ही इतना साफ-सुथरा है (फसल एकदम सीधी खडी है) कि अपने आप ही कटती चली जा रही है।

भा०– अस्ति प्रयोजनमेतत्? किं तर्हीति?

क्या यही प्रयोजन है? तो और क्या? (यही प्रयोजन है!) हाँ! आपको इसमें कोई आपत्ति हो, कुछ और घटाना बढाना चाहते हों, तो कहिये– 'अस्ति प्रयोजनमेतत्' इसे जब काकु ध्वनि में पढते हैं– तो यह उपर्युक्त व्याख्या होगी। एक दूसरे रूप में भी इस भाष्य की व्याख्या हो सकती है– हाँ! ठीक है– यह प्रयोजन तो है। फिर अब और क्या समस्या रह गयी;

वा०– ✻ तत्र लान्तस्य कर्मवदनुदेश:।।६।। ✻

भाष्यम्– तत्र लान्तस्य[१] कर्मवदनुदेश: कर्त्तव्य:। 'लान्तस्य कर्त्ता कर्मवद् भवती'ति वक्तव्यम्।।

तत्र = प्रकृत अतिदेश विषय में लान्तसंबन्धी कर्ता को ही तथा लान्तनिमित्तक कार्य में ही कर्मवदनुदेश (अतिदेश) करना चाहिये। लान्तवाच्य (लवाच्य) कर्त्ता कर्मवद् होता है– ऐसा कहना चाहिये। ऐसा कहने पर कर्म में विधीयमान कृत्य-क्त और खलर्थ कर्मकर्त्ता में नहीं होंगे– जिससे कर्त्ता के अनभिहित होने से 'कृत्यानां कर्त्तरि वा' (अ०– २.३.७१) से अनभिहित कर्त्ता में, षष्ठी-तृतीया सिद्ध हो जायेंगी। 'भेत्तव्यं कुसूलस्य, कुसूलेन वा'। यह तो हुआ 'लान्तवाच्य' इस अर्थ का फल। 'लान्तकार्य' में ही कर्मवद होता है– इसका फल है– 'भिद्यते कुसूल:', यहाँ कुसूल शब्द से द्वितीया न हो– यद्यपि उक्त उदाहरण में कर्त्ता में लकार है, तो भी कर्मवद्भाव से द्वितीया होने लगेगी, ऐसा कैयट का विचार है। इस पर कोई पूछ सकता है– अतिदेश से 'भिद्यते कुसूल:' यहाँ कुसूल का कर्मत्व मान भी लें, तो भी द्वितीया कैसे हो जायेगी, क्योंकि वह कर्मवद्भाव होने पर, उससे अभिहित भी तो हो जायेगा। द्वितीया तो अनभिहित में होती है। इसका उत्तर यह दिया जाता है कि इस सूत्र के कार्यातिदेश होने पर, इसी से द्वितीया का विधान किया जायेगा और यहाँ अनभिहित अधिकार का अभाव है। इस पर नागेश का कहना है– ''वस्तुत: 'कर्मव'दित्युक्ते: कर्मणि यत्कार्यं येनोपाधिना यथा भवति तथा कर्त्तर्यपि-इत्यर्थादभिहितत्वेन द्वितीयावारणस्य सुकरत्वाल्लान्तस्य कार्ये' इति चिन्त्यफलम्''।

१. 'लान्तस्य' इति षष्ठी तन्त्रादिन्यायेन वाच्यवाचकभावे कर्त्रपेक्षया, कर्मशब्दाध्याहारेण निमित्तनिमित्तिभावे च।

वा०– ❊ इतरथा हि कृत्यक्तखलर्थेषु प्रतिषेधः।।७।। ❊

भा०– अक्रियमाणे हि लग्रहणे कृत्यक्तखलर्थेषु प्रतिषेधो वक्तव्योः स्यात्। कृत्य– 'भेत्तव्यः कुसूल' इति कर्म। स यदा स्वातन्त्र्येण विवक्षितस्तदाऽस्य कर्मवद्भावः स्यात्। तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यस्तस्मिन् प्रतिषिद्धेऽकर्मकाणां भावे कृत्या भवन्तीति भावे यथा स्यात्-भेत्तव्यं कुसूलेनेति। कृत्य।।

क्त– 'भिन्नः कुसूल' इति कर्म। स यदा स्वातन्त्र्येण विवक्षितस्तदाऽस्य कर्मवद्भावः स्यात्, तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यस्तस्मिन् प्रतिषिद्धेऽकर्मकाणां भावे क्तो भवतीति भावे क्तो यथा स्यात्-भिन्नं कुसूलेनेति। खलर्थ– 'ईषद्भेदः कुसूल' इति कर्म। सयदा स्वातन्त्र्येण विवक्षिस्तदाऽस्य कर्मवद्भावः स्यात्, तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। तस्मिन् प्रतिषिद्धेऽकर्मकाणां भावे खल्भवतीति भावे खल्यथा स्यात्-ईषद्भेदं कुसूलेनेति। खलर्थ।।

अन्यथा हि– यदि लग्रहण नहीं करेंगे, अर्थात् 'लान्तस्य कर्त्ता कर्मवद्भवति' ऐसा नहीं कहेंगे तो कृत्य,क्त और खलर्थ प्रत्ययों में (कर्मवद्भाव का) प्रतिषेध करना होगा। कृत्य- 'भेत्तव्यः कुसूल' (देवदत्तेनेति शेषः) यहाँ कर्म में कृत्यप्रत्यय तव्यत् हुआ है, अर्थात् 'कुसूल' यहाँ कर्म है। वह जब स्वातन्त्र्य रूप से विवक्षित होगा तो– 'देवदत्त' कर्त्ता तो हट जायेगा और उसके स्थान पर कुसूल ही कर्त्ता बन जायेगा– अब इसे प्रकृत सूत्र से कर्मवद्भाव होने लगेगा। यहाँ यदि कर्मवद्भाव हो जाये तो 'भेत्तव्यः कुसूलः स्वयमेव' ऐसा अनिष्ट रूप बनने लगेगा। इसीलिये 'लान्तस्य कर्मवदनुदेशः' इस व्यवस्था के अभाव में कृत्यप्रत्ययों से संबद्ध स्थलों में स्वातन्त्र्येण विवक्षित कर्त्ता को कर्मवद्भाव नहीं होता– ऐसा कहना चाहिये। उससे प्रतिषिद्ध हो जाने पर 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' (अ०– ३.४.७०) इस नियम से अकर्मक धातुओं का संबन्धी जो भाव, उस में कृत्य प्रत्यय हो जायेंगे। भाव में कृत्य होने से कुसूल-कर्त्ता में जैसा कि अभी ऊपर बताया गया– 'कृत्यानां कर्त्तरि वा'– से तृतीया और षष्ठी हो जायेंगी; भेत्तव्यं कुसूलस्य, कुसूलेन वा।

क्त– 'भिन्नः कुसूलः'– यहाँ कुसूल पूर्ववत्कर्म है, 'देवदत्तेन' कर्त्ता गम्यमान है। वह जब स्वातन्त्र्येण विवक्षित होता है अर्थात् 'देवदत्त ने कुसूल को फोड दिया– ऐसा न कहा जाकर– यह कुसूल तो अपने आप ही फूट गया– ऐसा विवक्षित होता है तो, उस समय इसे कर्मवद्भाव होने लगेगा, उसका प्रतिषेध करना चाहिये। उसके प्रतिषिद्ध हो जाने पर 'अकर्मक धातुओं के भाव में क्त होता है'– इस व्यवस्था से भाव में क्त सिद्ध हो जायेगा। और फिर कुसूल कर्त्ता में तृतीया होकर– 'भिन्नं कुसूलेन' प्रयोग बन जायेगा। यदि कर्मवद्भाव हो जाता तो 'भिन्नः कुसूलः' ऐसा प्रयोग बनता। यहाँ कैयट लिखता है– क्त ग्रहण का तो प्रयोजन नहीं दिखायी देता– क्योंकि सौकर्यातिशयविवक्षा में जब कर्म ही कर्त्ता बन गया तो, धातु अकर्मक हो गयी, अब अकर्मक धातु से 'गत्यर्थाकर्मक०' (अ०– ३.४.७२) सूत्र से कर्त्ता में 'क्त' होकर 'भिन्नः कुसूलः' प्रयोग को तो हटाया नहीं जा सकता। जैसा कि 'सिनोतेर्ग्रासकर्मकर्त्तृकस्येति वक्तव्यम्' (म० भा० वा०

८.२.४४-४) वार्त्तिक में 'सिनो ग्रास: स्वयमेव' ऐसा कर्त्ता में क्त का उदाहरण दिया भी गया है। नागेश ने इस पर अपनी टिप्पणी दी है– ''वस्तुतस्तु कर्मवद्भावेन कर्मणि क्ते 'परशुभिन्न: कुसूल:' इत्यादौ 'तृतीयान्तं पूर्वपदं कर्मवाचकक्तान्त उत्तरपदे प्रकृतिस्वरम्' इत्यर्थक तृतीया कर्मणि (अ०– ६.२.४८) इत्यनेन पूर्वपदप्रकृतिस्वर: प्राप्नोति। कर्त्तरि तु नेति फले विशेषस्य स्पष्टतया चिन्त्योऽयं कैयट:।

खलर्थ– 'ईषद्भेद: कुसूल:' यहाँ कुसूल कर्म है। वह जब स्वातन्त्र्येण विवक्षित होता है अर्थात् देवदत्त के द्वारा किञ्चित् सरलता से फोड़ने योग्य कुसूल– ऐसा कथन न करके जब यह कहा जाता है कि 'अपने आप आराम से फूटने योग्य कुसूल'– तो उस समय इसे कर्मवद्भाव प्राप्त होने लगेगा। उसका प्रतिषेध करना चाहिये। उसके प्रतिषिद्ध हो जाने पर, अकर्मक धातुओं के भाव में खल् प्रत्यय होता है– इस नियम से भाव में खल् प्रत्यय हो जाता है। जिससे कि 'ईषद्भेदं कुसूलेन'– ऐसा इष्ट प्रयोग सिद्ध हो जाये– अन्यथा 'ईषद्भेद: कुसूल: स्वयमेव'– ऐसा बनने लगेगा। यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि, कृत-क्त-खलर्थ प्रत्ययों के प्रयोग में वे सब प्रत्यय भाव में ही हों, कर्म कर्मकर्त्ता में कभी भी न हों, इसके लिये एक व्यवस्था की गयी है। यदि यह व्यवस्था न की जाती तो कृत्यादिप्रत्यय कर्मकर्त्ता में नहीं रूक सकते थे। कर्मकर्त्ता के साथ स्वाश्रयकार्य से भाव में तो फिर भी होते रहते। जैसा कि कर्मकर्त्ता में ही स्वाश्रय भाव में लकार होकर 'भिद्यते कुसूलेन' प्रयोग होता है।

इस समस्त स्थिति का अध्ययन कर आक्षेप्ता पूछता है–

भा०– तर्त्तर्हि लग्रहणं कर्त्तव्यम्।।

तो फिर लग्रहण करना चाहिये।

भा०– न कर्त्तव्यम्। क्रियते न्यास एव। व्यत्ययो बहुलल्ँल्लिङ्याशिष्यङ् (अ०– ३.१.८५,८६) इति द्विलकारो निर्देश:।।

नहीं! लग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। वह तो सूत्रन्यास में ही कर दिया गया है। 'लिङ्याशिष्यङ्' यह दो लकारवाला निर्देश है, उसमें से एक लुप्तषष्ठ्न्त अथवा सप्तम्यन्त, 'कर्मवत्कर्मणा०' इस सूत्र से संबद्ध हो रहा है। एक 'ल' का (जिसकी कि अनुवृत्ति की गयी है उसका) 'हलो यमां यमि लोप:' (अ०– ८.४.६३) से वहीं सूत्रनिर्देश में ही लोप हो रहा है।

सामान्य रूप से कर्म में प्रत्ययविधान के द्वारा ही 'कर्मवत्कर्मणा०' सूत्र से संबद्ध प्रयोगों के सिद्ध हो जाने से यह सूत्र व्यर्थ है, इस बात को मन में रखकर शङ्किता कहता है–

वा०– ✻ सिद्धं तु प्राकृतकर्मत्वात्।।८।। ✻

भाष्यम्– सिद्धमेतत्।। कथम्? प्राकृतकर्मत्वात्। प्राकृतमेवैतत् कर्म, यथा कटं करोति, शकटं करोति।।

सूत्र के विना भी, यह सूत्रोक्त विधान सिद्ध है। कैसे? प्राकृतकर्म होने से। स्वाभाविक ही यह कर्म है, न कि आतिदेशिक। जैसा 'कटं करोति शकटं करोति'– यहाँ 'कट' या 'शकट' कर्म है, वैसा ही 'लूयते केदारः', या फिर 'भिद्यते कुसूलः'– यहाँ 'केदार' अथवा 'कुसूल' कर्म है। सो कर्म में प्रत्यय करके ही, उक्त सभी प्रयोग सिद्ध हैं।

'प्राकृतमेवैतत्कर्म'– यहाँ 'एतत्कर्म' यह जाति में एकवचन है। इस विधा के सभी प्रयोग ही 'एतत्कर्म' से कहे जा रहे हैं।

भा०– कथं पुनर्ज्ञायते– 'प्राकृतमेवैतत्कर्मे'ति?

कैसे जाना जाता है कि, यह स्वाभाविक ही कर्म है?

वा०– ✻ आत्मसंयोगेऽकर्मकर्त्तुः कर्मदर्शनात्।।९।। ✻

भा०– [1]आत्मसंयोगेऽकर्मकर्त्तुः[2] कर्म[3] दृश्यते।। क्व? हन्त्यात्मानम्, हन्यत आत्मनेति।।

(वा०) आत्म शब्द के प्रयोग में (अर्थात् वाक्यार्थ में आत्मा शब्द का कर्मत्वेन यद्वा कर्त्तृत्वेन संबन्ध विवक्षित होने पर) कर्म से भिन्न जो कर्त्ता है, अर्थात् जो पहले कर्म था पर अब कर्त्ता है– उसके कर्मत्व के देखे जाने से– पता चलता है कि 'भिद्यते कुसूलः' इत्यादि में भी कुसूलादि का स्वाभाविक कर्मत्व ही है।

(भा०) वाक्य में आत्मवाचक पद के समभिव्याहार (साहचर्य) में कर्म भिन्न जो कर्त्ता है– अर्थात् पहले जो कर्म था, पर अब कर्त्ता बन गया है, ऐसे उस कर्त्ता का कर्मत्व देखा जाता है। जो कूसुल शब्द 'भिनत्ति कुसूलं देवदत्तः'– इस वाक्य में कर्मरूप में प्रयुक्त हो रहा है, वही जब सौकर्यातिशयविवक्षा में, देवत्व कर्ता को हटाकर कर्त्ता बना दिया गया, तो अब आत्मशब्द के साहचर्य में उसका कर्मत्व देखा जाता है– 'भिद्यते कुसूल आत्मना' (अपने ही द्वारा (अर्थात् अपने आप) कुसूल का भेदन हो रहा है)। स्पष्ट है, इस स्थिति में कर्मवदतिदेश अनावश्यक है। सूत्रसमर्थनवादी पूछता है–

---

१. 'आत्मशब्दप्रयोग' इत्यर्थः– (शिवरामेन्द्र स०)। आत्मनः संयोगे कर्मत्वेन कर्त्तृत्वेन च संबन्धे विवक्षिते– कर्मकर्त्तृत्वेनाभिमतस्य कुसूलादेः कर्मत्वदर्शनात् स्वाभाविकमेतत्कर्म– (नारायण)।

२. न कर्म अकर्म, स चासौ कर्त्ता सोऽकर्मकर्त्ता, तस्याऽकर्मकर्त्तुः। यहाँ 'अकर्म' शब्द में 'नञ्' तद्भिन्न तत्सदृश अर्थ में है। जैसा कि अब्राह्मण शब्द का अर्थ ब्राह्मणभिन्न, ब्राह्मणसदृश क्षत्रियादि होता है। प्रकृत में कर्म से भिन्न और कर्म के सदृश जो अर्थ है वह कर्त्ता ही है, जिसका कि वार्त्तिक में अकर्म के साथ कर्मधारय समास करके निर्देश किया हुआ है। ३. कर्म = कर्मत्वम् इत्यर्थः।

क्या इस विधा की पुष्टि में कोई उदाहरण (दृष्टान्त) भी दिया जा सकता है? क्या और भी प्रयोग मिलते हैं, जहाँ आत्मशब्द के प्रयोग में कर्मभिन्न कर्त्ता का कर्मत्व दर्शाया जा सके? सूत्रवैयर्थवादी ने कहा– हाँ! यह दृष्टान्त है– हन्त्यात्मानम्। आत्मना हन्यते।

'हन्त्यात्मानम्'– यहाँ प्रत्यासत्ति से 'हन्ति' क्रिया का कर्त्ता आत्मा है– वह 'कर्त्ता' कर्म से भिन्न है। अर्थात् 'आत्मानम्' यहाँ जो कर्म के रूप में श्रुत है, वही 'आत्मा हन्ति' यहाँ हन्ति क्रिया के कर्त्ता के रूप में प्रतीत है। जब इसी कर्त्ता का 'आत्मानम्' यहाँ कर्मत्त्व के रूप में भी दर्शन होता है। पर यह कर्मभिन्न कर्त्ता का (दूसरे शब्दों में कर्मकर्त्ता का, कर्मत्व रूप में दर्शन आत्मशब्द के संयोग = प्रयोग या साहचर्य में ही होता है। दूसरा प्रसङ्ग 'आत्मना हन्यते' यहाँ भी 'हन्यते' क्रिया प्रत्यासत्ति से, 'आत्मा' इस कर्म पर परिसमाप्त हो रही है। 'हन्यते आत्मा' यहाँ जो 'आत्मा' कर्मरूप में प्रयुक्त है, वही 'आत्मना' यहाँ कर्मभिन्न कर्त्ता अर्थात् कर्मकर्त्ता के रूप में विज्ञात है। अब इस कर्मकर्त्ता के रूप में विज्ञात 'आत्मा' का ही जो कि वाक्य में 'आत्मना' के रूप में प्रयुक्त हुआ है। 'हन्यत आत्मा' यही कर्मत्व रूप में भी दर्शन हो रहा है। इस दृष्टान्त के द्वारा यह दर्शाया गया है कि जैसे इन उपर्युक्त उदाहरणों में आत्मा ही कर्त्ता है और आत्मा ही कर्म है, तद्वत् प्रकृत में भी 'भिद्यते कुसूलः' इत्यादि में 'कुसूल' इत्यादि को प्राकृत कर्म (स्वाभाविक कर्म) मानकर ही लकार हो जावे और प्रत्यासत्ति से आत्मना (स्वयमेव) यह कर्त्तृविशेष अर्थ समझ लिया जावे। इस प्रकार सूत्र व्यर्थ है।

यहाँ भाष्यकार ने 'हन्त्यात्मानम्', 'हन्यत आत्मना'– इस दृष्टान्त के द्वारा यह तथ्य प्रकाशित किया है कि एक ही आत्मरूपवस्तु के बुद्ध्यवस्थाओं = बुद्धि के विवक्षारूप परिणामविशेषों के द्वारा भेद की परिकल्पना कर लेने पर, जैसे कर्मत्व और कर्त्तृत्व, युगपत् उत्पन्न हो जाते हैं, वही आत्मा कर्त्ता भी है और कर्म भी है (इतना ही नहीं– यदि करण के रूप में भी कहने की विवक्षा हो तो, उसी वाक्य में वह करण भी हो सकता है)। तद्वत् प्रकृत में भी जिस कुसूलादि को हम, कर्म से कर्त्तृ-अवस्था को प्राप्त हुआ-हुआ देख रहे हैं, वस्तुतः वह प्राकृत कर्म 'कटं करोति, शकटं करोति' जैसा ही है। यदि कर्म ही है तो, इस वाक्य में कर्त्ता कौन है, क्योंकि किसी भी वाक्य में कर्त्ता-कारक का होना तो अत्यन्त आवश्यक है? इसके उत्तर में यही कहना होगा कि, वैवक्षिक अवस्था-भेद से वह स्वयं ही कर्त्ता भी है। जैसा कि भर्तृहरि ने भी कहा है–

यहाँ कीलहार्न ने 'आत्मसंयोगे कर्मकर्त्तुः[१] कर्मदर्शनात्' ऐसा पाठ माना है। इस पाठ में तो कोई कठिनाई है ही नहीं। क्योंकि 'अकर्मकर्त्तुः' का जो अर्थ निकाला गया है– वही तो 'कर्मकर्त्तुः' शब्द का अर्थ है, बस केवल इतनी सी बात समझनी है (और वह तो 'अकर्मकर्त्तुः' पाठ में भी समझनी ही होगी) कि 'कर्मदर्शनात्' यहाँ 'कर्म' शब्द का अर्थ, भावप्रधान है, क्योंकि कर्मकर्त्ता का तो, कर्म हो ही नहीं सकता–

१. 'कर्मकर्त्तुः'– यहाँ 'पूर्वकालैक०' (अ०– २.१.४८) सूत्र से, पूर्वकालवाची सुबन्त को, अपरकालवाची सुबन्त के साथ समास होता है– इस हेतु से समास हो गया है। 'पूर्वं कर्म पश्चात् कर्त्ता'– ऐसा विग्रह है।

कर्म तो किसी क्रिया का ही होगा और कर्मकर्त्ता क्रिया है नहीं– इस कारण कर्मदर्शनात् या 'कर्म' दृश्यते यहाँ 'कर्म' शब्द का अर्थ 'कर्मत्व' ऐसा समझना होगा।

भाष्यम्– विषम उपन्यासः।।[1]

'लूयते केदारः', 'भिद्यते कुसूलः'– इत्यादि में कर्मकर्त्ता केदारादि का कर्मत्व सिद्ध करने के लिये जो आपने दृष्टान्त दिया है– हन्त्यात्मानम्, आत्मना हन्यते– वह विषम है। क्योंकि इन दृष्टान्तों में आत्मभेद का भिन्न-भिन्न[2] शब्दों से प्रतिपादन हो रहा है। एक ही वस्तु का कर्मत्व-कर्तृत्व नहीं कहा जा रहा है, बल्कि कर्तृरूप आत्मा और कर्मरूप आत्मा को भिन्न शब्दों से प्रस्तुत किया गया है। किन्तु 'लूयते केदारः' इत्यादि में तो जब तक 'स्वयं' अथवा 'आत्मना' शब्द का प्रयोग नहीं होता, तो आत्मभेद (वस्तुरूप का भेद) अविवक्षित ही रहता है– इसलिये उससे कर्मत्व अर्थ की प्रतीति ही नहीं होती, द्विधाभवनादि तत्-तत् क्रिया में केवल केदारादि का कर्तृत्व ही अवस्थित रहता है– इस हेतु से कर्मवदतिदेश करना ही पडेगा। और कर्मवदतिदेश करने के पीछे केवल इतनी सी ही बात नहीं है– यह भी है कि 'नमते दण्डः' इत्यादि में प्राकृतकर्मत्व मान लेने पर, 'न दुहस्नुनमां०' से यक्-चिण् का प्रतिषेध होने पर जो शप्-चङ् प्राप्त होते हैं वे नहीं हो पायेंगे। और भिद् धातु के सकर्मक होने से 'भिद्यते कुसूलेन'– यहाँ भाव में लकार नहीं पायेगा। 'भेत्तव्यं कुसूलेन' और 'ईषद्भेदं कुसूलेन'– ये सब प्रयोग नहीं हो पायेंगे।

अब, वैषम्यविघटनवादी ने कहा–

भा०– 'हन्त्यात्मान'मिति कर्म दृश्यते कर्त्ता च न दृश्यते। 'आत्मना हन्यत' इति च कर्त्ता दृश्यते कर्म न दृश्यते।।

नहीं! आप 'विषम उपन्यास' कैसे कह रहे हैं! दृष्टान्त में भी तो 'आत्मभेद' का शब्दों से कथन नहीं है। देखो– 'हन्त्यात्मानम्' यहाँ कर्म ही दिखाई दे रहा है। कर्त्ता तो नहीं दिखाई दे रहा। और 'आत्मना हन्यते' यहाँ कर्त्ता दिखायी दे रहा है– क्योंकि कर्त्ता के विना तो कोई क्रिया हो ही नहीं सकती। पर कर्म नहीं दिखायी दे रहा। क्योंकि उस कथन में कर्त्ता से अन्य कर्मादि और कुछ है ही नहीं। केवल क्रिया मात्र का कथन है। सो इस स्थिति में, सब कुछ समान ही है। इस प्रकार यहाँ 'हन्त्यात्मानम्' या 'आत्मना हन्यते' में शब्दों के द्वारा 'आत्मभेद' के प्रतिपादन के अभाव में भी, जैसे कर्मत्व का बोध हो रहा है वैसे ही प्रकृत में भी हो जायेगा। सूत्र की आवश्यकता नहीं है। वैषम्य के उपपादन करने के लिये दूसरा व्यक्ति कहता है–

---

१. यद्येकस्य कर्मत्वं कर्तृत्वं च दृष्टान्ते निदर्शितं स्यात्, तदा तेन दृष्टान्तेन प्रकृतेऽभिमतार्थसिद्धिः स्यात्, न तु तदेकस्य तत्र निदर्शितमिति न तेनाऽत्राभिमतसिद्धिरिति भावः।

२. हन्ति आत्मानम् यहाँ 'आत्मा और आत्मानम्'– इस भिन्न-भिन्न शब्दों से। इसी प्रकार 'आत्मना हन्यते' इस दूसरे उदाहरण में भी 'आत्मना और आत्मा' इन भिन्न-भिन्न शब्दों से प्रतिपादन हो रहा है।

वा० – ✻ पदलोपश्च।।१०।। ✻

भा० – पदलोपश्चाऽत्र[1] द्रष्टव्य:।। हन्त्यात्मानमात्मा। आत्मना हन्यत आत्मेति।।

आपने उपन्यास का स्वरूप समझने में या यह कहें कि समझाने में भूल कर दी है। यहाँ जो गम्यमान अर्थ है– उसको भी साथ लेकर दृष्टान्त पर विचार कीजिये– तत्काल विषमता का बोध हो जायेगा। 'हन्त्यात्मानम्' वाक्य का पूरा स्वरूप है 'हन्त्यात्मानमात्मा' (स्वयं, स्वयं को मार रहा है।) इसी प्रकार 'आत्मना हन्यते' यह वाक्य भी 'आत्मना हन्यते आत्मा' इस रूप में पर्यवसित होता है। इस प्रकार इस दृष्टान्त को उपोद्बलक बनाकर 'भिद्यते कुसूल:' यह दार्ष्टान्त सिद्ध नहीं हो पायेगा। इसलिये सूत्र बनाना ही होगा। यहाँ यह ध्यातव्य है कि जो वृत्तिकार ने 'लूयते केदार: स्वयमेव'– कर्मवद्भाव का उदाहरण दिया है– वहाँ 'स्वयमेव' शब्द कर्त्रन्तर-अभाव के प्रतिपादन के द्वारा केदार के ही कर्त्तृत्व का प्रतिपादन करने के लिये है। स्वयमेव पदघटित वाक्य तो कर्मवद्भाव का उदाहरण ही नहीं होगा। क्योंकि स्वयमेव शब्द तृतीयान्त 'आत्मना' शब्द के अर्थ में वर्त्तमान है। और 'आत्मन्' के कर्त्ता होने पर तो केदारादि का प्राकृतकर्मत्व ही बन जायेगा।

क्यों जी! एक ही वस्तु की एक ही वाक्य में शब्दभेदमात्र से कैसे भिन्नधर्मता हो जाती है– इस विषय में शङ्का करते हैं–

भा० – क: पुनरात्मानं हन्ति, को वाऽऽत्मना हन्यते?

कौन है वह, जो आत्मा को मारता है, अथवा आत्मा के द्वारा मारा जाता है? अर्थात् 'आत्मा' को मारता है जो 'आत्मा' वह कौन है?

भा० – द्वावात्मानौ, अन्तरात्मा शरीरात्मा च। अन्तरात्मा तत्कर्म करोति येन शरीरात्मा सुखदु:खे अनुभवति। शरीरात्मा तत्कर्म करोति येनाऽन्तरात्मा सुखदु:खे अनुभवति।।

दो आत्मा हैं– अन्तरात्मा और शरीरात्मा। अन्तरात्मा वह (धर्माधर्मरूप) कर्म करता है, जिससे शरीरात्मा सुखदु:ख का अनुभव करता है। इसी प्रकार, शरीरात्मा भी सुखदु:खजनक चेष्टादिरूप वह कर्म करता है जिससे अन्तरात्मा सुखदु:ख का अनुभव करता है।

---

१. प्रत्यासत्त्या गम्यमानाऽर्थत्वादप्रयोगस्तत्र पदस्येति भाव:। एवं च झटिति अध्याहारसंभवाद् वाक्यैकदेशन्यायेन बोधसंभवाद् वा शब्देन प्रतिपादनमिति वैषम्यमस्ति एव।

इसका भाव यह है कि एक ही वस्तु को बुद्धि से विभक्त करके कर्मत्वेन यद्वा कर्तृत्वेन नहीं देखा जा रहा है, बल्कि औपाधिक भेद से दो आत्मा ही हैं। सांख्य मत में अन्त:करण ही अन्तरात्मा है– उसी का कर्तृत्व संभव है। उनके मत में पुरुष तो पुष्करपलाशवत् निर्लिप्त-निष्क्रिय है– इसलिये अकर्त्ता है। नैयायिकमत में तो आत्मा के ही कर्त्ता होने से वही अन्तरात्मा शब्द से विवक्षित है। बाह्येन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों-कर्मेन्द्रियों) व प्राणों के सहित यह शरीर ही शरीरात्मा है। शरीरात्मा से जो जो कर्म किये जाते हैं– उन सब की, अन्तरात्मा पर संस्कार रूप में छाप पडती है, उससे राग-द्वेष बनकर अन्तरात्मा को सुख-दु:ख का अनुभव होता है। अन्तरात्मा के कर्म इच्छा-ज्ञान-आन्तरिकचेष्टा रूप हैं, उनसे शरीरात्मा भी प्रभावित होता है। यह हम सब का ही थोड़ा बहुत अनुभव है। अन्तरात्मा में करुणा उत्पन्न होने पर आँखों से अश्रुपात होने लगता है वीर रस की चर्चा से शरीर पर भिन्न प्रकार का प्रभाव पड़ता है तो शृङ्गार रस से उसी प्रकार का। जो पूर्वसंचित कर्म हैं उनके फलस्वरूप उत्तम शरीरादि का प्राप्त होना सर्वजनीन तथ्य है। 'पूर्वकृतं कर्म मामाधिरूपेण बाधते' यह भी सुनने में आता है।

यह दो आत्माओं की बात गीता के छठे अध्याय में भी आयी है। वहाँ कहा है–

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन:।।५।।
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जित:।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत्।।६।।

इस सब कथनोपकथन का सार यह है– यद्यपि 'राहो: शिर:' इत्यादि की भाँति एक ही वस्तु की भेद-विवक्षा में– 'भिद्यते कुसूल आत्मना' ऐसा प्रयोग संभव है और वहाँ भी गम्यमानार्थता को लेकर 'आत्मना' इसके अप्रयोग होने पर केवल 'भिद्यते कुसूल:' इतना भी संभव है, तथापि जब भिद् धातु द्विधाभवनमात्र में वर्त्तमान होती है, तब कुसूल का ही कर्तृत्व होता है, न कि अन्य किसी का इस हेतु से यह सूत्र आरम्भ करना ही चाहिये। सूत्र के अभाव में 'कुसूलो भिनत्ति' ऐसा अनिष्ट प्रयोग होने लगेगा।

वा०– ✲ सकर्मकाणां प्रतिषेधोऽन्योन्यमाश्लिष्यत इति।।११।। ✲

भा०– सकर्मकाणां प्रतिषेधो वक्तव्य:।। किं प्रयोजनम्? अनोऽन्यमाश्लिष्यत:। अन्योऽन्यं संस्पृशत:, अन्योन्यं गृह्णीत[1] इति।।

सकर्मक धातुओं का (कर्मवद्भाव का) प्रतिषेध कहना चाहिये।। किस प्रयोजन के लिये? अन्योन्यमाश्लिष्यत:[2]। अन्योन्यं संस्पृशत:[2]। अन्योन्यं गृह्णीत:[2]। (देवदत्त-यज्ञदत्त एक दूसरे को पकड रहे हैं) इत्यादि।

---

१. 'संगृह्णीत' इति पा-मे। २. देवदत्तयज्ञदत्ताविति शेष:।

यहाँ शिवरामेन्द्र सरस्वती का कहना है कि जिस क्रिया में परस्पर कर्त्तृत्व का कर्मत्व संभव है– वह कर्मस्थक्रिया होती है– यह इसी भाष्य से जाना जाता है।

कैयट का हेतु है– अन्योऽन्यसंयोगकृत हर्षादिलक्षण क्रियाफल के कर्म में देखे जाने से, यहाँ धातु को कर्मस्थक्रियक (कर्मस्थभावक) समझना चाहिये।

यहाँ नागेश का कहना है– उपर्युक्त इन सभी उदाहरणों में देवदत्त-यज्ञदत्त दोनों एकसाथ, एक दूसरे को, आलिङ्गन करते हैं, या संस्पर्श करते हैं या पकड़ रहे हैं। यहाँ सर्वत्र, यत: संयोग उभयनिष्ठ हैं, अत: दोनों में से एक की क्रिया के प्रति अन्य का जो कर्मत्व है, उसमें जो संयोगानुकूल क्रिया है– उसी प्रकार से, उस कर्म से दूसरा जो कर्त्ता है उसमें भी है। जैसे देवदत्त की क्रिया के प्रति यज्ञदत्त कर्म में जो संयोगानुकूलक्रिया है वैसी ही क्रिया देवदत्त कर्त्ता में है तथा यज्ञदत्त की क्रिया के प्रति देवदत्त कर्म में जो संयोगानुकूलक्रिया है वैसी ही क्रिया कर्त्ता के रूप में प्रयुक्त यज्ञदत्त में भी है। इस प्रकार देवदत्त कर्म में और देवदत्त कर्त्ता में तथा यज्ञदत्त कर्म में और यज्ञदत्त कर्त्ता में तुल्यक्रिया हो जाती है अत: प्रकृतसूत्र से कर्मवद्भाव प्रसङ्ग पा रहा है। क्योंकि यही तो सूत्र में कहा गया है कि कर्म में स्थित क्रिया के तुल्य ही, यदि कर्त्ता में स्थिति क्रिया हो तो कर्मवद्भाव हो जाता है। इस विवेचना से पता चलता है कि नागेश और शिवरामेन्द्र सरस्वती का एक ही विचार है।

वा०– ❊ तपेर्वा सकर्मकस्य वचनं नियमार्थम्।।१२।। ❊

भाष्यम्– तपेर्वा सकर्मकस्य वचनं नियमार्थं भविष्यति– 'तपेरेव सकर्मकस्य नाऽन्यस्य सकर्मस्ये'ति।।

या तो 'सकर्मकाणां प्रतिषेध:०' इस वार्त्तिक से सकर्मक धातुओं के कर्मवद्भाव का प्रतिषेध कहना चाहिये। अथवा पुन: सकर्मक 'तप' धातु को कर्मवद्भाव हो तो 'तप्' को कहा गया कर्मवद्भाव नियमार्थ हो जायेगा– किसी सकर्मक धातु को कर्मवद्भाव हो तो 'तप्' को ही हो, अन्य सकर्मक हो न हो।

इसका भाव यह है– 'तप:' ऐसा योगविभाग करके 'सकर्मकस्य' पद का अध्याहार कर नियमरूप से व्याख्यान कर लिया जायेगा। 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थ:' इस व्यवस्था से 'कर्मवत्कर्मणा०' पूर्वसूत्र[१] से ही कर्मवद्भाव सिद्ध होने पर भी जो 'तप:' सूत्र से उसी कार्य का पुनरारम्भ किया जा रहा है– यह नियम के लिये समझा जायेगा।

---

१. उपवासादिरूपं तपस्तापसं तपतीति वाक्ये तापसस्य कर्मत्वे यो व्यापार: स एव कर्त्तृत्वदशायामपीत्यस्ति कर्मवद्भावप्राप्ति:।

यह पूछा जा सकता है कि 'तप्यते तपस्तापसः'– यहाँ कर्मस्थक्रिया के साथ कर्त्ता का तुल्यक्रियत्व तो है ही नहीं। क्योंकि, 'तापसं तपः तपति' यहाँ 'तपति' का अर्थ 'दुःखयति' है। किन्तु 'तापसस्तपस्तप्यते' 'तापस' के कर्त्ता बनने पर 'तप्यते' के द्वारा 'अर्जयति' अर्थ प्रकट हो रहा है। इसका उत्तर यह है कि दोनों[१] अवस्थाओं में शरीरसंतापलक्षणक्रिया तो तुल्य है ही। क्योंकि शरीर को तपाना ही तो 'तापस' का व्यापार है। इसलिये पूर्वसूत्र का विषय बन ही रहा है।

संपूर्ण सूत्र ही एकनियमपरता से व्याख्यात हो गया– ऐसा मानता हुआ, अब शङ्का करता है–

भा०– तस्य तर्ह्यन्यकर्मकस्यापि प्राप्नोति– 'उत्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः'। उत्तप्यमानं सुवर्णं सुवर्णकारमुत्तपति।।

यदि ऐसी बात है, अर्थात् नियम कर देते हो तो, वह 'तप' धातु जब अन्यकर्मवाली होती है, तब नियम से व्यावृत्त हो जाने के कारण कर्मवद्भाव नहीं पायेगा। जैसे कि 'उत्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः' (सुनार सोने को तपाता है)। उत्तप्यमानं सुवर्णं सुवर्णकारमुत्तपति (तपता हुआ सोना सुनार (को ही) तपाता है)। 'उत्तप्यमानं'– यहाँ कर्मवद्भाव होने से यक् व शानच् हो रहा है। नियम से वह हटने लगेगा।

'तपः' इस पूर्वभाग की, विभक्त उत्तरभाग में अनुवृत्ति करके 'सकर्मक 'तप' धातु का कर्त्ता कर्मवत् होता हो तो 'तपःकर्मक' का ही हो– ऐसा उत्तरभाग का एक और नियम के रूप में व्याख्यान होने से उक्त दोष नहीं होगा– इस आशय से कहता है;

वा०– ✻ तस्य च तपः कर्मकस्यैव।।१३।। ✻

भाष्यम्– तस्य च तपःकर्मकस्यैव[२] कर्त्ता कर्मवद्भवति नाऽन्यकर्मकस्येति।

उस 'तप' धातु का (भी) तपः कर्मवाली का ही कर्त्ता कर्मवत् होता है– अन्यकर्मवाली का नहीं।

भाष्यम्– किमिदं 'तप' इति? तपेरयमौणादिकोऽस्कारो[३] भावसाधनः।। कः[४] प्रकृत्यर्थः, कः प्रत्ययार्थः[५]? स[६] एव सन्तापः[७]।। कथं पुनः स एव नाम प्रत्ययार्थः[८] स्यात्स एव च प्रकृत्यर्थः[९]।।

---

१. 'तपः' की कर्त्तृत्वास्था में और तापस की कर्त्तृत्वावस्था में।

२. 'तपः' कर्म यस्य स तथा तस्य।

३. यह कथन व्युत्पत्ति पक्ष में है। अव्युत्पन्नपक्ष (जो कि पाणिनिसम्मत है) में तो 'तपः' इस शब्द का सन्ताप अर्थ है। ४. कर्मवद्भाव से प्रयुक्त आत्मनेपद की जो प्रकृति 'तप्' उसका क्या अर्थ है? (शिवरामेन्द्र सरस्वती)। ५. तप इत्यत्राऽस्प्रत्ययार्थ इति भावः। ६. य एव धातुपाठे निदर्शितः 'सन्तापः' स एव। (शिवरामेन्द्र सरस्वती) ७. प्रकृत्यर्थः प्रत्ययार्थश्चेति शेषः। ८. कर्म स्यादित्यर्थः। ९. क्रिया स्यादित्यर्थः।

'तप: कर्मकस्य' इस सूत्र में 'तप:' इस पद से क्या कहा जा रहा है? अथवा इस (तप) की क्या व्युत्पत्ति है? 'तप:' धातु से यह औणादिक भावसाधन 'अस्' प्रत्यय है। अच्छा, अब यह पूछना चाहते हैं कि 'तापसस्तपस्तप्यते' अथवा तापसेन तपस्तप्यते यहाँ क्या तो प्रकृत्यर्थ है और क्या प्रत्ययार्थ? वही 'संतापविशेष' ही प्रकृत्यर्थ और वही प्रत्ययार्थ। किन्तु यह कैसे हो सकता है कि, वही तो प्रत्ययार्थ ('तप:' पदवाच्य सन्तापरूप कर्म) हो जावे और वही प्रकृत्यर्थ (संतापक्रिया)? क्योंकि एक ही वस्तु का युगपत् क्रियाकर्मभाव संभव नहीं।

'क: प्रकृत्यर्थ:, क: प्रत्ययार्थ:'– ऐसा आक्षेप्ता का प्रश्न इसलिये है कि 'तापसेन तपस्तप्यते' यहाँ 'तपो' रूप कर्म में लकार होने पर संतापक्रियारूप प्रकृत्यर्थ का ही प्रत्ययार्थत्व[१] दिखायी दे रहा है। क्योंकि वाक्यगत 'तप:' इस शब्द से उसी संताप को ही तो कहा जा रहा है, जिसको कि 'तप्यते' पदनिष्ठ तप् प्रकृति कह रही है। क्रिया और कर्म के बीच, साध्य-साधन भाव संबन्ध होने से भेद होना चाहिये। किन्तु यहाँ तापसस्तपस्तप्यते अथवा तापसेन तपस्तप्यते उदाहरण में साध्य-साधन भाव के न बन पा सकने से प्रकृत्यर्थ व प्रत्ययार्थ की उपपत्ति बन नहीं पा रही। अथवा सूत्रनिर्देश की दृष्टि से यदि विचार किया जाये तो 'तप: कर्मकस्य' (तप: कर्म यस्य एवंभूतस्य तप्धातो: = तप्धातोरर्थस्य) = इस कथन से संताप क्रियारूप जो प्रकृत्यर्थ है उसी का तप:पदवाच्य कर्मत्व के रूप में आश्रयण किया गया है– और वह बनता नहीं। अर्थात् ऐसा तप्-धातु हो जिसका कि 'तप:' यह कर्म हो पर 'तप-धातु का अर्थ' और 'तप:' यह कर्म– ये दोनों तो 'संताप' रूप अभिन्न चीज हो गयी।

भाष्यम्– सामान्यतपेरवयवतपि:[२] कर्म भवति। तद्यथा– स एतान्पोषानपुषत्, गोपोषमश्वपोषं रैपोषमिति सामान्यपुषेरवयवपुषि: कर्म भवति। एवमिहापि सामान्यतपेरवयवतपि: कर्म भवति।।

सामान्यतपि = सामान्यार्थक तप धातु। अवयवतपि = अवयवार्थक तप्-धातु, अर्थात् विशेषार्थक तप-धातु-क्योंकि, सामान्य के एक विशेषभाग को सामान्य का अवयव कहा जा सकता है। इस प्रकार तप्-धातु से प्रकृत्यर्थ के रूप में, सन्ताप रूपसामान्य अर्थ कहा जायेगा। और ज्ञानलक्षण-तप (ज्ञानजनक उपवासादि रूप या मन- इन्द्रियनिरोध रूप तप) प्रत्ययार्थ के रूप में 'तप:' इस कर्म से कहा जायेगा। जैसे कि 'स एतान् पोषान् अपुषत्, गोपोषम्-अश्वपोषं-रैपोषम्-इति। उसने इन-इन पुष्टियों को (पुष्ट) किया। किन-किन को– गो संबन्धी पुष्टि को, घोडों की पुष्टि को और धन की पुष्टि को।

---

१. तिङ् प्रत्ययार्थ का कर्मरूपत्व– प्रकृत में वह तप: शब्दवाच्य ही है।

२. धातुत्वेन सकलधातुवाच्यस्य क्रियासामान्यस्यावयवतपिरुपवासादिरूपं तपित्वेन तपिवाच्यं कर्म भवति। (शिवरामेन्द्र सरस्वती)।

यहाँ 'अपुषत्' के द्वारा सामान्यपुष धातु का कथन हो रहा है और एतान् पोषान् के विशेषसमर्पक 'गोपोषम्', 'अश्वपोषम्' इत्यादि घञन्त शब्दरूप, अवयव पुष् धातु के रूप में कर्म बने हुये हैं। इसी के समान '[1]तापसस्तपस्तप्यते[2] स्वर्गाय' यहाँ भी सामान्यतपि– प्रकृत्यर्थ (तप-संतापे) की अवयवतपि (विशेषतपि) प्रत्ययार्थ के रूप में कर्म हो जायेगी।

वा० – ✻ दुहिपच्योर्बहुलं सकर्मकयो:।।१४।। ✻

भाष्यम्– दुहिपच्यो: सकर्मकयो: कर्त्ता बहुलं कर्मवद्भवतीति वक्तव्यम्।।

दुग्धे गौ: पय: स्वयमेव। तस्मादुदुम्बर: स लोहितं फलं पच्यते।। बहुलवचनं किमर्थम्? ''परस्मैपदार्थम्''।। यद्येवं नाऽर्थो बहुलवचनेन।। न हि परस्मैपदमिष्यते।।

'दुह-प्रपूरणे' तथा 'डुपचष्-पाके' इन सकर्मक धातुओं का कर्त्ता कर्मवत् बहुल करके होता है– ऐसा कहना चाहिये। जैसे– 'दुग्धे गौ: पय:' स्वयमेव-गाय अपने आप दूध को छोड़ रही है (गौर्मुञ्चति पय इत्यर्थ:)। पय: 'तस्मादुदुम्बर: स लोहितं फलं पच्यते'। इस कारण से ही वह गूलर लाल-फल पकाता है– उस गूलर पर लाल-फल पकते हैं। वार्त्तिक में बहुलवचन किसलिये है? परस्मैपद के लिये। यदि परस्मैपद के लिये ही है, तब तो बहुलग्रहण करने का कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि परस्मैपद तो इष्ट ही नहीं है।

'दुह्' धातु के द्विकर्मक होने से कर्मस्थ क्रिया के साथ तुल्यक्रियावाले कर्त्ता के होने पर भी सकर्मक होने से, उक्त नियम से कर्मवद्भाव अप्राप्त था– इस के लिये यह वचन है। देवदत्तो गां दोग्धि पय:। सौकर्यातिशयविवक्षा में जब देवदत्त कर्त्ता को हटाकर 'गाम्' कर्म को ही कर्त्ता बना दिया जाता है, तब यह उदाहरण होगा। 'गाम्' जब कर्म है तब भी 'गाय' दूध को अपने भीतर से छोड़ रही है और उसके कर्त्ता बनने पर भी इसलिये तुल्यक्रियत्व तो है, पर साथ में 'पय:' यह कर्म भी विद्यमान है। कर्मवद्भाव होने पर 'न दुहस्नु०' (अ०– ३.१.८९) से यक्-चिण् का प्रतिषेध होने से 'दुग्धे' यह प्रयोग है, 'दुह्यते' नहीं होगा। चिण् तो 'दुहश्च' (अ०– ३.१.६३) से विकल्पित है, अत: लुङ् लकार में, दो रूप होंगे– अदोहि गौ:, अदुग्ध गौ: स्वयमेव।

---

१. तापस: स्वर्गायोपवासादिरूपं तप: कुर्वन् स्वयमेव दह्यते कृशो भवति।

२. स्वर्गावाप्तिहेतौ ज्ञानविशेषे तपश्शब्दो वर्त्तते। (अन्नं भट्ट) तत्र क्रियाविशेषणत्वात् स्तोकमेधत इत्यादाविव तपस: कर्मत्वमिति।

'फलं पच्यते' यहाँ पूर्वोक्त नियम से कर्मवद्भाव अप्राप्त था। कर्मवद्भाव की पूर्वकक्षा में कहना होगा कि 'काल उदुम्बरं लोहितं फलं पचति' इस वाक्य में 'अकथितं च' (अ०– १.४.५१) से उदुम्बर का कर्मत्व[1] है (काल गूलर के वृक्ष पर लाल फल पकाता है)। यहाँ काल[2] कर्त्ता है और उदुम्बर (वृक्ष) कर्म है। जब उदुम्बर (वृक्ष) को ही कर्त्ता बना दिया गया, तो काल को हेतु बनाकर उक्त कर्मवद्भावविषयक प्रयोग हुआ है– तस्मात् (कालाद्) उदुम्बरः स लोहितं फलं पच्यते[3]। उस (काल रूप) हेतु से वह उदुम्बर स्वयं ही लाल फल के रूप में पक रहा है। कर्मवद्भाव के रूप में प्रयुक्त इस उपर्युक्त वाक्य की अर्थयोजना को देखकर किन्ही आचार्यों का कहना है– उक्त विषय में दुह-धातु के समान ही पच् धातु भी द्विकर्मक है। 'फलम्' यह मुख्य कर्म है और 'उदुम्बरम्'– यह अकथित कर्म। उसी की जब कर्तृत्व विवक्षा होती है तब यह कर्मवद्भाव है। वृद्धकुमारीन्याय से उदुम्बर (वृक्ष) का पाक अन्तर्गर्भित है। वृक्ष का पाक हुये विना फल का पाक कैसे संभव है? सो उस अवस्था में, यह उक्त प्रयोग है कि काल वृक्ष पर फल को क्या पका रहा है– यह तो वृक्ष स्वयं ही पक रहा है और उसके साथ-साथ वृक्षविकार फल भी पकता जा रहा है। प्रसिद्ध उदाहरण का त्याग कर अप्रसिद्ध उदारहण देने में भाष्यकार का यह अभिप्राय है कि बहुलग्रहण से ऐसे विषय में ही यह कर्मवद्भाव इष्ट है। 'ओदनं पच्यते देवदत्तः'– यह प्रयोग नहीं होगा।

वा०– ※ सृजियुज्योः श्यंस्तु।।१५।। ※

भाष्यम्– सृजियुज्योः सकर्मकयोः कर्त्ता बहुलं कर्मवद्भवतीति वक्तव्यम्।

श्यंस्तु भवति। सृजेः श्रद्धोपपन्ने कर्त्तरि कर्मवद्भावो वाच्यश्चिणात्मनेपदार्थः। सृज्यते मालाम्, असर्जि मालाम्। युजेस्तु न्याय्ये कर्मकर्त्तरि यकोऽभावाय। युज्यते ब्रह्मचारी योगम्।।

'सृज-विसर्गे' व 'युजिर्-योगे'– इन सकर्मक धातुओं का कर्त्ता बहुल करके कर्मवत् होता है– ऐसा कहना चाहिये। किन्तु कर्मवत् से प्राप्त जो यक् उसके प्रसङ्ग में श्यन् होता है।

भाष्यकार सृज धातु के अभिधान को निश्चित करते हुये कहते हैं– सृजधातु के श्रद्धायुक्त मुख्यकर्त्ता में (न कि कर्मकर्त्ता) कर्मवद्भाव कहना चाहिये– चिण् और आत्मनेपद के लिये। सृज्यते मालाम्[4], असर्जि मालाम्[4]। (श्रद्धा के साथ माला को बनाता है या बनाया)।

---

१. अधिकरण की कर्मत्व विवक्षा।

२. काल को कर्त्ता के रूप में अध्याहृत समझ लेना चाहिये।

३. तस्मात् कालात् स उदुम्बरो लोहितं फलं पच्यत- इत्यन्वयः। उदुम्बरो हि स्वयं पाकमनुभवन् फलपाकमपि करोति। ४. श्रद्धया मालां निर्वर्त्तयतीत्यर्थः। श्रद्धया मालां निष्पादितवान् इत्यर्थः।

युज्-धातु के तो न्याय्य कर्मकर्त्ता में (ही) कहना चाहिये, यक् के अभाव के लिये, अर्थात् श्यन् हो जाये। 'यकोऽभावाय' यहाँ अकार का प्रश्लेष है। 'युज्यते ब्रह्मचारी योगम्'– कर्मवद्भाव हुवे-हुवे इस प्रयोग की प्रथमकक्षा में कहना होगा– 'योगो ब्रह्मचारिणं युनक्ति[1] या युङ्क्ते[1] (योग ब्रह्मचारी से संबद्ध हो रहा है।) अब ब्रह्मचारी की कर्त्तृत्वविवक्षा में– 'युज्यते ब्रह्मचारी योगम्'- ऐसा प्रयोग होता है। (ब्रह्मचारी अपने आप योग से युक्त हो रहा है।)।

श्यन् व यक् में स्वर का भेद है। श्यन् में तो 'ञ्नित्यादि:०' (अ०– ६.१.१९१) से आद्युदात्त होगा और यक् में लसार्वधातुकानुदात्तत्व (अ०– ६.१.१८०) कर लेने पर 'यक्' को ही प्रत्ययाद्युदात्तत्व (अ०– ३.१.३) होगा। यत: 'सृज' धातु के श्रद्धायुक्त कर्म में कर्मवद् भाव कहा है अत: कर्मस्थक्रिया के साथ तुल्यक्रियत्व का अभाव होने से अत्यन्त अप्राप्ति थी, सो इस अंश में यह विध्यर्थ है। 'युज' धातु के विषय में भी सकर्मकत्व के कारण कर्मवद्भाव की प्राप्ति नहीं थी– इस हेतु से यह विधि है।

वा०– ※ करणेन तुल्यक्रिय: कर्त्ता बहुलम्।।१६।। ※

भाष्यम्– करणेन तुल्यक्रिय: कर्त्ता बहुलं कर्मवद्भवतीति वक्तव्यम्।

परिवारयन्ति कण्टकैर्वृक्षम्। परिवारयन्ते कण्टका वृक्षमिति।।

करण के साथ तुल्यक्रियावाला कर्त्ता भी बहुल करके कर्मवद् हो जाता है– ऐसा कहना चाहिये। परिवारयन्ति कण्टकैर्वृक्ष: (वृक्ष काँटों से अपने आप ही ढक रहा है)। परिवारयन्ते कण्टका वृक्षम्। (काँटें वृक्ष को ढक रहे हैं।)

बहुल ग्रहण से 'साध्वसिश्छिनत्ति' इत्यादि में कर्मवद्भाव नहीं होगा। 'परिवारयन्ते कण्टका:' यहाँ 'णिचश्च' (अ०– १.३.७४) सूत्र से ही आत्मनेपद सिद्ध हो जायेगा और यक्-चिण् तो 'णिश्रन्थिग्रन्थि०' (वा० ३.१.८९) से प्रतिषिद्ध है ही, पुन: कर्मवद्भाव की क्या आवश्यकता है– ऐसा नहीं कह सकते। क्यों कि क्रियाफल के कर्त्तृगामित्व न होने पर भी आत्मनेपद के लिये और चिण्वद् भाव के लिये भी यह वार्त्तिक सप्रयोजन है।

वा०– ※ स्रवत्यादीनां प्रतिषेध:।।१७।। ※

भा०– स्रवत्यादीनां प्रतिषेधो वक्तव्य:। स्रवति कुण्डिकोदकम्, स्रवति कुण्डिकाया उदकम्। स्रवन्ति वलीकान्युदकम्, स्रवति वलीकेभ्य उदकमिति।।

---

१. संबध्नातीत्यर्थ:।

अन्तर्भावितण्यर्थ[१] स्रवति-इत्यादि धातुओं के कर्त्ता को कर्मवद्भाव का प्रतिषेध कहना चाहिये। जैसे– स्रवति कुण्डिकोदकम् (रिसती हुयी कुण्डिका जल को बहा रही है)। स्रवति कुण्डिकाया उदकम् (कुण्डिका का जल निकल रहा है– रिस रहा है)। वलीक (छप्पर की चूल) जल टपका रही है। वलीकों से जल टपक रहा है।

भा०– स तर्हि प्रतिषेधो वक्तव्यः ? न वक्तव्यः। 'तुल्यक्रिय' इत्युच्यते, क्रियान्तरं चाऽत्र गम्यते। इह तावत्स्रवति कुण्डिकोदकमिति– विसृजतीति गम्यते। 'स्रवति कुण्डिकाया उदक'मिति– निष्क्रामतीति गम्यते। 'स्रवन्ति वलीकान्युदक'मिति–विसृजन्तीति गम्यते। 'स्रवति वलीकेभ्य उदक'मिति– पततीति गम्यते।।

तो क्या वह प्रतिषेध कहना चाहिये ? नहीं! इसे कहने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि 'तुल्यक्रियः' ऐसा कहा जा रहा है। और यहाँ स्पष्ट ही क्रियान्तर गम्यमान है। देखो, यहाँ 'स्रवति कुण्डिकोदकम्' इससे विसृजति[२] (ददाति, त्यजति) अर्थ गम्यमान है। 'स्रवति कुण्डिकाया उदकम्' यहाँ 'निष्क्रामति'– यह अर्थ गम्यमान है। 'स्रवन्ति वलीकान्युदकम्', यहाँ 'विसृजन्ति' (त्यजन्ति) ऐसा अर्थ निकल रहा है। 'स्रवन्ति वलीकेभ्य उदकम्' यहाँ 'पतति' (गिर रहा है) यह अर्थ जाना जा रहा है।

कर्मावस्था में 'दान' धात्वर्थ है, और कर्त्रावस्था में निष्क्रमण- इस प्रकार 'तुल्यक्रियत्व' का अभाव है।, इसलिये प्रतिषेध करने की आवश्यकता नहीं है। तो भी अर्थविशेष की अपेक्षा से तो प्रतिषेध युक्त ही है।

वा०– ✻ भूषाकर्मकिरतिसनां चाऽन्यत्राऽत्मनेपदात्।।१८।। ✻

भाष्यम्– भूषाकर्मकिरतिसनां चाऽन्यत्रात्मनेपदात् प्रतिषेधो वक्तव्यः।

भूषयते कन्या स्वयमेव। अबुभूषत कन्या स्वयमेव। मण्डयते कन्या स्वयमेव। अममण्डत कन्या स्वयमेव।। किरति-अवकिरते हस्ती स्वयमेव अवाकीर्ष्ट हस्ती स्वयमेव।। सन्- चिकीर्षते कटः स्वयमेव। अचिकीर्ष्ट कटः स्वयमेव।।८७।।

'कर्म' शब्द यहाँ क्रियावाची है। शोभारूप भूषाफल कर्म में दिखायी देता है– इसलिये ये कर्मस्थक्रियक हैं। तुदादि-अन्तर्गत किरादिगण है– कृ-विक्षेपे, गृ-निगरणे, दृङ्-आदरे, धृङ्-अवस्थाने, प्रछ-ज्ञीप्सायाम्; ये पाँच धातुयें हैं, भूषार्थक धातुओं से, किरादि धातुओं से और सन्नन्त धातओं से, एक आत्मनेपद को छोडकर, कर्मवद्भाव से प्राप्त शेष तीनों कार्यों (यक्-चिण्-चिण्वद्भाव) का प्रतिषेध करना चाहिये। भूषयते कन्या स्वयमेव (इस वाक्य की प्रथमकक्षा होगी– माता कन्यां भूषयति)।

---

१. विना ही णिच् के जो धातु णिच् के अर्थ को प्रकट कर देती है वे अन्तर्भावितण्यर्थ कहाती हैं।

२. लोक में भी कहते हैं– 'कृपणोऽसौ न किञ्चित्स्रवति।' 'विसर्ग' का दान अर्थ प्रसिद्ध है। यहाँ उसी का आरोप हो रहा है।

सौकर्यातिशय विवक्षा में कहेंगे कन्या स्वयमेव सुभूषित हो रही है। अबुभूषत कन्या स्वयमेव; यहाँ 'चिण्' न होकर 'णिश्रिद्रुस्रु०' (अ०– ३.१.४८) से चङ् हो गया। मण्डयते कन्या स्वयमेव। अममण्डत कन्या स्वयमेव।। किरादि-हस्तिनं कश्चित् पांस्वादिनाऽवकिरति– (प्रथमकक्षा); हस्ती के ही कर्त्ता बनने पर 'अवाकीर्ष्ट हस्ती स्वयमेव' (हाथी अपने आप ऊपर मिट्टी फेंक रहा है)। गिरते ग्रासः स्वयमेव, अगीर्ष्ट ग्रासः स्वयमेव (ग्रास अपने आप निगला गया)। सन्-चिकीर्षते कटः स्वयमेव (यहाँ करोति क्रिया की अपेक्षा से कर्मस्थक्रियत्व है, इच्छा तो कर्त्तृस्थ ही होती है। यहाँ शब्द से तो प्रत्ययार्थ (इच्छार्थ) का ही प्राधान्य प्रतीत हो रहा है, पर अर्थ से प्रकृत्यर्थ (प्रकृत में करोत्यर्थ) का प्राधान्य है, क्योंकि उसी के लिये तो इच्छा है)। कट अपने आप बनना चाह रहा है।

यहाँ वार्त्तिक में पठित भूषाकर्म से ण्यन्त-अण्यन्त सभी भूषार्थक धातुएँ ली जायेंगी। जैसे– अलंकुरुते कन्या स्वयमेव, अलमकृत कन्या स्वयमेव। यद्यपि अगले ही सूत्र में वक्ष्यमाण 'णिश्रन्थिग्रन्थि०' वार्त्तिक से ण्यन्त में तो यक्-चिण् का प्रतिषेध सिद्ध था, तो भी स्य-सिच्-सीयुट्-तासि प्रत्ययों के विषय में चिण्वद्भाव के अभाव के लिये ण्यन्त में भी इसकी प्रवृत्ति आवश्यक है। यहाँ 'अन्यत्रात्मनेपदात्' इस कथन से चिण्वद्भाव का भी निषेध है। अग्रिम सूत्र में चिण् का निषेध किया है। चिण्-निषेध से चिण्वद्भाव-प्रतिषेध प्राप्त नहीं होता। इसलिये तो इस वार्त्तिक को 'न दुहस्नु०' (अ०– ३.१.८९) सूत्र में नहीं पढा। यदि वहाँ पढते तो यक्-चिण् का ही निषेध हो पाता– न कि चिण्वद्भाव का भी।।८७।।

न दुहस्नुनमां यक्चिणौ।। ३.१.८९।।

वा०– ❊ यक्चिणोः प्रतिषेधे हेतुमण्णिश्रिब्रूञामुपसंख्यानम्।।१।। ❊

भाष्यम्– यक्चिणोः प्रतिषेधे हेतुमण्णिश्रिब्रूञामुपसंख्यानं कर्त्तव्यम्।

णि-कारयते कटः स्वयमेव। अचीकरत कटः स्वयमेव। णि।। श्रिंच्छ्रयते दण्डः स्वयमेव। उदशिश्रियत दण्डः स्वयमेव। श्रि।। ब्रूञ्-ब्रूते कथा स्वयमेव। अवोचत कथा स्वयमेव।।

सूत्र से दुह-स्नु और नम धातुओं के कर्मकर्त्ता में यक् व चिण् का प्रतिषेध किया जाता है। वार्त्तिककार इस प्रतिषेध में कुछ और भी धातुओं का संकलन कर रहे हैं–

यक् व चिण् के प्रतिषेध में हेतुमण्णि (प्रयोजक णिच्) श्रिञ्-सेवायाम् और ब्रूञ्-व्यक्तायां वाचि का भी उपसंख्यान करना चाहिये। जैसे– णि-प्रथमकक्षा में प्रयुक्त जो वाक्य 'कारयति कटं देवदत्तः' यहाँ सौकर्यातिशय विवक्षा में 'देवदत्त' कर्त्ता को हटाकर जब कट-कर्म को ही कर्त्ता बना दिया जाता है, तब ऐसा प्रयोग होता है– कारयते कटः स्वयमेव। चिण् का प्रतिषेध (लुङ्लकार में) होने पर 'णिश्रिद्रु०' से चङ् होकर– अचीकरत कटः स्वयमेव।। श्रि– प्रथमकक्षा (कर्त्तृवाच्य) उच्छ्रयति दण्डं देवदत्तः। कर्मकर्त्ता-उच्छ्रयते

दण्ड: स्वयमेव। (दण्ड अपने आप ही ऊपर उठ रहा है)। उदशिश्रियत दण्ड: स्वयमेव-चिण् प्रतिषिद्ध होकर पूर्ववत् चङ् हो गया।। ब्रूञ्-प्रथमकक्षा- देवदत्त: कथां ब्रूते[1]। कर्मकर्त्ता-ब्रूते कथा स्वयमेव। (कथा अपने आप कही जा रही है)। अवोचत कथा स्वयमेव। यहाँ 'चिण्' का निषेध होकर 'अस्यतिवक्ति०' (अ०– ३.१.५२) से अङ् होकर 'वच उम्' (अ०– ७.४.२०) से 'उम्' आगम हो रहा है।

भाष्यम्– भारद्वाजीया: पठन्ति– 'यक्चिणो: प्रतिषेधे णिश्रन्थिग्रन्थिब्रूञात्मनेपदाऽकर्मकाणामुपसंख्यानम्' इति।। ८९।।

भारद्वाज आचार्य के शिष्य यक्-चिण् के प्रतिषेध विषय में अपना वचन इस रूप में पढते हैं– उपर्युक्त वचन में तो हेतुमान् संबन्धी 'णि' को लिया गया था। प्रकृत वचन में 'णि' मात्र का ग्रहण कर लिया गया है। चुरादिणिच् अथवा 'पुच्छभाण्डचीवराण्णिङ्' (अ०– ३.१.२०) का भी 'णि' करके ग्रहण हो जायेगा। इससे 'उत्पुच्छयते गौ: स्वयमेव' 'उदपुपुच्छत गौ: स्वयमेव' यहाँ भी यक्-चिण् का प्रतिषेध हो गया है। 'उत्पुच्छि' णिङ्-प्रत्ययान्त धातु को, अन्तर्भावितण्यर्थ मानकर कर्मवद्भाव की प्राप्ति होगी। जैसे– देवदत्त गौ को सहलाता है और उसकी उस सहलाने की क्रिया से गौ प्रसन्न होकर अपनी पूँछ को ऊपर उठा रही है, सो यहाँ भी समझा जायेगा कि 'पुच्छमुदस्यन्तीं गां गोप (देवदत्त:) उदासयतीति गामुत्पुच्छयति'। सौकर्यातिशयविवक्षा में 'गोप' कर्त्ता को हटाकर 'गो' को ही कर्त्ता बनाकर जब वाक्य प्रयोग करेंगे तो कर्मकर्त्ता का विषय बन जायेगा। वार्त्तिक में पठित 'आत्मनेपदाकर्मक' इस पद का भाव यह है– आत्मनेपदविधि में जो धातुयें अकर्मक निर्दिष्ट हैं, वे जब अन्तर्भावितण्यर्थ सकर्मक होती हैं, तब स्वातन्त्र्यविवक्षा में कर्मवद्भाव से प्राप्त यक्-चिण् का प्रतिषेध किया जाता है। जैसे– विकुर्वते[2] सैन्धवा:; वल्गन्तीत्यर्थ: (घोडे बहुत अच्छी चाल चल रहे हैं)। अन्तर्भावितण्यर्थ से अर्थ होगा– अश्वपाल: सैन्धवान् विकुरुते (वल्गयति)– अश्वपाल घोडों को अच्छी चाल चला रहा है। अब सौकर्यातिशय विवक्षा में 'अश्वपाल क्या चला रहा है, वे स्वयं ही चल रहे हैं'। श्रन्थ[3]– प्रथमकक्षा; श्रन्थति मेखलाम्।

---

१. प्रकाशन फल है जिसका ऐसा वचन ब्रूञ् धातु का अर्थ है। प्रकाशन के कर्ममात्रनिष्ठ होने से ब्रूञ् को कर्मस्थ जानना चाहिये। अत: कर्मवद्भाव प्राप्त है।

२. वल्गन्तीत्यर्थ:। तान् यदाऽन्यो वल्गयति, तदा तेषां कर्मत्वम्। पुन: सौकर्यातिशयात् कर्त्तृत्वविवक्षायां 'विकुर्वते सैन्धवा: स्वयमेव' 'व्यकृषत सैन्धवा: स्वयमेवेति यक्चिणौ न भवत:।' 'वे: शब्दकर्मण:' (अ०– १.३.३४) 'अकर्मकाच्च' (३५) इत्यात्मनेपदविधौ विपूर्वस्य करोतेरकर्मकत्वम्।

३. श्रन्थ, ग्रन्थ-सन्दर्भे। चुरादौ ग्रन्थिश्रन्थी पठ्येते। आधृषाद्वा (चु०ग०सू०- २३०) इति विभाषितणिचौ। तयोर्यदा णिच् नास्ति तदोदाहरणे; अन्यथा 'णी'त्येव सिद्धि:। श्रन्थ, ग्रन्थ क्र्यादौ अपि पठ्येते, तयोरप्ययं प्रतिषेध:।।

कर्मकर्त्ता-श्रन्थते मेखला स्वयमेव। अश्रन्थिष्ट मेखला स्वयमेव। ग्रन्थ– प्रथमकक्षा; ग्रन्थति ग्रन्थं देवदत्त:। कर्मकर्त्ता ग्रन्थते ग्रन्थ: स्वयमेव, अग्रन्थिष्ट ग्रन्थ: स्वयमेव। श्रन्थ, ग्रन्थ जो क्रैयादिक धातुओं के उदाहरण होंगे– श्रथ्नीते मेखला स्वयमेव, ग्रथ्नीते ग्रन्थ: स्वयमेव। 'ई हल्यघो:' (अ०– ६.४.११३) से ईत्व हो गया है।

यहाँ एक बात पर विचार करना चाहिये, चिण् के प्रतिषेध में चिण्वद्भाव का भी प्रतिषेध हो जाता है कि नहीं। कुछ का तो कहना कि, चिण्वद्भाव का भी प्रतिषेध हो जाता है। पर नागेश ने तो अपना मत स्पष्ट रूप से यही प्रकट किया है कि चिण्वद्भाव का प्रतिषेध नहीं होता। इसलिये 'व्यकृषत' प्रयोग के साथ चिण्वद्भाव पक्ष में 'व्यकारिषत सैन्धवा: स्वयमेव' यह भी प्रयोग होता है। उसका तर्क यह है– यदि चिण्-प्रतिषेध से आचार्य को चिण्वद्भाव भी इष्ट होता तो 'भूषाकर्म०' इस वार्त्तिक को भी वहाँ न पढकर यहीं पढते। अथवा इस वार्त्तिक को वहाँ पढते। इस विभेदपूर्वक पाठ करने से यही ध्वनित होता है कि इस वार्त्तिक से चिण्वद्भाव का प्रतिषेध नहीं होता।

कुषिरजो: प्राचां श्यन्परस्मैपदं च।।३.१.९०।।

वा०– ❋ कुषिरजो: श्यन्विधाने सार्वधातुकवचनम्।।१।।❋

भाष्यम्– कुषिरजो: श्यन्विधाने सार्वधातुकग्रहणं कर्त्तव्यम्।

कुष-निष्कर्षे और 'रञ्ज-रागे' धातु के कर्मकर्त्ता में प्राग्देशवासी आचार्यों के मत में, श्यन् होता है और परस्मैपद इस विषय में वार्त्तिककार का अपना सुझाव है– सार्वधातुक ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् सार्वधातुक विषय में श्यन् और परस्मैपद होते हैं– ऐसा कहना चहिये।

कर्मवद्भाव से यक् प्राप्त था; श्यन् विधान कर रहे हैं। श्यन् होने से 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (अ०– ६.१.१९१) से आद्युदात्त पद होगा। दूसरा लाभ यह होगा कि 'शप्श्यनोर्नित्यम्' (अ०– ७.१.८१) से 'कुष्यन्ती जङ्घा'– यहाँ नित्य नुम् हो जायेगा।

वा०– ❋ अवचने हि लिङ्लिटो: प्रतिषेध:।।२।। ❋

भाष्यम्– अक्रियमाणे हि सार्वधातुकग्रहणे लिङ्लिटो: प्रतिषेधो वक्तव्य: स्यात्। चुकुषे पाद: स्वयमेव। ररञ्जे वस्त्रं स्वयमेव। कोषिषीष्ट पाद: स्वयमेव। रङ्क्षीष्ट वस्त्रं स्वयमेव।।

सार्वधातुक ग्रहण न करने पर लिङ् (आशीर्लिङ्) और लिट् में (जो कि आर्धधातुक लकार हैं) परस्मैपद का प्रतिषेध करना होगा। क्योंकि वहाँ नित्य ही आत्मनेपद इष्ट है। जैसे– चुकुषे पाद: स्वयमेव (पैर अपने आप निकल गया)। ररञ्जे वस्त्रं स्वयमेव (वस्त्र अपने आप रंगा गया)। कोषिषीष्ट पाद: स्वयमेव

(मेरी ऐसी इच्छा है कि पैर अपने आप निकल जाऐ)। रङ्क्षीष्ट वस्त्रं स्वयमेव (वस्त्र अपने आप ही रंग जाऐ)।

भा०– क्रियमाणे चाऽपि सार्वधातुकग्रहणे 'कतीह कुष्णानाः पादाः' इत्यत्रापि प्राप्नोति। श्यना च स्यादीनां बाधनं प्राप्नोति। कोषिष्यते पादः स्वयमेव। रङ्क्ष्यते वस्त्रं स्वयमेव। अकोषि पादः स्वयमेव। अरञ्जि वस्त्रं स्वयमेव।।

सार्वधातुकग्रहण करने पर भी, 'कतीह कुष्णानाः पादाः' (यहाँ ऐसे कितने पैर हैं जो निकलने की स्थिति में हैं) यहाँ भी 'श्यन्' प्राप्त होता है। और 'श्यन्' के द्वारा (परत्व से) स्यादि की बाधा प्राप्त होती है। जैसे– 'कोषिष्यते पादः स्वयमेव' (पैर अपने आप निकल जायेगा)। अकोषि पादः स्वयमेव (पैर अपने आप निकल गया)। रङ्क्ष्यते वस्त्रं स्वयमेव (वस्त्र अपने आप रंग जायेगा)। अरञ्जि वस्त्र स्वयमेव (वस्त्र अपने आप रंग गया)।

'कुष्णानाः' यहाँ 'ताच्छील्यवयोवचन०' (अ०– ३.२.१२९) से 'चानश्' हुआ है। सूत्र के द्वारा कहे गये 'परस्मैपदविधान को अन्वाचयशिष्ट[1] मानकर केवल' 'श्यन्' की प्राप्ति दर्शायी गयी है। अन्यथा[2] उक्त प्रसङ्ग में परस्मैपद की प्राप्ति ही न होने से 'श्यन्' भी स्वतः ही प्राप्त नहीं होगा। (द्रष्ट०पा० ९१)

भा०– यत्तावदुच्यते 'सार्वधातुकग्रहणं कर्त्तव्य'मिति, न कर्त्तव्यम्। प्रकृतमनुवर्त्तते।। क्व प्रकृतम्? 'सार्वधातुके य'गिति।।

जो यह कहा जा रहा है कि सार्वधातुकग्रहण करना चाहिये। उसकी तो कोई आवश्यकता नहीं है। ऊपर जो प्रस्तुत है, उसी की अनुवृत्ति हो जायेगी। कहाँ पर प्रकृत है? सार्वधातुके यक् (अ०– ३.१.६७) में।

भा०– यदि तदनुवर्त्तते[3], पूर्वस्मिन् योगे किं समुच्चयो-ले च, सार्वधातुके चेति, आहोस्विल्लग्रहणं सार्वधातुकविशेषणम्? किं चाऽतः? यदि समुच्चयः– 'कतीह भिन्दानाः कुसूलाः' इत्यत्रापि प्राप्नोति। अथ लग्रहणं सार्वधातुकविशेषणं– लिङ्लिटोर्न सिद्धयति; बिभिदे कुसूलः स्वयमेव, भित्सीष्ट कुसूलः स्वयमेवेति।।

---

१. प्रधानकार्य का कथन करके गौण कार्य की उक्ति या मुख्य पदार्थ के साथ गौण पदार्थ को जोडना– यही अन्वाचयशिष्ट है।

२. यदि परस्मैपद को सन्नियोगशिष्ट माना जाये तो।

३. 'लिङ्याशिष्यङ्' यहाँ द्विलकारवाला निर्देश उक्त हुआ है। सो वहाँ से एक लकार 'कर्मवत्०' सूत्र में अन्वित हो रहा है।

यदि वह अनुवर्त्तमान है तो, यह विचार करना होगा कि 'कर्मवत्कर्मणा०' (अ०– ३.१.८७) इस पूर्वसूत्र में, 'ल् में' और 'सार्वधातुक में' इस रूप में समुच्चय है अथवा लग्रहण सार्वधातुक का विशेषण है– (लविशिष्ट सार्वधातुक में)। अर्थात् ल् (लकार) और सार्वधातुक प्रत्येक में कर्मवद्भाव की प्रयोजनीयता है अथवा केवल लस्थानिक सार्वधातुक की ही। इससे क्या भेद पडता है? या ऐसा कहकर आप क्या कहना चाहते हैं? यदि तो समुच्चय है तब तो 'कतीह भिन्दाना: कुसूला:' (यहाँ, ऐसे कितने कुसूल हैं जो फूटने के स्वभाव वाले हैं?)। यहाँ भी कर्मवद्भाव[1] प्राप्त होता है। क्यों कि यहाँ 'ताच्छील्यवयो०' (अ०– ३.२.१२९) सूत्र से 'चानश्' हुआ है। जो शित् होने से सार्वधातुक तो है, पर 'ल' नहीं है। लविशिष्ट सार्वधातुक कहने से यद्यपि 'कतीह भिन्दाना:०' यहाँ तो कर्मवद्भाव नहीं पायेगा पर लिङ् (आशीर्लिङ्) और लिट् के अर्धधातुक होने से वहाँ कर्मवद्भाव सिद्ध नहीं होगा– बिभिदे कुसूल: स्वयमेव, भित्सीष्ट कुसूल: स्वयमेव।

भा०– अस्तु लग्रहणं सार्वधातुकविशेषणम्।।

अच्छा तो, 'लग्रहण' को सार्वधातुक का विशेषण मान लेते हैं। इस पक्ष में 'लस्थानिक जो सार्वधातुक'– ऐसा अर्थ होगा।

भा०– ननु चोक्तं– 'लिङ्लिटोर्न सिद्ध्यती'ति?।

क्यों जी इस पक्ष को लेकर अभी तो कहा था कि आशीर्लिङ् और लिट् में, कर्मवद्भाव सिद्ध नहीं होता। क्यों कि वे आर्धधातुकलकार[2] हैं।

भा०– लिङ्लिड्ग्रहणमपि प्रकृतमनुवर्त्तते।। क्व प्रकृतम्? 'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि' (अ०– ३.१.३५), 'लिङ्याशिष्यङ्' (८६) इति।।

एवं च कृत्वा सोऽप्यदोषो भवति यदुक्तं– 'कतीह कुष्णाना: पादा:– इत्यत्राऽपि प्राप्नोति'ति। अत्रापि लविशिष्टं सार्वधातुकग्रहणमनुवर्त्तते।।

लिङ्-लिट् ग्रहण भी, जो प्रकृत हैं (ऊपर सूत्रों में पढे हुये हैं) उन्हीं की अनुवृत्ति कर लेंगे। कहाँ प्रकृत हैं? 'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि' यहाँ तो लिट् है और 'लिङ्याशिष्यङ्' यहाँ लिङ् है। सप्तम्यन्त लिटि और लिङि की अनुवृत्ति होकर 'सार्वधातुके' इसके विशेषण हो जायेंगे।

---

१. कर्मवद्भाव होने से 'सार्वधातुके यक्' पाने लगेगा।

२. लिट् च, लिङाशिषि (अ०– ३.४.११५,११६)।

और जब ऐसा है तो, वह दोष भी निरस्त हो जाता है– जो यह कहा था कि 'कतीह कुष्णाना: पादा:'– यहाँ भी कर्मवद्भाव पाता है। क्योंकि 'कुषिरजो:०' (अ०– ३.१.९०) यहाँ भी लविशिष्ट सार्वधातुकग्रहण की ही अनुवृत्ति हो जायेगी। जिसका अर्थ होगा– लादेशसार्वधातुकविषय में श्यन् व परस्मैपद होता है।

भाष्यम्– यदप्युच्यते– 'श्यना च स्यादीनां बाधनं प्राप्नोती'ति। यक्प्रतिषेधसंबन्धेन श्यनं वक्ष्यामि। 'न दुहस्नुनमां यक्चिणौ' (अ०– ३.१.८९), तत: 'कुषिरजो: प्राचाम्'– कुषिरजो: प्राचां यक्चिणौ न भवत:। तत: श्यन् परस्मैपदं चे'ति।।

और जो यह कहा कि 'श्यन्' के द्वारा स्यादि प्रत्ययों का बाधन प्राप्त होता है। उसके लिये तो यक्प्रतिषेध-संबन्ध से श्यन् कहेंगे। हमारे पास पहले सूत्र है 'न दुहस्नुनमां०'। तत्पश्चात् 'कुषिरजो: प्राचाम्'– इस सूत्र में 'न' और 'यक्चिणौ' की अनुवृत्ति होकर अर्थ होगा, कुष् व रञ्ज् धातु के कर्मकर्त्ता में प्राग् आचार्यों के मत में यक्-चिण् नहीं होते। तत्पश्चात् 'श्यन् परस्मैपदं च' ऐसा कहेंगे।

यक् प्रतिषेध के साथ संबन्ध करके 'श्यन्' कहने का यह भाव है– जहाँ प्राप्त हुये यक् का प्रतिषेध है वहीं श्यन् व परस्मैपद होते हैं, इसके अन्यत्र नहीं। इस प्रकार स्यादि विषय में नहीं होंगे।

भा०– यथैव तर्हि यको विषये श्यन्भवत्येवं चिणोऽपि विषये प्राप्नोति–अकोषि पाद: स्वयमेव, अरञ्जि वस्त्रं स्वयमेव।।

यदि ऐसा करेंगे तो जैसे यक् के विषय में श्यन् होता है वैसे ही, चिण् के विषय में भी प्राप्त होने लगेगा। क्योंकि यक् व चिण् का तो साथ-साथ ही प्रतिषेध किया है।

भा०– एवं तर्हि द्वितीयो योगविभाग: करिष्यिते– 'न दुहस्नुनमाम्'; न दुहस्नुनमां चिण् भवति। ततो 'यक्'। 'यक्च न भवति दुहस्नुनमाम्'। तत: 'कुषिरजो: प्राचाम्'। कुषिरजो: प्राचां यग्न भवति। तत: 'श्यन् परस्मैपदं चे'ति।।

अच्छा, यह बात है तो दूसरा योगविभाग कर लेंगे। 'न दुहस्नुनमां चिण्' भवति। दुह-स्नु-नम धातुओं के कर्मकर्त्ता में चिण् नहीं होता। तत्पश्चात् 'यक्'। दुह-स्नु-नम धातुओं के कर्मकर्त्ता में यक् भी नहीं होता। तत्पश्चात् 'श्यन्परस्मैपदं च'। दुहस्नु-नम धातुओं के कर्मकर्त्ता में जहाँ यक् नहीं होता, वहाँ श्यन् व परस्मैपद हो जाते हैं। इससे, चिण् के विषय में श्यन्-परस्मैपद नहीं होंगे।

भाष्यम्– अथवाऽनुवृत्ति: करिष्यते– 'स्यतासी लृलुटो:' (३३) च्लि लुङि (४३), च्ले: सिज्भवतीति। 'कर्त्तरि शप्' (६८) स्यतासी लृलुटो:, च्लि लुङि, च्ले: सिज्भवतीति। 'दिवादिभ्य: श्यन्' (६९) स्यतासी लृलुटो:, च्लि लुङि, च्ले: सिज्भवतीति। 'कुषिरजो: प्राचां श्यन् परस्मैपदं च' स्यतासी लृलुटो:, च्लि लुङि, च्ले: सिज्भवतीति।।

अथवा स्य, तासि और सिज् विधायक सूत्रों की 'कुषिरजो: प्राचां श्यन्०' (अ०– ३.१.९०) इस सूत्र में अनुवृत्ति कर ली जायेगी। जैसे कि पहिले हमारे पास सूत्र हैं– 'स्यतासी लृलुटो:', 'च्लि लुङि', 'च्ले: सिच्', तत् पश्चात् 'कर्त्तरि शप्',– इस सूत्र में पूर्ववर्त्ती तीनों वाक्य अनुवृत्त होकर उसी रूप में संबद्ध हो जायेंगे। इसी प्रकार आगे वाले 'दिवादिभ्य: श्यन्' इत्यादि सभी सूत्रों में भी, 'स्यतासी लृलुटो:' इत्यादि वाक्यों की अनुवृत्ति होती जायेगी। और यह अनुवृत्ति 'कुषिरजो: प्राचां श्यन्०' तक चलती रहेगी। इस प्रक्रिया से भी स्यादि विषय में श्यन् परस्मैपद नहीं होंगे।

भाष्यम्– अथवाऽन्तरङ्गा: स्यादय:।। काऽन्तरङ्गता? लकारावस्थायामेव स्यादय:। सार्वधातुके श्यन्।।९०।।

अथवा स्यादि प्रत्यय अन्तरङ्ग हैं। श्यन् बहिरङ्ग है। स्यादियों की क्या अन्तरङ्गता है? लादेशों के विना किये ही लृ-लुट् और लुङ् का नाम लेकर विशेषरूप से विधान करने के कारण, स्यादि पहिले ही हो जाते हैं। और स्यादि कर लेने पर भी यदि श्यन् करने की बात सोची जाये तो, वह भी संभव नहीं, क्योंकि, सार्वधातुक के परे रहते धातु से विधीयमान श्यन्, स्यादियों के व्यवधान के कारण नहीं हो सकेगा। और जब श्यन् नहीं हो सकेगा तो उसके ही साथ संनियोगशिष्ट होने से परस्मैपद भी नहीं होगा।

नागेश ने इस भाष्य की सङ्गति लगाते हुये 'परे तु' के द्वारा अपने भाव कुछ इस रूप में प्रकट किये हैं– 'स्यतासी०' इस सूत्र में 'आयादय आर्धधातुके वा' यहाँ से 'आर्धधातुके' पद की अनुवृत्ति करके आर्द्धधातुक अवस्था में ही 'स्यतासी' हो जाते हैं– इसलिये वे अन्तरङ्ग हैं।

नागेश का कहना है– इसी अभिप्राय से भाष्य में 'लावस्थायाम्' कहा है।।९०।।

धातो:।। ३.१.९१।।

भाष्यम्– आ कुतोऽयं धात्वधिकार:? किं प्राग्लादेशात्, आहोस्विदा तृतीयाऽध्यायपरिसमाप्ते:?

यह 'धातो:' इस सूत्र का अधिकार कहाँ तक है? लादेश अर्थात् 'लस्य' (अ०– ३.४.७७) इस सूत्र से पहले-पहले अथवा तृतीयाध्याय की परिसमाप्ति पर्यन्त?

अधिकार सूत्रों में स्वरितत्त्व प्रतिज्ञान से अधिकारत्व का तो निश्चय हो जाता है, पर अवधि विशेष का नहीं हो पाता। प्रस्तुत सूत्र की अवधिविशेष के निश्चय करने के लिये ही यह प्रकरण प्रारम्भ हुआ है।

वा०–* धात्वधिकार: प्राग्लादेशात्।।१।। *

भाष्यम्– प्राग्लादेशाद्धात्वधिकार:।।

धात्वधिकार है; लादेश से पहिले-पहिले।

वा०–✻ लादेशे हि व्यवहितत्वादप्रसिद्धिः।।२।। ✻

भाष्यम्– अनुवर्त्तमाने हि लादेशे धात्वधिकारे व्यवहितत्वादप्रसिद्धिः स्यात्।। किं च स्यात्?

लादेश में भी यदि धात्वधिकार ले जायेंगे तो विकरणों के द्वारा व्यवहित होने से (सूत्रार्थ की) सिद्धि नहीं हो सकेगी। उससे क्या होगा?

वा०– ✻ आद्ये योगे न व्यवाये तिङः स्युः।। ✻

भा०– आद्ये योगे विकरणैर्व्यवहितत्वात्तिङो न स्युः। पचति पठतीति।।

इदमिह संप्रधार्यं विकरणाः क्रियन्तामादेशा इति, किमत्र कर्त्तव्यम्?

परत्वादादेशाः।। नित्या विकरणाः। कृतेष्वप्यादेशेषु प्राप्नुवन्त्यकृतेष्वपि प्राप्नुवन्ति।। नित्यत्वाद्विकरणेषु कृतेषु विकरणैर्व्यवहितत्वादादेशाः न प्राप्नुवन्ति।। अनवकाशास्तर्ह्यादेशाः।। साऽवकाशा आदेशाः।। कोऽवकाशः? य एते लुग्विकरणाः, श्लुविकरणाश्च, लिङ्लिटौ च।।

लस्य प्रकरण के 'तिप्तस्झि०' (अ०– ३.४.७८) इस पहले ही सूत्र में 'धातोः' इस पञ्चम्यन्त पद का संबन्ध होने पर विकरणों[१] के द्वारा व्यवहित होने से 'ल्' के स्थान में तिङ् आदेश नहीं हो पायेंगे। यथा पचति। पठति।

अच्छा, यहाँ यह विचार (निश्चय) करना चाहिये कि विकरण किये जायें अथवा आदेश। पहले क्या करना चाहिये? परत्व से आदेश (ही) होने चाहिये। किन्तु विकरण नित्य हैं। आदेशों के कर लेने पर भी प्राप्त होते विकरणों के कर लेने पर, उन विकरणों के द्वारा व्यवधान होने से आदेश प्राप्त नहीं होते।

अच्छा तो फिर आदेश अनवकाश हैं। नहीं! आदेश तो सावकाश हैं। आदेशों के लिये कौन है भला अवकाश? जो ये लुग्विकरणवाली धातुयें हैं और श्लुविकरणवाली हैं और आशीर्लिङ् और लिट् हैं (जहाँ कि कोई भी विकरण नहीं होता)।

वा०– ✻ न स्यादेत्वं टेष्टितां यद्विधत्ते।। ।। ✻

भाष्यम्– यच्च टित्संज्ञकानां टेरेत्वं विधत्ते, तच्च विकरणैर्व्यवहितत्वादादेशानां न स्यात्।।

और जो ये इत्संज्ञक टकारवाले लकारों के (टित् लकारों के संबन्धी जो आदेश, उनके) टि भाग को आचार्य एत्व विधान करते हैं, वह भी 'धातोः' इस पद का संबन्ध होने पर विकरणों के द्वारा व्यवहित होने से उन आदेशों को नहीं होने देगा।

---

१. स्यादयोऽत्र विकरणाः। शबादयो हि सार्वधातुके परतो विधीयमाना न व्यवधायका भवन्ति। 'सार्वधातुके विषये शबादयः' इति पक्षे तु तेऽपि गृह्यन्ते।

वा०– ❋ एश: शित्त्वम्।। ❋

भाष्यम्– एकारश्च शित्कर्त्तव्य:।। किं प्रयोजनम्? शित्सर्वस्येति सर्वादेशो यथा स्यात्। अक्रियमाणे हि शकारे, 'तस्मादित्युत्तरस्यादे: परस्य' (अ०– १.१.६७,५४) इति तकारस्यैत्वे कृते द्वयोरेकारयो: श्रवणं प्रसज्येत। निवृत्ते पुनर्लादेशे धात्वधिकारेऽलोऽन्त्यस्य विधयो भवन्तीत्येकारस्यैकारवचने प्रयोजनं नास्तीति कृत्वाऽन्तरेणाऽपि शकारं सर्वादेशो भविष्यति।।

लादेश प्रकरण में भी धात्वधिकार मानने पर 'लिटस्तझयो०' (अ०– ३.४.८१) सूत्र से विहित 'एश्' आदेश को शित् करना चाहिये। किस प्रयोजन के लिये? 'शित्सर्वस्य' (अ०– १.१.५५) से संपूर्ण 'त' इस प्रत्यय के स्थान में आदेश हो जाये। शकार न करने पर 'तस्मादित्युत्तरस्य', 'आदे: परस्य'– इन दोनों के नियमानुसार, आदि तकार मात्र को एत्व कर लेने पर दो एकारों[१] का श्रवण होने लगेगा। और लादेश में धात्वधिकार के निवृत्त कर देने पर 'अलोऽन्त्यस्य' (अ०– १.१.५१) सूत्र के नियम से षष्ठी निर्दिष्ट को कही गयी विधियाँ अन्तिम 'अल्' को होती हैं– किन्तु अब एकार को एकार करने में तो कोई प्रयोजन नहीं– इस हेतु से शकार के विना भी निर्दिश्यमानपरिभाषा (द्रष्ट०पारि- १३) से, सर्वादेश ही हो जायेगा।

वा०– ❋ यच्च लोटो विधत्ते।। ❋

भाष्यम्– यच्च लोटो विधीयते। तच्च विकरणैर्व्यवहितत्वान्न स्यात्।। किं पुनस्तत्? 'लोटो लङ्वत्' 'एरु:' 'सेर्ह्यपिच्च' 'वा च्छन्दसि' (अ०– ३.४.८५-८८) इति।।

और जो लोट् को कार्य विधान किये गये हैं, वे सब भी विकरणों के द्वारा व्यवहित होने के कारण नहीं हो पायेंगे। कौन से हैं (वे) कार्य? लोटो लङ्वत्। एरु:। सेर्ह्यपिच्च। वा च्छन्दसि। इत्यादि।

वा०–❋ यच्चाप्युक्तं लङ्लिङोस्तच्च न स्यात्।। ❋

भाष्यम्– किं पुनस्तत्? 'नित्यं ङित:', 'इतश्च' 'तस्थस्थमिपां तान्तन्ताम:' 'लिङ: सीयुट्' 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' (अ०– ३.४.९९-१०३) इति। तस्मात् प्राग्लादेशाद्धात्वधिकार:।।

और जो कार्य लङ् व लिङ् को कहे हैं, वे भी विकरणों से व्यवहित होने से नहीं हो पायेंगे। क्या हैं वे? 'नित्यं ङित:' से उत्तमपुरुष के सकार का लोप। 'इतश्च' से परस्मैपद संबन्धी इकार का लोप। 'तस्थस्थमिपां०' से ताम्-तम्-त व अम् आदेश। 'लिङ: सीयुट्' से सीयुट् का आगम। 'यासुट् परस्मैपदेषु०' से यासुडागम। इसलिये लादेश से पूर्व-पूर्व ही धात्वधिकार मानना चाहिये।

---

१. 'टित आत्मनेपदानां०' से हुआ एकार और 'लिटस्तझयो०' से हुआ एकार।

भा०– यदि प्राग्लादेशाद्धात्वधिकारः, अकारः शित्कर्त्तव्यः।।

यदि 'धातोः' इस सूत्र का अधिकार लादेश से पहिले-पहिले ही है– ऐसे मानते हो तो, 'परस्मैपदानां णलतुसु०' (अ०– ३.४.८२) सूत्र से 'थ' के स्थान में जो आकार का विधान किया गया है, उसे शित् करना चाहिये।

भा०– किं प्रयोजनम्? 'शित्सर्वस्ये'ति सर्वादेशो यथा स्यात्। अनुवर्त्तमाने पुनर्लादेशे धात्वधिकारे 'तस्मादित्युत्तरस्यादेः परस्ये'ति थकारस्याऽत्वे द्वयोरकारयोः पररूपेण सिद्धं रूपं स्यात् पेच यूयं, चक्र यूयमिति।।

किस प्रयोजन के लिये? 'शित्सर्वस्य' के नियम से सर्वादेश हो जाये। और लादेश में भी यदि धात्वधिकार को ले जाते हैं तो 'तस्मादित्युत्तरस्य' 'आदेः परस्य' के नियम से 'थ' प्रत्यय के आदिभूत थकारमात्र को अत्व कर लेने पर दोनों अकारों को 'अतो गुणे' (अ०– ६.१.९४) पररूप से रूप सिद्ध हो जायेगा। पेच यूयम्, चक्र यूयम्।

भाष्यम्– ननु च निवृत्तेऽपि लादेशे धात्वधिकारेऽलोऽन्त्यस्य विधयो भवन्तीत्यकारस्याऽकारवचने प्रयोजनं नास्तीति कृत्वाऽन्तरेणाऽपि शकारं सर्वादेशो भविष्यति।।

क्यों जी! लादेश में धात्वधिकार के निवृत्त करदेने पर भी 'अलोऽन्त्यस्य' सूत्र के नियम से षष्ठीनिर्दिष्ट को विहित कार्य अन्तिम अल् को होते हैं; पर अब यहाँ अन्तिम अल् है 'थ' का अकार। अकार को अकारादेश करने में तो कोई प्रयोजन दिखायी नहीं देता– इस हेतु से शकार के विना भी सर्वादेश हो जायेगा।

भाष्यम्– अस्त्यन्यदकारस्याऽकारवचने प्रयोजनम्।। किम्? वक्ष्यत्येतत् 'अकारस्याऽकारवचनं समसंख्यार्थ'मिति।।

अकार को अकार करने में एक प्रयोजन है। क्या? आचार्य वार्त्तिककार यह कहेंगे कि अकार को अकारवचन समसंख्यार्थ है।

भा०– आर्धधातुकसंज्ञायां धातुग्रहणं कर्त्तव्यं, धातोः परस्यार्द्धधातुकसंज्ञा यथा स्यादिह मा भूद्– 'वृक्षत्वं, वृक्षते'ति।। तस्माल्लादेशे धात्वधिकारोऽनुवर्त्त्यः।।

'आर्धधातुकं शेषः' (अ०– ३.४.११४) यहाँ आर्धधातुकसंज्ञा विधायक सूत्र में तो धातुग्रहण करना ही होगा। धातु से परे जो प्रत्यय हों, उन्हीं की आर्धधातुकसंज्ञा हो। वृक्षत्वं, वृक्षता- इत्यादि में न हो इसलिये लादेश में भी धात्वधिकार की अनुवृत्ति करनी ही होगी।

भाष्यम्– ननु चोक्त'माद्ये योगे न व्यवाये तिङः स्यु'रिति।।

पर अभी-अभी जो कहा था– उसकी क्या गति होगी कि लादेश में धात्वधिकार को ले जाने पर आद्य

(तिप्तस्झि०) सूत्र में विकरणों के व्यवधान होने पर तिङादेश नहीं हो पायेंगे।

भा०– नैष दोषः। आनुपूर्व्यात्सिद्धमेतत्। नाऽत्राकृतेष्वादेशेषु विकरणाः प्राप्नुवन्ति।। किं कारणम्? सार्वधातुके विकरणा उच्यन्ते। न चाऽकृतेष्वादेशेषु सार्वधातुकत्वं भवति।।

नहीं! यह कोई दोष नहीं है। यह कार्य तो आनुपूर्व्य से सिद्ध है। यहाँ आदेशों के लिये विना तो विकरण प्राप्त ही नहीं होते। क्या कारण है? सार्वधातुक प्रत्यय के परे रहते 'कर्त्तरि शप्' आदि विकरण कहे गये हैं। और जब तक, आदेश नहीं हो जायेंगे तब तक सार्वधातुकत्व संभव ही नहीं है। अर्थात् आदेश होने पर ही तो 'तिङ् सार्वधातुकम्' (अ०– ३.४.११३) से उसकी सार्वधातुक संज्ञा हो सकेगी।

भाष्यम्– ये तर्हि नैतस्मिन्विशेषे विधीयन्ते।। के पुनस्ते? स्यादयः।।

अच्छा, जो इस विशेष सार्वधातुकसंज्ञा का आश्रय लेकर विधान नहीं किये जाते हैं– वहाँ कैसे करेंगे? ऐसे कौन से हैं? स्यादि हैं।

भा०– अत्रापि विहितविशेषणं धातुग्रहणं– 'धातोर्विहितस्य लस्ये'ति।

यहाँ भी सिद्ध हो जायेंगे। कैसे? धातुग्रहण विहितविशेषण है– धातु से विहित 'ल' के स्थान में तिबादि होते हैं। यहाँ तक कि टि को एकत्वसिद्धि के लिये विषयसप्तमीवादी को भी विहितविशेषण का सहारा लेना ही पडेगा। विहितविशेषण मानने पर व्यवधान में भी कार्य हो जायेगा।

भाष्यम्– यद्येवं विन्दतीति णलादयः प्राप्नुवन्ति।।

यदि ऐसा है तो 'विदो लटो वा' (अ०– ३.४.८३) से कहे गये णलादि आदेश 'विद्लृ-लाभे' (धातु०तु० १४१) से भी होने लगेंगे। जबकि चाहते हैं 'विद-ज्ञाने' (धा०अदा० ५७) से हो। 'विद्लृ-लाभे' से इसलिये होने लगेंगे, क्योंकि 'विद्' धातु से तिबादि विहित तो हैं, अब निश्शङ्क बीच में 'श' विकरण का व्यवधान आता रहे।

भाष्यम्– धातुनाऽत्र विहितं विशेषयिष्यामो विदिना चाऽनन्तर्यम्– 'धातोर्विहितस्य लस्य विदेरनन्तरस्ये'ति।।

उपर्युक्त समस्या का तो समाधान यह है कि 'विदो लटो वा' सूत्र में 'धातोः' यह सूत्र अनुवृत्त होगा। अब हमारे पास दो पञ्चमियाँ हो गयी; एक 'धातोः' और दूसरी 'विदः'। हम 'धातोः' इससे तो विहित को विशेषित करेंगे और 'विदः' के द्वारा आनन्तर्य को। इस प्रकार सूत्रार्थ होगा– धातु से विहित 'ल' के स्थान में, जो कि विद के अनन्तर है, हुये-हुये तिबादियों को णलादि होते हैं। इस व्यवस्था में 'विद्लृ-लाभे' के अनन्तर तिबादी न मिलने के कारण णलादि की प्रसक्ति नहीं होगी। केवल 'विद-ज्ञाने' जो अदादिगण की धातु है, उसी में उक्त स्थिति बनेगी।

भाष्यम्– इह तर्हि– अजक्षिष्यन्, अजागरिष्यन्निति; अभ्यस्ताज्झेर्जुस् भवतीति जुस्भावः प्राप्नोति।।

अच्छा तो विहितविशेषण– पक्ष में यहाँ एक दोष आयेगा– 'अजक्षिष्यन्, अजागरिष्यन्' इन उदाहरणों में 'जक्ष- भक्षहसनयोः', 'जागृ-निद्राक्षये' (धा० अदा० ६४-६५) इन धातुओं की 'जक्षित्यादयः षट्' (अ०– ६.१.६) से अभ्यस्तसंज्ञा होने से 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' (अ०– ३.४.१०९) सूत्र से अभ्यस्त से उत्तर झि को जुस् भाव प्राप्त होता है। क्योंकि इन उदाहरणों में अभ्यस्त से विहित 'झि' है ही, अब बेशक 'स्य' का व्यवधान बना रहे।

भाष्यम्– अत्रापि धातुना विहितं विशेषयिष्यामोऽभ्यस्तेनानन्तर्यम्– 'धातोर्विहितस्याभ्यस्तादनन्तरस्ये'ति।।

यहाँ भी धातु की अनुवृत्ति होने से, पूर्ववत् ही धातु के द्वारा तो विहित को विशेषित करेंगे और अभ्यस्त से आनन्तर्य को। धातु से विहित जो 'झि' और साथ में अभ्यस्त के अनन्तर भी हो तो उसको जुस् आदेश हो जाता है।

भाष्यम्– 'आतः' (अ०– ३.४.११०) इत्यत्र कथं विशेषयिष्यसि? यदि तावद् धातुग्रहणं विहितविशेषणमाकारग्रहणमानन्तर्यविशेषणम्,– अलुनन्, अपुनन्नित्यत्रापि प्राप्नोति। अथाऽऽकारग्रहणं विहितविशेषणं धातुग्रहणमानन्तर्यविशेषणम्,– अपिबन्, अजिघ्रन्नित्यत्रापि प्राप्नोति।।

ठीक है, वहाँ तो (जैसे तैसे) प्रबन्ध बन गया। 'आतः'– यहाँ कैसे विशेषित करोगे? यदि धातुग्रहण को विहितविशेषण मानते हो और आकारग्रहण को आनन्तर्यविशेषण, तो अलुनन्, अपुनन्– यहाँ भी 'अलुना+झि' इस स्थिति में 'अन्ति' भाव से पहले अपवाद होने से जुस् भाव प्राप्त होगा। क्योंकि लू-पू धातुओं से 'झि' विहित हुआ है और वह श्नाविकरण, जो कि आकारान्त है, उसके अनन्तर भी है।

और यदि यतः विशेषण-विशेष्य भाव में कामचार होता है अतः आकारग्रहण को विहितविशेषण मानते हो और धातुग्रहण को आनन्तर्य-विशेषण, तो भी अपिबन्, अजिघ्रन् यहाँ भी जुस् भाव प्राप्त होगा।

लङ्लकार में 'पा+शप्+झि' इस स्थिति में 'झोऽन्तः' (अ०– ७.१.३) सूत्र से, झि को अन्तादेश करके 'पा+अ+अन्ति'= पा अ अन्त्– 'अतो गुणे' (अ०–६.१.६४) पररूप करलेने पर 'पा+अन्त्' अन्तादिवच्च (अ०– ६.१.८२) से शबादेश को परादिवद्भाव से ग्रहण करके स्थानिवद्भाव से आदेशभूत 'अन्त्' को 'झि' मानकर, उस 'झि' के धातु के अनन्तर तथा आकारान्त से विहित होने के कारण 'लङः शाकटायनस्यैव' (अ०– ३.४.११) सूत्र से जुस् भाव प्राप्त होता है।

भाष्यम्– अस्तु तर्हि धातुग्रहणं विहितविशेषणमाकारग्रहणमानन्तर्यविशेषणम्।।

अच्छा तो धातुग्रहण को विहितविशेषण और आकारग्रहण को आनन्तर्यविशेषण ही रख लेते हैं।

वस्तुत:, कहीं विहितविशेषण मान लिया गया तो अब सर्वत्र वही मानना पडेगा– ऐसा नियम नहीं है। भाष्यकार वैसा आश्रयण कर लें तो भी अभ्युपेत्यवाद से अब दोषाभाव का प्रतिपादन कर रहे हैं–

भा०– ननु चोक्तमलुनन्नपुनन्नित्यत्रापि प्राप्नोतीति।।

क्यों जी! इस पक्ष में अभी तो समस्या रखी थी कि– अलुनन्, अपुनन् यहाँ भी 'आत:' सूत्र से जुस् भाव प्राप्त होने लगेगा।

भा०– नैष दोष:। लोपे कृते न भविष्यति।।

नहीं, वह कोई दोष नहीं है। 'लू+ना+झि' इस स्थिति में 'श्नाभ्यस्तयोरात:' (अ०– ६.४.११२) से 'आकार' का लोप कर लेने पर जुस् भाव नहीं होगा।

भाष्यम्– नाऽत्र लोप: प्राप्नोति।। किं कारणम्? ईत्वेन बाध्यते।।

किन्तु लोप तो यहाँ प्राप्त ही नहीं होता। क्या कारण है? 'ई हल्यघो:' (अ०– ६.४.११३) ईत्व के, लोप का अपवाद होने से ईत्व के द्वारा लोप बाध लिया जाता है। हलादि क्ङित् प्रत्ययों के परे रहते श्ना और अभ्यस्तसंज्ञक अङ्ग को ईत्व कहा है। पारिशेष्यन्याय से अजादि में लोप हो जाता है। सो प्रकृत में 'झि' के हलादि होने के कारण ईत्व ही पायेगा।

भाष्यम्– नाऽत्रेत्वं प्राप्नोति।। किं कारणम्? अन्तिभावेन बाध्यते।।

किन्तु यहाँ ईत्व भी प्राप्त नहीं हो सकेगा। क्या कारण है? परत्व से 'अन्ति' भाव के द्वारा बाध लिया जाता है। क्योंकि 'झोऽन्त:' (अ०– ७.१.३) से तत्काल ही (झि के उपस्थित होते ही) अन्ति भाव प्राप्त होगा।

भाष्यम्– नाऽत्रान्तिभाव: प्राप्नोति।। किं कारणम्? जुस्भावेन बाध्यते।।

किन्तु यहाँ 'अन्तिभाव' भी प्राप्त नहीं होता। क्या कारण है? 'आत:' सूत्र से विहित जुस्भाव के द्वारा बाध लिया जायेगा है।

भा०– नाऽत्र जुस्भाव: प्राप्नोति।। किं कारणम्? लोपेन बाध्यते।।

सो तो यहाँ जुस्भाव भी प्राप्त नहीं होता। क्या कारण है? 'श्नाभ्यस्तयोरात:'– लोप के द्वारा बाध लिया जाता है।

भा०– लोप ईत्वेन, ईत्वमन्तिभावेनाऽन्तिभावो जुस्भावेन जुस्भावो लोपेनेति चक्रकमव्यवस्था प्रसज्येत।।

पुन: वही चक्र घूमने लगेगा। लोप ईत्व के द्वारा, ईत्व अन्तिभाव के द्वारा, अन्तिभाव जुस्भाव के

द्वारा, जुस्भाव लोप के द्वारा– इस प्रकार चक्रकरूप अव्यवस्था प्रसक्त होने लगेगी।

भा०– नाऽस्ति चक्रकप्रसङ्गः। न ह्यव्यवस्थाकारिणा शास्त्रेण भवितव्यम्। शास्त्रेण नाम व्यवस्थाकारिणा भवितव्यम्। न चाऽत्र हलादिना मुहूर्तमपि शक्यमवस्थातुम्। तावत्येवाऽन्तिभावेन भवितव्यम्। अन्तिभावे कृते लोपः। लोपेन व्यवस्था भविष्यति।।

चक्रकप्रसङ्ग नहीं होगा। क्योंकि शास्त्र कभी भी अव्यवस्था करने के लिये नहीं हुआ करता है। शास्त्र तो सदा व्यवस्था ही करता है। यहाँ लङ् के स्थान में हुआ आदेश झि, कुछ काल के लिये भी (मुहूर्त्तमपि) नहीं ठहर सकेगा। उसी समय ही (तावत्येव), विकरण की भी प्रतीक्षा किये विना ही अन्तिभाव को प्राप्त हो जायेगा। अन्तिभाव करलेने पर 'श्नाभ्यस्त०' से 'आ' लोप हो जायेगा। पुनः लोप से व्यवस्था हो जायेगी। अर्थात् वहीं रुक जायेंगे– आगे नहीं बढेंगे।

'आयन्नादिषूपदेशिवद्वचनम्' (म०भा०वा० ७.१.२/१) वार्त्तिककार के इस वचन से उपदेश काल में ही 'झोऽन्तः' हो जायेगा। 'आयन्नादिषु' इससे 'झोऽन्तः' का भी ग्रहण समझना चाहिये। उपदेशकाल में ही– इसका तात्पर्य है– अन्यकार्य करने से पहले ही।

नागेश का कहना है– वस्तुतः 'आतः' (अ०– ३.४.११०) इस सूत्र में सिज् ग्रहण की अनुवृत्ति होने से, कहीं कोई भी दोष प्रसङ्ग नहीं है। 'आतः' सूत्र में 'सिच्' की अनुवृत्ति है– यह बात 'आतः' सूत्र भाष्य में भी कही है, और 'च्लि लुङि' सूत्रभाष्य में भी। अतः प्रकृतसूत्रस्थ भाष्य एकदेश्युक्ति है।

भाष्यम्– यदप्युच्यते 'एशः शित्त्व'मिति। क्रियते न्यास एव।।

लादेश में धात्वधिकार को ले जाने पर जो यह एक दोष दिया गया कि 'लिटस्तझयो०' सूत्र में एश् को शित् करना चाहिये। सो वह तो कोई दोष नहीं– क्योंकि वह तो आचार्य के द्वारा सूत्रन्यास में ही किया हुआ ही है। दोष तो तब होगा, जब नया कुछ करना पड़ता।

भाष्यम्– कानि पुनरस्य योगस्य प्रयोजनांनि?

इस सूत्र के कौन-कौन प्रयोजन हैं?

वा०– * प्रयोजनं प्रातिपदिकप्रतिषेधः।।३।। *

भाष्यम्– प्रातिपदिकप्रतिषेधः प्रयोजनम्।। धातोस्तव्यदादयो यथा स्युः प्रातिपदिकान्मा भूवन्निति।।

धातोः इस अधिकार करने का प्रथम प्रयोजन तो यह है कि इस प्रकरण में प्रातिपदिक से तव्यदादि प्रत्ययोत्पत्ति न हो– धातु से ही हों। अन्यथा द्वितीयादि की भाँति प्रातिपदिक से भी तव्यदादि होने लगेंगे। द्वितीयादि विभक्तियाँ जैसे शब्दान्तरवाच्य क्रिया की अपेक्षा से प्रातिपदिकार्थ के कर्मत्व में विधान की जाती हैं

वैसे तव्यदादि भी प्रसक्त होने लगेंगे।

भाष्यम्– नैतदस्ति प्रयोजनम्। साधने तव्यदादयो विधीयन्ते। साधनं च क्रियायाः। क्रियाऽभावात्साधनाऽभावः साधनाऽभावादसत्यपि धात्वधिकारे प्रातिपदिकात्तव्यदादयो न भविष्यन्ति।।

नहीं! यह तो कोई प्रयोजन नहीं है। तव्यदादि साधन में (भाव और कर्म में) विधान किये गये हैं। और साधन होता है क्रिया का। सो जब क्रिया नहीं होगी तो, साधन भी नहीं होगा। अतः धात्वधिकार के न करने पर भी प्रातिपदिक से तव्यदादि नहीं होंगे।

इसका भाव यह है– प्रकृतिवाच्य अन्तरङ्ग क्रिया का साधन संभव होने पर शब्दान्तरवाच्य बहिरङ्ग क्रिया के साधन में तव्यदादि नहीं होंगे। द्वितीयादि विभक्तियाँ तो प्रातिपदिक से ही विधीयमान होती हुयी शब्दान्तरवाच्य क्रिया की अपेक्षा से भी जो साधन उपलब्ध होता है उसमें वचनसामर्थ्य से हो जाती हैं।

वा० – ❊ स्वपादिषु।।४।। ❊

भाष्यम्– स्वपादिषु तर्हि प्रयोजनम्। स्वपिति। सुपितीति[1] मा भूत्।।

अच्छा तो 'स्वपादि' विषय में धात्वधिकार का प्रयोजन है। धातुसंज्ञक शब्दों से ही लडादि हुआ करें। आणवयति– सुपिति इत्यादि लोकभाषा में प्रयुक्त होने वाले क्रियावाचक शब्दों से न होवें।

स्वपिति का 'सुपिति' क्रियावाचक अपभ्रंश शब्द है। 'स्वप्' (ञिष्वप शये) की तो धातुसंज्ञा है, पर 'सुप्' इस शब्द की नहीं है। क्रियावाचकत्व तो लोकव्यवहार से उसका भी जाना जाता है। सो धात्वधिकार के न करने पर 'सुपिति' इस शब्द के घटक 'सुप्' शब्द से और इसी प्रकार के और भी शब्दों से तव्यदादि उत्पन्न होने लगेंगे।

वा० – ❊ अङ्गसंज्ञा च।।५।। ❊

भा० – अङ्गसंज्ञा च प्रयोजनम्। 'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्'।। (अ० – १.४.१३) इति धातोरङ्गसंज्ञा सिद्धा भवति।।

अङ्गसंज्ञा भी धात्वधिकार का प्रयोजन है। 'यस्मात्प्रत्ययविधिस्०' इस सूत्र से विहित अङ्गसंज्ञा केवल धातुमात्र की सिद्ध हो जाती है। धात्वधिकार के न होने पर धातु-उपसर्ग समुदाय के क्रियाविशेषवाची होने से, उसी से प्रत्ययविधान होने पर उसी की अङ्गसंज्ञा होगी। पुनः प्रास्थित इत्यादि में अनिष्ट देश में अडादि प्रसक्तं होने लगेंगे।

---

१. सुपतीति पाठभेदः (कीलहार्न)।

वा०– ※ कृत्संज्ञा च।।६।। ※

भा०– कृत्संज्ञा च प्रयोजनम्। धातोर्विहित: प्रत्यय: कृत्संज्ञो भवतीति कृत्वा सिद्धा भवति।।

कृत्संज्ञा भी धात्वधिकार का प्रयोजन है। इसी धात्वधिकार में धातु से विहित प्रत्यय की कृत्संज्ञा हुआ करें। अन्यथा स्यादियों की भी कृत्संज्ञा होने लगेगी।

वा०– ※ उपपदसंज्ञा च।।७।। ※

भा०– उपपदसंज्ञा च प्रयोजनम्। तत्रैतस्मिन् धात्वधिकारे यत्सप्तमीनिर्दिष्टं तदुपपदसंज्ञं भवतीत्युपपदसंज्ञा सिद्धा भवति।

उपपदसंज्ञा भी प्रयोजन है। इसी धात्वधिकार में 'कर्मण्यण्' (अ०– ३.२.१) इत्यादि सूत्रों में जो सप्तमीनिर्दिष्ट 'कर्मणि' इत्यादि हैं– तद्वाच्य 'कुम्भादि' पदो की उपपदसंज्ञा होती है– वह सिद्ध हो जाती है। इस धात्वधिकार के होने पर ही 'तत्रोपपदं०' (अ०– ३.१.९२) सूत्र में पठित तत्र शब्द से इसका परामर्श हो सकता है।

भा०– कृदुपपदसंज्ञे तावन्न प्रयोजयत:। अधिकारादप्येते सिद्धे।।

कृदुपपदसंज्ञा के लिये तो धात्वधिकार की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रत्यय संज्ञावत् इन संज्ञाओं का अर्थात् 'कृदतिङ्' और 'तत्रोपपद०' इनका अधिकार कर देने से भी वे सिद्ध हो जायेंगी।

भा०– स्वपादिषु तर्ह्यङ्गसंज्ञा च प्रयोजनम्।

अच्छा तो स्वपादियों के विषय में और अङ्गसंज्ञा तो प्रयोजन है ही।

वा०– ※ धातुग्रहणमनर्थकं यङ्विधौ धात्वधिकारात्।।८।। ※

भा०– धातुग्रहणमनर्थकम्।। किं कारणम्? 'यङ्विधौ धात्वधिकारात्'। यङ्विधौ धातुग्रहणं प्रकृतमनुवर्त्तते।। तच्चावश्यमनुवर्त्यम्।।

धात्वधिकार के लिये धातुग्रहण करना अनर्थक है। क्या कारण है? यङ्विधायक सूत्र में (अ०– ३.१.२२) धातुग्रहण किया है, वह अनुवर्त्तमान है। और उसकी तो अवश्य ही अनुवृत्ति करनी ही होगी।

वा०– ※ अनधिकारे ह्यङ्गसंज्ञाऽभाव:।।९।। ※

भा०– अनधिकारे हि सत्यङ्गसंज्ञाया[1] अभाव: स्यात्- करिष्यति, हरिष्यतीति।

---

१. नियताया इति शेष:।

यदि यङ्विधि में पठित धातुग्रहण की अनुवृत्ति नहीं की जायेगी, तो जो नियतपरिणाम की अङ्गसंज्ञा इष्ट है, उसका अभाव होने लगेगा। करिष्यति, हरिष्यति-इत्यादि में कृ-हृ मात्र की अङ्गसंज्ञा इष्ट है। 'स्यतासी०' (अ०– ३.१.३३) इत्यादि सूत्रों में 'धातोः' इस पद की प्रकृति का प्रत्यय विधि सूत्रों में साक्षात् निर्देश न होने से अङ्गसंज्ञा किसकी करेंगे? क्योंकि, उस अवस्था में स्यादि की कोई प्रकृति तो साक्षात् निर्दिष्ट होगी नहीं।

भाष्यम्– यदि तदनुवर्त्तते 'चूर्णचुरादिभ्यो णिज्भवति' धातोश्चेति धातुमात्राण्णिच् प्राप्नोति।।

यदि यङ्विधि से धातुग्रहण की अनुवृत्ति आ रही है तो 'सत्यापपाश०' (अ०– ३.१.२४) से चूर्ण-चुरादि शब्दों से णिच् होता है और साथ में 'धातोश्च' ऐसा कहने से, धातुमात्र से णिच् होने लगेगा।

वा०– ✻ हेतुमद्वचनं तु ज्ञापकमन्यत्राऽभावस्य।।१०।। ✻

भाष्यम्– यदयं 'हेतुमति च' (अ०– ३.१.२६) इत्याह तज्ज्ञापयत्याचार्यो 'न धातुमात्राण्णिज्भवती'ति।।

जो यह आचार्य 'हेतुमति च' (अ०– ३.१.२६) ऐसा, कह रहा है, उससे यह ज्ञापित करता है कि धातुमात्र से णिच् नहीं होता। यदि धातुमात्र से णिच् का होना संभव होता तो हेतुमान् अर्थ में (प्रयोजकव्यापर अर्थ में) वर्त्तमान धातु से भी हो ही जाता। पुनः उसका पृथग् विधान किसलिये? इस प्रकार पुनर्विधान से आचार्य का भाव प्रकट होता है कि धातुमात्र से 'णिच्' नहीं होता। यहाँ भाष्यकार ने चुरादिग्रहण को तो ज्ञापकरूप में प्रस्तुत नहीं किया– इसका कारण यह है कि 'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे०' (चु०गणसूत्र० ३३७) संग्राम-युद्धे (चुरा– ३५०) इत्यादि तद्गणपठितों से णिच् करने के लिए उसका ग्रहण करना आवश्यक है।

भाष्यम्– इह तर्हि, कण्ड्वादिभ्यो यग्भवति धातोश्चेति धातुमात्राद्यक् प्राप्नोति।।

अच्छा तो, यहाँ कण्ड्वादि शब्दों में यक् होता है, और साथ में 'धातोः' इसके भी संबद्ध होने से, धातुमात्र से यक् पाने लगेगा।

वा०– ✻ कण्ड्वादिषु च व्यपदेशिवद्वचनात्सिद्धम्।।११।। ✻

भाष्यम्– यदयं कण्ड्वादिभ्यो यग्भवतीत्याह, तज्ज्ञापयत्याचार्यो 'न धातुमात्राद्यग्भवती'ति।। अथवा कण्ड्वादीनेव धातुग्रहणेनाऽभिसंभन्त्स्यामः 'कण्ड्वादिभ्यो धातुभ्य' इति।।९१।।

कण्ड्वादियों में व्यपदेशिवद्वचन से (कण्ड्वादिगणपठित शब्दों का धातुत्व) सिद्ध है। 'धातु' यह व्यपदेश (व्यवहार) है जिनका वे 'पचादि' धातुपाठपठित शब्दरूप व्यपदेशी कहे जायेंगे– उनके समान ही कण्ड्वादि वर्त्तमान हैं। यक् के कित्त्व से उनके धातुत्व का अनुमान होता है। सो इससे यह बात निकली की यदि धातुमात्र से यक् प्रत्यय का होना संभव होता तो, पृथक् से कण्ड्वादि का ग्रहण करना व्यर्थ था। क्योंकि उनके भी क्रियावाची होने से धातुमात्र से कहा हुआ यक् उससे भी सिद्ध हो ही जाता।

अथवा धातु और कण्ड्वादि का समानाधिकरण संबन्ध कर देंगे– 'कण्ड्वादि धातुओं से यक् होता है'। क्योंकि जब सामानाधिकरण्य से संबन्ध संभव है तो समुच्चय का आश्रयण किसलिये? समुच्चय के आश्रयण करने में वाक्यभेद करना ही होगा। वाक्यभेद करने का औचित्य तभी होता है जब एक वाक्य में संगति न बैठे।

आर्द्धधातुसंज्ञा के लिये भी इस धात्वधिकरण का कोई उपयोग नहीं है। यङ्विधि में उपात्त धातुग्रहण की अनुवृत्ति के द्वारा ही 'आर्द्धधातुकं शेष:' (अ०– ३.४.११४) यहाँ विहितविशेषण[१] अर्थ की प्राप्ति (सिद्धि) कर ली जायेगी। जिससे 'जुगुप्सते' यहाँ 'धातो:' ऐसा कहकर 'सन्' का विधान न होने के कारण आर्द्धधातुकसंज्ञा के अभाव में, इट् व गुण नहीं होंगे। और 'लूभ्याम्' यहाँ भी 'भ्याम्' की आर्द्धधातुकसंज्ञा निवृत्त हो जायेगी– क्योंकि 'लू' से भ्याम्, धातु से हो– ऐसे कहकर नहीं लाया गया है, बल्कि प्रातिपदिक कहकर लाया गया है। यदि यह कहते हो कि एक 'धातो:' इस पद के द्वारा उक्त अर्थ कैसे निकल पायेगा, तो 'शमि धातो: संज्ञायाम्' (अ०– ३.२.१४) सूत्र से एक 'धातो:' इस पद को और भी अनुवृत्ति ले जायेंगे।।९१।।

तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्।।३.१.९२।।

भाष्यम्– स्थग्रहणं किमर्थम्?

'स्थग्रहण' का क्या प्रयोजन है? सप्तमी शब्द से ही लक्षणा के द्वारा तद्युक्त पद की विवक्षा कर ली जायेगी।

भा०– 'तत्रोपपदं सप्तमी'तीयत्युच्यमाने यत्रैव सप्तमी श्रूयते तत्रैव स्यात्– स्तम्बेरम:, कर्णेजप:। यत्र वैतेन शब्देन निर्देश: क्रियते– 'सप्तम्यां जनेर्ड:' (अ०– ३.२.९७) इति। इह न स्यात्– कुम्भकारो, नगरकार:। स्थग्रहणे पुन: क्रियमाणे यत्र च सप्तमी श्रूयते, यत्र च न श्रूयते, यत्र चैतेन शब्देन निर्देश: क्रियते, यत्र चाऽन्येन शब्देन सप्तमीस्थमात्रे सिद्धं भवति।।

'तत्रोपपदं सप्तमी' इतना मात्र कहे जाने पर, जहाँ प्रयोग में सप्तमी सुनायी देती है, वहीं उपपदसंज्ञा हो पायेगी। जैसे कि– स्तम्बेरम:, कर्णेजप:। अथवा जहाँ 'सप्तमी' इस शब्द के द्वारा निर्देश मिलता है– 'सप्तम्यां जनेर्ड:'– इत्यादि में, वहाँ उपसरे जात: = उपसरज: आदि में भी हो सकती है। किन्तु कुम्भकार: नगरकार: इत्यादि में नहीं हो सकेगी। अब स्थग्रहण करने पर तो 'स्तम्बकर्णयो:०' (अ०– ३.२.१३) के विषयभूत स्तम्बेरम: इत्यादि में जहाँ सप्तमी सुनाई देती है अथवा 'गापोष्टक्' (अ०– ३.२.८) के विषयभूत शक्रं गायति शक्रग: इत्यादि में नहीं सुनायी देती है। अथवा यह कहें 'सप्तम्यां जनेर्ड:' इत्यादि में जहाँ 'सप्तमी' इस शब्द से निर्देश है अथवा 'कर्मण्यण्' (अ०– ३.२.१) इत्यादि में जहाँ अन्य ही शब्द से निर्देश है– सर्वत्र सप्तमीस्थ मात्र में उपपदसंज्ञा सिद्ध हो जाती है।

---

१. धातोरित्येवं विहितस्याऽर्द्धधातुकसंज्ञा, न तु धातो: परमात्रस्य।

भा० – अथ 'तत्र' ग्रहणं किमर्थम्?

'धातोः' (अ०– ३.१.९१) सूत्र की अनुवृत्ति होने से, इसी धात्वधिकार में उपपदसंज्ञा सिद्ध हो जायेगी, फिर तत्र ग्रहण किसलिये है?

वा०– ❋ तत्रग्रहणं विषयार्थम्[1] ।।१ ।। ❋

भाष्यम्– तत्रग्रहणं क्रियते।। किं प्रयोजनम्? विषयार्थम्। विषयः प्रतिनिर्दिश्यते। तत्रैतस्मिन् धात्वधिकारे यत्सप्तमीनिर्दिष्टं तदुपपदसंज्ञा भवतीत्युपपदसंज्ञा सिद्धा भवति।।

तत्र ग्रहण है। किस प्रयोजन के लिये? विषयार्थ है। विषयनिर्देश करने के लिये है। 'तत्र' के द्वारा विषयनिर्दिष्ट करने के लिये है। 'तत्र' के द्वारा विषयनिर्दिष्ट हो रहा है। तत्रग्रहण से अधिकार का परामर्श होने पर विषय की स्पष्ट प्रतिपत्ति हो जाती है कि ''इस धात्वधिकार में सप्तमीनिर्दिष्ट उपपदसंज्ञक होता है''। इस प्रकार इष्ट विषय में स्फुटता से उपपदसंज्ञा सिद्ध हो जाती है।

वा०– ❋ उपपदसंज्ञायां समर्थवचनम्।।२ ।। ❋

भाष्यम्– उपपदसंज्ञायां समर्थग्रहणं कर्त्तव्यम्। 'समर्थमुपपदं प्रत्ययस्ये'ति वक्तव्यम्। इह मा भूत्– 'आहर कुम्भम् करोति कट'मिति।

''उपपद संज्ञा में समर्थग्रहण भी करना चाहिये''। 'समर्थ उपपद प्रत्यय की उत्पत्ति में निमित्त बनता है' ऐसा कहना चाहिये। और सामर्थ्य को तो प्रत्यासत्ति से प्रत्ययान्त के द्वारा ही समझना होगा। अर्थात् प्रत्यय की उत्पत्ति में निमित्तभूत सप्तम्यन्तपदवाच्य जो समर्थ है, वही उपपदसंज्ञक होता है– ऐसा कहना चाहिये। जिससे कि यहाँ उपपदसंज्ञा न हो– आहर कुम्भम्, करोति कटम्। यहाँ उपर्युक्त विवक्षा में 'कुम्भम्' की उपपदसंज्ञा नहीं होगी, क्योंकि 'करोति' इस क्रिया के साथ उसका सामर्थ्य (संबन्ध) नहीं है। यदि समर्थग्रहण नहीं करेंगे तो 'कुम्भम्' इस कर्म को उपपद मानकर 'कृ' धातु से अण् होने लगेगा। 'उपपदमतिङ्' (अ०– २.२.१९) से उपपदसमास तो सामर्थ्य का अभाव होने से नहीं होगा।

स्वार्थद्रव्यलिङ्गकारकरूप चतुष्क प्रातिपदिकार्थ पक्ष में अथवा स्वार्थद्रव्यलिङ्गसंख्याकारकरूप पञ्चक प्रातिपदिकार्थ पक्ष में प्रातिपदिक के ही कर्मादि का वाचक होने से उसके उपपदत्व के आश्रय से विधीयमान अणादि पदविधि नहीं होती– इस हेतु से समर्थपरिभाषा व्यापृत नहीं हो सकती– ऐसा मानते हुए उक्त वचन है। नागेश, कैयट के इस विचार से सहमत नहीं है। उसका कहना है–

---

१. तत्रशब्देनैतद्धात्वधिकारे समस्ते निर्दिष्टे सति प्रकृतसूत्रेणैकेनैव सर्वेषामभिमतानामुपपदसंज्ञो सिद्ध्यति। अधिकारत्वे तु तत्र तत्र वाक्यभेदेनोपपदसंज्ञाविधाने महद्गौरवं स्यादिति भावः।

पंचकपक्ष में भी द्योतकविभक्ति के विना प्रातिपदिकमात्र उस अर्थ का बोधक नहीं हो सकता जैसे 'प्र' इस उपसर्ग के विना 'जयति' से प्रकृष्ट अर्थ का बोध नहीं हो सकता। इसलिये उस पक्ष में भी देखा जाये तो पदविधि हो ही जायेगी। इस हेतु से प्रकृत भाष्य को इस रूप में संगत करना चाहिये– सुबन्तत्वेन अथवा पदत्वेन जहाँ निमित्तता होगी वहीं समर्थ परिभाषा की प्रवृत्ति होती है। और प्रकृत में उसके अभाव होने से परिभाषा की अनुपस्थिति रहेगी– इसलिये समर्थग्रहण करना चाहिये।

भाष्यम्– अथ क्रियमाणे चाऽपि समर्थग्रहणे 'महान्तं कुम्भं करोति' इत्यत्रापि प्राप्नोति।।

समर्थग्रहण कर दिये जाने पर भी 'महान्तं कुम्भं करोति' यहाँ तो फिर भी अण् प्राप्त होता ही है। 'सापेक्षमसमर्थं भवति' (म०भा०वा० २.१.१) यह नियम तो 'समर्थः पदविधिः' (अ०– २.१.१) परिभाषा के विषय में ही प्रवृत्त होता है– ऐसा मान रहे हैं।

भाष्यम्– न वा भवितव्यं– 'महाकुम्भकार' इति?

क्या 'महाकुम्भकार' इस प्रयोग को नहीं होना चाहिये?

भाष्यम्– भवितव्यं, यदैतद्वाक्यं भवति– महान्कुम्भो महाकुम्भः, महाकुम्भं करोति– महाकुम्भकारः। यदा त्वेतद्वाक्यं भवति– 'महान्तं कुम्भं करोती'ति, तदा न भवितव्यम्। तदा च प्राप्नोति, तदा मा भूदिति।।

नहीं! होना तो चाहिये। किन्तु जब यह वाक्य होता है– महान् कुम्भो, महाकुम्भः, महाकुम्भं करोति इति महाकुम्भकारः। जब तो यह वाक्य होता है– महान्तं कुम्भं करोति, तब अण् प्रत्यय को नहीं होना चाहिये। किन्तु तब भी अण्-प्रत्यय प्राप्त होता है। इष्ट यह है कि तब न हो। यदि इस विवक्षा में भी 'कुम्भ' शब्द की उपपदसंज्ञा हो जाये तो उसके आश्रय से 'महान्तं कुम्भकारः' ऐसा प्रयोग होने लगेगा। महत्त्वयुक्त कुम्भ का करोति के साथ सामर्थ्य है– ऐसा माना जा रहा है।

भा०– यत्तावदुच्यते– 'समर्थग्रहणं कर्त्तव्य'मिति। न कर्त्तव्यम्। 'धातोरिति' वर्त्तते। धातोः कर्मण्यण् भवति। तत्र संबन्धादेतद्गन्तव्यं 'यस्य धातोर्यत्कर्मे'ति।।

और जो यह वार्त्तिककार ने कहा कि समर्थग्रहण करना चाहिये। नहीं! उसके ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि धातोः यह विद्यमान है। कर्म के उपपद होने पर, धातु से अण् होता है। तो वहाँ संबन्ध से यह जान लेना चाहिये कि ''जिस धातु का जो कर्म है''। 'आहर कुम्भम्, करोति कटम्'– यहाँ शङ्कास्थल में तो 'कुम्भम्' यह कर्म 'आहर' का है न कि 'करोति' का। इसलिये समर्थग्रहण न करें तो भी यहाँ अण् नहीं होगा।

भा०– यदप्युच्यते– 'क्रियमाणे चापि समर्थग्रहणे कुम्भं करोतीत्यत्रापि प्राप्नोती'ति। 'उपपद'मिति

महतीयं संज्ञा क्रियते। संज्ञा च नाम यतो न लघीय:। कुत एतत्? लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम्। तत्र महत्या: संज्ञाया: करणे एतत्प्रयोजनम्– 'अन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेत'। उपोच्चारि[१] पदमुपपद'मिति। यच्चाऽत्रोपोच्चारि न तत्पदं, यच्च पदं न तदुपोच्चारि।।

और जो यह कहा गया कि समर्थग्रहण के कर दिये जाने पर भी 'महान्तं कुम्भं करोति'– यहाँ इस विवक्षा में भी अण् प्राप्त होता है। सो वह इसलिये नहीं होगा कि 'उपपद' यह एक बहुत बड़ी संज्ञा की जा रही है। और 'संज्ञा' तो वही (अच्छी मानी जाती) है, जिससे और लघु न हो सके। यह कैसे? यह इसलिये कि, संज्ञाकरण है ही लघुता के लिये। सो महती संज्ञा करने में यह प्रयोजन है कि, अन्वर्थ[२] - संज्ञा जानी जाये– उप (समीप) उच्चारित पद को ही उपपद समझा जाये। जो यहाँ 'करोति' इस क्रिया के समीप 'महान्तं कुम्भम्' पदद्वय समुदाय के रूप में उच्चारित है, वह पदसमुदाय होने से 'पद' नहीं है। स्पष्ट है, पदसमुदाय को 'पद' कैसे कह सकते हैं? और जो 'महान्तम्' यह पद है वह उपोच्चारित नहीं है। यदि यह कहा जाये कि 'कुम्भम्' यह उपोच्चारि भी है, और पद भी है, उसकी उपपदसंज्ञा हो जाये– तो इसका उत्तर देते हैं–

भाष्यम्– यावता चेदानीं पदगन्धो[३]ऽस्ति पदविधिरयं भवति। पदविधिश्च समर्थानां भवति। तत्राऽसामर्थ्यान्न[४] भविष्यति।।

अब जबकि महासंज्ञा बल से 'उपपद' को अन्वर्थसंज्ञा मान लिया गया तो प्रत्ययविधि में पदगन्ध (पद का संबन्ध) स्थापित हो गया। अर्थात् इस प्रत्ययविधि के पदनिमित्तक होने से यह पदविधि हो गयी। और पदविधि तो समर्थों की ही होती है। सो प्रकृत में असामर्थ्य होने से अण् प्रत्यय नहीं होगा।

इस प्रकार असामर्थ्य से 'महान्तं कुम्भं करोति' यहाँ प्रत्ययाभाव सिद्ध होने पर उपपद संज्ञा में समर्थवचन अनर्थक है। महत्शब्दसापेक्ष होने से कुम्भशब्द का असामर्थ्य तो सुस्पष्ट है। इसी प्रकार 'आहर कुम्भं करोति कटं' इस विवक्षा में अण्प्रत्यय की व्यावृत्ति के लिए समर्थवचन अनावश्यक है।

भा०– अथ च्व्यन्त उपपदे किमणा भवितव्यम्– अकुम्भं कुम्भं करोति, कुम्भीकरोति मृदमिति?

आक्षेप्ता अब यह पूछना चाह रहा है कि, च्व्यन्त उपपद रहते क्या अण् होना चाहिये या नहीं? अकुम्भं कुम्भं करोति– कुम्भीकरोति मृदम्। यद्यपि यह सापेक्ष है, तो भी क्वचित् 'माणवकं मुण्डयति' इत्यादि में सापेक्षत्व में भी वृत्ति हो जाती है– इस कारण प्रश्न बन रहा है। च्व्यन्त के अव्यय होते हुये भी इसका कर्मत्व मान रहे हैं।

---

१. उपोच्चारणमुपोच्चार:, स यस्यास्ति तदित्यर्थ:।

२. अर्थमनुगता अन्वर्था। ३. गन्धो गन्धक आमोदे लेशे संबन्धगर्वयोरित्यमर:।

४. महच्छब्दसापेक्षत्वादसमर्थ: कुम्भशब्द इति भाव:।।

भा० – न भवितव्यम्।। किं कारणम्? 'प्रकृतिविवक्षितत्वात्'[१]। प्रकृतिविवक्षायां च्विर्विधीयते। तत्सापेक्षम्। सापेक्षं चाऽसमर्थं भवति।।

च्व्यन्त से तो अण् नहीं होना चाहिये। क्या कारण है? प्रकृति के विवक्षित होने से। प्रकृति-विकार की अभेद विवक्षा में च्वि का विधान किया जा रहा है। इस प्रकार वह सापेक्ष है। और सापेक्ष असमर्थ होता है, इसलिये च्वि स्थल में 'अण्' नहीं होगा।

'प्रकृतिविवक्षायाम्' का भाव यह है, प्रकृति की विकृति से अभिन्नता विवक्षित होने पर विकृतिवाचक से च्वि कहा गया है। सो उस स्थिति में अवश्य ही विकार को अपनी प्रकृतिविशेष की अपेक्षा करनी ही होगी। उसकी यदि अपेक्षा नहीं करेंगे तब तो च्वि ही नहीं होगा। तो अब जैसे 'महान्तं कुम्भं करोति' यहाँ अण् नहीं होता, वैसे मृदं कुम्भीकरोति– इत्यादि में भी नहीं होगा।

यहाँ एक बडा संकट यह है कि 'च्वि' को प्रकृतिविशेष की नित्य अपेक्षा रहती है। और जो नित्यसापेक्ष होता है– वह असामर्थ्य में हेतु नहीं बनता क्योंकि उसकी अपेक्षा को हटायेंगे तो वह कार्य ही नहीं हो सकेगा। जैसे कि च्वि जिस विकारभूत शब्द घटादि से विधान किया जाता है, वह अपनी प्रकृति (जैसे कि मृद् आदि) की अपेक्षा नहीं करेगा तो 'च्वि' ही नहीं हो सकेगा। इस समस्या के निराकरण के लिये महान् वैयाकरणों को अवश्य ही कोई यत्न करना चाहिये। नागेश ने यहाँ अपना विचार दिया है– वृत्ति में नित्यसापेक्षत्व प्रयोजक नहीं होता– किन्तु गमकत्व प्रयोजक होता है। इस प्रकार नित्यसापेक्षत्व होने पर भी अगमकत्व होने से वृत्ति नहीं होगी। और अभी अनुपद ही आनेवाले, 'काशकटीकारम्' इस उदारहण में गमकत्व के कारण वृत्ति हो ही जाती है। नागेश का कहना है– ऐसे प्रसङ्गों के लिये यही दिशा स्वीकार्य है। समर्थसूत्रभाष्य और सुप आत्मन: क्यच् सूत्रभाष्य में सूक्ष्मदृशों के लिये यह बात स्पष्ट है।

भाष्यम्– न तर्हीदानीमिदं भवति– 'इच्छाम्यहं काशकटीकार'मिति।

यदि सापेक्ष होने से पूर्वोक्त उदाहरण में वृत्ति नहीं होती, तो क्या यह प्रयोग नहीं होता– अकटं कटं करोति काशान् इति काशकटीकारम् अहमिच्छामि (काश नामवाली घास से चटाई बुनने वाले को मैं चाहता हूँ)।

भा० – इष्टमेवैतद्गोनर्दीयस्य।।

आचार्य को तो यह प्रयोग इष्ट ही है। अर्थात् इष्टि से अण् हो जाता है। अण् के उत्पन्न होने पर काश शब्द से कृद्योग में षष्ठी (अ०- २.३.६५) और उसका 'इध्मप्रव्रश्चन' की भाँति 'कृद्योगा च षष्ठी समस्यते' (म०भा०वा० २.३.८/१) से समास हो गया है।

---

१. प्रकृतेर्विवक्षित्वात्। 'गुणेन न' (अ०– २.२.११) इति षष्ठीसमासनिषेधोऽनित्य:।

शिवरामेन्द्र सरस्वती का कहना है– यदि प्रकृत भाष्य का इस रूप में व्याख्यान करेंगे तो 'न भवितव्यम्' इस पूर्वभाष्य से विरोध आयेगा। तथा 'काशान् कटी करोति'– यहाँ काश शब्द के द्वितीयान्त होने पर अण् करने पर कैसे तो इस द्वितीया को हटायेंगे और जब द्वितीया ही नहीं होगी तो कैसे षष्ठी लायेंगे? इसलिये इस शब्द की सिद्धि इस रूप में करनी चाहिये– काश शब्द से निरपेक्ष ही च्व्यन्त कटशब्द के उपपद रहते 'कृ' धातु से अण् कर लेने पर तत्पश्चात् अणन्त 'कटीकार' शब्द के 'काश' के साथ संबन्ध में काश शब्द से कृद्योगलक्षणषष्ठी होने पर (काशानां कटीकारम्-इस स्थिति में) षष्ठी सूत्र से समास होकर उक्त प्रयोग की साधुता इष्ट है।

हमारे विचार में शिव० सरस्वती के हेतु कोई सशक्त नहीं है, जो उन्होंने कैयट के खण्डन में दिये हैं। 'न भवितव्यम्' भाष्यकार के वचन से इस प्रयोग का विरोध माना जाये तो शास्त्र के समस्त सामान्यनियमों के साथ विशेष नियमों का विरोध होने से उन्हें अस्वीकार कर देना होगा। पर ऐसा नहीं किया जाता। सो प्रकृत में भी यही समझना चाहिये कि 'न भवितव्यम्' सामान्यनियम है और 'काशकटीकारम्' अपवादभूत विशेषस्थल है। दूसरा हेतु जो यह दिया कि 'काशान' इस शब्द के द्वितीयान्त स्वीकार करते हुए 'अण' करेंगे तो, द्वितीया को हटाकर, षष्ठी कैसे ला पायेंगे? ऐसा होने में क्या कष्ट है– 'व्याकरणस्य सूत्रं करोति = व्याकरणं सूत्रयति' यहाँ विग्रह में षष्ठी है, और णिच् होने पर द्वितीया हो जाती है, तद्वत् करोति क्रिया की अपेक्षा से 'काशान्' में द्वितीया रहेगी पर अण् होने पर 'कर्त्तृकर्मणोः कृति' (अ०- २.३.६५) षष्ठी हो जायेगी, जैसे कि 'कुम्भं करोति कुंभकारः' का अलौकिक विग्रह 'कुम्भ ङस् कृ अण्' इस रूप में दर्शाया जाता है।

वा०– ❋ निमित्तोपादानं च।।३।। ❋

भा०– निमित्तोपादानं च कर्त्तव्यम्। 'निमित्तमुपपदं प्रत्ययस्ये'ति वक्तव्यम्।

निमित्त का उपादान करना चाहिये। 'उपपद' प्रत्यय का निमित्त होता है– ऐसा कहना चाहिये।

वा०– ❋ अनुपादाने ह्यनुपपदे प्रत्ययप्रसङ्गः।।४।। ❋

भा०– अक्रियमाणे हि निमित्तोपादानेऽनुपपदेऽपि प्रत्ययः प्रसज्येत।।

निमित्तोपादान न किये जाने पर उपपद के न होने पर भी केवल धातुमात्र से ही प्रत्यय प्राप्त होने लगेगा। अर्थात् 'कारकः' इस अर्थ में 'कारः' ऐसा अनिष्ट रूप बनने लगेगा।

भा०– निर्देश इदानीं किमर्थः स्यात्?

यदि विना ही उपपद के प्रत्यय होने लगेगा तो 'कर्मण्यण्' इत्यादि सूत्रों में जो 'कर्मणि' ऐसा निर्देश किया है उसका क्या अर्थ (प्रयोजन) समझा जायेगा? इसलिये 'कर्मणि' ऐसा सप्तम्यन्त निर्देशसामर्थ्य से

उपपद के होने पर ही (सत्येवोपपदे) प्रत्यय होगा। अर्थात् 'कर्मणि' इत्यादि में सत्सप्तमी होने से, उसके अभाव में प्रत्यय नहीं होगा। इसलिये निमित्तोपादान के विना भी कर्मादि निमित्तत्व सिद्ध है।

वा०–* निर्देश: संज्ञाकरणार्थ:।।५।। *

भाष्यम्– यदोपपदे प्रत्ययस्तदोपपदसंज्ञां वक्ष्यामीति।।

यदि यह पूछते हो कि विना ही उपपद के प्रत्यय होने लगे तो कर्मण्यण् इत्यादि में 'कर्मणि' इत्यादि निर्देश किसलिये है। तो उसका उत्तर है कि 'निर्देश संज्ञाकरणार्थ ही है'। अर्थात् उपपद के होने पर जब प्रत्यय हो तब उपपदसंज्ञा हो जावे। इससे उपपद के अभाव में प्रत्यय का वारण नहीं हो सकेगा। यहाँ यह मान रहे हैं कि जैसे इत्संज्ञा के लिये अनुनासिकत्व का आश्रय किया जाता है, वैसे ही (अर्थ से निरपेक्ष रहते हुये ही) 'कर्मणि' इत्यादि सप्तम्यन्त पद उपपदसंज्ञा के लिये निर्दिष्ट हो रहे हैं। अर्थ की अपेक्षा से सप्तमी का निर्देश मानने पर तो 'कर्म' अण् प्रत्यय का अभिधेय होगा अर्थात् कर्म कारक में अण् प्रत्यय समझा जायेगा। जैसे कि 'ध: कर्मणि ष्ट्रन्' (अ०– ३.२.१८१) सूत्र में होता है। किन्तु वैसा होने पर उपपदत्व की प्रतीति नहीं हो पायेगी। सप्तमी के अर्थानपेक्ष होने पर 'कर्मण्यण्' इत्यादि सूत्रों का अर्थ होगा– 'धातु से अण् होता है और कर्म उपपदसंज्ञक'। पर इस अर्थ के अनुसार कर्म का प्रत्ययोत्पत्ति में निमित्तत्व प्रतीत नहीं होगा।

भा०– तर्त्तर्हि निमित्तोपादानं कर्त्तव्यम्? न कर्त्तव्यम्।

तो फिर क्या निमित्तोपादान करना चाहिये? नहीं, कोई आवश्यकता नहीं है।

वा०– * तत्रवचनमुपपदसंनियोगार्थम्।।६।। *

भाष्यम्– तत्रवचनं क्रियते, तदुपपदसंज्ञासंनियोगार्थं भविष्यति। कर्मण्यण् विधीयते तत्र चेत्प्रत्ययो भवतीति।।

'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' यहाँ सूत्र में 'तत्र' यह वचन किया है, वह उपपदसंज्ञासंनियोग के लिये हो जायेगा।

'तत्र' वचन से यह बात कही जा रही है कि उस कर्मादि (उपपद) के होने पर भी प्रत्यय होता है, न होने पर नहीं होता (तत्रैव सति प्रत्ययो भवति नासति)। किन्तु 'तत्र' ग्रहण से यह अर्थ कैसे निकल रहा है? सुनिये– 'प्रत्यय:' तो यहाँ अनुवर्त्तमान है ही। सो प्रकृतसूत्र का अर्थ होगा– सप्तमीस्थ उपपदसंज्ञक होता है, और उसके उपपद होने पर ही अणादि प्रत्यय उत्पन्न होता है न कि उपपद के न होने पर भी इस प्रकार, सर्वत्र वाक्यभेद के द्वारा संबन्ध होने से उपपद का प्रत्ययोत्पत्ति के प्रति निमित्तत्व प्राप्त हो जाता है।

भाष्यम्– ननु चाऽन्यत्तत्रग्रहणस्य प्रयोजनमुक्तम्।। किम्? 'तत्रग्रहणं विषयार्थ'मिति।।

किन्तु 'तत्रग्रहण' का तो अन्यप्रयोजन कहा है। क्या? यह कहा है कि तत्रग्रहण विषयनिर्देश के लिये है– इस धात्वधिकार में उपपदसंज्ञा सिद्ध हो जाती है (तत्रैतस्मिन् धात्वधिकारे सप्तमीनिर्दिष्टमुपपदसंज्ञं भवतीत्युपपदसंज्ञा सिद्धा भवति।)

भा०– अधिकारादप्येतत्सिद्धम्।।९२।।

नहीं! विषयनिर्देश करने के लिये तो 'तत्र' ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं है। इस सूत्र आ अधिकार कर देंगे और इस प्रकार अधिकार कर देने से भी यह विषयनिर्देशरूप प्रयोजन तो सिद्ध हो जायेगा।

पूछा जा सकता है कि यदि अधिकार ही करना है तब तो तत्र ग्रहण की भी क्या आवश्यकता है? प्रतिसूत्र उपपद संज्ञाविधान के द्वारा संनियोगशिष्ट न्याय से उपपदसंज्ञा के होने पर ही प्रत्यय हुआ करेगा। हाँ! बात तो ठीक है; पर तत्रग्रहण के अभाव में[१] अन्वाचयशिष्टत्व की भी तो संभावना हो सकती है, सो उस संभावना के निरास के लिये स्पष्टप्रतिपत्यर्थ तत्रग्रहण कर दिया है।।९२।।

कृदतिङ्।।३.१.९३।।

भाष्यम्– 'अतिङ्' इति किमर्थम्? पचति, करोति।

'धातो:' (अ०– ३.१.९१) इस सूत्र के अधिकार में तिङ्भिन्न प्रत्ययों की 'कृत्' संज्ञा होती है। आक्षेप्ता पूछता है– सूत्र में अतिङ् पढने का क्या प्रयोजन है? एकदेशी ने उत्तर दिया– पचति, करोति इत्यादि में कृत्संज्ञा न हो।

भाष्यम्– अतिङिति शक्यमकर्त्तुम्।।

शङ्किता कहता है– 'अतिङ्' इस पद का ग्रहण न करना शक्य है। इसके ग्रहण न करने में भी कोई दोष नहीं है।

भा०– कस्मान्न भवति– 'पचति करोती'ति?

यदि अतिङ् ग्रहण नहीं करते, तो पचति, करोति इत्यादि की कृत्संज्ञा कैसे (किस हेतु से) नहीं होती?

भा०– धातो: परस्य कृत्संज्ञा। प्राक् च लादेशाद्धात्वधिकार:।।

'धातो' इस पद का उच्चारण करके धातु से परे विहित हुवे प्रत्यय की कृत्संज्ञा होती है। और लादेश (अ०- ३.४.७७) से पहिले-पहिले धात्वधिकार है, इस प्रकार तिङो में कृत्संज्ञा की अप्राप्ति होने से निषेध व्यर्थ है।

१. अन्वाचयशिष्ट होने पर पूर्ववत् दोष बना ही रहता– क्योंकि तब यह सूत्रार्थ होता– ''धातु से अण् होता है और जब सप्तमीस्थ कर्मादि के वाच्यभूत' 'कुम्भम्' इत्यादि का प्रयोग हो तो वे उपपदसंज्ञक भी हो जाते हैं।''

भा०– एवमपि स्थानिवद्भावात्कृत्संज्ञा प्राप्नोति।

उसका सार्थक्य मानता हुआ एकदेशी शङ्का करता है– 'फिर भी, यत: 'ल' के स्थान में तिङादेश होते हैं, और 'ल' कृत्संज्ञक होता है, अत: अतिङ् ग्रहण न करने पर, स्थानिवद्भाव से कृत्संज्ञा प्राप्त होने लगेगी।

भा०– अथाऽतिङित्युच्यमाने यावता स्थानिवद्भाव: कथमेवैतत्सिध्यति?

अच्छा, हमें यह बताओं कि 'अतिङ्' ऐसा कह दिये जाने पर, जबकि स्थानिवद्भाव तो तब भी है ही, कैसे यह सिद्ध होता है?

'कृत्' इस प्रकृतवचन के द्वारा विधीयमान कृत्संज्ञा का ही 'अतिङ्' यह निवर्त्तक हो पायेगा, न कि अतिदेशप्रसक्त का भी। क्योंकि विधि-निषेध समीपस्थ को ही होते हैं– 'अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वा' (पारि० ५४) इस नियम से ऐसा मान रहा है।

भा०– प्रतिषेधवचनसामर्थ्यात्।।

एकदेशी उत्तर देता है– 'अतिङ्' इस प्रतिषेधवचनसामर्थ्य से तब तो कृत्संज्ञा को बाध लिया जायेगा। अन्यथा प्रतिषेध अनर्थक हो जायेगा।

भा०– अथवा तिङ्भाविनो लकारस्य कृत्संज्ञाप्रतिषेध:।।

तृतीयाध्याय की समाप्तिपर्यन्त धात्वधिकार पक्ष में तिङ् की व्यावृत्ति से अतिङ् वचन का सार्थक्य है इसलिये समाधानान्तर देते हैं– अथवा तिङ्भावी लकार ही तिङ्शब्द से कहा जा रहा है। इस प्रकार मूलभूत लकार में ही कृत्संज्ञा का उच्छेद कर रहे हैं। इसीलिये आमन्तविषयक लकार का तो कृत्त्व हो ही जाता है, क्यों कि वह तिङ्भावी नहीं होता।

'भो भगो०' (अ०– ८.३.१७) इस सूत्रभाष्योक्तरीति से अल्विधित्व के कारण भी यहाँ स्थानिवत्त्व का प्रतिषेध हो जायेगा– यह भी जानना चाहिये।

भा०– किं च स्याद्यत्र कृत्संज्ञा स्यात्?

तृतीयाध्यायान्त धात्वधिकार होने पर भी कोई फलभेद नहीं है– इसलिये उस पक्ष में भी अतिङ् निषेध का प्रत्याख्यान करने के लिये कहते हैं– हमें यह बताओ कि, यदि यहाँ कृत्संज्ञा हो भी जाये तो क्या हो जायेगा? आप ऐसा डर क्यों रहें हैं?

भा०– 'कृत्प्रातिपदिक'मिति प्रातिपदिकसंज्ञा स्यात्। प्रातिपदिकादिति स्वाद्युत्पत्ति: प्रसज्येत।।

पचति, करोति इत्यादि की यदि कृत् संज्ञा हो जायेगी तो 'कृत्तद्धितसमासाश्च' (अ०– १.२.४६)

सूत्र से कृदन्त होने के कारण प्रातिपदिकसंज्ञा होने लगेगी और फिर 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' (अ०– ४.१.१) प्रातिपदिक से कही गयी स्वाद्युत्पत्ति पाने लगेगी।

भाष्यम्– नैष दोष:। एकत्वादिष्वर्थेषु[1] स्वादयो विधीयन्ते, ते चाऽत्र 'तिङोक्ता[2] एकत्वादय' इति कृत्वोक्तार्थत्वान्न भविष्यन्ति।।

नहीं! यह कोई दोष नहीं है। एकत्वादि अर्थों को कहने के लिये स्वादि प्रत्ययों का विधान किया गया है, और वे एकत्वादि अर्थ तिङ् के द्वारा ही कह दिये गये– इस हेतु से अर्थात् 'उक्तार्थानामप्रयोग:' इस न्याय से नहीं होंगे।

भा०– टाबादयस्तर्हि[3] तिङन्तान्मा भूवन्निति।।

अच्छा तो तिङन्त से टाबादि प्रत्यय न होवें इसके लिये कृत्संज्ञा और तत्संबन्धी प्रातिपदिकसंज्ञा को नहीं चाहा जा रहा है।

पचत, पचथ इत्यादि में जब साधन (कर्त्ता) के रूप में स्त्रीलिङ्गविशिष्ट शब्द का प्रयोग होगा तो 'टाप्' होने लगेगा। और पचति, पचसि इत्यादि में 'कृदिकारादक्तिन:' (बह्वादिभ्यश्चेति सूत्रनिर्दिष्ट बह्वादिगणसूत्रम्- अ०- ४.१.४५) से 'ङीष्' होने लगेगा। 'टाबादय:' यह बहुवचन तो प्रकृतिभेद से टाप् और ङीष् संबन्धी व्यक्तियों के बहुत्व के कारण उपपन्न हो जायेगा।

भाष्यम्– स्त्रियां टाबादयो विधीयन्ते, न च तिङन्तस्य स्त्रीत्वेन योगोऽस्ति।।

स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान प्रातिपदिक से अथवा स्त्री अभिधेय होने पर टाबादि का विधान किया गया है। किन्तु शब्दशक्तिस्वाभाव्य हेतु से तिङन्त का स्त्रीत्व के साथ योग नहीं है, स्त्रीत्व विशिष्ट बोधकत्व नहीं है। जैसे कि भतृहरि ने भी कहा है–

एकत्वेऽपि क्रियाख्याते साधनाश्रयसंख्यया।

भिद्यते न तु लिङ्गाख्यो भेदस्तत्र तदाश्रित:।। (वा०प० ३.१२.१६)

---

१. 'एकत्वादिषु' यहाँ आदि पद के द्वारा कर्मत्वादि का भी ग्रहण जान लेना चाहिये।

२. 'तिङोक्ता' इसका अभिप्राय है– तिङ्घटित वाक्य के द्वारा कह दिये गये हैं।

३. जैसे साधन के आश्रय संख्या के निमित्त से एकवचन, द्विवचन, बहुवचन की उत्पत्ति हो जाती है, तद्वत् साधनगत लिङ्ग के आश्रय से टाबादि पाने लगेंगे।

अर्थात्, आख्यात पद में क्रिया के एकत्व वाची होने पर भी (क्रियाप्रधानमाख्यातं भवत्येका च क्रिया; म०भा० ५.३.६६) तिङर्थ कर्तृकर्मरूप साधनाश्रय द्वित्वबहुत्व संख्या के आधार पर भिन्न हो जाती है, किन्तु साधनगत लिङ्ग द्रव्य स्त्रीत्व पुंस्त्वादि रूप भेद वहाँ आश्रित नहीं होता।

भा०– अणादयस्तर्हि तिङन्तान्मा भूवन्निति।।

अच्छा तो, यह प्रयोजन है कि तिङन्तों से अणादि न होवें। प्रातिपदिकसंज्ञा हो जायेगी तो अणादि प्रत्यय होने लगेंगे।

भा०– अपत्यादिष्वर्थेष्वणादयो विधीयन्ते, न च तिङन्तस्याऽपत्यादिभिर्योगोऽस्ति।। अथाऽपि कथञ्चिद्योग: स्यादेवमपि न दोष:। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति– 'न तिङन्तादणादयो भवन्ती'ति, यदयं क्वचित्तद्धितविधौ तिङ्ग्रहणं करोति– 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' 'तिङश्च' (अ०– ५.३.५५,५६) इति।।

अपत्यादि अर्थों में अणादि का विधान किया जाता है। किन्तु तिङन्त का अपत्यादि अर्थों के साथ योग हो नहीं सकता।। और जैसे-तैसे अपत्यादि के साथ योग हो भी जावे– 'य: पचति तस्यापत्यम्' इस रूप में अथवा 'शेषे' (अ०– ४.२.९१) सूत्र को विधायक मानकर, जैसे 'दृषदि पिष्टा:' इत्यादि अर्थ को कहने में प्रत्यय हो जाते हैं, तद्वत् 'य: पचति' इत्यादि से 'स पश्यति' इत्यादि अर्थ में प्रत्यय संभव हो सकता है। तो भी कोई दोष नहीं है। आचार्य की प्रवृत्ति यह ज्ञापित करती है कि तिङन्त से अणादि नहीं होते। जो कि यह आचार्य तद्धितप्रकरण में प्रत्ययविधान के लिये क्वचित् तिङ् ग्रहण करता है। जैसे अतिशायने तमबिष्ठनौ (अ०– ५.३.५५) तिङश्च (५६)।

यहाँ नागेश का कहना है– यहाँ यह निहितार्थ है– तिङन्तों का कृदन्तत्वप्रयुक्त प्रातिपदिकाभाव ज्ञापित किया जाता है– इसलिये पचति, करोति-इत्यादि में प्रथमा भी नहीं होगी। 'पचेरन्' इत्यादि में इसीलिये नलोप नहीं होगा। और 'अहन्' इत्यादि में 'अहन्- रोऽसुपि' (अ०– ८.२.६८.६९) सूत्रों का कार्य नहीं होगा।

भाष्यम्– इह तर्हि पचति, पठतीति– 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुग्भवती'ति तुक् प्राप्नोति।।

अच्छा तो यहाँ पचति, पठति इत्यादि में, तिप् की कृत् संज्ञा होने पर 'हस्वस्य पिति०' (अ०- ६.१.६६) से ह्रस्व को तुक् पाने लगेगा।

भा०– धातोरिति[१] वर्त्तते।।

'धात्वादे: ष: स:' (अ०– ६.१.६२) सूत्र से धातुपद की अनुवृत्ति करके 'हस्वान्त धातु को तुक् होता है'– ऐसा व्याख्यान करने से कोई दोष नहीं होगा।

१. स्वरितत्वप्रतिज्ञानसामर्थ्यात् समासे गुणभूतस्याऽपि धातुग्रहणस्याऽनुवृत्तिरित्याशय:।

भा०– एवमपि 'चिकीर्षति' इत्यत्रापि प्राप्नोति।।

फिर भी (अर्थात् 'धातोः' इस पद की अनुवृत्ति लाने पर भी) 'चिकीर्षति' यहाँ 'तिप्' के परे रहते 'चिकीर्ष' शब्दरूप के 'सनाद्यन्ता धातवः' (अ०– ३.१.३२) से धातुसंज्ञक होने से यहाँ भी प्राप्त होगा।

इसका भाव यह है– 'चिकीर्ष+शप्+तिप्' = चिकीर्ष अ ति। इस स्थिति में 'अतो गुणे' पररूप कर लेने पर 'चिकीर्ष ति' यहाँ एकादेश हुये शप् के 'अन्तादिवच्च' (अ०- ६.१.८२) से पूर्व के अन्तवद् भाव से धातुग्रहण से ग्रहण होने पर ह्रस्वान्त धातु प्राप्त हो जाती है।

भा०– अत्रापि शपा व्यवधानम्।।

'एकादेशः पूर्वविधौ स्थानिवद् भवति'– इस वक्ष्यमाण अभिप्राय को लेकर कहता है– यहाँ भी शप् के द्वारा व्यवधान है।

भा०– एकादेशे कृते नास्ति व्यवधानम्।।

उस वक्ष्यमाण अभिप्राय को न जानता हुआ कहता है– सो तो एकादेश कर लेने पर व्यवधान नहीं रहेगा।

भा०– 'एकादेशः पूर्वविधौ स्थानिवद्भवती'ति स्थानिवद्भावात् व्यवधानमेवेति।।९३।।

'अचः परस्मिन्पूर्वविधौ' (अ०- १.१.५६) के नियम से एकादेश पूर्वविधि में स्थानिवत् होता है– इस हेतु से स्थानिवत् भाव होने से व्यवधान ही रहेगा। इसलिये 'चिकीर्षति' यहाँ तो तुक् प्राप्त नहीं होगा। 'चिकीर्ष अ ति = चिकीर्षति' यहाँ स्थानिवद्भाव भी प्राप्त है और अन्तवद्भाव भी। अन्तवद्भाव से तो तुक् प्राप्त था पर स्थानिवद्भाव से उसका निषेध हो गया। किन्तु परत्व से अन्तवद्भाव का पलड़ा भारी होना चाहिये था। इसका समाधान कैयट ने विप्रतिषेध सूत्रस्थ पर शब्द को इष्टवाची मानकर स्थानिवद्भाव के ही इष्ट होने से अन्तवद्भाव का बाधक बता दिया। नागेश ने इसके साथ एक और भी युक्ति दी है– प्रकृत में अन्तवद्भाव तो प्रापक है और स्थानिवद्भाव अभावातिदेश[1] के रूप में निषेधक है। इस प्रकार 'प्रतिषेधांश्च बलीयांसो भवन्ति' (म०भा० न लुमता० १.१.६३) इस न्याय से 'अचः परस्मिन्०' इस सूत्र की ही प्रवृत्ति होगी। अर्थात् स्थानी के होते हुये जैसे तुक् नहीं होता, तद्वत् एकादेश होने पर भी नहीं होगा।

---

१. अथवा वतिनिर्देशोऽयं कामचारश्च वतिनिर्देशे वाक्यशेषं समर्थयितुम्। तद्यथा-उशीनरवन्मद्रेषु यवाः। सन्ति, न सन्तीति। मातृवदस्याः कलाः सन्ति, न सन्तीति। एवमिहापि स्थानिवद्भवति, स्थानिवन्न भवतीति वाक्यशेषं समर्थयिष्यामहे।

यदि कोई कहे कि 'अतिङ्' का प्रत्याख्यान करने पर 'पचेरन्' इस तिङन्त शब्दरूप की भी कृदन्त होने से प्रातिपदिकसंज्ञा होकर 'नलोपः०' (अ०- ८.२.७) से नलोप पाने लगेगा। इसका समाधान है- 'झस्य रन्' (अ०- ३.४.१०५) यहाँ नकारोच्चारणसामर्थ्य से नहीं होगा।

यदि कहो 'विचीयात्' यहाँ आशीर्लिङ् में 'तदागमस्य तद्ग्रहणेन ग्रहणम्'- कृद् यकार होने से 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' (अ०- ७.४.२५) से दीर्घ प्राप्त नहीं होगा। यह भी कोई दोष नहीं है। क्योंकि सूत्र में किया गया सार्वधातुकप्रतिषेध यह ज्ञापित करता है कि 'अकृत्' यह प्रतिषेध तिङ् के विषय में प्रवृत्त नहीं होता। यदि तिङ् में भी उक्त प्रतिषेध प्रवृत्त हो जाता तो सुनुयात्-चिनुयात् इत्यादि में भी जहाँ कि यकारादि सार्वधातुक है, कृत्-प्रतिषेध के द्वारा ही दीर्घ निरास सिद्ध होने से पृथक्सार्वधातुकप्रतिषेध अनर्थक हो जाता है। इस प्रकार यह स्थित हो रहा है कि प्रयोजनाभाव होने से 'अतिङ्' यह प्रतिषेध अनर्थक है। मन्दबुद्धियों के सुखावबोध के लिये तो करना ही चाहिये।।९३।।